রাহুল বাঙ্ময়

राहुल वाङ्मय

राहुल-वाङ्मय

परामर्श

डॉ. विद्यानिवास मिश्र

डॉ. नामवर सिंह

डॉ. निर्मला जैन

सम्पादन

कमला सांकृत्यायन

सम्पादन सहयोग

बसन्तकुमार कपूर

रामकुमार कृषक

संयोजन

जया पड़हाक

जेता सांकृत्यायन

राधाकृष्ण

ISBN 81-7119-185-1

राहुल-वाङ्मय

खण्ड : एक—जीवन-यात्रा—जिल्द : 2

प्रथम संस्करण : 1994

पहली आवृत्ति : 1998

मूल्य

1500 रुपये

(जीवन-यात्रा : खण्ड एक—4 जिल्दें)

प्रकाशक

राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड

2/38, अंसारी रोड, दरियागंज

नयी दिल्ली-110002

साज-सज्जा : प्रशान्त

लेज़र कम्पोंज़िग

कम्प्यूटेक सिस्टम

मानसरोवर पार्क, दिल्ली-110032

मुद्रक

हिन्दुस्तान ऑफसेट प्रिंटर्स

शाहदरा, दिल्ली-110032

RĀHUL VĀNGMAYA

Part-1 : Jeevan yātrā : 4 Volumes

Rs. 1500.00



महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (वाराणसी : 1957)

प्रकाशकीय

मूर्धन्य और अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त विद्वान, अप्रतिम विभूति महापंडित राहुल सांकृत्यायन के जीवन और लेखन—उनके विराट व्यक्तित्व एवं बहुआयामी कृतित्व को जानने-पहचानने का बुनियादी साधन है उनकी आत्मकथा—उनकी लिखी 'मेरी जीवन-यात्रा'।

राहुल सांकृत्यायन साधु थे, बौद्ध भिक्षु थे, यायावर थे, इतिहासकार और पुरातत्ववेत्ता थे, नाटककार और कथाकार थे और थे जुझारू स्वतंत्रता-सेनानी, किसान-नेता, जन-जन के प्रिय नेता। उनके अनन्य मित्र भदंत आनंद कौसल्यायन के शब्दों में, "उन्होंने जब जो कुछ सोचा, जब जो कुछ माना, वही लिखा, निर्भय होकर लिखा। चिंतन के स्तर पर राहुल जी कभी भी न किसी साम्प्रदायिक विचार-सरणी से बँधे रहे और न संगठन-सरणी से। वह 'साधु न चले जमात' जाति के साधु पुरुष थे।"

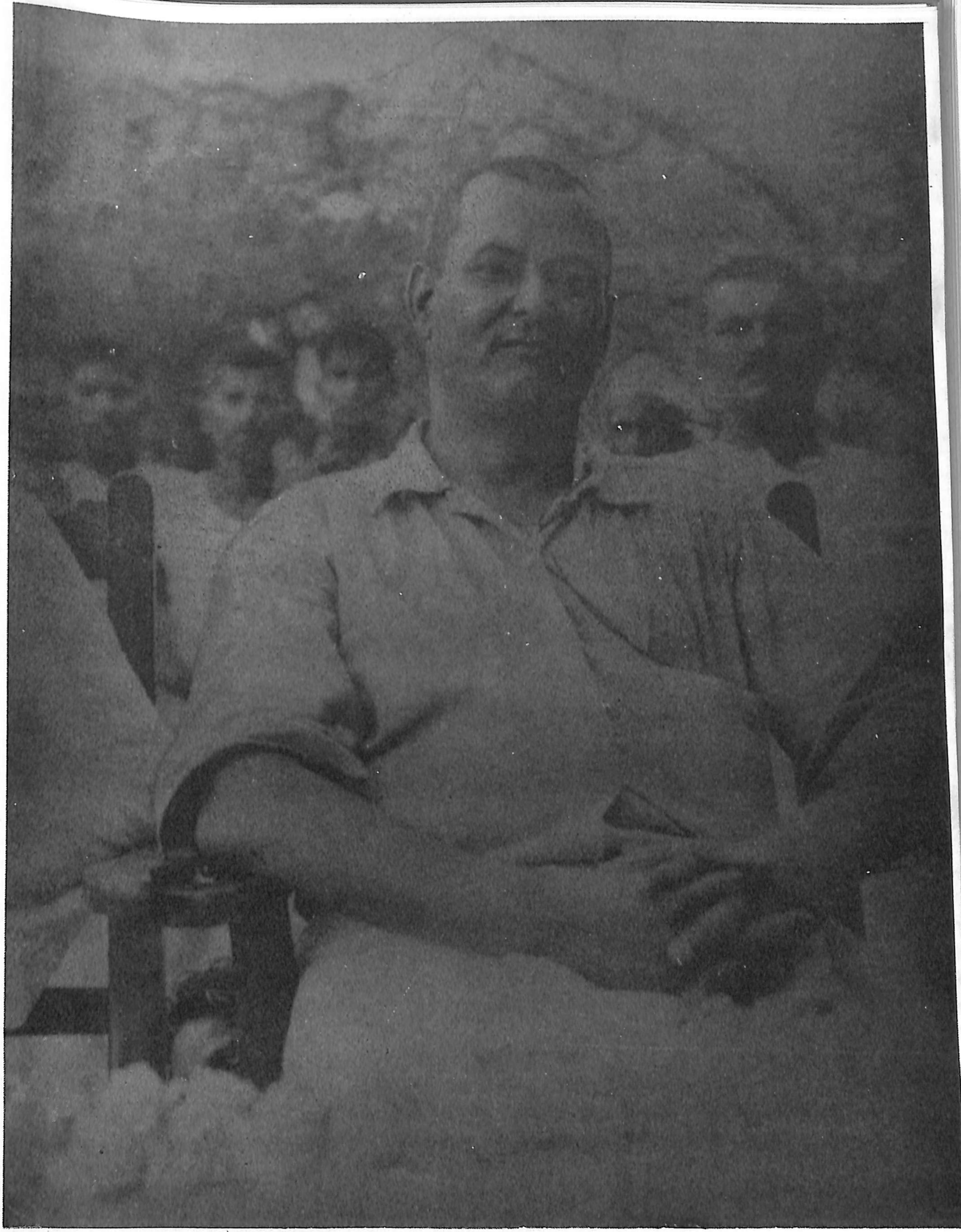
इस साधु पुरुष, विलक्षण लेखक के वाङ्मय के इस प्रथम खण्ड की द्वितीय जिल्द में है 'मेरी जीवन यात्रा' का दूसरा भाग। मई 1927 से अक्तूबर 1944 तक के जीवन का लेखा-जोखा। उनकी रोमांचकारी भौगोलिक यात्राओं के साथ ही उनकी वैचारिक यात्रा भी है और है भारतीय समाज की सामाजिक-सांस्कृतिक, राजनीतिक विकास यात्रा को समझने का प्रयास।

राहुलजी के प्रारंभिक जीवन के चित्र नहीं मिलते। 'राहुल संग्रहालय' में उपलब्ध चित्रों में से कुछ चुने हुए चित्र विभिन्न खण्डों की विभिन्न जिल्दों में दिये गये हैं।

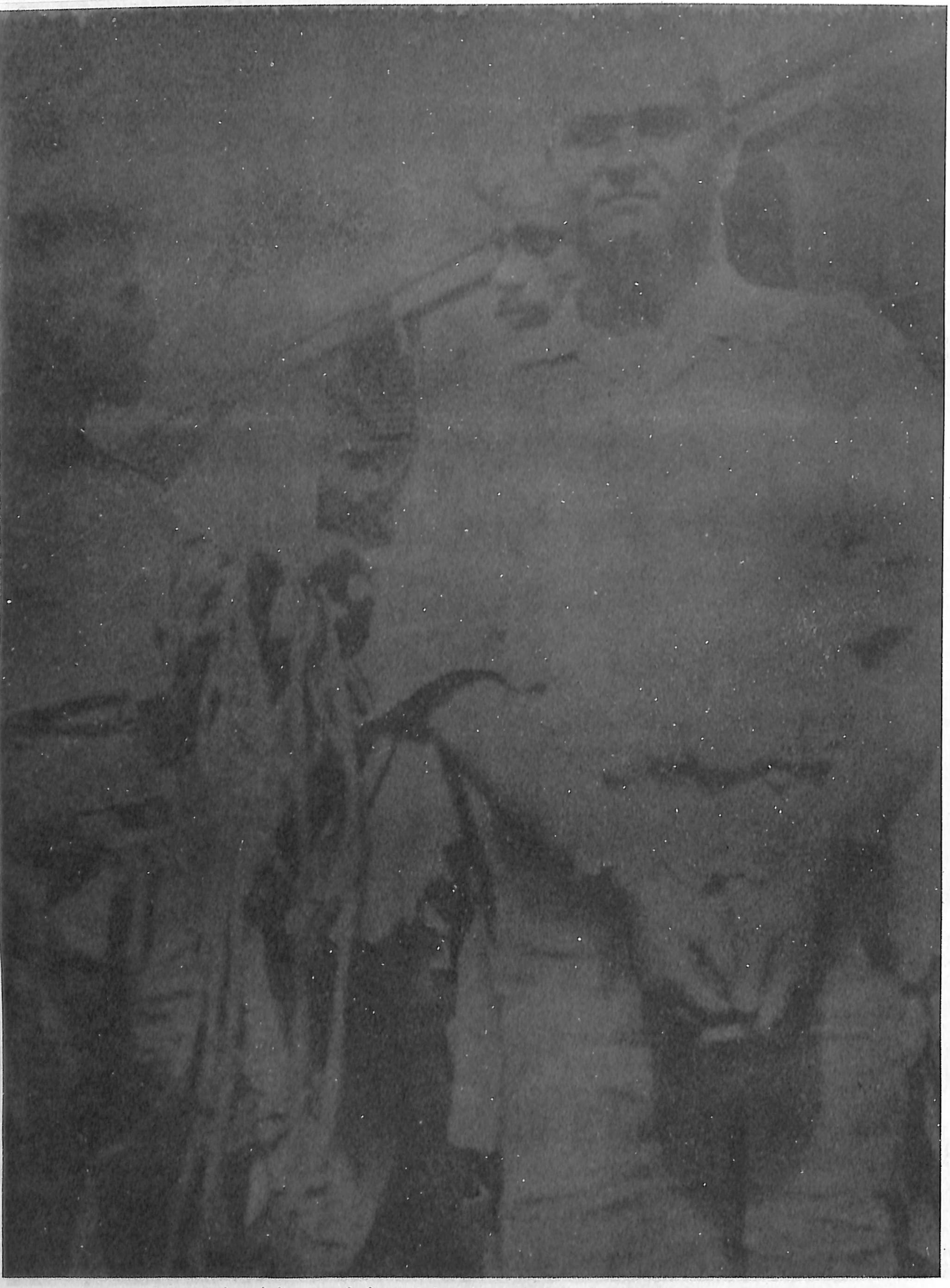
प्रकाशन में जहाँ जो भी त्रुटियाँ रह गयी हैं, उनके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी हैं।

विषयानुक्रम

किसानों-मजूरों के लिए



राहुलजी : किसान आन्दोलन के नेता (1939)



किसान आन्दोलन के नेता राहुलजी, गिरफ्तारी के बाद छपरा से सीवान ले जाये जाते समय (1939)

मेरी जीवन-यात्रा
2

'बेड़े की तरह पार उतरने के लिए मैंने विचारों को स्वीकार किया, न कि सिर पर उठाये-उठाये फिरने के लिए।'

प्राक्कथन

मैंने जीवन-यात्रा के द्वितीय भाग को पहिले के साथ ही (1944 अक्तूबर में) लिखकर दे दिया था, किंतु कई कारणों से वह अब पाठकों के हाथ में जा रहा है। इस भाग के लिखने में श्री सत्यनारायण द्विवेदी की कलम का सहयोग प्राप्त था, जिसके लिए उन्हें अनेक धन्यवाद हैं।

जीवन-यात्रा के इस भाग के बाद मेरी जीवन-यात्रा चलती ही जा रही है, और अब तीसरे भाग[1] को लिखने की आवश्यकता है, किंतु उसके लिए साठवें वर्ष के पूरे होने (9 अप्रैल 1953) की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। वैसे मेरी लेखनी विश्राम नहीं ले रही है, जिसकी कि पाठकों को कोई शिकायत हो सके।

राहुल सांकृत्यायन

नैनीताल
27-4-50

1. मेरी जीवन-यात्रा का तीसरा भाग 'रूस में पच्चीस मास' नाम से पहले प्रकाशित हुआ। यहाँ उल्लिखित तीसरा भाग बाद में चौथे और पाँचवें भाग के नाम से छापा गया।

पर्येषण, पर्यटन

1
लंका के लिए प्रस्थान (1927 ई.)

धूपनाथ अब हमारे और नजदीक हो गये थे। उनके आग्रह के अनुसार सुल्तानगंज–जहाँ पर वह उस वक्त बनैली के राजकुमार के खजांची थे–होते हुए मुझे कलकत्ता जाना था। धूपनाथ और उनके भाई देवनारायण सिंह तहसीलदार भी बड़े स्नेही और उदार जीव थे। अभी तक ईश्वर पर से मेरा विश्वास पूरी तौर से उठा न था, किन्तु नास्तिकता की बातें–खासकर समाज से विद्रोह के बारे में–मैं खूब करने लगा था। बूढ़े देवनारायण बाबू को मैंने देखा, कि वह इन बातों में अपनी शिक्षा और समय से आगे बढ़े हुए थे। सबसे बड़ी बात उनमें यह थी, कि वह अपने चचेरे और सगे भाइयों के सारे परिवार को संयुक्त, स्नेहबद्ध देखना चाहते थे, और इसके लिए अपने मन को काफ़ी दबा रखने में समर्थ थे। धूपनाथ अब भी वैराग्य और वेदान्त के फंदे से निकले न थे, किन्तु एक-एक करके मुझ पर उनकी सरलहृदयता, उदारता, समझ और ज्यादा प्रकट होती जा रही थी। अब मुझे अल्फी उतारकर पंडित वेष में जाना था, जिसके लिए उन्होंने भागलपुरी चद्दर और एकाध कपड़े ला दिये। उन्होंने इतने पैसों का इन्तिजाम कर दिया, जिससे मैं तीसरे दर्जे में लंका पहुँच सकूँ।

8 मई के सबेरे मैंने सुल्तानगंज से हबड़ा की गाड़ी पकड़ी। रास्ते में बोलपुर स्टेशन पर उतर पड़ा। शान्ति-निकेतन के देखने की बड़ी इच्छा थी, और भारत से बाहर जाने से पहिले उसे देख लेना चाहता था। लेकिन, दुर्भाग्य से उस वक़्त वहाँ न कवीन्द्र रवीन्द्र थे, न कोई और प्रमुख अध्यापक। मई का महीना शान्ति-निकेतन की शान्ति को भी भंग कर देता है, और समर्थ लोग पहाड़ों पर भागने के लिए उतावले हो जाते हैं।

कलकत्ता में महाबोधि सोसाइटी में (9-11 मई) ठहरा। शायद अनागरिक धर्मपाल उस वक्त यूरोप गये हुए थे। ब्रह्मचारी देवप्रिय से बोधगया कमेटी के सम्बन्ध से काफी परिचय हो गया था, और उन्होंने मेरे निर्णय को बहुत पसन्द किया। भिक्षु श्रीनिवास ने मेरे बारे में भिक्षु नाराविल धर्मरत्न को लिख दिया था। वह विद्यालंकार के छात्र थे, और भारत के लिए प्रचारक बनने की तैयारी कर रहे थे। उनके विहार ने उनसे भी किसी संस्कृत पंडित के भेजने के लिए आग्रह किया था। नाराविलजी ने मुझसे वेतन के बारे में पूछा। मैंने कहा–मुझे वेतन की आवश्यकता नहीं, खाना-कपड़ा और पुस्तकें मिलनी चाहिएँ, और सबसे जरूरी बात–पाली पढ़ने का अच्छा प्रबन्ध। इसके बारे में उन्होंने पूरा विश्वास दिलाया। उसी वक्त विद्यालंकार को उन्होंने तार दिया, और दूसरे या तीसरे दिन सौ रुपये मार्ग-व्यय के लिए आ गये।

श्वेत धोती, कुर्त्ता, चादर के विनीत वेष में कुछ पुस्तकों के साथ मैं हबड़ा स्टेशन से मद्रास-मेल की ड्योढ़ा गाड़ी में सवार हुआ। खड्गपुर से आगे दो-दो बार इस रास्ते से रेल का सफ़र कर चुका था, इसलिए बाहर

के दृश्यों में मेरे लिए कोई नवीनता नहीं थी। रास्ते की सिर्फ़ एक घटना याद है। मैं रेस्तोराँ-कार (भोजन-गाड़ी) में खाना खाने गया। खानसामाँ ने खाने की चीज़ों के साथ छुरी-काँटा रख दिया। कभी उनका इस्तेमाल तो किया न था, न नज़दीक से किसी को इस्तेमाल करते देखा था, इसलिए खाने में सहायक होने की जगह वह बाधक बनने लगे। खानसामाँ से यह देखा न गया, वह बोल उठा–'रख दीजिए छुरी काँटे को, हाथ से खाइए।' मैं शरमा गया।

मद्रास में (14 मई) आनन्द भवन होटल में ठहरने का इरादा था, किन्तु रिक्शावाले ने एक दूसरे ही हिन्दुस्तानी होटल में पहुँचा दिया। धनुषकोडी को डाक बारह घंटे बाद रात को जानेवाली थी, इसलिए मैंने घूमकर शहर के परिचित स्थानों की स्मृति जागृत करनी चाही।

नाराविलजी ने बतला दिया था, कि मद्रास से कोलम्बो का दूसरे दर्जे का टिकट ले लीजिएगा, नहीं तो मंडपम् (रामेश्वरम्) में कोरंटीन में हफ्ते-भर पड़ा रहना होगा। मैं दूसरे दर्जे का टिकट ले मेल पर सवार हुआ। तब उस वक़्त (1913 ई.) की वह घटना याद आई, जब कि सिर्फ़ सैदापट का टिकट ले मैं बाढ़ के वकील साहेब के साथ इसी मेल पर जबर्दस्ती चढ़ाया गया, और उतार देने पर बहुत प्रसन्न हुआ था। परसा में रहते वक़्त मैं बराबर दूसरे दर्जे में ही सफ़र करता था, इसलिए दूसरे दर्जे की गाड़ी मेरे लिए नई चीज़ न थी, तो भी उसके कमोड का इस्तेमाल मैं अब तक न जानता था।

मंडपम् में सीलोन सरकार के कर्मचारियों ने आकर टिकट देखा, कुछ पूछा-पेख की, डाक्टर ने आकर नब्ज़ देखी। धनुषकोडी से स्टीमर पर सवार हुआ। 14 साल पहिले धनुषकोडी देखी थी। लंका से लौटे कुछ पंजाबी सिक्खों ने रामेश्वरम् में मेरे सामने ही कानपुर की सेठानी को पोखराज, और दो-एक और तरह के रत्न-खंडों को दिखलाया था। उस वक़्त लंका एक अद्भुत-सा द्वीप मालूम होता था। आज मैं उसके क़रीब था और वह उतना अद्भुत नहीं मालूम होता था, तो भी मेरे हृदय में एक प्रकार की उत्सुकता थी। जहाज़ में सामुद्रिक बीमारी, मिचली और कै की बात मैं सुन चुका था, इसलिए मैंने मद्रास से काफी कागज़ी नीबू ले लिये थे। लेकिन आध घंटा चलने पर भी जब वह आकर्षक और भयद अनुभव सामने नहीं आया, तो लेमोनेड की दो-तीन बोतलें ऐसे ही पीता रहा। समुद्रयात्रा सिर्फ़ दो घंटे की रही होगी, जिसमें भी कोई किनारा न दिखाई देता हो, ऐसा समुद्र कुछ मिनटों ही का था।

15 मई को अँधेरा हो गया था, जब कि हमारा स्टीमर तलेमन्नार बंदरगाह पर पहुँचा। मैंने स्टीमर ही पर कुछ सिक्कों को सीलोन के रुपयेवाले नोटों और सेंटों में बदल लिया था, किन्तु अभी उनके मूल्य से अभ्यस्त नहीं हुआ था। स्टीमर के पास ही कोलम्बो की ट्रेन खड़ी थी। अधिकारियों ने देखभाल की, और मैं दूसरे दर्जे की एक गाड़ी में सवार हो सो रहा। लंका की प्राकृतिक छवि, उसके जलवायु के बारे में श्रीनाराविल धर्मरत्न और भिक्षु श्रीनिवास से बहुत सुन चुका था, उसे देखने के लिए बड़ा लालायित था, किन्तु उस रात को देखने का सुभीता कहाँ था ?

सबेरा होते मैं उठ बैठा। बाहर पाँती से लगे नारियलों के साफ़-सुथरे बगीचे एक के बाद एक चले आते थे। बीच-बीच में फूस या विलायती खपड़ैल से छाये मकान थे। मकानों के समाने अब भी फूल-पत्तों और काग़ज़ की लालटेनों की सजावट थी। लोगों ने बतलाया–वैशाख पूर्णिमा के लिए यह सजावट की गई है। भगवान् बुद्ध के जन्म, बुद्धत्व-प्राप्ति और निर्वाण का दिन होने से यह बौद्ध लोगों का बहुत पुनीत दिवस है। इतने दिनों से सुनते आते बुद्ध के नाम में अब एक विचित्र प्रकार का आकर्षण, एक अद्भुत माधुर्य, एक विशेष आत्मीयता मालूम होती थी।

16 मई–नाराविलजी ने मरदाना स्टेशन से उतरकर फिर एक स्टेशन पीछे केलनिया आने को बतलाया था। उन्होंने मेरे रवाना होने के बारे में तार भी दे दिया था, और कोई आदमी मरदाना गया भी था, किन्तु मुझसे मुलाक़ात न हुई। दूसरी ट्रेन से केलनिया उतरकर मैंने विद्यालंकार विहार के बारे में पूछा, और ज़रा-सी दिक़्क़त के साथ मैं पक्की सड़क से उस रास्ते की ओर बढ़ा, जो विहार के भीतर जाता था। चारों तरफ़ हरे-हरे नारियल तथा दूसरे दरख़्त, और पानी से भरे हुए खेतों का विद्यालय को द्वीप के रूप में परिणत करने का

वह नज़ारा अनिर्वचनीय और चिरस्मरणीय रहा।

मैं धोती, चादर के उत्तर-भारतीय वेष में था, इसलिए तमिल पोशाक से भिन्न होने के कारण विहार के साधुओं को यह समझ जाने में मुश्किल नहीं हुई, कि यही 'दम्बदिउ ब्राह्मण पंडितुमा' (जम्बूद्वीपीय ब्राह्मण पंडितजी) हैं। दाहिनी ओर एक दो-महला आवास, बाईं ओर 'धर्मशाला' (व्याख्यानशाला) तथा घंटा-मीनार को छोड़ते जब तक मैं पश्चिम के बँगले में पहुँचूँ, तब तक मेरे आने की खबर विहार के प्रधान लुनुपोकुनी श्रीधर्मानन्द नायक-महास्थविर के पास पहुँच गई, और कितने ही अध्यापक और विद्यार्थी भिक्षु भी वहाँ जमा हो गये। मेरे बैठने के लिए एक छोटी-सी 'पाकेट' कुर्सीनुमा मचिया रख दी गई।

मैंने महास्थविर को विनम्र भाव से प्रणाम किया। उन्होंने संस्कृत में मार्ग की कुशल-प्रसन्नता के बारे में पूछा। पहिले ही दर्शन के वक्त महास्थविर के ओठों तक परिसीमित हास, आँखों में स्नेह की चमक और मधुर भाषण ने मेरे दिल से स्थान की अपरिचितता को दूर कर दिया। अभी मैंने न मुँह धोया था, और न नाश्ता किया था, पहिले उसके लिए मुझे छुट्टी दी गई। उत्तर ओर की गृहपंक्ति में पश्चिम सिरे का विशाल हवादार कमरा मेरे लिए पहिले ही से तैयार रखा गया था। वहाँ साफ-सुथरे वार्निश किये गये मेज़, कुर्सियाँ, एक आल्मारी तथा नई उजली बारीक मसहरी के साथ पलंग रखी हुई थी। खाने के लिए मैंने पावरोटी, मक्खन, दूध और चीनी की स्वीकृति दी और बतला दिया, कि मैं निरामिष भोजन पसंद करता हूँ–अभी मांसाहार का पक्षपाती मैं बन नहीं पाया था।

यहाँ के अध्यापकों, विद्यार्थियों, उनके निवासों को देखकर मैं जब भारत के साधु-संन्यासियों से तुलना करता, तो मुझे जमीन-आसमान का अन्तर मालूम होता था। इनकी चेष्टाएँ ज्यादा संयत थीं, व्यवहार अधिक संस्कृत, वेषभूषा बहुत परिष्कृत, घर और उसके सामान स्वच्छ तथा बाक़ायदगी के साथ रखे हुए थे। अपने कमरे के सामान को देखकर तो मुझे ख्याल हुआ, कि एक आगन्तुक परदेशी अध्यापक के आराम का ज्यादा ख्याल होना ही चाहिए; किन्तु जब दूसरे भिक्षु विद्यार्थियों की कोठरियों को भी देखा, वहाँ भी वही स्वच्छता, वही चमकती वार्निश के काले मेज़ और कुर्सी थी, मेज पर झालरवाली सुन्दर टेबुल लैम्प पलंगों पर सफ़ेद मसहरी टँगी थी, तथा सफेद चादर गिलाफ़ से ढके गद्दे तकिये थे; तो पहिले मुझे इसमें शौकीनी की बू आई, किन्तु यह समझने में बहुत देर न लगी कि शौकीनी भी एक सापेक्ष चीज़ है। जो एक जगह की शौक़ीनी समझी जाती है, वही दूसरी जगह जीवन की साधारण आवश्यकता हो सकती है। लंका के साधारण लोगों की जीविका का मान हमारे यहाँ से ऊँचा होने से वहाँ इसे शौक़ीनी नहीं कहा जा सकता था।

विद्यालंकार परिवेण (विहार) में चन्द घंटे ही रहने के बाद मुझे यह तो मालूम हो गया, कि यहाँ भी मुझे आत्मीयता से वंचित रहना नहीं पड़ेगा; किन्तु अब आगे के कार्य-क्रम को बनाना था–विद्यार्थी क्या पढ़ना चाहते हैं, और मेरे पाली अध्ययन का काम कैसे चलेगा। विद्यालंकार भिक्षुओं का विद्यालय है, यहाँ के अध्यापक सभी भिक्षु हैं, सिवाय चन्द संस्कृत और वैद्यक के विद्यार्थियों के, जो कि दिन में कुछ घड़ी पढ़कर चले जाते हैं। 18-20 विद्यार्थी और तीन-चार अध्यापक काव्य, व्याकरण और न्याय पढ़ना चाहते थे। संस्कृत, पाली मिला-जुलाकर मुझे भाषा की दिक़्क़त नहीं रही, और संस्कृत को मैंने अध्यापन के माध्यम के तौर पर इस्तेमाल किया। संस्कृत-पाली पर निर्भर रहने का एक परिणाम यह हुआ, कि मैं लंका की भाषा–सिंहल को हिन्दी से नजदीक होने पर भी नहीं सीख सका।

विहार के प्रारम्भिक श्रेणी से ऊपर के प्रायः सभी विद्यार्थी और सारे अध्यापक संस्कृत पढ़ते थे। संस्कृत सीखने का वहाँ का तरीका उत्तर भारत के पंडितों का-सा पुराना था। शुरू ही से व्याकरण रटाने की प्रवृत्ति को छोड़कर मैंने ऐसे तरीके से पाठ देना तै किया, जिसमें थोड़ा भी परिश्रम और समय लगाने पर विद्यार्थी को अपनी सफलता के प्रति आत्मविश्वास बढ़े। इसके लिए पढ़ाते हुए मैंने पाँच पुस्तकें बनाईं, जिनमें चार भाषा और व्याकरण से सम्बन्ध रखती थीं, और पाँचवीं छन्द-अलंकार की सम्मिलित पुस्तक थी। पहिली तीन पुस्तकें कई वर्ष पहिले ही सिंहल अक्षर में सिंहल भाषा के साथ छप भी चुकी हैं। व्याकरण पढ़नेवालों के लिए लघु और सिद्धान्तकौमुदी पर मैंने भाषावृत्ति और काशिका को तर्जीह दी।

लंका में पहिली बार का 18 मास का निवास गम्भीर अध्ययन-अध्यापन का जीवन था। रात-दिन में आठ-नौ घंटे खाने-सोने-टहलने में लगते, बाकी समय में पाँच घंटे पढ़ाने और आठ-नौ घंटे अपने पढ़ने के लिए निश्चित थे। सबेरे-तड़के मैं उठ जाता। शौच, मुँह-हाथ धो कुएँ पर जा स्नान कर लेता। कमरे के दर्वाजे को भेड़ कुछ मिनट शीर्षासन करता। तब तक पावरोटी, मक्खन, दूध, चीनी और सहिजन का नारियल-खटाई में बना हुआ झोल आ जाता। मैं कितने ही दिनों तक इस झोल को बड़े चाव से पीता रहा। उसमें कुछ तलछट बच जाती थी, जो देखने में हल्दी के मोटे चूरे की तरह मालूम होती, किन्तु खाने में सुस्वादु। हफ्तों बाद एक दिन मैंने पूछा; तो मालूम हुआ, वह हल्दी नहीं बल्कि समुद्र की सूखी चिमड़ी मछली (उम्मलकड) का चूरा है, जो कि मसाले के तौर पर वहाँ इस्तेमाल किया जाता है। निरामिषाहार से विश्वास पहिले ही से डिग चुका था, और अब हफ्ते दो हफ्ते उम्मलकड के टुकड़ों को खा लेने पर फिर अपने को बचपन के प्रिय आहार—जिसे मुहैया करने में कंठीबंध वैष्णव नाना-नानी आनाकानी नहीं करते थे—से अपने को वंचित रखना मुझे निरी मूर्खता जँची।

2

लंका में उन्नीस मास

(16 मई 1927 ई. से 1 दिसम्बर 1928 ई.)

विद्यालंकार विहार लंका में भिक्षुओं के दो प्रधान केन्द्रों में से है। विद्यार्थियों और अध्यापकों की संख्या में कोलम्बो का विद्योदय विहार बड़ा था, किन्तु उसका बहुत कुछ श्रेय उसका कोलम्बो शहर में होना था। विद्यालंकार के संस्थापक श्रीधर्मालोक महास्थविर और विद्योदय के संस्थापक श्रीसुमंगल महास्थविर गुरुभाई थे, और दोनों विहारों की स्थापना पाली त्रिपिटक के गम्भीर अध्ययन के लिए एक ही समय हुई। विद्योदय के संस्थापक सुमंगल महास्थविर अपने समय के महान् पंडित थे, किन्तु धर्मालोक महास्थविर के शिष्य श्रीधर्माराम महास्थविर अपने समय की लंका में पाली-संस्कृत के सर्वोच्च पंडित थे। श्रीधर्माराम के शिष्य विद्यालंकार के वर्त्तमान प्रधान श्रीधर्मानन्द महास्थविर का पाली-व्याकरण के पंडितों में बहुत ऊँचा स्थान था। विद्यालंकार विद्यालय में उस समय डेढ़ सौ के करीब विद्यार्थी (विद्योदय में पाँच सौ के करीब) पढ़ते थे, जिनमें चालीस के करीब वहीं रहते थे, बाकी आसपास के छोटे-छोटे मठों (विहारों) में रहते और पढ़ने के लिए दोपहर बाद विहार में चले आते थे। भिक्षुओं की पढ़ाई की गति बहुत मंद हुआ करती है। वे समझते हैं, जल्दी क्या है, सारा जीवन तो पढ़ने के लिए है ही। मुझको इसका अफसोस जरूर होता था, कि वह मेरे समय का पूरा उपयोग नहीं ले रहे हैं। तो भी जहाँ तक मेरी पढ़ाई का सम्बन्ध था, महीना बीतते-बीतते वह बड़ी द्रुत गति से चल निकली। मैंने पहले सुत्तपिटक के ग्रन्थों को शुरू किया। संस्कृत के अत्यन्त सन्निकट होने से पाली मेरे लिए आसान थी, और भारत में रहते मैंने उसे स्वयं पढ़ना भी शुरू किया था। पढ़ने के लिए मैं अपनी पुस्तकों को इस्तेमाल करता, और भौगोलिक ऐतिहासिक बातों पर निशान करके पीछे उन्हें नोटबुक में उतारता जाता। नायक महास्थविर, आचार्य प्रज्ञासार, आचार्य देवानन्द, आचार्य प्रज्ञालोक हर एक से डेढ़-डेढ़ दो-दो घंटे लेता, तो भी मेरी तृप्ति न होती। पाली त्रिपिटक में बुद्धकालीन भारत के समाज, राजनीति, भूगोल का बहुत काफी मसाला है। उन्होंने मेरी ऐतिहासिक भूख को बहुत तेज कर दिया था। पाली टेक्स्ट सोसाइटी (लंदन) के त्रिपिटक संस्करणों की विद्वत्तापूर्ण भूमिकाओं ने आग में घी डालने का काम किया, और पाली टेक्स्ट सोसाइटी जर्नल के पुराने अंकों को पढ़ने के लिए मैं मजबूर हुआ। फिर ब्रिटेन की रायल एसियाटिक सोसाइटी, सीलोन, बंगाल, बंबई की उसकी शाखाओं के पुराने जर्नलों का बाकायदा पारायण शुरू हुआ। ब्राह्मी लिपि से मेरा परिचय हजारीबाग जेल में हुआ था और यहाँ तो एपीग्राफिया इंडिका की सारी जिल्दें उलट डालीं। छै-सात मास बीतते-बीतते भारतीय संस्कृति

की गवेषणाओं के सम्बन्ध में मेरा ज्ञान, गुण और परिमाण दोनों में इतना हो गया था, कि जब मारबुर्ग (जर्मनी) के प्रोफ़ेसर रुडाल्फ़ ओटो विद्यालंकार विहार में आये, तो मुझसे बातचीत करके उनको तअज्जुब हुआ, कि मैं कभी किसी विश्वविद्यालय का विद्यार्थी नहीं रहा। वस्तुतः इस सारी योग्यता का श्रेय इन कुछ महीनों के अध्ययन को नहीं दिया जा सकता। अव्यवस्थित रूप से छिटपुट पढ़ते रहने की मेरी आदत पहिले ही से थी। डी. ए. वी. कालेज में पंडित भगवद्दत्त के सम्पर्क में अन्वेषण-पत्रिकाओं की ओर नजर कुछ जरूर गई थी, किन्तु पूर्वजों के ज्ञान की उपयोगिता का महत्त्व यहीं साफ झलकने लगा। जब-तब पढ़े संस्कृत के दर्शन-काव्य ग्रन्थ, घूमते-फिरते वक्त दृष्टिगोचर हुई भौगोलिक तथा स्थानीय भाषाओं की विशेषताएँ—इन सभी तरह के ज्ञानों ने मस्तिष्क और स्मृति के भीतर उथल-पुथल करके एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण पैदा कर दिया।

ढाई हजार वर्ष पहिले के समाज और समय में बुद्ध के युक्तिपूर्ण सरल और चुभनेवाले वाक्यों का मैं तन्मयता के साथ आस्वाद लेने लगा। त्रिपिटक में आये मोजिज़ें और चमत्कार अपनी असम्भवता के लिए मेरी घृणा के पात्र नहीं, बल्कि मनोरंजन की सामग्री थे। मैं समझता था, पच्चीस सौ वर्षों का प्रभाव उन ग्रन्थों पर न हो यह हो नहीं सकता। असम्भव बातों में कितनी बुद्ध ने वस्तुतः कहीं, इसका निर्णय आज किया नहीं जा सकता, फिर राख में छिपे अंगारों, या पत्थरों से ढँके रत्न की तरह बीच-बीच में आते बुद्ध के चमत्कारिक वाक्य मेरे मन को बलात् अपनी ओर खींच लेते थे। जब मैंने कालामों को दिये बुद्ध के उपदेश—किसी ग्रन्थ, परम्परा, बुजुर्ग का ख्याल कर उसे मत मानो, हमेशा खुद निश्चय करके उस पर आरूढ़ हो—को सुना, तो हठात् दिल ने कहा—यहाँ है एक आदमी जिसका सत्य पर अटल विश्वास है, जो मनुष्य की स्वतन्त्र बुद्धि के महत्त्व को समझता है। जब मैंने मज्झिम-निकाय में पढ़ा—बेड़े की भाँति मैंने तुम्हें धर्म का उपदेश किया है, वह पार उतरने के लिए है, शिर पर ढोये-ढोये फिरने के लिए नहीं; तो मालूम हुआ, जिस चीज़ को मैं इतने दिनों से ढूँढ़ता फिर रहा था, वह मिल गई।

एक तरफ आरम्भिक दिनों में मेरे मन की यह दशा थी, दूसरी तरफ पढ़ाते वक्त ईश्वर शब्द का अर्थ विद्यार्थियों को समझाने में मैं बहुत कठिनाई अनुभव करने लगा। अब मेरे आर्यसामाजिक और जन्मजात सारे विचार छूट रहे थे। अन्त में इस सृष्टि का कर्त्ता भी है, सिर्फ इस पर मेरा विश्वास रह गया था। मैं समझता था, ईश्वर का ख्याल मनुष्य में नैसर्गिक है, और यहाँ मैंने अपने समझदार विद्यार्थियों को भी देखा, कि वह उससे बिल्कुल कोरे थे। प्रकृति के विकास, उसकी दैनिक घटनाओं के लिए जहाँ मैं ईश्वर की आवश्यकता अनुभव करता था, वहाँ ये लोग उसे स्वाभाविक कहकर छुट्टी पा लेते थे। बौद्ध-धर्म नास्तिक है, अनीश्वरवादी है—इसे मैंने संस्कृत ग्रंथों में पढ़ा था, किन्तु वहाँ वह घृणा-प्रदर्शन के लिए खास तौर से इस्तेमाल किया गया था, जिसका मेरे दिल पर असर होना बहुत पहिले ही से असंभव हो गया था; किन्तु अब तक मुझे यह नहीं मालूम था, कि मुझे बुद्ध और ईश्वर में से एक को चुनने की चुनौती दी जायेगी। मैंने पहिले-पहिल कोशिश की, ईश्वर और बुद्ध दोनों को साथ ले चलने की; किन्तु उस पर पग-पग पर आपत्तियाँ पड़ने लगीं। दो-तीन महीने के भीतर ही मुझे यह प्रयत्न बेकार मालूम होने लगा। शाम के वक्त मैं एक घंटे केलनियाँ से तलेमन्नार आनेवाली रेलवे लाईन पर घूमने जाता। मैं अकेला घूमना चाहता, और अक्सर अकेला रहता। उस वक्त मेरा अन्तर्द्वन्द्व इतना तीव्र होता, कि बाज वक्त मुझे डर लगता, कहीं आगे-पीछे से आनेवाली ट्रेन को देखना न भूल जाऊँ। सौभाग्य से लाईन दुहरी थी, और ट्रेन को सामने रखकर मैं टहलता था। ईश्वर और बुद्ध साथ नहीं रह सकते, यह साफ हो गया, और यह भी स्पष्ट मालूम होने लगा, कि ईश्वर सिर्फ काल्पनिक चीज है, बुद्ध यथार्थवक्ता है। तब कई हफ्तों तक हृदय में एक दूसरी बेचैनी पैदा हुई।—मालूम होता था, चिरकाल से चला आता एक भारी अवलम्ब लुप्त हो रहा है। किन्तु मैंने हमेशा बुद्धि को अपना पथप्रदर्शक बनाया था, और कुछ ही समय बाद उन काल्पनिक भ्रान्तियों और भीतियों का ख्याल आने से अपने भोलेपन पर हँसी आने लगी। जब 5 जनवरी (1928 ई.) को ब्रह्मचारी विश्वनाथ आये, तो देखा वह भी उन्हीं मानसिक अवस्थाओं से गुजर रहे हैं। किन्तु जहाँ उस सारे संघर्ष से मुझे अकेले लोहा लेना पड़ा था, वहाँ उनके लिए मेरा तजर्बा हाजिर था, और वह कम ही समय में प्रकृतिस्थ हो गये। अब मुझे डार्विन के विकासवाद की सच्चाई मालूम

होने लगी, अब मार्क्सवाद की सच्चाई हृदय और मस्तिष्क में पेवस्ता जान पड़ने लगी।

विद्यालंकार विहार कांडी जानेवाली सड़क पर कोलम्बो शहर से दूर है। शहर से दूर रहना मैं अपने घाटे का नहीं, नफे का सौदा समझता था; लेकिन प्रायः हर रविवार को मैं कोलम्बो जाता, इसका कारण सीलोन-शाखीय रायल एसियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में पढ़ने जाने और पीछे कोलम्बो के परिचित भारतीयों से मिलते रहने की इच्छा थी। बल्कि पुस्तकालय का जाना पीछे अनावश्यक हो गया, जब कि श्री डी. वी. जयतिलक की कृपा से वहाँ की पुस्तकें मेरे लिए विद्यालय में पहुँचने लगीं। श्री (पीछे 'सर') डी. वी. जयतिलक विद्यालंकार के अधिपति श्रीधर्माराम के शिष्य थे, इसलिए विद्यालय के साथ उनकी बड़ी आत्मीयता थी। उस वक्त वह लंका के बौद्धों के सर्वमान्य नेता, तथा सर्कार द्वारा पोषित सिंहल-कोष के प्रधान सम्पादक थे। अभी वह राजनीति में उस स्थान पर नहीं पहुँचे थे, जो नये सुधारों के बाद प्रधानमंत्री हो पिछले दस-ग्यारह वर्षों में उनको प्राप्त हुआ। कोलम्बो में पहिले-पहिल, शायद, पंडित जगतराम से परिचय हुआ। लंकावाले उत्तर भारत को जम्बूद्वीप और दक्षिण भारत को इंडिया या दमिल कहते हैं। जहाँ जम्बूद्वीप के प्रति उनकी अपार श्रद्धा है, वहाँ दमिल या इंडिया का नाम लेते ही पिछले बाईस सौ वर्ष के राजनीतिक संघर्ष की कटु स्मृतियाँ प्रबल हो उनके दिल में घृणा पैदा कर देती हैं। पंडित जगतराम जम्बूद्वीप के ज्योतिषी के नाम से बहुत ख्याति पा चुके थे। एक रविवार को मैं उनसे मिलने गया। मेरे उत्तर-भारतीय वेष को देखते ही उन्होंने आदर से बैठाया। लेमोनेड की बोतल और पान मँगाया–पान यहाँ भी मद्रास की तरह अलग-अलग चूने लगे पत्ते, और सुपाड़ी के साथ बिना कत्थे के खाया जाता है। उनका गोरा, लम्बा, दीर्घ-वयस्क होने पर भी स्वस्थ शरीर पंजाब की झलक दे रहा था। पूछने पर मालूम हुआ, वे जम्बू के रहनेवाले हैं। उनका जीवन सारा तो मैंने न सुन पाया, किन्तु उसमें असाधारणता जरूर थी। हिन्दी में वह पढ़-भर लेते थे, संस्कृत का ज्ञान नहीं के बराबर था, किन्तु आज वह सारे लंका के सर्वोच्च भविष्यद्वक्ता ज्योतिषी समझे जाते थे। ज्योतिष के मानने में हर धर्म के लंकावासी एक दूसरे से होड़ लगाये हुए हैं। हमारे यहाँ भी ऐसे आदमियों की कमी नहीं है, किन्तु सर और बड़े-बड़े खिताबधारियों की मोटरें ज्योतिषीजी के घर पर धरना देती फिरें, ऐसा अक्सर यहाँ बहुत कम मिलता है। पंडित जगतराम किसी सर्कस में खेल का काम करते थे, जिसमें कुछ मराठा और दूसरे लोग भी शामिल थे। एक बार उनकी पार्टी लंका आई। उनको कुछ ज्योतिष का ज्ञान था, जिसके लिए लंका की भूमि को बहुत उर्वर देखकर वह यहीं ठहर गये, और अपनी व्यवहार-बुद्धि के कारण एक सफल ज्योतिषी बन गये। उसी समय एक तमिल अब्राह्मण स्त्री से उनका प्रेम हो गया। मुझे तो समझना मुश्किल था, कि ऐसा सुन्दर स्वस्थ आदमी उस कुरूपा के प्रेमपाश में कैसे बद्ध हुआ ? किन्तु–

'प्राप्ते तु षोड़शे वर्षे गर्दभी ह्यप्सरायते।'

अथवा 'दिल लगने' की बात हो सकती है। उनके चार लड़कों में बड़े अंग्रेजी जानते थे, और बाप का व्यवसाय करते थे; दूसरा लन्दन का बी. एस. सी. होकर एडवोकेट बनने की तैयारी कर रहा था, छोटे दो स्कूल में पढ़ते थे। शहर में उनके दो अपने मकान थे, और काफी रुपया जमा था। मुझसे उनकी घनिष्ठता हो गई थी। कोलम्बो में दो हिन्दी-भाषा-भाषी वैद्य थे–दोनों ही कानपुर के आस-पास के रहनेवाले थे। एक तो महीने में पाँच-छै सौ रुपये कमा लेता था, किन्तु बोतल के मारे मकान का किराया देना उसके लिए मुश्किल था। दूसरे बहुत बूढ़े थे। उनकी एक लड़की अपने देश की स्त्री से थी, जिसे हमारे रावलपिंडी के एक तरुण दोस्त दास ने ब्याहा था। वह जहाज की नौकरी और कराँची के रेस्तोराँ में काम करते हुए कोलम्बो पहुँचे थे। पहिले वह मदन थियेटर के सिनेमा में रेस्तोराँ में काम करते थे। पीछे फोटोग्राफ़ी की फेरी करने लगे। उनका आना अक्सर हमारे यहाँ होता था। एक दिन एक बड़े मज़े की बात कह रहे थे। सिंहालियों की ज्योतिष की कमजोरी उन्हें मालूम थी, इसलिए फोटो के सिलसिले में घूमते हुए वह ज्योतिष पर भी हाथ साफ करते थे; लेकिन कह रहे थे, अभी मैं उसके पैसे को अपने काम में नहीं लाता। एक दिन एक सिंहाली भद्रपुरुष के बँगले में गये। ज्योतिष-संबंधी प्रश्न सामने आने पर उन्होंने बड़ी दृढ़ता के साथ घर के लड़कों की संख्या भी गिनकर बतला

दी। घरवालों को अब उनकी भविष्यद्वादिता पर क्या सन्देह हो सकता था ? मैंने पूछा—तुमने लड़कों की संख्या कैसे बतला दी ? झट से जवाब दिया—जाते वक्त मोटर पर उन्हें खेलते जो देख लिया था।

कोलम्बो के परिचितों में श्रीगोविन्दसुन्दर परमार और पंडित रविशंकर गुजराती बड़े प्रेमी सज्जन थे। दोनों गुजराती बोहरा सेठ के यहाँ मुनीम थे। बोहरा लोग मुसल्मान हैं, किन्तु उन्हें अपनी गुजराती भाषा का बड़ा अभिमान है। सिंहल, दक्षिण अफ्रीका के निकट तक में दोहरा बहीखाता रखना स्वीकार करते हुए वह गुजराती में ही अपना हिसाब-किताब रखते हैं। इस्लाम में मुझे यदि कोई चीज बहुत बुरी लगती है, तो वह स्थानीय भाषा और संस्कृति के प्रति अवहेलना और विद्रोह का भाव; और जहाँ यह बात नहीं रहती, वहाँ उसके ऐतिहासिक महत्त्व का मैं बहुत प्रशंसक हो जाता हूँ। गोविन्द भाई का बराबर आग्रह था, कि कोलम्बो जाने पर दोपहर का खाना उन्हीं के यहाँ खाऊँ। विद्यालंकार के पावरोटी-दूध, मक्खन, मिर्चों के मारे धोकर खाने लायक मांस-मछली के स्थान पर हफ्ते में एक बार गुजराती खाना—जो हमारे बिहार-युक्तप्रान्त के खाने का छोटा-सा रूपान्तरमात्र है—मुझे क्यों न पसन्द आता। अक्सर सबेरे मरदाना स्टेशन पर बुखारी होटल में मुर्ग-मुसल्लम और चाय खाता, दोपहर के वक्त गोविन्द भाई या रविशंकर भाई के यहाँ निरामिष गुजराती भोजन।

दिसम्बर (1927 ई.) में कांग्रेस मद्रास में हुई। राजेन्द्र बाबू का पत्र आ गया था, कि वह कांग्रेस के बाद सीलोन देखना चाहते हैं। मैंने उनको आने के लिए लिखा, और दर्शनीय स्थानों में ले जाने आदि का इन्तिजाम किया। फोर्ट स्टेशन पर 1 जनवरी (1928) की ट्रेन में हीरेन्द्रनाथ दत्त और बहुत से ग्रामीण बंगाली आये। मैंने कोलम्बो के दर्शनीय स्थान, और केलनिया के प्राचीन विहार को दिखलाकर उन्हें मोटर-बस से नूर-एलिया, कांडी, अनुराधपुर के लिए रवाना कर दिया। 3 जनवरी को राजेन्द्र बाबू सदल-बल पहुँचे। कोलम्बो के डक, म्यूजियम, टाउन हाल आदि दिखलाते हुए हेवलाक टाउन में उस नये विहार को भी दिखलाया, जिसको एक करोड़पती पिता ने अपने तरुण पुत्र की शहादत के स्मारक के तौर पर बनाया था। इस नवजवान को सिंहल जातीयता से बड़ा प्रेम था। वह वालंटियर सेना में अफसर था। युद्ध के समय 1915 ई. में सिंहल-मुस्लिम झगड़े को उग्र रूप धारण करते हुए देख, अंग्रेजों ने लंका में मार्शल लॉ घोषित कर दिया, और उस मार्शल लॉ के ऊपर बलि चढ़नेवालों में अपने बाप का अकेला पुत्र यह तरुण भी था। उसे गोली मार दी गई थी। पिता ने उसी के स्मरण में यह छोटा किन्तु बहुत सुन्दर विहार बनवाया था। मूर्तियों और भित्तिचित्रों के बनाने में सिंहल के सर्वश्रेष्ठ कलाकार नियुक्त किये गये थे। सिंहल के बौद्ध मन्दिरों की अद्वितीय स्वच्छता यहाँ भी थी। प्रधान द्वार की तरफ भीतर की ओर उस तरुण का रंगीन चित्र था। केलनिया के विहार का दर्शन कर पार्टी थोड़ी देर के लिए विद्यालंकार विहार में भी आई। नारियलों की घनी छाया, एकान्त और शान्त स्थान में उस विहार को देखकर मेरे देशभाई बहुत प्रसन्न हुए।

दूसरे दिन हम लोग एक या दो बस से नूर-एलिया के लिए रवाना हुए। नूर-एलिया लंका का शिम्ला छै हजार फ़ीट के ऊपर बसा हुआ है। भूमध्यरेखा से चार ही पाँच डिग्री उत्तर होने से वहाँ सिवाय वर्षा की कमी-बेशी के मौसिम एक-सा रहता है। यहाँ के पहाड़ों में जंगल है, किन्तु देवदारों की मनोमोहक सुन्दरता और जाड़ों का बर्फ़ वहाँ दिखलाई नहीं पड़ता। दिन-भर रास्ते के वन, पर्वत, ग्रामीण कुटियों, बाजार की दूकानों को देखते हम शाम से पहिले नूर-एलिया (नगर-आलोक) पहुँच गये। एक होटल में रहने के लिए कहने पर होटलवाले ने पहिले इन्कार कर दिया। उसका इन्कार करना बजा था, क्योंकि कल के आये भारतीयों ने नहाने, धोने, पेशाब-पाखाने में अपनी भारी अज्ञानता और बेपरवाही का परिचय दिया था। लेकिन जब उसे मालूम हुआ, कि मैं विद्यालंकार विहार का अध्यापक हूँ, और ये सब मेरे साथी हैं, तो उसने जगह दी। और लोग तो कमरों में ठहरे, किन्तु पैसे की कमी और सनातनधर्मिता के कारण कुछ लोग नीचे एक कमरे में ठहराये गये। खैर, और बातों में तो उन्होंने मेरी चेतावनी और भारत की बदनामी का ख्याल किया, किन्तु एक एम. ए. 'सनातनी' विद्वान् ने सड़क के नलके के ऊपर जा नहाने में संकोच नहीं किया। उनको यह नहीं समझ में आया, कि पीने के नलके के ऊपर शरीर के छींटे को शायद यहाँ के लोग बर्दाश्त नहीं करते।

सबेरे हम लोग सीता-एलिया देखने गये। लंका जब रावण का द्वीप है, तो उसकी राजधानी और हर कर लाई सीता के रखने का भी कोई स्थान होना चाहिए। बाबू मथुराप्रसाद ने स्थान की एकान्तता और रमणीयता, पास बहती लघुसरिता की स्वच्छ धारा और पहाड़ों में फूले लाल 'अशोक' के वृक्षों को देखकर कहा–ठीक, यही जानकी महारानी का अशोकवन है। उन्होंने बड़ी श्रद्धा से अशोक के पत्ते पास में रख लिये। मैंने पास के पहाड़ों पर घास के नीचे डेढ़-दो फीट मोटी काली मिट्टी को दिखलाकर कहा–और यह देखिए सोने की लंका का दहन। लंका के बारे में पूछने पर मैंने कहा–रावण की कथा की सच्चाई के बारे में मैं कसम खाने के लिए तैयार नहीं, किन्तु यदि वह कोई है, तो यही है।

उसी दिन हम लोग कांडी चले आये। वहाँ के दन्त-मन्दिर का देखना आवश्यक था। दन्त-मन्दिर बौद्धों के लिए एक पवित्र तीर्थ-स्थान बन गया है। उनका विश्वास है, कि यह भगवान् बुद्ध की असली दाढ़ है। कहावत यह भी है, कि पोर्तुगीजों ने असली दाँत को जला डाला था। यदि यह दाँत उसी दाँत के आकार-प्रकार का है तो कहना पड़ेगा, कि वह भी नकली ही दाँत रहा होगा। भला अँगूठे के इतना मोटा करीब एक इंच का दाँत कहीं मनुष्य का हो सकता है ? लेकिन श्रद्धा के सामने तर्क का क्या बस चल सकता है ?

कांडी एक हरा-भरा रमणीय पहाड़ी स्थान है। इसके लिए "जनु वसन्त ऋतु रही लुभाई" कहा जा सकता है। भूमध्य रेखा के नजदीक होने से यहाँ मौसिम में अधिक परिवर्तन नहीं देखा जा सकता और जो मौसिम बारहो महीना रहता है, उसे हम वसन्त ही कह सकते हैं। कांडी में लंका के भिक्षुसंघ के महानायक रहते हैं। अभी वहाँ युनिवर्सिटी नहीं बनी थी, लेकिन नगर बहुत स्वच्छ और उसका सरोवर अति सुन्दर था।

कांडी देखने के बाद हमारी मोटर-बस अनुराधपुर की तरफ चली। सड़क बहुत अच्छी और हरे-भरे पर्वती भाग में से गुजरी। रास्ते में कहीं-कहीं कोको के भी बाग मिले। उस दिन शाम को हम अनुराधपुर पहुँचे।

अनुराधपुर लंका की पुरानी राजधानी है। यहीं से लंका का इतिहास शुरू होता है और बौद्ध धर्म का भी। प्रथम बौद्ध धर्म-प्रचारक अशोक-पुत्र ने ईसा पूर्व तीसरी सदी में यहीं धर्म की ध्वजा गाड़ी थी। तब से आज तक बौद्ध धर्म ही इस द्वीप का प्रधान धर्म बना है। अनुराधपुर आज न राजधानी है और न उसे छोटा नगर ही कह सकते हैं। नगर का दर्शनीय ध्वंस दूर तक फैला पड़ा है। रत्नमाल्य (रुवण्वलि) चैत्य एक छोटा-मोटा-सा पहाड़ है। और भी कितने ही ध्वस्तप्राय स्तूप हैं। हम इधर-उधर घूमते हुए बोधिवृक्ष के नीचे पहुँचे। वहाँ बिजली के सैकड़ों दीपक जल रहे थे। अशोक-पुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधगया के पीपल-वृक्ष की एक शाखा लेकर यहाँ आई थी, यही वह ऐतिहासिक वृक्ष है–कहते विशेषता मैंने राजेन्द्र बाबू को बतलाई, तो उन्होंने कहा–बोधगया के पीपल की यह शाखा है, जिसके लिए खास तौर से इंजन रखकर बिजली की रोशनी का प्रबंध किया गया है; और वहाँ हमारे यहाँ मूल बोधिवृक्ष की क्या कदर है, यह हम जानते हैं। बोधगया के मंदिर पर कब्जा करके वस्तुतः हम अन्याय कर रहे हैं। मैंने कहा–इसीलिए मैं कह रहा था, बोधगया के मंदिर को सोलहो आने बौद्धों के हाथ में दे देना चाहिए।

अनुराधपुर से ट्रेन पकड़कर राजेन्द्र बाबू का दल तलेमन्नार तथा भारत के लिए रवाना हो गया। मुझे साथ छूटने पर कुछ एकान्तता महसूस होने लगी।

कुछ दिनों बाद 7 जनवरी को ब्रह्मचारी विश्वनाथ भी पहुँच गये। एकमा से कपड़े रँगकर घूमने के लिए निकले, तो अभी तक वह घूम ही रहे थे। मेरा उनके साथ बराबर पत्र-व्यवहार रहा। मैंने उनके पास ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा का प्रोग्राम बनाकर भेज दिया था। त्रिपिटक को पढ़ते तथा पुरानी अन्वेषण-पत्रिकाओं और पुरातत्त्व की रिपोर्टों के पारायण से स्थानों के महत्त्व को मैं और भी समझने लगा था, इसलिए विश्वनाथ के लंका पहुँचने से पहिले उन स्थानों को देख लेना मैं जरूरी समझता था। उनकी इस यात्रा में–बोधगया, नालंदा, राजगिर आदि ही नहीं, बल्कि वैशाली, कुसीनारा, लुम्बिनी, जेतवन, संकाश्य, मथुरा, ग्वालियर, साँची, अजंता, एलौरा, पूना, बंगलौर आदि भी शामिल थे; और वर्षों के मेरे तजर्बे से उन्हें काफी फायदा और यात्रा का आनन्द भी रहा। लंका आने में मंडपम् में कोई दिक्कत न हो, इसके लिए मैंने उनके लिए एक म्युनिस्पल पर्मिट भिजवा दिया था, और बड़ी उत्सुकता के साथ मैं उनके आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

मेरे वहाँ रहने से ब्र. विश्वनाथ (भदंत आनंद कौसल्यायन) को वह स्थान एक दिन के लिए भी अजनबी न मालूम हुआ। पठन-पाठन के बारे में मैंने काफी सोच रखा था, और उनसे वार्तालाप करके उसे पक्का कर दिया। पाली और संस्कृत पढ़ना जरूरी था, जिसके लिए मैं भी समय देने लगा। शाम को घंटे-डेढ़ घंटे के लिए हम साथ टहलने जाया करते थे, और उस वक्त हम अपनी मानसिक समस्याओं पर निस्संकोच हो वाद-विवाद करते थे। ईश्वर का ख्याल उनके लिए भी परेशानी का कारण था। वह भी देख रहे थे—एक म्यान में दो तलवार की तरह बुद्ध के साथ ईश्वर का रहना असम्भव है। अन्त में मेरी तरह और अपेक्षाकृत कम समय में ही वह भी ईश्वर को बच्चों का ख्याल समझ अपने उस मानसिक जद्दोजहद के दिनों को परिहास की चीज समझने लगे। कुछ ही समय तक वह ब्रह्मचारी विश्वनाथ के रूप में रहे, फिर साधु होकर उनका नाम आनंद पड़ा। मैंने अब तक तै कर लिया था, कि लंका से एक बार तिब्बत जाना जरूरी है, क्योंकि वहाँ गये बिना बौद्धदर्शन की शिक्षा और भारत के बौद्ध धर्म के इतिहास की जिज्ञासा पूरी नहीं हो सकती। मैं यह भी जानता था, कि तिब्बत मैं छिपकर ही जा सकता हूँ, और इसमें मेरा भिक्षु का बाना बाधक होगा, इसीलिए मैं इच्छा रहते भी अभी भिक्षु नहीं बनना चाहता था।

लंका का उस समय का वह जीवन बड़ी निर्द्वन्दता का जीवन था, यद्यपि साथ ही वह गम्भीर अध्ययन का भी था। नायकपाद (महास्थविर श्रीधर्मानंद) मेरे शारीरिक आराम का बहुत ध्यान रखते थे, और उनको अफसोस होता था, कि मैं सिंहाली भोजनों को बहुत कम रुचि से खाता हूँ। दरअसल वहाँ के भोजनों में लाल मिर्च और मसाले की अत्यधिकता मेरे बर्दाश्त के बाहर की चीज थी। कभी-कभी मेरी रुचि के अनुसार मछली बनाई जाती थी, लेकिन अधिकतर मैं मक्खन, दूध, पावरोटी, उबले आलू, प्याज और तर्कारियों पर गुजारा करता था। मेरा स्वास्थ्य बहुत अच्छा रहता था। पढ़ाई के लिए पाली की पुस्तकें तथा पुस्तकालयों की पुस्तकें मेरे लिए हाजिर थीं, उनके अतिरिक्त तीस-चालीस रुपये की पुस्तकें प्रति मास मैं भारत या यूरोप से मँगाया करता। पास रहने, बोलने-चालने के लिए विहार के छात्र और अध्यापक तथा पीछे आनंदजी भी हो गये, यही कारण था मेरी निश्चिन्तता और निर्द्वन्दता का।

एक तरह 1927 ई. में ही मेरे साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है। यद्यपि मैंने पहिला हिन्दी लेख 'भास्कर' (मेरठ) में 1915 ई. में लिखा था, और उसके बाद भी जब-तब हिन्दी-उर्दू के पत्रों में लिखता रहा, किन्तु यहीं से लंका के संबंध में धारावाहिक रूप से मैंने कुछ लेखक 'सरस्वती के लिए' लिखे। लंका रहते वक्त उनकी सर्वप्रियता का मुझे पता नहीं लगा। लंका के संबंध में उस समय कुछ लेख 'विश्वमित्र' (दैनिक) और 'मिलाप' (रोजाना) में भी लिखे थे।

मेरे पास पढ़नेवाले विद्यार्थियों में कुछ विहार से बाहर के भी थे। श्री कंदैया जाफना के तामिल तरुण थे। उन्हें संस्कृत पढ़ने का बहुत शौक था, किन्तु उनकी तमिल भाषा में संस्कृत के शब्दों का बायकाट-सा होने के कारण उन्हें हर एक बात नये सिरे से सीखनी पड़ती थी, और उसमें उन्हें बहुत दिक्कत पड़ती थी; तो भी वह बहुत दिनों तक लगे रहे। मैं उनसे फ्रेंच सीखता था। उनके संबंध से मुझे जाफना देखने का मौका (3-9 नवंबर 1928) मिला। वहाँ के गाँव, लोग, घर देखने पर वह मद्रास का टुकड़ा मालूम होता है। यद्यपि ब्राह्मणों की संख्या वहाँ नगण्य-सी है, तो भी मद्रास की छुआछूत यहाँ भी खूब जोरों पर है। जाफना के तमिल बड़े उद्योग-परायण हैं, और रोजगार के सिलसिले में सिंगापुर, पिनांग तक भरे पड़े हैं। इतना होने पर भी मद्रास के तमिलों की तरह न वे बड़े सूदखोर चेट्टी और व्यापारी हैं, न उनमें रबर-चाय के बगीचों के कुली ज्यादा हैं।

श्री जुलियस डि-लानरल भी कितने ही समय तक संस्कृत पढ़ने के लिए आते रहे। इनका खानदान बाप की ओर से एक फ्रेंच सामन्त की सन्तान है, जो कांडी की स्वतंत्रता के दिनों में आकर सिंहल-राज का कृपापात्र बन गया था। सीलोन में धर्म, रंग और जात-पाँति का भेद बहुत कम रहा है, और इसका श्रेय बौद्धधर्म को है। लानरल महाशय का रंग तो खैर अब साधारण सिंहल पुरुषों जैसा है, लेकिन डाक्टर केसियस परेरा और उनके भाई जैसे यूरोपीय रंगवाले हाल के यूरोपीय सन्तानों के भी सिंहालियों में खप जाने में कोई दिक्कत

नहीं हुई। ब्याह-शादी में वे लोग धर्म का बिल्कुल ख्याल नहीं रखते। पति ईसाई हैं, और स्त्री बौद्ध–ऐसे उदाहरण हजारों हैं। मुसल्मान और तमिल हिन्दू के साथ ब्याह-शादी नहीं होती, किन्तु इसका कारण ज्यादातर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है।

लंका के उन्नीस मास के निवास में जब-तब घूमने का भी मुझे मौका मिला था। अनुराधपुर में पहिले-पहिल मै मेले के वक्त गया था। हजारों स्त्री-पुरुष लंका के कोने-कोने से मोटरबसों में आये थे और एक खुली जगह में मोटरें पाँती से खड़ी हुई थीं।

अनुराधपुर के बारे में उसी वक्त मैंने 'सरस्वती' में एक सचित्र लेख लिखा था।[1]

इस यात्रा (13-19 जून 1927) में अनुराधपुर से हम महिन्तले और त्रिंकोमले (लंका के पूर्वीय तट पर) गये थे। वहाँ से काकवर्ण विहार की यात्रा बहुत अच्छी रही। जाफना, अनुराधपुर, त्रिंकोमले अब भी लंका के भाग हैं, और किसी वक्त सिंहल लोगों के पूर्वज भारत से यहीं आकर बसे थे; किन्तु आज इन भागों के शहरों और बाजारों में अजनबी की भाँति दो-एक सिंहल स्त्री-पुरुष मिलेंगे, इन अंचलों में सिंहाली भाषा समझी तक नहीं जाती। त्रिंकोमले से हम नाव द्वारा समुद्र की छोटी-सी खाड़ी पार हुए। हवा तेज थी, इसलिए पाल एक बार टूटकर एक ओर लटक गया, जिससे नाव करवट होने लगी थी; खैर कोई दुर्घटना नहीं हुई, नहीं तो उस बड़ी नाव पर बहुत-से स्त्री-पुरुष यात्री चढ़े हुए थे। पार तमिल-भाषा-भाषी मुसल्मानों के गाँव थे। शायद हमें पैदल ही चलना पड़ा था। महाबली गंगा को पार करने पर, याद है, मुझे बहुत भूख लगी थी, उस वक्त किसी सिंहल गृहस्थ ने ताजा प्याज डालकर टिन की सोलमन मछली प्रदान की थी। रास्ते में यात्रियों के ठहरने के लिए कुछ पान्थशालायें थीं, जिनमें चटाइयाँ भी मिल जाती थीं, किन्तु सूखी मछलियों की गन्ध के मारे मेरी तो नाक फटती थी। काकवर्ण विहार (सेरुवाविल) का स्तूप जंगल में है। हाल में ही कुछ जमीन साफ की गई थी, किन्तु वह स्तूप के आस ही पास, जंगल में अब भी वन्यपशुओं का डर था। भिक्षुओं ने अपना अस्थायी आवास बना लिया था, और स्तूप की मरम्मत का थोड़ा-बहुत काम शुरू हो गया था। अनुराधपुर की भाँति यदि यहाँ रेल, मोटर का सुभीता होता, तो काकवर्ण विहार में सिंहल भिक्षुओं और गृहस्थों की एक अच्छी-खासी बस्ती बस जाती।

दक्षिण-पूरब के कोने को छोड़कर सिंहल (लंका) द्वीप के प्रायः सारे भागों में मुझे जाने का मौका मिला था, मैंने उसके लिए मौका निकाला था। याद नहीं गाल से तिस्समहाराम और खत्तरगम् एक ही बार में गया था या दो बार में। यह दोनों स्थान लंका के दक्षिण अंचल में हैं। तिस्समहाराम किसी वक्त अच्छा नगर था, किन्तु यह हजारों वर्ष पहिले की बात है, अब आसपास सिंहल लोगों के गाँव हैं, और पुरातन सरोवर से सींचे हुए धान के खेत साल के अधिक भागों में लहलहाते रहते हैं। खत्तरगम् में कार्तिकेय का मन्दिर है, अब भी इसके आसपास घोर जंगल है, जिससे कई मील पार होकर वहाँ पहुँचना पड़ता है। मैं रात को एक भिक्षु के साथ जंगल के किनारेवाले गाँव में पहुँचा था। लंका के हर एक बड़े गाँव में भिक्षु-विहार होना जरूरी है। हम लोग गाँव से बाहर उसी विहार में ठहरे। रात अधिक चली जाने से उस वक्त तो नहीं, किन्तु बड़े तड़के ही कितने ही गृहस्थ तालपत्र पर लिखी जन्मकुंडलियों को ले जम्बूद्वीपीय पंडित का नाम सुनकर पहुँचे। खुशकिस्मती से हम लोग उस वक्त तक बैलगाड़ी पर खत्तरगम् के लिए रवाना हो गये थे। जंगल के रास्ते में हमारे साथी कहते जा रहे थे, कि यहाँ अब भी जंगली हाथी हैं, और कभी-कभी राहगीरों पर टूट पड़ते हैं। वह इस तरह बात कर रहे थे, जिससे मालूम होता था हमारी गाड़ी भी अब-तब में उलटना ही चाहती है। खत्तरगम् एक छोटी-सी पहाड़ी नदी के तट पर है। यहाँ कार्तिकेय मन्दिर तथा बौद्धविहार के अतिरिक्त एक हिन्दूमठ और दो-चार और घर हैं। हम लोग किसी मेले के वक्त गये थे, इसलिए हजारों तमिल हिन्दू स्त्री-पुरुष–अधिकांश

1. देखो मेरी 'लंका'।

चाय-रबर के बगीचों के कुली—आये हुए थे, और दूकानदारों ने फूस के झोपड़े बना लिये थे। हम बौद्धविहार में ठहरे थे, किन्तु उत्तर-भारतीय हिन्दू-संन्यासी के बारे में सुनकर मैं हिन्दूमठ में भी गया। धूनी लगी हुई थी, चिमटा और चिलम रखी थी, मृगछाला या कम्बल पर एक अधेड़ गोसाईं साधु बैठे हुए थे। सीलोन में गाँजा की मनाही होने से गोष्ठी जम नहीं रही थी। मेरे वेष को देखते ही उन्होंने आसन देकर बैठाया। पूछने पर मालूम हुआ, उनका जन्मस्थान युक्तप्रान्त में किसी जगह है, और तीर्थयात्रा के सिलसिले में रामेश्वर आये थे, यह मठ रामेश्वर के मठ की शाखा है, इसलिए वहाँ से यहाँ भेज दिये गये। गाँजे के अभाव के सिवा उन्हें कोई शिकायत न थी। वह अनपढ़-से आदमी थे, किन्तु ज्यादा दिन रहते-रहते तमिल और सिंहलभाषाओं को बोल लेते थे। साथ में एक नेपाली योगिनी थी, जो उनकी अपेक्षा कम उम्र की थी। इस घोर जंगल में जन्मस्थान से इतनी दूर, अपने प्रिय पदार्थ गाँजे-सुलफे से वंचित रहने पर उनके मन को लगाने में उस योगिनी का हाथ कम न था। सन्तान के कारण मठ गृहस्थ का घर-सा न मालूम होने पावे—बस इस शर्त के साथ योगी-योगिनी का संग क्या बुरा है।

खत्तरगम् के कार्त्तिकेय की पूजा के लिए आए हुए तमिल नर-नारी अँधेरा हो जाने पर रात को अपने-अपने सिरों पर मिट्टी के बर्तनों में आग जलाये हुए पाँती से खड़े थे, और बड़ी श्रद्धा से अर्धजंगली स्वर में जयकार मना रहे थे। मन्दिर के प्रधान सिंहल बौद्ध हैं, और इस बात को तमिल हिन्दू पसन्द नहीं करते—लेकिन यह सब सिर्फ चढ़ावे के बँटवारे को लेकर, नहीं तो, सिंहल लोग विष्णु, विभीषण की भाँति कार्त्तिकेय को भी एक बड़ा देवता मानते हैं, और गृहस्थ लोग उनकी पूजा भी अपने ढंग से करते हैं। यदि भिक्षु पूजा नहीं करते, तो उसका कारण यह है, कि भिक्षु के शिर नवाने से देवता का—जो कि सभी के सभी गृहस्थ हैं—अनिष्ट हो सकता है, उसका शिर तक गिर सकता है। देवता को आशीर्वाद देने में कोई भिक्षु कोताही नहीं करता।

उस पंडितवेष में भी, जब कि मैं भिक्षु न होने से गृहस्थ-सा समझा जाता था, मेरे व्याख्यानों की बड़ी माँग थी, और देशदर्शन का सुभीता देखकर मैं कितनी ही जगह चला जाता था। व्याख्यान मैं संस्कृत में देता, और मेरे शिष्यों में से कोई सिंहल भाषा में अनुवाद करता जाता। बौद्ध धर्मोपदेश (वण, भण) सिंहल में खा-पीकर 10 या 11 बजे रात को शुरू होते हैं, और कभी-कभी तो वे सबेरे तक चले जाते हैं। व्याख्यान देते वक्त मैं देखता, थोड़ी ही देर में आधी श्रोतृमंडली ऊँघने लगती, किन्तु जागनेवालों के ख्याल से तो वक्ता को अवश्य अपना व्याख्यान जारी रखना पड़ता। इन सभाओं में स्त्री-पुरुष—विशेषकर स्त्रियाँ—सजधजकर आती थीं। व्याख्यान के शुरू में बहुत जगह आतिशबाजी छोड़ी जाती। बहुतों के सो जाने पर भी, इसमें शक नहीं, सिंहल नर-नारी भाषण की कदर करते हैं, और उसके कारण अपने धर्म के बारे में काफी जानते हैं।

मद्रास की भाँति सिंहल में भी पर्दा का नाम तक नहीं था। साधारण श्रेणी की स्त्रियाँ आम तौर से सफ़ेद लुंगी, अठारहवीं सदी की यूरोपीय स्त्रियों का-सा ब्लौस (चोली) पहनती हैं। इसके अतिरिक्त यदि उनके पास कुछ रहता है, तो एक छोटी-सी रूमाल और छत्ता। शिर बराबर नंगा रखती हैं, और सँवारकर बाँधे जूड़े को फूल या रत्नजटित केश-सूचियों से सजाती हैं। पिछली यात्राओं में मैंने अपने सामने साड़ी के रवाज को बढ़ते देखा, और साड़ी में वह ज्यादा विनीत मालूम होती हैं, इसमें शक नहीं। विद्यालंकार विहार के बाहर सड़क की दूसरी तरफ एक गृहस्थ का घर था, उसमें एक तरुण कन्या रहती थी। मुझे टहलने तथा डाकखाने में जाते वक्त उधर से गुजरना पड़ता था। एकाध बार हमारी चार आँखें हुईं, उसके बाद मैं देखने लगा, कि जब भी मैं उधर से गुजरता, या धर्मोपदेश सुनने या पूजा करने वह विहार में आती, तो मेरी ओर निस्संकोच हो—हाँ, दूसरों से दृष्टि बचाकर—देखती। मेरा हृदय भी उधर आकर्षित हुआ था, क्योंकि वह गोरी और कुछ सुन्दर-सी थी। इसमें भी शक नहीं, कुमारी होने से उसके साथ ब्याह करने में कोई बाधा नहीं हो सकती थी, किन्तु ब्याह का नाम आते ही मेरे रोंगटे खड़े हो जाते, मेरे पर कटकर गिरते-से दिखलाई पड़ते। और कन्या-संसर्ग का यह छोड़ दूसरा परिणाम क्या होता ? मैंने दृढ़ता से काम लिया, लेकिन साथ ही इस दृढ़ता में मेरा स्वाभाविक संकोच और उस लड़की की लज्जाशीलता मुख्यतः सहायक हुई, नहीं तो, उसकी तरफ से मामला आगे बढ़ने पर मेरे लिए बचना मुश्किल होता। तीन साल बाद मैंने उसी तरुणी को एक बच्चे की माँ हुए देखा। उसका

वह सौन्दर्य न जाने कहाँ उड़ गया था, जिसके कारण कि मैं उस ओर आकर्षित हुआ था। यौवन-सौन्दर्य के अचिर प्रभात्व के ख्याल ने मुझे अपनात्व खोने में बड़ी सहायता की है।

आनन्दजी अब मेरे साथ रहते थे, इसलिए अपने निर्णय में एक और सहृदय व्यक्ति की सहायता सुलभ थी। मेरे तिब्बत जाने के बारे में वह भी सहमत थे। अन्य कामों के साथ-साथ मैंने पुस्तक से स्वयं तिब्बती भाषा सीखनी शुरू की। 1928 के उत्तरार्द्ध में कोलम्बो में मंगलोर जिले के एक तरुण ब्राह्मण अनन्तराम भट्ट से मुलाकात हुई। वह संस्कृत के अच्छे पंडित थे, लंका में सारी परीक्षायें लन्दन विश्वविद्यालय की होती हैं, इसलिए मेट्रिक देने के ख्याल से वह वहाँ चले आये थे। मेरे चले जाने पर विद्यार्थियों के संस्कृताध्ययन में बाधा होती, इसलिए मैं चाहता था, कि कोई संस्कृत का विद्वान् यहाँ आ जाये। नायकपाद ने भारत से किसी को मँगवा देने के लिए कहा था, किन्तु उस वक्त वैसा व्यक्ति कोई नजर पर न आ रहा था। अनन्तराम जी से पूछने पर मालूम हुआ, कि वह स्वावलम्बी हो पढ़ना चाहते हैं, और अभी उन्हें स्थायी काम नहीं मिला। मैंने उन्हें विद्यालंकार में अध्यापन के लिए कहा, और वे तो ऐसा कोई काम चाहते ही थे। अनन्तरामजी के मेट्रिक पास करने से मैं असहमत था, मैं उनसे कहता था अन्वेषण-सम्बन्धी पुस्तकों-पत्रिकाओं को पढ़ो। कुछ पैसा जमा कर दो वर्ष के लिए जर्मनी चले जाओ, वहाँ से पी. एच्. डी. होकर चले आओगे। क्या जरूरत है लन्दन विश्वविद्यालय का मेट्रिक, फिर बी. ए. फेल-पास करते जिन्दगी के आठ-दस वर्षों को बर्बाद करने में। किन्तु मैं लंका छोड़ते वक्त तक उन्हें यह बात समझा देने में समर्थ नहीं हुआ था।

प्रस्थान करने से पहिले विद्यालय ने मुझे (3 सितम्बर 1928) 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि प्रदान की।

3
लंका से प्रस्थान

1 दिसम्बर (1928) को मैं भारत के लिए रवाना हुआ। असल में यह भारत के लिए नहीं, तिब्बत के लिए रवाना होना था। पाली त्रिपिटक और दूसरी बहुत-सी पुस्तकें मैंने लंका में जमा कर ली थीं, जिनको रेलवे से पटना के लिए रवाना कर दिया। मैं जिस वक्त लंका आया था, उस वक्त पाली को सिर्फ छूआ-भर था, संस्कृत को मैंने अच्छी तरह पढ़ा था, लेकिन पुरातत्त्व, पुरालिपि, और इतिहास की मौलिक सामग्री का मेरा अध्ययन नहीं के बराबर था। अब इन चीजों का मुझे काफी ज्ञान था। मैंने 19 महीनों में सिर्फ पाली त्रिपिटक का ही अध्ययन नहीं किया, बल्कि भारत, लंका की पुरातत्त्व की रिपोर्टों, हिन्दुस्तान और विदेशों की इतिहास-सम्बन्धी अनुसन्धान-पत्रिकाओं का विधिवत् पारायण किया था। भोट (तिब्बत) भाषा का किताबों से थोड़ा-सा अध्ययन किया था, और भारतीय सर्वे-विभाग के नक्शों को देखकर यह भी तय कर लिया था, कि नेपाल के रास्ते ही मैं तिब्बत के भीतर घुस सकता हूँ। लेकिन नेपाल शिवरात्रि के समय ही जाया जा सकता था, इसलिए मैंने इन तीन महीनों को भारत के बौद्ध ऐतिहासिक स्थानों को देखने में लगाने का निश्चय किया।

विद्यालंकार विहार के नायक श्रीधर्मानन्द महास्थविर से मैं विदाई ले रहा था, मैंने देखा उनकी आँखें गीली हैं। महास्थविर का स्वभाव बहुत ही सरल और मधुर है, जिससे मैं भी बहुत प्रभावित था। मैं अपने पीछे भिक्षु आनन्द कौसल्यायन को छोड़े जा रहा था।

कोलम्बो से रेल में सवार हो मैं तलेमन्नार पहुँचा और वहाँ से जहाज पकड़कर समुद्र की छोटी-सी खाड़ी पार हो धनुषकोडी। किताबों को ऐसे ही छोड़ जाता, तो कस्टमवाले चार मन पुस्तकों को देखने में न जाने कितनी देर लगाते; इसलिए मैंने उन्हें अपने सामने ही दिखलाकर पटना के लिए रवाना करा दिया। उस वक्त पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार विहार विद्यापीठ में अध्यापक थे, मुझे विश्वास था कि वह उन्हें सँभाल लेंगे। अब मैं खाली हाथ था। यात्रा में आदमी जितना ही कम सामान रखे, उतना ही अच्छा रहता है। रामेश्वर

में 1, 2 दिन और मदुरा में भी उतना ही ठहरा। मदुरा में मैं एक उत्तर भारतीय आर्यसमाजी उपदेशक का नाम जानता था, इसलिए उनके पास चला गया। वहाँ के विशाल मीनाक्षी मन्दिर को देखना चाहता था। वैसे एक बार 15 साल पहिले भी इस मन्दिर को देख चुका था, किन्तु उस वक्त मेरे पास ऐतिहासिक दिव्यदृष्टि नहीं थी। मन्दिर की विशालता और उसका प्रस्तर-शिल्प आकर्षक जरूर था, लेकिन वही मूर्तियाँ जो कभी मुझे अच्छी मालूम होती थीं, अब भद्दी मालूम हो रही थीं। हाँ, मदुरा (दक्षिण-मथुरा) में मुझे एक बात बहुत नई मालूम हुई। वहाँ के साड़ी (रेशमी और सूती) बुननेवाले पटकार तमिल भाषा नहीं, बल्कि उत्तर भारतीय भाषा बोलते हैं। रंग-रूप में भी वह उत्तर-भारत के गेहुएँ रंगवालों से ज्यादा मिलते थे। इनकी संख्या मदुरा शहर में आधे से कम नहीं है। यद्यपि ये लोग अपने को सौराष्ट्र (काठियावाड़) से आया कहते हैं, लेकिन उनकी भाषा कुछ मगही और बँगला के बीच की मालूम हुई।

श्रीरंगम् में 1, 2 दिन रहकर पूना पहुँचा। अभिधर्मकोष के खंडित अंशों को फ्रेंच अनुवाद से पूरा करके उस पर मैंने एक संस्कृत टीका लिखी थी। तिब्बत जाने के लिए कुछ रुपयों की जरूरत थी, समझा था पूना के किसी प्रकाशक से इस पुस्तक के लिए कुछ रुपये मिल जायेंगे। लेकिन संस्कृत पुस्तकों के प्रकाशक लेखकों को रुपया देना कम पसन्द करते हैं। पूना से मैं कार्ले के गुहाविहार को देखने के लिए उतरा। शायद पहिले आया होता, तो उसकी चैत्यशाला, भिन्न-भिन्न कोठरियों और खंभों पर खुदे दाताओं के नामों को न समझ पाता, लेकिन अब वह मेरे लिए बहुत कुछ खुली पुस्तक-सी थी। कार्ले को देखकर फिर मैं नासिक गया और वहाँ की गुफाओं के देखने के बाद एलौरा जाने के लिए औरंगाबाद उतरा। जिस वक्त स्टेशन से बाहर हुआ, उसी वक्त पुलिस पीछे पड़ी। नाम, गाँव तो मैंने बतला दिया, लेकिन बाप-दादों का नाम जब पूछने लगे तो मैंने बतलाने से इनकार कर दिया। फिर क्या था, पुलिस मुझे पकड़कर वहाँ के हाकिम तहसीलदार के यहाँ ले चली, कितनी ही देर तक इधर-उधर घुमाने के बाद तहसीलदार साहब के सामने खड़ा किया। मैंने पुलिस की धींगामुस्ती का विरोध किया, और न जाने क्या सोचकर तहसीलदार ने मुस्कराते हुए कहा–'नहीं, गलती हुई। लेकिन आजकल मदरास के गवर्नर एलौरा देखने के लिए आये हैं, इसीलिए पुलिस को ज्यादा सावधानी रखनी पड़ती है।' पूना से मुझे किसी महाराष्ट्र सज्जन का नाम मालूम हो गया था, उनके घर चला गया और जो थोड़ा-बहुत सामान था, उनके पास रखकर एलौरा की मोटर लॉरी पकड़ी।

लॉरी से जिस वक्त उतरा, उस वक्त एक यूरोपीय सज्जन को भी उतरते देखा; लेकिन हम दोनों अपना-अपना रास्ता नापते गये। एलौरा का परिदर्शन कई दिन का काम है, वहाँ की तीसों विशाल गुहाएँ, जिनमें बहुतों को गुहा नहीं महल कहना चाहिए, भारतीय मूर्तिकला, वास्तुकला के बहुत सुन्दर नमूने हैं। मैं पहिले कैलाश मन्दिर में घुसा। एक शिखरदार विशाल मन्दिर पहाड़ खोद के निकाला गया है और जिसकी दीवारों में हजारों सुन्दर मूर्तियाँ हैं। उनमें कहीं रामायण का दृश्य है, और कहीं दूसरे पौराणिक दृश्य। निश्चय ही इस अद्भुत कला के सामने से मैं जल्दी-जल्दी पार नहीं हो सकता था। यूरोपीय सज्जन–जो एक अमेरिकन ईसाई-मिशन के प्रधान व्यक्ति मिस्टर सूथर थे–भी देख रहे थे। उन्होंने मुझसे कुछ पूछा और चन्द ही मिनटों में हम दोस्त बन गये। हमने अँधेरा होने तक गुफाओं को घूम-घूमकर देखा। मिस्टर सूथर अंकोटवाट (कंबोडिया) के विशाल मंदिर को देखकर आए थे, लेकिन कह रहे थे, कि एलौरा के सामने वह कुछ नहीं है। हिन्दू देवी-देवताओं का तो मुझे परिचय था ही, बौद्ध मूर्तियों में मैं महायान की मूर्तियों से अभी कम परिचित था, लेकिन और बौद्ध मूर्तियों को तो जानता था। एलौरा गुफा के पास ही पुलिसवालों की चौकी थी, हमने उन्हें कुछ खाना पका देने के लिए कहा, तो सिपाहियों ने बड़ी खुशी से, शायद रोटी के साथ अण्डा उबालके दिया था। हम दोनों ने कैला‌श के चश्मे पर बैठकर–दोपहर का जलपान किया; शाम को भी सिपाहियों ने खाना बना दिया, और दो चारपाई भी सोने के लिए दे दीं। औरंगाबाद का तजर्बा बहुत कड़वा था, लेकिन यहाँ के सिपाहियों ने मुझे सौजन्य दिखलाया।

दूसरे दिन खुल्दाबाद में औरंगजेब की कब्र और देवगिरि (दौलताबाद) में यादवों के गिरि-दुर्ग और वीरान नगर को देखते हम औरंगाबाद चले आए। मिस्टर सूथर को भी अजंता देखना था, वह डाक-बँगले में ठहरे

हुए थे, मुझे भी उन्होंने साथ ही रहने का आग्रह किया। सामान लेकर मैं भी डाकबँगले पर चला आया।

दूसरे दिन मोटर-लारी से फर्दाबाद के लिए रवाना हुए। जाड़ों के दिन थे इसलिए गर्मी की कोई फिकर नहीं थी, फर्दाबाद डाकबँगले में हम लोग ठहरे। सूथर भी चपाती को पेट-भर खा सकते थे, इसलिए खाने की कोई दिक्कत नहीं थी। डाकबँगले के सिपाही ने मुर्ग-मुसल्लम और अण्डे बनाकर भी हाजिर कर दिए थे। यद्यपि हिन्दुस्तान से लंका के लिए रवाना होने से पहिले भी मुझे खाने-पीने में छुआछूत का ख्याल नहीं था, लेकिन भक्षाभक्ष्य जरूर साथ गया था। लंका ने मेरे लिए ईश्वर की बची-बचाई टाँग ही को नहीं तोड़ दिया, बल्कि खाने की भी आजादी दे दी थी और साथ ही मनुष्यता के संकीर्ण दायरों को तोड़ दिया था। दूसरे दिन हम अजंता देखने गये। जिन चित्रों और मूर्तियों को मैंने तसवीरों में देखा था, अब वह हमारे सामने थे। अकेले होने पर भी मैं अजन्ता देखने में उतना ही समय लगाता, लेकिन दो रहने से हमें देखने में बहुत आनन्द आया। वस्तुतः ऐसी यात्रायें अकेली करने के लिए नहीं हैं। हाँ, यदि हम दोनों की इन दृश्यों के प्रति एक समान दिलचस्पी न होती, तो शायद उतना आनन्द न आता। अजन्ता देखकर जब हम डाकबँगले को लौट रहे थे, तो हमारे आगे आगे दो मूर्तियाँ जा रही थीं–एक था नौजवान हाकिमजादा और दूसरा उसका नौकर। दोनों एक दूसरे से 15 कदम आगे-पीछे चल रहे थे। हम दोनों बात करते हुए लौट रहे थे, लेकिन सूथर का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हुए बिना न रहा। उन्होंने मुझसे पूछा–यह दोनों क्यों नहीं साथ-साथ बातचीत करते चल रहे हैं ?

मैंने कहा–यह सामन्तयुग के लोग हैं, मालिक नौकर से कैसे बातचीत करते चल सकता है, तब तो मालिक-नौकर बराबर हो जाएँगे।

सूथर को कुछ ताज्जुब जरूर हुआ, लेकिन फिर हम अपनी बात में लग गये।

फर्दाबाद से हमने आगे किसी गाँव तक बैलगाड़ी की और फिर लॉरी के जलगाँव चले आये।

सूथर को भी साँची के स्तूप देखने थे, लेकिन, रास्ते में कुछ काम था या क्या, वह इसी ट्रेन से नहीं जा सके। मैं साँची उतरा, और घूम-घूमकर वहाँ के स्तूपों और उनके तोरणों पर उत्कीर्ण इक्कीस सौ बरस पुरानी मूर्तियों को देखा। जब मैं स्टेशन की ओर लौट रहा था, तब मिस्टर सूथर आते दिखाई पड़े। एक बार फिर मैं उन्हें दिखाने के लिए गया। यद्यपि साँची के बाद हम दोनों फिर मिल न सके, सूथर अमेरिका चले गये और मैं दुनिया में कहाँ-कहाँ भटकता रहा; लेकिन वर्षों तक हम अपने पत्रों द्वारा एक दूसरे से मिलते रहे।

साँची के बाद दूसरी मंजिल थी, कोंच (जिला जालौन)। स्वामी ब्रह्मानन्द, पन्नालालजी, श्यामलालजी के साथ इतनी आत्मीयता स्थापित हो गई थी, कि हो नहीं सकता था, मैं उधर से गुजरूँ और कोंच न जाऊँ। यद्यपि हमारा स्नेह आर्यसमाजी के नाते हुआ था और मैं अब आर्यसमाजी नहीं था, मेरा एक पैर था बौद्धधर्म में और दूसरा साम्यवाद में; लेकिन हमारे स्नेह में कोई अन्तर नहीं था। फिर मैंने दो-चार दिन तक बुंदेलखंडी भोजन और मधुर भाषा का आनन्द लिया। अकेली यात्रा तो फक्कड़ों की ही अच्छी होती है, इसलिए मैंने फिर धूपनाथ के दिए अंडी की कम्बल की अल्फी और मदरासी पीतल की ढक्कनदार डोलची हाथ में ली। कानपुर से छोटी लाइन पकड़कर कन्नौज पहुँचा। शहर पार कर किसी बगीची में एक धर्मशाला में ठहरा।

कन्नौज किसी समय हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा शहर था। कन्नौज के वैभव को छीनकर 13वीं सदी में दिल्ली आबाद हुई और तब से कन्नौज उजड़ता ही गया। अब भी उसकी गलियों में अतर की खुशबू आती है, लेकिन मैं जानता था कि यह अपने लिए नहीं, दूसरों के लिए है। शहर के आसपास जितने ऐतिहासिक स्थानों का पता लग सका, मैं उनकी खाक छानता फिरा। एक जगह मैंने देखा, बुद्ध की खंडित मूर्ति किसी देवी के नाम से पूजी जा रही है। पूजने वाले शायद समझते हैं, कि देवताओं में स्त्री-पुरुष का भेद नहीं होता। गरीब चमारों के यहाँ से मुझे कुछ पुराने सिक्के मिले, लेकिन वह मुसलिम काल के पैसे थे। रेल जाने में देर थी, इसलिए मैं मोटर के अड्डे की तरफ जा रहा था। रास्ते में कुछ मुसल्मान भद्रजन मिले। मेरी उमर पैंतीस साल की थी, लेकिन देखने में शायद 5, 7 साल का कम लगता, तो भी उस उमर तक तो दाढ़ी काफी बढ़

आती है। मेरे चहरे पर 10-12 दिन के बढ़े बाल भले ही हो सकते हैं, लेकिन उन्हें दाढ़ी नहीं कहा जा सकता था। तो भी मुसल्मान भद्रजनों ने न जाने क्यों "अस्सलामलेक, आइए शाहसाहब !" कहकर मुझे बैठने के लिए निमंत्रित किया। हो सकता है मेरी काली अलफी ने शाहसाहब का रूप दे दिया हो। मुझे लॉरी जल्दी पकड़नी थी, इसलिए उनसे क्षमा माँगते हुए छुट्टी ली। आगे फर्रूखाबाद या फतेहगढ़ में मैंने लॉरी छोड़ी और रेल पकड़ी। मोटा स्टेशन पर रात को चारों ओर खुले मुसाफिरखाने में सोना पड़ा और अलफ़ी जाड़े के लिए काफी नहीं मालूम हुई।

दूसरे दिन संकिसा (संकास्य) गया। संकिसा भी बौद्धों का एक पवित्र स्थान है। मैंने बौद्धग्रन्थों में पढ़ा था, कि कैसे बुद्ध को एक बार अपनी माता मायादेवी याद आईं। वह सात दिन के भी न हो पाये थे कि मायादेवी का देहान्त हो गया और वह तुषित देवलोक में जाकर पैदा हुईं। देवताओं और देवलोक को आर्यसमाज ने मेरे लिए ध्वस्त कर दिया था, इसलिए बुद्ध का अनुयायी होते हुए भी मैं इन बच्चों की कहानियों पर विश्वास करने के लिए तैयार नहीं था। खैर, कथा यह थी कि बुद्ध अपने धर्मामृत का पान कराने के लिए माँ के पास देवलोक गये और उपदेश देते हुए वर्षा के तीन मास वहीं बिताये। फिर मृत्युलोक में उतरते वक्त वह यहीं संकास्य में उतरे। सीढ़ियों से उतरते वक्त दाहिने-बाएँ ब्रह्मा और इन्द्र उनकी सेवा में चल रहे थे। सम्भव है बुद्ध के सभी वर्षावासों के स्थान आदि का पता भिक्षुओं को था, लेकिन एक वर्षावास उन्होंने किसी अज्ञात स्थान में बिताया, और उसके लिए तुषितभवन की कथा गढ़ी गई। बुद्ध-निर्वाण के सवा दो सौ वर्ष बाद इस कथा पर जरूर विश्वास किया जाता था, तभी तो अशोक ने संकास्य में अपना पाषाणस्तंभ स्थापित किया। उस स्तंभ का पता नहीं लगा, लेकिन किसी समय उसके ऊपर जो हाथी शोभा दे रहा था, वह अब भी वहाँ मौजूद है।

संकिसा से मैं फिर स्टेशन को लौटा और शिकोहाबाद होते भरवाड़ी (इलाहाबाद) उतरा।

अब मुझे कौशाम्बी जाना था। भरवाड़ी से पहिले मैं पभोसा जाना चाहता था, क्योंकि यमुना से उत्तर मैं समझता था कि कोई पहाड़ी नहीं है, लेकिन लंका में त्रिपिटक पढ़ते वक्त इस पहाड़ी का पता लगा था। पंहिले तो मैं इसे गलत समझ रहा था, लेकिन आनन्दजी देख गये थे, इसलिए विश्वास करना ही था। भरवाड़ी से मैंने इक्के की सड़क तक के लिए इक्का किया था। जब इक्का छोड़कर सराडी (?) गाँव से बाहर निकल रहा था, तो एक बहुत सीधे-सादे मुसल्मान भद्रपुरुष मिले, सलाम किया, हाथ मिलाया और शाहजी को "गरीबखाने" पर ले जाने के लिए बहुत आग्रह करने लगे। शाहजी जो गाँव के भीतर रहते, तो शायद मान भी लेते, लेकिन वह गाँव से बाहर चले आये थे और साथ ही मजूरी पर दो पथप्रदर्शक लड़कों को साथ ले लिया था। खैर, वहाँ से छुट्टी ली। आगे चले। मालूम तो था ही नहीं कि पभोसा कितनी दूर है, लड़कों में भी एक कन्नी काट गया, और दूसरे को हिचकिचाते देख मैंने उसे लौटा दिया। जब तक दिन था और आदमी मिलते गये, तब तक मैं रास्ता पूछते हुए आगे बढ़ता गया। निश्चय होने लगा कि दिन-दिन में पभोसा नहीं पहुँच सकता। रास्ते में एकाध जगह रहने की कोशिश की, लेकिन जगह नहीं मिली। नाले तक पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। चोरबत्ती से कभी-कभी देखकर यह तो मालूम होता था, कि मैं रास्ते पर चल रहा हूँ, लेकिन कहाँ का रास्ता, इसका कौन ठिकाना था। काफी अँधेरा हो गया था, और मैं गाँव से निराश होने लगा। उस वक्त मुझे बगल में पोखरे का भीटा दिखाई दिया। वहाँ एक कोई देवी का टूटा-फूटा मन्दिर था। मैंने सोचा, अब रात को यहीं विश्राम किया जाय। लेकिन जरा ही देर में आदमियों के बोलने की आवाज कान में आई। पास में ही कुछ गाड़ीवान ठहरे थे। वहाँ जाने पर उन्होंने पुआल दे दिया, और रात को मैं सो गया।

सबेरे देखा तो गाँव बिल्कुल नजदीक है और जैनधर्मशाला और भी नजदीक है। यमुना में मुँह-हाथ धोया, शायद स्नान भी किया। धर्मशाले में गया, तो वहाँ कुछ तीर्थयात्री जैन नर-नारी मिले। उन्होंने खाने के लिए आग्रह किया, यह तो बड़े उपकार की बात थी, मैं क्यों न स्वीकार करता। उनके साथ ही पहाड़ी की जड़ में बने जैनमन्दिर में गया। मन्दिर तो नया है। उसके आँगन में भी पक्का फर्श है। फर्श पर जहाँ-तहाँ कुछ नीले-पीले छोटे-छोटे दाग थे। जैनगृहस्थ ने समझाया कि किसी वक्त यहाँ केसर की वर्षा हुआ करती थी, अब

कलियुग के प्रताप से यही पीली-पीली चीज आसमान से पड़ती है। पहाड़ में कुछ जैनमूर्तियाँ खुदी थीं। 20-21 सौ साल का पुराना कोई शिलालेख था, जो कुछ ही साल पहिले चट्टान के टूटने से नष्ट हो गया। आस ही पास में दो पहाड़ियाँ थीं। मैंने दोनों को घूमकर देखा। बुद्ध के वक्त यहाँ कोई प्राकृतिक जलाशय (देवकटसोब्भ) था, किन्तु अब उसका कोई पता नहीं। भोजन और विश्राम के बाद मैं पैदल ही कोसम के लिए रवाना हुआ, जैनगृहस्थ नाव से चलनेवाले थे, और उन्होंने मुझे भी साथ चलने के लिए निमंत्रण दिया, लेकिन मैंने पैदल चलना ही अच्छा समझा।

बुद्ध के वक्त में कौशाम्बी भारत की बहुत बड़ी नगरी थी, यह वत्सदेश के राजा उदयन की राजधानी थी। उदयन के रँगीले जीवन और उसका प्रद्योत-सुता वासवदत्ता के साथ प्रेम सहस्राब्दियों तक कवियों को शृंगार रस की प्रेरणा देता रहा। कौशाम्बी सिर्फ राजधानी ही नहीं थी, बल्कि व्यापार का एक बड़ा केन्द्र थी। उस समय नदियाँ स्वाभाविक और बहुत सस्ते वणिक-पथ का काम देती थीं। कौशाम्बी में जहाँ मथुरा होते हुए पश्चिम का माल आता था, वहाँ पूर्व में समुद्र तक रास्ता खुला हुआ था। वर्षा में सम्भव है, सामुद्रिक जहाज भी यहाँ तक आते हों। यहाँ से एक रास्ता दक्षिणा पथ (दक्षिण देश) को गया था, जो वही रास्ता है, जिससे आज मानिकपुर, जबलपुरवाली लाइन जा रही है। लेकिन मगध की प्रधानता के बाद जान पड़ता है, कौशाम्बी को राजधानी बनने का सौभाग्य फिर नहीं प्राप्त हुआ। तो भी मुसल्मानों के आरंभिक जमाने तक छोटी-मोटी मंडी जरूर रही थी। आज तो वह उजाड़ है। यद्यपि पुरानी बस्ती के निशान मिट्टी के गढ़ की भीटों जैसी दीवालों से बहुत दूर-दूर तक मिलते हैं, जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव भी हैं, लेकिन सभी श्रीहीन। गढ़ के भीतर अब खेती होती है, लेकिन अब भी वहाँ से पुराने पैसे, मिट्टी के सुन्दर-सुन्दर पुराने खिलौने (गुजरिया) मिलते हैं। जहाँ-तहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्तियाँ भी हैं। मैं उस जगह गया, जहाँ अशोक-स्तम्भ अब भी खड़ा है। किसी समय पास ही पास दो अशोक-स्तंभ थे, जिनमें एक पर अशोक का शिलालेख था और पीछे समद्रगुप्त का अभिलेख खुदा। आजकल वह स्तंभ इलाहाबाद के किले के भीतर है। बिना लेखवाले स्तंभ को देखा और अब आगे चलने के सिवा कोई काम नहीं था। अब की अकिलसराय का रास्ता लिया। आज भी अँधेरा होने का डर लग रहा था। मैं आमों के बाग में से जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाए चला जा रहा था, उसी समय कानों में आवाज आई–"शाह साहब अस्सलामालेकुम्"। मैंने बगल की ओर मुँह करके देखा, तो कोई आदमी बकरियों के लिए पत्तियाँ तोड़ रहा था। मैंने भी "वालेकुमस्सलाम्" किया। मैं आगे बढ़ता जा रहा था, लेकिन मेरे दिल में ख्याल होता था, क्यों एक ही हफ्ते में तीन जगह लोगों ने मुझे शाह साहब समझा। मुझे तो कोई बात नहीं मालूम हो रही थी, लेकिन जान पड़ता है कि वेष में कोई बात जरूर थी।

अकिलसराय में बाजार के भीतर एक पक्का कुआँ था, और पास ही में मन्दिर। मैंने मन्दिर के बरामदे में आसन लगाया। मेरे पास पैसे थे, इसलिए किसी की दया की जरूरत नहीं थी। दो दिन मंजिल मारता रहा, इसलिए थकावट होनी ही चाहिए, मैं लेटा हुआ था। जब ठाकुरजी की आरती होने लगी, तो मैं शायद बैठ तो जरूर गया था; लेकिन ठाकुरजी से मुझे क्या लेना-देना था, कि उन्हें हाथ जोड़ता। भक्तों को बुरा लगा। खैर, रात काटनी थी, उसे किसी तरह काट लिया। दूसरे दिन लॉरी पर चढ़कर मनोरी आया, फिर रेल से इलाहाबाद। सारनाथ गया और बनारस तो खास करके अभिधर्मकोष के प्रकाशन और हो सके तो कुछ रुपया प्राप्त करने के ख्याल से गया। एक प्रकाशक ने, पहिले तो यह जानना चाहा कि यह किसी काम की पुस्तक है भी या नहीं, लेकिन जब मालूम हो गया कि महत्त्वपूर्ण पुस्तक है, तो छपने के बाद 10, 15 कापी देने की बात कही। कह रहे थे–मैं तो इसी तरह पुस्तकें छापा करता हूँ। खैर, विद्यापीठ में आचार्य नरेन्द्रदेव से बात हुई। विद्यापीठ ने उसे छापना स्वीकार किया और मुझे कुछ रुपये भी मिले। शायद इस प्रबन्ध के लिए मुझे दूसरी बार बनारस आना पड़ा था।

छपरा तो मेरा घर जैसा था, वहाँ जाना जरूरी था। पटना में पुस्तकें आ चुकी थीं। मैं पंडित जयचन्द्र जी के साथ जायसवालजी से मिलने गया। पहिली बार उनसे 1925 में मेरी मुलाकात हुई थी, वह भी बोधगया मन्दिर जाँच कमेटी के मेम्बर थे और मैं भी; इसलिए कमेटी की रिपोर्ट लिखते वक्त हमें इकट्ठा होना पड़ा

था। लेकिन शायद उस बात का उन्हें स्मरण भी नहीं था। जयचन्द्रजी ने मेरे बारे में कुछ कह रखा था, इसलिए अब की बौद्धसाहित्य के बारे में कुछ ज्यादा बातचीत हुई। बोधगया, कसया (कुशीनगर), रुम्मिनदेई और सहेट-महेट (जेतवन श्रावस्ती) की फिर यात्रा की, 10 वर्ष पहिले मैं एक बुद्धभक्त आर्यसमाजी के तौर पर इन बौद्ध तीर्थों में गया था, अबकी मैं एक बौद्ध के रूप में गया था। उस समय मुझे पता नहीं था, कि बौद्धसाहित्य में इन स्थानों का कितना महत्त्व है, और इनके बारे में वहाँ क्या लिखा है; अब मैं त्रिपिटकाचार्य था। बहुत से ग्रन्थों से इन स्थानों के बारे में सामग्री एकत्रित की थी। पुरातत्त्व विभाग की रिपोर्टों को अच्छी तरह देखा था। निश्चय ही अब इन स्थानों के देखने में ज्यादा लुत्फ आ रहा था। सहेट-महेट से बलरामपुर आकर मैंने रेल पकड़ी और बीच में नाव से गंडक को पार करके फिर रेल से नरकटियागंज स्टेशन पहुँचा। मालूम हुआ शिवरात्रि मेले के लिए अब भी कुछ देर है। रक्सौल या वीरगंज में जाकर ठहरने की जगह मैंने ख्याल किया कि पास ही शिकारपुर में विपिन बाबू (विपिनविहारी वर्मा) का घर है। हम लोग असहयोग के जमाने से कांग्रेस के सहकर्मी थे, इसलिए काफी परिचय था। घर पर जाने पर मालूम हुआ, वह मोतिहारी में हैं। लेकिन उनके बड़े भाई और छोटे भाई विभूति बाबू भी उसी तरह स्वागत के लिए तैयार थे। बड़े भाई के साथ तो मैं रामपुरवा (पिपरिया) के दोनों अशोकस्तंभों को देखता, भिखनाठोड़ी तक गया। भिखनाठोड़ी नेपाल के राज में है, वहाँ से भी एक रास्ता नेपाल गया है, लेकिन मुझे तो शिवरात्रि के सीधे रास्ते से जाना था। मैंने वहाँ थारुओं के गाँव देखे, उन पर एक छोटा-सा लेख भी लिखा। थारुओं की आँखों पर हल्की-सी मंगोल-छाप होती है, लेकिन आश्चर्य यह है कि चितवनियाँ थारुओं की बोली आसपास की बोली की अपेक्षा मगही से ज्यादा मिलती है। मगही कैसे गंगा को लाँघती हुई यहाँ हिमालय की तराई में पहुँच गई ?

रक्सौल पहुँचने पर देखा, कि अब यहाँ से एक छोटी रेल वीरगंज ही नहीं, और आगे अमलेखगंज तक गई है। और वहाँ से भी भीमफेरी तक लॉरी जाती है। पहिले नेपाल की राहदारी (आज्ञापत्र) में भी कुछ दिक्कत होती थी, लेकिन अब तो शिवरात्रि के यात्रियों को वह स्टेशन पर ही थमा दी जाती थी। मुझे दो-एक और दोस्तों का इन्तजार करना था, क्योंकि वह भी शिवरात्रि में नेपाल जाना चाहते थे। वह लोग वीरगंज में आये, लेकिन आगे जाने के लिए नहीं। मैंने कम से कम तीन साल तिब्बत में रहने का संकल्प किया था, इसलिए उनसे अपनी लम्बी यात्रा के लिए बिदाई ली।

अमलेखगंज के लिए ट्रेन पकड़ी और वहाँ से माल ढोनेवाली खुली लॉरी मिली। फिर पैदल सीसागढ़ी (चीसपानी) और चन्दागढ़ी के पहाड़ों को पार किया और नेपाल पहुँचा गया। नेपाल में फिर थापाथली के वैरागी मठ में ठहरा। पशुपति और गुह्येश्वरी के दर्शन किये, लेकिन मैं वहाँ उनके दर्शन के लिए तो गया नहीं था। महाबौधा बौद्धों का एक अच्छा तीर्थ है। पहिली यात्रा में मैं वहाँ के चीनी लामा से मिला था। वहाँ जाने पर मालूम हुआ कि चीनी लामा तो नहीं रहे, अब उनके दो लड़के हैं। लेकिन यह देखकर बड़ी खुशी हुई कि एक बहुत ही प्रभावशाली लामा—डुक्पालामा अपने 30, 40 शिष्य-शिष्याओं के साथ यहीं पर आजकल ठहरे हुए हैं।

4

नेपाल में अज्ञातवास

लदाख में मेरे कई परिचित थे, जिनमें हेमिसलामा वहाँ के सबसे बड़े मठाधीश ही नहीं थे, बल्कि वह भी उसी डुक्पा सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते थे, जिससे हमारे यह डुक्पालामा। मेरे पास हेमिसलामा का एक बहुत अच्छा परिचयपत्र था और दो-तीन और चिट्ठियाँ। यद्यपि मैंने पुस्तक से तिब्बती शब्द बहुत से सीख लिये थे, पर अभी तक बोलने का अभ्यास नहीं था। जब मैं डुक्पालामा के शिष्यों से बात करने की कोशिश करने लगा,

तो लाहुल के दोनों जवान–रिनू-छेन और उसका साथी मिल गये। दोनों हिन्दी जानते थे। रिनू-छेन को साथ लेकर मैं डुक्पालामा से मिला। उन्हें लदाख की चिट्ठियाँ दिखाईं, और बताया कि मैंने सिंहल में रहकर त्रिपिटक का अध्ययन किया है, लेकिन बौद्धधर्म के सभी ग्रन्थ सिंहल में प्राप्य नहीं हैं, इसलिए उनके पढ़ने के लिए मैं तिब्बत जाना चाहता हूँ। भारत में बौद्धधर्म का प्रचार करना चाहता हूँ, आप मेरे पुण्यकार्य में मदद कीजिए। डुक्पालामा ने बहुत खुशी जाहिर करते हुए कहा–आप हमारे साथ रहिए, हम यहाँ कुछ दिन और रहनेवाले हैं, फिर स्वयं तिब्बत की ओर जायँगे, फिर आप खुशी से चल सकते हैं। मुझे बड़ी खुशी हुई, मैंने तो समझा अब मंजिल मार ली।

थापाथली से अपना सामान लेकर चलना कुछ दिक्कत की बात थी, क्योंकि महन्तजी पूछते, तो क्या जवाब देता कि मैं कहाँ जा रहा हूँ। लेकिन वहाँ से निकलना ही था। सामान भी बहुत ज्यादा नहीं था। एक दिन बहुत तड़के मैं अपना सामान लेकर डुक्पालामा के पास चला आया। रिनू-छेन को मैंने कह दिया था, कि शिवरात्रि के बाद अगर नेपाल सरकार को मालूम हो गया, तो वह मुझे सीधे वीरगंज लौटा देगी, इसलिए मुझे बहुत छिपकर रहना होगा।

महाबौधा एक विशाल स्तूप है, जिसकी चारों तरफ एकमहले-दोमहले मकान बने हुए हैं। मकानों के नीचे के तले दूकानों के लिए हैं और कोठों पर तिब्बती तथा दूसरे बौद्धयात्री ठहरते और घरवाले भी रहते हैं। रिनू-छेन ने पहले मुझे एक नेपाली की कोठरी के कोठे पर रखा, लेकिन मुझे डर लगने लगा कि कोई यहाँ पहचान न ले। मैंने अपने लिए भोटिया लोगों का एक पुराना चोगा (छुपा) और लंबा जूता खरीद लिया। मैंने रिनू-छेन से जब अपना डर बतलाया, तो उसने उसी कोठे पर रहने का इंतिजाम कर दिया, जिसमें लामा के शिष्य-शिष्याएँ रहते थे। यद्यपि मैं अब भोटिया कपड़े में था, मूँछ दाढ़ी बनानी भी बन्द कर दी थीं, और नहाना-धोना छोड़ हाथ और मुँह पर मैल जमा करने में लगा हुआ था, लेकिन तब भी मुझे डर लगता था, कि कहीं कोई पहिचान न ले कि यह मधेस का आदमी है। चमगादड़ की तरह मैं दिन में घर से बाहर निकलने की कोशिश नहीं करता था। रात के वक्त भोटिया वेष में स्तूप की परिक्रमा कर आता। मुझे इस तरह का जीवन वहाँ एक महीने से ज्यादा बिताना पड़ा।

डुक्पालामा अगमजानी सिद्ध है, वह चौबीसों घंटे समाधि में रहता है, इस तरह की ख्याति नेपाल-उपत्यका के सभी बौद्धों में थी। एक हफ्ते तक मैं भी ऐसा ही समझता था, रात-दिन जब देखो वह आसन मारे बैठे रहते थे। कभी उनकी आँखें खुली रहतीं किसी से बातचीत भी करते, और कभी उनकी आँखें बन्द रहतीं। कभी वह दोपहर को पूजा-भाण्ड मँगा पूजा करने लगते और कभी आधी रात को। नेपाल के बौद्ध गृहस्थ अक्सर उनके पास उपहार ले पहुँचा करते थे। खैरियत यही थी कि मुझे बगल के कमरे में रखा गया था, जहाँ दूसरा कोई नहीं आता था।

"वज्रच्छेदि का प्रज्ञापारमिता" महायान बौद्धधर्म की एक बहुत ही पूज्य पोथी है। डुक्पालामा के पास वह सारी पोथी उलटे अक्षरों में लकड़ी पर खुदी हुई है। लामा के शिष्य-शिष्याएँ स्याही लगा हाथ के कागज पर उसे दिन-भर छापा करते थे। लामा पुस्तक को प्रसाद-रूप में बाँटा करते थे। दिन-भर शिष्य-शिष्याएँ स्तूप के पास जाकर छापने का काम करते रहते, और उनके कमरे में मैं अकेला बैठा रहता; मेरे पास अँगरेजी द्वारा तिब्बती सीखने की पुस्तक थी, मैं उसे पढ़ा करता।

कुछ ही दिनों बाद डुक्पालामा की बहिन, भानजी और 6, 7 बरस के भानजे तिन-जिन से मेरी घनिष्ठता हो गई। लेकिन अभी मैं बहुत कम शब्द बोल-समझ सकता था। हम लोग बीचवाले तल्ले पर थे। सबसे ऊपर के तल पर मृत चीनीलामा की सुन्दरी लड़की रहा करती थी। वह विवाहिता नहीं थी और उसके चाहने वाले बहुत थे। एक दिन मैं अपने कमरे में चुपचाप बैठा था, उसी वक्त एक नेपाली तरुण भीतर आ गया, वह पास के आसन पर बैठ गया। मुझसे वह बातें करने लगा। मुझे बहुत भय लगने लगा। याद नहीं उसे क्या जवाब दिया। मैं तो समझता था, कि अब भंडा फूटा और सारा परिश्रम व्यर्थ गया; लेकिन पीछे मालूम हुआ कि वह तरुणी से मिलने की इन्तजार में वहाँ बैठा है; शायद उस समय तरुणी के पास कोई दूसरा प्रेमी था।

जान पड़ता है तरुणी को भी मेरे बारे में पता लग गया था। मैं जितना ही अपने को छिपाने की चिन्ता करता था, मेरे भोटिया साथियों को उसकी शतांश चिन्ता भी नहीं थी। जैसे भोटिया लोगों के लिए नेपाल में आने-रहने की कोई दिक्कत नहीं थी, वैसे ही वे मेरे बारे में भी समझते थे। मालूम नहीं डुक्पालामा और उनके शिष्यों ने न जाने कितनों से मेरे बारे में कहा हो। एक दिन तीसरे तल्ले की तरुणी मेरे कमरे में आई। मैं साबुन तो क्या पानी से भी हाथ-मुँह धोने की कसम खा चुका था, लेकिन मैंने 1, 2 टिकिया साबुन की अपने पास रखी थी। तरुणी ने आकर साबुन की टिकिया ले ली और यह कहके चल दी–कि मैं इसे देखूँगी। जब मैं ऊपर साबुन लेने गया, तो उसने बिल्कुल नंगे शब्दों में मुझे आकर्षित करना चाहा; लेकिन मेरे लिए वहाँ दूसरा ही आकर्षण था, जिसके लिए मैंने अपने को जोखिम में डाला था। मैं वहाँ से चुपके से नीचे चला आया। उसका दरबार खुला था, इसलिए पुरुष की कमी थोड़े ही थी कि वह मेरे पीछे पड़ती।

डुक्पालामा की बहिन और नवतरुणी भानजी के केश दो-दो अंगुल के थे। मैंने समझा था, कि यह भी भिक्षुणी हैं, लेकिन पीछे पता लगा कि डुग-युल (भूटान) में यह आम रवाज है, स्त्रियाँ वहाँ बाल कटा के रहती हैं। वह मुझे खाना पका के खिला दिया करती थीं, मैंने छोटे लड़के तिन-जिन को बहुत जल्दी अपना दोस्त बना लिया। मुझे इसकी बड़ी जरूरत थी, क्योंकि मैं समझता था कि किताब से ज्यादा जल्दी वह मुझे भोटिया भाषा सिखा सकता है, तो भी अभी वह सारे दिन का दोस्त नहीं बन सका था, वह समय अभी आनेवाला था।

शाम को जब लामा की शिष्य-शिष्याएँ छापने का काम खतम करके आते, तो उन्हीं दोनों कमरों में सोते। वहाँ सोने-लेटने में स्त्री-पुरुष का कोई भेद न था, गर्भ न हो जाय तो वहाँ कोई किसी बात की परवाह भी नहीं करता। शिष्याओं में कुछ तिब्बत के इलाके की थीं, कुछ नेपाल की। यद्यपि दोनों ही भोटिया जाति की थीं, तो भी नेपाली इलाके की उतनी बदसूरत न थीं। उनमें क्या हँसी-मजाक होती है, उनका एक-दूसरे के साथ क्या सम्बन्ध है, इसके जानने की फिक्र में मैं नहीं रहता था। दिन-भर मैं किताब से पाठ याद करने, किसी-किसी वक्त तिन-जिन और उसकी माँ-बहन से बात करने में लगा रहता। रात को जब खा-पीकर निवृत्त हो, 8, 9 बजे वह लोग सोने को आते, तो मैं अक्सर सो गया रहता। मेरी पड़ोसिन ट्शी-ल्हुन्पो के पास की रहनेवाली, मध्य तिब्बत की थी; इसलिए जब कभी मौका मिलता, तो उससे बात करके अपनी भाषा को ठीक करने की कोशिश करता। वहाँ एक महीना रहते-रहते भाषा समझने में जितनी तेजी से मैंने प्रगति की, उसमें इन वार्तालापों ने बहुत सहायता की। तिब्बत के लोग और भिक्षु-भिक्षुणी खास करके अपने पास किसी देवता की मूर्ति एक डिबिया में रखते हैं। देवता की मूर्ति धातु की भी हो सकती है और कागज या कपड़े पर बना चित्र भी हो सकता है। डिबिया आमतौर से मेहराबदार द्वार की शकल की होती है, जिसकी एक ओर शीशा लगा रहता है। मैंने अपनी पड़ोसिन भिक्षुणी से उसकी मूर्ति देखने के लिए माँगी, तो वहाँ युगनद्ध (यब्-युम्) वज्रसत्व की मूर्ति थी–युगनद्ध रति-रत देव-देवी की मूर्ति को कहते हैं।

फागुन बीत गया। अब चैत की गरमी शुरू हो गई थी। मैं रोज पूछा करता था, यहाँ से कब चलना है। रोज कल-परसों हो रहा था, लेकिन चलने का वहाँ से नाम ही नहीं ले रहे थे। आख़िर में एक दिन पता लगा, कि रिनूपोछे (रत्न) अब किन्दोल विहार जाएँगे–भारी-भारी महन्तों और अवतारी महन्तों को तिब्बत में सम्मान दिखलाने के लिए रिनूपोछे कहते हैं। मुझे इससे भय इसलिए होता कि लामा ने किसी-किसी भक्त गृहस्थ को काशी के पंडित की बात कहनी शुरू की थी, जिससे कुछ लोग मेरे पास भी पहुँचने लगे थे।

नेपाल के बौद्धगृहस्थों में धर्मासाहु बड़े ही भक्त और प्रतिष्ठित गृहस्थ थे। उनसे किसी ने मेरे बारे में कह दिया था। वह रात-दिन पूजा-पाठ में रहते और घर से बाहर नहीं निकलते थे। उन्होंने कहलवाया था, कि मैं आकर दो-एक दिन उनके यहाँ ठहरूँ। लामा और उनकी शिष्यमंडली किन्दोल विहार गई और मुझे रिनू-छेन काठमांडों में धर्मासाहु के घर की ओर ले चला। उनका घर काठमांडो शहर के बीच में असनटोल में था। हम लोग शाम को चले थे। मेरे मुँह पर महीने-भर का बढ़ा केश, शरीर पर तिब्बती लोगों का लाल चोगा और पैरों में तिब्बती जूता था। सड़क पर चलते वक्त मुझे अपनी तरफ देखनेवाले हरेक आदमी पर सन्देह

होने लगता था। महाबौधा से धर्मासाहु का घर मील-डेढ़ मील था। और तो कोई बात नहीं हुई, लेकिन जूतों ने मेरे पैर को काट डाला। धर्मासाहु ने अपने मकान के सबसे ऊँचेवाले चौथे तल पर मुझे ठहराया। उनका स्वागत बहुत ही मधुर और सीधा-सादा था। मुझसे मिलकर उन्हें बहुत खुशी हुई, और उन्होंने तिब्बत के बारे में बहुत-सी बातें बतलाईं। ल्हासा में उनकी कोठी (दूकान) सैकड़ों बरस पुरानी थी। वह अभी छोटी ही उमर के थे, तभी उनके पिता मर गये और लाखों का करज छोड़ गये। वह तिब्बत के व्यापार में लग गये। और कुछ ही समय में उन्होंने करज ही नहीं अदा कर दिया, बल्कि लाखों रुपये कमाये भी। अब कई वर्षों से वह अपने घर ही में रहते थे। तिब्बत में जाने पर मैंने देखा, कि वहाँ के बड़े-बड़े लामा धर्मासाहु का नाम बड़े ही सम्मान के साथ लेते हैं। उन्होंने एक दिन एक ख़ास तरह का भोजन बनवाया और कहा–तिब्बत में इस तरह का भोजन आपको मिलेगा। यह बत्तख़ के अंडे और आटे की बनी नमकीन सेवैयाँ थीं। नेपाली लोग मुर्गी का अंडा नहीं खाते, लेकिन बत्तख के अंडे में उन्हें कोई उज़्र नहीं।

एक-दो दिन बाद मैं भी किन्दोल विहार चला गया। किन्दोल विहार काठमांडो से बाहर मील भर पर स्वयंभू महास्तूप के पास में है। यह विहार शायद पुराना हो, लेकिन मकान अधिकतर नये थे। यहाँ भी लामा की बगल की कोठरी में मुझे ठहराया गया, लेकिन मुझे यहाँ दर्शक मंडली के सामने ही रहना पड़ा। मैं बहुत घबड़ाया, और घबड़ाहट और भी बढ़ गई, जब सुना कि हिन्दुस्तान का कोई संन्यासी लामा के पास आया था, लामा ने उससे मेरे बारे में कहा, और वह मुझसे मिलने के लिए बहुत उत्सुक है। दसरतनसाहु वहाँ सब प्रबन्ध करते थे। मैंने उनसे अपनी कठिनाई बतलाई, और कहा कि इस भीड़ से हटाकर मुझे कहीं एकान्तस्थान में ले चलो। वह किन्दोल से थोड़ा हटकर एक बगीचीवाले घर में ले गए। यह घर बिल्कुल अलग था और बहुत दिनों से उसमें कोई रहता न था। अब मैं उसके कोठे पर रहता और दसरतनसाहु बाहर से ताला बन्द करके चले जाते। सिर्फ अँधेरे में शाम और सबेरे मैं शौच आदि के लिए कोठे से बाहर निकलता, नहीं तो रात-दिन मेरे लिए यह स्वयंस्वीकृत कैद-तनहाई थी। यद्यपि मेरा कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं था, लेकिन नेपाल सरकार क्यों ख़तरा उठाने के लिए तैयार होती। बहुत समय पहले जब नेपाल अधिक स्वतंत्र था, उस वक्त अँगरेजी गुप्तचरों के आके भेद लेने और अँगरेजों के नेपाल हड़प लेने का डर था, उसी वक्त से नीचे के लोगों के साथ कड़ाई बरती जाने लगी। अब तो नेपाल का अंगुल-अंगुल अँगरेजों को मालूम है, नेपाल उनकी मुट्ठी में है, वह मुट्ठी के भीतर ही चाहे जितना घूम-फिर ले। तो भी नीचे के लोगों के ऊपर उतनी ही कड़ाई के साथ ध्यान रखा जाता था। मेरे बारे में मालूम होने पर, मुझे जरूर विफल मनोरथ हो नीचे चला जाना पड़ता। दसरतनसाहु बड़े धर्मभक्त थे, साथ ही मेरी कठिनाइयों का उन्हें ख्याल था। उन्होंने किसी को मेरे पास आने नहीं दिया। इस घर में रहते भी 15, 20 दिन हो गए, लेकिन लामा अभी चलने का नाम नहीं ले रहे थे। लामा के सर्वज्ञ होने पर तो मुझे कभी विश्वास नहीं हुआ था, लेकिन एक हफ्ते तक उनके शराब पीकर बैठे-बैठे सोने को मैं समाधि समझता रहा। मैं अब जानता था, कि जब तक पूजा काफ़ी चढ़ती रहेगी, तब तक लामा चलने का नाम नहीं लेंगे। वागमती के एक ओर काठमांडो और दूसरी ओर ललितपट्टन दोनों काफी बड़े शहर हैं, वहाँ बौद्धों की संख्या अधिक है। पूजा-चढ़ावा तो शायद असाढ़ तक भी खतम न हो। मुझे पता लगा था, कि लामा यहाँ से सीमान्त इलाके एल्मो के गाँव में जाएँगे। मैंने दसरतनसाहु से कहा कि मुझे एल्मो पहुँचा दो। काठमांडो से 4, 5 दिन के रास्ते पर हट जाने से खतरा कुछ कम रहता। उन्होंने इस बात को स्वीकार किया।

देश के ढंग के कपड़े पहनकर तो चलने का ख्याल ही नहीं हो सकता था। लम्बे कद और मुखमुद्रा पर भोटिया कपड़ों में छिप जाने का मुझे बहुत कम विश्वास था, इसलिए मैंने नेपाली पाजामा, बगलबंदी और फुन्दीदार काली टोपी पहिनी, आँखों को छिपाने के लिए काला चश्मा भी ले लिया। हम दोनों एक दिन सबेरे चल पड़े। दसरतनसाहु ने कपड़े का एक नया बूट ला के दे दिया। एक-डेढ़ मील जाते-जाते उसने पैर काट खाया। अब चलना बहुत मुश्किल हो गया, लेकिन चलने के सिवा कोई चारा न था। हम सुन्दरी जल की ओर गए, जहाँ से एक पाइप काठमांडो को आता था। मैंने यहाँ ईंटों को उन्हीं नरम कोयलों से पकाए जाते

देखा, जिनको छै बरस पहिले लोग प्राकृतिक खाद समझते थे, और जब मैंने एक टुकड़े को आग में जला के एक राजवंशी तरुण को दिखलाया था, तो उसे आश्चर्य हुआ था। नेपाल प्रकृति की तरफ से बहुत धनिक देश बनाया गया है, लेकिन वहाँ के शासन के ढाँचे ने उसे ऐसा बना रखा है, कि वह धरती की देन का शतांश भी इस्तेमाल कर सकेगा, इसमें सन्देह है। उद्योग-धन्धे को बढ़ाने की ओर नेपाल के प्रभुओं का बिलकुल ध्यान नहीं है, यह उनके खतरे की चीज होगी, इसमें सन्देह नहीं। लेकिन सबसे बड़ी खतरे की चीज तो हिन्दुस्तान है। इसलिए नहीं कि स्वतंत्र हिन्दुस्तान नेपाल को जीतकर उसे अपने भीतर में डालेगा, बल्कि हिन्दुस्तान की क्रान्ति के प्रभाव को नेपाल में आने से रोका नहीं जा सकता।

सुन्दरी जल के पास से हम पहाड़ पर चढ़ने लगे। अब बराबर पहाड़ों को लाँघकर ही चलना था। जूता तो पैर को काट ही रहा था, ऊपर से इतने दिनों कोठरी में बन्द रहा, इससे पैर चलने में असमर्थ थे। मैं हिम्मत के बल ही पर आगे की ओर लुढ़कता जा रहा था, लेकिन वह हिम्मत किसी भी वक्त जवाब दे सकती थी। इसी वक्त एक बहुत हट्टा-कट्टा, पहाड़ियों के लिए असाधारण डीलडौल का आदमी आता दिखाई दिया। दसरतन मेरी कठिनाई को समझते थे। उन्होंने उससे बीमार साथी को ढोने के लिए मजूरी की बातचीत की। वह शायद दूनी मजूरी माँग रहा था। मैंने अपने साथी के कान में कहा—मोलतोल मत करो, जो माँगता है, मंजूर कर लो। आदमी कर लिया गया। उस दिन तो वह शाम को मिला था, इसलिए थोड़ी ही दूर जाने पर शाम हो गई और हम एक गाँव में ठहर गए। यद्यपि हमारा जाना अधिकतर पहाड़ों के रीढ़ों को आर-पार करते, पगडंडी से हो रहा था; लेकिन चढ़ाई में मैं दूसरे की पीठ पर चलता था, इसलिए यात्रा कठिन नहीं मालूम होती थी। काठमांडो छोड़ने के चौथे या पाँचवें दिन हम एल्मो गाँव पहुँचे। दुनिया में सभी जगह हिमालय जैसे पहाड़ों की उपत्यकाएँ पचीसों जातियों के पृथक् अस्तित्व को अपने भीतर क़ायम रखे होती हैं। नेपाल में भी गोरखा, नेवार, थारु, तमंग, गुरंग, एल्मो, शरबा, आदि कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं। जान पड़ता है जिस तरह पहाड़ी दीवारें पानी को एक-दूसरे से मिलने नहीं देतीं, उसी तरह जातियों को मिलकर वह एक नहीं बनने देतीं। मैं गोरखा, नेवार, तमंग आदि बस्तियों से गुज़रकर अब भोटिया भाषाभाषी एल्मो लोगों के गाँवों में पहुँचा था। नेपाल में नेवार जाति ही व्यापारकुशल जाति है। नेवार अधिकतर बौद्ध हैं। डेढ़ सौ बरस पहिले यही नेपाल के शासक थे, जब कि गोरखा के राजा पृथ्वीनारायण ने सारे नेपाल को जीतकर गोरखा-राज की नींव डाली। पृथ्वीनारायण का ही वंशज आज भी नेपाल के सिंहासन पर बैठता है। लेकिन सौ बरस हुए, जब कि राना जंगबहादुर ने पुराने मंत्रियों और अधिकारियों का क़त्लेआम किया। जंगबहादुर ने ख़ुद सिंहासन पर नहीं बैठना चाहा और अब भी गद्दी का मालिक पाँच सरकार पृथ्वीनारायण का वंशज ही होता है; लेकिन उसे एक तरह जंगबहादुर के ख़ानदान का पेनशेनिहा बन्दी समझना चाहिए। राज की सारी शक्ति, उसका सारा धन जंगबहादुर के राना-वंश के हाथ में आया। जंगबहादुर के इस काम में उनके भाइयों ने भी मदद की थी, इसलिए उन्होंने प्रधानमंत्री (तीन सरकार) के पद को स्वीकार करते हुए उसे सिर्फ अपने बेटे-पोतों के लिए सुरक्षित नहीं रखा। जंगबहादुर के परने पर ज्येष्ठतम के अनुसार भाइयों और भतीजों की बारी आई। बराबर एक-दूसरे के खिलाफ षड्यंत्र होते रहे, जिस षड्यंत्र में जंगबहादुर के अपने पुत्र-पौत्र उड़ गए। नेपाल की इस शासन-व्यवस्था ने प्रजा को दरिद्र बनाने में और भी ज्यादा क़ाम किया है, क्योंकि लोगों को अपनी कमाई से 10, 5 आदमियों के भोग-विलास का प्रबंध नहीं करना पड़ रहा है, बल्कि राना ख़ानदान के बढ़ते हुए सैकड़ों छोटे-बड़े राणाओं और उनके रनिवास के ऐशजैश का भी प्रबंध करना पड़ता है।

नेवार लोगों के राज्य को जब गोरखा-वंश ने छीन लिया, तब सभी शासक जातियों की तरह उन्हें भी व्यापार के सिवा सुखी जीवन बिताने का कोई रास्ता नहीं रह गया। यह भी एक कारण है, कि नेवार लोग अब अधिकतर व्यापारी हैं। नेपाल के पहाड़ों में दूर-दूर मुश्किल से मुश्किल जगहों में भी कोई न कोई नेवार की दूकान जरूर मिलेगी। वह ज्यादातर बौद्ध हैं, इसलिए सीमान्त की जातियों से मिलने-जुलने में संकीर्णता नहीं बरतते। हम भी रास्ते में रात को अधिकतर नेवार घरों में विश्राम करते आये थे।

एल्मो गाँव अभी कुछ दूर रह गया था, तभी से देवदारु वृक्षों का अनुपम हरित सौन्दर्य दिखलाई देने

लगा। अब यहाँ काठमांडो की गरमी नहीं थी। ऊपर से यह स्वर्गीय हरीतिमा हमारी आँखों को अपने कोमल मधुर स्पर्श से आप्लावित कर रही थी। मुझे बहुत खुशी हुई, इस सुन्दर दृश्य को देखकर ही नहीं, बल्कि यह ख़्याल करके, कि अब मैं राजधानी से बहुत दूर हूँ। दसरतनसाहु अपने एक परिचित दोस्त के घर पर ले गए। एल्मो लोग बहुत सुन्दर भूखंड में ही नहीं रहते, बल्कि उनमें सौन्दर्य भी ज्यादा है, खासकर स्त्रियों में तो और भी। यद्यपि वह मंगोलीय भोटिया जाति के हैं, जिसका स्पष्ट चिह्न उनकी आँखों और गालों पर दिखलाई देता है, लेकिन हिन्दुओं के रक्त का भी इतनी अनुकूल मात्रा में सम्मिश्रण हुआ है, कि उनका मुँह न उतना भारी होता, न उतना चिपटा। आँखें भी उनकी काफी खुली रहतीं, और गुलाबी रंग के बारे में पूछना ही क्या? एल्मो श्यामाओं की काठमांडो के अन्तःपुर में बहुत माँग हो तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। हम जिस घर में गए, उसकी गृहपत्नी पचास को पहुँच रही थीं, लेकिन अब भी सौन्दर्य की सन्ध्या उनसे काफी दूर थी। उनके घर में एक लड़का और उसकी बहू थी, इस प्रकार परिवार बहुत बड़ा नहीं था। आसपास देवदारों का जंगल था, इसलिए लकड़ी की कोई कमी नहीं थी, और लोगों ने अपने मकानों को बनाने में बहुत उदारता से उसका खर्च किया था। यह गाँव समुद्रतल से 9, 10 हजार फीट ऊँचाई से कम पर नहीं बसा होगा, इसलिए जाड़े के कई महीनों चारों तरफ बरफ ही बरफ रहती होगी, लेकिन मैं तो वहाँ मई या जून के महीने में पहुँचा था, इसलिए बरफ का कहाँ से पता होता। मकान अधिकतर दोतल्ले थे और सिर तोड़नेवाली छोटी-छोटी छतोंवाले नहीं, जैसे मकान नेपाल में हर जगह ही मिलते हैं। छतें भी लकड़ी के फट्टों से छाई थीं। घर के भीतर दरवाजों पर और दूसरी जगह कुछ कारु-कार्य भी था, जिनसे सुरुचि प्रकट होती थी। मुझे वहाँ छोड़कर दसरतनसाहु लौट गए।

चावल यहाँ नहीं होता, लेकिन एक ही दो दिन नीचे धान के खेत हैं, और सम्पन्न लोग चावल खाना पसन्द करते हैं। आलू-मूली की तरकारी और भात खाने में अपूर्व स्वाद मालूम होता था। तरकारी में वह मसाला भी ज्यादा नहीं डालते थे, लेकिन जंगली प्याज (जिम्बू) अकेले ही हजारों मसालों के बराबर थी। लोगों के मकान भी साफ-सुथरे थे और शरीर भी। यद्यपि यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी, कि वह हर दूसरे-चौथे नहाते होंगे।

दो-चार दिन बाद गाँव की वृद्धा भिक्षुणी काठमांडो से लौट आई। वह भी डुक्पालामा की शिष्या थी, और कुछ महीनों से उन्हीं के यहाँ रह रही थी। उसका असली नाम क्या था यह तो नहीं कह सकता, लेकिन हम उसे अनीबुट्टी कहा करते थे—अनी भोट भाषा में भिक्षुणी को कहते हैं। अनीबुट्टी का अपना घर था। किसी वक्त वह अच्छा खाता-पीता घर रहा होगा, जब उसमें कितने ही स्त्री-पुरुष रह रहे होंगे; लेकिन अब तो अनीबुट्टी अकेली थी। दोतल्ला मकान था, नीचे के हिस्से में जानवर बाँधे जाया करते या लकड़ी-घास वगैरह चीजें रखी जाती थीं। लेकिन मैं नहीं समझता अनीबुट्टी के निचले घर में कोई पशु था। ऊपरी कोठे की लकड़ियाँ पुरानी नहीं थीं, लेकिन जान पड़ता था, अभी पूरी तौर से मकान को तैयार नहीं कर पाए थे, कि बनानेवाले हाथ सदा के लिए विदा हो गए। अनीबुट्टी को इसके लिए कभी मैंने रोते या उदास होते नहीं देखा। उसका चेहरा सदा प्रसन्न रहा करता था। धर्म के प्रेम और पूजा-पाठ ने अवश्य उसे अपने शोक को भुलवाने में मदद दी थी। अनीबुट्टी के आने पर मैं उसके मकान में चला गया। छत के ऊपर ही खाना पकाने के लिए लकड़ी की अँगीठी थी। अनीबुट्टी के हाथ में भी भोजन को अमृत बनाने की शक्ति थी। वह मुझे किसी तरह की तकलीफ नहीं होने देना चाहती थी। यद्यपि अनीबुट्टी की उमर पचास या ऊपर की होगी, लेकिन एक तरुण के साथ एक ही मकान में रहने से शायद किसी को सन्देह होता, इसलिए रात के वक्त वह किसी और औरत को अपने पास बुलाकर सुलाया करती थी। मैंने समझा यह दोनों ही के लिए अच्छा है। महाबौधा में रहते वक्त मुझे भोटिया भाषा बोलने का अभ्यास हो चला था, लेकिन किन्दोल के पास के सुनसान मकान में रहते वक्त मैं इससे वंचित हो गया था। अनीबुट्टी के यहाँ भी मुझे भोटिया बोलने का उतना अवसर नहीं मिलता था। अनीबुट्टी दिन में अपने दूसरे कामों में भी लगी रहती, और वैसे भी उसकी भाषा उतनी अच्छी नहीं थी। यद्यपि गाँव में भोटिया बोलनेवाले और भी कितने ही मिल सकते थे, लेकिन मैं उनसे ज्यादा मेल-जोल नहीं रखना

चाहता था, क्योंकि इसमें रहस्य खुल जाने का डर था।

कुछ ही दिनों बाद काठमांडो से डुक्पालामा की शिष्यमंडली के बहुत से लोग एल्मो चले आए और वह गाँव से थोड़ा नीचे एक काफी बड़े बुद्ध-मंदिर में ठहरे। जा करके देखा, तो मेरा दोस्त तिन-जिन भी वहाँ मौजूद था। भाषा मजबूत करने के लिए इतने अच्छे अवसर को मैं हाथ से कैसे जाने देता ? यद्यपि वहाँ जाने पर मुझे खाने-पीने की दिक्कत होनेवाली थी, लेकिन मैं अपना डंडा-कुंडा लेकर वहाँ पहुँच ही गया।

अब वर्षा कुछ-कुछ शुरू हो गई थी। जंगल में स्ट्राबरी ढूँढ़ने मैं अकसर जाया करता था। स्ट्राबरी मीठी कम और खट्टी ज्यादा होती, लेकिन तिन-जिन उसे बहुत पसन्द करता था, मैं तिन-जिन के लिए स्ट्राबरियाँ ढूँढ़ के लाता और वह मुझसे बातें करता। वह सिर्फ तिब्बती भाषा बोल सकता था और वह भी बच्चों की बहुत सीधी-सादी भाषा, मुझे तिन-जिन को गुरु बनाने में बहुत फायदा हुआ।

डुक्पालामा के शिष्य-शिष्याएँ यहाँ भी हाथ के कागज पर 'वज्रच्छेदिका' छापने में लगे हुए थे। उलटे अक्षरों में खुदी पट्टी को जमीन पर रख दिया जाता और आमने-सामने दो व्यक्ति बैठ जाते। एक स्याही का पोचारा पोतकर कागज रखता और दूसरा कपड़ा लपेटे लकड़ी के रोलर को उस पर दोनों हाथों से दबाते हुए रगड़ देता। वहाँ आठ-दस रोलर दिन-भर चलते रहते थे। एक बडे कढ़ाव (कड़ाह-कराह) में दिन-भर साबित गेहूँ उबला करता। पकानेवाली बुढ़िया भूटान की थी। उसने पूछने पर बताया, कि आटे की लेई उतनी पतली नहीं हो सकती, इसलिए हाथ के बने पतले कागजों को एक-दूसरे के साथ चिपकाकर मोटा हो जाने पर वह ठीक नहीं होते। इस इलाके में हाथ का कागज बहुत बनता है। 20, 25 स्त्री-पुरुषों को मैं दो महीने से उसी एक पुस्तक को बराबर छापते देख रहा था। मुझे कभी-कभी ख्याल आता था कि क्या कभी उनका यह काम खतम भी होगा।

महाबौधा और किन्दोल में भिक्षु-भिक्षुणियों को खाना अच्छा मिलता था, कभी-कभी कुछ पैसा भी मिल जाता था। एल्मोवाले भी अच्छे भगत थे, लेकिन कहाँ तक खर्च करें। उत्तर तरफ दो-तीन मील पर देवदारों के घने जंगल में एक छोटी-सी कुटिया पर सफेद फरहरा फहरा रहा था। वहाँ कोई आराण्यक लामा तपस्या कर रहा था। गाँव की दूसरी तरफ ऊपर की ओर भी एक मठ था, जिसमें एक लामा भजन में लगा हुआ था। जंगलवाले लामा के पास दूर होने से बहुत अधिक स्त्री-पुरुष नहीं जाते थे, लेकिन दूसरे भजनानंदी लामा के पास दरजनों स्त्रियाँ भजन में शामिल होती थीं। वह अधिकतर बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर का व्रत कराता था। इसमें आधा उपवास रहना पड़ता, कई हजार मन्त्रों को जपना पड़ता और फिर हजारों बार साष्टांग दंडवत् करनी पड़ती। मैं समझता हूँ, वही स्त्रियाँ तीसों दिन इस व्रत को नहीं कर सकती थीं, क्योंकि बीच में थोड़े से विश्राम के बाद सबेरे दस बजे से ग्यारह बजे रात तक पूजा-दंडवत् चलती रहती थी। मैं एक दिन वहाँ गया। अब मुझे किसी दुभाषिया की जरूरत नहीं थी। मैं काफी तिब्बती बोल लेता था। लामा कुछ पढ़ा-लिखा था और स्वभाव तो उसका और अच्छा था। उसने मुझे वहीं खाना खिलाया। मैंने वहाँ अपनी काठमांडोवाली परिचित भिक्षुणी को देखा। अब वह डुक्पालामा की मंडली से यहाँ चली आई थी। यहाँ वह अच्छी तरह थी।

हमारे यहाँ तो बीसियों दिन से अब सिर्फ मड़ुवा या मकई के आटे का नमकीन सूखा-सा हलुवा सबेरे को मिलता और शाम को उसी की पतली-सी लेई। चाय भी नमक का काढ़ा थी। मेरा मन कभी-कभी ऊब जाता था, किन्तु मैं तो जानबूझकर के इस बला में फँसा था। एकाध दिन ख्याल आया, कि गाँव से कुछ चावल, आलू, मूली, प्याज और मक्खन ले आऊँ; लेकिन मैंने सोचा—जब तक मेरे और साथी मंडुवामकई खा रहे हैं, तब तक मुझे अपने खाने का विशेष प्रबन्ध नहीं करना चाहिए। मैं जानता था कि डुक्पालामा के यहाँ होने पर उनके लिए छप्पन परकार अलग बनता, और उस वक्त मैं उनकी ही रसोई में शामिल रहता; तो भी मैंने इन्हीं के साथ खाना पसन्द किया। दिन काटने की वहाँ दिक्कत नहीं थी, क्योंकि तिन-जिन मेरे साथ था, और पास ही जंगल में जहाँ-तहाँ लाल स्ट्राबरियाँ भी।

दूसरे भिक्षु सबेरे को कुछ थोड़ी-सी पूजा-पाठ करते और रात को तो दो-दो ढाई-ढाई घंटा वह बड़े राग से भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति किया करते। मुझे वह लंबे स्तोत्र याद नहीं थे, इसलिए उनके साथ शामिल

नहीं हो सकता था। छापते वक्त भी भिक्षुणियाँ अक्सर बड़े राग से कोई स्तोत्र गाया करती थीं। मैं गलती से एकाध आदमियों का हाथ देख बैठा, यह साधारण बुद्धि की बात थी। मैं खूब सँभालकर उनके बारे में भविष्यवाणी करता। जहाँ 90 फीसदी निशाना ठीक लग रहा हो, और 10 फीसदी भी गोल-गोल बातों में उलझा हुआ, वहाँ फिर हाथ देखने की माँग क्यों न बढ़े। जब तक हमारी ही मंडली के भिक्षु-भिक्षुणियों के हाथ देखने की बात थी, तब तक तो कोई बात नहीं थी। वह और दिखलाते भी नहीं थकते, भिक्षुणियाँ तो और भी। गाँववालों ने इस मंदिर को सैकड़ों वर्ष पहिले बनवाया था, उसमें कुछ खेत भी था। लेकिन अब वह श्रीहीन था, और शायद हम लोग न रहते, तो वह सूना ही रहता। उसकी पूजा-पाठ का इन्तिज़ाम करनेवाला पुजारी एल्मो नहीं, एक दूसरा अधगोरखा परिवार था जो उसी मन्दिर के ऊपर के कोठे पर रहता था। उस परिवार के भी स्त्री-पुरुषों ने हाथ दिखलाया। एक दिन मैंने देखा कि एल्मो में आने पर जिस घर में मैं पहिले-पहिल ठहरा था, उस घर की बहू भी हाथ दिखलाने आई है। वह बाईस-तेईस वर्ष की बहुत स्वस्थ सुन्दरी थी, उसका पति उमर में 4, 5 वर्ष छोटा और दुबला-पतला नौजवान था। वह ज्यादातर यही जानने के लिए आई थी, कि उसके हाथ में कोई लड़का-बाला है कि नहीं। एक भिक्षुणी ने मुझसे बहुत प्रार्थना करके कहा, कि इसके हाथ को देख लीजिए। मैं इधर हाथ देखने से तंग आ गया था। भिक्षुणी बहुत हाथ-पैर जोड़ के कहने लगी—सास-ससुर इसे बाँझ समझकर लड़के का दूसरा ब्याह करना चाहते हैं, आप इसका हाथ जरूर देख लें। मैंने हाथ देखकर कह दिया—पुत्र का योग है, जो पुत्र नहीं हुआ, तो इसमें इसका नहीं पति का कसूर समझना चाहिए। तरुणी को बहुत सन्तोष हुआ, लेकिन उसकी समस्या इतने से हल होनेवाली थोड़े ही थी।

मैं जब काठमांडो से एल्मो आया था, तो डुक्पालामा ने वचन दिया था, कि मैं एल्मो जरूर आऊँगा और तुम्हें साथ लेकर ही तिब्बत जाऊँगा। मैं इसी आशा में दो महीने से ज्यादा से उनका पल्ला पकड़े हुए था। काठमांडो से बीच-बीच में जो आदमी आते थे, वह भी कहते थे, कि लामा जल्दी ही यहाँ आनेवाले हैं। एक दिन शाम को लामा के दो चेले आकर बोले, लामा काठमांडो से सीधे ञेनम् (कुत्ती) की ओर रवाना हो गए। सुनकर मेरा हृदय सन्न हो गया। मैं जिस डाली पर इत्मीनान से बैठा था, वह कटकर जमीन पर आ गिरी। अब क्या करना चाहिए ? थोड़ी देर में मैंने उन्हें अपना निश्चय सुनाया कि मैं कल यहाँ से ञेनम् के लिए रवाना हो जाऊँगा। मुझे रास्ता भी नहीं मालूम था, कोई साथी भी नहीं था, फिर ऐसा निश्चय सुनाते देख उन्हें आश्चर्य होना ही चाहिए। उसी रात को मैं और मेरे दोस्तों ने ञेनम् तक के लिए साथी ढूँढ़ने की कोशिश की, लेकिन कोई नहीं मिला। सबेरे मैं मन्दिर के पुजारी के पीछे पड़ा। यह नमक लाने का मौसिम था। तिब्बत की खारी झीलों से नमक बटोरकर लोग याकों (चमरियों) पर उसे ञेनम् पहुँचाते, और नेपाल के पहाड़ी लोग चावल या मकई पीठ पर लादे नमक बदलने के लिए ञेनम् पहुँचा करते। पुजारी कहने लगा, कि मुझे नमक लेने जाना तो है, लेकिन खेत कटने में 10, 15 दिन की ही देर है, यदि अभी चला जाऊँगा, तो फसल बरबाद हो जायेगी। मैंने कोशिश की, मेरे दोस्तों ने समझाया और फिर दूनी मजूरी देने के लिए मैं तैयार था; अन्त में वह मान गया। उसी दिन पहर-भर दिन चढ़े हम दोनों एल्मो से रवाना हो गए।

गाँव से हमने चावल और दूसरी खाने की चीजें खरीद ली थीं। साथी ने मक्खन के लिए कहा, कि रास्ते में उसे गोठ (गोष्ठ) पर से ले लेंगे। उस मौसिम में गाँववाले अपने पशुओं को चराने के लिए दूर-दूर जंगलों में चले जाते थे। वहाँ वह अपनी छोटी-सी झोंपड़ी बना लेते, जो उनका छोटा-सा घर हो जाता था। हम उसी झोंपड़ी में गए, और वहाँ से आध-सेर मक्खन लिया, पेट-भर मट्ठा मुफ्त पीने को मिला, फिर लम्बा-लम्बा पग बढ़ाने लगे। मेरे पास जो कुछ भी सामान था, वह बहुत ज्यादा नहीं था, और फिर वह दूसरे की पीठ पर था। मन-डेढ़ मन बोझा ढोनेवाले के लिए दस-पन्द्रह सेर क्या होता ? एल्मो में मैं खूब चलता-फिरता रहता था, इसलिए पैर मजबूत हो गए थे। पगडंडी सीधी जाती थी, इसलिए पहाड़ों की चढ़ाई भी सीधी पड़ती थी। दूसरे या तीसरे दिन हम काठमांडो से ञेनम् जानेवाले रास्ते पर पहुँच गए। हम हर जगह लामा की जमात के उधर से गुजरने के बारे में पूछते जा रहे थे।

काठमांडो से ञेनम् जाने के दो रास्ते हैं, एक नीचे-नीचे जाता है, और एक पहाड़ों के डाँडो के साथ

ऊपर-ऊपर। ऊपर का रास्ता ज्यादा ठंडा होता है, और हमें उमेद थी कि लामा निचले-गरम रास्ते को नहीं पकड़ेंगे। हम भी ऊपर ही ऊपर चल रहे थे। शायद दूसरे दिन हमें लामा का पता लगा और एक दिन हमने उन्हें जा पकड़ा। वह एक गाँव में ठहरे हुए थे। वैसे पहाड़ी लोगों का शरीर बहुत हल्का होता है, क्योंकि उन्हें पहाड़ों पर चढ़ना-उतरना बहुत पड़ता है, इसलिए शरीर पर चर्बी नहीं जम सकती; लेकिन डुक्पालामा को तो कहीं हिलना-डुलना नहीं था, ऊपर से खूब मांस, मक्खन, दही और बढ़िया-बढ़िया खाना; इसलिए शरीर ढाई-तीन मन का हो जाय तो अचरज क्या ? पहाड़ों पर पैदल चलना उनके बस की बात नहीं थी। यद्यपि तमंग और इधर की दूसरी जातियाँ बौद्धधर्म को मानती थीं, लेकिन वह इस अवस्था में पहुँच चुकी थीं, जब कि बौद्धधर्म से ब्राह्मण धर्म में चले जाने में कुछ घंटों ही का अन्तर रह जाता है। शायद तेरहवीं सदी के उत्तरार्ध में उत्तरी भारत के बौद्ध इसी अवस्था में रहे होंगे। वहाँ के स्तूपों की बरसों से मरम्मत नहीं हुई थी, बौद्ध-मन्दिर गिरते-पड़ते जा रहे थे, बौद्ध-भिक्षुओं (लामाओं) के प्रति उनका कोई सम्मान नहीं था। कभी-कभी यदि उन्हें खिला-पिला देते, तो इसी ख्याल से कि भूत-प्रेत निकालने में लामाओं की काफी ख्याति थी। इस गाँव में भी लामा की कोई आवभगत नहीं हुई।

मैं जब डुक्पालामा के पास गया, तो वह उसी तरह हँस के मिले। उनको इस बात का जरा भी खयाल नहीं था, कि मुझे एल्मो में बिना सूचना दिए तिब्बत के लिए चल देना अच्छा नहीं था। तिब्बत में अक्सर मुझे ऐसे आदमी मिले हैं, जो बच्चों की तरह अपनी जिम्मेवारियों को भूल जाते हैं। खैर, अब मैं उनके साथ था और वह उसी तरह बड़े स्नेह के साथ मुझे ले चलने को तैयार थे। डुक्पालामा की इन पहाड़ों पर यात्रा पत्थर के बड़े कोल्हू का छोटी-बड़ी पहाड़ियों को पार करने से कम नहीं था। मैं वजन में उनसे डेवढ़ा कम था, लेकिन सौभाग्य से मुझे उस दिन एक भीमकाय आदमी मिल गया था। यहाँ कोई देवता लामा की मदद करने को तैयार मालूम नहीं होता था। कभी-कभी कोई हट्टा-कट्टा आदमी मिलता और किसी तरह दुगुनी-तिगुनी मजूरी पर तैयार किया जाता, तो भी वह एक दिन से ज्यादा नहीं टिकता था। वहाँ घोड़े भी नहीं मिल रहे थे, पगडंडी के रास्ते पर घोड़े मिलने में मुश्किल थी। हम चींटी की चाल से चल रहे थे। लेकिन मैं अब उनके साथ था, इसलिए उकताने की उतनी जरूरत नहीं थी। ऐसे ही चलते-चलते एक दिन हम भोटकोसी के किनारे पहुँचे और फिर तातपानी में। आखिरी परीक्षा की घड़ी सर पर आ ही गई।

तातपानी में गरम पानी का एक चश्मा है, इसीलिए इसे तातपानी कहते हैं। पीछे दो बार मुझे और गुजरना पड़ा, और उस वक्त मैंने गरम पानी के स्नान का खूब आनन्द लिया, लेकिन उस पहिली यात्रा में मैं मैल धोने की फिकर में नहीं था, बल्कि महीनों से उसे जमा करने की कोशिश में था। मेरे साथियों ने वहाँ स्नान किया या नहीं, यह मुझे याद नहीं। तातपानी के पास ही कस्टम (चुंगी, ज़कात) वालों ने सरसरी तौर से हमारी चीजों को देखा, लेकिन वहाँ बेचने-खरीदने की कोई चीज नहीं थी। थोड़ा-सा और आगे बढ़ने पर मामूली चढ़ाई पड़ी और हम नेपाल के सीमान्त की फौजी चौकी पर पहुँच गये। पहरे के सिपाही ने हमें वहीं रोक दिया, और दूसरा सिपाही सूबेदार साहब को बुलाने चला गया। तिब्बत लामा इधर से बहुत आया-जाया करते हैं, इसलिए इसकी जरूरत नहीं, कि बड़ा अफसर खुद आकर लोगों को देखे। मेरे बदन में तो काटने पर भी खून नहीं था। दिल धक-धक कर रहा था। रिन्-छेन और उसके साथी की शकल-सूरत भी हमारे यहाँ के लोगों जैसी थी, लेकिन मुझे यह ख्याल करने का भी दिल नहीं होता था, कि जब उनको पकड़ेंगे तभी मुझको भी पकड़ सकेंगे। मैंने भी अपना नाम छेवङ् और जन्मभूमि का नाम खुन्नू (कनौर रामपुर बुशहर) रख लिया था, लेकिन मैं सोचता था कि चेहरा कैसे छिपेगा। यह इस तरह की पहिली यात्रा थी, इसलिए घबराहट स्वाभाविक थी। सबका नाम लिखा जाने लगा। मैंने भी खुन्नू छेवङ् लिखवा दिया। सबने बतलाया कि हम के-रोङ् के अवतारी लामा के शिष्य हैं। लामाओं की भागेभूत झाड़ने की शक्ति को सभी पहाड़ी मानते हैं, इसलिए हवलदार पर भी उसका प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखाई-पढ़ाई खतम करके हमारे साथ एक आदमी कर दिया, कि पास के गाँव में लामा के ठहरने के लिए अच्छी जगह दिला दे। शायद उस गाँव में वैसे भी अच्छी जगह मिल जाती, क्योंकि वह लोग पन्द्रह आना तिब्बती (भोटिया) थे। उस दिन रात को हम उसी गाँव में रहे, कोठे पर अच्छा लम्बा-चौड़ा

कमरा हमें मिला था। गरम इलाके से हम ऊपर चले आए थे, इसलिए सबके ललाट की सिकुड़न दूर हो गई थी।

नया गाँव आए और वहाँ लामा लम्बी-चौड़ी पूजा न शुरू करें, यह हो नहीं सकता था। डुक्पालामा के इष्ट-देवता ऐसे थे, कि शराब के बिना उनका काम नहीं चल सकता था। और शराब भी जौ या मकई की छङ् (कच्ची शराब) नहीं, बल्कि भट्टी का चुआया अरा (अरक़) चाहिए था। सर्दी का वक्त होने पर उसे मक्खन के साथ बघाड़ा जाता था। उस दिन भी देवता की पूजा में शराब चढ़ी। अब डुक्पालामा की मंडली में भिक्षु ही थे, भिक्षुणी शायद ही एकाध रही हो। हमारी मंडली भी 8, 10 से ज्यादा की नहीं थी। प्रसाद बाँटते समय मेरे सामने भी शराब आई। शराब की घृणा तो मैं कभी छोड़ नहीं सका, और उस वक्त तो अभी ऐसा अवसर नहीं आया था। मैं प्रसाद लेने से इनकार कर सकता था, क्योंकि डुक्पालामा जानते थे, कि मैं वज्रयानी (तांत्रिक) नहीं, हीनयानी बौद्धधर्म का माननेवाला हूँ। खैर, मेरी बेवकूफी पर उन्होंने कुछ मुसकुरा दिया, बात यहीं खतम हो गई।

5

तिब्बत में सवा बरस (1929-30 ई.)

1. ल्हासा की ओर

आगे चन्द ही मीलों के बाद भोटकोसी पर एक लकड़ी का पुल मिला, जिसे पार करके हम तिब्बत की सीमा के भीतर चले गए। अँगरेजी सीमा को तो कुशल-क्षेम से रक्सौल ही में मैंने पार कर लिया था, अब यह दूसरी सीमा भी निकल गई। तिब्बतवालों से मैं कुछ ज्यादा निश्चिन्त था, क्योंकि मैं जानता था कि वह चार-पाँच सौ बरस पुरानी दुनिया में रह रहे हैं। सिर से हजारों मन का बोझ उतरा-सा गया मालूम हुआ। शायद प्राकृतिक सौन्दर्य कुछ और पीछे ही से शुरू हो गया था, लेकिन अब तक मेरी आँखें उसके लिए बन्द-सी थीं, अब मैं आँख भर के पार्वत्य-सौन्दर्य की ओर देखता था। डुक्पालामा अब भी धीरे ही धीरे चल रहे थे। लेकिन मैं आगे 1, 2 फर्लांग बढ़ के किसी चट्टान पर बैठ जाता, और फिर पक्षियों के मधुर कलरव, कोसी की घर्घर ध्वनि और सिर से पैर तक हरियाली से ढँके पहाड़ों को देखता।

बोधगया में अब की बार जब गया था, तो वहाँ एक मंगोल भिक्षु मिला था। वह फिर यहाँ मिल गया। वह रहनेवाला पूर्वी मंगोलिया का था, मगर अब कई सालों से लासा के पास डे-पुङ विहार में रहा करता था। बोधगया में मिलते वक्त मैं तिब्बती नहीं बोल सकता था, लेकिन अब हम लोग खुल करके बात कर सकते थे, इसलिए अब रास्ता मेरे लिए और आनन्द का हो गया था। शाम के वक्त हमें एक गाँव (डम) दिखाई पड़ा, लेकिन गाँव और हमारे बीच में एक नाला था। हम लोगों को यहीं ठहराया गया। डमवाले लोग यहीं पर बाजे-गाजे के साथ डुक्पालामा का स्वागत करना चाहते थे। स्वागत के साथ मक्खन की चाय भी पीनी थी। लदाख में मैंने मक्खन की चाय पी तो थी, लेकिन वह उतनी पसन्द नहीं आई थी; लेकिन अब तो मुझे पूरा भोटिया बनना था, और वह चाय-सत्तू से लेकर सूखे (कच्चे) गोश्त तक पहुँचने से ही हो सकता था। नहाने-धोने की साधना तो मैं पूरा कर चुका था। चाय पीकर हम डम की ओर चले। नाला पार करने के लिए जंजीरों का एक पुल था जो चलने पर काफी हिलता था। गाँव में एक अच्छा घर लामा के ठहरने के लिए ठीक किया गया था। हम लोग वहाँ पहुँचे और मंगोल और मैंने पास-पास में आसन लगा लिये। डुक्पालामा की पूजा उधर कुछ कम हो गई थी, क्योंकि पूजा चढ़ानेवालों की कमी हो गई थी। अब वह फिर भोटिया प्रदेश में चले आए थे, इसलिए लम्बा विधिविधान शुरू होना था। दूसरे दिन सबेरे ही रिन्-छेन ने बतलाया, कि अब तीन दिन तक लामाजी अवलोकितेश्वर का व्रत शुरू करेंगे। मेरे मन ने भी जोर मारा कि व्रत में

अपने को भी शामिल होना चाहिए, क्योंकि इससे उनके और नजदीक आ जाऊँगा। खैर, दो दिन आधा-आधा उपवास और एक दिन पूरा उपवास तो मेरे लिए डर की बात नहीं थी, लेकिन दिनभर साष्टांग दंडवत् करना आसान काम नहीं था, वह पूरी दंड-बैठक थी, और दोपहर बाद मैं उसे छोड़ बैठा।

यहाँ से ञेनम् तीन दिन से ज्यादा का रास्ता नहीं था, लेकिन अब हरेक बस्ती में लामा की भेंट-पूजा के लिए लोग बेकरार थे। और लामा तब तक गाँव छोड़ने के लिए तैयार न थे, जब तक गाँव से एक डलिया-भर चावल या चाँदी का छोटा-सा सिक्का भी आता रहे। मुझे कुछ कुफ्त तो होती थी, लेकिन सन्तोष भी अब बहुत था। रास्ते में एक जगह पर किसी ने नया घर बनाया था, मैं आगे-आगे जाया करता था, शायद मंगोल भिक्षु भी मेरे साथ थे। उस घर में मालिक से जब हमने कहा कि डुक्पारिन् पीछे पधार रहे हैं, तो वह बड़ा खुश हुआ। लामा के आने पर उसने चरण छुए, भेंट चढ़ाई और घर पवित्र करने के लिए कहा। उसके घर में पानी का चश्मा निकल आया था, बेचारे को डर था, कि कहीं नागदेवता आकर न बैठ जायँ। लामा ने मंत्र पढ़कर आशीर्वाद दिया और कहा कि घर में पानी का निकल आना अच्छा सगुन है। पाँच साल बाद दूसरी तिब्बत यात्रा से जब मैं उसी रास्ते लौटा, तो मकान की दीवारें-भर खड़ी रह गई थीं, सचमुच ही उस घर में नागदेवता ने निवास करके ही छोड़ा। आगे हमारा कुछ लम्बा पड़ाव चक्-सम् के गरम चश्मेवाले गाँव में पड़ा। यहाँ भी लामा को अच्छे घर में ठहराया गया। रात को हम लोग पतले बाँस की—जो इधर पहाड़ों में बहुत ज्यादा होता है—मशालवाले थोड़ा नीचे उतरकर गरम कुंड तक पहुँचे। मुझे भी अब हिम्मत हो आई थी, मैंने साबुन की टिकिया निकाली और खूब मल-मलके नहाया, समझ लिया था, कि अब सारी बला चली गई। मेरे साथी सब नंगे ही नहा रहे थे; उस वक़्त मुझे कुछ आश्चर्य हुआ था। यह इसीलिए कि मैंने अभी औरतों को खुले आम नंगा नहाते नहीं देखा था।

आखिर एक दिन हम ञेनम् पहुँच गए। तिब्बती लोग ञेनम् कहते हैं, लेकिन नेपाली कुत्ती कहकर पुकारते हैं। ञेनम् अच्छी मंडी है, नेपालियों की पचीसों बड़ी-बड़ी दूकानें हैं, और एक तरह से सारा ञेनम् ही दूकानों का गाँव है। आजकल नमक का मौसम था, रास्ते में हजारों नेपाली कोई पीठ पर अनाज लिये हुए ञेनम् की ओर जा रहा था और कोई ञेनम् से नमक लेकर लौटा आ रहा था। ञेनम् के बाहर जहाँ-तहाँ भोटिया लोगों के काले तम्बू और काले याक दिखाई पड़ते थे। नेपाली सौदागरों का काम था, नमक और अनाज दोनों को ले लेना, और जिसको जिसकी जरूरत हो, दे देना। इनके अतिरिक्त कपड़ा और दूसरी चीजें भी बिकती थीं। लामा को एक बड़ा-सा मकान रहने के लिए मिला था। नेवार लोगों में पहले ही से अवतारी लामा की प्रसिद्धि थी, और भोटिया भी बहुत जल्दी सिद्ध महात्मा के गुन से परिचित हो गये। चावल, चाँदी का टका, अंडा, मक्खन और चाय के साथ सफेद रेशम की पतली चीट (खाता) दिन-भर चढ़ावे में आता रहता। अंडा तो इतना जमा हो गया था, कि कोई खानेवाला नहीं था। मैंने मक्खन-चूरा और अंडे को देखा, तो भोजन का एक तजरबा करना चाहा। खूब मक्खन डालकर चूरा को भूना और उसमें बहुत-से अंडे और चीनी डाल दी। अच्छा हलवा-सा बन गया। साथियों ने खाकर बड़ी तारीफ की। वह मेरे हाथ की तारीफ कर रहे थे और मैं समझता था कि घी-चीनी पड़ जाय, तो मिट्टी भी अमृत बन सकती है।

इस इलाके का मजिस्ट्रेट यहीं ञेनम् में रहता है। इलाके के अफसरों को तिब्बत में जोङ्पोन् कहते हैं और उसके इलाके को जोङ् कहा जाता है। तिब्बत में छोटे-बड़े 108 जोङ् बतलाये जाते हैं। तिब्बत का शासक एक अविवाहित महन्त (दलाईलामा) होता है, इसलिए सरकार के हरेक विभाग में भिक्षु अफसर भी होते हैं—सेना को छोड़कर। सभी जगह जोड़े अफसर होते हैं, जिनमें एक प्रायः सदा ही भिक्षु होता है। लामा के पास जोङ्पोन् का निमंत्रण आया। मुझे भी चलने के लिए कहा, लेकिन मैंने वहाँ जाना पसन्द नहीं किया। दो-तीन दिन तक तो मैं निश्चिंत बैठ रहा, फिर देखा लामा अभी जाने का नाम नहीं ले रहे हैं, मुमकिन था वह महीनों वहीं रहें, लेकिन मैं इतने दिनों तक कैसे प्रतीक्षा कर सकता था। पता लगा कि, गाँव के पास ही जहाँ पुल से नदी को पार किया जाता है, वहाँ का पहरेदार किसी बाहरी आदमी को आगे नहीं जाने देता, जब तक कि वह जोङ् के हाथ की लिखी राहदारी (लम्-यिक्) न दिखला दे। लम्-यिक् लेने के लिए मैंने इधर-उधर कोशिश

करवाई, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। कुछ नेपाली सौदागर ल्हासा की ओर जा रहे थे, वह आसानी से एक आदमी की और राहदारी ले सकते थे, लेकिन कोई खतरा उठाने के लिए तैयार न था। एक दिन लामा को एक नेपाली सौदागर के घर में पूजा करने के लिए बुलाया गया। आधी रात के बाद पूजा हो रही थी, बीच-बीच में आदमी (खास करके स्त्री) के जाँघ की हड्डी का बाजा बज रहा था, उसके स्वर में एक अजीब तरह की करुणा सुनाई पड़ती। खैर, मेरे ऊपर इन सब चीजों का प्रभाव नहीं पड़ सकता था, क्योंकि मैंने सारे ढोंग को भीतर से देखा था। नेपाली सौदागर की स्त्री भोटिया थी, अभिषेक का जल उसके शिर पर भी डाला गया। नेपाली लोग बरसों के लिए तिब्बत जाते, लेकिन अपने साथ बीवी को नहीं ले जाते। ब्राह्मण राजगुरु पुरुष को तो कुछ रुपया लेकर प्रायश्चित दे देते हैं, लेकिन स्त्री को नहीं; इसीलिए प्रायः हर एक नेपाली को तिब्बत में अलग स्त्री रखनी पड़ती है। नेपाल और भोट सरकार के कानून के मुताबिक बाप की सम्पत्ति में भोटिया लड़के और उसके माँ का कोई अधिकार नहीं है, यह सरासर अन्याय है, क्योंकि दूसरे रूप में यह खुली वेश्यावृत्ति है। उसी सौदागर के यहाँ मैं दिन में गया, तो वहाँ एक लम्बी दाढ़ी-बालवाले हिन्दू साधू को देखा। मैं तो भोटिया वेश में था और बातें भी भोटिया में कर रहा था, इसलिए साधू को मेरे बारे में क्या पता चलता ? मुझे किसी ने बतलाया कि वह तिब्बत जाना चाहता है, यहाँ तक पहुँच गया, अब जोङ्पोन् ने पकड़ लिया है। अब वह ऊपर नहीं जा सकता, नीचे छोड़ने के लिए तैयार हैं, लेकिन कोई जमानत देने वाला नहीं।

जब मैं इस प्रकार सब तरह से निराश हो रहा था, उसी समय मैंने इसका जिक्र अपने मंगोल दोस्त से किया। उसने कहा–"इसमें क्या मुश्किल है, राहदारी मैं ले आता हूँ।" और सचमुच ही वह थोड़ी देर में दो राहदारी लेकर चला आया, जिसमें डेपुङ् विहार के दो भिक्षुओं का नाम था, जो बोधगया दर्शन करके अपने विहार को लौट रहे थे। अब हम सत्तू के देस में घुस रहे थे, फिर पीठ पर बोझा लादे पैदल ही चलना भी था। सत्तू पेट-भर खा सकूँगा, इसमें मुझे सन्देह था, इसलिए चूरा चीनी और कितनी ही चीजें थोड़ी-थोड़ी जमा कीं। मंगोल के पास मन से ज्यादा बोझ था और मेरी पीठ के लिए भी 20, 25 सेर का सामान हो गया था। लामा ने मेरे लिए एक अच्छी चिट्ठी लिख दी, रास्ते के लिए कितनी ही खाने-पीने की चीजें दीं, और दोपहर के बाद हम दोनों चल दिए। हम दोनों ही का भेस ऐसा था, कि जिसको देखकर भिखमंगा छोड़कर और कोई कुछ कह ही नहीं सकता था। मेरा छुपा (चोगा) फटा तो नहीं था, लेकिन उसका लाल रंग बहुत जगह फीका पड़ गया था और कपड़ा भी था टाट-जैसा। पैर का जूता भी उसी के अनुसार था। हाँ, अब वह काटता नहीं था। पीठ पर दो कमानीदार लकड़ियों के बीच में सामान बाँधकर उसे दोनों बाँहों को बाहर निकाले हुए मैंने मोढ़ों में रस्सी से लटका लिया था। हम लोगों के हाथ में एक-एक डंडा भी था। चारों ओर नंगे पहाड़, जिसमें एक तरफ दुनिया का सबसे ऊँचा शिखर गौरीशंकर अपने रुपहले सौन्दर्य को नीले आसमान में प्रतिफलित कर रहा था। दो भिखमंगे पुल पार करके चढ़ाई चढ़ने लगे। मुमकिन है, तुरन्त चढ़ाई नहीं मिली होती, तो थोड़ी देर तक और मैं गौरीशंकर के सौन्दर्य की झाँकी करता, किन्तु वहाँ थोड़ी ही देर में सारी दुनिया कड़वी मालूम होने लगी। मेरा मोढ़ा टूटने लगा, पिंडली फटने लगी, और मंगोल साथी की हँसानेवाली बातें मुझे बुरी लगने लगीं। डेढ़-दो मील जाने के बाद तो मैं उससे बार-बार पूछता कि पड़ाव कहाँ है, यद्यपि अभी अपनी कायरता को बाहर प्रकट करने के लिए तैयार नहीं था। 12, 13 हजार फीट की ऊँचाई पर वैसे ही आक्सीजन की कमी से साँस फूलने लगती है और आदमी जल्दी थक जाता है; फिर मैं तो साथ ही पीठ पर बोझा भी लिये हुए था, मंगोल भिक्षु मेरे कंधे के बराबर भी नहीं था, लेकिन वह कूदता चल रहा था। मैंने उस दिन पहिले अपने नाना को, फिर अपने को बहुत बुरा-भला कहा। मैं समझने लगा कि लड़के को सुकुमार कभी नहीं बनाना चाहिए, उससे पूरा शारीरिक परिश्रम लेना चाहिए। बोझा ढोना, जमीन खोदना यह सबसे अच्छे शारीरिक व्यायाम हैं। भीतर ही भीतर रोता 3, 4 घंटा चलने और बैठने के बाद हम एक बड़े मठ में पहुँचे। तिब्बत के भीतर यह पहिला अच्छा-खासा मठ देखने को मिला। दर्शन वैसे भी करता, लेकिन अब तो उसके बहाने विश्राम करता था। वहाँ के भिक्षु अच्छे थे। हम लोग दर्शन करने गए, और उधर गरमागरम चाय तैयार

होके चली आई। तिब्बत में एक बैठकी में एक प्याले से थोड़े ही काम चलता है। मैं धीरे-धीरे चाय पी रहा था, यह ख्याल करके कि जरा और अबेर हो जाय, जिसमें आगे जाने की बात न आए। डाम् में मुझे एक सुसंस्कृत भोटिया सज्जन मिल चुके थे। वह गोरखा भाषा और थोड़ी-थोड़ी हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारे साथ ही वह ञेनम् तक आए थे। अब पता लगा, कि वह अगले गाँव में ठहरे हुए हैं। उस गाँव का एक लड़का अपने घर लौट रहा था, मंगोल भिक्षु ने कहा कि चलो उसी गाँव में आज रहेंगे। कितना दूर है, पूछने पर बतलाया गया, यही पाव-धाप भर। वहाँ से उठने का मन तो नहीं कर रहा था, लेकिन मंगोल भिक्षु ने लालच दिखाई, उस गाँव में चलेंगे तो उक्त सज्जन की मदद से कोई बोझा ढोनेवाला मिल जायेगा। उठ पड़ा।

अब जो वह धाप बढ़ना शुरू हुआ, तो मालूम नहीं होता था, कि उसका अन्त सौ कोस पर होगा या दो सौ कोस पर। पाँच-छै बार तो "कितना दूर है" मैंने पूछा, लेकिन वही जवाब "अब दूर नहीं"। मैंने फिर बात पूछनी बन्द कर दी, और भीतर ही भीतर घुलने लगा। उन दोनों के पीछे मैं रस्सी से घसीटा हुआ वैसे ही जा रहा था, जैसे कसाई के पीछे गाय। रात के नौ या दस बजे थे, जब हम उस गाँव में पहुँचे। कुशोक् (सज्जन) जिस घर में ठहरे थे, वहाँ पहुँचकर मैंने रस्सी में से बाँह निकाली, और विना बोले ही बिछौने पर चित पड़ गया। मंगोल ने बात बतलाई होगी। कंडे की आग से लोहे की अँगीठी पर थुक्-पा पक रहा था—सत्तू या चावल के साथ मूली, हड्डी और मिल सके तो थोड़ा मांस भी बहुत पतली लेई की तरह घंटों पकाया थुक्-पा कहा जाता है। थुक्-पा तैयार हुआ, तो मैंने भी अपना काठ का प्याला (कटोरा) निकाला और दो-चार प्याले पिए।

कुशोक् लपूची के बड़ तीर्थ को जा रहे थे। ग्यारहवीं सदी में हमारे 84 सिद्धों की परम्परा में तिब्बत में एक बहुत बड़ा सिद्ध पैदा हुआ था, जिसका नाम जे-चुन्-मिला-रेपा है। उसकी बहुत-सी सिद्धियाँ प्रसिद्ध हैं। मिला-रेपा सिद्ध होने के साथ-साथ तिब्बत का सबसे बड़ा कवि है। तिब्बत की सरदी में भी वह एक सूती कपड़े को पहनता था, इसीलिए उसको रेपा—सूती कपड़ेवाला कहते हैं। लपूची में मिला-रेपा कई वर्षों तक रहा था, इसीलिए उसे आजकल वहुत बड़ा तीर्थ मानते हैं। डुक्पालामा भी अपना अन्तिम जीवन विताने के लिए वहीं जा रहे थे। हमारे कुशोक् भी लपूची के रास्ते में थे। उन्होंने मंगोल भिक्षु को भी चलने के लिए कहा। उसके मुँह में पानी भर आया। जब उसने मेरी राय पूछी, तो पहिले मैंने चलने में अपने को असमर्थ बतलाया, लेकिन कुशोक् ने यह कहके मेरा मुँह बन्द कर दिया, कि सामान दूसरा आदमी अपनी पीठ पर ले चलेगा। मैं समझता था, कि हम रास्ते से बेरास्ते जा रहे हैं और एक की जगह दो बड़ी-बड़ी ऊँची जोतें (डाड़ें, ला) पार करने होंगे। लपूची के आगे बोझा ढोनेवाला कोई मिलेगा, इसकी भी आशा नहीं थी। लेकिन अब 'नहीं' कहने का मतलब था अपने को अश्रद्धालु प्रकट करना, इसलिए मौन रहकर स्वीकृति देने के सिवा कोई चारा न था।

दूसरे दिन हम लपूची की ओर चले। पीठ खाली रहने से चलने में कोई दिक्कत नहीं थी, सिर्फ एक जगह रास्ता पहाड़ के ऊपर से नीचे की ओर बहती पथरीली मिट्टी की धार पर से था; वहाँ मेरा रोंगटा खड़ा होने लगा। मैंने तीन साल पहिले लदाख से लौटते वक्त ऐसी ही एक बड़ी धार पार की थी। सोचने लगा, इस रास्ते में न जाने कितनी ऐसी धारें मिलेंगी। सबसे पीछे छूटा देखकर लोग मुझे हाथ पकड़कर पार कराना चाहते थे, लेकिन मैं अपने आत्माभिमान को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था और जी पर खेल कर उस पार चला गया।

जब जोत चार-पाँच मील रह गई तो वहीं रात को ठहरने का विचार हुआ, क्योंकि आगे चाय पकाने के लिए सूखे कंडे भी न मिलते और सर्दी भी अधिक पड़ती, संभव है बर्फ भी मौजूद होती। कुशोक् की रावटी (छोलदारी) तान दी गई, लोगों ने जहाँ-तहाँ से याक के सूखे गोबर को जमा किया। अभी आग जला के भाथी का धोंकना शुरू नहीं हुआ था कि रुई के बड़े-बड़े फाहे की तरह बरफ पड़ने लगी। शायद मैंने यह पहिली बार बरफ को आसमान से पड़ते देखा था। बरफ बराबर पड़ती गई, वहुत मुश्किल से हम लोग चाय पका सके। चाय को चोङी में सोडा-नमक-मक्खन मिलाकर कूटने के लिए गुंजाइश नहीं थी। लोगों के प्यालों में

चाय के ऊपर थोड़ा-थोड़ा मक्खन डाल दिया गया। हम लोगों ने उस दिन चिउरा खाया और कुछ प्याले चाय के पिए। कुशोक् के पास लालटेन थी, उन्होंने धर्म-चर्चा करने के लिए कहा। मेरे पास शान्तिदेव की 'बोधिचर्या' संस्कृत में थी। कुशोक् को श्लोक तिब्बती अनुवाद में याद थे। मैं संस्कृत श्लोक पढ़कर टूटी-फूटी भाषा में कुछ भावार्थ कहता, इस पर वह तिब्बती श्लोक को बोल जाते और चार-पाँच की श्रोतृमंडली के लिए व्याख्या भी कर देते थे। बड़ी रात तक हमारी चर्चा रही, बरफ वैसी ही पड़ती जा रही थी। रावटी पर जब ज्यादा बरफ जमा होती, तो झटककर उसे गिरा दिया जाता। मेरे शरीर में अभी तक जूएँ नहीं पड़ी थीं, लेकिन अब उसी छोटी-सी रावटी के भीतर पाँच-छै आदमी सट-सटकर सोये थे। रात को मालूम होने लगा, कि शरीर में सैंकड़ों चींटियाँ काट रही हैं। जब हमने खाने में बाँट-चोंट लगाई थी, तो जूओं में भी लगाना चाहिए। सबेरे उठकर देखा, तो चारों ओर जमीन हाथ-हाथ भर मोटी बरफ से ढँकी थी। मेरे कहने से कुछ पहिले ही लोब्ज़ङ्-शेरब् मंगोल भिक्षु ने आकर कहा–जब यहाँ इतनी बरफ है, तो और ऊपर चढ़ने पर तो वह और ज्यादा होगी। मैंने कहा–फिर क्या सलाह है ? उन्होंने कहा–लपूची का इरादा छोड़ देना चाहिए। मैंने दो-एक मजाक किये, और उनसे सहमत तो था ही। लोब्ज़ङ्-शेरब् का अर्थ है सुमतिप्रज्ञ, सुमतिप्रज्ञ या सुमति कहने से पाठकों को नाम ज्यादा याद रहेगा, इसलिए आगे मैं मंगोल भिक्षु को इसी नाम से पुकारूँगा।

सुमति ने कुशोक् से लौट चलने के लिए कहा। वह ख़ुद तो जाने का निश्चय कर चुके थे, इसलिए क्यों लौटने लगे; लेकिन हम लोगों को विदाई दे दी। कुछ घंटों में लौटकर हम उसी गाँव में चले आए। और अब की गोवा (गाँव के मुखिया) के घर में ठहरे। रात को मालूम हुआ कि कुशोक् और उनके आदमी भी भूल-भटक के लौट आए। बरफ में कोई रास्ता नहीं मालूम हुआ और आदमियों के पास काले चश्मे भी नहीं थे, इसलिए वह हिमांध हो गए थे। हम दोनों ने अपने भाग्य को सराहा।

सुमति कई सालों से हर जाड़े में बोधगया के तीर्थ करने आते थे, और रास्ते में गंडा और दूसरा प्रसाद देते यजमानों से दक्षिणा वसूल करते लौटते थे। उन्हें पढ़ने-वढ़ने से कोई वास्ता नहीं था। साल के 9 महीने तो यात्रा में कट जाते थे और इसी में कुछ पैसे भी मिल जाते थे, जिन्हें वह डेपुङ् विहार में रहकर खाते थे और फिर नई यात्रा शुरू कर देते थे। उन्होंने गोवा से चिरौरी-मिनती करके दूसरे दिन के लिए एक आदमी कर लिया। सामान उसकी पीठ पर रखकर हम चल पड़े। और अगले गाँव में–जो मुख्य रास्ते पर था–वहाँ के गोवा के घर में पहुँच गए। उस घर में दो ही परानी थे, एक 25 वर्ष का जवान और एक बयालीस-तैंतालीस की बुढ़िया। हमें आज यहीं रहना था। एक तो आगे के लिए हम कोई भरिया (भारवाहक) लेना चाहते थे, दूसरे सुमति के इस गाँव में कुछ यजमान थे, जिन्हें कपड़े का गंडा और प्रसाद बाँटना था। तिब्बत में लोग तो नहाते साल-दो-साल बाद ही हैं, लेकिन मरदों और औरतों दोनों के लम्बे-लम्बे बालों में तेल डालने और झाड़कर बाँधने की जरूरत हर महीने-दो महीने पड़ती है। गृहपत्नी का आज शृंगार का दिन था। यहाँ की औरतों का शृंगार और भी मुश्किल है। बालों को दो फाँक कर दो चोटियाँ बनाना और फिर बाँस की कमानी पर लाल कपड़ा और क्षमता के अनुसार मोती-मूँगा-फिरोजा लपेटे धनुष को शिर पर दोनों चोटियों के सहारे खड़ा करना पड़ता है। गृहपत्नी का शृंगार जवान कर रहा था। माँ का शृंगार कर रहा हो, इसमें कोई अचरज नहीं, और इसीलिए मैंने सुमति से पूछा कि ये दोनों माँ-बेटे हैं ? मेरी आवाज़ कुछ शायद ऊँची थी, सुमति ने मेरे हाथ को दबाया और कान में कहा–"चुप, दोनों पति-पत्नी हैं।" मैंने पढ़ा तो था कि तिब्बत में बड़े भाई की शादी होती है और वही सभी की पत्नी होती है–कितने ही छोटे पति तो ब्याह के बाद भी पैदा होते हैं; क्योंकि सगे भाइयों की एक ही पत्नी हो सकती है। लेकिन किताब पढ़ने से काम थोड़े ही चलता है, आँखों देखने से विश्वास होता है।

सुमति गाँव में घूम-घाम आए, फिर मुझे साथ चलने के लिए कहा। तिब्बत के बड़े-बड़े कुत्ते बड़े ही खतरनाक होते हैं। मैं बाहर निकलने की हिम्मत नहीं करता था, लेकिन सुमति अपना डंडा लिए हुए गाँव-भर घूमा करते थे। मैंने पूछा–कहाँ चलना है ? बोले–एक धनी गृहस्थिन के सन्तान नहीं है, उसके लिए एक तावीज लिख देना है। कुछ भी लिख देना, जो तीर लग गया तो हर यात्रा में मक्खन, मांस, सत्तू और कुछ पैसे का

बन्धान हो जायगा।

मित्र के लिए इतनी सहायता कोई बड़ी चीज नहीं थी, मैं उनके पीछे-पीछे चल पड़ा। घर पर पहुँचा। सीढ़ियों से ऊपर चढ़ना था और सीढ़ी की बगल में ही एक खूँख्वार कुत्ता लोहे की जंजीर से बँधा था। वह हाँव-हाँव करने लगा। खैर, एक औरत आकर अपने कपड़े से कुत्ते के मुँह को ढाँककर बैठ गई। हम लोग ऊपर चले गए। डेढ़ बालिश्त ऊँचे मोटे गद्दे का आसन पड़ा हुआ था, सामने चाय की पतली चौकी रखी थी, हम दोनों बैठ गए। गृहपत्नी ने लाकर प्याले में चाय डालना शुरू किया। सुमति ने कागज-पत्र मँगवाया। वह कागज-पत्र लेने गई, मैंने पूछा–"किसके लिए तावीज लिखवा रहे हो ?" उन्होंने कहा–"यही तो गृहपत्नी है।" मैंने आश्चर्य के साथ कहा–"इस बावन बरस की बुढ़िया को तुम पुत्र देने जा रहे हो !" सुमति ने धीरे बोलने के लिए इशारा करते हुए कहा–"हमारा क्या जाता है, कुछ सत्तू-मक्खन तो मिलेगा ही।" मैंने तावीज लिख दी। पुत्र हुआ कि नहीं, इसकी बात सुमति जानें। सुमति स्तोत्र की पुस्तकें, कुछ टो-टाके पढ़ लेते थे, लेकिन उन्हें लिखना नहीं आता था। आगे के लिए गोवा ने हमें आदमी दिया। वह नेपाल से तिब्बत जाने का मुख्य रास्ता है। फरी-कलिङ्पोङ् का रास्ता जब नहीं खुला था, तो नेपाल ही नहीं हिन्दुस्तान की भी चीजें इसी रास्ते तिब्बत जाया करती थीं। यह व्यापारिक ही नहीं सैनिक रास्ता भी था, इसीलिए जगह-जगह फौजी चौकियाँ और किले बने हुए हैं, जिनमें कभी चीनी पलटन रहा करती थी। आजकल बहुत-से फौजी मकान गिर चुके हैं। दुर्ग के किसी भाग में, जहाँ किसानों ने अपना बसेरा बना लिया है, वहाँ घर कुछ आबाद दिखाई पड़ते हैं। ऐसा ही परित्यक्त एक चीनी किला था। हम वहाँ चाय पीने के लिए ठहरे। तिब्बत में यात्रियों के लिए बहुत-सी तकलीफें भी हैं, और कुछ आराम की बातें भी। वहाँ जाति-पाँति, छुआ-छूत का सवाल ही नहीं है और न औरतें परदा ही करती हैं। बहुत निम्नश्रेणी के भिखमंगों को लोग चोरी के डर से घर के भीतर नहीं आने देते; नहीं तो आप बिलकुल घर के भीतर चले जा सकते हैं। चाहे आप बिलकुल अपरिचित हों, तब भी घर की बहू या सासु को अपनी झोली में से चाय दे सकते हैं। वह आपके लिए उसे पका देगी। मक्खन और सोडा-नमक दे दीजिए, वह चाय चोङी में कूटकर उसे दूधवाली चाय के रंग की बना के मिट्टी के टोटीदार बरतन (खोटी) में रखके आपको दे देगी; यदि बैठक की जगह चूल्हे से दूर है और आपको डर है, कि सारा मक्खन आपकी चाय में नहीं पड़ेगा, तो आप खुद जाकर चोङी में चाय मथकर ला सकते हैं–चाय का रंग तैयार हो जाने पर फिर नमक-मक्खन डालने की जरूरत होती है।

परित्यक्त चीनी किले से जब हम चलने लगे, तो एक आदमी राहदारी माँगने आया। हमने वह दोनों चिटें उसे दे दीं। शायद उसी दिन हम थोङ्ला के पहले के आखिरी गाँव में पहुँच गए। यहाँ भी सुमति के जान-पहचान के आदमी थे, और भिखमंगे रहते भी ठहरने के लिए अच्छी जगह मिली। पाँच साल बाद हम इसी रास्ते लौटे थे और भिखमंगे नहीं, एक भद्र यात्री के वेश में घोड़ों पर सवार होकर आए थे; किन्तु उस वक्त किसी ने हमें रहने के लिए जगह नहीं दी, और हम गाँव के एक सबसे गरीब झोंपड़े में ठहरे थे। बहुत कुछ लोगों की उस वक्त की मनोवृत्ति पर ही निर्भर है, खासकर शाम के वक्त छङ् पीकर बहुत कम होश-हवास को दुरुस्त रखते हैं।

अब हमें सबसे विकट डाँड़ा थोङ्ला पार करना था। डाँड़े तिब्बत में सबसे खतरे की जगहें हैं। सोलह-सत्रह हजार फीट की ऊँचाई होने के कारण उनकी दोनों तरफ मीलों तक कोई गाँव-गिराँव नहीं होते। नदियों के मोड़ और पहाड़ों के कोनों के कारण बहुत दूर तक आदमी को देखा नहीं जा सकता। डाकुओं के लिए यही सबसे अच्छी जगह है। तिब्बत में गाँव में आकर खून हो जाय, तब तो खूनी को सजा भी मिल सकती है, लेकिन इन निर्जन स्थानों में मरे हुए आदमियों के लिए कोई परवाह नहीं करता। सरकार खुफिया-विभाग और पुलिस पर उतना खर्च नहीं करती और वहाँ गवाह भी तो कोई नहीं मिल सकता। डकैत पहिले आदमी को मार डालते हैं, उसके बाद देखते हैं कि कुछ पैसा है कि नहीं। हथियार का कानून न रहने के कारण यहाँ लाठी की तरह लोग पिस्तौल, बन्दूक लिये फिरते हैं। डाकू यदि जान से न मारे तो खुद उसे अपने प्राणों का खतरा है। गाँव में हमें मालूम हुआ, कि पिछले ही साल थोङ्ला के पास खून हो गया। शायद खून की

हम उतनी पर्वाह नहीं करते, क्योंकि हम भिखमंगे थे, और जहाँ-कहीं वैसी सूरत देखते, टोपी उतार जीभ निकाल, "कुची-कुची (दया-दया) एक पैसा" कहते भीख माँगने लगते। लेकिन पहाड़ की ऊँची चढ़ाई थी, पीठ पर सामान लादकर कैसे चलते ? और अगला पड़ाव 16, 17 मील से कम नहीं था। मैंने सुमति से कहा कि यहाँ से लङ्कोर तक के लिए दो घोड़े कर लो, सामान भी रख लेंगे और चढ़े चलेंगे।

दूसरे दिन हम घोड़ों पर सवार होकर ऊपर की ओर चले। डाँड़े से पहिले एक जगह चाय पी और दोपहर के वक्त डाँड़े के ऊपर जा पहुँचे। हम समुद्रतल से 17, 18 हजार फीट ऊँचे खड़े थे। हमारी दक्खिन तरफ पूरब से पच्छिम की ओर हिमालय के हजारों श्वेत शिखर चले गए थे। भीटे की ओर दीखने वाले पहाड़ बिलकुल नंगे थे, न वहाँ बर्फ की सफेदी थी, न किसी तरह की हरियाली। उत्तर की तरफ बहुत कम बरफ वाली चोटियाँ दिखाई पड़ती थीं। सर्वोच्च स्थान पर डाँड़े के देवता का स्थान था, जो पत्थरों के ढेर, जानवरों की सींगों, और रंग-बिरंगे कपड़े की झंडियों से सजाया गया था। अब हमें बराबर उतराई पर चलना था। चढ़ाई तो कुछ दूर थोड़ी मुश्किल थी, लेकिन उतराई बिलकुल नहीं। शायद दो-एक और सवार साथी हमारे साथ चल रहे थे। मेरा घोड़ा कुछ धीमे चलने लगा। मैंने समझा कि चढ़ाई की थकावट के कारण ऐसा कर रहा है, और उसे मारना नहीं चाहता था। धीरे-धीरे वह बहुत पिछड़ गया, और मैं दोन्क्विक्स्तो की तरह अपने घोड़े पर झूमता हुआ चला जा रहा था। जान नहीं पड़ता था, कि घोड़ा आगे जा रहा है या पीछे। जब मैं जोर देने लगता, तो वह और सुस्त पड़ जाता। एक जगह दो रास्ते फूट रहे थे, मैं बाएँ का रास्ता ले मील-डेढ़ मील चला गया। आगे एक घर में पूछने से पता लगा, कि लङ्कोर का रास्ता दाहिनेवाला था। फिर लौटकर उसी को पकड़ा। चार-पाँच बजे के करीब मैं गाँव से मील-भर पर था, तो सुमति इन्तजार करते हुए मिले। मंगोलों का मुँह वैसे ही लाल होता है, और अब तो वह पूरे गुस्से में थे। उन्होंने कहा—"मैंने दो टोकरी कण्डे फूँक डाले, तीन-तीन बार चाय को गर्म किया।" मैंने बहुत नरमी से जवाब दिया—"लेकिन मेरा कसूर नहीं है मित्र ! देख नहीं रहे हो, कैसा घोड़ा मुझे मिला है। मैं तो रात तक पहुँचने की उम्मेद रखता था।" खैर, सुमति को जितनी जल्दी गुस्सा आता था, उतनी ही जल्दी वह ठंडा भी हो जाता था। लङ्कोर में वह एक अच्छी जगह पर ठहरे थे। यहाँ भी उनके अच्छे यजमान थे। पहिले चाय-सत्तू खाया गया, रात को गरमागरम थुक्पा मिला।

अब हम तिङ्री के विशाल मैदान में थे, जो पहाड़ों से घिरा टापू-सा मालूम होता था, जिसमें दूर एक छोटी-सी पहाड़ी मैदान के भीतर दिखाई पड़ती है। उसी पहाड़ी का नाम है तिङ्री-समाधि-गिरि। आसपास के गाँव में भी सुमति के कितने ही यजमान थे, कपड़े की पतली-पतली चिरी बत्तियों के गंडे खतम नहीं हो सकते थे, क्योंकि बोधगया से लाए कपड़े के खतम हो जाने पर किसी कपड़े से बोधगया का गण्डा बना लेते थे। वह अपने यजमानों के पास जाना चाहते थे। मैंने सोचा, यह तो हफ्ता-भर उधर ही लगा देंगे। मैंने उनसे कहा कि जिस गाँव में ठहरना हो, उसमें भले ही गण्डे बाँट दो, मगर आसपास के गाँवों में मत जाओ; इसके लिए मैं तुम्हें ल्हासा पहुँचकर रुपये दे दूँगा। सुमति ने स्वीकार किया। दूसरे दिन हमने भरिया ढूँढ़ने की कोशिश की, लेकिन कोई न मिला। सबेरे ही चल दिये होते तो अच्छा था, लेकिन अब 10, 11 बजे की तेज धूप में चलना पड़ रहा था। तिब्बत की धूप भी बहुत कड़ी मालूम होती है, यद्यपि थोड़े-से भी मोटे कपड़े से शिर को ढाँक लें, तो गर्मी खतम हो जाती है। आप 2 बजे सूरज की ओर मुँह करके चल रहे हैं, ललाट धूप से जल रहा है, और पीछे का कन्धा बर्फ हो रहा है। फिर हमने पीठ पर अपनी-अपनी चीजें लादीं, डंडा हाथ में लिया, और चल पड़े। यद्यपि सुमति के परिचित तिङ्री में भी थे, लेकिन वह एक और यजमान से मिलना चाहते थे, इसलिए आदमी मिलने का बहाना कर शेकर विहार की ओर चलने के लिए कहा। तिब्बत की जमीन बहुत अधिक छोटे-बड़े जागीरदारों में बँटी है। इन जागीरों का बहुत ज्यादा हिस्सा मठों (विहारों)—के हाथ में है। अपनी-अपनी जागीर में हरेक जागीरदार कुछ खेती खुद भी कराता है, जिसके लिए मजदूर बेगार में मिल जाते हैं। खेती का इन्तजाम देखने के लिए वहाँ कोई भिक्षु भेजा जाता है, जो जागीर के आदमियों के लिए राजा से कम नहीं होता। शेकर की खेती के मुखिया भिक्षु (नम्से) बड़े भद्र पुरुष थे। वह बहुत प्रेम से मिले, हालाँकि उस वक्त मेरा भेष ऐसा नहीं था कि उन्हें कुछ भी ख्याल करना चाहिए था। यहाँ एक अच्छा मन्दिर

था; जिसमें कन्जुर (बुद्धवचन–अनुवाद) की हस्तलिखित 103 पोथियाँ रखी हुई थीं, मेरा आसन भी वहीं लगा। वह बड़े मोटे कागज पर अच्छे अक्षरों में लिखी हुई थीं, और एक-एक पोथी 15, 15 सेर से कम नहीं रही होगी। सुमति ने फिर आसपास अपने यजमानों के पास जाने के बारे में पूछा, मैं अब पुस्तकों के भीतर था, इसलिए मैंने उन्हें जाने के लिए कह दिया। दूसरे दिन वह गए। मैंने समझा था, 2, 3 दिन लगेंगे, लेकिन वह उसी दिन दोपहर बाद चले आए। तिङ्री गाँव वहाँ से बहुत दूर नहीं था। हमने अपना-अपना सामान पीठ पर उठाया और भिक्षु नम्से से विदाई लेकर चल पड़े।

तिङ्री में भूतपूर्व जोङ्पोन् सुमति का परिचित था। जब उन्होंने जोङ्पोन् कें घर चलने को कहा, तो मुझे बहुत डर लगा। मैंने और जगह ठहरने के लिए कहा, लेकिन मेरा साथी बोला–कोई हरज नहीं, वह तुम्हें नहीं पहचान सकेगा। बाहर के आँगन में जंजीर से बँधे कुत्तों ने हाँव-हाँव से स्वागत किया। हम भीतर के आँगन में जैसे ही पहुँचे, तैसे ही गृहपति स्वयं उठकर मुस्कुराते हुए बोले–"ओ हो सोग्पो गेलोङ् (मंगोल भिक्षु) और यह लदापा (लदाखी) भी।" वह अपने हाथ से हमारे पीठ के बोझे को उतारकर जमीन पर रखने लगे। वहीं आँगन में आसन बिछा दिया गया और सूखा मांस-सत्तू और चाय तुरन्त हमारे सामने चली आई। अभी सूखा मांस खाने की तैयारी में मेरे काफी दिन लगने थे, लेकिन चाय पीने लगा। अब तक मैं अपने को खुनूपा (कनौरवाला) कहता था, लेकिन दो-तीन जगह लोगों को खुद लदापा कहते सुनकर मैंने भी अब अपने को लदापा कहने का निश्चय किया। गृहपति सुमति से रास्ते के बारे में पूछते रहे। उनकी चाम-कुशो (भद्र महिला) भी सुमति से परिचित थीं। दोनों ही हमारे स्वागत के लिए तैयार थे। मेरा डर जाता रहा। मैं समझता था कि वह अब भी जोङ्पोन् हैं, लेकिन जोङ्पोन् का पद छोड़े उन्हें काफी समय हो गया था और अब वह एक खासे व्यापारी थे। वह रहनेवाले तो ल्हासा के थे, लेकिन अब ज्यादातर यहीं तिङ्री में रहते थे। यहाँ वह एक अच्छे-खासे अमीर की तरह रहते थे, लेकिन कितने ही महीने बाद मैंने जब ल्हासा में देखा, तो वे बहुत मामूली कपड़े में थे।

शाम के वक्त वर्तमान जोङ्पोन् (मजिस्ट्रेट) भी उस घर में आया–शाम के 5 बजे से ही तिब्बत में छङ् का समय हो जाता है। उसे चाँदी के प्याले में छङ् प्रदान की गई, लेकिन वह खड़े ही खड़े दो-एक प्याला पीकर चला गया। सूर्यास्त के समय गृहपति ने अपनी वीणा (एक तारा और वीणा के बीच का बाजा) उठाई और पत्नी को साथ लिये सुमति से कहा–अब तो मैं चला नृत्य-गोष्ठी में, और तुम नौकरों से जिस चीज की जरूरत हो, माँग लेना। अमीरों के घरों में शाम के वक्त पान और नृत्य-गान खूब चलता है। वहाँ अमीरज़ादियाँ और बड़े-बड़े घरों की औरतें भी खुलेआम नाचने में कोई लज्जा नहीं करतीं। रात को हम लोगों के सोने का इंतिजाम रसोईघर में हुआ। तिब्बत में लकड़ी जलाने के लिए बहुत कम मिलती है, इसलिए लेंडी और उपले ईंधन का काम देते हैं। रास्ते चलते भी आदमी को आग जलाने के लिए भाथी की जरूरत पड़ती है, तो रसोईघर की बात ही क्या। चूँकि सभी भाइयों की एक ही पत्नी होती है और लड़कियों की संख्या लड़कों से कम नहीं, इसलिए बहुत-सी स्त्रियों को आजन्म कुँआरी रह जाना पड़ता है। स्त्रियाँ ज्यादातर बाल कटाकर साधुनी हो जाती हैं। कोई भिक्षुणियों के मठ में रहने चली जाती हैं, कितनी ही माँ-बाप के घर में रहती हैं और कुछ गरीब घरों की लड़कियाँ किसी अमीर के यहाँ परिचारिका का काम करती हैं। उस घर में तीन परिचारिकाएँ थीं। एक दश-ग्यारह साल की छोटी लड़की, एक षोडशी और तीसरी थी साधुनी रसोइया। साधुनी को अनी कहा जाता है, यह मैं कह आया हूँ। अनी की उमर 30, 35 की होगी। उसका मुँह और हाथ बिल्कुल कोयले जैसा काला था। काले मुँह के भीतर से लाल किनारीवाली सफेद-काली आँखें डरावनी-सी मालूम होती थीं। सचमुच ही हमारे यहाँ का कोई लड़का जो उसे रात को देखता, तो जरूर डर के मारे उसे बुखार आ जाता। वर्षों से उसने स्नान ही नहीं छोड़ दिया था, बल्कि मैल, कालिख, जो कुछ भी हाथ में आता वह उसे बदन पर लपेटती जा रही थी। मक्खन तेल की भी, मालूम होता है, पालिश कर लेती थी, इसीलिए काले मुँह में भी एक तरह की चमक थी। कभी ख्याल आता था, कि वह इन्हीं गन्दे हाथों से खाना पकाती होगी, लेकिन जब कलछी से थुक्पा निकालकर उसने मेरे प्याले में डाला, तो पीते वक्त मुझे कोई उबकाहट नहीं आई। बहुत

काफी रात गए गृहपति बाजा किन-किन करते लौटे और हल्की-सी शराबी की आवाज में सुमति से खाने-पीने के बारे में पूछकर सोने चले गए। हम बहुत रात तक थुक्पा पीना समाप्त कर सके। मैं सोने की जगह का ख्याल कर रहा था। मालूम हुआ कि इसी रसोईघर में सोना है। खैर इस वक्त अब चूल्हा जलनेवाला नहीं था, इसलिए धुएँ का डर नहीं था। दीवार के सहारे चबूतरे-से बने थे। मैंने आसन लगाया, मेरे सिरहाने हम दोनों के शिर को इकट्ठा रखते हुए सुमति ने आसन लगाया। षोड्शी का आसन उनके पैरों के पास था। मेरे पैरों के पास छोटी लड़की ने बिस्तरा लगा दिया। काली माई ने भी एक कोने में अपना बिछौना डाल दिया। यद्यपि यह गर्मी का वह महीना था, जब कि आदमी भारत में दिन-रात पसीने-पसीने रहा करता है, लेकिन तेरह हजार फीट ऊँची जगह में गर्मी का क्या पता होगा ? वहाँ तो माघ-पूस का सख्त जाड़ा था, लेकिन अब मैं जाड़े से अभ्यस्त होता जा रहा था, इसलिए मुझे वह उतना मालूम नहीं होता था। चिराग टिमटिमा रहा था, तभी सबने अपना-अपना कपड़ा उतारा। हाँ, इतना जरूर था, कि उन्होंने कपड़े को अलग करके दिगंबरी का रूप धारण नहीं किया। सोने के पहिले तिब्बत के बौद्ध स्त्री-पुरुष कुछ प्रार्थना वाक्य बोलकर अपने ही सिरहाने की ओर मुँह करके बुद्ध और गुरु को दण्डवत् करते हैं। सुमति ने भी किया; षोडशी ने भी, और शायद बाकी दो ने भी। मैंने दण्डवत् नहीं की, यद्यपि यह उचित नहीं था। डुक्पालामा के यहाँ अपने को सिंहल वाले धर्म का कहकर मैं बच सकता था, लेकिन यहाँ कोई बहाना नहीं हो सकता था। वस्तुतः मैं स्वाभाविक अभिनेता नहीं हूँ, इसीलिए अपने पार्ट को पूरी तरह से अदा नहीं कर पाता था।

मैंने तो सोचा था कि जहाँ इतना स्वागत हुआ है, सुमति इतना जल्दी चलने के लिए तैयार नहीं होंगे, लेकिन तड़के ही उन्होंने सूचित किया—हमें चलना है। गृहपति ने हमें कुछ खाने-पीने की चीजें दीं, और हम चाय पीकर तिङ्री से रवाना हुए। थोड़ी ही दूर चलने पर मैदान छूट गया, और हम दाहिने ओर के पहाड़ के साथ-साथ चलने लगे। जमीन बहुत कुछ समतल थी। पहिले दिन जैसा कन्धा कट तो नहीं रहा था, लेकिन मैं आराम से नहीं चल रहा था। मेरा बोझा आमदनी-खर्च मिलाकर बराबर हो गया था। कई मील चलने के बाद हम एक गाँव में पहुँचे। अभी दोपहर था, हम लोग चाय पीने के लिए एक घर में चले गए। चाय बनी, सत्तू खाया और घर की औरतों से तीर्थों की बात छिड़ गई। मैं भी चाहता था, कि सुमति बात में खूब लग जायें, क्योंकि थकावट के मारे अब मैं और आगे चलना नहीं चाहता था। सुमति सचमुच ही बात में फँस गए और जब 3, 4 बजने का वक्त आया तो फिर चलने के लिए बोले; लेकिन तिब्बत के गाँव 5-5, 7-7 मील से कहीं कम दूरी पर नहीं होते; मैंने देर होने की बात कहकर आज वहीं रहने के लिए कहा, सुमति भी मान गए। हमने समझा था, कि जिस घर में हमने चाय पी है, वहीं एक कोने में सोने की जगह भी मिल जायेगी। लेकिन मालूम होता है, शाम को खेतों और भेड़-बकरियों में से घर के और प्रभावशाली व्यक्ति आ गए थे, इसलिए दिन का परिचय कोई काम नहीं आया और हमें दूसरी जगह जाने के लिए कहा गया। डमूबा छोटा-सा गाँव था। जब हम जाने में हिचकिचा रहे थे, तो आदमी ने गाँव के भीतर की धर्मशाला के बारे में बतला दिया। धर्मशाला क्या, दो छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें एक में किसी ने भुस भर रखा था, दूसरी कोठरी में हम लोगों ने अपना आसन लगाया। लेकिन सुमति बहुत घबराये हुए थे। मैं समझाने की कोशिश करने लगा तो बोले—"तुम्हें मालूम नहीं, इस गाँव में सारे कुमा बसते हैं। (कुमा चोर और डाकू दोनों के लिए कहा जाता है)। उन्होंने इसीलिए हमें बाहर निकाल दिया कि रात को मारकर जो कुछ मिले छीन लें।" मैंने कहा—"हमारे पास क्या है; जो वह छीन लेंगे (मेरे पास डेढ़ सौ से ऊपर के नोट कहीं बँधे हुए थे) ?" सुमति ने जवाब दिया—"पहिले तो वह अपनी लम्बी तलवार से दो टूक कर देंगे, फिर सत्तू-वत्तू जो कुछ मिलेगा, उसे ले जाएँगे। वहाँ खून होने पर कोई गवाह नहीं मिल सकेगा, इसीलिए हमें यहाँ भेज दिया है।" किसी तरह उनको शान्त न होते देख मैंने कहा कि—जाइए, ठहरने के लिए किसी का घर ढूँढ़ आइए। वह एक गरीब बुढ़िया से बात ठीक कर आए और अँधेरा हो रहा था, जब हम अपना सामान लेकर बुढ़िया के घर में चले गए। तिङ्री से चलने के बाद मैं अब निर्भय हो गया था, मुझे अपने लदाखी होने पर पूरा विश्वास था। बुढ़िया के घर में बीच में कण्डे की अँगीठी पर चाय पक रही थी। उसके किनारे बुढ़िया और दो आदमी और बैठे हुए थे।

हम भी जाकर आग के किनारे बैठ गए। उन्होंने सुमति से यात्रा के बारे में कुछ पूछा, ङमूबा के सामने चिबरी का अत्यन्त पवित्र पहाड़ था, जिसकी परिक्रमा में 108 मन्दिर बतलाए जाते हैं। चित्रकूट के कामतानाथ से भी ज्यादा पवित्र इस पहाड़ को तिब्बती श्रद्धालु भगत मानते हैं। आजकल यात्रा का समय था। दूर-दूर के यात्री परिक्रमा के लिए आये हुए थे। बहुत-से उग्र भक्त तो अपने शरीर से नापते हुए परिक्रमा करते हैं। मुझे ख्याल नहीं, बुढ़िया के पास बैठे दोनों ढावा (साधू) दण्डवत् करते हुए परिक्रमा कर रहे थे, या साधारण। उन्होंने चिबरी का थोड़ा-सा महातम कहा और यह भी कि अब की साल यात्री ज्यादा आए हैं। सुमति ने कहना शुरू किया, तब तो हमें भी परिक्रमा करने के लिए चलना चाहिए। लपूची की तरह मामला कहीं और आगे न बढ़ जाए, इसलिए मैंने एक साङ् (तीन-चार आना) पैसा ढावा के सामने रखकर हाथ जोड़कर कहा—"हमारी ओर से भी आप चिबरी धाम को प्रणाम कर देंगे और यह पैसा वहाँ चढ़ा देंगे। हम दोनों को जल्दी ल्हासा पहुँचना है, इसलिए अबकी बार परिक्रमा नहीं कर सकते, दूसरी बार जरूर आएँगे।" सुमति को पसन्द तो नहीं आया होगा, लेकिन उन्होंने बात और आगे नहीं बढ़ाई।

सबेरे फिर हम पीठ पर सामान लिये चल पड़े। अगला गाँव मेमो था। यह ङमूबा से बड़ा गाँव था। यहाँ भी सुमति को अपने यजमानों के पास जाना था। पहिले एक गरीब के घर में अपना सामान और हमें छोड़कर सुमति देखने चले गए, फिर आकर साथ चलने के लिए कहा। एक लड़का आगे-आगे चल रहा था, फिर सुमति और सबसे पीछे मैं। एक फाटक आया। फाटक के भीतर लम्बी जंजीर से कुत्ता बँधा हुआ था, हमें देखते ही वह जोर-जोर से भूकने लगा और जंजीर को झटका देने लगा। जरा ही देर में जंजीर टूट गई, कुत्ता हमारी ओर लपका। मैं सबसे पीछे था, लेकिन भागने में सबसे पहिले। मैं भागकर फिर उसी घर में चला आया। सुमति डंडा हिलाते हुए भागकर सीढ़ी के पास चले गए, घरवालों ने आकर बचाया, फिर वह हमें भी लिवा ले गए। सुमति बहुत भर्त्सना कर रहे थे—"तुम कुत्तों से इतना क्यों डरते हो ? कुत्तों का जितना बड़ा शरीर होता है, उतना दिल नहीं होता।" लेकिन मैं दिल की परीक्षा करने के लिए तैयार नहीं था, मेरे लिए अपने दिल की परीक्षा ही काफी थी। कोठा क्या, एक लम्बा-चौड़ा खंभों पर खड़ी छत के नीचे हाल-सा था, जिसमें एक दर्जन के करीब परिवार रहते थे। आरंभिक युग में जब मनुष्य की जीविका और घर सम्मिलित हुआ करते थे, उस वक्त शायद वह ऐसे ही घरों में रहा करते होंगे। घरवाले खाते-पीते किसान मालूम होते थे। सुमति को मालूम था कि मट्ठा मुझे चाय से भी ज्यादा प्रिय है। मैंने पेट-भर के मट्ठा पिया। सुमति ने बोधगया का प्रसाद बाँटा। घरवालों ने हमें दस सेर सत्तू भेंट किया। चलने लगे तो सुमति ने कहा, इसे अपनी पीठ पर रख लो। मैं उतने ही बोझ से मर रहा था, और वहाँ उसमें एक सेर भी बढ़ाने को तैयार नहीं था, सुमति का भी बोझा काफी था, इसलिए सत्तू लेने से इनकार करना पड़ा। सुमति क्षुब्ध जरूर हुए।

वहाँ से चलकर हम चकोर गाँव में पहुँचे। गाँव के पहिले ही चीनी सैनिकों की चौकी के खँडहर मिले, फिर एक पहाड़ के ऊपर किसी पुराने महल की दीवारें खड़ी दिखाई पड़ीं। अकबर और जहाँगीर के समय तिब्बत में हर दो-दो चार-चार गाँव के स्वतंत्र राजा शासन किया करते थे, उस वक्त ऐसे राजमहल जगह-जगह पहाड़ों पर मौजूद थे। 1642 ई. के आसपास मंगोलों ने इन छोटे-छोटे राजाओं को खतम करके सारे तिब्बत को जीतकर दलाईलामा को भेंट कर दिया, तब से तिब्बत पर दलाईलामा उपाधिधारी महन्त-राजों का शासन शुरू हुआ। प्रथम शासक पाँचवें दलाईलामा थे, और इस समय तेरहवें दलाईलामा राज कर रहे थे। दलाईलामा की गद्दी का उत्तराधिकारी चेला नहीं होता। मरने पर वह कहीं अवतार लेते हैं, और जोतिसी, ओझा आदि मिलकर अवतार को ढूँढ़ निकालते हैं, फिर वही बच्चा दलाईलामा बनकर गद्दी पर बैठता है।

चकोर गाँव में हम काफी दिन रहते पहुँच गए थे। सुमति के यजमान एक गरीब घरवाले थे। चकोर किसी समय एक छोटी राजधानी थी, उस वक्त बस्ती ज्यादा बड़ी थी, लेकिन अब कुछ थोड़े-से घर रह गए थे, जिनको देखने ही से मालूम हो जाता था, कि गाँव श्रीहीन है। अब भी खेत के लायक बहुत-सी जमीन पड़ी हुई थी और कितने ही पुराने आबाद खेत अब परती पड़े थे। सब भाइयों की एक ही शादी होने से तिब्बत में जनसंख्या बढ़ नहीं सकती। आज पाँच भाइयों की एक स्त्री है, मान लो उनके तेरह लड़के हुए, तेरहों

काफी रात गए गृहपति बाजा किन-किन करते लौटे और हल्की-सी शराबी की आवाज में सुमति से खाने-पीने के बारे में पूछकर सोने चले गए। हम बहुत रात तक थुक्पा पीना समाप्त कर सके। मैं सोने की जगह का ख्याल कर रहा था। मालूम हुआ कि इसी रसोईघर में सोना है। खैर इस वक्त अब चूल्हा जलनेवाला नहीं था, इसलिए धुएँ का डर नहीं था। दीवार के सहारे चबूतरे-से बने थे। मैंने आसन लगाया, मेरे सिरहाने हम दोनों के शिर को इकट्ठा रखते हुए सुमति ने आसन लगाया। षोड्शी का आसन उनके पैरों के पास था। मेरे पैरों के पास छोटी लड़की ने बिस्तरा लगा दिया। काली माई ने भी एक कोने में अपना बिछौना डाल दिया। यद्यपि यह गर्मी का वह महीना था, जब कि आदमी भारत में दिन-रात पसीने-पसीने रहा करता है, लेकिन तेरह हजार फीट ऊँची जगह में गर्मी का क्या पता होगा ? वहाँ तो माघ-पूस का सख्त जाड़ा था, लेकिन अब मैं जाड़े से अभ्यस्त होता जा रहा था, इसलिए मुझे वह उतना मालूम नहीं होता था। चिराग टिमटिमा रहा था, तभी सबने अपना-अपना कपड़ा उतारा। हाँ, इतना जरूर था, कि उन्होंने कपड़े को अलग करके दिगंबरी का रूप धारण नहीं किया। सोने के पहिले तिब्बत के बौद्ध स्त्री-पुरुष कुछ प्रार्थना वाक्य बोलकर अपने ही सिरहाने की ओर मुँह करके बुद्ध और गुरु को दण्डवत् करते हैं। सुमति ने भी किया; षोडशी ने भी, और शायद बाकी दो ने भी। मैंने दण्डवत् नहीं की, यद्यपि यह उचित नहीं था। डुक्पालामा के यहाँ अपने को सिंहल वाले धर्म का कहकर मैं बच सकता था, लेकिन यहाँ कोई बहाना नहीं हो सकता था। वस्तुतः मैं स्वाभाविक अभिनेता नहीं हूँ, इसीलिए अपने पार्ट को पूरी तरह से अदा नहीं कर पाता था।

मैंने तो सोचा था कि जहाँ इतना स्वागत हुआ है, सुमति इतना जल्दी चलने के लिए तैयार नहीं होंगे, लेकिन तड़के ही उन्होंने सूचित किया–हमें चलना है। गृहपति ने हमें कुछ खाने-पीने की चीजें दीं, और हम चाय पीकर तिङ्री से रवाना हुए। थोड़ी ही दूर चलने पर मैदान छूट गया, और हम दाहिने ओर के पहाड़ के साथ-साथ चलने लगे। जमीन बहुत कुछ समतल थी। पहिले दिन जैसा कन्धा कट तो नहीं रहा था, लेकिन मैं आराम से नहीं चल रहा था। मेरा बोझा आमदनी-खर्च मिलाकर बराबर हो गया था। कई मील चलने के बाद हम एक गाँव में पहुँचे। अभी दोपहर था, हम लोग चाय पीने के लिए एक घर में चले गए। चाय बनी, सत्तू खाया और घर की औरतों से तीर्थों की बात छिड़ गई। मैं भी चाहता था, कि सुमति बात में खूब लग जायें, क्योंकि थकावट के मारे अब मैं और आगे चलना नहीं चाहता था। सुमति सचमुच ही बात में फँस गए और जब 3, 4 बजने का वक्त आया तो फिर चलने के लिए बोले; लेकिन तिब्बत के गाँव 5-5, 7-7 मील से कहीं कम दूरी पर नहीं होते; मैंने देर होने की बात कहकर आज वहीं रहने के लिए कहा, सुमति भी मान गए। हमने समझा था, कि जिस घर में हमने चाय पी है, वहीं एक कोने में सोने की जगह भी मिल जायेगी। लेकिन मालूम होता है, शाम को खेतों और भेड़-बकरियों में से घर के और प्रभावशाली व्यक्ति आ गए थे, इसलिए दिन का परिचय कोई काम नहीं आया और हमें दूसरी जगह जाने के लिए कहा गया। डमूबा छोटा-सा गाँव था। जब हम जाने में हिचकिचा रहे थे, तो आदमी ने गाँव के भीतर की धर्मशाला के बारे में बतला दिया। धर्मशाला क्या, दो छोटी-छोटी कोठरियाँ थीं, जिनमें एक में किसी ने भुस भर रखा था, दूसरी कोठरी में हम लोगों ने अपना आसन लगाया। लेकिन सुमति बहुत घबराये हुए थे। मैं समझाने की कोशिश करने लगा तो बोले–"तुम्हें मालूम नहीं, इस गाँव में सारे कुमा बसते हैं। (कुमा चोर और डाकू दोनों के लिए कहा जाता है)। उन्होंने इसीलिए हमें बाहर निकाल दिया कि रात को मारकर जो कुछ मिले छीन लें।" मैंने कहा–"हमारे पास क्या है; जो वह छीन लेंगे (मेरे पास डेढ़ सौ से ऊपर के नोट कहीं बँधे हुए थे) ?" सुमति ने जवाब दिया–"पहिले तो वह अपनी लम्बी तलवार से दो टूक कर देंगे, फिर सत्तू-वत्तू जो कुछ मिलेगा, उसे ले जाएँगे। वहाँ खून होने पर कोई गवाह नहीं मिल सकेगा, इसीलिए हमें यहाँ भेज दिया है।" किसी तरह उनको शान्त न होते देख मैंने कहा कि–जाइए, ठहरने के लिए किसी का घर ढूँढ़ आइए। वह एक गरीब बुढ़िया से बात ठीक कर आए और अँधेरा हो रहा था, जब हम अपना सामान लेकर बुढ़िया के घर में चले गए। तिङ्री से चलने के बाद मैं अब निर्भय हो गया था, मुझे अपने लदाखी होने पर पूरा विश्वास था। बुढ़िया के घर में बीच में कण्डे की अँगीठी पर चाय पक रही थी। उसके किनारे बुढ़िया और दो आदमी और बैठे हुए थे।

हम भी जाकर आग के किनारे बैठ गए। उन्होंने सुमति से यात्रा के बारे में कुछ पूछा, ङ्मूबा के सामने चिबरी का अत्यन्त पवित्र पहाड़ था, जिसकी परिक्रमा में 108 मन्दिर बतलाए जाते हैं। चित्रकूट के कामतानाथ से भी ज्यादा पवित्र इस पहाड़ को तिब्बती श्रद्धालु भगत मानते हैं। आजकल यात्रा का समय था। दूर-दूर के यात्री परिक्रमा के लिए आये हुए थे। बहुत-से उग्र भक्त तो अपने शरीर से नापते हुए परिक्रमा करते हैं। मुझे ख्याल नहीं, बुढ़िया के पास बैठे दोनों ढावा (साधू) दण्डवत् करते हुए परिक्रमा कर रहे थे, या साधारण। उन्होंने चिबरी का थोड़ा-सा महातम कहा और यह भी कि अब की साल यात्री ज्यादा आए हैं। सुमति ने कहना शुरू किया, तब तो हमें भी परिक्रमा करने के लिए चलना चाहिए। लपूची की तरह मामला कहीं और आगे न बढ़ जाए, इसलिए मैंने एक साङ् (तीन-चार आना) पैसा ढावा के सामने रखकर हाथ जोड़कर कहा—"हमारी ओर से भी आप चिबरी धाम को प्रणाम कर देंगे और यह पैसा वहाँ चढ़ा देंगे। हम दोनों को जल्दी ल्हासा पहुँचना है, इसलिए अबकी बार परिक्रमा नहीं कर सकते, दूसरी बार जरूर आएँगे।" सुमति को पसन्द तो नहीं आया होगा, लेकिन उन्होंने बात और आगे नहीं बढ़ाई।

सबेरे फिर हम पीठ पर सामान लिये चल पड़े। अगला गाँव मेमो था। यह ङ्मूबा से बड़ा गाँव था। यहाँ भी सुमति को अपने यजमानों के पास जाना था। पहिले एक गरीब के घर में अपना सामान और हमें छोड़कर सुमति देखने चले गए, फिर आकर साथ चलने के लिए कहा। एक लड़का आगे-आगे चल रहा था, फिर सुमति और सबसे पीछे मैं। एक फाटक आया। फाटक के भीतर लम्बी जंजीर से कुत्ता बँधा हुआ था, हमें देखते ही वह जोर-जोर से भूकने लगा और जंजीर को झटका देने लगा। जरा ही देर में जंजीर टूट गई, कुत्ता हमारी ओर लपका। मैं सबसे पीछे था, लेकिन भागने में सबसे पहिले। मैं भागकर फिर उसी घर में चला आया। सुमति डंडा हिलाते हुए भागकर सीढ़ी के पास चले गए, घरवालों ने आकर बचाया, फिर वह हमें भी लिवा ले गए। सुमति बहुत भर्त्सना कर रहे थे—"तुम कुत्तों से इतना क्यों डरते हो ? कुत्तों का जितना बड़ा शरीर होता है, उतना दिल नहीं होता।" लेकिन मैं दिल की परीक्षा करने के लिए तैयार नहीं था, मेरे लिए अपने दिल की परीक्षा ही काफी थी। कोठा क्या, एक लम्बा-चौड़ा खंभों पर खड़ी छत के नीचे हाल-सा था, जिसमें एक दर्जन के करीब परिवार रहते थे। आरंभिक युग में जब मनुष्य की जीविका और घर सम्मिलित हुआ करते थे, उस वक्त शायद वह ऐसे ही घरों में रहा करते होंगे। घरवाले खाते-पीते किसान मालूम होते थे। सुमति को मालूम था कि मट्ठा मुझे चाय से भी ज्यादा प्रिय है। मैंने पेट-भर के मट्ठा पिया। सुमति ने बोधगया का प्रसाद बाँटा। घरवालों ने हमें दस सेर सत्तू भेंट किया। चलने लगे तो सुमति ने कहा, इसे अपनी पीठ पर रख लो। मैं उतने ही बोझ से मर रहा था, और वहाँ उसमें एक सेर भी बढ़ाने को तैयार नहीं था, सुमति का भी बोझा काफी था, इसलिए सत्तू लेने से इनकार करना पड़ा। सुमति क्षुब्ध जरूर हुए।

वहाँ से चलकर हम चकोर गाँव में पहुँचे। गाँव के पहिले ही चीनी सैनिकों की चौकी के खँडहर मिले, फिर एक पहाड़ के ऊपर किसी पुराने महल की दीवारें खड़ी दिखाई पड़ीं। अकबर और जहाँगीर के समय तिब्बत में हर दो-दो चार-चार गाँव के स्वतंत्र राजा शासन किया करते थे, उस वक्त ऐसे राजमहल जगह-जगह पहाड़ों पर मौजूद थे। 1642 ई. के आसपास मंगोलों ने इन छोटे-छोटे राजाओं को खतम करके सारे तिब्बत को जीतकर दलाईलामा को भेंट कर दिया, तब से तिब्बत पर दलाईलामा उपाधिधारी महन्त-राजों का शासन शुरू हुआ। प्रथम शासक पाँचवें दलाईलामा थे, और इस समय तेरहवें दलाईलामा राज कर रहे थे। दलाईलामा की गद्दी का उत्तराधिकारी चेला नहीं होता। मरने पर वह कहीं अवतार लेते हैं, और जोतिसी, ओझा आदि मिलकर अवतार को ढूँढ़ निकालते हैं, फिर वही बच्चा दलाईलामा बनकर गद्दी पर बैठता है।

चकोर गाँव में हम काफी दिन रहते पहुँच गए थे। सुमति के यजमान एक गरीब घरवाले थे। चकोर किसी समय एक छोटी राजधानी थी, उस वक्त बस्ती ज्यादा बड़ी थी, लेकिन अब कुछ थोड़े-से घर रह गए थे, जिनको देखने ही से मालूम हो जाता था, कि गाँव श्रीहीन है। अब भी खेत के लायक बहुत-सी जमीन पड़ी हुई थी और कितने ही पुराने आबाद खेत अब परती पड़े थे। सब भाइयों की एक ही शादी होने से तिब्बत में जनसंख्या बढ़ नहीं सकती। आज पाँच भाइयों की एक स्त्री है, मान लो उनके तेरह लड़के हुए, तेरहों

की फिर एक ही स्त्री होगी। तीसरी पीढ़ी में शायद उस घर में एक ही लड़का रहे। किसी घर में यदि लड़का नहीं है लड़की है, तो घर-जमाई लाकर वंश आबाद रह जाए। इसीलिए घरों की संख्या कम होने की ही आशा की जा सकती है। तिब्बत में एक पीढ़ी ने जितने खेत आबाद कर लिये, अब वह बीसियों पीढ़ी के लिए काफी हैं, क्योंकि खेतों को भाइयों में बँटना नहीं है। चकोर के पास की दूर तक फैली खेती लायक जमीन वर्तमान जनसंख्या के रहते आबाद नहीं हो सकती। पास ही में कोसी की एक बड़ी धार बहती है, जिससे नहर निकालकर जितना चाहे, पानी लाया जा सकता है। पहाड़ वृक्ष-वनस्पति-शून्य हैं, इसलिए उनकी मिट्टी से खाद मिलने की संभावना नहीं है, लेकिन खाद की पूर्ति गोबर और मींगनी से हो सकती है।

उस दिन वर्षा होने लगी, जिससे हमारा आगे जाना भी रुक गया। किसी समय तिब्बती लोग अनगढ़ पत्थरों से बड़ी सुन्दर दीवारें बनाते थे। चार-चार सौ पाँच-पाँच सौ बरस पुरानी दीवारें अब भी जहाँ-तहाँ खड़ी मिलती हैं, लेकिन अब उस तरह की जुड़ाई नहीं दिखाई पड़ती। अब तो पत्थरों की जगह मिट्टी की दीवारें ज्यादा बनती हैं, छत भी मिट्टी की होती है, लकड़ी की कमी के कारण उसे कम से कम इस्तेमाल करना चाहते हैं। वर्षा बहुत कम होती है, इसलिए चार अंगुल मोटी मिट्टी बहुत काफी समझी जाती है। छत जब कहीं चूने लगती है, तो उस पर मिट्टी डालकर पैर से दबा देते हैं। वह घर उस दिन चूने लगा था और हमें इधर-उधर हट के बैठना पड़ा। दस सेर सत्तू मैं छोड़ आया था, इसके लिए सुमति बहुत जल-भुन गए थे। वह यजमानिन से मेरी क्या-क्या शिकायतें करते रहे, मैं ज्यादा सुनना नहीं चाहता था। आखिर मैंने कसूर तो किया ही था।

दोनों कोठरियों के बाहर एक चौड़ा हाता था, जिसके दरवाजे के पास जंजीर से कुत्ता बँधा हुआ था। कल मैंने देख लिया था, कि कुत्तों की जंजीर पर भरोसा नहीं करना चाहिए, आज फिर वही हुआ। कुत्ता हम लोगों को देखकर झटका दे रहा था, सुमति आगे थे, और मैं उनसे दस हाथ पीछे। जंजीर टूटी, सुमति पीछे की ओर भाग आए और मुझे डाँटने लगे कि तुम साथ-साथ क्यों नहीं रहते। खैर, मालकिन ने कुत्ते को पकड़कर रखा और हम लोग फाटक से बाहर निकल गए। यहाँ से सक्या के लिए भी एक रास्ता जाता था, लेकिन हमने शेकर का रास्ता लिया था। कुछ दूर जाने पर कोसी की प्रधान धार मिली। जाँघ-भर पानी था, और चल कर ही उतरना था। धार बहुत ज्यादा तेज नहीं थी, लेकिन पानी तो बरफ से पिघलकर आ रहा था, उसकी सर्दी के बारे में क्या कहना ? हमने अपना जूता और दूसरा कपड़ा भी उठाकर पीठ पर डाल लिया। सुमति बहुत छोटे थे, इसलिए उन्हें कमर तक नंगे होकर चलना था। ऐसी जगहों में तिब्बती नर-नारी बहुत बेतकल्लुफी बरतते हैं। धार काफी चौड़ी थी, आधी दूर जाते-जाते तो मेरी जाँघ सुन्न मालूम होने लगी। खैर, किसी तरह नदी पार हुए। फिर कभी चलते, कभी बैठते हम आगे बढ़ने लगे। चार-पाँच मील जाते-जाते मैं बहुत थक गया, पीठ पर बोझ लेकर एक कदम भी चलना मुश्किल मालूम होने लगा। इसी समय लङ्कोर के चार-पाँच आदमी मिले, वह भी शेकर जा रहे थे। सुमति ने बड़ी प्रार्थना की, और मजूरी देने के लिए कहा। फिर एक आदमी ने मेरे सामान को उठा लिया, और फिर पहाड़ियों को जहाँ-तहाँ उतरते हम शेकर पहुँचे। इतनी कमजोरी का मुख्य कारण था, सत्तू-भोजन, जिसे मैं आधा पेट भी नहीं खा सकता था।

शेकर के पास की पहाड़ी पर एक बड़ी गुंबा (मठ) है, जिसमें कई सौ भिक्षु रहते हैं। ठहरे तो हम पहाड़ के नीचे गाँव में थे, लेकिन सुमति के गुंबा में परिचित भिक्षु थे, इसलिए मैं भी उनके साथ वहाँ गया। प्रधान अधिकारी–खन्पो (पंडित)–ल्हासा के किसी मठ के थे और अच्छे साक्षर संस्कृत थे। मैंने उनसे बातचीत की। वह बहुत खुश हुए। हमने कोशिश की, कि कोई आदमी या घोड़ा किराये पर मिल जाय तो अच्छा, लेकिन वहाँ से कोई जानेवाला नहीं था। टशील्हुनूपो के दो सौदागर-भिक्षु माल ले करके जा रहे थे, उनमें एक खनूपो का सम्बन्धी था। शायद उन्होंने उससे हमारे बारे में कह दिया, लेकिन हम समय पर उनके साथ नहीं हो सके। लङ्कोर के आदमियों में एक नौजवान ढावा (भिक्षु) भी था। सुमति ने उसको ल्हासा, सम्-ये, आदि महातीर्थों के दर्शन कराने का प्रलोभन दिया, और वह नौजवान चलने के लिए तैयार हो गया।

दो-तीन बजे हम शेकर से रवाना हुए। खाली हाथ होने से चलने में लुत्फ आ रहा था, सुमति का भी बोझा हल्का था। उनका एक यजमान आगे चार-पाँच मील पर रहता था। हम दो घंटा दिन रहते ही वहाँ

पहुँच गये। यह किसी अच्छे गृहस्थ का घर था। मकान भी बहुत बड़ा और कोठेवाला था। चारों कोनों पर रीछ की तरह लम्बे-लम्बे, काले-काले बालोंवाले चार बड़े-बड़े कुत्ते बँधे हुए थे। उनकी गले की रस्सी इतनी बड़ी थी, कि बाहर की दीवार का कोई हिस्सा किसी न किसी कुत्ते की पहुँच के भीतर था। पाँचवाँ कुत्ता छूटा हुआ था। हम तीनों को देखते ही वह हमारी तरफ दौड़ा, लेकिन तीन आदमी होने के कारण मुझे डर नहीं लगा। घर के नौकर ने कुत्ते को भगाया और हम लोग फाटक के भीतर दाखिल हुए। रात के वक्त कुत्तों के छोड़ देने पर किसकी मजाल है, जो उस घर के पास फटक पावे। बस्ती से अलग अपना घर बनाके रहने की हिम्मत शायद इन कुत्तों के बल पर हुई होगी। डाकुओं का डर तो यहाँ बराबर बना रहता होगा, लेकिन इसके लिए मालिक के पास बन्दूकें भी थीं।

हम हाते के भीतर, फाटक के पास की कोठरी में अपना सामान उतारने लगे, उसी वक्त हमारे साथ आया ढावा आठ बरस के बच्चे की तरह फूट-फूटकर रोने लगा। कह रहा था–"मेरी एक ही माँ है, वह रो-रोके मर जायगी, मुझे लौट जाने दो।" सुमति उसे घुड़क रहे थे और उधर नौजवान की हिचकी बँधती जा रही थी। मैंने कहा, जाने दो। खैर, उसको जाने की छुट्टी मिल गई। गृहपति हमें ऊपर के कोठे पर ले गए। शायद बातचीत करने में घंटे-भर बीत गए। चाय तैयार होके आई और सुमति ने अपने बोझे में से सत्तू निकालना चाहा, देखा सात सेर की थैली गायब है। वह ढावा को गाली देने लगे; कि वही सत्तू चुरा के ले गया। चाय छोड़कर वह डंडा सँभालने लगे। मैंने पूछा–"कहाँ जा रहे हो ?"

"जा कहाँ रहा हूँ ? सत्तू ले आना है।"

मैं उन्हें जितना ही ठंडे दिल से न जाने के लिए समझा रहा था, उतनी ही मेरी बात उनके क्रोधाग्नि में घी का काम दे रही थी। अन्त में गृहपति ने सात-आठ सेर सत्तू ले आकर सामने रख दिया और कहा–वह ढावा शेकर पहुँच गया होगा, वहाँ जाते-जाते रात हो जायगी। सुमति को गुस्सा इसलिए ज्यादा आ रहा था कि मैंने मेमों में दस सेर सत्तू छोड़ दिया, और अब इस सत्तू को भी चुपचाप जाने देने के लिए कह रहा था।

शेकर से खनूपो ने रास्ते के किसी गाँव के गोवा (मुखिया) को आदमी देने के लिए चिट्ठी दी थी, लेकिन ऐसी चिट्ठियों की गाँववाले बहुत कम परवाह करते हैं। आखिर ये चलते रास्ते हैं, आदमी आते ही जाते रहते हैं, जो वह ऐसी हर फरमायश को पूरा करते जायँ, तो गाँववालों को अपना सब काम छोड़ना पड़े। तिब्बत में यात्रियों के लिए यात्रा का तभी सुभीता होता है, जब कि पेशेवर घोड़े-खच्चरवालों से दूर-दूर तक का किराया ठीक हो जाय, या बेगार पाने के लिए सरकारी चिट्ठी हो। तीसरा यही रास्ता हो सकता है, कि आदमी को समय की परवाह न हो और वह इन्तजार में हफ्ते दो हफ्ते पड़ा रह सके। मेरे पास तीनों में से किसी का भी सुभीता नहीं था। चिट्ठीवाले गाँव में शायद हमें घर के अन्दर बैठने के लिए भी जगह नहीं मिली और हम किसी दूसरे घर में रहे। हमें अगले गाँव में किसी का नाम मालूम हो गया, उसके पास गए। एक छोटी-सी कोठरी में दो तरुण-तरुणी रहते थे। दोनों पूरी मेहनत करते थे, लेकिन हालत अच्छी नहीं थी। तरुण पहिले सिपाही था। उसके बड़े भाई और घर की स्त्री भी मौजूद थीं, लेकिन उसका किसी दूसरी तरुणी से प्रेम हो गया। अविवाहिता तरुणी से प्रेम होना बहुत बुरी चीज नहीं है, लेकिन तरुण ने उसे प्रेयसी बनाना चाहा, फिर घर की पत्नी कैसे बरदाश्त करती, उसने उसे निकाल बाहर किया। घर की सम्पत्ति बँट सकती ही नहीं। उसने अपनी सम्मिलित पत्नी के पाँव पर सिर नहीं रखा। बड़ी मेहनत से दोनों ने मिलकर एक छोटी-सी कोठरी बनाई। जूता बनाते थे, कभी किसी की मजूरी कर लेते थे, बस इसी तरह काम चलाते थे। मेरे लिए घोड़ा ढूँढ़ देने के वास्ते उसने दूर-दूर तक चक्कर लगाया, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। पता लगा कि शेकर से माल लेकर कुछ गदहे ब्रह्मपुत्र की ओर जा रहे हैं, हमने उन्हीं की आशा लगाई। गधेवाले ने तीन-चार साङ् (दस-बारह आना पैसा) में हमारे सामान को ल्हर्चे तक ले चलने के लिए स्वीकार किया। उनके साथ एक बड़ा कुत्ता था। मैं सत्तू खाते वक्त उसे खूब सत्तू खिलाया करता था। मैंने समझा, इसके साथ दोस्ती करने के सिवा कोई चारा नहीं है। गधेवाले बहुत थोड़े चला करते हैं, सो भी रात को ही ज्यादातर। शायद गधेवाले तीन थे और

तीन ही व्यापारी थे, जिनमें एक शेकर के खनूपो का भतीजा था। इस प्रकार हमारी संख्या आठ के करीब थी। गधों की संख्या काफी थी, सामान में ज्यादातर चमड़े की थैली में बँधा नेपाल का चावल था। एक बहुत बड़ा डाँड़ा हमें पार करना पड़ा, कह नहीं सकते वहाँ से ब्रह्मपुत्र दिखलाई पड़ा या नहीं। चन्द दिनों बाद हम ब्रह्मपुत्र के किनारे गधेवालों के गाँव में पहुँचे। सामान गाँव के बाहर रख दिया गया। हम दोनों पास में एक बुढ़िया की झोंपड़ी में चले गए। शायद यहाँ दो-एक दिन सुस्ताए। मैं एक बार ठहरने की जगह से जहाँ सामान रखा था, वहाँ जा रहा था, आदमी भी वहाँ खड़े थे, लेकिन वही कुत्ता मुझे काटने दौड़ा, जिसको मैं रास्ते में सत्तू खिलाता आया। सुमति मेरे सामने बराबर लेक्चर दिया करते थे—"कुत्तों का दिल उतना बड़ा नहीं होता, जितना शरीर।" आज वह छत्ता लेकर यजमानों के पास जाने के लिए निकले थे। बुढ़िया की कोठरी के बाहर छाती-भर ऊँची चहारदीवारी थी। चहारदीवारी के दरवाजे से दस कदम भी ज्यादा आगे नहीं बढ़े थे, कि चार-पाँच कुत्ते उनके ऊपर टूट पड़े। आवाज सुनते ही मैंने चहारदीवारी के पास जाकर देखा कि सुमति की जान खतरे में है, मैंने पत्थर उठाकर कुत्तों को मारना शुरू किया। इन खूँख्वार तिब्बती कुत्तों में बड़ी बेवकूफी यह है, कि यदि आप पत्थर फेंकें, तो पत्थर जितनी दूर तक लुढ़कता जायगा वह भी उतनी ही दूर तक पीछा करते जायेंगे। खैर, सुमति भीतर चले आए। मैंने पूछा—"कुत्तों का दिल छोटा होता है या बड़ा ?" बेचारे घबराये हुए थे।

अब हमें ब्रह्मपुत्र के दाहिने किनारे से चलकर ल्हर्चे पहुँचना था, लेकिन वह बहुत दूर नहीं था। खनूपो के भतीजे ने कहा, कि ल्हर्चे में हमारा माल ब्रह्मपुत्र के किनारे गिर जायगा। फिर वहाँ चमड़े की नाव जैसे मिलेगी, हम उस पर चढ़कर टशील्हुनूपो पहुँच जाएँगे। सुमति की सलाह थी कि हम ल्हर्चे की गुंबा में ठहरें, लेकिन मैंने गुंबा में ठहरने की जगह सौदागरों के साथ नदी के किनारे ठहरना ज्यादा पसन्द किया। सुमति नाव से जाना भी नहीं चाहते थे।

अब चमड़े की नाव कल आएगी, परसों आएगी करते मैं नदी के किनारे सौदागरों का माल अगोरने लगा, और सुमति अपने यजमानों के पास घूमने में लगे। अब तक जितनी दूर मैं आया था, उसमें ञेनम्, तिङ्री, शेकर के बाद यह चौथा जोड़ (मजिस्ट्रेट का स्थान) था। यहाँ खाने के लिए चाय बना लेते थे, और सत्तू पास में मौजूद ही था। सौदागरों में एक ल्हासा का गृहस्थ नौजवान था और दो ढावा (भिक्षु) थे। सौदागर ढावों में मीठे स्वभाववाला शायद ही कोई मिले। खाओ-पियो मौज करो, चाहे जैसे भी हो, यही उनके जीवन का उद्देश्य होता है। वह छङ् शराब खूब पीते हैं, लेकिन तिब्बत में यह चीजें इतनी सस्ती हैं, कि इनके पीने से कोई दिवालिया नहीं होता। औरतें तो पड़ाव-पड़ाव पर होती हैं। हमारे दो ढावों में खनूपो का भतीजा अच्छा था, लेकिन दूसरा तो निरा जानवर था। ठिलिया की ठिलिया छङ् कोई तरुणी उसके पास लाती, और वह खूब पीता। बड़ा ढावा तो अक्सर गाँव में सोने जाता था। वहाँ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध कितना सरल है, इसे मैंने यहीं घाट पर देखा। एक षोडशी नदी पर कपड़ा धोने आई थी। हमारे साथी ढावा ने जाके दस-पाँच मिनट मजाक किया और फिर देखा कि दोनों तम्बू के भीतर आकर प्रणय पूर्ण कर रहे हैं—वर्षा से बचाने के लिए सामान पर उन्होंने तम्बू तान दिया था। जोङ्पोन् के महल में शायद कोई मकान बन रहा था। बेगार में औरत-मर्द पत्थर ढो-ढोके ले जा रहे थे। बीच-बीच में वह गाते भी रहते थे। उनमें ज्यादातर नौजवान और नवयुवतियाँ थीं। मजाक-मजाक में मैं देखता था कि वह कपड़ों को छीनकर औरतों को नंगा कर देते थे। ये गर्मी के दिन थे और जिसको नहाना हो वह साल-भर में इन्हीं दिनों नहा सकता था, मैं देख रहा था कि कितने ही स्त्री-पुरुष नंगे नहा रहे हैं। पानी बहुत ठंडा था लेकिन मैं उन्हें कूद-कूदकर दो-दो सौ गज तक बहते देखता था। औरतों के सामने पुरुषों का नंगे होकर बालों का पानी निचोड़ना या शरीर सुखाना बिल्कुल मामूली बात थी। इन बातों को सुनकर पाठक समझेंगे, कि तिब्बती लोग बहुत कामुक होंगे, इसके बारे में मैं इतना ही कह सकता हूँ, कि कामुकता से जो अर्थ हम लेते हैं, उसमें वह हिन्दुस्तानियों के शतांश भी नहीं हैं। बात इतनी ही है कि वहाँ स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध बहुत कुछ खुला-सा है और इसको खान-पान से बहुत थोड़ा ही अधिक महत्त्व दिया जाता है।

ल्हर्चे से ट्शील्हुन्पो या शिगर्चे चमड़े की नाव से दो दिन में पहुँचा जा सकता है। नाव पानी के बहाव के साथ नीचे तो जा सकती है, किन्तु ऊपर नहीं आ सकती। ब्रह्मपुत्र की कछार में यहाँ कुछ जंगली झाड़ भी उगते हैं। इन्हीं की डालियों को काटकर रस्सी से बाँधकर एक चौकोर-सा ढाँचा बनाया जाता है, जिस पर भिगाए चमड़े को लपेट दिया जाता है। यही चमड़े की नाव है। बहाव के साथ गंतव्य स्थान पर पहुँच कर चमड़े को निकाल लिया जाता है और सुखा के गदहे या पीठ पर लादे मलाह फिर पहिली जगह पर पहुँच जाता है। ल्हासा की तरफ मैंने कहीं-कहीं नाव को सुखाकर आदमी को पीठ पर लादे लौटते देखा था।

एक युग बीत गया इन्तजार करते-करते। आखिर नावें आईं, लकड़ी काटी जाने लगी। दूसरे दिन चलना था, उससे एक दिन पहिले मैंने पूरी भेड़ का सूखा मांस खरीदा। सूखा मांस पकाया नहीं रहता, लेकिन तिब्बत में उसे पका समझकर ही खाया जाता है। मैं अभी वैसा समझने के लिए तैयार नहीं था। मैंने सोचा कि दो दिन की नाव की यात्रा होगी, इसलिए मांस को उबालकर रख लिया जाय। छोटे-छोटे टुकड़े करके उसे उबाला। उबले टुकड़ों को थैली में रखा, बड़ा ढावा बैठा-बैठा देख रहा था। मांस का रस चार-पाँच प्याला था, मैंने उसके प्याले में भी डाला और अपने में भी रखा। मैं नहीं समझ रहा था, कि मैं कोई खतरे की बात कर रहा हूँ। उसने मांस-रस पीने से इनकार कर दिया। इनकार ही नहीं कर दिया, बल्कि उसकी चेष्टा से मैंने देखा कि वह बहुत गुस्सा हो गया। मांस को मैंने इसीलिए अभी खर्च करना नहीं चाहा था, कि मैं उसे पाथेय बना रहा था। मैंने स्वयं उसमें से एक टुकड़ा भी न खाया, फिर उसे गुस्सा होने की क्या जरूरत थी ? लेकिन देश के शिष्टाचार में तर्क-वितर्क की गुंजाइश नहीं होती, और हरेक नवागंतुक को शिष्टाचार सीखते वक्त कितनी ठोकरें खानी पड़ती हैं–यद्यपि यह अच्छा है, नवागंतुक सिर्फ दूसरों के किए की नकल-भर करता रहे। दूसरे दिन नाव बँधकर तैयार हो गई, सामान लदने लगा, देवताओं की लाल-पीली झंडियाँ भी नाव के लिए आ गईं। बड़े ढावा ने एकाएक कहा कि नाव में जगह नहीं है। मैं समझ नहीं पा रहा था। आखिर दो हफ्ते से मैं वहाँ उनकी चीजों की रखवाली कर रहा था, इसी आशा से कि साथ में शिगर्चे जाऊँगा। छोटा ढावा उसके सामने कुछ बोल नहीं सकता था। दो-तीन बार कहने के बाद मुझे मालूम हो गया कि वह साथ नहीं ले जायगा। सुमति मुझे बिदाई देने के लिए आए थे, मैंने उनसे सारी बात कही और अपना सामान उठाए गुंबा (मठ) में चला गया। घंटा-दो घंटा बाद छोटा ढावा और ल्हासावाला सौदागर दोनों मेरे पास आए और चलने के लिए कहने लगे। मैंने कहा, सुमति को भी साथ ले चलो तो चलूँगा। वह अकेले चलने के लिए बहुत आग्रह करते रहे, लेकिन मैं राजी नहीं हुआ। ब्रह्मपुत्र में नौयात्रा का आनन्द नहीं मिला।

ल्हर्चे लदाख और नेपाल दोनों के वणिक-पथ पर एक अच्छी-खासी बस्ती है। कुछ छोटी-छोटी दूकानें भी हैं, और यहाँ कुछ भोटिया मुसल्मान भी रहते हैं। सौदागर तो आते ही रहते हैं, इसलिए खच्चर, घोड़ा या गधे का मिलना मुश्किल नहीं होता, लेकिन हमें उनके जल्दी मिलने की उमेद नहीं थी। सुमति पता लगाने गए, तो मालूम हुआ कि शिगर्चे जानेवाले कुछ खच्चर मौजूद हैं। हमने वहाँ तक के लिए खच्चर किराये किए। खच्चरवाले किसी सौदागर का माल ले जा रहे थे।

गधों से खच्चर तेज चलते हैं, लेकिन तिब्बत की घड़ी बहुत सुस्त होती है। लोग यात्रा में भी मौज-मेला करते चलते हैं। खच्चरवाले तीन थे, और खच्चर तीस के करीब। खैर, अब दूसरे की पीठ पर चलना था। इधर के गाँवों में मुर्गी का अंडा बहुत मिलता था। सत्तू का गले से नीचे उतारना मेरे लिए मुश्किल हो रहा था, इसलिए मैंने करीब-करीब फलाहार व्रत ले लिया। 20, 30 अंडे उबालकर सत्तूवाले थैले में रख लेता, और जब-जब भूख लगती, उसी को खाता। दिन में पचीस-तीस अंडे मामूली बात थी। सुमति वैसे तो बहुत ही अच्छे थे, लेकिन जब गुस्सा आता, तो बहुत गरम भी हो जाते थे, और मेरे ठंडे पड़ने से भी कोई फायदा नहीं होता था। गुस्सा होने की एक बड़ी बात तो यह थी, कि पड़ाव पर घोड़े से उतरकर जहाँ मैं कोठे पर पहुँचता, तो फिर नीचे आने या दरवाजे से बाहर जाने का नाम तक नहीं लेता था। अँधेरे में तिब्बतियों से डरता हूँ, यह बात नहीं थी, लेकिन कुत्तों के छोटे दिल होते हैं, यह नहीं मानता था। कभी ईंधन लाना पड़ता था, कभी कोई दूसरा काम होता था, वह सब सुमति को करना पड़ता था। मैं चूल्हा जला सकता था, चाय

या थुक्पा को उबाल सकता था, लेकिन इतने से सुमति सन्तुष्ट नहीं थे। कई दिनों चलने के बाद हम नरथङ् पहुँचे। नरथङ् ग्यारहवीं शताब्दी का एक पुराना मठ है। यह उस वक्त बना था, जबकि हिन्दुस्तान में बौद्ध धर्म जिन्दा था। कंजुर (बुद्धवचन–अनुवाद) तंजुर (शास्त्र–अनुवाद) के 338 बड़े-बड़े पोथे जिनमें दस हजार के करीब भारतीय ग्रन्थों का तिब्बती अनुवाद सुरक्षित है, उसका छापाखाना यही है। लेकिन खच्चरवालों को तो सीधे शिगर्ची जाना था। कुछ घंटे बाद पहाड़ की जड़ में अनेक सोने की छतों और बड़े-बड़े महलोंवाले ट्शील्हुनूपो के सुन्दर महाविहार (गुंबा) को सामने देखा, सबने सादर प्रणाम किया। मैंने भी सिर नवाया। ट्शील्हुनूपो गुंबा से लगा ही हुआ शिगर्चे नगर है। जिस तरह दलाईलामा के बाद तिब्बत के सबसे ज्यादा प्रभावशाली व्यक्ति ट्शी लामा हैं, उसी तरह ल्हासा के बाद तिब्बत का सबसे बड़ा शहर शिगर्चे है। कई साल से ट्शी लामा भागकर चीन चले गए थे, इसलिए शिगर्ची का वैभव कुछ कम हो गया था, तो भी वहाँ का जोङ् बहुत बड़ा जोङ् है और जोङ्पोन् बड़े ऊँचे दरजे के अफसर होते हैं। साथ ही ट्शील्हुनूपो की जागीर भी बहुत बड़ी है, इसलिए शिगर्चे बाजार उतना बिगड़ नहीं सका। शिगर्चे और ट्शील्हुनूपो के बीच में कच्चा चीनी किला है, जो बहुत कुछ गिर-पड़ गया है। शायद चीनी पलटन और अफसरों के रहते वक्त शिगर्चे और भी श्रीसंपन्न रहा हो। शिगर्चे पहुँचकर फिर हमने सामान अपनी पीठ पर उठाया और सुमति के परिचित किसी घर में रात के रहने के लिए चले गए।

काठमांडो छोड़ने के बाद मालूम होने लगा, कि मैं अब फिर सभ्य संसार में आ गया हूँ। यहाँ काफी नेपालियों की दूकाने थीं। मैं यद्यपि तिब्बती पोशाक में था, लेकिन उनकी उपस्थिति से अपने को कुछ ज्यादा परिचित-सा अनुभव करने लगा। मैं जल्दी से जल्दी ल्हासा जाना चाहता था, क्योंकि वहाँ पहुँचे बिना मैं अपने को प्रकट नहीं कर सकता था। सुमति की बात सुनते-सुनते भी अब बहुत विरक्त-सा हो गया था, इसलिए मैं उनके साथ अब जाना नहीं चाहता था। दूसरे दिन पता लगाने से ललितपट्टन के एक साहु के भाई का नाम मालूम हुआ। साहु को मैं एक-दो बार महाबौधा में मिला था और उन्होंने कहा था कि मेरा एक भाई शिगर्चे में रहता है। रास्ते में किसी नेपाली से पूछने पर घर मालूम हो गया। मैं उनसे मिला। उन्होंने बड़े आग्रह से अपने यहाँ ठहरने के लिए कहा और मैं अपना सामान लेकर उनके पास चला आया। शिगर्चे के जोङ्पोन् से उनकी दोस्ती थी। उन्होंने जोङ्पोन् से मिलाने के लिए कहा, लेकिन मैं अभी मिलना नहीं चाहता था। मैंने यहाँ से आनन्दजी को हिन्दुस्तान छोड़ने के बाद सीलोन पहिली चिट्ठी लिखी। ल्हासा के लिए सवारी ढूँढ़ी जाने लगी और वही खच्चरवाले फिर मिले। साहु के साथ मैं एक दिन ट्शील्हुनूपो गुंबा में दर्शन करने गया। पाँच-छै सौ बरस से जहाँ मन्दिरों को सजाया जाता रहा हो, वहाँ की मूर्त्तियों, चाँदी-सोने के बड़े-बड़े प्रदीपों की संख्या का क्या ठिकाना था। हम बहुत-से मन्दिरों में गए, पता लगा यहाँ कनौर के भी कितने भिक्षु रहते हैं, और रघुवर से मुलाकात हुई। रघुवर हिन्दी-उर्दू जानते थे, अब तीन-चार साल से वह बौद्धग्रन्थ पढ़ रहे थे। उनसे मालूम हुआ, कि ल्हासा के पास डेपुङ् गुंबा में भी कनौर के कितने ही भिक्षु रहते हैं।

यह जुलाई का आरंभ था। मैं फिर खच्चरों के साथ रवाना हुआ। लेकिन खच्चरवालों को कोई जल्दी नहीं थी। तिब्बत में डाक का प्रबन्ध हिन्दुस्तान से ग्यानूची, ल्हासा और ग्यानूची से शिगर्चे तक ही है, बाकी चिट्ठी-पत्री आदमियों के हाथ भेजी जाती है। हमारे खच्चरवाले डाकिया का भी काम करते थे। जहाँ चिट्ठी पहुँचाते, वहाँ खच्चरों के घास-भूसे और आदमियों के ठहरने का भी इन्तजाम हो जाता था। पहिले दिन तो वह कुछ ही मील जाकर एक बड़े घर में ठहरे। शिगर्चे में साहुन खच्चरवालों को मुझे अच्छी तरह ले जाने के लिए बहुत कहा था, लेकिन, मैं समझता था कि ऐसी बातों का उन पर स्थायी असर नहीं होगा। यद्यपि भेस तो मेरा भिखमंगों का था, लेकिन चेहरे को मैं वैसा नहीं बना सकता था। गृहपति ने यहाँ मेरे ठहरने के लिए अच्छी जगह दी। आगे चलने पर हमारा टिकाव एक और धनी के घर पर हुआ। यहाँ उस समय लीला हो रही थी। भला हमारे साथी लीला का बिना पूरा आनन्द लिये कैसे आगे बढ़ सकते थे ? बड़े अस्तबल में खच्चरों को बाँध दिया गया। हम रोज लीला देखने जाया करते थे। लीला करनेवाले नदी पार के किसी गुंबा के भिक्षु थे। गाना, बजाना, नाचना सभी था। लीला लगवानेवाले भी हमारे वही मेजबान थे।

लीला खतम होने पर फिर हम आगे की ओर रवाना हुए। शिगर्चे से एक रास्ता सीधे भी ल्हासा को जाता है, लेकिन हम चक्कर काटकर ग्यानूची के रास्ते से जा रहे थे। 7 जुलाई (1929) को हम ग्यानूची पहुँचे। ग्यानूची में अँगरेजी सरकार का एक व्यापारदूत (ट्रेड एजेन्ट) और 100 के करीब पलटन रहती, लेकिन मुझे उनसे क्या लेना-देना था ? मुझे मालूम था कि वहाँ धर्मासाहु की दूकान है, लेकिन जब तक ल्हासा में दलाईलामा को अपने आने की सूचना न दे दूँ, तब तक किसी को मैं अपना पता देना नहीं चाहता था।

दूसरे दिन हम दिकी-ठोमो गाँव में रहे। डेरा तो बाहर खलिहान में पड़ा था, लेकिन एक दिन मैं भी अपने खच्चरवाले के साथ गृहपति के पास गया। यह खूब धनी घर था, यहाँ के काले कुत्ते बहुत ही बड़े-बड़े थे, छोटे-मोटे गधे के बराबर। उनकी हरताल जैसी पीली आँखें बड़ी भयंकर मालूम होती थीं। मैंने शायद अपने को लदाख का भिक्षु ही बताया होगा, चाय पी के फिर डेरे पर लौट आया। वर्षा का मौसम था, लेकिन तिब्बत में न उतनी ज्यादा वर्षा होती है, न लोग भीगने की उतनी पर्वाह करते हैं। वहाँ से आगे चलते-चलते हम जाराला डाँडे से पहिले ही ठहर गए। पानी बरस चुका था, और वैसे भी धारा के आस-पास खुली जगह में हरी घास थी। ऐसी जगहों पर डाकुओं का बहुत डर रहता है, लेकिन खच्चरवाले अपने को कम नहीं समझते। उनके पास बंदूक भी थी और तलवारें भी। जाराला बहुत काफी ऊँचा है, लेकिन बहुत मुश्किल नहीं। अगले दिन नगाचे पहुँचे। सामने विशाल झील थी। झील और गाँव के बीच में खूब हरा-हरा घास का मैदान था। यहाँ खच्चरों के लिए घास खरीदने की जरूरत नहीं थी। हाँ, बकला और जौ का दाना कुछ जरूर देना पड़ता था।

नगाचे बहुत ठंडी जगह है। इसकी ऊँचाई 14, 15 हजार फीट से कम न होगी। हमारा रास्ता एक दिन झील के किनारे-किनारे रहा। दूसरे दिन सबसे बड़े डाँड़े ख्मवाला को पार किया। अब हम फिर ब्रह्मपुत्र के किनारे आ गए। छूओरी में नाव से ब्रह्मपुत्र को पार हो, चलते-चलते 19 जुलाई को हमें कई मील दूर से पोतला की सुनहली छत दिखलाई दी। उस वक्त न जाने क्या-क्या भाव दिल में पैदा हो रहे थे। हिन्दुस्तान और सीलोन में रहते तिब्बत के बारे में जो कुछ पढ़ा-सुना था, उससे मैं अच्छी तरह समझता था, कि पोतला का दर्शन दुनिया की सबसे कठिन चीजों में है और आज उसी पोतला को मैं अपने सामने देख रहा था। एक बड़ी नदी के पुल को पार कर दो-तीन घंटे चलने के बाद हम ल्हासा में दाखिल होने के लिए पोतलावाले फाटक के अंदर घुसे। आगे बाईं ओर कई तलों का लाल रंग से रँगा दलाईलामा का प्रासाद पोतला था। अब हम तिब्बत की राजधानी में थे। खच्चरवालों को मंत्री शाठा के यहाँ सामान उतारना था। वह सीधे वहाँ गए। मैं सोच ही रहा था, कि धर्मासाहु की कोठी छु-शिङ्-शा में पहुँचने के लिए किसी की मदद लूँ। उसी वक्त एक नेपाली जवान मंत्री के महल की ओर जाते दिखाई पड़े। मैंने उनसे पूछा, तो उन्होंने कहा, ठहरिए मैं छुशिङ्-शा को जानता हूँ; दरबार से होकर आता हूँ, फिर आपको साथ ले चलूँगा। घोड़े की पीठ पर रखे जानेवाले चमड़े के थैलों (ताड़ू) में मेरा सामान पड़ा हुआ था, मैंने सबको समेटकर फिर बोझ तैयार कर लिया और फिर धीरेन्द्रवज्र–यही उस तरुण का नाम था–के आते ही पीठ पर सामान लाद हाथ में डंडा और सिर पर भिक्षुणियों जैसी पीली टोपी लगाए चल पड़ा–अभी तक मैं पीला कंटोप लगाए चला आता था, लेकिन मुझे यह नहीं मालूम था, कि यहाँ ऐसी टोपी भिक्षुणियाँ लगाती हैं।

2. ल्हासा में

काठमांडो से चलते वक्त मैंने धर्मासाहु से चिट्ठी ले ली थी। मेरे पास जितने रुपये थे, उनमें से कितने का तो ञेनम् में तिब्बती सिक्का भुना लिया था, लेकिन सौ रुपये से कुछ अधिक मैंने अलग रख लिए थे। मैं ल्हासा में आया था डटकर तिब्बती भाषा और बौद्धग्रन्थों के अध्ययन के लिए। सौ रुपये का उस वक्त तिब्बती सिक्के के हिसाब से डेढ़ सौ साङ् मिलता, जिसमें सिर्फ खाने पर साढ़े चार साङ् (तीन रुपया) मासिक लगता, बहुत सादगी से रहने पर। लेकिन जाड़ों के लिए कपड़ा बनवाना पड़ता, जिसके लिए कम से कम 40 रुपये लगते। बरतन-भाँड़ा और दूसरी चीजों पर भी 50 रुपये लग जाते। उसके बाद किताबों की जरूरत होती।

सब देखने से रुपये की दिक्कत ही दिक्कत सामने थी। लेकिन मैं इन पास के रुपयों के भरोसे तो अँधेरे में नहीं कूदा था ?

धर्मासाहु के पुत्र पूर्णमान और ज्ञानमान दोनों ही नौजवान थे। यद्यपि अपने पिता की तरह की भक्ति के लिए वह उमर नहीं थी, लेकिन वह दोनों ही बड़े सुशील थे। उन्होंने खुलकर मेरा स्वागत किया। 5 महीनों से मैंने अखबार नहीं देखा था। त्रिरत्नमान साहु 'स्टेट्समैन' का साप्ताहिक संस्करण मँगाते थे। चिट्ठी देने और थोड़ी-बहुत बात करने पर मैंने कई महीने के अखबारों को लेकर पढ़ा। अब मैं सभ्य लोगों में आ गया था, इसलिए मैल जमा करने की जरूरत नहीं थी। दूसरे दिन (20 जुलाई) मैंने स्नान करने की इच्छा प्रकट की। मिट्टी की छतोंवाले घरों में स्नान का इन्तिजाम करना बहुत मुश्किल है। उसी घर में कादिर भाई भी रहते थे। उनकी लड़की रास्ता बताने के लिए चली और मैंने ल्हासा से पच्छिमवाली नहर में जाकर स्नान किया।

धर्मासाहु बहुत दिनों से अपने घर ही पर रहते थे। लड़के छोटे-छोटे थे, और दूकान का इन्तजाम उनके भानजे जगतमान किया करते थे। मेरे जाने के दूसरे दिन कई बरस बाद वह नेपाल लौट रहे थे। उनको बहुत अफसोस हुआ, कि मेरी सेवा नहीं कर सके। मैं भी समझता था, उनका बड़े-बड़े लोगों से बहुत परिचय है और वह कुछ दिन और रह जाते, तो जरूर मेरे काम में बड़ी सहायता करते। यात्रा के लिए सारे मंगलानुष्ठान हुए, मंगल-पाठ हुआ। भुनी मछली, सारस का उबला अंडा यात्रा में मंगल भोजन समझे जाते हैं। इसके बाद थोड़ा शराब का पीना भी। मित्रों, बन्धुओं ने सफेद खाता (रेशमी चीट) उनके गले में डाला, और जगतमान साहु खुशी-खुशी वहाँ से बिदा हुए।

अब चूँकि मुझे प्रकट होके रहना था, इसलिए दलाई लामा के पास तक सूचना पहुँचा देना जरूरी थी। मैंने पढ़ रखा था, तिब्बत में सैकड़ों भारतीय पंडित गए, उन्होंने हजारों ग्रन्थों का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया, और हजारों तरुणों को बौद्धतत्त्वज्ञान की शिक्षा दी। मैंने सोचा था, मैं भी तो पंडित हूँ, यद्यपि शताब्दियों से तिब्बत और भारत का धार्मिक सम्बन्ध नहीं रहा, और जहाँ भारतीय गुरु बनकर आते थे, वहाँ मैं शिष्य बनने के लिए आया हूँ; तो भी मेरे जैसे भारतीय विद्यार्थी के लिए यहाँ जरूर सुभीता होगा। 21 जुलाई को मैंने दलाई लामा की सेवा में अर्पण करने के लिए 15 श्लोक बनाये। लेकिन संस्कृत भेजने से फायदा क्या ? इसलिए अनुवादक ढूँढ़ने की जरूरत पड़ी, जो उतना आसान काम नहीं मालूम हुआ।

त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों भाई तो मेरी सहायता करने के लिए तैयार थे ही; लेकिन अभी वह ल्हासा से पूर्ण परिचित नहीं थे। उनसे भी ज्यादा मेरी सहायता के लिए तत्पर थे धीरेन्द्रवज्र, जिनको वहाँ लोग गुभाला कहा करते थे, जो गुभा (गुरुभाजू, गुरुमहाराज) के साथ तिब्बती भाषा के ला (जी) को मिलाकर बना है। गुभाला, मेरी यात्रा में जितने आदमी मिले, उनमें कुछ चुने हुए रत्नों में से एक थे। मैंने जब दलाई लामा के पास खबर पहुँचाने के लिए किसी प्रधान व्यक्ति को ढूँढ़ निकालने के लिए कहा, तो गुभाला ने ठी-रिन्पो-छे का नाम लिया; अर्थात् तिब्बत में बौद्धों के चार प्रधान सम्प्रदायों—ञिगूमापा, कर्ग्युद्पा, सक्यपा और गेलुगूपा—में सबसे प्रभावशाली गेलुगूपा की मूल गद्दी के स्वामी। यद्यपि ठी-रिन्पो-छे ने गद्दी छोड़ दी थी, तो भी उनका सम्मान बहुत ज्यादा था। गुभाला के साथ मैं उनके पास गया। उनकी अवस्था 70 से अधिक थी। स्वभाव बहुत ही शान्त और वाणी बहुत ही मधुर। उनसे मैंने तिब्बत आने का उद्देश्य बतलाया और कहा कि आप दलाई लामा को सूचित कर दें, जिससे कि मैं निश्चिन्त होकर अपने अध्ययन में लग जाऊँ। उन्होंने सलाह दी कि चुपचाप अपना काम करो। मैं जानता था, यद्यपि 1911 की चीनी क्रान्ति के बाद दलाई लामा की जिसने सबसे ज्यादा सहायता की, वह अँगरेज ही थे, किन्तु साथ ही डेढ़ सौ बरसों से चला आता सन्देह अब भी तिब्बती लोगों के खून में है और अँगरेजों को वह बड़ी शंकित दृष्टि से देखते हैं। दुर्भाग्य से मैं अँगरेजी प्रजा था। वहाँ किसको मालूम था, कि अँगरेजों से बचकर आने में मुझे कितना कष्ट उठाना पड़ा। मुझे किसी तरह अपने पत्र को दलाई लामा के पास भेजना था। चुपचाप रहने में शायद मैं सफल होता, लेकिन पीछे मेरे लिए न जाने कितने लोगों को कष्ट उठाना पड़ता; इसलिए मैंने इसे पसन्द नहीं किया। ल्हासा में धनी लड़कों को अँगरेजी और तिब्बती पढ़ाने के लिए दार्जिलिंग के एक भोटियाभाषी सज्जन ने प्राइवेट पाठशाला खोल रखी थी। पहिले

उन्होंने तिब्बती में अनुवाद करना स्वीकार किया, पर पीछे डर गए। ङरी-छाङ् दलाई लामा के एक बहुत ही विश्वासपात्र दरबारी थे। उनके लिए मेरे पास लदाख का एक पत्र था। पता लगाने पर मालूम हुआ, कि वह आजकल ल्हासा से 5, 7 मील दूर क्येमोलिङ् के अपने उद्यान-प्रासाद में हैं। एक नेपाली साहु का उनसे बहुत परिचय था, उन्होंने साथ ले चलने के लिए कहा भी, लेकिन उस दिन बहाना कर गए। त्रिरत्नमान साहु ने घोड़े का इंतिजाम कर दिया, और मैं अकेला ही घोड़े पर चढ़कर चल पड़ा। रास्ता भूल जाने से 2, 3 मील का चक्कर पड़ा, लेकिन आखिर वहाँ पहुँच गया। वह बड़े स्नेह से मिले। जूता उतारकर तिब्बत में जाने का रवाज नहीं है, गर्मियों में भी घर का फर्श इतना ठंडा रहता है, कि लोग जूता पहिने ही घूमते हैं। आसन पर भी जूता पहिने ही बैठते हैं। मैं अपना जूता नीचे छोड़ आया था, ङरी-छाङ् किसी काम से नीचे गए थे, वह मेरा जूता भी उठाकर लेते आए। उनसे मैंने सारी बातें कहीं। उन्होंने विश्वास दिलाया, कि मैं आपके पत्र को जरूर दलाई लामा के पास पहुँचा दूँगा। कई आदमियों से मदद लेकर श्लोकों का भोटिया अनुवाद तैयार किया। संस्कृत में मैंने बहुत सुन्दर अक्षरों में लिखा, और 9 अगस्त को बड़े तड़के ही गुभाला के साथ दलाई लामा के राजोद्यान नोर्बूलिङ्का (मणिउद्यान) गया। अनुवाद-सहित श्लोक के पत्र और एक रेशमी खाता को ङरीलामा के हाथ में दिया। मैं तो उस दिन दूसरी जगह चला गया था, लेकिन ङरीलामा स्वयं छुशिङ्-शा में आकर कह गए कि मैंने दलाई लामा को पत्र दे दिया। पंडित आपकी कोठी में रहें। सरकार किसी दिन उन्हें बुलाएँगे।

एक बात से तो संतोष हो गया, कि अब मुझे छिपकर रहने की जरूरत नहीं; लेकिन मैं डेपुङ या सेरा में से किसी एक गुंबा में रहना चाहता था, जहाँ विद्वानों का सत्संग होता और चौबीस घंटा तिब्बती भाषा बोलने का मौका मिलता। छुशिङ-शा में त्रिरत्नमान साहु, ज्ञानमान साहु, माहिला साहु और दो-तीन दूसरे कर्मचारी नेपाली थे, सब हिन्दी बोलते थे। कोठे की एक कोठरी कादिर भाई की थी, वह भी हिन्दी बोलते थे; इस प्रकार तिब्बती भाषा बोलने का उतना मौका नहीं था। लेकिन क्या करता ?

वहाँ भोजन था सत्तू, चाय और मांस। दो बजे चिउरा और सूखा तला मांस, शाम को भात-दाल और मांस। चाय के प्यालों की तो कोई गिनती ही न थी; वह तो सोते वक्त तक चलते ही रहते थे। लेकिन मैं यह पसन्द नहीं करता था। मैं वर्षों रहने की इच्छा से आया था, फिर इतने दिनों तक अपना भार छुशिङ-शा के ऊपर रखना कैसे ठीक होता ? आगे मैंने भोजन के लिए पैसा देने का आग्रह किया, जिसे साहु लोगों ने अनिच्छापूर्वक सिर्फ मेरा ख्याल करके स्वीकार किया।

ङरीछाङ् को पत्र देकर मैं उसी दिन डेपुङ् गुंबा चला गया। डेपुङ् तिब्बत का सबसे बड़ा मठ है, जिसमें सात हजार भिक्षु रहते हैं। यह एक शहर-सा है। मैंने ख्याल किया कि आज्ञा मिल गई, तो यहीं आकर किसी कोठरी में रहूँगा। कई घरों को देखा, लेकिन जगह पाना वहाँ इतना आसान नहीं था। सारा गुंबा बहुत-से छात्रावासों (खम्जन) में बँटा हुआ है और हरेक खम्जन एक-एक देश के लिए निश्चित है। लदाखवाले पितोक्-खम्जन् में रहते हैं, कनौरवाले गुगे-खम्जन् में। भारत का तो वहाँ कोई खम्जन् था नहीं। नवागंतुक छात्र अपने देश के खम्जन् पर अपना खास अधिकार समझते हैं। इन खम्जनों के बनाने में उन देशों ने आर्थिक सहायता दी है और संचालन के लिए रुपये का दान भी किया है। सभी खम्जनों के पास छोटी-बड़ी जागीरें हैं। 20 साङ (14 रुपया) वार्षिक में एक आदमी के लिए एक अच्छा कमरा मिल सकता था। 10, 12 रुपये में खाने का भी काम चल जाता। 3, 4 रुपया और खर्च देने पर रसोई बनी-बनाई मिल सकती थी, गोया 20 रुपया महीने में किताब छोड़कर मैं बाकी काम चला सकता था। 4, 5 महीने तो पास के रुपयों से गुजारा हो ही जाता, फिर कोई न कोई रास्ता निकल आता। लेकिन इन खम्जनों में नाम लिखाना आसान न था। सुखराम और कुछ दूसरे कनौर निवासी छात्र कुङ्गारवा महल में रहते थे, मालूम हुआ कि वहाँ नाम लिखाने की जरूरत नहीं। यह वही महल है, जिसमें दलाईलामा-राज के आरंभ करनेवाले पाँचवें दलाईलामा शासक बनने से पहिले रहा करते थे, अब भी यह दलाईलामा का महल है। लेकिन जब वर्तमान दलाईलामा पोतला जैसे भव्य प्रासाद को पसन्द नहीं करते, और नोर्बूलिङ्का (मणिद्वीप) के उद्यान-भवन में रहते हैं, तो वह कुङ्गारवा

में क्यों आने लगे ? समूलो-खमूजन् रूसी इलाके के मंगोल-छात्रों का छात्रावास है। गेशे थब्-दङ्-शेरब् भारत हो आए थे, उनका जन्मस्थान साइबेरिया में बैकाल सरोवर के पास बुरयत प्रजातंत्र में है। आजकल वह यहीं पर थे। पहिली रात मैं उन्हीं के यहाँ रहा, सुमतिप्रज्ञ भी डेपुङ् पहुँच गए थे। 10 अगस्त को उनकी ओर से भोज था, और उन्होंने मंगोल लोगों का एक बहुत ही प्रिय भोजन मांस का परोठा तैयार किया था। मंगोलिया के 4 इलाके हैं, जहाँ से भिक्षु-विद्यार्थी तिब्बत के मठों में पढ़ने आया करते थे—बाहरी मंगोलिया (उरगा, आधुनिक उलनूबातुर), भीतरी मंगोलिया, बुर्यत (बैकाल के पास) और कलमुख (वोल्गा नदी के दक्षिणी तट पर अवस्थित); लेकिन रूसी क्रान्ति के बाद बुर्यत और कलमुख सोवियत प्रजातंत्र बन गए (पिछले युद्ध में कलमुख वोल्गा-तट छोड़ पूर्व की ओर चले गए), बाहरी मंगोलिया में भी साम्यवादी शासन कायम हो गया। अब भीतरी मंगोलिया ही एकमात्र ऐसा इलाका रह गया था, जहाँ से मंगोल भिक्षु तिब्बत पढ़ने के लिए आया करते थे। सुमति भिक्षु भीतरी मंगोलिया के थे। जहाँ पहिले डेपुङ् में हजार के करीब मंगोल भिक्षु रहा करते थे, अब उनकी संख्या 2, 3 सौ ये ज्यादा नहीं थी। साम्यवादी प्रजातंत्रों से तो नए भिक्षु अब एक तरह से आते ही नहीं। उनके लिए 30, 30 साल तक मठों की पुरानी विद्या पढ़ना बेकार है। लेकिन अब भी सबसे मेधावी और परिश्रमी छात्र और पंडित मंगोल ही देखे जाते हैं। मैंने सुमति को जितना कहा था, उससे भी अधिक पैसे दे दिए, वह बहुत खुश हुए, और अपनी ही कोठरी में रहने के लिए कह रहे थे। रहना तो छुशिङ्शा में ही था, अब पढ़ने-लिखने का प्रबंध ठीक करना था। मैंने नेपाली लोगों के मंदिरों (पाला) में जो नौ संस्कृत ग्रन्थ (नव व्याकरण) थे, उनको मँगाया और तिब्बती अनुवाद के साथ मिलाकर पढ़ना शुरू किया। मुझे ख्याल आया कि यदि इन शब्दों को अलग करता जाऊँ, तो एक भोट-संस्कृत-कोष तैयार हो सकता है; इसलिए मैंने छोटे-छोटे कागज के टुकड़ों पर शब्दों को लिखना शुरू किया। भिक्षुओं और तिब्बती विद्वानों से बातचीत और सत्संग के बाद मेरा तिब्बती पढ़ने का ज्यादातर काम संस्कृत और भोट-अनुवाद ग्रन्थों के द्वारा ही होता रहा। अन्त में मैंने 16 हजार के करीब शब्दों को अपने कोष के लिए जमा कर लिया। ठी-रिन्पो-छे ने तंजूर की पोथियों को देने के लिए मुरु विहार को कह दिया। वहाँ से पुस्तकें मेरे निवास स्थान पर चली आया करतीं।

मैं जिस कोठरी में रहता था, उसमें कई और आदमी भी थे, इसलिए त्रिरत्नमान साहु ने एक दूसरी कोठी दे दी। भीतर की ओर तो कुछ चीज-वस्तु रहा करती थी, लेकिन मेरे लिए बाहर का बरांडा काफी था। सर्दी बढ़ती गई। मैंने अपना पुराना रद्दी चोगा तो हफ्ते-डेढ़ हफ्ते बाद ही किसी को दे डाला और 25, 30 रुपये लगाकर ऊनी भिक्षु वस्त्र बनवा लिया। जब सर्दी और बढ़ी तो 20 रुपये में एक पोस्तीन का लम्बा चोगा खरीदा। यह कुछ पुराना-सा था और गुदड़ी बाजार से लिया था। पहिले तो किसी-किसी ने महँगा कहा। लेकिन पीछे एक आदमी उसके ऊपर के लाल रेशम के लिए ही आधा दाम देने के लिए तैयार थे। खैर, मुझे अब जाड़े का डर नहीं रह गया था। लेकिन लिखते वक्त हाथ और अँगुलियों को कैसे छिपा सकता था। अक्तूबर के अन्त तक अँगुलियाँ फटने लगीं और हाथ से खून निकलने लगा। जाड़े में बस यही एक तकलीफ रही, लेकिन वेसलीन लगा के काम चलने लगा। मैं एक दिन कलम से लिख रहा था, देखता था स्याही कागज पर नहीं आ रही है, झटका देकर लिखने की कोशिश की, तब भी स्याही नहीं उतरी। देखा तो स्याही बरफ बनके क़लम की नोक पर जम गई है। फिर मैं फाउन्टेन्पेन का इस्तेमाल करने लगा। वह नहीं जमती थी।

युद्ध के बादल—मेरे आए अभी 1 महीना भी नहीं हुआ था, कि तिब्बत पर लड़ाई के बादल मँडराने लगे। सीमाओं पर जुलुम, नेपाली प्रजा पर जुलुम इत्यादि कई तरह की शिकायतें नेपाल सरकार को तिब्बती सरकार से थीं। इधर एक और दुर्घटना घटित हुई। शरबा ग्यल्पो एक बहुत ही खुशहाल भोट-भाषा-भाषी व्यापारी नेपाली प्रजा था। वह कुछ ज्यादा निर्भीक था, और कभी-कभी तिब्बती शासन और दलाईलामा तक की कड़ी आलोचना कर बैठता था। पिछली शताब्दी की कई लड़ाइयों में हराकर नेपाल सरकार ने भोट सरकार से कई रियायतें हासिल कर ली हैं। उनमें से एक यह थी, कि नेपाली प्रजा के मुकदमे का फैसला नेपाली प्रतिनिधि ही कर सकता है, तिब्बती अदालत को इसके लिए कोई अधिकार नहीं। हाँ, यदि दोनों की प्रजा किसी मुकदमे में हो, तो दोनों की संयुक्त अदालत फैसला करेगी। शरबा को भोट सरकार की क्या परवाह थी, वह नेपाली

प्रजा था। दलाईलामा के पास शरबा की शिकायत पहुँच चुकी थी, किसी ने कहा कि शरबा नेपाली नहीं, भोटिया प्रजा है। शरबा बहुत वर्षों से ल्हासा में रह रहा था, भोट सरकार का कर्त्तव्य था कि पहिले उसके बारे में ज्यादा जाँच करती। लेकिन जहाँ एक आदमी के हाथ में शासन की असीम शक्ति होती है, वहाँ कर्त्तव्य और कानून को कौन देखता है। दलाईलामा ने हुकुम दिया और शरबा पकड़ के जेल की हवालात में डाल दिया गया। मामूली कैदियों की हवालात में नहीं रखा गया, नहीं तो उसका जीवन और भी नरक हो जाता। मामूली कैदियों की हवालात है गन्दी अँधेरी कोठरी, जिसमें पिस्सुओं और खटमलों की गिनती नहीं। वहाँ यदि बरस दिन रह जाना पड़े, तो बिरला ही जीता निकल पाता है। 14 अगस्त को शरबा मौका पा भागकर नेपाली दूतावास में आ गया। नेपाली राजदूत को मेरे आने की खबर मालूम हुई तो, उन्होंने मुलाकात करने के लिए बुलाया था। मैं जब राजदूत से मिलकर लौट रहा था, तो देखा कि एक बहुत हट्टा-कट्टा लम्बा आदमी वहाँ टहल रहा है, यही शरबा था। दलाईलामा का क्रोध और भड़का। वह सिर्फ कुछ जिम्मेवार अफसरों के सजा दे देने पर ठंडा नहीं हो सकता था। शहर में तरह-तरह की अफवाहें उड़ने लगीं। नेपाली ल्हासा के मारवाड़ी हैं, एक-एक कोठी में लाखों की सम्पत्ति है। सब डरने लगे कि भोट सरकार ने अगर जबर्दस्ती की और राजदूत ने कुछ भी विरोध किया, तो शहर के गुंडे बदमाश नेपालियों को लूट लेंगे। 23 अगस्त को हल्ला हुआ कि भोटिया पलटन शरबा को पकड़ने के लिए नेपाली दूतावास गई। लोगों ने धड़ाधड़ दूकानें बन्द कर दीं। सड़क पर थोड़ी-थोड़ी चीज लेकर बेचनेवाले, फेरीवाले नर-नारी भी चम्पत हो गए। जहाँ अभी थोड़ी ही देर पहिले चहल-पहल थी, वहाँ बिल्कुल नीरवता छा गई। सब लोग अपने-अपने पिस्तौल और बन्दूक को सँभाल-सँभाल कर बैठे थे। पीछे मालूम हुआ कि सिपाहियों में आपस में झगड़ा हो गया है। 27 अगस्त के 12 बजे फिर उसी तरह दूकानें दनादन बन्द हो गईं। अब की झूठी खबर नहीं थी, दलाईलामा के सैनिक नेपाली दूतावास में शरबा को पकड़ने के लिए घुस गए। अन्तर्राष्ट्रीय विधान के अनुसार दूतावास पर हमला करना अभद्रोचित समझा जाता। लेकिन जब सोवियत दूतावासों के साथ इंगलैंड और चीन वैसा बर्ताव कर चुके हैं, तो पाँच सौ वर्ष पिछड़े तिब्बती सरकार के बारे में क्या पूछना ? सबको आशंका थी कि राजदूत भरसक शरबा को नहीं देना चाहेगा। दूतावास में बहुत ज्यादा नेपाली सैनिक नहीं थे, लेकिन जो थे, वह भोटिया सैनिकों की तरह नवसिखिये बन्दूकची नहीं थे। यदि वह चाहता, तो नेपाली प्रजा में से भी हजार-डेढ़ हजार को हथियारबन्द कर सकता था। कुछ घड़ी, कुछ दिन तो वह जरूर डटकर मुकाबिला कर सकता था। शायद इसे बहादुरी समझा जाता, लेकिन बुद्धिमानी हरगिज नहीं; क्योंकि अब एक शरबा ही के प्राणों की बात नहीं थी, बल्कि हजारों नेपाली मारे जाते। राजदूत ने जबानी विरोध किया। भोटिया सैनिक शरबा को पकड़कर ले गए। उसी दिन शरबा के ऊपर दो सौ बेंत पड़े। उसका मांस और चमड़ा कट गया। लोग कह रहे थे, शरबा ने एक बार सी भी नहीं किया। 17 नवम्बर को शरबा मर गया। ल्हासा कोई आधुनिक शहर नहीं, यद्यपि वहाँ की दूकानों पर आधुनिक चीजें भी बिकती हैं। शहरों की हड़ताल के बारे में हम लोग समझते हैं कि यह आधुनिक दुनिया की चीज है। लेकिन जान पड़ता है, नागरिकों की हड़ताल या दूकानबन्दी पुराने जगत में भी होती थी। 29 अगस्त को नगर के अधिकारी ने सौदागरों को बुलाकर पहिले तो सांत्वना दी, और फिर कहा, कि जो फिर दूकान बन्द की गई तो सख्त सजा दी जायगी। दूकान तो खैर तब से बन्द नहीं हुई, लेकिन नेपालियों में बड़ी बेचैनी फैल गई। अब साफ मालूम होने लगा कि तिब्बत और नेपाल में जरूर लड़ाई होके रहेगी। सेना के लिए तम्बू बनने लगे और बाजार में जितना जीन कपड़ा मिला, सरकार ने सब खरीद लिया। सितम्बर के अन्त में चीन के इलाके सीनिङ से सैकड़ों खच्चर बिकने के लिए आए, सरकार ने सबको खरीद लिया। नेपाली भी 1, 2 करके ल्हासा छोड़ने लगे। ज्ञानमान साहु ने अपने बड़े भाई त्रिरत्नमान को 20 अगस्त को ही भारत के लिए रवाना कर दिया। अक्तूबर के पहिले हफ्ते में नेपाली सौदागरों के पास नेपाल और कलकत्ता से चिट्ठी पर चिट्ठी और तार पर तार आने लगे—सब कुछ बेंच-बाचकर चले आओ। 3 अक्तूबर को सरकार ल्हासा के नागरिकों की मर्दुमशुमारी करा रही थी। 5 अक्तूबर को मालूम हुआ, कि दोनों सरकारों में तार से बात हो रही है; यह भी मालूम हुआ कि नेपाली सेना तिब्बती सीमा के लिए चल चुकी है। 6 तारीख को ज्ञानमान साहु को भी सब छोड़कर चले

आने का तार आ गया, लेकिन वह जाने के लिए तैयार नहीं हुए, शायद कितने ही नेपालियों की तरह उन्हें विश्वास था, कि युद्ध नहीं होगा। 8 अक्तूबर को मालूम हुआ कि नेपाल सरकार ने दो शर्तें रखी हैं–अपराधी अधिकारियों को दंड दिया जाय और तिब्बती सरकार खुले तौर से माफी माँगे। तिब्बती सरकार इसके लिए तैयार नहीं थी। 8 तारीख को पता लगा कि दलाईलामा ने डेपुङ्, सेरा, गन्दन–तीनों गुंबाओं के प्रतिनिधियों को सलाह के लिए बुलाया, लोग युद्ध के पक्ष में नहीं हैं। लेकिन दलाईलामा, प्रधान सेनापति और कुंभेला–लामा के प्रिय दरबारी–तीनों युद्ध के लिए उतारू थे। 4 नवम्बर को ल्हासा की सड़कों से भोटिया पलटन "राइट-लेफ्ट" करती निकली। बिलकुल महादेव बाबा की बरात, कोई 55 बरस का बूढ़ा, और कोई 12 बरस का छोकरा। उरदी-फुरदी की कोई जरूरत नहीं। लेकिन इससे लोगों को युद्ध की आशंका और बढ़ गई। अब फौजी तम्बू तैयार हो गए थे, चाय पकाने के लिए बड़े-बड़े बरतन भी खरीदे जा रहे थे। 10 नवम्बर को पता लगा, कि शरबा के पकड़ने की सारी जिम्मेवारी दलाईलामा और उनके भतीजे लोङ्छेन (प्रधानमंत्री) के ऊपर है। इंगलैंड से पढ़कर लौटे प्रधान सेनापति भी युद्ध के पक्ष में हैं। मैंने एक भोटिया भद्रपुरुष से पूछा–आधुनिक सैनिक दृष्टि से नेपाल की पलटन भी लठियल फ़ौज है, लेकिन वह भोटिया फौज से तो हजार गुना अधिक शिक्षित है। संख्या भी उसकी ज्यादा है, फिर किस उमेद पर भोटिया सरकार तनी हुई है ? उन्होंने कहा–रूस मदद करने आएगा। मैंने कहा–रूस के मदद करने के लिए आने का मतलब है, इंग्लैंड का भी उसमें कूदना, यह असंभव है। फिर रूस का तो तुम्हारा तार का भी सम्बन्ध नहीं, बेतार भी तुम्हारे पास नहीं, छै महीने में जब तक मास्को खबर पहुँचेगी, तब तक तो नेपाली पलटनें ल्हासा पहुँच जायेंगी। फिर उन्होंने कहा–चीन हमारी मदद के लिए आयेगा। मैंने सोचा–यह कोरा भाग्यवाद है। 11 नवम्बर को नेपाल से आई चिट्ठियों से मालूम हुआ कि कुत्ती और केरोङ् के रास्ते तैयार हो गए हैं, पलटनें दनादन जा रही हैं। घरवाले अपने आदमियों को जल्दी आने के लिए जोर दे रहे हैं। 14 या 15 तारीख को किसी नेपाली सौदागर ने अपने आदमी को बुलाया था जिसके जवाब में नेपाल से तार आया था "आना खतरे की बात है" (Unsafe to Come)।

हिन्दुस्तान से ल्हासा तक तार है, जिसमें ग्यान्ची तक अँगरेजी तार हैं, इसके बाद भोट सरकार का। उस वक्त तार के खंभों को बदलने के लिए भारतीय तार विभाग ने मिस्टर रोजमेयर–एक एंग्लो-इंडियन सज्जन–को उधार दिया था। वह उस वक्त ल्हासा में थे। मेरे पास एक दिन मिलने आ चुके थे। मैं समझता था कि वह सौजन्य दिखलाने के लिए नहीं, बल्कि यह जानने के लिए मेरे पास आये, कि मैं क्या कर रहा हूँ। मेरा काम तो बिल्कुल साहित्यिक था। लेकिन उन्होंने सरकार को क्या लिखा होगा, यह कौन जाने ? 17 नवम्बर को फिर रोजमेयर आए, वह दूसरे रोज हिन्दुस्तान को रवाना होनेवाले थे। उन्होंने कहा–अँगरेजी सरकार अपने दोनों दोस्तों में कैसे लड़ाई होने देगी ? यह बात बिलकुल सच थी। इस युद्ध की खबर आनन्द जी के पास मैंने सीलोन में भी भेज दी थी। हमारे नायक स्थविर यह सुनकर बहुत घबड़ा गए थे और आनन्द जी से पूछ रहे थे, कि वहाँ हवाई जहाज पहुँच सकता है या नहीं। मैंने जवाब लिख दिया था–"आज तक तो तिब्बत के आकाश में कोई हवाई जहाज नहीं उड़ा।" 21 को नेपाल से तार आया कि नेपाल का सम्बन्ध सब सुन्दर है, डरना नहीं चाहिए, पूर्ववत् कार्य करो। पहिली दिसम्बर को मालूम हुआ, कि सुलह होने में बहुत सन्देह है।

उधर महीनों से लामा लोग पुरश्चरण कर रहे थे। नेपाल के महामंत्री चंद्रशमशेर बहुत बूढ़े थे, 25 नवम्बर को उनका देहान्त हो गया; लेकिन ल्हासा में इसकी खबर दो दिन बाद मिली। सब जगह हल्ला हो गया, कि तान्त्रिक लामाओं का पुरश्चरण सफल हुआ, उसी के कारण नेपाल के प्रधानमंत्री मरे। 28 दिसम्बर को सुना कि नेपाल से युद्ध होने में कोई सन्देह नहीं है। नेपाल में अब चन्द्रशमशेर के छोटे भाई भीमशमशेर प्रधानमंत्री हुए। मुझे निश्चय हो गया, कि अब लड़ाई की कोई संभावना नहीं है। 11 और 13 फरवरी को पता लगा कि नेपाली सेना सीमा पर पहुँच गई। तिब्बती अधिकारियों में अब ज्यादा घबराहट थी। इसी समय चीन सरकार का दूतमंडल ल्हासा पहुँचा, जिसमें एक स्त्री भी आई। 13 फर्वरी को नाव और पैदल दोनों रास्तों पर सिपाही बैठा दिए गए और अब कोई नेपाली या अर्द्धनेपाली (भोटिया औरतों से नेपाली पुरुषों की सन्तान) ल्हासा

छोड़कर बाहर नहीं जा सकता था। अब युद्ध में क्या सन्देह हो सकता था ?

13 फर्वरी को यह भी पता लगा कि नेपाल और भोट में मेल कराने के लिए सरदार बहादुर लेदनूला आ रहे हैं। लेदनूला दार्जिलिंग के एक भोट-भाषा-भाषी सज्जन थे। वह पुलिस में मामूली थानेदार से तरक्की करते-करते सुपरिन्टेन्डेन्ट बने थे। अँग्रेजी सरकार के बड़े खैरख्वाह थे, लेकिन, साथ ही भोट के लोगों और बौद्ध धर्म से उन्हें बहुत प्रेम था। वह कुछ दिनों तक भोटिया पुलिस के नवसंगठन और शिक्षण के लिए ल्हासा में भी रह चुके थे। 15 फरवरी को तोप लिए पलटन शहर के भीतर से घूमी। युद्ध का पारा बहुत ऊँचा हो गया। नेपाली न चले जाने के लिए अब पछता रहे थे। उसी दिन यह भी मालूम हुआ, कि लेदनूला ल्हासा से दो दिन के रास्ते पर आकर लौट गए। ल्हासा में इस वक्त चीनी दूत भी आकर मौजूद थे, इसके कारण भोटिया लोगों को ज्यादा बल मालूम हो रहा था। 16 फर्वरी को लेदनूला ल्हासा पहुँच गए। 25 फर्वरी को पता लगा, कि लेदनूला दलाईलामा से तीन घंटा एकांत में बात करते रहे, उसके बाद उन्होंने मंत्रियों से बात की। 26 फर्वरी को मालूम हुआ कि कुम्-भेला और सेनापति समझौते के पक्ष में नहीं हैं। 7 मार्च तक लेदनूला को अपने काम में सफलता नहीं हुई। 11 मार्च को खबर मिली, कि लेदनूला अपने प्रयत्न में सफल हुए हैं, और समझौते की बातें नेपाल सरकार के पास स्वीकृति के लिए भेज दी गईं। 16 मार्च को फिर खबर उड़ी, कि लेदनूला हताश होकर लौटे जा रहे हैं। 18 ता. को अब भी युद्ध की आशंका थी, लेकिन प्रामाणिक लोग सुलह की आशा कर रहे थे। 20 नवम्त्तर को मैं लेदनूला से मिला, वह बड़े ही चतुर और मिष्टभाषी मालूम हुए। 22 मार्च के मध्याह्न को खबर आई, कि समझौता हो गया। चारों ओर खुशी ही खुशी दिखलाई देने लगी। लेदनूला ही थे, जो इस गुत्थी को सुलझा सके, नहीं तो भोटिया पागल राजनीतिज्ञ न जाने क्या कर बैठते। लेकिन पीछे यह देख मुझे बड़ा अफसोस हुआ, कि अँगरेजी सरकार ने लेदनूला के प्रयत्न का उचित सत्कार नहीं किया। यदि कोई अँगरेज उतनी सफलता प्राप्त किये होता, तो वह 'सर' या न जाने क्या बनाया जाता।

उधर यह सारा तूफान चल रहा था, उसी वक्त ल्हासा में रहकर मुझे अपने काम में लगा रहना पड़ता था। शायद ऊपर के लिखने से मालूम हो, कि मैं बड़े प्रयत्न से इन सूचनाओं को जमा करता था। बात यह नहीं थी। नेपाली या भोटिया जिससे भी मेरी मुलाकात होती, बात के दौरान में युद्ध की बातें जरूर आती थीं, और मैं उनको डायरी में नोट करता जाता, दिमाग भी बातों के विश्लेषण में लग जाता था। मैं लड़ाई से बहुत चिन्तित नहीं था, यह जरूर था, कि उसके छिड़ने पर मुझे छु-शिङ्शा छोड़कर किसी दूसरी जगह जाना पड़ता। जिस नई कोठरी में मैं चला आया था, उसकी बगल ही में कादिर भाई की स्त्री खतीजा रहती। कादिर भाई आधे तिब्बती और आधे कश्मीरी थे, लेकिन खतीजा शुद्ध तिब्बती थी, और सिर्फ तिब्बती बोल सकती थी। सब लोग जानते थे कि मैं अपने काम में दत्तचित्त रहता हूँ, इसलिए ज्यादा बातचीत करने नहीं आते। 8 सितम्बर को धीरेन्द्र गुभाला को उनके मालिक ने निकाल दिया। मालिक की कोठी ल्हासा के नेपालियों की बड़ी कोठियों में थी, बड़ी कोठीवाले अक्सर औरत नहीं रखते—खासकर खुल्लमखुल्ला नहीं रखते—लेकिन यह मालिक अर्धचीनी तरुणी को घर में बैठा ऐश-जैश में अंधाधुंध खर्च करता था। लोगों को आश्चर्य होता था, कि कोठी का असली मालिक उसका मामा इस पर क्यों नहीं ध्यान देता। इस मालिक और नौकर के झगड़े से एक फायदा हुआ कि धीरेन्द्रवज्र छुशिङ्-शा में चले आए। ल्हासा में 5, 6 सौ घर अर्धकश्मीरी मुसल्मानों के हैं, इनके अतिरिक्त कुछ चीनी मुसल्मान हैं, लेकिन दोनों में कोई वैसी घनिष्ठता नहीं। कश्मीरी मुसल्मान 17वीं सदी के मध्य में पाँचवें दलाईलामा के शासन के वक्त ल्हासा में प्रथम-प्रथम आए। अब तो उनकी काफी संख्या है। पहिले वह अपने मुर्दों को नदी में बहा देते थे, लेकिन पीछे दलाईलामा ने जमीन दे दी, जहाँ मसजिद और कबरस्तान बना। एक दिन कादिर भाई के घर मौलूदशरीफ की कथा हुई, मौलवी ने उर्दू में कथा कही, फिर भोज हुआ। कादिर भाई ने एक अच्छे कारीगर से घेवर बनवाया। प्रसाद पड़ोस में रहते मेरे पास क्यों न आता ?

सितंबर में अब फसल कटने लगी, इस वक्त ल्हासा में पतंगबाजी होती है। शायद नेपालियों ने इस खेल

को ल्हासा में फैलाया। सर्दी बढ़ रही थी। 17 सितंबर को दक्षिण के पर्वतों पर पहिले-पहिले बर्फ पड़ी। लड़ाई और उसके बाद तिब्बत और अंगरेजों से जो घनिष्ठता बढ़ी, उसका एक फल यह हुआ कि ल्हासा तक तार लग गया। इससे मुझे भी फायदा था, क्योंकि मैं हिन्दुस्तान या लंका आसानी से तार भेज सकता था। तार की दर कई वर्षों पहिले मुकर्रर की गई थी, लेकिन तब से भोटिया सिक्के का मोल अब चौथाई रह गया था, तो भी वही दर कायम थी। इसी घनिष्ठता के वक्त दलाईलामा ने तिब्बत के 4, 5 लड़कों को इंगलैंड पढ़ने के लिए भेजा था, जिनमें एक तो लौटकर मर गया। एक बिजली का इंजीनियर बना, और पानी से बिजली तैयार की, जो सारी टकसाल में काम आती है, और लामा के उद्यान-प्रासाद में भी लगी हुई है। शहर में अभी तक बिजली नहीं आई थी। एक नौजवान आजकल भोट का प्रधान सेनापति था, और चौथा एक छोटे-से जोङ् का अफसर बना दिया गया था।

ल्हासा से दो-दो, तीन-तीन मील पर डेपुङ् और सेरा के बड़े-बड़े विहार हैं। डेपुङ् में सात हजार से ज्यादा और सेरा में पाँच हजार से ज्यादा भिक्षु रहते हैं। वैसे तो ये नालन्दा की तरह के विश्वविद्यालय हैं, लेकिन इनमें रहनेवाले पाँच-पाँच, सात-सात हजार भिक्षु सारे के सारे विद्या पढ़ने के लिए वहाँ नहीं रहते। मामूली पढ़नेवालों की संख्या शायद बीस, पच्चीस सैकड़ा हो। असली विद्यार्थी तो दश सैकड़े ही होंगे। बचे हुओं में बाकी संख्या उजड्ड ढावों की है। वह मठ का रसोई-पानी से लेकर जागीर का इन्तजाम और व्यापार तक करते हैं। जरा-जरा बात में झगड़ पड़ते हैं, और कितने ही समय तो द्वंद्वयुद्ध की नौबत आ जाती है। उनका द्वंद्वयुद्ध मामूली कुश्ती नहीं होता। वह तलवार खूब तेज करते हैं, युद्धस्थान निश्चित कर लेते हैं, फिर शराब पीकर वहाँ अपने मित्रों के साथ पहुँचते हैं। तलवार लेकर अखाड़े में कूदते हैं, जिसमें एक का मरना निश्चित है, दूसरा फिर वहाँ से किसी दिशा की ओर चला जाता है। इन ढावों से लोग बहुत डरते हैं। गुंबा के बड़े अफसरों को छोड़ वह किसी को कुछ नहीं मानते। गेलुग्पा संप्रदाय के भिक्षुओं का शराब न पीना मशहूर है और मठों में तो वह बिल्कुल नहीं जा सकती, इसलिए छङ् पीने के लिए उन्हें शहर आना पड़ता है। उनकी नशा कभी-कभी खतरनाक सूरत ले लेती है। कभी-कभी तो बिना शराब पिये ही ऐसी नौबत आ जाती है। 30 सितंबर को कटे पतंग का सूत लूटने के लिए एक पुलीसमैन का ढावा से झगड़ा हो गया, ढावा ने पत्थर मारकर पुलिसवाले को वहीं खतम कर दिया।

लदाख में ठिक्-से एक अच्छा विहार है। मठों में जब कोई प्रभावशाली महन्त हो जाता है, तो उसके मरने पर यहाँवाले अवतार की कल्पना कर लेते हैं, और शिष्य की जगह किसी लड़के को उसका अवतारी मानकर गद्दी पर बैठाते हैं। तिब्बती बौद्ध धर्म जहाँ-जहाँ आया, सभी जगह ऐसे अवतारी लामाओं का प्रचार है, आजकल उनकी संख्या कई हजारों तक पहुँच गई है। इन अवतारी लामाओं का ही तिब्बत में सबसे ज्यादा मान है। लेकिन विद्याबुद्धि में शायद ही कोई अच्छा निकलता हो। अवतारी लामाओं से एक फायदा जरूर है, ये आमतौर से बड़े खान्दानों के लड़के होते हैं, छोटे घर का होने पर भी अपनी शिक्षा-दीक्षा के कारण वह बड़ी जातिवाले बन जाते हैं। इनकी सारी मनोवृत्ति राजाओं और सामन्तों जैसी होती है। बचपन ही से उनका बहुत अदब और दुलार किया जाता है, बड़े-बड़े लोग तीन-तीन बरस के बच्चे के सामने आशीर्वाद पाने के लिए अपना शिर नवाते हैं, फिर उसका दिमाग क्यों न आसमान पर चढ़ जाये ? पढ़ने के लिए मेहनत करने की उन्हें क्या जरूरत ? ऊँचे तबके के लोग उनके आसपास रहते हैं, इसलिए उनकी भाषा स्वभाव से ही अधिकांशतः परिमार्जित हो जाती है। ठिक्से है तो लदाख में, लेकिन वहाँ का अवतारी लामा बना ल्हासा से ले जाया गया एक लड़का। जवान होने पर उसे मठ का जीवन पसन्द नहीं आया। वह खुल्लमखुल्ला विलासी बन गया। अन्त में मठवाले भिक्षुओं को विरोध करना पड़ा, और वह ल्हासा चला आया। आजकल ल्हासा के पच्छिमी थाने में वह अफसर था। आदमी होशियार था। मुझसे अक्सर बात होती रहती थी। इसका बाप एक अच्छा अफसर था, लेकिन दोनों की पटरी नहीं बैठती। एक बार ठिक्से के भूतपूर्व अवतारी लामा, इस रंगीले तरुण से मैंने हँसते हुए पूछा, "क्या तुम इन अवतारी लामाओं को मानते हो ?" उसने कहा—"मैं खुद अवतारी लामा हूँ, लेकिन उसे बिल्कुल धोखा समझता हूँ। दलाईलामा को छोड़ मैं किसी को अवतारी नहीं मानता। दलाईलामा

राजा है। राजा को अवतारी माने बिना जान कैसे बच सकती है।"

22 नवंबर को वह तिथि थी, जिस दिन बुद्ध देवलोक में माँ को उपदेश देकर पृथ्वी पर उतरे थे। यह घटना संकास्य में हुई थी, इसे पहिले मैं बतला चुका हूँ। देवावतरण का उत्सव ल्हासा में बहुत धूमधाम से मनाया जाता है। कुछ दिन पहिले ही से घरों की सफाई और सफेदी होने लगती है। नवंबर में अब जाड़े का दिन था। जाड़ों में पशुओं को चारे का सुभीता नहीं होता, इसलिए वह दुबले हो जाते हैं, उनका मांस घटने लगता है; अतएव अक्तूबर और नवंबर में पशुओं को मारकर 8 महीने के लिए मांस जमा कर लिया जाता है। भेड़ों का मांस तो आमतौर से चमड़ा निकालने के बाद पूरा का पूरा टाँग दिया जाता है, और धीरे-धीरे वह सूख जाता है। याक और दूसरे बड़े जानवरों के मांस को टुकड़े-टुकड़े काटकर रस्सियों पर टाँग दिया जाता है। कादिर भाई ने एक याक मरवाया था और उसका मांस मेरी ही कोठरी के भीतर सूखने के लिए टाँगा था। याक आमतौर से काले रंग का होता है, लेकिन कितनों ही की पूँछें सफेद होती हैं। मरने के बाद उसे थोड़ी-सी पूँछ के साथ काट दिया जाता है, जिसमें बाल उसमें लगा रहे। इसी कटी पूँछ को चाँदी या किसी और धातु के मुट्ठे में जमा दिया जाता है और वह हमारा पवित्र चँवर बन जाता है।

याक ल्हासा से बहुत उत्तर अब भी जंगली अवस्था में मिलते हैं, और वह पालतू याक से तीन-तीन, चार-चार गुणे बड़े होते हैं। पालतू याक भैंस के बराबर होता है। वह ठंडी जगह का बैल है, लेकिन हमारे हिन्दुस्तानी बैलों (गायों) की अपेक्षा वह यूरोपीय बैलों की तरह ककुद-शून्य होता है। हमारी गाय और याक दोनों के जोड़ से पैदा हुई नसल बराबर चलती है, इसलिए दोनों की जाति एक है, इसमें सन्देह नहीं। नेपाली लोग तिब्बत में याक का मांस बराबर से खाते आए हैं, और अब भी खाते हैं। मैं तो पहिली यात्रा में उसे नहीं खा सका, क्योंकि मुझे पूरा विश्वास था कि वह गाय है और पुराने संस्कार मुझे उसके आस्वाद की ओर से विरक्ति पैदा करते थे।

मेरे पास पैसे बहुत थोड़े थे, यह मैं कह चुका हूँ। मैंने पहिले चाहा था कि महीने में दो-तीन लेख किसी अखबार के लिए लिख दिया करूँ, और उससे बीच-पचीस रुपये चले आएँगे, लेकिन अभी मैंने एक ही दो बरस से हिन्दी पत्रिकाओं में लेख देने शुरू किए थे, इसलिए पत्रों से क्या आशा हो सकती थी। हाँ, अपने मित्रों को मैंने सूचना दे दी थी और ल्हासा पहुँचने के डेढ़ महीने बाद ही आचार्य नरेन्द्रदेव जी ने बनारस से डेढ़ सौ रुपये भिजवा दिये। हफ्ते-भर बाद एक सौ चौदह रुपये चार आना उन्होंने और भेजवा दिये। उधर आनन्द जी भी स्थायी प्रबन्ध की कोशिश कर रहे थे। अब आठ-दस महीने के खाने-कपड़े की चिन्ता से तो मैं मुक्त था। लेकिन निश्चिन्त हो लम्बा प्रोग्राम तो मैं तभी बना सकता था, जब कि खाने-पीने का स्थायी प्रबन्ध कर लेता। मैंने पहिले सोचा था, कि मेरा संस्कृत का ज्ञान लंका की तरह तिब्बत में सहायता करेगा, लेकिन यहाँ संस्कृत को कोई पूछनेवाला नहीं था। मंत्र तिब्बत में भी संस्कृत ही में जपे जाते हैं, लेकिन भोट भाषा को वह संस्कृत से कम पवित्र नहीं मानते। और वैसे भी देखा जाय, तो जहाँ तक बौद्धसाहित्य का सम्बन्ध है, आज संस्कृत भाषा भोट भाषा के सामने अत्यन्त दरिद्र है। यह ठीक है कि तिब्बती भाषा के दश हजार ग्रन्थों का संस्कृत से ही अनुवाद किया गया था, लेकिन अब तो दो-ढाई सौ से अधिक ग्रन्थ संस्कृत में नहीं मिलते। इनमें भी ज्यादा वही हैं, जिन्हें पीछे की तीन यात्राओं में मैंने तिब्बत के पुराने मठों में पाया। जनवरी (1930) में आनन्द जी और आचार्य नरेन्द्रदेव की चिट्ठियाँ आई थीं कि वह स्थायी प्रबंध कर रहे हैं। आनन्द जी ने यह भी लिखा था, कि यहाँ से रुपया जाने पर आपको सारी किताब वहाँ से खरीदकर चला आना पड़ेगा। नरेन्द्रदेव जी काशी विद्यापीठ से प्रबंध करवा रहे थे और वह प्रबंध हो जाने पर मैं तिब्बत में रह के पढ़ सकता। दोनों जगहों में मैं विद्यापीठ की छात्रवृत्ति को ही पसन्द करता था, क्योंकि मैं तिब्बत में कुछ वर्षों तक रहकर पढ़ना चाहता था। तेईस फर्वरी को आनन्द जी का तार आया कि दो हजार रुपये लंका से भेज दिये गये। नरेन्द्रदेव जी का पत्र उससे चार दिन पहिले (उन्नीस फर्वरी) को ही मिल गया था, जिसमें पचास रुपये मासिक और डेढ़ हजार रुपये पुस्तकों के लिए सहायता की बात लिखी थी, लेकिन उसमें अभी मुझसे राय माँगी गई थी और फिर वैशाख से वह मिलता। मुझे लंकावाले प्रस्ताव को स्वीकार करना पड़ा, बहुत पछताते हुए। नायक

स्थविर उसमें पड़े हुए थे, और मैं उनको निराश नहीं कर सकता था।

इस तरह कम से कम तिब्बत में तीन साल तक रहने का मेरा संकल्प पूरा नहीं हो सका।

मंगोल भिक्षुओं की ओर मैं ल्हासा में बहुत ज्यादा आकृष्ट हुआ, क्योंकि मैंने उन्हें ज्यादा मेहनती और मेधावी पाया। मेरे रास्ते के साथी सुमतिप्रज्ञ ने तो इसके बारे में बिलकुल उलटा असर डाला था। हो सकता है, इसमें कारण पिछले बारह सालों से बढ़ता हुआ मेरा सोवियत-प्रेम भी हो। यद्यपि अभी तक मुझे मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन के ग्रन्थों के पढ़ने का मौका नहीं मिला था, और न किसी दूसरे साम्यवादी के किसी मौलिक ग्रन्थ को पढ़ा था। तो भी छै साल पहिले मैं 'बाईसवीं सदी' लिख चुका था। और मुझे दृढ़ विश्वास हो गया था, कि दुनिया की भलाई के लिए साम्यवाद छोड़ दूसरा कोई रास्ता नहीं। धर्म से मैं अब लम्बी-लम्बी आशाएँ नहीं रखता था, लेकिन अभी धर्मविरोधी नहीं बना था, खासकर बुद्ध के धर्म में मेरी बड़ी ही श्रद्धा थी, वस्तुतः उसी के प्रताप से मैं अनीश्वरवादी बना था। से-रा, डेपुङ् के मंगोल छात्र ज्यादातर साम्यवादी इलाके के थे। उन्होंने क्रान्ति के पहिले अपने देश को छोड़ा था। उन्हें जो खबरें पीछे मिलती थीं, उनसे यही मालूम होता था कि गुंबा (मठ) उजड़ती जा रही हैं, भिक्षु कम होते जा रहे हैं। मेरा परिचय ज्यादातर थब्-दङ्-शेरब और गेशे तन्-दर जैसे मेधावी विद्वानों से था। वह सोवियत के विरोधी नहीं थे, बल्कि अपने मातृभूमि के साथ-साथ सोवियत व्यवस्था के लिए कुछ गर्व करते थे। गेशे तन्-दर पाँच साल बाद तिब्बत की सबसे श्रेष्ठ परीक्षा में सारे तिब्बत में प्रथम आये थे। ल्हारम्-पा (डाक्टर या आचार्य) की पदवी सरकार की ओर से प्रतिवर्ष सिर्फ सोलह आदमियों को मिलती, और ऐसे ही विद्वानों को, जो शास्त्रार्थ और कड़ी मौखिक परीक्षाओं में पास होते हैं। गेशे तन्-दर अभी ल्हा-रम्-पा नहीं हुए थे, लेकिन उनकी विद्वत्ता की ख्याति हो चली थी। वह से-रा के विद्यार्थी थे। बारह अक्तूबर को मैं उनके साथ से-रा गया। (अफसोस 1947 ई., इस महान् विद्वान् के खन्-पो को गुंडे ढावों ने शांति का उपदेश करने के लिए मार डाला)।

से-रा भी मानो एक छोटा शहर है। पाँच-छः हजार भिक्षु जहाँ रहते हों, वह शहर छोड़कर और क्या हो सकता है ? से-रा में चार ड-सङ् (कॉलिज) हैं। और हर ड-सङ् का प्रमुख खन्-पो (पंडित) कहलाता है। लेकिन चारों में से तीन—ग्ये, म्ये, ङ ग्-पा इन तीन ही ड-सङ् में पढ़ने-पढ़ाने का काम होता है। ङ ग्-पा ड-सङ् सबसे छोटा है और उसमें कोई खम्-जन् (छात्रावास) नहीं है। ग्ये में बीस खम्-जन् हैं और म्ये में चौदह। खम्-जन् हरेक देश के अलग-अलग हैं, यह मैं डे-पुङ् के प्रसंग में बतला आया हूँ। गुंबा में कई बड़े-बड़े देवालय हैं और पाँच सदियों से श्रीवृद्धि होते रहने के कारण यहाँ के अनेकों देवालयों में बहुत सोना-रतन भरा हुआ है, बीस-बीस, तीस-तीस सेर के सोने के दीपकों में घी का चिराग जलता रहता है। मैं म्ये के खन्-पो के पास गया, वह मुझे बहुत सूखा-सा असंस्कृत आदमी जान पड़ा। खन्-पो की नियुक्ति में चूँकि दलाईलामा और उनके खुशामदी दरबारियों का हाथ होता है, जो कि खुद पंडित नहीं होते, फिर अच्छे आदमियों की नियुक्ति कैसे हो सकती है ? 1933 में दलाईलामा के मरने के बाद आनेवाले दलाईलामा की नाबालिगी-भर के लिए रे-डिङ् लामा रिजेन्ट (स्थानापन्न राजा) बने। उस समय रे-डिङ् लामा अठारह वर्ष के तरुण थे, और से-रा में पढ़ते थे। गेशे तन्-दर् मुझे उनके पास ले गये। वह मुझे बहुत ही सौम्य तरुण मालूम हुए। एक बहुत बड़े मठ के अवतारी लामा होने के कारण उनकी पढ़ाई उतनी अच्छी नहीं थी, यह स्वाभाविक ही था।

नवंबर-दिसंबर पहुँचते-पहुँचते सर्दी खूब बढ़ गई थी और तापमान अक्सर हिम विन्दु से नीचे रहता था। घड़े या लोटे का पानी रात को जम जाता था। गमले के फूल शाम होने से पहिले ही घर के भीतर रख लिये जाते थे, जिससे कि वह सूख न जायँ। दलाईलामा, टशीलामा जैसे बड़े-बड़े लामा, गन्दन, सेरा, डेपुङ् और टशी-ल्हुन्-पो जैसे बड़े-बड़े विहार जिस गेलुक्-पा संप्रदाय के अनुयायी हैं, उसके संस्थापक चोङ्ङ्-ख-पा का भोटिया दसवें महीने की दसवीं तिथि को (पूस बदी दशमी) देहान्त हुआ था, वह अब की बार 25 नवंबर को पड़ी थी। उस रात ल्हासा और से-रा, डे-पुङ् आदि विहारों में खूब धूमधाम से दीवाली मनाई गई। ल्हासा एक बड़ी चौड़ी उपत्यका में बसा हुआ है, जिससे पहाड़ पाँच-पाँच, छै-छै मील दूर पड़ते हैं। इन पहाड़ों में जहाँ-तहाँ सैकड़ों छोटे-छोटे विहार हैं। उस रात सभी जगह दीप जलाये गये थे। कृष्ण-पक्ष की दशमी की अँधेरी रात

को यह दीपमालिका देखने में बड़ी सुन्दर मालूम होती थी। ल्हासा की सड़कों पर यह प्रकाशपर्व देखने के लिए दर्शकों की भीड़ लगी थी। मंत्री लोग भी अपने परिचारकों के साथ घूम रहे थे। लेकिन साढ़े सात बजे बाद ही स्त्रियों का सड़कों पर घूमना खतरे की बात थी।

19 जनवरी को खबर फैली, कि सातवें दलाईलामा की समाधि में चोरी हो गई, और चोरी करनेवाला पुजारी अफसर पकड़ा गया। दलाईलामाओं के शव को फूँका नहीं जाता, उसे दो तीन महीना नमक की ढेर में डाल दिया जाता है, नमक शरीर के सारे रस को सोख लेता है, और सड़ने से भी बचाता है, फिर मसाले का लेप लगा आँख आदि लगा के लाश को पद्मासन बैठी मूर्त्ति-सा बना देते हैं–पद्मासन तो प्राण छूटते ही बना देते हैं। लोग इस नमक का प्रसाद समझकर उपयोग करते हैं। चार साल बाद जब फिर मैं ल्हासा आया था, तो हाल ही में मरे तेरहवें दलाईलामा का यह लवणप्रसाद बाँटा जा रहा था। मूढ़ विश्वास के बारे में मत कुछ पूछिए। हमारे सभ्य कहलानेवाले भारतीय भी तो धर्म के नाम पर गुरुओं की थूक और नहाये जल को ग्रहण कर अपने को पुण्यवान् समझते हैं। विवेकानन्द के प्रशंसकों ने यहाँ तक लिख दिया है कि वह एक बार रामकृष्ण परमहंस के कफ़ (थूक, खखार) भरे बरतन (उगालदान) को गुरु-श्रद्धा के मारे उठाकर पी गये ! फिर यदि तिब्बत के कुछ भोले-भाले भगत अपने अवतारी लामों के मूत्र-पुरीष का चरणामृत बनाते हों, तो इसके लिए बहुत आश्चर्य नहीं है।

दलाईलामा का मृत शव एक बड़े स्तूप में रखा जाता है, और उसके साथ-साथ लामा की बहुत-सी प्रिय वस्तुएँ–हीरा, मोती, रत्न-जड़े प्याले, हस्तलिखित पुस्तकें और न जाने क्या-क्या डाल दी जाती हैं। स्तूप के बाहर भी कितनी ही कीमती चीजों से उसे सजाया जाता है। पाँचवाँ दलाईलामा ही पहिला शासक था, उससे लेकर आगे के सभी दलाईलामाओं की समाधियों पर बड़े स्तूप बने हुए हैं। उनकी पूजा और पहरेदारी के लिए एक भिक्षु अफसर और कितने ही सहायक रहते हैं। उक्त अफसर ने कितने ही महीनों से सातवें दलाई लामा की समाधि के मोती, फीरोजे आदि बेचने शुरू किये थे, जब बदली होने का वक्त करीब आया, तो वह वहां से भाग गया। साल या अधिक से कन्-छी लम्-मर (एक सुन्दरी) के साथ वह बड़े मौज से रहता था। किसी ने सन्देह नहीं किया, कि उसके पास इतना पैसा कहाँ से आता है। उसने ज्यादातर माल नेपाली सौदागरों के हाथ बेचा था और वह अब तक अधिकतर जवाहिरात तिब्बत से बाहर निकाल चुके थे। खैर, चोरी तो की, लेकिन उसमें उतनी अकल नहीं थी। दक्खिन (हिन्दुस्तान) भागने की जगह वह उत्तर की ओर भागा। किसी पहाड़ में दो-तीन दिन तक छिपा रहा, फिर भूख लगी, तो बस्ती में खाना लेने आया और पकड़ लिया गया। वह और कन्-छी लम्-मर दोनों पकड़े हुए पोतला की हवालात में गये, और तब उन पर खूब मार पड़ी। उन्होंने सबका नाम बतला दिया और जिन-जिनने माल खरीदा था, सब पकड़े जाने लगे। नेपाली प्रजा की जिम्मेदारी नेपाली राजदूत ने ली। हमारे सामने मोतीरतन रहते थे, उन्होंने भी दोनों को एक रात-दिन अपने घर में छिपाया और एक बड़े बकस में बन्द करके रखा था। सब पकड़े गये।

24 जनवरी को अखबारों से मालूम हुआ कि श्री मजहरुल् हक का देहान्त हो गया। उनके नाम के साथ 'मौलाना' लगाने में मुझे संकोच होता है, क्योंकि वह जितने महान थे, उसके लिए यह उपनाम बिल्कुल तुच्छ है। उतने सीधे-सादे, सच्चे, निर्भीक, निष्पक्ष त्यागी व्यक्ति दुनिया में बहुत दुर्लभ हैं। मैंने उन्हें नजदीक से देखा था। एक मरतबे उन्होंने अपने 'आशियाना' में रहने के लिए आग्रह किया था, किन्तु उड़ती चिड़ियां के लिए आशियाना भी पिंजड़ा है। मुझे हक साहब के प्रति अटूट श्रद्धा थी। किसी समय काफी दिनों तक उनके साथ रहने की मेरी इच्छा कभी पूरी न हुई। मृत्यु की खबर सुनकर मुझे बड़ा अफसोस हुआ। मैंने उस दिन अपनी डायरी में लिखा, कि छपरा में उनकी स्मृति में एक हक कालेज खोला जाय। 1930 में छपरा में कालिज की बात बहुत दूर थी। पीछे कालिज तो खुला, लेकिन हक कालेज नहीं, राजेन्द्र कालेज। राजेन्द्र बाबू भी बिहार के एक अद्वितीय रत्न हैं, इसलिए उनके नाम से कालेज खोलकर लोगों ने अच्छा ही किया, मगर मुझे डर है कि लोग धीरे-धीरे अपने इस अद्वितीय देशभक्त को कहीं भूल न जायँ। छपरा-डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को अपने हाथ में लेकर हक साहब ने वहाँ शिक्षा में कायापलट कर दी। छपरावालों को

हमेशा याद रखना पड़ेगा, कि गाँवों में शिक्षा-प्रसार के लिए सबसे प्रथम सबसे बड़ा काम हक साहब ने किया है।

शो-गङ् जनरल का परिवार तिब्बत के सबसे धनी रईसों ही में नहीं है, बल्कि बहुत सम्माननीय भी है। तिब्बत के रईसों की आठ श्रेणियाँ हैं, जिनमें ऊपरवाले चार अपने केशों को आभूषण के साथ चाँद पर बाँधते हैं। पाँचवीं-छठवीं श्रेणीवाले भी अपने केशों को ऊपर बाँधते हैं, किन्तु वहाँ आभूषण नहीं होता। सातवीं-आठवीं श्रेणी के रईस चोटी गूँथकर उसे पीठ पर लटकाते हैं, साथ ही उसमें आभूषण भी लगाते हैं। प्रथम तीन श्रेणी के अमीरों की स्त्रियाँ ल्हाचम-कुशो कही जाती हैं और बाकी की चामकुशो। शो-गङ् जनरल प्रथम श्रेणी के अमीर हैं। तिब्बत में स्त्रियों का कितना अधिकार है, इसका अच्छा उदाहरण शो-गङ् जनरल की जीवनी है। जनरल कहने से यह न समझें, कि पुराने सैनिक-साइंस के भी वह बड़े भारी पंडित थे। बड़े घर के होने से वह जनरल बन गए थे। जनरल साहब ने दार्जिलिङ (दोर्जेलिङ) से गई एक तरुणी को अपना दिल दे डाला। मैंने उनकी प्रेयसी को नहीं देखा, लेकिन ल्हाचम् को कई बार देखा। मैं नहीं समझता, वह तरुणी ल्हाचम् से ज्यादा सुन्दरी होगी। घर में रहनेवाला उनका कोई भाई भी नहीं था, कि जिससे अपनी अलग स्त्री रखने का लोभ होता। ल्हाचम् ने जब वैसा रंग-ढंग देखा, तो पति को महल से निकाल बाहर कर दिया। बेचारे जनरल किराए के एक छोटे-से मकान में रहते थे। ल्हाचम् सत्तू-मक्खन जो कुछ भिजवा देती थी, उसी पर गुजारा करते थे। जब कभी कपड़ा बनवाने की जरूरत होती, तो पहिले पता लगवा लेते, कि ल्हाचम् महल की खिड़की पर बैठी हैं या नहीं, और फिर अपने फटे-पुराने कपड़े को पहिने बहुत धीरे-धीरे सामने सड़क से निकलते। ल्हाचम् सचमुच ही बहुत दयालु स्त्री थी, और वह उनके पास कपड़ा-लत्ता भिजवा देतीं। शो-गङ् देपोन (देपोन–सेनापति) की यह घटना सर्वसाधारण को इतनी आकर्षक मालूम हुई, कि किसी अज्ञात कवि ने गीत बना डाले और चन्द ही दिनों में लड़के उस गीत को गलियों में गाते फिरते थे। बहुत दिनों तक वह गीत लोगों का प्रिय गीत बना रहा। शो-गङ् के एक नौकर ने एक-दो बार मुझसे भी आकर कहा था कि जनरल आपसे मिलना चाहते हैं। मैंने समझा, कोई जोतिस-वोतिस की बात पूछेंगे, इसलिए नहीं जा सका।

6 फर्वरी को ल्हासा में पहली हिमवृष्टि हुई, लेकिन वह हलकी-सी थी। पीछे एक दिन सोलह अंगुल मोटी बर्फ पड़ी थी, किन्तु दोपहर तक गल गई। ल्हासा शहर के बीचो-बीच तिब्बत का सबसे पुराना बुद्ध-मन्दिर जोखङ् है, यह सातवीं शताब्दी के मध्य में बना था। मैं वहाँ अनेक बार दर्शन करने गया था। वह एक पवित्र स्थान ही नहीं, बल्कि तेरह शताब्दियों की मूर्ति-कला का एक सुन्दर संग्रहालय है। जोखङ् के दरवाजे के बाहर एक सूखा हुआ पुराना पेड़ है, कहते हैं कि यह उसी समय का पेड़ है, जब मंदिर बना था।

पहिली मार्च (माघ सुदी पड़वा) को तिब्बती नववर्ष का प्रथम दिन था। नव वर्ष के प्रथम दिन से एक महीने तक ल्हासा का राज दलाईलामा छोड़ देते हैं, और उनकी जगह डे-पुङ विहार के निर्वाचित भिक्षु राज करते हैं। मैं बतला चुका हूँ कि प्रथम महंतराज पाँचवे दलाईलामा डे-पुङ के एक महंत (खनपो) थे। शायद उसी स्मृति में यह राज्य डे पुङ विहार की ओर से होता रहा। पाँचवें दलाईलामा बौद्धभिक्षु और अच्छे पंडित थे। हो सकता है, उन्होंने व्यक्ति की जगह भिक्षुओं के संघ की ओर से एक महीने राज करने की प्रथा को चलाकर संघ के राज की खूबी दिखलानी चाही हो। यदि यह बात सोची हो, तो नतीजा बिलकुल उल्टा हुआ है। राज करने के लिए भिक्षु अपने-अपने चुनाव के लिए खूब रिश्वत देते हैं। जुर्माना और दूसरी तरह से एक महीने में काफी आमदनी करते हैं। और फिर इन अधिकारियों के चुनने में कुछ मुट्ठी-भर खुशामदी दरबारियों का हाथ होता है। इतना जरूर होता है, कि एक महीने के लिए ल्हासा का फैला हुआ शरीर खूब चुस्त हो जाता है।

दो मार्च को नये शासक घोड़े पर चढ़े डे-पुङ से ल्हासा पहुँचे। दो बजे चौरस्ते पर उनके शासन की घोषणा की गई। जोखङ् ही उनकी कचहरी और बेंत मारने आदि का स्थान है। जान पड़ता है, शासक चुनने में डील-डौल और कद का भी ख्याल किया जाता है। शासक और अनुशासक दोनों ही बहुत लम्बे-चौड़े थे। ऊपर से जाकट के भीतर कन्धे पर कपड़े की मोटी तह रखकर उन्हें और विशालकाय मल्ल बना दिया गया

था। आगे-पीछे खूब मोटे-तगड़े भिक्षु अरदली की डयूटी बजा रहे थे। अरदलियों के हाथ में छोटा डंडा या तलवार नहीं, बल्कि पाँच इंच गोलाई का एक चार हाथ लंबा और दूसरा उससे कुछ कम मोटा तथा दो हाथ का डंडा—या पेड़ की डाली थी। सभी चीजें दर्शक के दिल में भय-संचार करने के लिए थीं। शासक अनुशासक सड़क पर चलते, तो उनके अनुचर बड़े जोर से चिल्लाकर बोलते—"फा-क्यु-क्ये ! पी क्ये मा शमो !" (हटो रे, टोपी उतारो रे)। उनके कहने की जरूरत नहीं थी। लोग पहिले ही से सड़क छोड़कर भाग जाते थे। कोई खड़ा रहा, तो वह बहुत पहले से टोपी को उतारे रहता था। वैसे ल्हासा की सड़कों को साफ करने की किसी को परवाह नहीं होती, न कोई म्यूनिसपैल्टी का ही इंतजाम है। इस महीने-भर के राज की कुछ न पूछो, लोग दिन में दो-दो बार अपने सामने की सड़कें बुहार रखते थे, इतना ही नहीं, सफेद मिट्टी से चौक पूरते थे। महीने भर तक घोड़ों के गरदन में घंटी नहीं बाँधी जा सकती। डे-पुङ, सेरा, गन्दन तथा दूसरे मठों से बीस-पच्चीस हजार भिक्षु ल्हासा शहर में आकर जमा हो जाते। उनके लिए पानी भी तो पर्याप्त नहीं होता। लेकिन हरेक कुएँ को चौथाई पानी निकालकर जोखङ् के रसोईघर में भेजना पड़ता था। पानी जल्दी सूख सकता था, इसके लिए शहर से पच्छिम तरफ बहती नहर का पानी ल्हासा के सभी गड़हों में भर दिया जाता। ये गड़हे 11 महीने तक पाखाने का काम देते हैं। आस-पास का कूड़ा-करकट इन्हीं में फेंका जाता है। मरे कुत्तों, बिल्लियों के यही श्मशान हैं। पानी भर देने से कैसा माजूम तैयार होता है, यह आप खुद अनुमान कर सकते हैं। यही खैरियत है, कि ल्हासा 11-12 हजार फीट ऊँचाई पर बसा है, ठंडा है, उस पर से यह माघ-पूस का महीना होता है; नहीं तो हैजा हर साल ही होता। लोग भी ठंडा पानी पीने की जगह उसे गरम चाय के रूप में पीते हैं। नेपाली छोड़ दूसरे दूकानदारों को "नई सरकार" को पैसा देकर लैसंस का कागज लेना पड़ता है। मार-पीट या कोई दूसरा मुकदमा कचहरी में जाता है, तो न्यायाधीश जेल या बेंत की सजा कम देते हैं, बड़े-बड़े जुरमाने ही करना चाहते हैं—उसी में फायदा भी तो है। महीने-भर जोखङ् में खूब पूजा होती है। भिक्षु तीन-तीन बार दर्शन करने जाते हैं। मुँह में कपड़ा बाँधे पचासों परोसनेवाले टोटीदार बर्तनों में चाय लिए तैयार रहते हैं।

6 मार्च को दलाईलामा जलूस के साथ शहर में पधारनेवाले थे। पता लगा, दो मंगोल भक्तों ने इसके लिए लामा को बड़ी भेंट चढ़ाई थी। मैंने एक बार दलाईलामा को लीला देखते हुए पोतला में देखा था, उस दिन उनके जुलूस को देखा। सवेरे 7 बजे से पहिले लोग अपनी-अपनी देखने की जगह पर खड़े हो गए। फिर कोई सड़क भी आर-पार नहीं कर सकता था। पहिले मंत्रियों के परिचारक गोल तवे से लटकती लाल झालरों वाली टोपी पहने चल रहे थे। उनके बाद गृहस्थ-राजमंत्री थे, तब भिक्षु-अफसर, फिर गृहस्थ-अफसर, फिर नागरिक वेष में प्रधान सेनापति, तब छारोङ भूतपूर्व मंत्री सैनिक वेष में, फिर दो जनरल, फिर सेनापति के वेष में लेदन-ला। तब दलाईलामा की डोली चारों ओर रेशमी पर्दे से ढँकी चल रही थी, पीछे चलनेवाले अनुचरों में कितने ही मंगोल वेष में थे, कुछ चीनी और कुछ नेपाली वेष में भी थे।

सप्ताह-भर राज करते हो गये, ल्हासा की आबादी भी दूनी से ज्यादा हो गई और स्वास्थ्य सफाई का कोई इंतजाम नहीं, फिर थोड़ी-बहुत बीमारी भी न हो, यह कैसे हो सकता था ? सड़क पर तो गंदगी नहीं थी, लेकिन घरों के पिछवाड़े की गंदगी कैसे रोकी जाय—जब कि गंदा करनेवाले वही भिक्षु हैं, जो महीना-भर के लिए राजा बन गये हैं। स्वास्थ्य सफाई विभाग का स्थान वहाँ लामा पुजारियों ने अपने हाथ में ले लिया था, और सड़कों पर जगह-जगह मंत्र-जाप होते देखा जाता था। 9 मार्च की रात को 3 अंगुल बरफ पड़ी। 10 के सवेरे को तो छत, आँगन, सड़क, भूमि और पास के पहाड़ सभी सफेद कपास से ढँके-जैसे मालूम होते थे। लोग सवेरे से ही बरफ को झाड़कर गलियों में फेंकने लगे; छत की बरफ को भी नीचे गिराने लगे, नहीं तो धूप से पिघलने पर मिट्टी की छत फाड़कर वह नीचे चूने लगती है। दोपहर तक सारी बरफ गल गई।

अमावस्या को बहुत बड़ा उत्सव मनाया जाता है। आज सब जगह परिक्रमा (ल्हासा की मूल सड़क वस्तुतः जोखङ् की परिक्रमा है) में खंभे गाड़े और सजाये जा रहे थे। फिर परदा करके लोग तरह-तरह की मूर्तियाँ बनाने में लगे हुए थे। राजमंत्री और सामन्तों, तथा भिन्न-भिन्न विहारों में होड़ लगी हुई थी। शाम के वक्त पर्दे खोल दिये गये। रंग-बिरंगी पत्तियों से सजी सैंकड़ों तरह की सुन्दर-सुन्दर मूर्तियाँ वहाँ सजाई हुई थीं और

घी के दियों से चारों ओर जगमग-जगमग हो रहा था। पहिले सिपाही सड़क में घूम-घूमकर देखते फिरे, फिर दर्शकों की भीड़ टूट पड़ी। प्रमुख लोग अपने-अपने प्रदर्शन के पास खड़े थे। उस साल रामोछे विहार के भिक्षुओं का स्तूप और मूर्तियाँ सजावटों में सबसे सुन्दर मानी गईं। लोग तिनकों का मशाल लेकर चल रहे थे। भीड़ होने पर मोटे डंडेवाले लोगों को मारकर हटाते थे। इक्की-दुक्की स्त्रियों की खैरियत नहीं थी, ढावा, पकड़कर उन्हें गलियों की ओर ले जाते थे। 12 बजे रात तक बड़ी भीड़ रही। नाच-गाना तो सारी रात और दूसरे दिन तक था। दूसरे दिन 15 मार्च को चैत वदी पड़वा थी। आज ही से वस्तुतः नया वर्ष शुरू हो रहा था। लोग एक दूसरे से मिलने पर मंगल-गाथा पढ़ते थे। पहिले महीने की चौबीसवीं तिथि तक भिक्षुराज्य रहता है। महीने-भर बाद फिर 12 दिन के लिए उन्हें राज करने को मिलता है। 23 तरीख को बड़ा भारी जलूस निकला। पुराने युग के वेष में सैनिक वर्मधारी सवार, धनुष और खड्ग लिये पैदल हजारों की तादाद में चल रहे थे, कितने ही सिर पर पंख सजाये पुरानी बंदूकों को लेकर चल रहे थे। कहते हैं, आज ही के दिन मंगोल सरदार ने तिब्बत को जीतकर उसे दलाईलामा को भेंट चढ़ाया था। 24 तारीख को बड़े सबेरे मैत्रेय बोधिसत्त्व की रथयात्रा थी। अपने शंख-झाल लिये पीली टोपी और उत्तरासंग धारण किये भिक्षु चल रहे थे। फिर चमड़े का बाजा बजाते कंचुकधारी पुरुष थे। उनके पीछे रथारूढ़ मैत्रेय की प्रतिमा थी, जिसके पीछे दो हाथी चल रहे थे। तिब्बत- जैसी सर्द जगह में हाथी का जीना बहुत मुश्किल है और उसका हिन्दुस्तान से लाना और भी। लेकिन बचपन ही में यह हाथी पहाड़ पार करा लिये जाते हैं। जाड़ों में उनके घर को गरम रखने की कोशिश की जाती है। आज ही भिक्षुओं का राज खतम हुआ और दलाईलामा ने फिर राज को अपने हाथ में लिया। 25 मार्च को सबेरे से दोपहर तक हिमवर्षा होती रही और धरती पर 16 अंगुल बरफ जम गई। बरफ के कारण सर्दी भी बहुत बढ़ गई थी। उस दिन घुड़दौड़ और बाणवेध का तमाशा हुआ। 28 मार्च को गर्मी खतम मालूम हो रही थी। अब पोस्तीन पहनकर चलना मुश्किल था।

3. सम्-ये की यात्रा

आनन्द जी का तार पाते ही यह तो निश्चय कर लिया था, कि अब मुझे लंका लौट जाना है, इसलिए हर तरह की पुस्तकों को मैं खरीदने लगा। कुछ अच्छी-अच्छी तस्वीरें भी खरीदीं। 30 मार्च को पता लगा कि सैनिक हटा लिये गये। अब रास्ता खुल गया था। मैंने मंगोल-भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइडक) को कहा। वह साथ चलने के लिए तैयार थे। मैंने तिब्बत के सबसे पुराने बुद्धमंदिर को तो देख लिया। लेकिन सबसे पुराने मठ (सम्-ये) का दर्शन करना भी जरूरी था। 5 अप्रैल को मध्यान्ह के समय हम ल्हासावाली नदी से चमड़े की नाव पर रवाना हुए। 4 बजे से हवा बहुत तेज हो गई। रात को नदी के बगल के मनूडो गाँव में ठहरे। हमारी नाव पर एक 50 साल की बुढ़िया और उसका 24, 25 साल का पति भी चल रहा था। यहाँ मैंने पूछने में गलती की, लेकिन धर्मकीर्ति ने ठीक कर लिया। तरुण ओझा था, उसके सिर पर देवता आया करता था। मौसिम साफ बदला दिखाई देता था। वृक्षों पर पत्तियाँ कोंपल की शकल में निकल आई थीं। एक रात और हमें रास्ते में ठहरना पड़ा। 7 ता. को सबेरे हम ब्रह्मपुत्र में पहुँच गये। अब हम ल्होखा-प्रदेश में थे। चाङ् प्रदेश की स्त्रियाँ सिर में धनुष को आभूषण बना के पहिनती हैं। उइ (मध्य) प्रदेश यानी ल्हासा की औरतें एक बड़ा त्रिकोणाकार शिरोभूषण धारण करती हैं। ल्होखा में आधा उल्टा कंटोप उनका शिरोभूषण है।

मध्याह्न को हम कनेनुमूबा नामक 6, 7 घर वाले छोटे-से गाँव में पहुँचे। तिब्बत की नदियों में मछलियाँ, काफी होती हैं। तिब्बती लोग मछली और चिड़िया के मांस को खाना, बुरा समझते हैं, लेकिन इस गाँव का ती, मालूम होता था, मछली का व्यापार है। डेढ़-डेढ़ दो-दो सेर की मछलियाँ सुखाई जा रही थीं। हमने भी दो मछलियाँ उबलवाकर मँगाई, लेकिन उनमें मोटे काँटों के अतिरिक्त बाल-जैसे बारीक काँटे सब जगह भरे पड़े थे। खाना मुश्किल था और स्वाद भी कुछ नहीं था। हमने समझा था, थोड़ी देर विश्राम करके चल देंगे, लेकिन बुढ़िया के पति के ऊपर देवता आने लगा। उस दिन देवता चढ़ा रहा और 8 अप्रैल को भी दोपहर तक भूत-खेलाई जारी रही। हमारे मल्लाह और गाँववालों के लिए वह दलाईलामा से कम नहीं था। अनाज,

पट्टू और क्या-क्या चीजें उसे उपहार में मिलीं। हमने अपने भाग्य को सराहा, जब हमारी नाव आगे चली। उस दिन 7 बजे हम ब्रह्मपुत्र के किनारे 'सो-नम्-फन-सुम' नामक शिला के पास पहुँचे। वहाँ छोटी-बड़ी तीन चट्टानें हैं, जिनमें दो को माता-पिता और एक को पुत्र कहा जाता है। 8 बजे हम 'डक्-छेन-फुर-बु' शिला के पास रात के विश्राम के लिए उतर पड़े। यह चट्टान ब्रह्मपुत्र के बीच में है और 100 हाथ ऊँची त्रिकोण के शकल की। कहते हैं, जब सम्ये-विहार बना, तो चित्रपट टाँगने के लिए इसी शिला को भारत से लाया गया। लानेवाले ने गलती से यहाँ रख दिया और तब से वह यहीं है। दूसरे दिन मध्याह्न में हम जम्-लिङ घाट पर उतरे। ब्रह्मपुत्र से दाहिने कुछ दूर हटकर यहाँ एक बड़ा सतूप है, जो नेपाल के महाबौधा से बहुत मिलता-जुलता है। वहाँ से परले पार हम नाववाले गाँव में पहुँच गये। गाँव में आदमी नहीं मिला, इसलिए जो कुछ थोड़ा-बहुत सामान था, उसे हम लिये-दिये पैदल ही सम्-ये की ओर चल पड़े। सम्-ये यहाँ से चार मील से ज्यादा नहीं था। कुछ दूर जाने पर पत्थर काटकर बने पुराने स्तूप मिले। आखिर हम सम्-ये पहुँच गये। सम्-ये को नालंदा के आचार्य शांतरक्षित ने आठवीं सदी में उडन्तपुरी विहार के नमूने पर बनवाया था। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी तक तिब्बत के विहार (मठ) समतल भूमि पर बना करते थे, पीछे तो दुर्गम पर्वत-स्कंधों को लोगों ने विहार के लिए सबसे अनुकूल स्थान समझा। सम्-ये समतल भूमि पर बना हुआ है। चारों ओर चहारदीवारी, जिसके भीतर चारों कोनों पर चार पक्की ईंटों के छत्रधारी चार स्तूप हैं। बीच में प्रधान देवालय हैं। विहार का मुख्य दरवाजा पूर्व की ओर है। हम लोग पच्छिम दरवाजे से घुसे और पहिले ही शिकम के विद्वान भिक्षु 'उ-र्ग्येन कुशो' से भेंट हुई। उनसे पूछा-पेखी हुई, फिर मिलने की बात कह कर हम लोग पहिले से निश्चित किये स्थान में चले गये।

उस दिन तो हम कहीं नहीं आये-गये। दूसरे दिन दर्शन के लिए निकले। पहले प्रधान मंदिर में गये। यह लकड़ी की तीन-तला इमारत है। बीच में किसी वक्त सम्-ये जल गया था, इसलिए यही वह मंदिर नहीं हो सकता। मंदिर में मुख्य मूर्ति बुद्ध की है। विहार के निर्माता और भारत के प्रचंड दार्शनिक आचार्य शांतरक्षित, उनके शिष्य भोट भिक्षु वैरोचन और आचार्य के गृहस्थ-शिष्य सम्राट् 'ठि-स्रोङ' की भी मूर्तियाँ हैं। आचार्य 70 वर्ष से अधिक उम्र में तिब्बत गये थे और उनका देहांत यहीं सम्-ये में ही हुआ। आचार्य की मूर्ति के मुँह में एक दाँत बचा हुआ दिखलाई देता है। सबसे अधिक प्रभावित मैं तब हुआ, जब मैंने अपनी आँखों के सामने शीशे के भीतर आचार्य शांतरक्षित का कपाल देखा। वही कपाल, जिसके भीतर से 'तत्त्वसंग्रह' जैसा महान् दार्शनिक ग्रन्थ निकला। मैं कुछ देर तन्मय होकर उस ओर देखता रहा। आचार्य के देहान्त होने के बाद उनके शरीर को पूरबवाली पहाड़ी के ऊपर एक स्तूप में रखा गया था। कुछ ही साल पहले जीर्ण-शीर्ण हो यह स्तूप गिर गया और आचार्य की हड्डियाँ बिखर गईं। उन्हीं को लाकर लोगों ने यहाँ रख दिया। मुख्य मंदिर के अतिरिक्त बारह और मंदिर तथा निवास हैं। इन मंदिरों को लिङ्-द्वीप कहते हैं। ग्य-गर लिङ् (भारतद्वीप) वही स्थान है, जहाँ रहकर कितने ही भारतीय पंडितों ने संस्कृत पुस्तकों का भोट भाषा में अनुवाद किया था। ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य में सम्-ये में संस्कृत पुस्तकों का कितना विशाल संग्रह था, यह इसी से मालूम होगा, कि भारतीय पंडित दीपंकर श्रीज्ञान ने उसे देखकर कहा था–यहाँ कितनी ऐसी पुस्तकें हैं, जो विक्रमशिला में भी नहीं मिलतीं। आज वहाँ कोई संस्कृत की पुस्तक नहीं सुनने में आई। दीपंकर श्रीज्ञान के देहांत के कुछ समय बाद सम्-ये में आग लगी। फिर रा-लो च वा (बारहवीं सदी) ने उसे नए सिरे से बनवाया। संभव है, उसी आग में बहुत-सी पुस्तकें जल गई हों। यह भी हो सकता है कि कुछ पुस्तकें स्तूपों और मूर्तियों के भीतर अब भी सुरक्षित हों।

हम दोनों उर्गेन् कुशो के पास भी गए। वह भोटिया के पंडित तो थे ही, साथ ही चान्द्र व्याकरण के सारे सूत्र उन्हें कंठस्थ थे। लेकिन संस्कृत-भाषा का ज्ञान कुछ भी नहीं रखते थे। मैं दो-चार दिन और रहना चाहता था, लेकिन तिब्बती सरकार ने चाँदी के सिक्कों को हटाकर सिर्फ ताँबे के सिक्के रख छोड़े थे, जिनका दाम बहुत गिर गया था, कितना ताँबा बाँधकर साथ ले चलते। फिर यहाँ हमें कितने ही चित्रपट और हाथ की लिखी भोटिया पुस्तकें मिल रही थीं। हमने 25 चित्रपट और एक पुरानी हस्तलिखित पुस्तक 'पद्म-क-थङ्'

खरीद लिया था। अब और ज्यादा पैसे रह नहीं गए थे। छुशिङ्-शा से हम उनके एक भोटिया दोस्त के नाम पैसे के लिए चिट्ठी लाए थे, लेकिन वह इस वक्त यहाँ मौजूद नहीं थे। उर्‌गेन् कुशो की मेहरबानी से दो घोड़े किराये पर ले हम कुछ दूर निकल गए थे, तब चिट्ठीवाले सज्जन मिले। उनका घर आगे 'हङ्गो-चङ्-गङ्' गाँव में था। गाँव से कुछ पहले ही हमने एक छोटा-सा मकान देखा, यही वह जगह है जहाँ तिब्बत के अशोक, सम्राट् 'ठि स्रोङ्' पैदा हुए थे।

यद्यपि हम दो ही आदमी थे, घोड़े पर सवार और कपड़े-लत्ते से भी अच्छे, इसलिए देखनेवाला समझ सकता था कि यह पैसेवाले आदमी हैं। रास्ते भी सुनसान और आगे का डाँड़ा तो और भयंकर तथा खतरनाक था। लेकिन हमें अब आत्मविश्वास ज्यादा था। धर्मकीर्ति भी भिक्षु के वेष में होने पर भी अपने पूर्वज चंगेज़खाँ के एक मंगोल सैनिक की तरह हट्टे-कट्टे थे। ऊपर से हम लोगों के पास भरे हुए पिस्तौल थे।

12 तारीख को सूर्योदय के पहिले ही दोनों घुड़सवार गाँव से निकल पड़े। इधर के पहाड़ों में कुछ छोटे-छोटे जंगली वृक्ष भी दिखाई दिये। ल्हासा की अपेक्षा सम्-ये और उसके पास की भूमि ज्यादा गरम है, ब्रह्मपुत्र के कारण उपत्यका भी बहुत चौड़ी। यहाँ बीरी और सफेदा ही नहीं, अखरोट के भी वृक्ष होते हैं। तिब्बती लोगों को शौक नहीं है, नहीं तो यहाँ सेब, अंगूर के भी अच्छे बाग लग सकते हैं। अब हम डाँडे की ओर जा रहे थे। ऊपर सर्दी ज्यादा थी। एकाध जगह कुछ बर्फ दिखाई पड़ी। चढ़ाई उतनी कड़ी नहीं थी, लेकिन उतराई ज्यादा मुश्किल थी। उतराई में हम लोग घोड़ों से उतर गये। रास्ते में देखा एक गदहा मर रहा था, और उसकी मालकिन बैठी रो रही थी। उतराई में दूर तक बरफ ही बरफ पर चलना पड़ा। रास्ते में एक जगह हमने चाय पी और सात बजे ल्हासा वाली नदी (उइ छू) के बाएँ किनारे पर अवस्थित 'दे-छेन जोङ्' गाँव में पहुँचे।

4. गनूदन् की यात्रा

गे-लुग्-पा संप्रदाय के संस्थापक चोङखा-पा ने जिस विहार को स्थापित किया था, जहाँ अब भी तिब्बत का वह अद्वितीय पंडित अनंत निद्रा में लीन है; दलाईलामा के वैभव के बढ़ जाने पर भी उनके गे-लुग्-पा संप्रदाय की गद्दी जहाँ पर है, और जो भिक्षु-संख्या में तिब्बत का तृतीय विहार है; उस गनूदन् (स्था. 1405 ई.) का दर्शन करना मेरे लिए जरूरी था। वह यहाँ से बहुत दूर भी नहीं था। कोशिश करने पर भी सिर्फ एक घोड़ा मिल सका और धर्मकीर्ति को पैदल ही चलना पड़ा। 13 तारीख को कुछ घंटों के सफर के बाद पहाड़ की रीढ़ पर बसे गनूदन्-विहार में पहुँच गये। पहाड़ की जड़ से ही चढ़ाई कड़ी है, ऊपर पानी भी नहीं है। सबको पानी नीचे से ढोके ले जाना पड़ता है। इन विहारों के संस्थापक न जाने किस धुन में रहते थे और लोगों के कष्ट का ख्याल नहीं करते थे। अजन्ता, कार्ले, कनेरी, किसी पुराने बौद्ध विहार को देखिए, विहार बनानेवालों ने पानी की ओर सबसे पहले ध्यान दिया। कनेरी में कोई चश्मा या जलाशय नहीं, लेकिन पहाड़ काटकर बने घरों के नीचे बड़े-बड़े चहबच्चे खुदे हैं, और बरसात के पानी को जमा करने के लिए नालियाँ बनी हैं, कि साल-भर पानी खतम नहीं होता। बंबई के पास कनेरी की गुफाओं के भिक्षुओं को खतम हुए आज छै-सात सौ वर्ष हो गये, लेकिन कदम-कदम पर मौजूद शीतल निर्मल जल के इन चहबच्चों से प्यास बुझा यात्री आज भी बनानेवालों की बुद्धिमानी की सराहना करते हैं। चोङखा-पा ने समझदार होकर ऐसी गलती क्यों की। गनूदन् में पहले मंगोल भिक्षु ज्यादा रहा करते थे, लेकिन अब उनकी संख्या बहुत कम है।

जिस स्तूप में चोङखा-पा (1357-1419 ई.) का शरीर है, उसके ऊपर किसी मंगोल राज़ा का दिया तंबू तना है। जिस कोठरी में चोङखा-पा रहता था, वह भी सुरक्षित है। 500 साल पहले उसने अपने हाथों से जिन पुस्तकों को लिखा था, वह भी एक संदूक में बन्द करके रखी हैं। चाँदी-सोने के चढ़ावों के बारे में कुछ कहने की जरूरत नहीं। नीचे 108 खंभों का विशाल उपोसथागार (संघशाला) है। यहीं चोङखा-पा का सिंहासन है। उस समय पूजा हो रही थी। रंगीन आटे के चित्र-विचित्र मंडल (फुलवारीवाले चौक) बने हुए थे। एक तरफ हवनवेदी थी, किसी मूर्तिकार ने वर्त्तमान (तेरहवें) दलाईलामा की बड़ी मूर्ति बनाकर रखी थी। भीतर जाने के

लिए जूता ले जाने का निषेध था–तिब्बत में शायद यह एक ही ऐसी जगह थी। गन्दन् में एक डसङ (कालिज) है, जिसमें तीन खनपो और 3 हजार भिक्षु रहते हैं। खनपो लोगों का काम अधिकतर प्रबंध देखना है, पढ़ाने का काम ग्येर-ग्येन् करते हैं। हम लोग मंगोलों के खम्जन् में ठहरे। वहाँ का ग्यर-ग्येन् मंगोल-विजेता गुश्री खाँ–जिसने 1642 ई. में सारे तिब्बत को जीतकर दलाई लामा को प्रदान किया था–के वंशज थे।

दूसरे दिन घंटा-भर दिन चढ़ने के बाद हम लोगों ने प्रस्थान किया। हम ल्हासा जाने वाले चार थे, दूसरे दो में एक मंगोल और एक खम्-मो (खम्-प्रदेश की स्त्री) थे। हमें दे-छेन्-जोङ से चमड़े की नाव पर ल्हासा जाना था। हम सीधे मलाह के घर पर गए, बहुत गरीब का घर था, तो भी वहाँ पाँच-सात मिट्टी की सुन्दर मूर्तियाँ और तीन-चार चित्रपट टँगे हुए थे। 4 साँग (प्रायः 2 रुपया) पर हमने नाव की, 15 अप्रैल को घड़ी-भर दिन चढ़े नाव नीचे की ओर चली। नदी के दोनों तरफ थोड़ी-थोड़ी दूर पर कितने ही गाँव थे। दोपहर को हम ल्हासा पहुँचे। अब जाड़ा बिल्कुल खतम हो गया था।

5. ल्हासा में

जिस वक्त तिब्बत में चाँदी का सिक्का (टंका) चलता था, उस वक्त हिन्दुस्तानी रुपए का तीन टंका होता था। भोटिया-सरकार ने चाँदी के रुपए को खींचकर सिर्फ ताँबे का सिक्का रहने दिया, और अब दाम गिरते-गिरते रुपए का साढ़े 15 टंका हो गया था। चाँदी के आने से किस तरह सिक्के का दाम बढ़ जाता है, यह इसी से मालूम होगा, कि जिस वक्त रुपए की दर 8 टंका थी, उसी वक्त भूटान के राजा के मरने पर पूजा के लिए एक लाख रुपया ल्हासा आया। उसके बाद ही रुपया 7 टंके का हो गया। मैं जिस वक्त ल्हासा पहुँचा था, उस वक्त रुपया 9 टंके का था। रास्ता बन्द होने पर 12 टंका का होके रुका रहा। सुलह की खबर आने पर 13 1/3 टंका हो गया, और आज वह साढ़े 15 टंका था। व्यापारी लोग हिन्दुस्तानी रुपया भुनाना चाहते थे और वह मिलता नहीं था।

व्यापारी रो रहे थे। मेरे नेपाली दोस्त पूछते थे–अभी भोटिया सिक्का और कितना नीचे गिरेगा ? मैंने कहा–शोगाङ के ताँबे के दाम तक। शोगाङ करीब-करीब हमारे पैसे के बराबर था और 1 1/2 शोगाङ एक टंके के बराबर है।

अब मुझे भारत के लिए रवाना होना था। पुस्तकें, चित्रपट और दूसरी चीजें बाँधकर 17, 18 खच्चरों पर कलिम्-पोङ् को रवाना कर दिया। 18 अप्रैल को मैं फिर जोखङ् में दर्शन करने के लिए गया। सैकड़ों वर्षों की पुरानी होने से मूर्तियों के ऊपरी प्लासतर कुछ बिगड़-से गए हैं। यह अच्छा है, जो आजकल लोग मरम्मत की कोशिश नहीं कर रहे हैं। जोखङ् की प्रधान बुद्धमूर्ति के सामने दर्जनों सोने-चाँदी के दीपक अखंड जलते रहते हैं। सोने के दीपकों में सबसे बड़ा 400 तोले (पाँच सेर का) एक नेपाली उपासक ने चढ़ाया था, पिछले साल भूटान के राजा ने 700 तोले सोने का दीपक चढ़ाया, यह सबसे बड़ा दीपक है। यहाँ के इन सोने-चाँदी के दीपकों और मणिमुक्ताओं को देख मुझे साफ मालूम होने लगा, कि महमूद गजनवी और मुहम्मद बिन बख्तियार क्यों मंदिरों की ओर इतने आकृष्ट होते थे। महमूद और बख्तियार के लिए ही क्यों रोना रोवें ? ल्हासा के भीतर 18, 19 साल पहले 'त-ग्ये-लिङ्' का एक बहुत बड़ा विहार था। दलाईलामा और चीनियों का झगड़ा 1907 ई. के आसपास जब हुआ और दलाईलामा को भागकर अंगरेजों की शरण में दार्जिलिंग आना पड़ा, उस समय तिब्बत पर चीनी सीधे शासन करने लगे। तंग्ये-लिङ के लामा का यही कसूर था, कि चीनी उसका बहुत सम्मान करते थे। 1911 के बाद जब दलाईलामा फिर शासनसूत्र अपने हाथ में लेने के लिए सफल हुए तो तं-ग्ये-लिङ् गुंबा को उन्होंने तोप से उड़वा दिया और लामा को कुँए में डुबा के मरवाया। लामा के साथ चाहे जो भी करते लेकिन गुंबा तो बुद्ध और बोधिसत्त्वों के देवालयों से भरी थी, उस पर तोप लगाना क्या महमूद के हमले से कम था।

6. प्रस्थान

लंका के तीन हजार रुपयों में से प्रायः दो हजार की हमने चीजें खरीद ली थीं। कंजुर मिल गया था, लेकिन तंजुर नहीं मिला था, इसलिए हमें उसके छपवाने के लिए नर-थङ् जाना जरूरी था। धर्मकीर्ति भी हमारे साथ लंका चलने के लिए तैयार थे। हम लोग भाड़े के खच्चरों का भरोसा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उनको जगह-जगह बदलना पड़ता और मिलने में भारी अड़चन होती। इससे बचने के लिए हमने दो खच्चर खरीद लिए, जिसमें करीब ढाई सौ रुपये लगे। रास्ते के लिए दो पिस्तौल भी ले गए। चौबीस अप्रैल को 7½ बजे सबेरे हम दोनों ने ल्हासा छोड़ा। दोपहर बाद ने-थङ् गाँव में पहुँचे। इसके पास ही वह ऐतिहासिक तारामंदिर 'डोल-मा-ल्ह-खङ्' है, जहाँ पर भारतीय पंडित दीपंकर श्रीज्ञान ने 17 वर्ष तक तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के बाद 1052 ई. में शरीर छोड़ा था। ठहरने की जगह से मंदिर दो मील पर है। हम दोनों वहाँ गए। लालचंदन के खुरदरे खंभे ही बतला देते हैं, कि मंदिर 900 वर्ष से क्या कम होगा। यहाँ 21 तरह की ताराओं की मूर्तियाँ हैं। एक ओर एक बड़ा-सा पिंजड़ा है, जिसमें दीपंकर का भिक्षापात्र, खत्तर-दंड और ताँबे का धर्म-करक रखा हुआ है। भीतर ही कुछ अनाज और भक्तों के फेंके चाँदी के सिक्के पड़े हुए हैं। सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए हम खुलवा के देख नहीं सकते थे।

25 अप्रैल को हम फिर आगे के लिए रवाना हुए (1930 ई.)। अब खेत बोए जा रहे थे। नीचे छुशोर में तो अंकुर भी जम आए थे। रात को हम छुशोर में रहे। गृहस्वामिनी ने हमारे आराम का बहुत ख्याल रखा। वह किसी चीनी की स्त्री थीं। पति बहुत दिनों से बाहर चला गया था, लौटा नहीं। उन्होंने कहा कि जो हिन्दुस्तान में कहीं मिले, तो उसे भेजने की कोशिश करेंगे।

26 को हम नाव से ब्रह्मपुत्र पार हो गए। ग्यानूची जानेवाले तीन और सवार आ गए, अब हम पूरे पाँच सवार थे। पिछली बार जितने रास्ते को हमने दो-दो तीन-तीन दिन में काटे थे, उसे हम एक-एक दिन में पार हो रहे थे। हमारी खचरियाँ भी मजबूत थीं। उसी दिन खंबाला पार कर रात को हम लुङ्गाँव में ठहरे। 27 को बड़े सबेरे फिर रवाना हुए। हवा तेज चल रही थी। सर्दी बहुत अधिक थी। रास्ते में पानी जमा हुआ था, लेकिन महासरोवर में नहीं। महासरोवर के किनारे-किनारे चलते साढ़े तीन बजे नगाचे पहुँचे। दूसरे दिन जराला की ओर रवाना हुए। पिछली बार जहाँ हमारे खच्चरवालों ने मुकाम किया था, वहाँ अब बहुत बर्फ थी। रास्ते में हमें अच्छे से अच्छे घर में टिकने को जगह मिलती थी। इसमें सिर्फ हमी दोनों के खच्चर और पोशाक का प्रताप नहीं था, बल्कि हमारे तीन साथियों का परिचय भी सहायक था। ल्हासा से चलकर छठे दिन हम दोपहर को ग्यानूची पहुँच गए। अब मैं चोर की तरह ग्यानूची नहीं जा रहा था, कि ग्यानूची के अगरेजी किले में जाने से डरता। अँगरेज इसे किला नहीं कहते, लेकिन तिब्बती और दूसरे लोग इसे किला ही कहते हैं। तिब्बती हथियारों के लिए यह काफी मजबूत है। पत्थर की दीवारों के भीतर, कहते हैं, फौलाद की मोटी-मोटी चादरें लगी हुई हैं। मशीनगन और छोटी तोप भी हैं। सौ के करीब सीखे हुए जाट सिपाही और उतने ही भूतपूर्व गोरखा सिपाही खेती का काम करते हुए रह रहे हैं। बेतार का भी इंतिजाम है। उस वक्त वहाँ ट्रेड-एजेन्ट, सहायक ट्रेड-एजेन्ट और डाक्टर तीन अँगरेज अफसर थे। किले के भीतर ही डाकखाना और तारघर है। डाकमुंशी और तारबाबू मेरे नाम से अच्छी तरह परिचित थे, क्योंकि मेरी चिट्ठियाँ उन्हीं के हाथ से होकर ल्हासा जाती थीं। ग्यानूची में पलटन की रसद के ठेकेदार एक मारवाड़ी सज्जन हैं, जिनके दो गुमाश्ते वहाँ पर रहते हैं। भोटिया लोग मारवाड़ियों को 'काइयाँ' कहते हैं। मारवाड़ी भाषा के 'काइयाँ' (क्यों) शब्द को लेकर उन्होंने यह नाम दिया है।

पहिली मई को सूर्योदय के साथ ही हमने शिगर्चे का रास्ता पकड़ा। बादल घिर आया, बरफ पड़ने लगी, फिर कुहरे ने चारों ओर अँधेरा कर दिया। हम रास्ता भूल गए, लेकिन हमें नदी के बाएँ-बाएँ जाना था और अपनी बाईं ओर के पहाड़ को हम लाँघ नहीं सकते थे, इसलिए उम्ममीद थी कि रास्ते से बहुत दूर हटकर नहीं जाएँगे। आगे एक बड़े गाँव के बड़े घर में चाय पीने के लिए ठहरे; साथ में अण्डे भी मिल गए। रास्ते

में एक दिन ठहरकर दूसरे दिन दोपहर को शिगर्चे पहुँच गए। हम ल्हासा से अपने साथ पैसे ढोकर नहीं ले आए थे, लेकिन एक खमूबा (खमदेशीय) सौदागर के नाम छू-शिङ्शा की चिट्ठी थी। कुछ हिचकिचा के उसने रुपया देना स्वीकार किया। टशील्हुनूपो में भी सौ रुपये की पुस्तकें खरीदीं। 400 रुपये का कागज-स्याही खरीद तंजूर छापने के लिए नरथङ् पहुँचाया। 8 अप्रेल को नरथङ्-विहार में गए। यह ग्यारहवीं शताब्दी का पुराना विहार है। 200 भिक्षु रहते हैं। यद्यपि संस्कृत की पुस्तकें यहाँ नहीं हैं, भारत की लाई मूर्तियों की तरफ उस यात्रा में मेरा ध्यान नहीं गया था, लेकिन पीछे मैंने वहाँ कई भारतीय चित्रपट देखे। बोधगया मंदिर का पत्थर का नमूना भी वहाँ पर मौजूद है, जिसे ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में कोई गया से बनवा के लाया था। हमारे काम में हमारे मेजबान मणिरत्न के साले भिक्षु घोला ने मदद की। घोला खचरा-नेपाली थे। नेपाली पिता और भोटिया माँ के लड़के को खचरा कहा जाता है और लोग इसे बुरा नहीं मानते, शायद वह खचरा शब्द का अर्थ नहीं जानते या तिब्बत में खच्चर को बुरा नहीं समझा जाता। उस वक्त भारत में गाँधीजी का सत्याग्रह चल रहा था। उसकी ख़बर हिमालय के उस पार भी पहुँच गई थी। एक तिब्बती भिक्षु बड़ी गंभीरता से कह रहा था–गाँधी जी लोबोन्-रिन्-पो-छे (सिद्ध पद्म-संभव) के अवतार हैं। तिब्बत में लोबोन्-रिन्-पोछे बुद्ध से भी ज्यादा सिद्ध और पूज्य समझे जाते हैं।

तंजूर के ऊपर 1400 साङ (1400X20/3)X17 रु. लगे। कंजूर-तंजूर दोनों पर 21-22 सौ रुपए खर्च हुए।

16 अप्रैल को जब मैं शिगर्चे ही में था, तभी शलू विहार के रिसुर लामा ने 'वज्रडाकतंत्र' की तालपत्र की पुस्तक भेंट की। मैंने ल्हासा में 'अष्टसाहस्रिका', 'प्रज्ञापारमिता' जैसी मुद्रित एक-दो पुस्तकों के खंडित तालपत्र देखे थे, लेकिन यह दुर्लभ पुस्तक थी, और लिपि से भी ग्यारहवीं शताब्दी से पीछे की नहीं मालूम होती थी।

मुझे अब सारी पुस्तकें और यहाँ से खरीदे चित्रपटों को कलिम्-पोङ रवाना करना था। फरी तक के गधे भी मिल गए थे। पुस्तकों की रक्षा के लिए जरूरी था, कि उन्हें कपड़े और फिर चमड़े से लपेटकर भेजा जाय। मैंने शिगर्चे के कसाई को याक के चमड़ों के लिए पैसा दिया। उसने याक की जगह गाय का चमड़ा भेजा। मैंने उसे बुलाकर जब शिकायत की, तो वह गुर्राने लगा। वैसे मुझे गुस्सा बहुत कम आता है, लेकिन कभी-कभी ऐसे अवसर आये, जब मैं अपने पर संयम नहीं कर पाया। 17 मई को उस वक्त ऐसे ही हुआ। मैं बहुत गुस्से में हो गया और उसे धकेलकर बाहर कर दिया–मारा नहीं, यह सच है।

यद्यपि ल्हासा में लड़ाई का बुखार उतर गया था, लेकिन शिगर्चे में उसकी गर्मी कम नहीं हुई थी। नेपालियों के आने-जाने का रास्ता नहीं खुला था। गाँव के जवानों का अब भी सेना के लिए नाम लिखा और उनके हाथों में पैसा बाँधा जा रहा था। ल्हासा से दो महीना उत्तर के रास्ते सिनिङ (कनूसू) से आए एक लामा ने बताया, कि उधर लाल (वोलशेविकों) का राज्य है, डाकुओं का अब उपद्रव नहीं है। लाल न लामाओं का विरोध करते हैं, और न पक्षपात ही। तिब्बत के लोगों में प्रति सैंकड़ा जितने लोग वोलशेविकों के नाम से परिचित थे, उस वक्त हिन्दुस्तान में भी उतने लोग परिचित नहीं थे। इसका कारण यही था, कि वोलशेविकों की व्यवस्था उन देशों में पहुँच गई थी, जहाँ का धार्मिक नेतृत्व तिब्बती लामा करते थे। लेकिन यह सिनिङ वाले लाल रूसी वोलशेविक नहीं थे, यह चीनी वोलशेविक थे।

20 मई को 9 गदहों पर लदवा यहाँ से खरीदी पुस्तकों और दूसरी चीजों को हमने फरी के लिए रवाना कर दिया। दूसरे दिन सबेरे ही हम दोनों शलू विहार के लिए रवाना हुए। शलू ग्यानूची के रास्ते से मील-डेढ़ मील हट के पड़ता है। 3 घण्टे के बाद हम वहाँ पहुँच गए। यह भी ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी का पुराना विहार है, और समतल भूमि पर बना हुआ है। विहार के चारों तरफ कच्ची चहारदीवारी है। हम रिसुरलामा के पास पहुँचे। ये मेरे तिब्बत के उन दोस्तों में हैं, जिन्होंने मेरे काम में बराबर सहायता पहुँचाई। उन्होंने रहने के लिए कहा, लेकिन हम विहार देख के चले जाना चाहते थे। इस पहिली तिब्बत-यात्रा में मैं पहिले-पहल तो संस्कृत पुस्तकों के खोजने में बड़ा उत्साह दिखाता था, लेकिन कई मर्तबे के प्रयत्न में असफल होने पर मेरी धारणा बँध गई कि भारत से यहाँ लाई संस्कृत पुस्तकें नष्ट हो चुकी हैं, या मूर्तियों अथवा स्तूपों के भीतर

बन्द कर दी गई हैं, जिससे वह देखने के लिए नहीं मिल सकतीं। चलते-चलाते रिसुरलामा ने 'वज्रडाकतंत्र' की तालपोथी देकर मेरी गलत धारणा पर चोट पहुँचाई, लेकिन मुझे क्या मालूम था कि दो ही मील दूर इसी शलूगुंबा के शाखा-विहार में तीन दर्जन से अधिक अनमोल तालपोथियाँ रखी हुई हैं। लामा ने भी उनके बारे में मुझे कुछ नहीं बताया। यदि वह बतलाते तो मैं 5, 7 दिन के लिए वहाँ डट जाता। मैंने विहार को घूमकर देखा। वहाँ कितनी ही भारतीय मूर्तियाँ थीं। दीवारों पर सुन्दर चित्र थे। भारतीय पुस्तकों के भोटिया अनुवादों को कंजूर और तंजूर के दो वृहत्-संग्रहों के रूप में क्रमबद्ध करनेवाले महाविद्वान् बु-तोन इसी शलू विहार के थे, यह मैं जानता था। उस कंजूर-तंजूर को भी वहाँ देखा, जिसके आधार पर सत्रहवीं सदी में मि-वङ् ने नरथङ् के छापाखाने के लकड़ी के ब्लाकों को खुदवाया था, और उन ब्लाकों पर छपे प्रथम कंजूर-तंजूर भी इस विहार में मौजूद हैं। रिसुरलामा ने चलते वक्त दो चित्रपट भेंट किए। हम 12 बजे शलू से रवाना हुए। रात को रास्ते में रहकर दूसरे दिन ग्यानूची पहुँच गए, गोया शिगर्चे से ग्यानूची के रास्ते को डेढ़ दिन में तय किया। ग्यानूची में हमारी छोटी उमरवाली खचरी बहुत बीमार हो गई। हमें तो डर लगने लगा था।

23 मई को दोपहर बाद हम भारत की ओर रवाना हुए। ग्यानूची से कलिम्-पोङ् का रास्ता अच्छा है। कितने ही सालों तक यह अँगरेजों के हाथ में रहा। अब भी ग्यानूची का डाकखाना और तारघर भारतीय तारविभाग के अधीन हैं। थोड़े-थोड़े दूर पर यहाँ डाकबँगले भी बने हैं, टेलीफून और तार भी हैं। अगर सरकारी आज्ञा मिल जाय, तो ग्यानूची तक आदमी आराम से जा सकता है। मुझे डाकबँगलों की जरूरत नहीं थी, न मेरे पास आज्ञा थी, न उतना खर्च करने के लिए पैसे ही। इस रास्ते में भी जहाँ-तहाँ पत्थर की बहुत अच्छी चिनाई के उजड़े घर मिले। लोग कहते हैं, अठारहवीं सदी में दलाईलामा के खिलाफ हुई बगावत को दबाने के लिए जब दूसरी बार मंगोल सेना तिब्बत में आई, तो उसी ने इन घरों को उजाड़ा। पहिले दिन हम थोड़ा ही चले थे, खचरी को भी आराम देना चाहते थे। तीसरे दिन (25 मई) हम विशाल सरोवर के किनारे-किनारे चलकर रात को दोजिङ् गाँव में ठहरे। ऊँचाई बहुत होने से यहाँ खेती कम होती है, लोग भेड़-बकरी ज्यादा पालते हैं। इसी घर में पहिले-पहिल एक पुरुष की दो स्त्रियाँ देखीं। लेकिन दोनों सगी बहने थीं। उनके बाप को कोई लड़का नहीं था, घर-जमाई ने आकर दोनों लड़कियों को ब्याहा था।

दूसरे दिन (26 मई) थोड़ा आगे चलने पर सरोवर का अन्त हो गया। हमारे सामने विशाल मैदान था और आगे ऊपर की ओर हिमाच्छादित हिमालय की चोटियाँ थीं। सर्दी अधिक थी। रास्ते में एक छोटा-सा घर मिला, जिसमें हमने चाय पी। निर्जन प्रदेश में चलते एक डाँड़े को पार किया। वस्तुतः यह डाँड़ा नहीं था, जल-विभाजक होने से ही हम इसे डाँड़ा कहते हैं। साढ़े तीन बजे हम फरी पहुँच गए। फरी बहुत ठंडी जगह है। जौ-गेहूँ यहाँ बड़े-बड़े तो हो जाते हैं, लेकिन बीज पड़ने से पहिले ही जाड़ा आ जाता है, और वह पक नहीं पाते। कलिम्-पोङ् और ल्हासा दोनों ओर से रोज सैकड़ों खच्चर यहाँ आया करते हैं। लोगों को गेहूँ-जौ के डंठल को दाने के दाम पर बेचने से काफी नफा होता है। यहाँ भोट-सरकार का जोङ् और अँगरेजी तार-डाक घर भी हैं। 1904 के पहिले यहाँ के जोङ् की इमारत बहुत बड़ी थी, लेकिन अँगरेजी तोपों ने उसे तोड़ दिया, अब इमारत छोटी-सी है। दक्खिन के पहाड़ को पार करके आधे ही दिन में आदमी भूटान पहुँच सकता है। एक घर के भीतर खाने की चीजों की हाट लगती है, जिसमें भूटानी लोग चावल-बूरा ला के बेचते हैं।

यहाँ से किराये के खच्चर हमें मिल सकते थे। अपने खच्चरों के 270 रु. मिल रहे थे, लेकिन लोगों ने बतलाया कि कलिम्-पोङ् में और दाम मिलेगा—यद्यपि यह बात गलत निकली।

28 मई को फरी से हम आगे की ओर चले। अब हम नीचे-नीचे की ओर जा रहे थे। कितने ही मील चलने के बाद छोटे-छोटे वृक्ष शुरू हुए और आगे बढ़ते-बढ़ते काफी देवदार आने लगे। यह डोमों (छुम्बो) का इलाका है। अँगरेजों की लड़ाई के बाद डोमों को उन्होंने लड़ाई के हरजाने के तौर पर दखल कर लिया और कई सालों तक उन्हीं का शासन रहा। फरी से तीन घंटा चलने के बाद नंगे पहाड़ खतम हुए थे, अब तो गाँव में घरों की छतें भी लकड़ी की थीं—मानो मैं फिर एल्मो में आ गया था। यहाँ की स्त्रियाँ एल्मो की ही तरह सुन्दर हैं, लेकिन पुरुषों के लिए वही बात नहीं कही जा सकती। दडोमोवाले ज्यादातर खच्चर लादने का काम

करते हैं। इनकी स्त्रियाँ बाहर जाने पर भोटिया कपड़ा पहनती हैं, नहीं तो कनौरियों की तरह ऊनी साड़ी उनकी पोशाक है। 31 तारीख को 10 बजे हम स्या-सीमा पहुँचे। पहिले यहाँ अँगरेजों की काफी बड़ी पलटन रहा करती थी, लेकिन अब 40-50 सिपाही रहते हैं। डाकबँगला, तारघर के अतिरिक्त एक खासा अच्छा बाजार भी है। मकान ज्यादातर टीन से छाए हुए हैं। बरस-भर से आँखें हरियाली के लिए तरस रही थीं, अब पहाड़ में जिधर देखो हरियाली ही हरियाली थी। हर गाँववाले खच्चरों से एक-एक टंका चराई वसूल करते हैं। मैंने 16 रु. पर खच्चर किराया किया था। धर्मकीर्ति पैदल चल रहे थे और दोनों खच्चर इसलिए खाली ले चल रहे थे, कि कलिम्-पोङ् तक वह काफी तगड़े हो जायेंगे। दोनों खच्चरों के लिए हर गाँव में दो टंका चराई का देना पड़ता था। उस दिन रात को हम ग्यू-थङ् में ठहरे। चारों ओर बड़े-बड़े देवदारों का जंगल था। कई प्राइवेट सरायें थीं। हम लोगों के लिए एक अच्छी कोठरी मिली। मकान की दीवारें, छत सब कुछ देवदार की लकड़ी की थी। सरायवाली बुढ़िया ने हमारे स्वरूप को देखकर समझ लिया कि भद्रपुरुष हैं, चलते वक्त छङ्रिन् (इनाम) देंगे। हमारे बैठने के थोड़ी ही देर बाद दो स्त्री-पुरुष आए। बुढ़िया ने उनके लिए पान प्रस्तुत किया। थोड़ी ही देर बाद स्त्री अँगड़ाई लेने लगी। पुरुष बार-बार हाथ जोड़ने लगा। धर्मकीर्ति ने बतलाया कि स्त्री के ऊपर देवता आ रहा है, और पुरुष उसे न आने देने के लिए नकल कर रहा है। स्त्री उठ खड़ी हुई, देवता की पोशाक पहन डंडे लगा डफ बाजा लिवाए वह मालकिन बुढ़िया की कोठरी में चली गई। सामने बत्ती बाल दी गई, धूप जलने लगी और पतली लकड़ी से बाजे पर ताल देते देवता धारा प्रवाह पद्य में बोलने लगा। सारे खच्चरवाले और दूसरे मुसाफिर देववाहनी के सामने पैसा रख-रखकर अपने दुख-सुख के बारे में पूछने लगे, गद्य में नहीं, सारा जवाब पद्य में था। फरी से हमारे साथ धर्मासाहु के भानजे कानछा चल रहे थे। मैंने उनसे मजाक करने के लिए कहा–कुछ पैसा रखकर तुम भी देववाहिनी से पूछो कि मेरा लड़का नेपाल में बीमार है, उसका क्या होगा। कानछा ने पूछा। देववाहनी ने कहा–"कुछ देवता नाराज हैं, लेकिन बहुत अनिष्ट का डर नहीं।" कानछा का ब्याह भी नहीं हुआ था। लेकिन जो लोग वहाँ देववाहनी से पूँछ के संतोष-लाभ कर रहे थे, वह इस झूठ को थोड़े ही मानते।

पहिली जून को हम फिर आगे बढ़े। कल भी हमें दो-ढाई घंटा चढ़ाई चढ़ के आना पड़ा था, लेकिन वह चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। आज यह जेलपला (डाँड़े) की चढ़ाई थी, खूब कड़ी। वर्षा भी काफी हुई। बर्फ बहुत कम थी। दोपहर के वक्त हम डाँड़े के सर्वोच्च स्थान पर पहुँच गए। यहीं शिकम और तिब्बत की राजसीमा है। अब उतराई थी। 2, 3 मील चलने पर कुपुक आ गया। यहाँ बाकायदा चाय-रोटी की दूकानें थीं। गोया हभ पंद्रहवीं से बीसवीं सदी में आ गए।

2 जून को जरा-सा चढ़कर हम तुकोला पार हुए। अब हिमालय की उतराई शुरू हुई, जो उतरने में जितनी कड़ी थी, इधर से तिब्बत की ओर जाने में भी उतनी ही कड़ी होगी। कई मील तक हम देवदारों के क्षेत्र में ही चलते रहे। फद्म्-चेङ् गाँव पहुँचते-पहुँचते देवदार पीछे छूट गए। अब घरों में बाँस की छतें थीं। गर्मी काफी मालूम होती थी। चाय-रोटी सब जगह तैयार थी, उसके साथ मक्खियों की भरमार थी। रात को हम इसी गाँव में रहे। रोलिङ्-छुगङ् तक उतराई ही उतराई रही। यहाँ छपरा की एक दूकान थी, लेकिन मैंने अपने को प्रकट नहीं किया। नदी पार करने पर फिर कुछ कड़ी चढ़ाई मिली, यहाँ महुवे की तरह के बड़े-बड़े चम्पा-वृक्षों का जंगल था, नीचे फूलों का ढेर लगा हुआ था। अब गोरखों के गाँव मिल रहे थे। नारंगी के वृक्ष और मक्का के खेत थे। दोपहर बाद डुमूपे फङ् में पहुँचकर हम ठहरे। यहाँ से 4 मील और शिकमराज्य है, उसके बाद अँगरेजी इलाका आ जाता है। अब हमें कलिम्-पोङ् पहुँचने के लिए 16 मील और चलना था। 4 जून को हम फिर चले और एक-दो बस्तियों को पार करते अलगरहा पहुँच गए। यहाँ छपरा की कई दूकानें थीं, पूछने पर शीतलपुर-बरेजा के एक ब्राह्मण देवता मिल गए। उनकी ससुराल परसा में है, फिर परसा के नाते वे मुझे खिलाए-पिलाए बिना कैसे आगे जाने देते। पुआ बना हुआ था, उन्होंने खिलाया। दो घंटे के विश्राम के बाद फिर चले और शाम तक कलिम्-पोङ् पहुँच गए। भाजू रत्न साहु के द्वारा ही हमारी सारी चीजें नीचे रेल तक पहुँचनेवाली थीं, पहिले ही से मेरे आने की उन्हें खबर थी।

यद्यपि कलिम्-पोङ् चार हजार फीट से ऊँचे की एक ठंडी जगह समझी जाती है। किन्तु सवा बरस हिमालय में रहने के बाद यहाँ मुझे बहुत गरम मालूम हो रहा था और धर्मकीर्ति बेचारा साइबेरिया का बाशिन्दा, उसने इतनी गरम जगह तो जिन्दगी-भर में कभी नहीं देखी थी। मैंने ख्याल किया, जल्दी से जल्दी लंका पहुँचने ही में खैरियत है, नहीं तो वह कहीं और अधिक बीमार न हो जाय। हम एक ही दिन कलिम्-पोङ् में ठहरे। खचरियों के बेंचने-बाचने का काम भी भाजूरत्न साहु के जिम्मे लगाया और 6 जून को तीन बजे मोटर से सिलीगुड़ी के लिए रवाना हो गये। एक तो पहाड़ों के घूम-घुमौवे रास्ते में ऐसे भी बहुत आदमियों को मोटर में चलने से कै होती है, धर्मकीर्त्ति तो गर्मी के मारे भी परेशान थे, उधर मोटर पर भी पहिली मरतबे चढ़े थे। सिलीगुड़ी हम शाम को पहुँचे, वहाँ पहुँचते-पहुँचते वह बहुत परेशान हो गए। उन्होंने लौट जाने के लिए कहा। मैंने खरच दे उसी मोटर से उन्हें कलिम्-पोङ् लौटा दिया। रात को कलकत्ता की गाड़ी मिली और 7 जून को मैं वहाँ पहुँच गया। बड़ा-बाजार में सत्याग्रहियों पर लाठी पड़ती देखी। मेरा दिल बहुत ललचाने लगा, लेकिन मैं इक्कीस खच्चरों पर ग्रंथराशि तिब्बत से जमा करके लाया था, जब तक उन्हें सीलोन नहीं पहुँचा देता, तब तक मैंने अपने लालच को दबाना ही पसन्द किया।

10 तारीख को पटना पहुँचा। सदाकत आश्रम में बिहार प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का केन्द्र था, व्रजकिशोर बाबू से मुलाकात हुई। देखा सरकार के इतने दमन पर भी देशभक्त किस तरह काम कर रहे हैं। 11 जून को पता लगा, बीहपुर में राजेन्द्र बाबू पर पुलिस ने लाठी चलाई। 12 को सारनाथ गया। वहाँ मालूम हुआ कि छपरा की पुलिस मेरी खोज में यहाँ भी कई बार हैरान होने के लिए आई। बनारस में डा. भगवान दास से मुलाकात हुई। वह थ्योसोफी के पुराने भक्त हैं। थ्योसोफी के नेताओं ने तिब्बत के नाम पर सैकड़ों तरह का मिथ्या विश्वास फैलाया है। उनके लालसिंह, कुथुमी आदि कितने ही महात्मा तिब्बत में रहते हैं। डा. भगवान दास ने उनके बारे में पूँछा। मैं उनकी श्रद्धा पर चोट नहीं करना चाहता था, मैंने सिर्फ इतना ही कहा कि वहाँवाले इन महात्माओं का कोई ज्ञान नहीं रखते। 15 को मैं फिर कलकत्ता चला आया। सिन्धिया कम्पनी के जहाज कलकत्ता से कोलंबो जाया करते हैं, मैंने उनसे अपने बहुमूल्य संग्रह के बारे में बतलाया, और उन्हें हिफाजत से कोलंबो पहुँचा देने के लिए कहा। 16 को मद्रास-मेल पकड़ा, और वहाँ हो के 20 जून को लंका में विद्यालंकार विहार में पहुँच गया।

6

लंका में दूसरी बार (1930 ई.)

ल्हासा में रहते ही वक्त लाहौर-कांग्रेस और नमक-सत्याग्रह की खबर मिल चुकी थी। तिब्बत में संग्रहीत पुस्तकों और चित्रों को सुरक्षित स्थान में बिना पहुँचाए मुझे सत्याग्रह में भाग लेने के लिए व्यग्रता को दबाना पड़ा। जून में ही मेरे भिक्षु-उपसम्पदा लेने का निश्चय हुआ था, इसलिए भारत में ज्यादा ठहरकर राजनीतिक आन्दोलन को देखने का अवसर नहीं था।

कलकत्ता से लौटकर लंका (20 जून) जाने पर भिक्षु आनंदजी के बाद जिससे मिलकर सबसे अधिक प्रसन्नता हुई, वह थे नायकपाद। तिब्बत के लिए विदाई देते वक्त उनकी आँखें कितनी अश्रुपूर्ण हो गई थीं, यह मुझे अब भी याद है।

लंका में बौद्धभिक्षुओं के रामण्य, अमरपुर, श्याम—तीन निकाय (संप्रदाय) हैं, श्याम निकाय सबसे पुराना, संख्या और प्रभाव में सबसे बड़ा है। लंका में पोर्तुगीज़ और डच शासनकाल तक धीरे-धीरे भिक्षुसंघ उच्छिन्न हो गया था। फिर 1754 ई. के करीब मध्यलंका के स्वतंत्र नरेश कीर्तिश्रीराजसिंह ने श्याम से भिक्षु संघ को बुलाकर शरणांकर संघराज आदि की उपसंपदा करा भिक्षुसंघ की स्थापना कराई थी। उस वक्त की राजधानी

कांडी में यह कार्य संपन्न हुआ था, और तब से श्यामीय निकाय का केन्द्र मलवत्तविहार कांडी ही है। श्याम निकाय के भिक्षुओं की उपसम्पदा साल में एक ही बार एक निश्चित मास में होती है। उपसम्पदामास समाप्त हो रहा था, और सिर्फ मेरे लिए अभी समाप्ति को रोक रखा गया था।

उपसम्पदा के लिए कांडी जाने से पहिले विद्यालंकार विहार में नायकपाद के उपाध्यायत्व में मेरी प्रव्रज्या (22 जून) हुई। मैं लंका में रामोदार स्वामी के नाम से प्रसिद्ध था, और लंका छोड़ने से पूर्व ही अपने गोत्र को जोड़कर अपने को रामोदार सांकृत्यायन बना चुका था। मैं समझता था, यही नाम बना रहेगा, क्योंकि इस नाम से मैं साहित्यिक क्षेत्र में अवतीर्ण हो चुका था; किन्तु प्रव्रज्या-संस्कार शुरू होने के चन्द ही मिनट पहिले नायकपाद की आज्ञा हुई नये नामकरण की। समय होता, तो मैं समझाने की कोशिश करता, किन्तु अब कुछ करना आज्ञाभंग होता। नाम शायद एकाध और पेश किये गये थे, किन्तु मैंने रामोदार के रा की साम्यता के देखते हुए राहुल नाम का प्रस्ताव किया और वह स्वीकृत हुआ। इस प्रकार राहुल सांकृत्यायन के नाम से मैं प्रव्रजित (श्रामणेर) हुआ।

2 जून को कांडी में मेरी उपसम्पदा हुई। उपसम्पदा की कार्रवाई बहुत प्रभावोत्पादक होती है, यह इसीलिए नहीं कि वह ढाई हजार वर्ष पहिले की भाषा और स्वर में होती है, बल्कि उसमें उस समय के वैशाली और कपिलवस्तु के प्रजातंत्रों की सांघिक कार्रवाइयों की झलक दिखलाई पड़ती है। बड़ी शाला में संघ का अध्यक्ष प्रमुख स्थान पर किन्तु समान आसन पर बैठता है। उसकी दोनों तरफ पाँती से अपने उपसम्पदा वर्ष के क्रम से भिक्षु लोग बैठते हैं। दो जानकार भिक्षु सारे संघ को 'सुणातु भन्ते संघो' (सुने माननीय संघ) कह सम्बोधित करते हुए उम्मीदवार (उपसम्पदा पेक्ष) को पेश करते हैं। संघ उम्मीदवार की योग्यता की परीक्षा सिर्फ विद्या ही में नहीं करता है, बल्कि उन शारीरिक-मानसिक, व्याधियों के बारे में भी जाँच करता है, जिनके कारण एक व्यक्ति को संघ में नहीं लिया जा सकता। इस उपसम्पदा से पहिले ही मैंने त्रिपिटक पढ़ा था, बुद्धकालीन भारत को मानस-पटल पर साकार देखने की कोशिश की थी, उस समय गणतंत्रों और उनकी नकल पर भिक्षु-उपसम्पदा के बारे में बहुत कुछ जान चुका था। भारत के बाहर तिब्बत-जैसे बौद्धदेश में सवा साल रह भी चुका था; इसलिए उपसम्पदा की सारी कार्रवाई का मुझ पर बड़ा असर हुआ।

वर्षावास नजदीक था। बौद्धभिक्षुओं का सारा संघठन संघवाद के आधार पर है। वैशाली के गणतंत्र की दृढ़ता, उसकी स्वातंत्र्यप्रियता आदि को देखकर बुद्ध पर इतना असर पड़ा था और साथ ही अपने शाक्य गणतंत्र की कार्रवाईयों में भाग लेने का भी उन पर काफी असर था, इसीलिए सांघिक कर्म–सांघिक स्वाध्याय, सांघिक विवाद-निर्णय आदि–पर उनका बहुत जोर था। भिक्षुओं के नियमों में महीने में दो बार–अमावस्या और पूर्णिमा को–सारे भिक्षुओं का संघसन्निपात (सम्मिलन) आवश्यक करार दिया गया है, किन्तु बीच की पच्चीस शताब्दियों में इतने सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन हुए, कि उसका महत्त्व लोगों की दृष्टि में जाता रहा; और अब संघसन्निपात या उपोसथ सिर्फ वर्षा के दो या तीन महीनों में होता है। उपसम्पदा की भाँति प्रथम उपोसथ का भिक्षुसन्निपात भी मुझे बड़ा प्रभावशाली मालूम हुआ।

उस दिन (9 जुलाई, आषाढ़-पूर्णिमा) पास के एक विहार (मठ) के नए बने उपोसथागार में प्रथम उपोसथ करके उसकी प्रतिष्ठा भी करनी थी, इसलिए हमें वहाँ जाना पड़ा। दोपहर का भोजन समाप्त हुआ, थोड़े समय के विश्राम के बाद लोगों ने अपने अंतरवासक को कटिबंध से ठीक तौर से बाँधा। फिर दाहिने कंधे को नंगा रखते उत्तरा संग के दोनों कोनों को मिलाकर उस पर चौपेती संघाटी रख कटि-बंधन (एक बालिश्त चौड़ी, कई हाथ लंबी चीट) से ठीक से बाँधा। कुछ भिक्षुओं ने पहिले ही शाला में जा आसन बिछा रखा था। पैर धो हाथ में ताल-व्यंजन के लिए हर एक भिक्षु उपसम्पदा वयस के क्रम से उपोसथागार में प्रविष्ट होने लगा। सबके आ जाने पर दर्वाजा भीतर से बंद कर दिया गया। आसनों के सिरे पर पंखे के साथ एक रिक्त आसन धर्मासन के लिए रहता है। धर्मासन को तीन बार प्रणाम करके उपस्थित संघ सबसे पहिले अपने में से किसी को–चाहे वह कल ही उपसम्पदा पाए क्यों न हो–धर्मासन पर बैठकर (सभापति बन) आज की कार्रवाई को संचालित करने के लिए चुनता है। यह बात विशेष तौर से ख्याल रखने की है, कि शाला में बुद्धमूर्ति के होने

पर भी प्रणाम उसकी ओर न कर सिर्फ धर्मासन की ओर किया जाता है। उपोसथ के समय सारे प्रातिमोक्ष सूत्र (भिक्षुनियमों) को दुहराना चाहिए, किन्तु आजकल उसके आरंभ के थोड़े-से भागों को ही दुहराया जाता है। अपराध-स्वीकार का भावी जीवन पर कोई असर नहीं रहता, इसलिए यह कार्रवाई यंत्रवत् मालूम होती है।

वैसे भी लंका के गृहस्थों और भिक्षुओं में मेरी खासी इज्जत थी, किन्तु भिक्षुसंघ में शामिल हो जाने पर वह सम्मान कई गुना बढ़ गया था। लंका में सिंहल और अंग्रेजी अखबार सार्वजनिक शिक्षा के विस्तार के कारण बहुत पढ़े जाते हैं, इसलिए मेरी तिब्बत-यात्रा के बारे में लिखे लेखों के बाद उपसम्पदा-संबंधी लेखों और चित्रों से जनता में काफी प्रसिद्धि हो गई थी; और धर्मोपदेश के लिए अनकों निमंत्रण बराबर आते रहते थे—आनंदजी ने भी धर्मोपदेश देने में काफी ख्याति प्राप्त कर ली थी। मुझे अब समय भी था, इसलिए हर महीने में मैं एक-दो व्याख्यान दे आता। विहार में रहते वक्त अध्यापन के साथ मैंने हिन्दी में एक बुद्ध की जीवनी लिखने में हाथ लगाया। अपने शब्दों में स्वतंत्र जीवनी लिखने की अपेक्षा मैंने पसंद किया, कि वह त्रिपिटक से संग्रह कर उसी के शब्दों में हो, ताकि लोग त्रिपिटक की ऐतिहासिक, भौगोलिक सामग्री का लाभ उठाते हुए बुद्ध के जीवन को पढ़ें और स्वतंत्र निर्णय करें। पढ़ते वक्त किए नोटों से मुझे सामग्री जुटाने में बड़ी आसानी हुई और इस प्रकार मैंने बड़ी तेज गति से 'बुद्धचर्या' लिखने का काम शुरू किया।

तिब्बत से मैं पंडित अनन्तराम भट्ट को बराबर पत्र लिखता, तथा उन्हें जर्मनी जाने के लिए उत्सहित करता था। वह लंदन-मेट्रिक की परीक्षा में असफल रहे, इसलिए और भी इतने समय बर्बाद करने की जगह मेरी जर्मनी जाने की सम्मति को उन्होंने पसन्द किया। उनके मामा (जो ससुर भी थे) के पास कुछ धन था, किन्तु उसमें से कुछ मिलना मुश्किल था। मैंने जर्मनी में प्रोफेसर रुडाल्फ ओटो को उनके बारे में लिख दिया था, उन्होंने टुबिन्गेन् के एक प्रोफेसर को लिखा। फीस माफ तथा कुछ सहायता का इन्तिजाम तो हो गया, किन्तु साथ में जहाज के किराए के अतिरिक्त चार-पाँच सौ रुपए चाहिए थे। मैं नहीं समझता, उतने रुपये भी वह पूरे कर सकते थे। उसी वक्त अनागारिक धर्मपाल ने मेरे लिए डेढ़ सौ रुपये भेजे थे। बेकार रुपया जमा रखना मुझे भारी लगता है, और इधर भट्ट के काम से बढ़कर उसका क्या उपयोग हो सकता है। खैर, किसी तरह ढकेलकर मैंने भट्ट को जर्मनी के लिए रवाना किया। 1930 से अभी (1940 ई.) तक वह वहीं हैं।

लंका में जोतिस की भाँति भूत-प्रेत, जादू-मंतर पर साधारण जनता नहीं, शिक्षितों तक का बहुत विश्वास है। भिक्षु-नियम के विरुद्ध होने पर भी भिक्षु लोग पैसे के लोभ से इन बातों के प्रचार में खासतौर से सहायता पहुँचाते हैं। ईश्वरवाद के विरुद्ध कहने पर तो वह खुश होते हैं, किन्तु भूतवाद के विरुद्ध बात करना पसंद नहीं करते। विद्यालंकार में मैं भूतवाद, मंत्रवाद, जोतिसवाद का खूब खंडन किया करता था, इसलिए यहाँ के भिक्षु उसे सहते तथा कितने ही विश्वासहीन भी होने लगे थे। तिब्बत से लौटने पर एक दिन मैं तिब्बत के भूतों और तांत्रिकों का वर्णन मजाकिया तौर से करने लगा। तरुण भिक्षु हँस रहे थे, किन्तु उस वक्त हमारे गुरुभाई प्रज्ञाकीर्ति के पिता वहाँ आ गए, उन्हें बहुत बुरा लगा। बेचारे बड़े श्रद्धालु जीव थे। संघ के दायाद (संबंधी) बनने तथा बौद्धधर्म की सेवा के लिए उन्होंने अपने एकमात्र पुत्र को भिक्षु बना दिया था। लंका में ऐसे गृहस्थ आसानी से मिल जावेंगे, जिन्होंने एकलौते पुत्र को भिक्षु बना दामाद, या दत्तक पुत्र से अपना वंश चलाना पसंद किया। हमारे दूसरे गुरुभाई आचार्य प्रज्ञालोक भी ऐसे ही पिता की एकमात्र सन्तान थे।

भारत में सत्याग्रह चल रहा था। महात्मा गांधी के पत्र 'यंग इंडिया' की कितनी ही टाइप की हुई कापियाँ लंका भी पहुँचती थीं, और उन्हें भारतीय बड़े चाव से मेरे पास पहुँचाते थे। ऐसे समय में आन्दोलन से अलग रहना मेरे लिए असह्य मालूम हो रहा था, यही अवस्था आनंदजी की भी थी। किन्तु अभी तिब्बत से लाई पुस्तकें, चित्रपट आदि कलकत्ता से कोलंबो के रास्ते में थे। उन्हें सुरक्षित तौर से रखना भी जरूरी था। मैं आनंदजी को उसका जिम्मा देकर भारत आ जाना चाहता था, किन्तु उनका भी कहना बजा था—पुस्तकों के बारे में उनकी जानकारी नहीं थी। नायकपाद से भारत जाने की इजाजत मिल नहीं सकती थी, इसलिए एक

दिन चुपके से वे कोलम्बो से तलेमन्नार के लिए रवाना हो गये। नायकपाद को बहुत दुःख हुआ, जब उन्होंने उनके चले जाने तथा उसके भीतर छिपे अभिप्राय को सुना। वे पुराने ढंग के भिक्षु थे, जिन्हें राजनीति उतनी ही त्याज्य थी, जितना गृह-परिवार का संबंध।

आखिर सिंधिया नेवीगेशन कम्पनी के जहाज से तिब्बत की चीजें भी पहुँच गईं। कम्पनी के कोलम्बो वाले प्रतिनिधि श्री नानावती ने मुफ्त मँगवा देने का इन्तिजाम कर दिया था। चीजें कई महीने से चमड़े में सीकर बंद थीं। तिब्बत के अक्षांश, उन्नतांश और सर्दी में बंद होकर अब भूमध्य-रेखा के पास लंका की गर्मी में खुलीं। बड़ी बदबू आ रही थी। मैंने अपने रहने का बड़ा कमरा पुस्तकों के लिए खाली कर दिया। नेप्थलीन गोलियों का अच्छा प्रबंध किया, तो भी उस बदबू के सामने नेप्थलीन का क्या वश चलता ?

तिब्बत की चीजों को सँभालकर रख दिया गया। चित्रों का प्रदर्शन भी कोलम्बो में हुआ। समाचार-पत्रों ने फोटो आदि छापे। हमारे विहारवालों के लिए यह बड़ी खुशी की बात थी, और नायकपाद के लिए खासतौर से। अब मैंने भारत जाने का निश्चय किया, किन्तु आनंदजी की भाँति मैं बिना पूछे जाना नहीं चाहता था। एक दिन शाम को, जब कि दूसरे भिक्षु सायंप्रणाम करके चले गए, मैं नायकपाद के पास बैठ गया। और बातों के बाद मैंने भारत के राजनीतिक आन्दोलन का जिक्र छेड़ा—वैसे भी नायकपाद उसके बारे में कभी-कभी पूछा करते थे। फिर बड़ी सावधानी से उसमें भाग लेने की कितनी आवश्यकता है कहकर, मैंने अपने जाने की आज्ञा माँगी। मैंने सोचा था, उत्तर 'हाँ', 'नहीं' अथवा समझाने-बुझाने के रूप में होगा। लेकिन मैंने विस्मित हो एक चीख सुनी, जिसकी प्रतिध्वनि विहार के कोने-कोने में व्याप्त हो गई। खैरियत यही हुई, कि वहाँ पास में कोई था नहीं, और मेरे तुरन्त वहाँ से चले आने पर दूसरी बार वैसा नहीं हुआ।

नायकपाद स्नेहमय जीव थे, और मेरे ऊपर उनका स्नेह बहुत ज्यादा था। वह अखबारों में पढ़ रहे थे, भारत में कैसे लोगों पर लाठियाँ पड़ रही हैं, कैसे लोग जेल जा रहे हैं; यही बातें मेरे साथ भी होतीं, इसी बात का ख्याल करके उस वक्त उनका चित्त विचलित हो गया था। मैंने कुछ दिनों तक फिर उस बात की चर्चा न की।

इधर 'बुद्धचर्या' का लिखना भी समाप्त (7 अक्तूबर से लेकर 14 दिसम्बर को) हो गया था, जिससे मन किसी काम में नहीं लगता था। आनन्दजी के बारे में मालूम हुआ, कि वह दर्भंगा में गिरफ्तार हो गये, और कुछ दिनों जेल में उन्हें रख कर छोड़ भी दिया गया। मैंने धीरे-धीरे नायकपाद को समझाना शुरू किया, और बतलाया कि बौद्धभिक्षु को अपने आचरण से दिखलाना चाहिये, कि वह दूसरों के लिए कितना कष्ट सह सकता है। अन्त में नायकपाद ने आज्ञा दे दी। 15 दिसम्बर को मैं भारत के लिए रवाना हो गया।

7
सत्याग्रह के लिए भारत में (1930-31 ई.)

उस वक्त अभिधर्मकोश (मेरी टीका सहित) काशी-विद्यापीठ की ओर से छप रहा था, प्रूफ की गड़बड़ी की वजह से छपने में दिक्कत हो रही थी, इसलिए एक महीने के भीतर पहिले मुझे उसको खतम करना था, इसलिए मैं पटना, छपरा सिर्फ आन्दोलन की स्थिति जानने के लिए गया। दिसंबर का महीना काशी-विद्यापीठ में बीता और जनवरी का भी कुछ भाग (21 दिसम्बर से—15 जनवरी)। देखा, प्रेसवाले भी प्रूफ देने में ढिलाई करते हैं, इसलिए उसके शीघ्र प्रकाशन की आशा छोड़ मैं (25 जनवरी से) छपरा चला गया। अपना कार्यक्षेत्र छपरा को ही बनाना था।

उस वक्त सरकार का दमनचक्र बड़े जोरों से चल रहा था। जेलखानों में इतने सत्याग्रही भर गये थे, कि वहाँ और भी भरना सरकार को तरद्दुद की चीज मालूम होती थी। उसने इसके लिए बड़े-बड़े जुर्माने और

मारपीट का इन्तिजाम कर रखा था। एकमा गया, देखा, बहुत-से कार्यकर्ता जेल में चले गये हैं, आश्रम के लिए जब्त होने की डर से कोई घर नहीं मिलता। स्वयंसेवकों ने स्टेशन से पच्छिम रेल को सड़क से दक्खिन एक कूँए के पास अरहर-ऊख से ढँकी भूमि में अपना आश्रम बनाया था। एक झंडा छीन ले जाने पर दूसरा झंडा गाड़ दिया जाता था। वरेजा के लोगों ने सत्याग्रह में बड़ी बहादुरी दिखलाई थी, जिसके फलस्वरूप वहाँ गोर्खा पल्टन लाकर रख दी गई थी। देशी सिपाहियों में लोगों के प्रति सहानुभूति पैदा होने का डर था, इसलिए गोर्खा लाये गये; तो भी बरेजा के लोग त्रस्त न थे। गिरीश का छोटा भाई पंडित बचपन में हम लोगों की दृष्टि में बौड़म-सा था, किन्तु आज वह वहाँ के स्वयंसेवकों का नेता बन गया था। गाँव से पच्छिम-उत्तर की परती में उन लोगों ने राष्ट्रीय झंडा गाड़ा था। गोर्खे हटा देते थे। मैंने झंडे को फिर भी फ़हराते देखा था। पंडित से पूछा—पंडित कैसे झंडा गड़ा रहता है ? उत्तर मिला—"हम लोग अरहर के खेत में चुपके से जाकर गाड़ आते हैं। अब उसे उतारते-उतारते सिपाही इतने तंग आ गये हैं, कि हर वक्त उतारने के लिए नहीं आते।" मैंने (28 जनवरी से 2 फरवरी तक) एक-बार सारे जिले का चक्कर लगाया। साल-भर के दमन के बाद भी आन्दोलन जारी रखने के लिए धन, जन की कमी न थी। जिले के बड़े-बड़े जमींदार और धनी सर्कार से थर-थर काँपते, तथा अमन-सभाओं द्वारा जनता को डराने-धमकाने में लगे हुए थे। गांधी जी का उपदेश था कि सत्याग्रही अपनी किसी कार्रवाई को छिपाकर न करें, किन्तु साल-भर के तजर्बे ने राष्ट्रकर्मियों को समझा दिया था, कि बिना गुप्त-संगठन के कार्य चलाया नहीं जा सकता। उस वक्त छपरा जिले में आन्दोलन के संचालक गुह्यबाबू (यतीन्द्रनाथ सूर) और जगन्नाथ मिश्र थे। बाहर रहकर स्वयंसेवकों को जमा करना, उनके खाने-पीने का इन्तिजाम करना जेल जाने से कहीं मुश्किल काम था। जेल में चले जाने पर तो निश्चिन्त हो पढ़ते-खेलते-खाते अपने समय को बिताया जा सकता था। बनारस से आन्दोलन में भाग लेने के लिए छपरा आकर रहने लगा, तो गुह्यबाबू और जगन्नाथ पंडित का आग्रह हुआ, कि उनका काम मैं सभालूँ और उन्हें विश्राम करने के लिए जेल जाने दूँ। कई महीने से जितने परिश्रम, जितनी मानसिक चिंता से वे लोग काम कर रहे थे, उसे देखकर उनकी माँग मुझे युक्ति-युक्त जँची। मैं जानता था, कि छपरा की पुलिस मुझसे काफी परिचित है, और बाहर से काम न दिखलाई देने पर भी वह कुछ उपाय किये बिना नहीं रहेगी; तो भी अपने को बाहर रहता दिखलाते हुए मैंने काम करना तय किया। गुह्यबाबू, और जगन्नाथ पंडित उसी दिन गांजे की दूकान पर धरना देने गये, और वहीं से पकड़कर जेल भेज दिये गये। छपरा में एक बड़ा जलूस निकला, मैं जलूस से अलग-अलग फुटपाथ से चल रहा था। मेरे पुराने परिचित दारोगा नन्दी ने देखा, प्रणाम किया। मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि इन पुलिस-अफसरों में एक ईमानदार अफसर भी है। शहर के थाने के दारोगा आदि भी अच्छे आदमी थे।

धरना, जलूस आदि का काम बराबर जारी रहा। राजेन्द्र बाबू के बड़े भाई बाबू महेन्द्र प्रसाद का मेरा पुराना परिचय था। उनके हृदय की थोड़ी-बहुत पहिचान मुझे पहिले से भी थी, किन्तु बिहार बैंक—जिसके कि वह छपरा शाखा के मैनेजर थे—के अपने कमरे में उनके मुँह से निकले हुए शब्दों को याद कर आज भी उनके हृदय की महानता, उनके देशप्रेम के प्रति श्रद्धा उमड़ आती है। उन्होंने कहा था—'बाबू' (राजेन्द्र प्रसाद) जेल में हैं, उतने से मेरा कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता है, यह मैं मानता हूँ; तो भी घर-परिवार का ख्याल करके मैं जेल नहीं जा रहा हूँ, किन्तु, मैं एक काम कर सकता हूँ, वह है आन्दोलन को जारी रखने के लिए रुपयों का इन्तिजाम करना। आपको जब जरूरत हो मुझसे कहने में संकोच न करें।...रुपये-पैसे की समस्या उस समय सबसे बड़ी समस्या थी।

31 जनवरी को मैंने सुना कि नारायण बाबू के गाँव में पुलिस ने जुल्म ढाया है। गोरखा गारद ने लोगों के घरों में घुस-घुसकर मार-पीट की है। मैंने बाबू जानकीशरण शाही वकील को फोटो के केमरे के साथ चलने को कहा। हम लोग 10 फर्वरी को छपरा से चलकर सिधवलिया स्टेशन पर उतरे। मसरख से थावे तक की नई रेलवे लाइन से जाने का मुझे यह पहिला मौका मिला था। इस लाइन को निकले एक ही डेढ़ वर्ष हुए थे, और अब भी गाड़ी के चलने पर धूल खूब उड़ती थी। जलालपुर में बाबू लालचंदराय के घर पर जानकी

बाबू ने केमरे में नई प्लेटें भरीं। गोरया कोठी में गोरखा सिपाही पड़े हुए थे, और हमारे काम में बाधा होने का डर था, इसलिए हम लोग चुपके-से पैदल वहाँ पहुँचे। नारायण बाबू के घर में गोरखों ने कुर्सी, पलंग, चौकियों को काट डाला था। गाँव के एक गरीब के घर में देखा, उसकी चौखट-किवाड़ों को उखाड़ फेंका गया था, कोठिली को तोड़कर अनाज को मिट्टी में मिला छींट-छाँट दिया गया था। काँसे-ताँबे के बर्तनों-घड़ों को तोड़ दिया गया था। यही हालत कितने ही और घरों की हुई थी। लोगों पर मार पड़ी थी सो अलग। पुलिस ने सारे गाँव में आतंक फैलाने की कोशिश की थी। सरकार लोगों को कानूनन् सजा देते-देते तंग आ गई थी। जेलों और कैम्पों के भर जाने पर जेल की सजा जितनी जनता को घबड़ाहट नहीं पैदा कर सकती थी, उतनी सरकार और उसके कर्मचारियों को परेशानी में डाले हुए थी। इसीलिए सरकार इस बर्बरता पर उतर आई थी। लेकिन तो क्या जनता को वह भयभीत करने में समर्थ हुई थी ? नहीं–जौ के साथ घुनों को पिसते देख, आन्दोलन से अलग रहनेवाले लोग भी अब उसमें सम्मिलित हो रहे थे, सरकार के खैरख्वाहों की संख्या शून्य बनती जा रही थी। इतने अत्याचार पर स्त्रियों तक के धैर्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। नारायण बाबू की स्त्री को मैं सान्त्वना-वाक्य कह रहा था, किन्तु वह पहिले ही से बहुत दृढ़ थीं। कह रही थीं–मुझे घबराहट नहीं है। मैं बच्चों के साथ जेल में जाने के लिए तैयार हूँ। और वस्तुतः उनकी सबसे छोटी लड़की अपनी मझली बहिन के साथ जलूस में भाग ले रही थी, और छपरा में धरना में शामिल हुई थी। सैंकड़ों वर्षों से पर्दे की घृणित प्रथा की मारी बिहार की इन कुलांगनाओं में एक भारी सामाजिक क्रान्ति फैलती साफ दिखलाई पड़ रही थी।

हम लोगों ने फोटो लिये। कई घंटे रात तक गाँव में फिरकर लोगों को समझाया, और फिर आकर रात को जलालपुर में विश्राम किया। सवेरे छपरा पहुँचे। राष्ट्रीयपत्र अधिकांश बंद हो चुके थे, इन अत्याचारों की खबर छापनेवाला कोई पत्र मिलना मुश्किल था। हमने प्रयाग के 'भविष्य' में चित्रों को प्रकाशित कराया। किन्तु, क्या सरकार को अपने कर्मचारियों की काली करतूतों से शरम आती थी ? बंबई में स्त्रियों तक पर लाठियों की वर्षा को तो विदेशी पत्रकारों तक ने अपनी आँखों देखा, अमेरिकन और दूसरे पत्रों में उनके संबंध में लेख छपे, किन्तु उससे क्या बृटिश सरकार पर कोई असर हुआ ? क्या उसने अपने रवैये को बदला ? विलायत की मजदूर-सरकार के भारत मंत्री मिस्टर वेजवूड बेन ने जब उसका समर्थन किया, तो बाहरी सहानुभूति तथा संसार की नैतिक शक्ति के बल पर भारत को स्वतंत्रता पाना असंभव है, यह मालूम हो गया। आशा सिर्फ उस शक्ति से हो रही थी, जो इन आततायी कृत्यों के कारण जनता में अपार घृणा तथा स्वार्थत्याग के लिए होड़ के रूप में उत्पन्न हो रही थी। अंग्रेज केवल अपने संसार में फैले प्रतिद्वंद्वियों और अपनी भविष्य की विपता का ख्याल कर जनता के इस सर्वव्यापी क्रोध से डर रहे थे। संसार के दूसरे देशों के शासन की बागडोर जिनके हाथों में है, उन्हें तो वे अपने ही जैसे जनता की आँखों मे धूल झोंकनेवाले समझ रहे थे।

इस वक्त तक बिहार के कितने ही राष्ट्रकर्मियों को गाँधीवाद से निराशा हो गई थी, और वे समाजवाद के आधार पर जनता को तैयार कने की जरूरत महसूस करने लगे थे। गाँधी-इर्विन समझौते के बाद हमने बिहार सोशलिस्ट पार्टी की स्थापना (13 जुलाई) की, मैं उसका एक मंत्री बनाया गया। जब से राष्ट्रीय आन्दोलन में मैंने भाग लिया, मुझे तो ऐसा समय नहीं मालूम होता, जब कि मैंने सरकार के साथ शोषकों को भी अपनी आलोचना, अपनी घृणा का लक्ष्य न बनाया हो; अब समय को उस आदर्श के प्रचार के अनुकूल देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई, जिसका चित्रण मैंने 'बाईसवीं सदी' में किया था।

मैं बहुत दिनों काम नहीं कर सका था, कि इसी बीच में 5 मार्च (1931 ई.) को गाँधी-इर्विन समझौते की बात अखबारों में पढ़ी। जेलों में पड़े राजनीतिक कैदी छूटने लगे। 10 मार्च को छपरा जेल से छूटनेवाले कैदियों के स्वागत की प्रतीक्षा में कई साथियों के साथ मैं जेल पर पहुँचा। इंतिजार करते बारह के करीब बजने को आये। उस वक्त भिक्षु होने से मैं दोपहर के बाद खाना नहीं खाता था। खाना खाने के लिए अपने मेजबान बाबू गुणराज सिंह के घर पर जाने में देर होती, मैंने जुमराती मियाँ से पूछा तो उन्होंने कहा–खाना तैयार है। उनका घर जेल से नजदीक था। बाहर के बैठके में चौकी पर बैठा, और जुमराती मियाँ ने खाना लाकर

सामने रखा। छुआछूत को मैं कब का छोड़ चुका था, किन्तु छपरा में निस्संकोच हो मुसल्मान के घर खाना खाने का यह पहिला अवसर था। मेरे कितने ही साथी जनता में इसके लिए घृणा पैदा होने का डर दिखला रहे थे, किन्तु मैं कह देता–"आप कह सकते हैं, कि अब वह रामउदार बाबा नहीं, राहुल सांकृत्यायन है; हिन्दू नहीं, बौद्ध है।" राजनीतिक क्रान्ति के साथ सामाजिक क्रान्ति की मैं अनिवार्य आवश्यकता बहुत पहिले से समझ रहा था। मुसाफिर विद्यालय के समय से ही छुआछूत और जात-पाँत के विरुद्ध कड़ी से कड़ी आलोचना करने में मैं जरा भी नहीं हिचकिचाता था। जुमराती मियाँ के घर खाना मैंने खुल्लम्खुल्ला खाया था, और खुल्लम्खुल्ला उसकी चर्चा करता था। मुझे तो ऐसी कोई घटना याद नहीं आती, जब इसके लिए मैं किसी के तिरस्कार का भाजन हुआ। वस्तुतः जिनके लिए हम काम करते हैं, वे तो हमें हमारी सार्वजनिक सेवा से तौलते हैं, बाकी प्रतिगामी, सरकारपरस्त मक्कारों की हमें पर्वा क्या होनी चाहिये ?

अबके (29-31 मार्च) कांग्रेस कराँची में हुई। मैं भी कई साथियों के साथ (23 मार्च को) कराँची के लिए रवाना हुआ। रास्ते में जब हमारे साथी पूरी-तर्कारी ढूँढ़ते, तब मैं रोटी-गोश्त लेता–युक्तप्रान्त बिहार में उस वक्त तक स्टेशनों पर रोटी-गोश्त की फेरी करनेवाले मुसल्मान ही होते थे। 26 को कराँची पहुँचे। वहाँ आनन्द जी भी मिल गये। हम लोग एक ही जगह ठहरे। कांग्रेस में सम्मिलित सारे प्रतिनिधियों और जनता में भगत सिंह और उनके साथियों की फाँसी से एक भारी उत्तेजना थी। गाँधी-इर्विन समझौते से कितने लोगों ने समझा था, अंग्रेजी सरकार का हृदय-परिवर्तन हो गया, किन्तु ऐसी सरकारों के पास हृदय कहाँ होता है ? गाँधी जी घुटने टेककर बगुला भगत क्रिश्चियन वायसराय इर्विन् से भगतसिंह के प्राणों की भिक्षा माँगते ही रह गये, किन्तु देश के एक श्रेष्ठ नेता लाला लाजपतराय पर प्रहार करनेवाले एक अंग्रेज पुलिस अफसर को उसके किये का मजा चखाने वाला भगतसिंह कैसे क्षमा किया जा सकता था ?

कांग्रेस के अवसर पर जो नई चीजें मुझे देखने में आईं, उनमें एक थी हँसुवा-हथौड़ावालों की सभा। उसके कुछ कर्णधारों से मैं मिला भी, किन्तु उनकी गम्भीरता का अभी मुझे पता न था, इसीलिए घनिष्टता नहीं पैदा की। आतंकवादियों की वीरता, उनके आत्मबलि का भारी प्रशंसक होते हुए भी मैं उस दल में क्यों शामिल नहीं हो सका था, इसके बारे में पहिले कह चुका हूँ। हँसुवा-हथौड़ावालों के लिए भी मैं वही कसौटी इस्तेमाल करना चाहता था। कांग्रेस के वक्त राष्ट्रभाषा-सम्मेलन हुआ, मैंने रोमनलिपि के स्वीकार के लिए प्रस्ताव रखा, किन्तु विवाद के डर से काका कालेलकर ने लौटा लेने के लिए कहा।

कराँची में ही सिंहल के वृद्ध भिक्षु स्थविर जिनवंश को देखा, जिनसे पीछे जापान में मिलने का मौका मिला। वह अपने धुन के पक्के थे। कुछ छपे हुए पम्पलेट लिये लोगों में वितरण करते तथा बातचीत द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार कर रहे थे। प्रोफेसर धर्मानन्द कौशाम्बी की आत्मकथा को मैं गुजराती में पढ़ चुका था, और आनंद जी से उनके बारे में सुन भी चुका था, किन्तु उनके हिमश्वेतकेश-कूर्चश्मश्रु-अच्छादित गोरे चहेरे, उससे छिटकती शान्ति, गम्भीरता और सादगी को देखने का मौका पहिले-पहिल यहीं मिला। हम कराँची शहर और उसके बन्दरगाह भी देखने गये, किन्तु उसकी कोई खास बात याद नहीं। अभी उस वक्त (1931 ई.) तक कराँची विमान-केन्द्र नहीं बन पाया था।

कराँची से आनंदजी जहाज द्वारा बंबई और फिर लंका जानेवाले थे, और मुझे बिहार लौटना था, जिसे बंबई के रास्ते भी कर सकता था, किन्तु मैं अब तक इतिहास और पुरातत्त्व का एक विद्यार्थी बन चुका था, इसलिए माहेन-जो-डरो और हड़प्पा देखने का लोभ-संवरण नहीं कर सकता था। सात साथियों के साथ मैं हैदराबाद में उतरा (1 अप्रैल)। गर्मी अब काफी पड़ने लगी थी, और इस वक्त हैदराबाद के घरों की छतों पर खुले दर्वाजों वाले कोठरीनुमा हवादानों की उपयोगिता को मैं समझ सकता था, जब बतलाया गया, कि इनसे हवा घर के भीतर ली जाती है।

हैदराबाद से रेल द्वारा कोटरी होते सिन्धु के दाहिने किनारे की ओर से मोहन-जो-डरो गये। डेरागाजीखाँ और जामपुरी की यात्रा में मैं सिन्धु की कछार से परिचित हो चुका था, इसलिए स्टेशन (डीकरी) से मजबूत घोड़ेवाले ताँगे पर चलते जब वही कछार आने लगी, तो मुझे कोई नवीनता न मालूम हुई। स्टेशन पर मैंने

सभी ताँगों के घोड़ों को एक-सा ही मजबूत पाया। मुझे हठात् संस्कृत साहित्य में प्रख्यात सैंधव अश्वों का स्मरण हो आया, किन्तु अब मैं पाली साहित्य भी पढ़ चुका था, और जानता था, कि जिसे आज सिन्ध प्रांत कहते हैं, वह पहिले सौवीर के नाम से प्रसिद्ध था, जिसका कि प्रधान नगर रोरुक (वर्तमान रोरी) था। सैन्धव (सेन्धा) नमक और सैंधव अश्व की सम्मिलित प्राचीन जन्मभूमि सिन्धुदेश पिंडदादन खाँ आदि की नमक की पहाड़ियाँ तथा उनके आस-पास के जिले हैं। नदियों के साथ नाओं का नीचे की ओर बहने का उदाहरण और भी देखे जाते हैं। बुद्ध के समय पैठन (प्रतिष्ठान) और औरंगाबाद के पास होनेवाला अंधक (आंध्रक) प्रान्त अब गोदावरी के निचले भाग में चला गया है।

दस बजे दिन में हम मोहन्-जो-डरो पहुँचे। उस वक्त काफी गरमी पड़ रही थी, और सबसे मीठी चीज ठंडा पानी मालूम होता था। हमने उसी धूप में वहाँ के ध्वंसावशेषों को देखना शुरू किया। मोहन्-जो-डरो के बारे में मैं काफी पढ़ चुका था, वहाँ की निकली चीजों तथा ध्वंसावशेषों के बहुत-से फोटो देख चुका था। लेकिन अब वह मूल वस्तुएँ आँखों के सामने थीं। आजकल की विलायती ईंटों के आकार की पकी ईंटें धरती को गोल साबित कर रही थीं। शहर की सड़कें, पानी की नालियाँ, पाँच हजार वर्ष पहिले के आर्यों से पुराने सिन्धुवासियों के नागरिक जीवन के उत्कर्ष को बतला रही थीं। उनके ईंटों के घर, ईंटों के कूएँ, उनके स्नानागार सभी इस बात के साक्षी थे, कि ताम्रयुग में भी वहाँ के लोग बहुत समृद्ध संस्कृत जीवन बिता रहे थे।

मोहन्-जो-डरो से शाम तक हम सक्खर पहुँच गये। सिन्धुनद के तट से थोड़ा भीतर उदासी साधुओं का मठ साधुवेला बड़ा रमणीय स्थान है। कोई समय था, जब सिंध के गृहस्थ की साधुसेवा तथा साधुओं के भव्य स्थानों की प्रसिद्धि ने मुझे वहाँ की यात्रा के लिए आकर्षित किया था, किन्तु अब मेरे पास उसके लिए उतना समय न था, इसलिए साधुसेवा में एकाध घंटा के विश्राम ही पर सन्तोष करना पड़ा। उस वक्त महन्त हरनामदास वहीं थे, और उनके वर्ताव से मालूम हुआ, कि अब मनोरंजन में वह बहुत पटु हैं। वहाँ मैंने शीतलपुर (छपरा) के महन्त ईश्वरदास के एक शिष्य को देखा, जो घूमता-फिरता यहाँ तक पहुँच गया था। दो पैसे में लेमोनेड की बोतल पीकर मैंने समझा, सिन्धी लोग भारत ही नहीं उससे बाहर मध्य-एसिया, लंका, सिंहापुर, चीन, जापान, मिश्र, इताली, आदि तक क्यों सफल व्यापारी के रूप में अपना कारबार चलाते हैं।

सिन्धु के बिना पाये के पुल से पैदल ही हम रोरी आये और वहाँ से (3 अप्रैल) और लोग तो समासट्टा से होते बिहार के लिए रवाना हो गये, किन्तु मैं लाहोर की लाईन से माँटगोमरी जा लारी से हड़प्पा रोड स्टेशन लौटा। रात को वहीं ठहर सबेरे स्टेशन से हड़प्पा पहुँचा, और प्राचीन ध्वंसावशेष की खुदाइयों में घूमने लगा। यहाँ मोहन-जो-डरो की तरह शहर का एक भाग आँखों के सामने ही उद्घाटित हुआ है; किन्तु ईंटें उसी नाप-तौल की हैं। पत्थर के चिकने छल्लों को देखकर मुझे बहुत जिज्ञासा हुई, उनके उपयोग के बारे में। बड़े-बड़े मटकों में मुर्दों की हड्डियों को रखकर समाधि देने के बारे में तो पढ़ चुका था, और गिरी हुई छतोंवाले लंबी पतली ईंट के घरों में उस वक्त कितने ही ऐरो मटके खोदकर बाहर निकाले जा रहे थे। साथ के म्युजियम में भी मैंने कुछ समय दिया, और मुझे पुरातत्त्व का एक विद्यार्थी समझकर स्थानीय अधिकारी ने उसे अच्छी तरह दिखलाया। उस वक्त मेरी स्मृति मुझे सिन्धु-उपत्यका की पुरानी सभ्यता के इन चिन्हों के प्रथम आविष्कारक श्री राखालदास बनर्जी के उस वार्त्तालाप की ओर ले जाती थी, जो कि तिब्बत जाने से पहिले हिन्दू विश्व-विद्यालय में हुई थी। मेरे उत्साह को देखकर उन्होंने प्रसन्नता प्रकट की थी, किन्तु 46, 47 वर्ष की आयु में अपने कार्य तथा आयु की समाप्ति की बात उनके मुँह से सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ था। मैंने लंका रहते प्रोफेसर रुडाल्फ ओटो और प्रोफेसर लूडर जैसे बूढ़े जर्मन विद्वानों को तरुणाई के उत्साह के साथ कार्यतत्पर देखा था, इसलिए भी राखालबाबू की निराशा अरुचिकर मालूम हुई थी। लेकिन उस वक्त मुझे यह विश्वास न हुआ था, कि उनके जीवन का अवसान इतना करीब है।

हड़प्पा देखते-देखते दोपहर हो गया। उस धूप में स्टेशन लौटने के लिए कोई जल्दी न थी, किन्तु भूख से अँतड़ियाँ ऐंठने लगी थीं। उसी वक्त एक सिक्ख सज्जन मिल गये, उन्होंने बतलाया—दूकान तो यहाँ नहीं है, किन्तु पास के गुरुद्वारे में सदावर्ती लंगर चल रहा है, वहाँ रोटी-दाल मिल जायेगी। उनके साथ मैं वहाँ

गया। गुरुद्वारा की बगल में एक तालाब बन रहा था, और श्रद्धालु गृहस्थ–स्त्री-पुरुष दोनों–श्रद्धा से उसकी मिट्टी निकाल रहे थे। रोटियाँ बहुत मीठी थीं, और साबत उड़द की दाल भी, किन्तु लाखों मक्खियों की भिनभिनाहट बुरी मालूम होती थी। खाने और कुछ समय विश्राम करने के बाद उसी सज्जन के साथ मैं स्टेशन के लिए रवाना हुआ। अपनी यात्राओं और पुस्तक-पत्रों की कृपा से मेरे पास कहने-सुनने के लिए इतनी चीजें थीं, कि हमें स्टेशन तक की यात्रा खतम होते मालूम न हुई। हड़प्पा स्टेशन से माँटगोमरी दूर न थी, और वहाँ के लिए मोटर-बसें जा रही थीं। मैंने माँटगोमरी या शाहीवाल जाति की सुंदर दुधार गायों को रास्ते में ही देख लिया था, इसलिए माँटगोमरी शहर देखने की खाहिश न की। शाम के वक्त स्टेशन में बैठे दीहात के स्त्री-पुरुषों की बातचीत सुनते वक्त 'करसाँ' (करिष्यामि–करूँगा), 'जासाँ' (यास्यामि–जाऊँगा) जैसे शब्द जब मेरे कानों में पड़े, तो मुझे मालूम हुआ, संस्कृत भाषा के सबसे नजदीक भारत की यही बोली है।

लाहौर के मित्रों से मिलने-जुलने के लिए मैं वहाँ 5-10 अप्रेल तक ठहरा, और फिर छपरा के लिए रवाना हो गया।

गाँधी-इर्विन समझौते के बाद आन्दोलन ने साधारण रूप धारण कर लिया, और गाँधी जी के गोलमेज कान्फ्रेंस में आने की बात चलने लगी। मुझे गर्मियाँ छपरा में बितानी थीं। बहुत दिनों बाद–1922 से 1931 तक–अब के उत्तरी भारत की गर्मी और लूह से सामना पड़ा था, इसलिए वह कुछ असह्य मालूम होती थी। दस से चार बजे दिन तक तो पसीने के मारे शरीर चिप-चिप और मन व्याकुल रहता था, उस वक्त कोई काम करना मुश्किल था।

तो भी मैं सारन जिले के 'राजनीतिक संघर्ष के इतिहास' के लिखने में लगा रहा। 14 जून तक छपरा मुफस्सिल, मसरख, परसा, बडहरिया, कटया, गोपालगंज थानों का वर्णन लिख चुका था। आगे और परिवर्द्धन हुआ, मगर पीछे वह पुस्तक जिसके पास रखी गई, उसने खो दी। मुझे अभिधर्मकोष के साथ 'बुद्धचर्या' के छपवाने की फिक्र थी। हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में मैं एक अजनबी-सा आदनी था, फिर 'बुद्धचर्या' जैसे पोथे को छापने के लिए प्रकाशक का मिलना आसान न था। मेरे मित्र धूपनाथ ने डेढ़ सौ रुपये उसके प्रकाशन के लिए दिये, यद्यपि वह कुल खर्च का दशांश ही होता, तो भी 'आगे कोई रास्ता निकल आयेगा' के भरोसे मैंने काशी-विद्यापीठ में वर्षावास करते पुस्तक को तारा-प्रिंटिंग-प्रेस में छापने के लिए दे देना तै कर लिया। 8 अगस्त को मैं बनारस चला आया। आचार्य नरेन्द्रदेव जी से परिचय 1929 ई. में तिब्बत जाने से पहिले हुआ था, और अब यह मित्रता का रूप धारण कर चुका था। रहता पंडित रुद्रदेव के यहाँ और भोजन होता, आचार्य नरेन्द्रदेव जी के यहाँ। बड़ी तेजी से 'बुद्धचर्या' का प्रूफ-संशोधन और मुद्रण आरंभ हुआ। हिन्दी की यह मेरी पहली पुस्तक थी, बल्कि अभिधर्मकोष के अभी प्रकाशित न होने से वह किसी भी भाषा में मेरी पहिली पुस्तक थी, इसलिए उसे प्रकाशित देखने की बड़ी लालसा थी, लेकिन जितने रुपये मेरे पास थे, उनसे वह काम साध्य न था, इसे मैं जानता था। नरेन्द्रदेव जी ने बा. शिवप्रसाद गुप्त से सिफारिश की। उन्होंने पुस्तक की परख के लिए बाबू भगवानदास जी को भी दिखला लेने के लिए कहा। पुस्तक के विवरण और एकाध पत्रों को सुनकर बा. भगवानदास ने राय दी कि मैं उसे शब्दानुवाद न रख स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में परिणत कर दूँ, इसके लिए उन्होंने पुराणों का उदाहरण दिया। ऐतिहासिक दृष्टि और ईमानदारी मुझमें अब काफी थी, इसलिए उनकी बात का मुझ पर असर क्या पड़ता ? मैंने 'बुद्धचर्या' के रूप में बुद्ध और बुद्धकालीन भारत के इतिहास की सामग्री मौलिक रूप में रखनी चाही थी, बाबू भगवानदास की बात मानने से उस पुस्तक को आग में डाल देना मैं पसंद करता। खैर, पाँच-सात फर्मों के छप जाने के बाद बाबू शिवप्रसादजी ने पुस्तक को अपनी ओर से प्रकाशित करना स्वीकार किया। मैंने पुस्तक में हर जगह ईसवी सन का व्यवहार किया था, और तिथि और विक्रम संवत् के स्वीकार के रूप में मैं काफी वर्षों तक देशप्रेम को पहिले ही दिखला चुका था, और अब समझता था कि सारे संसार में प्रचलित मास-सन की जगह विक्रम संवत् सौर तिथि के प्रचार का आग्रह अन्तर्राष्ट्रीयता का बहिष्कार है। तो भी पुस्तक के प्रकाशक के भावों का ख्याल करना जरूरी था, खासकर जबकि उसे स्वीकार न करने पर पुस्तक का प्रकाशन ही अनिश्चित काल के लिए रुक जाता। बाबू शिवप्रसाद

की वात को स्वीकार कर लेने के बाद धूपनाथ जी का भी पत्र आया, कि वह पुस्तक के प्रकाशन के लिए सभी अपेक्षित रुपयों को देने को तैयार हूँ, किन्तु अब तो उसके बारे में तै हो चुका था।

उसी वर्षावास में एक दिन (4 सितंवर) यागेश से मुलाकात हुई। वह अपने पिता की चिकित्सा के लिए हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक चिकित्सालय में ठहरे हुए थे। काल्पी के बाद यह पहिली मुलाकात थी। मैंने देखा अब उनका वह तरुणाई का भरा हुआ लाल चेहरा न था। घर के जंजाल ने उनके स्वास्थ्य पर असर किया था। मुझे अपनी जीवन-यात्रा पर संतोष हुआ।

विद्यापीठ में एक दिन अच्छा मजाक रहा। पंडित रुद्रदेव जी से हमने दावत के लिए तकाजे पर तकाजे शुरू किये। मेरे अतिरिक्त नरेन्द्रदेव जी और बाबू शिवप्रसाद जी जैसे आदमी भी जब उस तकाजे में शामिल हों, तो पंडित रुद्रदेव जी रन पर क्यों न चढ़ जाते। पंडित रुद्रदेव जी गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक तथा वैदिक साहित्य के विद्वान् थे, इसलिए मैंने प्रस्ताव किया, कि भोज में सोम और मधुपर्क का जरूर इन्तिजाम होना चाहिए। लेकिन असली सोम यानी भंग को हममें से कोई न पी सकता था, और मांस खानेवाला मैं अकेला ही था, इसलिए तै हुआ कि 'नामासो मधुपर्को भवति' इस भगवती स्मृति का पालन करने के लिए गुच्छियों—जिनका स्वाद मांस-जैसा ही होता है—की तरकारी वने, और सोम की जगह झंडू का द्राक्षासव आये। द्राक्षासव तो नहीं मिल सका, किन्तु मधुपर्क के साथ रसगुल्ले, अमरती तथा दूसरे सुस्वादु नफीस खाद्य—भोज्य चोष्य-पेय की दावत हुई। दस-पंद्रह प्रतिष्ठित अतिथि उसमें शामिल हुए। भोजन के बाद मेजबान की प्रशंसा में वक्तृताएँ हुईं। उसमें भाषण के उल्लेख में यह भी कह दिया गया, कि कैसे पाँच आदिमयों से शुरू करते-करते अतिथियों की संख्या पंद्रह तक पहुँचा दी गई। इतना तक तो कोई बात न थी, किन्तु मैंने सूची के भिन्न-भिन्न संस्करणों में आये नामों तक को प्रकट कर दिया। मूल सूची में बाबू शिवप्रसाद जी का नाम न आया था, वह झट बोल उठे—तो हम लोग पीछे से जवर्दस्ती बढ़ाये हुओं में हैं ? पंडित रुद्रदेव जी को इससे भी चिढ़ हुई थी, कि उन्हें बेवकूफ बनाकर दावत देने के लिए मजबूर किया गया, और अब वक्तृता में मजाकिया तौर पर ही सही, बावू शिवप्रसाद गुप्त को गौण अतिथियों में बतला दिया गया। वह नाराज हो पड़े, और सबसे ज्यादा मुझ पर। लेकिन जो मजाक करना चाहता है, उसे इसके लिए भी तैयार रहना चाहिए। इसी वक्त विद्यापीठ में मुरादाबाद के पंडित ज्वालादत्त शर्मा से मुलाकात हुई। उनका नाम 'सरस्वती' के उन लेखकों में देखा था, जिनके लेख सरस्वती के प्रथम परिचय के वक्त पढ़ने को मिले थे। उन्होंने मेरे लंका-सम्बन्धी लेख 'सरस्वती' में देखे थे। वे लेख नौसिखिया नहीं, प्रौढ़ लेखनी से निकले थे—अपनी कलम पर दस-बारह बरस संयम रखने का मुझे अफसोस न था—इसलिए यकायक ऐसे लेखक का साहित्यक्षेत्र में अवतरण होना उन्हें कुछ अचरज-सा मालूम हुआ था, यह पंडित ज्वालादत्त की बातचीत से मालूम हुआ। वह मेरे लेखों की प्रशंसा के सिलसिले में कह रहे थे—मैंने तो संपादक से पूछा, यह नई विभूति कहाँ से निकल आई ? किसी सहृदय व्यक्ति के मुँह से संयत भाषा में यदि प्रशंसा के शब्द निकलें, तो वह किसको बुरे लगते हैं ? उसी साल पंडित पद्मसिंह शर्मा से मुलाकात हुई। वह उस वक्त मेरी 'बाईसवीं सदी' को पढ़ रहे थे। उस वक्त तक 'बाईसवीं सदी' का प्रथम संस्करण पटना से निकाल दिया गया था। मेरी लेखनी से वह भी परिचित हैं, इसका भी मुझे कम सन्तोष नहीं हुआ; तो भी यह बातें ऐसे समय हो रही थीं, जब मुझे अपनी लेखनी पर भरोसा करने के लिए बाहर के प्रोत्साहन की आवश्यकता न थी।

बरसात खतम होते-होते 'बुद्धचर्या' और 'अभिधर्मकोश' की छपाई का भी काम खतम होने को आया। प्रेस पर ताकीद रखने के लिए मुझे अक्सर तारा प्रिंटिंग प्रेस जाना पड़ता था। एक दिन वहीं पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय से भेंट हुई। उनके 'चोखे चौपदे' वहाँ छप रहे थे। एक दिन राष्ट्रीयता और हिन्दू सभा को लेकर बात छिड़ गई। मैंने भी उसमें भाग लिया। उस वक्त उपाध्याय जी यह नहीं जानते थे, कि मैं उनकी जन्मभूमि निजामाबाद के तहसीली स्कूल का विद्यार्थी हूँ, और उनके शिष्य पंडित सीताराम श्रोत्रिय मेरे अध्यापक रह चुके हैं। मैंने उनको हिन्दूसभाई पक्ष का गर्मा-गर्म समर्थन करते देख, एकाध चुभती टिप्पणियाँ कीं। उपाध्याय जी को एक बौद्धभिक्षु का इस तरह हिन्दुत्व पर हम्ला करना बहुत बुरा लगा। मैं भीतर से मजा लेने लगा, जब

उन्होंने कहा–तुम लोग कब हमारे हुए ? इसीलिए तो तुम लोगों को भारत से निकाल बाहर करना पड़ा।

सारनाथ के नये बौद्ध विहार का निर्माण समाप्ति पर आ रहा था। अनागरिक धर्मपाल सारनाथ में थे, और कभी-कभी मैं भी वहाँ जाया करता था। अनागरिक की बातें बड़ी रोचक हुआ करती थीं। एक बार कह रहे थे–"मैंने महादेव से पूछा, तुम यहाँ बनारस में क्यों चले आये ? यहाँ सारनाथ तो बुद्ध का स्थान है ? बेचारा गिड़गिड़ाने लगा–'मुझे मत कुछ कहो। मैं तो भले तिब्बत के कैलाश में–बड़ी ठंडी जगह में रहता था। यह औरत–पार्बती–सारे खुराफात की जड़ है। इसको यह आग उगलती गरम जगह ही पसन्द है। इसी ने जिद किया।' 'लेकिन औरत पर काबू रखना तो चाहिये।' 'यही तो मेरी कमजोरी है।' "

अनागरिक उस वक्त चिर-रोगी थे–पैरों की कमजोरी के कारण चल-फिर नहीं सकते थे। कहते थे, जब अकेला रहता हूँ, तो अक्सर देवताओं से सवाल-जवाब करता रहता हूँ। महादेव भला आदमी है, लेकिन औरत पर उसका वश नहीं। अपनी बातचीत में एक बात वह बहुत दुहराते–"मैंने जीवन के बेहतर हिस्से को भारत में बौद्धधर्म की पुनः स्थापना में खर्च किया। जड़ पड़ गई है, किन्तु अभी भी काम करनेवालों की बड़ी जरूरत है। आप लोग काम सँभाले रहें, मैं तो मरकर इसी बनारस में ब्राह्मण के घर पैदा होऊँगा। मुझे पढ़ाई समाप्त कर लेने दीजियेगा, फिर तो मैं काम के लिए आ ही जाऊँगा।"

11-13 नवंबर (1931) को सारनाथ के नये विहार (मूलगंधकुटी विहार) का उद्घाटन-महोत्सव था। उसका भव्य पाषाण शिखर और पूजागार बहुत अच्छा बना था, किन्तु सामने के छोटे-छोटे शिखरों की लंका के युद्धस्मारक जैसी आकृति मुझे खटकती थी। लेकिन अब तो वह बन चुका था। भीतर स्थापित होनेवाली प्रतिमा तो इतनी भद्दी थी, कि मुझे वह बर्दाश्त नहीं होती थी। बेचारे अनागरिक ने स्वदेशी के ख्याल से जयपुर के कारीगरों से बनवाया था, और एक आधुनिक कलाकार के तत्त्वावधान में। सारनाथ म्युजियम की प्रसिद्ध गुप्तकालीन प्रतिमा की नकल कराना चाहते थे, जो यदि किसी यूरोपीय कलाकार के हाथ में सौंपी गई होती, तो आसानी से यांत्रिक तरीकों द्वारा सफलता के साथ बनाई जा सकती थी। उत्सव तक मैं पुस्तक की छपाई के काम से फुर्सत पा गया था। कांग्रेस को रचनात्मक काम–चर्खा-खद्दर, अछूतपन-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा गाँधी-इर्विन समझौते को अक्षरशः पालन–की हिदायत दे, गाँधी जी गोलमेज कांफ्रेंस में जाने की तैयारी कर रहे थे। कांग्रेस के तत्कालीन प्रोग्राम में मेरी कोई रुचि न थी, इसलिए मैं लंका जाने की फिक्र में था।

उत्सव में लंका के कितने ही भिक्षु आये थे, जिनमें मेरे उपाध्याय श्री धर्मानंद नायकमहास्थविर भी थे। उत्सव में मैंने भी भाग लिया। सभी बौद्ध देशों के प्रतिनिधि आये हुए थे। दर्शक पर बौद्धधर्म की अन्तर्राष्ट्रीयता की छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी। उत्सव में सम्मिलित होने के लिए शान्ति निकेतन से पंडित विधुशेखर भट्टाचार्य भी आये थे। उनका नाम पहिले ही सुन चुका था, लेकिन दर्शन करने का यह पहिला अवसर था। वह भी मेरे लेख 'भारत में बौद्ध धर्म का उत्थान और पतन' पढ़ चुके थे, इसलिए मैं उनके लिए अपरिचित न था। उनकी सादगी, सदास्मितमुखता और मधुरभाषिता नवागन्तुक को देखने मात्र से आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती, और फिर मैं तो उनकी विशाल विद्वत्ता का कुछ परिचय रखता था। उन्होंने कहा–"मैंने आपके उस लेख को पढ़ा, और लेखक को देखने के लिए उत्सुक था।" मैंने पूछा–"हिन्दी में ?"–वह 'गंगा' जैसी बहुत अल्पप्रसिद्ध पत्रिका में निकला था। उत्तर मिला–"हाँ, मैंने निशान लगाकर रखा है।" मर्मज्ञ से अपने लेख की प्रशंसा आत्मविश्वास को बढ़ाती है, इसमें शक ही नहीं।

उत्सव के बाद नायकपाद और आनंदजी–वह भी लंका से चले आए थे–की राय हुई, कि मैं भी लंका चला चलूँ। तिब्बत से लाई सारी साहित्यिक सामग्री को कीड़े-मकोड़े से बचाना ही नहीं बल्कि उसका उपयोग भी करना था। लंका की एक पूरी जमात–जिसमें पंद्रह-सोलह भिक्षु तथा पचासों गृहस्थ थे–14 नवंबर को सारनाथ से जेतवन (बलरामपुर) को रवाना हुई। वहाँ से नौतनवा होते लुम्बिनी गए, और फिर कसया। त्रिपिटक का जिसने गंभीर अध्ययन किया है, वह जानता है, कि बुद्ध के जीवन में जेतवन का कितना महत्त्व है। अपने प्रचारक-जीवन के आधे वर्षावास उन्होंने यहीं बिताए। जेतवन की गंधकुटी के ध्वंस के सामने भिक्षु, गृहस्थ खड़े हुए, कि नायकपाद कुछ उपदेश करें। उन्होंने जेतवन की प्रशंसा में 'संयुत्तनिकाय' की गाथा 'इदं जेतवन'

कहना शुरू किया, कि उनका कंठ रुद्ध हो गया, और आगे बोलना असंभव, उनके आँखों में से आँसुओं की धारा बह निकली। ख्याल कीजिए उस आदमी की मानसिक अवस्था का, जिसने जेतवन के बारे में, श्रावस्ती के राजकुमार जेत के राजोद्यान के रूप में सिर्फ पढ़ा ही नहीं बल्कि उसका मानसिक साक्षात्कार किया, जिसने अनाथ पिंडक को मुहरें बिछाकर उसे खरीदते देखा, जिसने बुद्ध को अपने प्रमुख शिष्यों के साथ वहाँ वर्षाएँ बिताते देखा, और जिसने बुद्ध-निर्वाणवाले वर्ष में आनंद को इसी गंधकुटी में झाड़-बुहारकर, आसन,जलकुम्भ सभी चीजें बुद्ध के जीवित रहने की अवस्था की भाँति श्रद्धा से रखते देखा। पिछली शताब्दियों में जहाँ अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाने के लिए मोग्गलिपुत्र तिस्स जैसे अनेकों संघज्येष्ठ, अशोक जैसे अनेकों मुकुटधर आए और जिसे आज एक निर्जन जमीन से जीर्ण-शीर्ण ईंटों की टूटी-फूटी दीवारों के रूप में खोदकर निकाला गया है।

कसया (19 नवंबर) से हम लोग छपरा-पटना होते नालंदा (22 नवंबर) राजगृह गए, और फिर (कलकत्ता 24 नवंबर) से लंका के लिए रवाना।

8

लंका में तीसरी बार (1931-32 ई.)

28 नवंबर को हम विद्यालंकार पहुँच गए। अब की बार विहार में मैंने एक चीनी विद्वान को देखा। वाङ्-मो-लम् (यही उनका नाम था) शाँघाई से निकलनेवाले एक बौद्ध अंग्रेजी पत्र के सम्पादक थे, उन्हें पाली-संस्कृत पढ़ने की तीव्र इच्छा हुई, जिसकी पूर्ति के लिए वह यहाँ आए हुए थे। मुझे इस अवसर से फायदा उठाने का अवसर मिला। एकाध बार चीनी अक्षर सीखने का मैंने प्रयास किया था, किन्तु वह दूर तक न जा सका। लेकिन मैं चीनी अक्षरों को सीखकर पंडित बनने की जगह यह ज्यादा पसन्द करता था, कि अक्षर सीखने के साथ किसी संस्कृत पुस्तक का पुनरनुवाद होता चले। अभिधर्मकोश को मैंने पूसिन् के फ्रेंच-अनुवाद के सहारे पूरा किया था, पहिले मैंने उसी के चीनी अनुवाद को लिया, और ह्वेन्-चाङ् अनुवादित विज्ञप्तिमात्रतासिद्ध और दीर्घनिकाय के कुछ सूत्रों को लिया। बाबू शिवप्रसाद गुप्त की कृपा से काशी विद्यापीठ ने थैसो संस्करण के चीनी त्रिपिटक की एक प्रति मँगवाने में पैसों की मदद की थी। अब मेरी इच्छा थी, कि चीनीलिपि को अच्छी तरह पढ़ूँ, किन्तु पीछे की बहुकार्य व्यस्तता ने श्री वाङ् के साथ पढ़े अक्षरों को भुलवा दिया। श्री वाङ् हृदय के बहुत ही कोमल व्यक्ति थे। बौद्धदर्शन पर–विशेषकर योगाचारदर्शन पर–उनकी अपार श्रद्धा थी, किन्तु उनका मिजाज बहुत जल्द गरम हो जाता था। जरा-सी बात में उनको गलतफहमी हो जाती, और फिर तुरन्त उबल पड़ते; थोड़ी ही देर बाद उन्हें गलती मालूम हो जाती, फिर आकर बच्चों की तरह बेचैन हो क्षमा-प्रार्थना करते। विहार के तरुण भिक्षु उनके चिड़चिड़ेपन को अपने मनोरंजन की सामग्री बनाना चाहते थे, जिससे उन्हें दुःख होता था। चीन में जूठ-मीठ का विचार नहीं है। वाङ् महाशय अक्सर अपने रूखे चमड़े को मुँह के थूक से मल-मल कर नरम कर लेते। मैंने इसे तिब्बत में बहुत देखा था, इसलिए अच्छी आदत न मानते हुए भी मैं उसकी ओर उतना ख्याल न करता था; लेकिन दूसरे भिक्षु इस आदत को बहुत घृणा की दृष्टि से देखते थे। वाङ् महाशय कितनी ही बार नंगे नहाने लगते, यद्यपि कूएँ के पास थोड़ी-सी दीवार घिरी थी, किन्तु वहाँ दर्वाजा न था, और आदमियों की नजर पड़ती रहती। यह भी टिप्पणी का विषय था। वस्तुतः वाङ् महाशय ने इस गुर को स्वीकार नहीं किया था, कि नये देश में अपने ही तरीके से चिपटे रहने की अपेक्षा बेहतर है, वहाँ वालों के व्यवहार को देख-देखकर नकल करना। वाङ् महाशय के प्रति स्वाभाविक सहानुभूति के अतिरिक्त मेरा जो अधिक पक्षपात हो गया था, उसका एक कारण यह भी था, कि मैंने एक-दूसरे सरल किन्तु पंडित चीनी भिक्षु बो-दम् (बोधिधर्म) को तिब्बत जाने से पहिले राजगिर के सोन-भंडार गुफा में आधे पागल-जैसा देखा था। पीछे उनसे सम्बन्ध ज्यादा हुआ, और जब वह नेपाल गये, तो उन्होंने वहाँ के बौद्धों के बारे में

एक विस्तृत पत्र लिखा था। श्री बो-दम् जीवन-मरण से निस्पृह थे, किन्तु मुझे जब उनकी मृत्यु की खबर मिली, तो चीनी पर्यटकों के ग्रंथों में वर्णित, भारत की गर्मी और प्रतिकूल आबोहवा के कारण मृत पुरातन चीनी भिक्षुओं की शोकपूर्ण स्मृति जागृत हो उठी। मुझे अपने मित्र के बारे में रह-रहकर वह आशंका हो जाती थी, विशेषकर उनके दुर्बल स्वास्थ्य को देखकर। आखिर वह आशंका ठीक ही उतरी, मेरे लंका से अनुपस्थित होने के समय वाङ् यक्ष्मा के शिकार हुए। उन्हें जाफना के समुद्रतटवर्ती सेनीटोरियम् में भेजा गया। एक बार स्वस्थ होकर बिहार में लौट आये, किन्तु कुछ ही महीनों बाद बीमारी फिर लौट आई। वाङ् को घुल-घुलकर महीनों में मरना पसन्द न आया, और एक दिन समुद्र में उनकी लाश तैरती मिली। यह था एक मित्र के स्नेह का अवसान !

आनन्द जी का पढ़ना-लिखना खतम हो चुका था। मुझे खुद ही सैर करना पसन्द नहीं आता, बल्कि दूसरे को वैसे करते देख भी आनन्द आता है। आनन्दजी ने जब ऐसी यात्रा के लिए इच्छा प्रकट की, तो मैंने उनका सहर्ष अनुमोदन किया। उन्होंने स्याम के लिए पासपोर्ट माँगा। लंका की पुलीस के पास हम लोगों के बारे में भारतीय पुलीस की कुछ सूचना मौजूद थी। पुलीस-अधिकारी ने पूछ-ताँछ करते वक्त उनके उन मित्रों के बारे में पूछा, जो भारतीय पुलीस की दृष्टि में खतरनाक थे। तो भी उनका रेकार्ड उतना खराब न था, और पास-पोर्ट मिल गया।

इसी बीच महाबोधि सभा के द्वारा लन्दन में प्रचारार्थ भेजे गये भिक्षुओं के लौटने की खबर आई। सभा के ट्रस्टी नये प्रचारक भेजना चाहते थे। ट्रस्ट के प्रधान श्री एन्. डी. एस्. सिल्वा और उनकी पत्नी दोनों नायकपाद के अनुरक्त भक्त थे, उनकी दृष्टि आनन्दजी पर पड़ी। आनन्दजी अकेले लन्दन जाने के लिए तैयार न थे, इसलिए मुझे भी चलने के लिए कहा गया। मैं कुछ महीनों के लिए जाना पसन्द करता था, और सो भी उस वक्त इस ख्याल से कि एक बार बाहर जाने का पासपोर्ट तो मिल जावे। तब तक श्री (पीछे सर) डी. बी. जयतिलक सीलोन सर्कार के प्रधानमंत्री हो चुके थे। मैंने सिर्फ इंग्लैंड जाने के लिए पासपोर्ट की दर्ख्वास्त दी, सोचा इसमें कम दिक्कत होगी। आनन्दजी ने अपने पासपोर्ट में इंग्लैंड का नाम बढ़वाने के लिए भेजा। पुलिस के पास मेरे बारे में काफी शिकायतें भारत से पहुँची थीं। आखिर मैं दो-दो बार जेलखाने की हवा भी तो खा चुका था। कुछ ही दिनों में सर्कार की ओर से मेरे पास जवाब आया—आप भारत सर्कार से पासपोर्ट माँगें, हम उसकी आज्ञा बिना पासपोर्ट देने में असमर्थ हैं। आनन्दजी को जवाब मिला—असावधानी के कारण पासपोर्ट दे दिया गया था, उसे हम वापिस लेते हैं, आप भारत-सर्कार से पासपोर्ट माँगें। हमें तो निराशा और अफसोस हुआ ही, किन्तु हमसे भी अधिक तरद्दुद महाबोधि सभा के ट्रस्टियों को हुआ, क्योंकि उन्हें लन्दन भेजने के लिए कोई अंग्रेजी से परिचित योग्य भिक्षु नहीं मिल रहा था।

सर डी. बी. जयतिलक को भी चिन्ता हुई, और उन्होंने हमारे पासपोर्ट की बात अपने हाथ में ली। अपने प्रधानमंत्री की बात न मानना लंका के पुलिस और चीफ सेक्रेटरी के लिए भी मुश्किल था, आखिर वास्तविक नहीं तो दिखावे के लिए तो मंत्रियों को अधिकार दिया गया था। इस प्रकार सर जयतिलक के प्रयत्न से हमें पासपोर्ट सिर्फ इंग्लैंड का ही नहीं, बल्कि सारे बृटिश साम्राज्य का दे दिया गया। जब से पासपोर्ट के लिए रावलपिंडी में दर्ख्वास्त (1926 ई.) दी थी, तभी से मुझे अनुभव होने लगा था, कि बृटिश-सर्कार ने सारी भारत भूमि को भारतीयों के लिए जेलखाना बना दिया है। पासपोर्ट मिल जाने से उसी तरह का आनन्द हुआ, जैसे चिरबन्दी को जेल से बाहर जाने की इजाजत मिले।

काशी विद्यापीठ में रहते ही समय 'गंगा' (सुल्तानगंज) से सम्पादकों का आग्रह हुआ था, कि मैं उनके पुरातत्त्वांक (विशेषांक) का सम्पादक बनूँ। मैंने उसे स्वीकार कर विषयसूची भी तैयार कर दी थी, और लंका में आ उसके लिए कई लेख लिखे, जिनमें से 'चौरासी सिद्ध' और 'महायान की उत्पत्ति और विकास' के अनुवाद फ्रेंच में हो 'जूर्नाल-आसियातिक' में भी छपे।

9

यूरोप-यात्रा (1932-33 ई.)

आनन्दजी और मैं 5 जुलाई को 6 बजे कोलम्बो बन्दर पर पहुँचे। हमें विदाई देने के लिए विहार के बहुत से भिक्षु आये थे। 'दार्तञनाँ' (D' Artagnen) जहाज किनारे से थोड़ा हट के खड़ा था, क्योंकि कोलम्बो का बन्दर किनारे तक उतना गहरा नहीं है। फोटोग्राफर फोटो लेना चाहते थे, लेकिन अभी आनन्दजी को इससे सख्त विरोध था। नाव जहाज के पास पहुँची, हम फ्रेंच जहाज के फ्रांसीसी नाविकों के पास से गुजरे। यूरोप में लोग कोट-बूट पहन के जाते हैं, और हमारे बदन पर थी, ढाई हजार बरस के पहिले की भिक्षुओं की पोशाक–चीवर। उन्होंने देखकर खूब जोर से हँसकर हमारा स्वागत किया। अभी बत्ती नहीं जली थी, इसलिए भीतर अँधेरा था, 300 नम्बर केबिन में हमारी वर्थ थी। 10 बजे रात तक पिछड़े दोस्त मिलने आते रहे। ग्यारह बजे जहाज खुला, और हम सो गये। भिनसार में ही सोते-सोते मुझे मालूम हो रहा था कि खूब जोर का झूला झूल रहा हूँ। समुद्र बहुत क्षुब्ध था, तेज हवा चल रही थी। सबेरे उठकर पाखाने गया। वह काफी गन्दा था। मुँह धोते वक्त वमन-सा होता दिखाई पड़ा। आनन्दजी सामुद्रिक बीमारी से बहुत पीड़ित थे। दिन-भर में तीन बार वमन हुआ और उन्होंने खाने का नाम नहीं लिया। मैंने 8 बजे मक्खन पावरोटी के साथ चाय पी ली। 11 बजे भोजन का समय था, उस वक्त चावल, मांस, पावरोटी, मक्खन और आम खाने को मिला। मैंने खाया तो, लेकिन आज मुझे भी भोजन की कम इच्छा थी। सामुद्रिक बीमारी के लिए हमने बहुत-सा नीबू और अदरक साथ में ले लिया था। दिन में कई बार उसे खाते रहे। हमारा केबिन और बिछौना बहुत साफ था। हमारे दोनों बर्थ ऊपर-नीचे थे। केबिन में एक ओर हाथ धोने के लिए पानी का नल था, जिसके पास ही छल्ले में पीने का पानी (काँच की सुराही में) और एक ग्लास रखा था। हमारे सहयात्री ज्यादातर यूरोपियन थे, और उनमें भी ज्यादा फ्रेंच-भाषा बोलनेवाले। मैं तो 1 दिन ही में सामुद्रिक बीमारी से काफी अभ्यस्त हो गया। मुझे उतना कष्ट नहीं था, लेकिन आनन्दजी की हालत खराव थी। तीसरे दिन से तो मैं सहयात्रियों से परिचय भी बढ़ाने लगा। लखनऊ के तरुण ए. के. दासगुप्त ही एकमात्र भारतीय मिले। मुकदन विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर ल्यू से भी परिचय हुआ। एक अमेरिकन प्रोफेसर फिलिपाइन से अपने देश को लौटे जा रहे थे। बौद्धधर्म और महात्मा गाँधी के बारे में वह बहुत पूछते रहे। एक यवद्वीपीय बतावू (वटेविया)–निवासी मुसल्मान भी इसी जहाज से अरब जा रहे थे। तीसरे दिन आनन्दजी ने थोड़ा सा भोजन किया, लेकिन उनकी परेशानी कम नहीं हुई। वह ऊपर खुले डेक पर सोते थे। केबिन में पंखा था, मैं तो अपने आसन पर सोता था। 7 जुलाई के शाम को तूफान और ज्यादा मालूम हुआ। 6 से 11 तारीख तक पूरे 6 दिनों तक अरब-समुद्र वैसा ही क्षुब्ध रहा।

8 तारीख को तूफान और तेज हुआ। ल्यू, दासगुप्त और आनन्द सभी वहुत पीड़ित थे। आनन्दजी को वमन होता रहा। ल्यू ने भी कुछ नहीं खाया। हम लोग तीसरे दर्जे के यात्री थे, तो भी कोई तकलीफ नहीं थी। भोजन में मांस, मछली, चावल, पावरोटी, मक्खन, उबली हुई तरकारियाँ सभी मेरे लिए अच्छी चीजें थीं। पीनेवालों को एक-एक बोतल शराब मिलती थी। खाना भी जहाज के किराये में शामिल था। यद्यपि समुद्र का रोष और बढ़ता ही गया और मेरे साथी भी परेशान रहे, लेकिन मैं दूसरे दिन से प्रकृतिस्थ हो गया। लड़के बहुत मगन थे, वह खूब दौड़ते चलते थे, जब कि सयानों को हाथ से दीवार पकड़कर चलना पड़ता था।

12 जुलाई को समुद्र शान्त हुआ। 8-9 बजे हमें अफरीका-तट दिखलाई पड़ने लगा। तृण-वनस्पति-रहित पहाड़ नजर आ रहे थे, हम शुमालीलैंड के किनारे-किनारे चल रहे थे। शुमाली मछुओं की नावें भी जब-तब जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ती थीं। हमारा जहाज पद्मिनी नायिका की तरह हंसगति और गजगति से चल रहा था। अब सब लोग प्रसन्न थे। गर्मी थोड़ी जरूर बढ़ गई थी। सहयात्रियों के पास से जो भी काम लायक पुस्तकें मिलती थीं, मैं कभी उन्हें अपने केबिन में और कभी डेक की कुर्सी पर लेटकर पढ़ता रहता था। स्नानगृह

उतना अच्छा नहीं था, लेकिन नहाने के लिए खारां मीठा पानी मौजूद था। मुझे किसी ने पहिले बताया नहीं था, लेकिन अपने ही हैरान होकर देख लिया, कि खारे पानी से साबुन लगाने पर मालूम होता था, आप पत्थर घिस रहे हैं। मीठे पानी से शरीर को भिगोकर साबुन लगा खारे जल से नहाना चाहिए। नहाने में अच्छा आनन्द आता था। रेडियो की खबरें टाइप करके लगा दी जाती थीं, हमें उससे मोटी-मोटी खबरें मालूम होती रहतीं। मैं अपनी टूटी-फूटी फ्रेंच भाषा का भी उपयोग करता था। 14 तारीख को हम जिबूती पहुँचे, यह फ्रांस के आधीन है। हम लोग भी किनारे जाना चाहते थे, लेकिन कोई छोटी नाव नहीं मिली। और जहाज पर ही से देखकर के संतोष करना पड़ा। लोग समुद्र में पैसा फेंकते थे। शुमाली लड़के डुबकी लगा के नीचे पहुँचने के पहिले ही निकाल लाते थे। जिबूती में कितने ही गुजराती व्यापारी भी रहते हैं, नारंगी बेचनेवाले हिन्दी भी बोल लेते थे। हमारा जहाज 4 बजे रात को ही आया था, 4 घंटे बाद वह फिर आगे के लिए रवाना हुआ। कुछ ही समय बाद अब हम लालसागर में चल रहे थे। हमारा जहाज अफ्रीका-तट के करीब से चल रहा था, लेकिन दाहिनी ओर एसिया (अरब)-तट भी साफ दिखाई देता था। गर्मी की कुछ मत पूछिए, पंखे के नीचे भी पसीना होता था। रात के वक्त दाहिनी ओर किसी छोटी पहाड़ी के दीप-स्तम्भ से भुक्-भुक् करके प्रकाश दिखाई पड़ रहा था।

15 जुलाई को तो मालूम होता था, हम समुद्र में नहीं हैं, किसी शान्त सरोवर में चल रहे हैं।

दोपहर बाद उसी फ्रेंच कंपनी—मेसाजरी मरीतीम—का दूसरा जहाज सामने से आ रहा था। दोनों जहाजों ने भोंपू बजाकर एक दूसरे का स्वागत किया। आनंदजी की वैसे तो तबियत अच्छी थी, लेकिन भोजन की बड़ी तकलीफ थी। वह मेरी तरह सर्वभक्षी नहीं थे। बेचारे कई पुश्त के घासाहारी थे, और उस धर्म को अपने देह तक बचा ले जाना चाहते थे। तो भी रोटी-मक्खन, उबले साग और तले आलू जितना चाहे उतना मिल सकती थी। फल और चाय भी मौजूद थी। 16 को मालूम होता था, स्नानघर की कोई खबर लेनेवाला नहीं है, वह बहुत मैला और पानी भी बहुत कम था। 17 को छोटे-छोटे स्टीमर ज्यादा आते-जाते दिखाई पड़ने लगे। पास के नंगे पर्वतों को देखकर तिब्बत याद आ रहा था, लेकिन तिब्बत की शीतलता वहाँ कहाँ ? तो भी भूमध्यरेखा से हम काफी उत्तर हो गए थे, इसलिए गर्मी कुछ कम थी। शाम के वक्त योरोपीय स्त्री-पुरुष डेक पर जमा होते, फोनोग्राम बजता और वह खूब नाचते। योरोपीय स्त्री-पुरुषों को बहुत नजदीक से और सो भी चौबीसों घंटे पहिले-पहिल यहीं देखने का मौका मिला। कल तक एक-दूसरे से बिलकुल अपरिचित, आज खूब हँसते खेलते थे। स्त्री-पुरुषों में कोई-कोई बिलगाव नहीं था। तो भी मैंने अपनी डायरी में लिखा था, "यूरोपीजन स्त्री-पुरुष प्रेम के विषय में बहुत खुले होते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं देखा जाता, तो भी इसके कारण नहीं कह सकते कि वह दूसरों की अपेक्षा ज्यादा कामुक हैं। कामुकता तो सर्वत्र एक समान है" (यूरोपजना इत्थिपुरिस-राग-विसये बहुपाकटा, न तथा अञ्ञत्थ दिस्सति। तथापि तेनेते अञ्ञापेक्खं बहुकामुका' तिन वत्तुं सक्का। कामुकभावो तु सब्बत्थ समानो' व)।

विलायती कागजी पौण्ड को उसके सोने के आधार से छुड़ा दिया गया था। मैं देख रहा था कि उसका दाम दिन पर दिन गिरता जा रहा है। 10 जुलाई को जहाँ एक पौंड का 96 फ्रांक (फ्रांसीसी सिक्का) मिलता था, वहाँ 8 दिन बाद 18 जुलाई को वह 90.50 रह गया। 18 तारीख के 3 बजे भिनसारे ही हमारा जहाज स्वेज पहुँचा। 5 घंटा वह वहीं ठहरा रहा। यूरोपियन आवास बन्दर के पास ही थे, लेकिन नगर, कुछ दूर हट कर था। कहीं-कहीं कुछ खेत भी दिखलाई पड़े, खजूर और छुहारे के दरख्तों के झुरमुट भी जहाँ-तहाँ थे, लेकिन ज्यादातर भूमि नंगी थी। हमें 5 घंटे तक यहीं ठहरना पड़ा। जहाज पर फल और दूसरी चीजें बेंचने के लिए आए आदमियों में कुछ सिन्धी भी थे। वह फ्रांसीसी, अंग्रेजी, अरबी तीनों भाषाएँ फरफर बोलते थे।

अब हम स्वेज नहर से चल रहे थे। बाएँ ओर से सड़क जा रही थी। नहर इतनी चौड़ी नहीं थी, कि 2 बड़े-बड़े जहाज साथ चल सकते, इसलिए कुछ-कुछ दूर पर चौड़े तालाब-से बना दिये गये हैं। हमारे बाएँ से रेल की सड़क भी जा रही थी। 12 घंटे बाद हम 8 बजे शाम को पोर्टसईद पहुँचे। 13 फ्रांक देकर हम नाव से किनारे पर पहुँचे और शहर देखने चले। पथप्रदर्शक तो बनारस के पंडों की तरह पीछे पड़े थे, और

भाषा से मालूम होता था कि शायद दुनिया की कोई भाषा उन्होंने छोड़ी नहीं है। शहर वैसे ही था, जैसे आजकल के शहर हुआ करते हैं। पोर्टसईद में सिन्धी सौदागरों की तीन दूकानें थीं, उनसे मालूम हुआ कि काहिरा, इस्माइलिया, स्वेज, सिकन्दरिया आदि मिश्र के दूसरे शहरों में भी हिन्दुस्तानी दूकानदार हैं। हिन्दू तो दूकानदारी करते हैं, लेकिन भारतीय मुसल्मान, खासकर पंजाबी जोतिस और हाथ देखने का खूब व्यवसाय करते हैं। 50 से अधिक हिन्दुस्तानी जोतिसी तो सिर्फ पोर्टसईद में हैं। हम लोग बालूराम जी की दूकान पर गए। हिन्दुस्तानी यात्री पोर्टसईद होकर रोज ही आते-जाते रहते हैं, लेकिन पोर्टसईद ने पीले कपड़ेवाले भिक्षुओं को बहुत कम ही देखा होगा। वैसे 2200 वर्ष पहिले मिश्र में बौद्ध भिक्षुओं का अभाव नहीं था। सिकन्दरिया आदि जगहों पर उनके विहार थे, और यहाँ के भिक्षुओं को हम सिंहल और भारत तक जाते देखते हैं।

रात को 11 बजे हम लौटे। हमारे सहयात्री अपना-अपना तजर्बा बता रहे थे। स्त्री-पुरुषों में नंगे वीभत्स फोटो वहाँ बहुत बिक रहे थे, तीनों महाद्वीपों की रूपाजीवाओं की पोर्टसईद में हाट है, एक सज्जन को तो पथप्रदर्शक घुमाते-घुमाते वहाँ तक ले गया था।

रात को ही हमारा जहाज चल पड़ा था। अब हम भूमध्य सागर में चल रहे थे। समुद्र हल्का-हल्का हिल रहा था। पोर्टसईद से बहुत-से नए मुसाफिर जहाज पर चढ़े थे, जिनमें कुछ यहूदी भी थे। हम लोगों की तरफ हरेक नवागन्तुक का ध्यान आकर्षित होना जरूरी था। हम भी उत्सुक थे, क्योंकि अब हम यूरोप के समुद्र में चल रहे थे। 14वीं सदी तक यूरोप बर्बर समझा जाता था। इटालियन विद्वान् अपने देशवासियों को इस बात के लिए फटकारते थे, कि वह क्यों अरबों को सर्वगुण सागर और देवता समझते हैं। लेकिन आज 600 वर्ष बाद पासा उल्टा हो गया है। 2200 वर्ष पहिले भी अशोक के वक्त बौद्धभिक्षु मकदूनिया और दूसरे यूरोपीय सभ्य देशों में धर्म-प्रचार के लिए गए थे, हम दोनों भी उसी काम के लिए यूरोप जा रहे थे, लेकिन हममें उतना आत्मविश्वास नहीं था। हमारे पूर्वजों के पास दूसरे देशों को देने के लिए उच्च सन्देश था—धर्म-दर्शन का ही नहीं, कला, विज्ञान का भी।

20 जुलाई को साढ़े दस बजे क्रेत द्वीप दिखलाई पड़ने लगा। भारत, और मिश्र की तरह क्रेत द्वीप में भी मानव-सभ्यता ने सबसे पहिले प्रकाश किया था। अब यह सूखे पहाड़ों का द्वीप यूनान के आधीन है, तो भी भूमध्यसागर में यह सैनिक महत्त्व का द्वीप है।

कहाँ लालसागर में गर्मी के मारे हम पसीने-पसीने हो रहे थे, लेकिन अब मौसिम बहुत अच्छा था। 21 को 5 बजे सवेरे हमने पहिले-पहिल यूरोप के भूखंड को देखा। दाहिनी तरफ इताली के छोटे-छोटे पर्वत थे, जिन पर सब जगह गाँव बसे दिखाई पड़ते थे। पहाड़ों की रीढ़ों पर भी बगीचे लगे हुए थे। मसीना नगर दूर से देखने में पाँती से लगाए छोटे-छोटे घरौंदों-सा मालूम होता था; उसकी सीधी सड़कें पतली रेखा-सी मालूम होती थीं, बाईं तरफ एक पर्वत को दिखलाकर हमारे एक सहयात्री ने बतलाया, कि यही सिसिली का एटना ज्वालामुखी है। कुछ ही साल पहिले वह जगा था और अपने मुँह से धुआँ और अंगारे उगल रहा था। सिसिली द्वीप के गाँव और नगर भी इतली-जैसे मालूम होते हैं। एक जगह, जहाँ से कि हमारा जहाज पार हुआ, द्वीप और महाद्वीप एक-दूसरे के बहुत नजदीक आ गए थे। 8 बजे शाम तक हम चकित आँखों से यूरोप-महाद्वीप की भूमि देखते रहे। 5 बजे से तेज हवा चलने लगी, जिससे ठंढक बढ़ गई। 8 बजे के करीब सूर्य डूब गया था, अब केबिन में पंखा चलाने की जरूरत नहीं रह गई थी।

22 को भी हम यूरोप को देखते हुए बढ़ रहे थे। सारदीनिया और कारसीका के द्वीप हमारे बाईं ओर दिखाई पड़ रहे थे। नैपोलियन इसी कारसीका में पैदा हुआ था। यूनानी तरुण ने कहा—मैं नैपोलियन को पसन्द नहीं करता, वह युद्ध का प्रेमी था। फिलस्तीन से एक यूहदी सज्जन भी यूरोप जा रहे थे। वह बतला रहे थे, कि वहाँ 2 लाख यहूदी हैं, उनके अलावा सभी अरब हैं, जिनमें ज्यादा मुसल्मान हैं। कुछ ईसाई और एक तीसरे धर्म के भी माननेवाले हैं, जो सुअर का मांस और शराब नहीं पीते और तीनों धर्मों को समान जानते हैं। उस दिन (22 जुलाई) शाम को जहाज के स्टीवर्ड ने हमारे पासपोर्ट ले लिये। अगले दिन हमें मारसेई (मारसेल) पहुँचना था। हम स्थल के रास्ते फ्रांस पार करना चाहते थे। बकसों को साथ ले जाना फजूल था, इसलिए

उन्हें जहाज से ही लन्दन जाने के लिए छोड़ दिया।

फ्रांस में–दोपहर से पहिले ही हम मारसेई के बन्दरगाह में पहुँच गए थे। दोपहर का भोजन जहाज ही में करके किनारे पर गए। किनारे पर पहिले ही से नर-नारियों की भीड़ लगी हुई, उनमें से कितनों ही के हाथों में रूमालें हिल रही थीं। हमारे जहाज से उनके कितने ही सम्बन्धी आ रहे थे। यूरोप की भूमि को देखकर पहिली उत्सुकता तो शान्त हो गई, लेकिन अब उस भूमि पर पैर रखा था। हमारे मन में न जाने क्या-क्या भाव उठ रहे थे, जब हमारे पैर तीर की ओर बढ़ रहे थे। टॉमस कुक के आदमी ने सामान का जिम्मा ले लिया था।

पेरिस की रेल अभी 8 घंटे बाद खुलनेवाली थी, हमें इस समय का सदुपयोग करना था। टॉमस कुक के आफिस में जाकर फ्रांस में खर्च करने के लिए हमने सवा ग्यारह सौ फ्रांक भुनाए। उस समय फ्रांक एक रुपये में प्रायः 7 मिलता था। बीस-बीस फ्रांक देकर हम शहर दिखलानेवाली मौटर में बैठे। एक बड़े गिरजे को पहिले देखने गए। वहाँ बहुत-सी सुन्दर मूर्त्तियाँ और कलापूर्ण सजावट थी। रास्ते में किला मिला, फिर जन-उद्यान को देखा। और पर्वत के किनारे पहुँचकर बिजली की सीढ़ी से नोत्रदम नामक प्रसिद्ध गिरजे को देखने गए। ऊपर से सारा नगर दिखाई पड़ता था, वहाँ शिशु ईसा को लिये मरिम की मूर्त्ति थी। यह देवी सारे फ्रांस और शायद यूरोप में भी बड़ी जागता मानी जाती है। सैकड़ों वर्षों से इसने अपने चमत्कार से दुनिया के हर कोने में भक्तों की रक्षा की। दूर समुद्र में कोई जहाज डूब रहा था। आरोहियों ने त्राहि-त्राहि करके मारसेई की देवी को पुकारा और उसने उन्हें बचा लिया। ऐसे कृतज्ञ पुरुषों ने कृतज्ञता-प्रकाशन के लिए मंदिर में बहुत-से लेख लगा रखे हैं। माई ने न जाने कितने करोड़ अंधों को आँख दी, कितने ही लुंजों को पैर दिया, प्रमाण-स्वरूप लुंजों, लँगड़ों की बहुत-सी वैसाखियाँ मंदिर में टँगी हुई हैं। माई के प्रताप के लिए बड़े-बड़े लोगों ने प्रमाणपत्र दिए हैं, जिनमें एक इंग्लैंड की राजमाता का भी है। कौन कह सकता है कि ईसाइयों के पास कामाख्या माई, विन्ध्यवासिनी, भवानी और महाकाली की कमी है। मुझे जरूर इसका अफसोस हुआ, कि मेरे पास अब वह हिन्दू-हृदय नहीं, कि इन कहानियों पर विश्वास करता।

ऊपर से उतरकर हम नीचे आए। फिर समुद्र के किनारे तथा ऊँची-नीची पहाड़ी भूमि पर बसे 8 लाख की आबादीवाले मारसेई नगर को देखा; घुड़दौड़-मैदान, जादूघर, हजारों तरह के गुलाबों का बाग, और और भी कितनी चीजों को देखकर टामस कुक के पास गए। 375 फ्रांक में लन्दन तक का टिकिट लिया। हम लोग एक रेस्तोराँ में चाय पीने गए। मिस्टर ल्यू पेशाब करने गए थे, लौटकर कहने लगे–"ताज्जुब है, यह लोग पेशाब का भी पैसा लेते हैं।" तीन फ्रांक (7 आना) उन्हें मूत्रशुल्क देना पड़ा था।

8 बजे हमारी ट्रेन रवाना हुई। हम लोग तीसरे दरजे के मुसाफिर थे, लेकिन यहाँ का तीसरा दरजा हिन्दुस्तान के दूसरे दरजे के समान था; यदि कोई खराबी थी, तो यही कि पाखाना उतना साफ नहीं था। 9 बजे के बाद अँधेरा होने लगा। हम फ्रांस की ग्रामीण भूमि को देखते रहे। घर छोटे-छोटे थे, लेकिन देखने में बहुत साफ थे, भूमि सारी पहाड़ी थी। जेतून और दूसरे वृक्षों के जहाँ-तहाँ बगीचे थे। घास के गंज बड़े कायदे से पाँती से रखे हुए थे। अभी तक हमने गौरांगों को प्रभु के तौर पर पूरब में देखा था, और वह लाखों के समुन्दर में एक बूँद की तरह थे। अब यहाँ हम अपने को लाखों के समुन्दर में बूँद की तरह पाते हैं। हमारे डिब्बे में दो स्त्रियाँ भी थीं। एक तो वैसे ही हमारा रंग कुछ कौतूहल पैदा करता, लेकिन वह देख रही थीं दो सर घुटी हुई पीले कपड़ों से ढँकी मूर्त्तियों को। उनकी नजर से ही आश्चर्य का पता लगता था। इधर के स्टेशनों पर हर जगह खाने-पीने की चीजें नहीं मिलतीं। हम देख रहे थे, मुसाफिर अपने साथ बोतल में पानी भी लिये हुए थे।

9 बजे शाम को सूर्यास्त हुआ था। 24 जुलाई को हमने 5 बजे से पहिले ही सूर्य को उगते देखा। 8 घंटे की रात और 16 घंटे का दिन, और अभी जुलाई का महीना था। 9 बजे हमारी गाड़ी गर्-द-लियों नामक पैरिस के स्टेशन पर पहुँची। माणिकलालजी ने लंका ही में अपने भाई का पता दे दिया था और हमने मारसेई से उन्हें तार भी दे दिया था। स्टेशन पर अंबालालजी मौजूद थे। मोटर से हमें वह एक होटल में ले गए।

दो कमरे हमारे लिए वहाँ ठीक कर चुके थे। यूरोप में मुसाफिर को ओढ़ना-बिछौना ढोने की जरूरत नहीं, यह सब चीजें होटल की ओर से मिलती हैं। हमारे कमरे के भीतर चारपाई, कुर्सियाँ, बड़े शीशे के साथ एक आलमारी, दो बिजली की बत्तियाँ थीं। पास में ही पाखाना और नहाने का घर था, जिसमें गरम और ठंडे पानी के नल लगे हुए थे। अंबालाल हमारा सारा इन्तजाम करके 4 बजे आने के लिए कहकर चले गए। हमने स्नान-भोजन करके विश्राम किया।

4 बजे अंबालालजी हमें शहर दिखाने के लिए ले चले। हमारे लिए पेरिस नगर तमाशा था और दूसरों के लिए हम तमाशा थे। यह इस बात की सत्यता को बतला रहा था, कि "जैसा देश वैसा भेष"। रास्ते में श्री सी. ए. नायडू को भी साथ ले लिया। पेरिस में रहनेवाली अमेरिकन महिला लून्जबरी का पता हमें मालूम था। वह बौद्धधर्म में बहुत अनुराग रखती थीं। नायडू मुझे उनके घर लिवा ले गए, लेकिन वह वहाँ मौजूद न थीं। पेरिस नगर के बीचों-बीच में सेन नदी बहती है। सेन पार करके हमने पेरिस विश्वविद्यालय और छात्रावास देखे। पास ही में एक बहुत बड़ा बाग है। कितने ही नर-नारी वहाँ घूम रहे थे, और कितने ही कुर्सियों पर बैठे थे। निश्चय ही एसिया की अपेक्षा यहाँ का मानव ज्यादा स्वतंत्र है। फिर हम राफेल मीनार पर चढ़े। यह लोहे का ढाँचा कुतुबमीनार से भी तिगुना ऊँचा है। ऊपर से सारी पेरिस नगरी दिखाई पड़ती है। उसी दिन प्रतिनिधि (प्रजातंत्र) भवन, नैपोलियन की समाधि और पुराने राजमहल को देखा। विश्वविद्यालय के पास हम वहाँ उतर गए, जहाँ मिश्र से लाया हुआ विशाल पाषाण-स्तम्भ खड़ा है। यहीं फ्रांस के 8 नगरों की प्रतीक-स्वरूप 8 मूर्तियाँ स्थापित हैं। पास के विशाल उद्यान में गए, यहाँ भी कितनी सुन्दर मूर्तियाँ स्थापित हैं। हम एक जगह कुर्सी पर बैठकर उद्यान-शोभा निहार रहे थे। कितने ही नागरिक भी मनोविनोद कर रहे थे। 9 बजे रात को लौटकर हम अपने होटल में आए। अभी दो दिन (25, 26 जुलाई) और हमें पेरिस में रहना था। हम यहाँ के विद्वानों से भी मिलना चाहते थे। पता लगा कि प्रोफेसर सेलूवेन् लेवी और दूसरे प्राच्यतत्त्वविशारद ग्रीष्मावकाश में शहर से बाहर गए हुए हैं। फोन करने से पता लगा, कि डाक्टर पेलियो (पेइयो) घर पर ही हैं। साढ़े तीन बजे हम उनके पास गए। डाक्टर पेलियो चीनी भाषा के प्रकाण्ड पंडित थे। मध्य-एसिया के अनुसंधान में स्टाइन की तरह इन्होंने भी बहुत काम किया। मैंने उन्हें अपनी संपादित 'आभिधर्मकोष' की एक प्रति भेंट की। कितनी ही देर तक हम लोग बात करते रहे। उन्होंने बतलाया कि जाड़ों में सभी विद्वान् विश्वविद्यालय में लौटते हैं, उस वक्त जरूर आइए। नीचे उतरने के बाद अंबालाल जी टेकसी देखने गए; और हम दोनों एक बुढ़िया के पास बैठ गए। चुपचाप बैठे रहने की जगह कुछ बात करना अच्छा है, इसलिए मैंने अपने फ्रेंच ज्ञान का परिचय देना शुरू किया, लेकिन एकाध ही मिनट में गाड़ी अटक गई। मैंने बुढ़िया से लड़के-बालों के बारे में पूछा था। बुढ़िया ने जवाब दिया–"ज स्वि तू सेल्" (मैं बिल्कुल अकेली–कुमारी हूँ)। और शब्दों का अर्थ तो मुझे लग रहा था, लेकिन अंतिम शब्द का अर्थ मुझे न मालूम था, इसलिए कुछ नहीं समझ पाया। वस्तुतः भाषा के सीखने का अच्छा तरीका किताब नहीं, वार्तालाप है। किताब पढ़नेवाले का ध्यान ज्यादातर अक्षरों की ओर होता है, शब्दों के उच्चारण की ओर नहीं।

हमने आज सोरवोन् विश्वविद्यालय की विशाल इमारतों को देखा। उसकी रंगशाला में पिछली कई शताब्दियों से जिन विद्वानों ने अध्यापन का कार्य किया, उनकी तसवीरें टँगी थीं। यहाँ हमें पांडेचरी के दो तरुण विद्यार्थी मिले। फिर पुस्तक विक्रेताओं क़ी दूकानों की ओर गए। मुझे कुछ पुस्तकें लेनी थीं, लेकिन वहाँ मालूम हुआ, कि पेरिस के प्रकाशक और विक्रेता सिर्फ अपने-अपने विषय की पुस्तकें रखते हैं। मुझे जो पुस्तकें अपेक्षित थीं, वह साहित्य सम्बन्धी थीं। लारूस के यहाँ से मुझे अपनी पुस्तकें मिलीं। पास में हेरमान् कम्पनी की दूकान थी। यद्यपि यह साइंस के प्रकाशक थे, किन्तु कम्पनी के मालिक मेशियो फ्रेमान भारत में बरस-डेढ़ बरस रह आये थे, और भारतीयों के प्रति बड़ा अनुराग रखते थे। यह देर तक हमसे बात करते रहे। उन्हें कई भारतीय मित्रों का स्मरण आ रहा था। उन्हीं से मैंने डाक्टर बदरीनाथप्रसाद की प्रतिभा की सराहना सुनी थी। वह कह रहे थे, कि डाक्टर प्रसाद के अध्यापक उनके गणित-ज्ञान की बड़ी प्रशंसा करते हैं, और आगे के लिए बहुत आशा रखते हैं। उन्होंने डा. प्रसाद के निबन्ध की एक कापी मुझे दी। डा. बदरीनाथ ने अपने निबन्ध को अपने

बड़े भाई बैजनाथप्रसाद को समर्पित किया था। फ्रेमान ने उन्हें इलाहाबाद का बतलाया था, मैं उस वक्त नहीं समझ सका था कि डाक्टर बदरीनाथ मेरी अपनी तहसील महमदाबाद (आजमगढ़) के सुपरिचित बाबू बैजनाथप्रसाद के अनुज हैं; उस वक्त क्या मालूम था, कि आगे चलकर डाक्टर बदरीनाथप्रसाद मेरे घनिष्ठ मित्र बनेंगे। 8 बजे लौटकर हम होटल में आए। मैंने होटल-संचालिका से किसी समाजवादी पत्र को मँगा देने के लिए कहा। उसने 'ला पोपुलेर' की एक प्रति मँगा दी। मैंने यह भी देखा, कि यहाँ के पत्र हमारे यहाँ के अँगरेजी पत्रों से कम पृष्ठों के होते हैं।

दूसरे दिन (26 जुलाई) 12 बजे बाद हम फिर घूमने के लिए निकले। आज भी मोशियो फ्रेमान से देर तक बात होती रही। शहर देखने के लिए हमने टेकसी की थी, लेकिन कुछ दूर भूगर्भी रेल से भी गए। यह बिल्कुल नया अनुभव था। ऊपर पेरिस का महानगर बसा हुआ है, और सैकड़ों हाथ नीचे सुरंगों का जाल बिछा हुआ है, जिसमें बिजली की रेलें दौड़ रही हैं, 1.15 फ्रांक दे देने पर आप नगर के एक छोर से दूसरे छोर तक कहीं भी उतर सकते हैं।

शाम को थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई थी।

यूरोप में होटल ठहरने के मकान को कहते हैं, भोजनशाला या रेस्तोराँ अलग चीज है। हमारे होटल की बगल में एक रेस्तोराँ था, जहाँ से हमारे लिए खाना चला आता था। भिक्षु-नियम के अनुसार हम दोपहर के बाद खाना नहीं खा सकते। इससे कुछ बचत भी होती थी। 27 जुलाई को हम करीब ही एक मिश्री रेस्तोराँ में खाना खाने गए। आनन्दजी तो फलाहारी थे, इसलिए उन्होंने मांस नहीं छुआ, लेकिन खाने का हिसाब करने पर मेरा यदि तीन रुपया खर्च आया था तो उनका साढ़े तीन रुपया (25 फ्रांक); इसलिए कह सकते हैं कि यूरोप में प्रायः घासाहार से मांसाहार सस्ता है। उस दिन हम अंबालाल भाई के जौहरी पार्टनर (भागीदार) यहूदी सेठ के घर भी गए थे। सेठ ने नगर से बाहर अपने उद्यान में चलने का निमंत्रण दिया, लेकिन हम तो उसी दिन पेरिस को छोड़नेवाले थे।

3 बज कर 10 मिनट पर हमने रेल से पेरिस छोड़ा। फिर रास्ते में देहात का नजारा था। भूमि ऊँची-नीची थी, इस वक्त गेहूँ के खेत काटे जा रहे थे। कितने ही किसान अपने खेतों को यंत्र से काट रहे थे, कितने हँसियों से। किसानों के घोड़े बड़े-बड़े थे। गायें भी अच्छी थीं। गाँववालों के लिए घड़ी बाँधने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि हरेक गाँव में गिरजा था और हरेक गिरजे में घड़ी लगी थी। 7 बजे हम बोलोयँ जंकशन पर पहुँचे। कुली को 5 फ्रांक दिया। हमें दूसरी गाड़ी मिली, जिसने थोड़ी ही दूर आगे बन्दर पर पहुँचा दिया।

सरकारी अधिकारियों ने हमारे पासपोर्ट को देखा, लोग एक के पीछे एक आगे बढ़ते रहे। अब हम इंगलिश चेनल के जहाज पर सवार हो गए थे।

10
इंग्लैण्ड और यूरोप में

समुद्र आज बहुत तरंगित था। हम दोनों पहिले दर्जे के कमरे में बैठे थे, इधर-उधर देखा लेकिन वहाँ कोई बरतन नहीं दिखलाई पड़ा। मैं घबराया कि अगर कहीं कै होने लगी तो ? मुझे अपने लिए नहीं, आनन्दजी के लिए डर था। वह सामुद्रिक संघर्ष में अपने को बहुत बहादुर साबित कर चुके थे। मैं दुनिया के छियासठ करोड़ देवताओं को मना रहा था, कि किसी तरह पत-पानी से दूसरे पार उतर चलें। रास्ता भी डेढ़ घंटे ही का था। खैर, देवताओं ने प्रार्थना सुन ली, हम उस पार पहुँच गए। एक अँग्रेज कुली सामान उठाने के लिए आया। हमारे पास जो कुछ सामान था, उसके सुपुर्द किया, पासपोर्ट दिखाया और लन्दन जानेवाली रेल पर बैठ गये।

लन्दन में—10 बजकर 50 मिनट पर हमारी गाड़ी विक्टोरिया स्टेशन पहुँची। महाबोधि सभा के प्रतिनिधि दया हेवातिवारणे आदि स्टेशन पर पहुँचे हुए थे। रात थी, लेकिन बिजली के प्रदीपों से लन्दन की सड़कें जगमग-जगमग कर रही थीं। हम मोटर से महाबोधि सभा-भवन में चले गए। रात को खूब टाँग पसारकर सोए।

अनागरिक धर्मपाल जब नवतरुण थे, तभी से लंका में बैठे-बैठे बाहर बौद्धधर्म के प्रचार का स्वप्न देखा करते थे। जवानी ही में वह भारत चले आए, और उनका प्रायः सारा जीवन यहीं पर बीता। उन्होंने इस काम के लिए महाबोधि सभा स्थापित की, कोलंबो, कलकत्ता, सारनाथ आदि में केन्द्र कायम किए। उनकी इच्छा थी, कि अँगरेजों के पास भी बुद्ध का सन्देश पहुँचाया जाय। लन्दन में रिजेन्ट-पार्क के पास एक लाख से ऊपर में उन्होंने यह चौमहला मकान खरीदा था और अब यह विलायत में बौद्धधर्म-प्रचार का केन्द्र था। जैसा कि मैं लिख चुका हूँ, प्रचारक होकर तो आए थे भिक्षु आनन्द, मैं एक मित्र के तौर पर उनका साथ देने के लिए आया था।

हम लोगों का निवास दूसरे तल्ले के एक बड़े कमरे में था। इस मकान के प्रायः सारे ही कमरे बड़े-बड़े थे। सबसे नीचे, या जमीन के नीचे, रसोई घर और कुछ कोठरियाँ थीं। उसके ऊपर यानी प्रथम तल में मन्दिर, व्याख्यानशाला, पुस्तकालय और आफिस के कमरे थे। उसके ऊपरवाले तल्ले पर हमारा कमरा और कुछ दूसरे कमरे भी थे, जिनमें भारतीय या सिंहल विद्यार्थी रहते थे। इसी तरह सबसे ऊपरवाले तल्ले के कमरों में भी विद्यार्थी रहते थे। यह बात मुझे जरूर खटकी, बौद्धधर्म यदि इंगलैण्डवालों का धर्म बनना चाहता है, तो उसे इंग्लैण्ड के वातावरण में रहना चाहिए। लेकिन यहाँ धर्म-प्रचार के लिए जो भिक्षु आए थे, वह अपने साथ लंका का वातावरण लेकर आए थे। उनका रसोइया लंकावासी, भोजन लंका जैसा, और साथ में रहनेवाले विद्यार्थी भी सारे लंका ही के, ऐसी अवस्था में वह कैसे इंग्लैण्ड-निवासियों के साथ मिश्रित हो सकते थे। खैर, मैं धर्म-प्रचार की दृष्टि से तो वहाँ आया नहीं था, और न महाबोधि सभा के प्रबन्धक मुझसे इसके बारे में कुछ राय पूछते थे।

दूसरे दिन (28 जुलाई) को इंग्लैण्ड के कुछ बड़े पत्रों के संवाददाता हमारे पास आए। उन्होंने उद्देश्य के बारे में पूछा। हमने उसका जवाब दे दिया। अभी अँगरेजी पत्रों का हमें पहिला तजर्बा था, और भारतीय पत्रों के झूँठ-साँच को देखकर कुछ शंकित दृष्टि से देख रहे थे। लेकिन आगे जो तजर्बा हुआ, उससे मालूम हो गया, कि काले को सफेद और सफेद को काला करने की जितनी क्षमता इंग्लैण्ड के पत्रों में है, अभी वहाँ तक पहुँचने में हमारे पत्रों को बहुत दिन लगेंगे। मजदूर पाटी के पत्र 'डेली हेरल्ड'—जो उस समय इंग्लैण्ड के दो सबसे अधिक छपनेवाले पत्रों में एक था—के प्रतिनिधि ने आकर हमसे कुछ सवाल किए, हमने सीधे-सादे शब्दों में जवाब दे दिया, कि हम लोग इंग्लैण्ड-वासियों के सामने बुद्ध की शिक्षा रखना चाहते हैं। उसने छाप दिया, कि ये दोनों बौद्ध भिक्षु सारे इंग्लैण्ड को बौद्ध बना डालने की सोच रहे हैं। 'डेली मेल' का संवाददाता आया, उसने मुझसे तिब्बत-यात्रा की दो-एक बातें पूछीं। मैंने साधारण तौर से बतला दिया। उसने लिख दिया, कि इस भिक्षु ने दुनिया के बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में बहुत वर्ष बिताए, लेकिन आज तक किसी जंतु ने उसे कष्ट नहीं पहुँचाया। एक दिन भिक्षु तिब्बत के एक घोर जंगल में जा रहा था (नंगे पहाड़ोंवाले तिब्बत में घोर जंगल का अत्यन्ताभाव-सा है), उस वक्त 6, 7 डाकुओं ने आकर चारों ओर से घेर लिया। वह तलवार चलाना ही चाहते थे, कि इसी वक्त जंगल से शेर निकला, उसने घोर गर्जना की। डाकू प्राण लेकर भाग गए। संपादकीय विभाग से भेजी टाइप की हुई कापी मेरे पास देखने के लिए आई। मैंने गलत बातों को काट दिया, लेकिन दूसरे दिन देखा कि मेरी काटी हुई पातियाँ वैसी की वैसी छपी हुई हैं। आखिर इसका उद्देश्य क्या हो सकता था ? समझदारों के दिल में यह बैठा देना, कि यह कितना झूठा, धोखेबाज़ आदमी है, बेवकूफों के दिल में यह बैठा देना कि आदमी में दिव्यशक्ति होती है और जो क्रांतिकारी तरुण धनियों की जड़ उखाड़ फेंकने के लिए यह कहते फिरते हैं कि धर्म, दिव्यशक्ति आदि बातें गलत हैं, वह झूठ बोल रहे हैं। विलायत में करोड़पति छोड़ दूसरा कोई अखबार नहीं निकाल सकता। उनका काम है चीनी लपेटी जहर की गोलियाँ लोगों को खिलाना।

ल्यू महाशय तो और बुरी तरह फँसे। वह अभी यूरोप में रह गए थे, और चन्द दिनों बाद लन्दन आनेवाले थे। एक संवाददाता ने मुझसे बहुत चिरौरी-मिनती की थी, कि ल्यू के आने पर मुझे ही पहिले सूचना दे दें, जिसमें पहिले मैं अखबार में दे सकूँ। मिस्टर ल्यू आए। मैंने संवाददाता को सूचना दे दी। उन्हीं दिनों मंचूरिया में दो अँगरेज स्त्री-पुरुष हरे गये थे। अखबारों में बहुत सनसनी फैलानेवाली खबरें छप रही थीं। श्री ल्यू के आने पर चीनी डाकुओं के बारे में कई बातें पूछी गईं। श्री ल्यू ने एक घंटा बैठकर खूब समझाने की कोशिश की—"यद्यपि जापान ने मंचूरिया को हड़प कर लिया है, किन्तु चीनी देशभक्त अपनी स्वतंत्रता के लिए प्राणों की बाजी लगाए हुए हैं। जहाँ वह खुलकर नहीं लड़ सकते, वहाँ उन्होंने गोरीला (छापामार) पलटन का रूप धारण किया है। जिन लोगों को अंग्रेजी पत्र डाकू लिख रहे हैं, वे वस्तुतः देशभक्त गोरीला हैं। वह घने पहाड़ों में रहते हैं, और मौका पाते ही जापानी फौजों पर टूट पड़ते हैं।" इन दो अँगरेज स्त्री-पुरुषों को गोरीला क्यों पकड़ ले गए, इसका जवाब महाशय ल्यू ने किस तरह दिया, यह मुझे याद है। शायद उन्होंने कहा हो कि वे जापानियों की मदद करते रहे होंगे। मंचूरिया के हड़प करने में अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने अप्रत्यक्ष रूप से जापान को मदद दी ही थी, इसमें क्या संदेह है। खैर, दूसरे दिन मजदूरपार्टी के अखबार 'डेली हेरल्ड' (उस वक्त मजदूरदली रेमूजे मेक्डान्ल्ड इंग्लैण्ड के प्रधानमंत्री थे) में छपा। और थोड़ा नहीं, करीब-करीब एक कालम—चीन की एक बड़ी यूनीवर्सिटी के बड़े प्रोफेसर मि. ल्यू ने हमारे संवाददाता से मंचूरिया के इन डाकुओं के बारे में बतलाया कि वे ऐसे-वैसे डाकू नहीं हैं, उनमें अद्भुत शक्ति है, उनके पास ऐसी जड़ी-बूटियाँ हैं कि कटे सिर को धड़ पर रख के बूटी लगाने से जुड़ जाता है, वह दूर-दूर की बातों को अपनी दिव्यशक्ति से जान सकते हैं। इत्यादि-इत्यादि। मैं 'टाइम्स', 'डेली हेरल्ड', 'डेली वर्कर' और किसी एक और अखबार को रोज पढ़ा करता था। अखबार के हर एक कालम को पढ़ना तो तभी हो सकता था, जब दिनभर बैठा अखबार ही पढ़ा करता। कुछ दिनों तक पढ़ते रहने के बाद मुझे उन कालमों का पता लग गया था, जिन्हें पढ़ना चाहिए।

कम्यूनिस्ट पार्टी के पत्र को मैं जरूर पूरा-पूरा पढ़ता था, क्योंकि वही एक अखबार ईमानदारी से चल रहा था। सारे पत्र उसका बायकाट किए हुए थे। विलायत में खाने-पीने की चीजें जिन दूकानों में बिकती हैं, अखबार भी वहीं से आते हैं। पूँजीपतियों के अखबारों (मजदूर पार्टी के 'डेली हेरल्ड' का भी आधे से ज्यादा हिस्सा एक करोड़पति का है) ने एक ओर से तय कर लिया था, कि जो कोई 'डेली वर्कर' को बेचेगा, उसको हम अपना अखबार नहीं देंगे। डेली वर्कर को हर महीने कई हजार का घाटा पड़ता था, जिसे इंग्लैंड के गरीब चन्दा देकर पूरा करते थे। मेरे चले आने पर कुछ सालों बाद पूँजीपति अखबारों का यह षड्यंत्र टूट गया। बड़े पूँजीपतियों के अत्याचार के विरुद्ध खुदरा-फरोशों को संघर्ष करना पड़ा, जिसको छापने के लिए 'डेली वर्कर' को छोड़कर कोई भी तैयार नहीं था। तब खुदरा-फरोशों ने 'डेली वर्कर' के महत्त्व को समझा। तीन साल बाद जब मैंने 'डेली वर्कर' को देखा, तो वह बहुत सज-धज के बड़े आकार में निकलता था, उसके लाखों ग्राहक हो गए थे। मैं कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर नहीं था, लेकिन लेनिन, स्तालिन की पार्टी छोड़ मैं किसी के विचारों और कार्यप्रणाली को पसन्द नहीं करता था। मेरे लिए कहाँ स्थान है, शायद इसे 'बाईसवीं सदी' के लिखने और उससे भी छै साल पहिले रूसी क्रान्ति के प्रति अगाध प्रेम और सहानुभूति ने ही निश्चय कर दिया था। 'डेली वर्कर' से मैं जितना इंग्लैण्ड की साधारण जनता के बारे में जान सकता था, उतना किसी पत्र से सम्भव नहीं था। वह रूस की ताजी-ताजी खबरें देता था, और मैं उसका सबसे ज्यादा प्यासा था।

खैर, दूसरे दिन शाम को महाशय ल्यू ने बहुत उत्तेजित स्वर में कहा—क्या आपने मेरे वक्तव्य को 'डेली हेरल्ड' में पढ़ा ? मैंने कहा—"नहीं, कैसा छपा है ?"

मिस्टर ल्यू ने बतलाया कि वह छप गया है, और बहुत बुरी तरह से छपा है। मैं अखबार ढूँढ़ लाया। सचमुच ही उसमें सारी खुराफात छपी थी। गुस्से के मारे मिस्टर ल्यू के कान लाल हो रहे थे। वह कह रहे थे कि मैं इसका प्रतिवाद करूँगा। मैंने कहा—"कोई छापेगा भी।" यह तो निश्चय ही था कि उसे वहाँ कोई नहीं छापता। इन बातों ने इंग्लैण्ड के करोड़पतियों के अखबारों के बारे में मुझे अपनी राय कायम करने में

मदद दी।

स्कूल, पुस्तकें, अखबार, ज्ञान फैलाने के साधन समझे जाते हैं। लेकिन विलायत में इनका सबसे बड़ा काम है अज्ञान फैलाना। घुड़दौड़, कुत्ते की दौड़, लाटरी आदि पचीसों तरह के कानूनी जुए वहाँ खेले जाते हैं। कल बेकार हो जाने की चिन्ता में मरे जाते मजूर पेट काटकर इन जुओं में अपना पैसा खर्च करते हैं। विलायती अखबारों के कालम के कालम इन बातों के लिए खुले हुए हैं। अब तो बल्कि हाथ देखना (सामुद्रिक), जोतिस आदि के लिए भी विलायती अखबार उदारता दिखलाते हैं। इसका असली मतलब यही है, कि विलायती कमेरे अपने को भाग्य के हाथों की कठपुतली समझ लें, और निकम्मे करोड़पतियों का टाट उलटने के लिए तैयार न हो जायँ। दूसरे दिन के पत्र-प्रतिनिधियों में एक तरुणी भी थी। उसने बतलाया कि मैं मोतिहारी में पैदा हुई थी, और मेरा पिता अब भी वहीं है।

हमारे निवास-स्थान के नजदीक ही रिजेन्ट-पार्क नामक विशाल उद्यान था। उसी में चिड़ियाखाना भी है। रात को अक्सर शेरों का गरजन हमें सुनाई देता था। पास ही में कहीं से रेल जाती थी। ट्रेन के चलते वक्त जमीन दहलती थी और सारा मकान गनगनाने लगता था। चार महीने तक इस गनगनाहट का इतना अभ्यास हो गया था, कि जब 1934 का भूकम्प हुआ, तो उस वक्त इलाहाबाद में मकान के हिलने को कितनी देर तक मैं वैसा ही कुछ समझ रहा था। आकाश में बादल घिरा रहना, तो मालूम होता था, लन्दन के लिए बिल्कलु स्वाभाविक बात है। हम लोगों के वहाँ पहुँचने के बाद कई दिनों तक ऐसा ही रहा।

30 जुलाई को हम लोग मोटर पर घूमने के लिए निकले। कहने की आवश्यकता नहीं, कि लन्दनवाले हम पीतवस्त्रधारियों को उतना ही चकित होकर देख रहे थे, जितना ही पेरिसवाले।

रिजेन्ट-पार्क देखा। उस विशाल उद्यान में दिन में भी कितने ही आदमी घास पर सोये रहते। मेरे पूछने पर एक दोस्त ने बतलाया, कि यह बेघर-बारवाले हैं, इनके लिए न कोई काम है, न खाने का ठिकाना। रात को पार्क बन्द हो जाता है, इसलिए दिन-दिन में ही सो रहे हैं। रात इन्हें सड़कों पर घूमते हुए काटनी पड़ती है। मैं सोचने लगा—दुनिया के चौथाई हिस्से का धन खिंचकर विलायत में आता है, आखिर वह कहाँ जाता है और किसके पास जाता है ?

बकिंघम प्रासाद, हाइड पार्क, केनसिङ्टन म्युजियम, पार्लियामेण्ट भवन, वेस्ट मिनिस्टर, एबे, कौन्टी कौंसिल, सेन्ट जेम्स प्रासाद आदि स्थानों को हमने 30 जुलाई को देखा। हाइड पार्क में कितनी ही जगहों पर भाषण दिए जा रहे थे, और कितनी ही जगह लोग मनोविनोद कर रहे थे।

महाबोधि सभा में हर रविवार को अधिवेशन हुआ करता था, कभी-कभी मैं भी बोला, लेकिन ज्यादातर भाषण देने का काम था, आनन्दजी का। लन्दन की दिनचर्या प्रायः इस प्रकार थी : 12 बजे रात के बाद सो जाना, 7 बजे उठना, 8 बजे तक शौच, जलपान से छुट्टी, साढ़े नौ बजे तक अखबार पढ़ना, 10 बजे तक डायरी चिट्ठी लिखना, साढ़े 11 बजे तक पढ़ना। फिर भोजन, फिर पढ़ना, बीच में यदि कोई आ गया, तो उससे बातचीत करना, 8 बजे टहलना, 9 बजे रात को नहाना, फिर 12 बजे रात तक पढ़ना।

एक-दो बार हम तरुण-ईसाई-सभा के भारतीय छात्रावास में भी गए। वहाँ कितने ही ऐसे छात्र मिले, जो पीछे आई. सी. यस. बैरिस्टर या… होकर भारत लौटे। और भी कितने ही भारतीय छात्रों से मुलाकात होती रहती, देशभक्ति और क्रान्ति की जिनमें आग जलती दिखाई देती। लेकिन भारत में आने पर कुछ ही वर्षों बाद उन्हें मुर्दा देखा गया। शायद इन वर्षों में वह ज्यादा समझदार हो गए, और उन्होंने अपना यह दर्शन बना लिया, कि रुपया कमाओ और मौज करो, काजीजी को शहर के अन्देशे दुबला नहीं होना चाहिए।

एकाध अखबारों में जो मेरी दिव्यशक्ति की बात निकल गई थी, उसका एक फल यह हुआ था कि इंग्लैण्ड में जहाँ-तहाँ से यंत्र या तावीज के लिए मेरे पास चिट्ठियाँ आईं। साहेब लोग गंडा-तावीज नहीं मानते, यह धारणा तो मेरी बहुत पहिले ही हट गई थी। 1923 में हमारे जेलखाने के सुपरिन्टेन्डेन्ट एक अँगरेज कप्तान आई. एम. एस. ने उस वक्त बन्दी एक प्रसिद्ध संन्यासी से बड़े आग्रहपूर्वक तावीज माँग कर लिया था। 4 अगस्त को एक महिला बात करने आई। वह चित्र-विचित्र सपने देखा करती थी। स्वप्न की अद्भुत शक्ति

पर विश्वास प्राथमिक मानव से चला आ रहा है। आखिर मैं वहाँ ऐसे धर्म का प्रचारक हो गया था, जो ध्यान-योग-समाधि के अद्भुत चमत्कारों को मानता है, फिर मेरे पास लोग इन बातों में मदद लेने के लिए क्यों न आएँ। यह स्वप्न के बारे में बातचीत थी, नहीं तो गूढ़ आध्यात्मिक वृत्तियों को सुलझाने की जिम्मेदारी आनन्दजी की थी। ज्योतिष, भूत-प्रेत, तंतर-मंत्र, गडा-तावीज पर से मेरा विश्वास आर्य समाज ने सदा के लिए खतम कर दिया था। सीलोन आने पर बेचारे ईश्वर ने भी पिण्ड छोड़ दिया। तिब्बत जाने के बाद योग, ऋद्धि-सिद्धि और दिव्यशक्ति पर से मेरा विश्वास जाता रहा। उसकी सारी शक्तियाँ त्राटक और मेस्मरिज़्म के कुछ हथकंडे आत्मसम्मोहन के परिणाम हैं। वस्तुतः अब मेरे और भौतिकवाद में इतना ही अन्तर रह गया था, कि मैं मरने के बाद भी जीवन-प्रवाह के जारी रहने पर विश्वास करता था। बौद्धों के बड़े प्रिय सिद्धान्त–निर्वाण को तो मैं पहिले से भी दिए की तरह बुझकर जीवन-प्रवाह को सदा के लिए खतम हो जाने के सिवा और कुछ नहीं मानता था। उक्त महिला का कभी-कभी बैठे-बैठे होश जाता रहता था, यह किसी मनोविज्ञान के विशेषज्ञ का काम था, लेकिन महिला पूरब के 'तत्त्वज्ञान' से बहुत आकृष्ट हुई थी। वह मुझसे साइंस-सम्मत विश्लेपण सुनने के लिए नहीं आई थी। मैंने कहा–जो स्वप्न तुम्हें आते हैं, उन्हें लिखती जाओ, कई दिनों के स्वप्नों का लेखा जमा हो जाने पर मैं कुछ परामर्श दूँगा। शायद मेरी बातों से उसका उत्साह बढ़ा नहीं, और वह फिर परामर्श लेने नहीं आई।

यहाँ मुझे थियोसाफी की बहुत-सी पुस्तकें पढ़ने को मिलीं। सिनेट की पुस्तक 'महात्माओं की चिट्ठियाँ' को पढ़कर दिल में आग लग गई। दिन-दहाड़े झूठ और बौद्धिक डकैती को देखकर ऐसा होना ही चाहिए। तिब्बत में उन महात्माओं को कोई नहीं जानता, जिनकी चिट्ठियाँ यहाँ एक भद्र पुरुष ने छापी थीं। तारीफ यह कि इन महात्माओं में से कितनों के स्थान शिगर्चे आदि बतलाया गया। शिगर्चे शायद अज्ञात तिब्बत का अज्ञात स्थान होने से बाहर के लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिए अच्छा नाम था, किन्तु मैं जानता था कि वह भी हिन्दुस्तान के हजारों कसबों की तरह एक कस्वा है, हाँ, कुछ ज्यादा पिछड़ा हुआ। थियोसोफी को तो मैं समझने लगा कि यह धोखेबाजों का एक गुट है, जो धर्म के नाम पर पच्छिमी प्रभाव के नाम पर लोगों को उल्लू बनाता है।

6 को हम हेम्पस्टेड-हीथ् की ओर घूमने गए। स्थान एक स्वाभाविक जंगल-सा मालूम होता था। हमारे निवास-स्थान से यह स्थान बहुत दूर नहीं था। लन्दन है भी ज्यादातर विषमतल भूमि पर बसा हुआ, और यह जगह तो और भी ज्यादा ऊँची-नीची मालूम होती है। यहाँ से नगर की शोभा अच्छी दिखाई पड़ती थी। उसी दिन हम आर्य-भवन देखने गए। लन्दन आने से पहिले ही अखबारों में पढ़ा था, भारत के कुछ करोड़पति सेठ लन्दन में एक हिन्दू मन्दिर बनवा रहे हैं। आर्य-भवन वही मंदिर था। अभी वस्तुतः मंदिर बनाने के लिए एक मकान खरीद लिया गया था, और शायद ठाकुरजी को उसी के भीतर पधराया गया था। शायद इसलिए कहता हूँ, कि कितने ही हफ्तों में आर्यभवन सूना था और उसके दर्वाजे में ताला लगा था। अगर ठाकुरजी उसके भीतर ही बन्द रहे होंगे, तो बेचारों की क्या गति हो रही होगी। सुना कि पहिले यहाँ ठाकुरजी भी थे, पुजारी भी थे, यह नहीं मालूम हो सका कि आरती उतारते वक्त शंख और घड़ी-घंटा बजानेवाले जमा हो जाते थे कि नहीं। यदि मामूली पानी और मक्खी के मूँड़-भर चीनी को चरणामृत और प्रसाद के तौर पर बाँटा जाता, तो निश्चय ही प्रसाद माँगनेवाले लड़के या भगत न मिलते। हाँ, यदि ठाकुरजी लन्दन में जाकर "जैसा देस वैसा भेस" अपनाते और उसी के अनुसार चरणामृत और प्रसाद बाँटा जाता, तो ज्यादा आशा थी। लेकिन चाहे हमारे करोड़पति सेठ सट्टेवाजी में अपनी बुद्धि से ब्रह्मा को भी मात करते हों, लेकिन और कितनी ही बातों में उतने भाग्यशाली नहीं है। चलते वक्त हमने देखा कि दरवाजे के पास कालिख लगा हुआ था। मैंने आनन्दजी से कहा कि ठाकुरजी लन्दन आएँगे, तो सेठ लोगों को कलकत्ता और बनारस के पुजारियों का लाना अच्छा नहीं होगा, क्योंकि उनकी शुद्धि-सफाई का मान तो वही पुराना ही रहेगा न। अब कितने ही विश्वविद्यालों के ग्रेजुएट और वकील-बैरिस्टर भक्ति के मारे गदगद हो रजस्वला होने लगे हैं, ऐसों को लन्दन में ठाकुरजी

का पुजारी बना के भेजना चाहिए।

लन्दन—और जो लन्दन है, वह इंग्लैण्ड है—को अपने-अपने धर्म में खींचने के लिए ही कितने ही धर्मप्रचारक जोर लगा रहे हैं। बौद्ध भी इस काम में कुछ तत्परता दिखला रहे थे। लेकिन वह तत्परता कितनी हल्की थी, यह इसी से मालूम है कि चीन, जापान जैसे विशाल बौद्ध देश ने भी नहीं, श्याम जैसे स्वतंत्र राष्ट्र ने भी नहीं, बर्मा ने भी नहीं, सीलोन ने—बल्कि कहना चाहिए, सीलोन के एक व्यक्ति ने—लन्दन पर बौद्ध धर्म का झंडा गाड़ना चाहा। इसी से मालूम होता था, कि बौद्ध इसके बारे में ज्यादा गम्भीर नहीं हैं। रोमन कैथलिक और प्रोटेस्टेन्ट ईसाई-धर्म तो खैर, इंग्लैण्ड को अपनी बपौती ज़ागीर समझता है, क्योंकि वह वहाँ हजार-पाँच सौ वर्ष पहिले पहुँचा था। इस्लाम ने भी अपनी मसजिद बना ली है—पहिले डेढ़ ईंट की, लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद वह डेढ़ लाख ईंट की बनेगी। यूहदी तो खैर, अपने धर्म को खून से सम्बद्ध मानते हैं, और उनके कितने ही मंदिर हैं। हिन्दू धर्म बचा हुआ था, अब वह भी वहाँ पहुँच गया। लेकिन शायद, हिन्दू सेठ अपने मंदिर को हिन्दुस्तान से आये-गये सेठों की धर्मशाला का रूप देना चाहते हैं। श्री चम्पतराय बैरिस्टर भी कई सालों से जैनधर्म का प्रचार करने के लिए यहाँ डटे हुए थे। बुढ़ापे में एक तरह वह काशी-वास कर रहे थे। वह मुझे सबसे ज्यादा सच्चे और सीधे-सादे धर्मप्रचारक मालूम होते थे, लेकिन उनके लिए दिक्कतें भी सबसे ज्यादा थीं। जिस देश में मांस बिलकुल साधारण भोजन है, वहाँ निरामिषाहार पर सबसे ज्यादा जोर देनेवाले जैनधर्म की कठिनाइयाँ छोड़ और क्या हो सकती थीं। बौद्ध भी अहिंसा को मानते हैं, लेकिन मांस को वर्जित नहीं करते, बल्कि कुछ अपवाद छोड़कर उनमें शत-प्रतिशत मांसाहारी ही हैं। श्री चम्पतराय जी अपना रोना रो रहे थे। मैंने पूछा—यहाँ जैन विद्यार्थियों के खाने-पीने का कैसा होता है। उन्होंने कहा कि इस देश में निरामिषाहार का प्रबन्ध करना बहुत मुश्किल है। अंडे को भी तो यह लोग फलाहार में गिन लेते हैं। मैंने चाहा, एक ऐसा छात्रावास खोल दिया जाय, जिसमें शुद्ध सात्विक निरामिष भोजन मिले। मैंने पहिले कुछ जैन विद्यार्थियों से ही शुरू करने के लिए उनमें से कुछ के साथ बातचीत की। एक ने कहा—हम लोग आपके छात्रावास में चले तो आते, लेकिन आप तो अंडा भी नहीं खाने देंगे ? चम्पतराय जी ने हँसते हुए अपनी बात को समाप्त किया, मैंने उनसे कहा—जब तुम्हारी ही यह हालत है, तो निरामिष छात्रावास खोलने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। उस वक्त एक और भी महायोगी और कवि लन्दन में मौजूद थे, उनका ढंग ज्यादा सफल होने लायक था, क्योंकि वह योग-समाधि, कैलाश-मानसरोवर, सिद्धों और देवताओं के दर्शन की बात ज्यादा करते थे, अगर उसके साथ घुड़दौड़ के जीतनेवाले घोड़े का नम्बर भी बतलाया करते, तो और पौबारह थे। उनके प्राइवेट सेक्रेटरी मध्यम-वर्ग की एक शिक्षिता चिरकुमारी थी, यह भी सफलता के लिए एक कुंजी थी। मुश्किल थी, तो यही कि हिन्दूधर्म गुलामों का धर्म है, दूसरे धर्म यह दावा कर सकते थे, कि उनके माननेवाले कुछ देश स्वतंत्र हैं।

लन्दन में मैं बराबर बादलों को मँडराते देखता था। उससे यह बात साफ मालूम होने लगी, कि लन्दन वाले क्यों सूर्य के दर्शन होने पर बड़ी खुशी मनाते हैं। लन्दन का ब्रिटिश म्यूजियम सिर्फ पुरानी मूर्त्तियों और कला की चीजों का एक अच्छा संग्रह रखने के लिए ही प्रसिद्ध नहीं, बल्कि वह दुनिया के सबसे बड़े पुस्तकागारों में है। और दोषों के साथ किताब का कीड़ा होना भी मेरे में एक दुर्गुण है। मैं वहाँ पढ़ने के लिए जाना चाहता था। वहाँ पढ़नेवालों के लिए बड़ा अच्छा इन्तजाम है। साधारण पाठकों के लिए बैठने के खास स्थान हैं और गम्भीर विद्यार्थियों के लिए तो और भी अच्छा एकान्त घर है। डा. बरनेट भारतीय तत्त्वज्ञान के अच्छे वृद्ध पंडित थे। उन्होंने मेरी सहायता की और मुझे साधारण वाचनालय और छात्रवाचनालय दोनों में बैठकर पढ़ने का आज्ञापत्र मिल गया। 8 अगस्त और उसके बाद कितनी ही बार मैं ब्रिटिश म्युजियम-पुस्तकालय जाया करता था। यद्यपि अपने भेस और दूसरी कठिनाइयों के कारण मैं जितना चाहता था, उतना उससे फायदा नहीं उठा सकता। पेरिस में भी भूगर्भी-रेल में मैं चढ़ चुका था, और यहाँ तो उसका और ज्यादा सहारा लेना पड़ता था। भूगर्भी रेल के स्टेशन जमीन से सैकड़ों हाथ नीचे होते हैं, जल्दी उतरने-चढ़ने के लिए वहाँ बिजली की सीढ़ियाँ होती हैं। पुरानी दुनिया से नई दुनिया में आने में कितनी दिमागी अड़चनें पड़ती हैं, वह इस सीढ़ी के उतरने-चढ़ने में मुझे मालूम हो रही थीं। सीढ़ी बिजली के जोर से स्वयं सरकती जाती, लेकिन सरकने वाली

सीढ़ी और स्थिर धरती का एक संधिस्थान था, जहाँ अचल से चल आधार पर पैर रखना पड़ता था। सीढ़ी लगातार सरकती जा रही है, अगर आप दाहिना पैर रखकर जरा देर भी सोचने लगते हैं, तो बायाँ पैर अपनी जगह रह जाता है और दाहिने को सीढ़ी खींचे जा रही है। इसलिए जरूरी है कि एक क्षण की देरी किये बिना ही दूसरे पैर को भी सीढ़ी पर रख दें। फिर दूसरी दिक्कत अचल से चल आधार पर जाते ही आपके अपने शरीर के सारे बोझ को नई तरह से सँभालना पड़ता है। न सँभालें तो गिरने का डर है, फिर सैकड़ों आँखें आपके गिरने का तमाशा देखेंगी, चोट लगेगी, सो अलग। सीढ़ी की बगल में बाँह रखने का कटघरा है, पहिले मैंने समझा था कि कटघरा अचल है, इसलिए अचल और चल का वहाँ भी खतरा है; लेकिन पीछे देखा कि कटघरा भी चल है। गाँव के आदमी के लिए शहर ही बहुत परेशानी का कारण होता है, फिर एसिया के शहरों से पेरिस और लन्दन और भी ज्यादा अन्तर रखते हैं। और उसमें इस बिजली की सीढ़ी ने तो कमाल कर दिया है। मुझे इस बिजली की सीढ़ी पर चढ़ने-उतरने में बड़ा तरद्दुद मालूम होता था और इसीलिए मेरा दिमाग बहुत सोचने के लिए मजबूर होता था। मैं ख्याल करता था, दुनिया भी इसी तरह चलनेवाली एक सीढ़ी है। हमारे एक पैर को तो वह जबर्दस्ती पकड़कर खींच चल देती है, लेकिन दूसरे को हम स्थिर भूमि पर गाड़ करके रखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान इस बीमारी का सबसे जबर्दस्त शिकार है। परिस्थितियाँ जबर्दस्ती एक टाँग को खींचकर उसे भविष्य की ओर ले जा रही हैं, लेकिन वह अपनी धार्मिक, सामाजिक सभी बातों में अतीत को पकड़े रखना चाहता है। हमारे लोग साइंस पढ़ते हैं, भूगोल पढ़ते हैं, जोतिस पढ़ते हैं, फिर ग्रहण नहाकर पुण्य-दान कर सूर्य-चन्द्र की मुक्ति कराते हैं, और पुराने भ्रमपूर्ण जोतिस पर आधारित भविष्यवाणी पर पूरा भरोसा रखते हैं, हिमालय की ओर स्वर्ग जाते वक्त पांडवों के गल जाने की बात पर विश्वास करते हैं; चुटिया, जनेऊ, धोती, छूतछात सबको लिये-दिये इस विजली की सीढ़ी के भवसागर को पार कर जाना चाहते हैं !

24 अगस्त को मैं म्युजियम में पढ़ने गया था, कोई साथ लिवाने के लिए आनेवाला था, मैं उसका इंतिजार कर रहा था, लेकिन चन्द ही घड़ियों पहिले मेरे परिचित बने श्री आनन्दराय चिन्नप्पा निकल आए। उन्होंने कहा—मैं आपको पहुँचा देता हूँ। आनन्दराय पिछली लड़ाई के पहिले इराक, मिश्र आदि देशों में होते इंग्लैण्ड पहुँचे थे। अब वह लन्दन के ही निवासी थे। उनकी 5 लड़कियाँ और 1 लड़का था। बीवी अँगरेज महिला थी और आनन्दराय का रंग कोयले से कुछ ज़्यादा ही काला था। वह रेशमी पगड़ी बाँधना धर्म-सा समझते थे। वह मुझसे एक दिन कह रहे थे—"हम लोगों को टोप कभी नहीं लगाना चाहिए, नहीं तो अँगरेज निगर (हबशी) कहते हैं, मैं बराबर पगड़ी बाँधता हूँ।" आनन्दराय जी मुझे भूगर्भी रेल के नजदीक स्टेशन ले आए, फिर हम लोग ग्लौसेसटर रोड के अपने निवास को ढूँढ़ने लगे। कुछ बहक गए थे। आनन्दराय ने एक औरत से रास्ता पूछा। वह छोटी गाड़ी पर बच्चे को बैठाकर टहला रही थी। औरत ने जवाब दिया। आनन्द राय तुरन्त बोल उठे—तुम अमुक इलाके की हो न ? उसने हाँ किया। आनन्तराय ने तुरन्त यह कहते हुए चाय पीने का निमंत्रण दे दिया—मेरी स्त्री भी उसी इलाके की है। आनन्दराय मुझसे कह रहे थे, मैं बोली से पकड़ लेता हूँ कि कौन आदमी इंग्लैण्ड के किस हिस्से का रहनेवाला है। बोली में तो फरक है ही, जिस अँगरेजी को हम किताबों में पढ़ते हैं, उसके बोलनेवाले कितने हैं ? 9 अगस्त की बात है, एक श्यामवर्ण हट्टा-कट्टा पुरुष अपने दो गोरे लड़कों को साथ लिये हमारे पास पहुँचा। उसने बौद्धगृहस्थ की तरह हाथ जोड़, सिर झुकाकर प्रणाम किया। उसके चेहरे से प्रसन्नता झलक रही थी। उसने कहा—17, 18 वर्ष हुए, जब कि पिछली लड़ाई के वक्त मैं 14, 15 वर्ष का लड़का था, लंका से भागकर यहाँ चला आया। यहीं ब्याह किया, और तब से यहीं हूँ। मुझे कितनी ही बार अपने भगवान (बुद्ध) और अपने भिक्षु याद आते थे। मैंने हाल ही में एक अखबार में देखा, कि लन्दन में हमारा विहार है, और हमारे भिक्षु भी रहते हैं। 3, 4 घंटे तक ढूँढ़ने के बाद मैं इस स्थान को पा सका। जवान इसके लिए बहुत सन्तुष्ट था कि अब वह भी उपोसथ रख सकेगा। बुद्ध की पूजा कर सकेगा, भिक्षु से 'त्रिशरण' और 'पंचशील' ले सकेगा। आनन्दजी उस तरुण को लेकर नीचे मंदिर में गए। वहाँ उसने अश्रु-गदगद हो पूजा-पाठ किया। पीछे भी वह अपनी पत्नी और पुत्रों के साथ विहार

में आया करता था।

जिस वक्त हम तरुण से बातें कर रहे थे, उससे कुछ पहिले ही हमीरपुर के भाई अजीज आके हमारे पास बैठे थे। अजीज को भी 17, 18 वर्ष यहाँ रहते हो गए थे, लेकिन अजीज एक दूसरे ही टाइप के आदमी थे। लंका का तरुण इस समय भी, जब कि बीसियों लाख आदमी इंग्लैण्ड में बेकार हो भूखे मर रहे थे, 45, 50 रुपये हफ्ते कमाता था। वह एक समूर (बेशकीमती चर्मवस्त्र) के कारखाने में कारीगर था। अजीज ने कभी कोई नौकरी करने की कोशिश की होगी, इसमें सन्देह है। सारा इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड उनके पैरों के नीचे था, बस घूमना उनका काम था। शहर-गाँव सभी जगह खर्च-वर्च कैसे चलता था–इसे मत पूछिए। वह पूरे फक्कड़ थे। और सच बताऊँ, मुझे अजीज पर ईर्ष्या होती थी। भूख तो लगती ही है, और इंग्लैण्ड के जाड़े के लिए ज्यादा कपड़ों की जरूरत होती है। मैंने पूछा–खाने के लिए कैसे इंतिजाम करते हो, यहाँ तो भीख माँगने के खिलाफ कानून है। अजीज ने कहा–मैं गिड़गिड़ा के माँगनेवाला भिखमंगा नहीं बन सकता, यद्यपि वैसे भी भिखमंगे हैं यहाँ; मैं मजदूरों या निम्न-मध्यवर्ग के महल्ले में चला जाता हूँ। किसी घर पर जाकर दस्तक लगाई, कोई स्त्री दरवाजा खोलने आई, तो बड़ी गम्भीरता के साथ उससे कहा–"क्या मेहरबानी करके एक प्याला चाय का पानी देंगी ?" चाय का पानी देने का मतलब है, चीनी और थोड़ा दूध भी, साथ ही एक टुकड़ा रोटी का भी। अगर घर में रहा तो अकसर "ना" नहीं मिलता। मैंने पूछा–"बड़े घरों में क्यों नहीं जाते ?"

"बड़े घरों के लोग ज्यादा कठोर-हृदय होते हैं, कुत्ता छोड़ देते हैं, नहीं तो टेलीफोन करके पुलिस बुला उसके हवाले कर देते हैं।"

अजीज गाँवों के लोगों को ज्यादा पसन्द करते थे। वह उन्हें ज्यादा सहृदय मालूम होते थे। सिंहल तरुण ने अँगरेजी बोलते-बोलते सीखी थी और वह किताबी अँगरेजी नहीं, अपने महल्ले के मजूरों की बोली बोलता था। जब उसे आनन्द लिवा के नीचे गए, तो अजीज ने नाक सिंकोड़ते हुए कहा–"कैसा आदमी है, 18 साल हो गए और अँगरेजी भी अच्छी नहीं बोल पाता ! किसी रात्रिपाठशाला में भर्ती हो गया होता, अँगरेजी ठीक हो गई होती।"

यद्यपि हिन्दुस्तान और सीलोन के कितने ही विद्यार्थियों से हमारी मुलाकात होती रहती थी। मैं जानता था कि यही हिन्दुस्तान के बड़े आदमी बनने जा रहे हैं–कोई इनमें जज कलक्टर होगा, कोई बैरिस्टर और कोई डॉक्टर प्रोफेसर। इनमें से डॉक्टर मोतीचन्द, डा. श्रीनिसावाचार, डा. अधिकारम् जैसे कितने ही तरुणों से मित्रता भी हुई, लेकिन अधिकांश विद्यार्थियों को मैं बेकार-सा समझता था। शायद, इसके भीतर मेरा साम्यवादी भाव काम कर रहा हो; शायद इसके भीतर नाना के चार बीघे खेतों पर गुजारे जीवन की कटुता भी हो, और सबसे बड़ी बात यह हो सकती है, कि मेरे लिए सदा साहसमय जीवन आकर्षक रहा है, और ऐसा जीवन लन्दन में जकार पढ़नेवाले लड़कों में मिलना मुश्किल था। पर उनमें बहुत-से तो बचपन से ही नौकरों-चाकरों के हाथों पान-फूल की तरह पैदा हुए और पले थे। दूसरी तरह के नौजवानों में रामचन्द्र इस्सर और हंसराज थे। रामचन्द्र रावलपिंडी के रहनेवाले थे। भागकर कराँची में जहाजी खलासियों में भरती हुए दुनिया के समुन्दरों की कई परिक्रमा करते रहे। उन्हें मालूम हुआ कि कोई जहाजी कम्पनी हिन्दुस्तान में भरती हुए नौकर को यदि 20 रुपया महीना देती है, तो विलायत में भरती हुए को 25 रुपया हफ्ता। उन्होंने इंग्लैण्ड में पहुँचकर वह नौकरी छोड़ दी और फिर दूसरे जहाज में भरती हो गए। अब उन्हें अँगरेजों जैसा वेतन मिलता था। कितने ही समय तक जहाजी नौकरी की, फिर लन्दन में एक होटल में रसोई-परोसू बन गए। तनख्वाह और ज्यादा थी। कुछ सौ पौंड जमा किए, फिर अपनी एक छोटी-सी दूकान खोल ली। दूकान अच्छी चल रही थी। लेकिन इसी बीच में 1929 में विश्वव्यापी मन्दी शुरू हो गई। बड़े-बड़े लखपतियों के दिवाले निकल गए, तो रामचन्द्र के बारे में क्या कहना। आजकल उन्हें बेकार फंड से कुछ पैसे मिल जाते थे, किसी हाट में एक संदूक रखी थी, वहाँ भी कुछ बेंच आते थे। 4, 5 वर्ष का लड़का था, बीवी टाइप और शार्टहैंड का काम जानती थी। स्त्रियों के शृंगार के काम को भी उन्होंने सीखा था, लेकिन मन्दी के कारण आजकल काम मिलना मुश्किल था। तो भी

औरों की अपेक्षा रामचन्द्र अच्छी हालत में थे।

रामचन्द्र पाँच ही सात दर्जे पढ़े, किन्तु उनके दोस्त हंसराज पंजाब विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट थे। बर्मा, चीन, अमेरिका कहाँ-कहाँ की खाक छानते लन्दन पहुँचे थे। उनके घरवाले धनी थे, लेकिन वह अपने ही पैर पर खड़ा होना पसन्द करते थे। रामचन्द्र की तरह उन्होंने भी यहीं शादी की थी और उनको एक लड़की थी। हंसराज की दूकान मंदी ने बन्द कर दी थी। हमारे सामने ही उनका घर से तार आ गया, और उन्हें हिन्दुस्तान लौटना पड़ा। एक और जवान हमारे बलिया के सोवरनराय थे। पलटन के सिपाही हो पिछली लड़ाई में गए थे, फिर लन्दन ही में रह गए। विलायत में तनख्वाह चौगुनी-पँचगुनी ठहरी, हिन्दुस्तानी हाथ खर्च करते कुछ बचा सकते ही हैं। सोवरनराय ने हजार या अधिक पौण्ड (14 हजार से अधिक रुपए) जमा कर लिये थे। लोग सलाह दे रहे थे कि 14-15 हजार रुपया हो गया, हिन्दुस्तान के लिए बहुत है, चले जाओ। लेकिन सोवरनराय उसे पूरा नहीं समझते थे। लन्दन में रहते बोली तो उन्होंने सीख ली थी, लेकिन पढ़ने-लिखने से कोई वास्ता नहीं रखा। वह अब एक रेस्तोराँ (भोजनशाला) खोलना चाहते थे। किसी मकानवाले से किराए पर मकान लिया, पेशगी रुपया देना पड़ा। दस्तावेज पर 5-6 बरस की जगह 1 बरस लिख दिया गया। बेचारों का आधा से ज्यादा रुपया इसी तरह कम हो गया और आगे रेस्तोराँ भी नहीं चल सका।

एक और भारतीय बरेली के रहनेवाले पं. हरिप्रसाद शास्त्री मिले। शायद बुद्ध से भी पहले वह हिन्दुस्तान से बाहर गए थे ! किसी समय मैंने सरस्वती में लेख पढ़ा था, जिसमें उनके जापान में जाकर धर्म की धूम मचाने का वर्णन था। शायद उस वक्त मैं भी दुनिया में वैदिकधर्म की धूम मचाने का स्वप्न देख रहा था। वह लेख और नाम मुझे याद था। एक दिन शास्त्री जी मुझे मिल गए। परिचय, प्रणाम हुआ। उन्होंने अपने घर आने का निमंत्रण दिया। 24 सितंबर को साँझ के 5 बजे हम दोनों शास्त्री जी के घर पर गए। उनकी स्त्री एक जापानी महिला है। पति-पत्नी दोनों का स्वभाव बहुत मधुर है। उनके कोई संतान नहीं है। लन्दन का जीवन अत्यंत संघर्षमय जीवन है। शास्त्रीजी कुछ पढ़ाकर, कुछ व्याख्यान देकर और शास्त्रिणी नृत्य-शिक्षा देकर अपना गुजारा करते थे। बरेली अब भी उन्हें स्मरण आती है, लेकिन कभी देख सकेंगे, इसमें भारी सन्देह है।

मैं पहले अकसर घर के बगीचे में–जो कि पिछवाड़े था, शाम को टहला करता था। पड़ोसी कुमारियों को हमारा वेष देख कौतूहल होता था और वह कोई कपड़ा लपेटकर हमारी नकल करती थीं। जब मैं हिन्दुस्तान में था,उसी समय 'गंगा' पत्रिका (सुल्तानगंज, भागलपुर) के सम्पाकद पं. रामगोविन्द त्रिवेदी ने पुरातत्त्वांक का मुझे सम्पादक बनने के लिए कहा था। मैंने उसे स्वीकार कर लिया था, और लंका में रहते वक्त उसके लिए कई लेख लिख दिए थे। लन्दन में उन्होंने दूसरे लेखों को भी सम्पादन के लिए भेजा था। मुझे उसके लिए भी समय देना पड़ता था। तिब्बत से लाए चित्रों में 34, 35 बहुत अच्छे चित्रों को मैं अपने साथ लन्दन लेता गया था। यहाँ और पेरिस में भी उनकी प्रदर्शनी हुई थी। पहिले मैं नहीं समझता था, कि वह इतने सुन्दर और महत्त्वपूर्ण हैं, लेकिन यहाँ आने पर मुझे उनका मूल्य मालूम हुआ। कई वर्षों से नालन्दा के पुनरुद्धार का मेरे दिमाग में खब्त था। लंका में रहते मैं यह भी ख्याल कर रहा था, कि अगर सारे चित्र 30, 35 हजार पर बिक जाएँ तो उस रुपये से नालन्दा में जमीन खरीद ली जाय। यहाँ आने पर जब मुझे चित्रों का महत्त्व मालूम हुआ, तो बेंचने का ख्याल छोड़ दिया। किस जगह पर इन्हें सुरक्षित तौर से रखा जा सकता है, इस पर विचार करते ही मुझे ख्याल आया कि पटना म्युजियम ही इसके लिए सबसे उपयुक्त स्थान होगा। 28 अक्तूबर को मैंने म्युजियम के सभापति जायसवाल जी को पत्र लिखा, "मैं अपने तिब्बती चित्रपट को म्युजियम को देने के लिए तैयार हूँ। किन्तु नालन्दा में यदि कोई सुरक्षित स्थान बन गया, तो वह वहाँ चले जायँगे।" 22 नवम्बर को जायसवाल जी का तार मुझे पेरिस में मिला : "तिब्बती चित्रों के बारे में आपके 22 अक्तूबर के लिए पत्र की शर्तें धन्यवादपूर्वक स्वीकृत हैं, टामसकुक को लिख रहा हूँ कि वह चित्रों को सँभाल लें। जायसवाल, पटना-म्युजियम सभापति" (thankfully accepted terms in your letter twentyeight Oct. for Tibetain paintings. Instructing Thomes Cook to take charge. Jayaswal President Patna Museum)।

सारे चित्रपट डेढ़ सौ के करीब थे, जिन्हें मैंने पटना म्युजियम को दे दिया। उनका मूल्य एक लाख से कम न होगा। नालन्दा के स्वप्न के लिए मैंने एक अमेरिकन म्युजियम के हाथ में बेचने के लिए एक पत्र लिख दिया था और यदि मैं लन्दन न गया होता, तो उनके महत्त्व को इतना जल्दी न समझ पाता, और फिर शायद गलती कर बैठता।

हमारा मुहल्ला मध्यम-वर्ग के लोगों का महल्ला था। ज्यादा मालदार और शौकीन लोग लन्दन के वेस्टएन्ड महल्ले में रहते हैं, और ईस्ट-एंड है गरीबों का महल्ला। 30 अगस्त को हम ईस्ट-एंड देखने गए। वहाँ मालूम हुआ कि हमारे साहेबों ने अपने देश भाइयों के लिए भी कैसा नरक तैयार कर रखा है। पिंजड़े की तरह के उनके छोटे-छोटे मकान, मैले-कुचैले वस्त्र, और भूखे-दुबले नरकंकाल चारों ओर दिखलाई पड़ते थे। यहीं कुमारी लिस्टर–एक मध्यमवर्गीय महिला–ने किङ्सलेहाल नाम की अपनी संस्था गरीबों की सेवा के लिए कायम की थी। धनियों ने पृथ्वी पर इस नरक को तैयार किया है, जहाँ नरक की आग करोड़ों नर-नारियों को धायँ-धायँ करके जला रही है। जब किसी-किसी धनिक सन्तति या उसके भाई-बन्धु का दिल पसीजता है, तो वह सारी विपत्तियों की जड़ धनी-गरीब के भेद को नष्ट करने की जगह पत्तों को पानी देते हुए किङ्सलेहाल जैसी संस्थाएँ कायम करता है। कुमारी लिस्टर उस वक्त वहाँ नहीं थीं। गाँधीजी जब राउंड टेबुल कान्फ्रेन्स (1931) में आए, तो वह यहीं ठहरे थे। अपनी शक्ति के अनुसार यह संस्था गरीबों की सेवा करती है। एक पुस्तकालय है, लड़कों के खेलने का भी कुछ इन्तजाम है। कुछ बच्चों को दूध भी दिया जाता है।

मिसेज रीज-डेविड्स पाली भाषा की प्रख्यात पंडिता थीं। वह और उनके स्वर्गीय पति ने पाली साहित्य के अनुसन्धान और प्रकाशन में बहुत काम किया था। लड़ाई के वक्त में उनका प्रिय पुत्र मर गया। कुछ समय बाद पति भी मर गए। बेचारी बुढ़िया इस शोक को बरदाश्त नहीं कर सकीं। प्रेत विद्यावालों के पास पहुँचने लगीं। पुत्र-वियोग में प्रेमान्ध तो थी हीं, उन्हें विश्वास हो चला कि उनका पुत्र प्रेतलोक में जिन्दा है। बस, उनकी पाली-विद्वत्ता का उपयोग अब अप्रत्यक्ष-रूपेण एक दूसरे विषय के प्रतिपादन में इस्तेमाल होने लगा। वह सोचने लगीं, यदि प्रेतलोक है–जहाँ कि उनका पुत्र रहता है–तो देवलोक भी है। जब लाखों बरस तक रहनेवाले ये प्रेतलोक और देवलोक मौजूद हैं, तो कोई जरूर अजर-अमर नित्य आत्मा है, जो इस शरीर को छोड़कर दूसरे लोक में जाती है। अब उन्होंने कहना शुरू किया कि बुद्ध अनात्मा नहीं आत्मा को मानते थे, इसी तरह से और कई नई कल्पनाएँ करके बुद्ध के उपदेशों का उन्होंने बिलकुल उल्टा-पुल्टा अर्थ करना शुरू किया। आश्चर्य तो यह है, कि उनके पुत्रशोकविकृत मस्तिष्क की उपज इन बातों का लोग बड़ी गम्भीरता से अध्ययन करते रहे। एक दूसरे साइंसवेत्ता सर आलिवर लाज के बारे में भी यही बात सुनी। लड़ाई में उनका भी लड़का मारा गया था और मृत पुत्र से बातचीत करने के लिए उन्होंने प्रेत विद्याविशारदों (विलायती ओझों) की शरण ली। फिर तरह-तरह की खुराफातें लिखने लगे। कितने ही अक्ल के अन्धे इन अर्ध-विक्षिप्तों की बकवास को भी विद्वत्ता समझते थे। मैंने मिसेज रीज-डेविड्स के विचारों का परिहासपूर्वक एक खंडन लिखा था, जो कि एक बौद्ध मासिक में छपा था।

जिस वक्त हम लन्दन में थे, उस वक्त विश्वव्यापी मन्दी का तीसरा साल चल रहा था। 30 लाख से ऊपर आदमी बेकार पड़े हुए थे। विलायत की बेकारी हिन्दुस्तान की बेकारी से बहुत अधिक असह्य होती है। लन्दन में आप अगर किसी पाखाने में जायँ, तो एक पेनी (आना) डालने पर पाखाने का दरवाजा खुलेगा। एक प्याला चाय और एक टुकड़ा रोटी के लिए बारह आना चाहिए। हर चीज महँगी, चादर की धुलाई एक शिलिंग (10 आने से ऊपर), रूमाल की धुलाई 3 पेनी (3 आने से ऊपर), रूमाल धुलाने से अच्छा यही था कि नई खरीद ली जाय। जहाँ जीवन-सामग्री इतनी महँगी हो, वहाँ अतिथिसेवा या बन्धुसेवा आसान काम नहीं है। एक दिन के मामूली खाने पर ही 3 खतम हो जाते। इस सारी व्यवस्था का कारण वही पूँजीवाद है, जिसने इंग्लैण्ड के 90 सैकड़ा आदमियों के जीवन को कल के लिए अनिश्चित और सदा के लिए चिन्तापूर्ण बना दिया है। इसीलिए कोई आश्चर्य नहीं है कि ट्राम में चलते वक्त माँ-बेटी, अपना-अपना अलग-अलग टिकट खरीदें।

27 जुलाई से 13 नवम्बर तक साढ़े तीन महीना मैं इंग्लैण्ड में रहा। इसमें भी प्रायः सारा समय लन्दन

ही में बीता। विमूवलूड्न लन्दन से 11 मील से अधिक बाहर है, लेकिन वह भी शहर जैसा ही है। 6 सितम्बर को हम वहाँ गए। एक वृद्ध अँगरेज दंपती के निमंत्रण पर 16 सितम्बर को 5 मील बाहर डलविच गाँव में गए थे। पिछली शताब्दी में उदार विचारों की जो बाढ़ आई थी, उसमें फ्रांस के विचारक कोंते ने बहुत-से दर्शनों, धर्म और साइंस की खिचड़ी पका के एक नई विचारधारा चलानी चाही थी। जान पड़ता है, कुछ दिनों तक शिक्षित निम्न-मध्यमवर्ग पर उसका असर हुआ था, यह वृद्ध दंपती उसी विचारधारा के माननेवाले थे।

धर्मों के कितने ही पक्षपाती इस बात का बहुत खतरा महसूस कर रहे हैं कि आगे चलकर धर्म कहीं लुप्त न हो जाय। इसीलिए वह सारे धर्मों का संयुक्त-मोर्चा बना के धर्मविरोधियों का मुकाबिला करना चाहते हैं। धर्म का हटना धनिकों के लिए बड़े खतरे की चीज है। रोम का पोप तो मौके-बेमौके हर वक्त वैयक्तिक सम्पत्ति को धर्म का एक अभिन्न अंग बतलाते हुए वैयक्तिक सम्पत्ति के विरोधियों, साम्यवादियों के खिलाफ जहाद की घोषणा करता रहता है। यद्यपि 1944 के सितम्बर में वह पूर्वी ईसाई-चर्च के साथ हाथ मिलाने के लिए तैयार थे, क्योंकि, लालसेना की विजय से धनिकों के पिट्ठू और स्वयं भी एक बड़े धनिक इस महन्तराज के हृदय में शूल होने लगा था। लेकिन जिस वक्त की मैं बात कर रहा हूँ, उस वक्त अभी छोटे-छोटे आदमी ही सर्वधर्म-समन्वय की कोशिश कर रहे थे। मैं बौद्धधर्म का पक्षपाती था। साथ ही दूसरे धर्मों का धर्म के ख्याल से विरोधी नहीं था; लेकिन मैं यह जरूर समझता था कि ईश्वरवादी धर्म जन-हित और विश्वप्रगति के विरोधी हैं। अभी यह समझने में देर थी कि साधारण बौद्धधर्म भी धर्म के तौर पर प्रगति-विरोधी है। लन्दन में कई धर्मों के छुटभैया नेता मिल के सर्वधर्म-मित्र-मंडली (Fellowship of faiths) की स्थापना करने जा रहे थे। बौद्धधर्म के बिना ऐसी मंडली भला पूरी कैसे हो सकती थी ? उन्होंने हमारे यहाँ भी निमंत्रण भेजा। आनन्दजी गए, तब तक बहुत कुछ उद्देश्य और नियम बन चुके थे, जिसमें आरम्भ ही में था—एक परमेश्वर की सन्तान होने से मनुष्यमात्र में भ्रातृभाव का प्रसार करना। आनन्दजी ने देखा, तो कहा—यह नियम रहने पर तो बौद्ध इस संगठन में नहीं शामिल हो सकते, क्योंकि बौद्ध ईश्वर को नहीं मानते। वहाँ बैठे एक मोलवी को यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, कह उठे—"या अल्लाह ! यह भी कोई धर्म है, जिसमें खुदा के लिए कोई स्थान ही न हो।" खैर, बौद्धों को उसमें रखना था, इसलिए ईश्वर की बात हटा दी गई।

22 सितम्बर को अब सरदी इतनी बढ़ गई थी कि घर को गरम करने के लिए अँगीठी जलानी पड़ने लगी। अब बादल और ज्यादा छाया रहता था, सबेरे मुँह धोते वक्त हम देखते थे कि कण्ठ से काले रंग का कफ बाहर निकलता है। लन्दन की वायु में इतना धुआँ मिला रहता है, जिसके लिए स्वाभाविक है।

27 सितम्बर को गाँधीजी के उपवास-भंग की खबर सुनकर लन्दन के सभी भारतीयों को बहुत प्रसन्नता हुई। मेकडानल्ड के निर्णय के विरोध में गाँधीजी को यह उपवास करना पड़ा था। अछूतों के ऊपर हिन्दुओं ने हजारों वर्षों से जुल्म कर रखा है और उन्हें मनुष्य से पशु की अवस्था में पहुँचा दिया है, इसे देखकर अछूतों को ज्यादा सजग रहने की जरूरत से कौन इनकार कर सकता है। गाँधीजी के रास्ते से अछूतों की समस्या नहीं हल हो सकती, यह भी निश्चित है। फिर अछूत नेता कोई दूसरा रास्ता अख्तियार करना चाहें, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। गाँधीजी ने इसीलिए हड़ताल की थी कि अंग्रेजी शासक-वर्ग ने पृथक्-निर्वाचन की नीति को मुसल्मानों के बाद अब अछूतों के लिए भी स्वीकृत किया था, जिसका स्पष्ट अभिप्राय यही था, कि हिन्दुस्तान की शक्ति और छिन्न-भिन्न हो जाय। जिस दिन आमरण उपवास की खबर लन्दन के अखबारों में निकली, वहाँ बहुत सनसनी फैली हुई थी। एक चीनी विद्यार्थी मेरे पास आए, और पूछने लगे कि यह अछूतपन क्या चीज है। मैं देर तक कई तरह से उन्हें समझाने की कोशिश करता रहा था, लेकिन उनकी समझ में आ नहीं रहा था, कि स्वस्थ निरोग आदमी को छूना या उसके हाथ का खाना भी बहुत बुरी चीज है। इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है, कि जिसे हमारे यहाँ के लम्बी नाकवाले पंडित ब्रह्मा का विधान मानते हैं, उसे दूसरे देश के लोग इतनी बड़ी बेवकूफी समझते हैं, कि उस पर विश्वास करने के लिए उनका जी नहीं चाहता।

गाँधीजी के जन-जागृति के काम का मैं बहुत प्रशंसक था, लेकिन उनकी पुराणपंथिता मेरे लिए असह्य मालूम होती थी। 29 सितम्बर की अपनी डायरी में मैंने लिखा था कि भारत में जाकर एक ऐसी पुस्तक लिखनी

है, जिसमें गाँधी के पुराणवाद की आलोचना हो।

केन्सिङ्टन म्युजियम मैं पहिले भी गया था; वहाँ के अधिकारी मिस्टर केमूबेल् से परिचय था, वह हमारे यहाँ भी आए थे। 5 तारीख को हम वहाँ खास तौर से भगवान बुद्ध के दो प्रधान शिष्यों—सारिपुत्र, और मौद्गल्यायन की अस्थियों का दर्शन करने गए थे। 2200 वर्ष पहिले इन दोनों सत्पुरुषों की थोड़ी-थोड़ी हड्डी डिबियों में रखकर साँची और सोनारी के स्तूपों में रख दी गई थीं, अब (1947 में) वह भारत लाई गईं। मिस्टर केमूबेल् ने इन डिबियों को दिखलाया, उन पर ईसा-पूर्व दूसरी शताब्दी की लिपि में उन दोनों सत्पुरुषों का नाम अंकित था। भीतर खोलने पर हड्डी के छोटे टुकड़े दिखलाई पड़े। बुद्ध के सबसे अधिक मेधावी इन दोनों शिष्यों के शरीर का अवशेष अब दुनिया में इतना ही रह गया है। हम लोगों ने बड़ी श्रद्धा के साथ उन्हें देखा। मिस्टर केमूबेल् ने म्युजियम की और भी कितनी चीजें घूम-घूमकर दिखलाईं। वह हमें अपने आफिस में ले गए। वहाँ उस वक्त भारतीय सरकार के कोई अंग्रेज अफसर उनका इन्तजार कर रहे थे। शिष्टाचार के तौर पर उन्होंने मेरा भी परिचय कराया। लेकिन जितने संकोच के साथ उसका हाथ और जीभ हिली, उसे देखने से मालूम हो गया, कि वह आदमी हम हिन्दुस्तानी गुलामों को इस योग्य नहीं समझता था, कि हमसे हाथ मिलाए, और खुलकर बात करे। हिन्दुस्तान में रहे अंग्रेजों में अक्सर ऐसी मनोवृत्ति पाई जाती रही, जो ऐसा नहीं करते, वह सरकारी नौकरी में तरक्की भी नहीं कर सकते थे। इसके उदाहरण मिस्टर शटलवर्थ थे। वह आई. सी. एस. होकर हिन्दुस्तान में आए, और जिन्दगी-भर जिले के अधिकारी रहकर ही पेन्शन ले विलायत चले गए। उस वक्त वह लन्दन विश्वविद्यालय में तिब्बती भाषा के अध्यापक थे। 12 नवम्बर को बड़ी देर तक हमारी उनसे बात होती रही थी। उनमें इतनी सहृदयता थी, कि मैं समझ रहा था, यह कोई ईसाई मिशनरी होंगे। उन्होंने अपने घर पर चाय पीने के लिए बुलाया। उनकी पत्नी ने चाय तैयारी करके पिलाई। घर का सारा कामकाज वह अपने हाथ से करती थी। खैर, इंग्लैण्ड लौटने पर तो गवर्नरों को भी ट्राम पर चलना होता है। लेकिन शटलवर्थ दंपती अवश्य भारत के अंग्रेज शासकों में अपनी प्रकृति के लिए अपवाद थे।

7 अक्तूबर को हम लन्दन टावर देखने गए। "एक तो करेला, दूसरे नीम चढ़ा" वाली कहावत थी। हमारा ही भेष बहुत आकर्षक था और हमारे साथ गए थे लंका के करोलिस महाशय, जिन्होंने अपने लम्बे केशों को जूड़े की तरह बाँध रखा था। यह वह जगह है, जहाँ शताब्दियों तक राजा अपने विरोधियों को बन्द रखा करते थे। कितनी हतभागिन रानियों का यहीं पर सर काटा गया था। जिन कुल्हाड़ों से सर काटा गया था, वह भी यहाँ सुरक्षित हैं। पुराने हथियारों का यहाँ बहुत अच्छा संचय है, और उन्हें शताब्दी के क्रम से रखा गया है। कोहिनूर-जटित राजमुकुट और दूसरे बहुत से हीरे भी यहाँ रखे हुए हैं। हमने घूम-घूमकर सब चीजों को देखा।

अनागरिक धर्मपाल के कई पत्र मेरे पास आए। उनकी बड़ी इच्छा थी, कि मैं उनके कार्यभार को सँभालूँ लेकिन मैं अपने में धर्म के प्रति उतनी श्रद्धा नहीं देखता था। हिन्दुस्तान आने के बाद भी अनागरिक ने कुछ चर्चा की थी, लेकिन मैं अपने को विद्या और अन्वेषण के क्षेत्र में ही लगा चुका था। महाबोधि सभावालों की इच्छा थी, कि मैं इंग्लैण्ड से अमेरिका जाऊँ। कोई समय था, कि जब मैं धर्मप्रचारक बनने का तीव्र अनुरागी था, लेकिन अब अवस्था बिल्कुल बदल गई थी। बौद्धधर्म के साथ भी मेरा कच्चे धागे का ही सम्बन्ध था। हाँ, बुद्ध के प्रति तो मेरी श्रद्धा कभी कम नहीं हुई। मैं उन्हें भारत का सबसे बड़ा विचारक मानता रहा हूँ, और मैं समझता हूँ कि जिस वक्त दुनिया के धर्म का नामोनिशान न रह जायगा, उस वक्त भी लोग बड़े सम्मान के साथ बुद्ध का नाम लेंगे। मैंने उनके वचनों के पढ़ने के बाद समझा, कि वह भी दुनिया के साम्यवादी बनने का सपना देखते थे। यद्यपि वह समय से बहुत पहिले की बात थी। लन्दन में मेरा बहुत-सा समय साम्यवादी साहित्य, उसमें भी विशेषकर रूस-सम्बन्धी पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों में लगता था। 'डेली वर्कर' का तो मैं नित्य बाकायदा पारायण करता था। वह साधारण दूकानों में नहीं मिलता था, इसलिए उसे पाने के लिए विशेष प्रबन्ध करना पड़ा था। इसके अतिरिक्त सोवियत में छपनेवाले कितने ही सचित्र मासिक-साप्ताहिक पत्रों और पुस्तक-पुस्तिकाओं को जमा करके पढ़ता रहा। हाँ, किसी अँगरेज कम्यूनिस्ट से सीधे सम्बन्ध स्थापित करने

का मुझे मौका नहीं मिला। हो सकता है, वह मेरे कपड़े से भड़कते रहे हों; और मैं भी सोवियत जाने की धुन में था, इसलिए खुफिया विभाग की आँखों में काँटा भी नहीं बनना चाहता था।

26 अक्तूबर को हम दोनों केम्ब्रिज विश्वविद्यालय देखने गए। रास्ते में किसानों के घरों और खेतों को देखा। अब जाड़ा शुरू होनेवाला था, वृक्षों की पत्तियाँ पीली हो गईं, या गिर गई थीं। खेतों में कोई काम नहीं होता था। गाँव के घर साफ-सुथरे थे, सिर्फ एक जगह घोड़े को हल चलाते देखा। केम्ब्रिज के एक दर्जन से अधिक कालेजों और उनके छात्रावासों को घूम-घूमकर देखा। उस वक्त मुझे तिब्बत के सेरा और डेपुङ् विहार याद आ रहे थे। केम्ब्रिज भी किसी समय ईसाई भिक्षुओं का विहार था। उन्होंने ही इसे विद्यापीठ बनाया था। हमारे यहाँ भी नालन्दा और विक्रमशिला के विशाल विद्यापीठ थे, जो अपने समय में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति रखते थे। अचरज की बात है कि जिस वक्त नालन्दा और विक्रमशिला उजाड़े जा रहे थे, उसी वक्त केम्ब्रिज और आक्सफोर्ड की स्थापना हो रही थी।

10 नवम्बर को हम आक्सफोर्ड गए। वहाँ के भी कालेजों के देखते वक्त मुझे नालन्दा की याद आती थी। सबसे ज्यादा भक्ति-भाव से मैं 9 तारीख को हाईगेट के कबरिस्तान में गया। 1930-31 में मैंने मार्क्स के कई ग्रन्थों को पढ़ा, यद्यपि अभी मार्क्स के भौतिकवाद को पूरी तौर से अपना नहीं सका था, खासकर इस शरीर के साथ ही जीवन के अन्त को अभी मैं नहीं मान रहा था। लेकिन मार्क्स की और बातों को मैं मानता था। बारह वर्षों के बाद डाक्टर श्रीनिवासाचार ने मेरी उस समय की बात को स्मरण दिलाते हुए कहा था—आप उस वक्त भी कहते थे, कि बुद्ध और मार्क्स यही दोनों हैं, जो आज की दुनिया का बेड़ा पार कर सकते हैं। मैंने पढ़ा था, मार्क्स का देहान्त लन्दन में हुआ था, और वह यहीं हाईगेट के कबरिस्तान में दफनाए गए। मेरे आसपास रहनेवाले अपने को उसके बारे में बिल्कुल अजान बतलाते थे। खैर, हम ढूँढ़ते-ढाँढ़ते उस कबरिस्तान पर पहुँच गए। बाहर कोई स्त्री फूल बेंच रही थी, हमने उससे फूल लिया। चौकीदार से मार्क्स की समाधि के बारे में पूछा, उसने कहा—मुझे मालूम नहीं। मुझे आश्चर्य हुआ कि जिस वर्ग की गुलामी को हटाने के लिए मार्क्स ने इतना काम किया, उसी का एक आदमी उस कबरिस्तान का चौकीदार होते हुए भी मार्क्स की समाधि को नहीं जानता। मैं समझता हूँ, बारह साल बाद आज वही अवस्था नहीं होगी, क्योंकि आज 1944, मार्क्स की सेना—लाल फौज—की बहादुरी की खबरें वहाँवाले रोज अखबारों में पढ़ते होंगे। वहाँ हजारों कब्रें थीं। एक-एक पर नाम पढ़ते हुए पता लगाना एक दिन का काम नहीं था। उसी वक्त एक आदमी कब्रों की तरफ से फाटक की ओर आया। उसने कहा—चलिए, मैं बतलाता हूँ। वह बिल्कुल साधारण सी कब्र थी, जिस पर घास उगी हुई थी। यहीं दुनिया के श्रमजीवियों का त्राता अपने जीवन के अन्त तक परिश्रम और दरिद्रता सहने के बाद अपनी स्त्री जेनी और नाती के साथ नीरव सो रहा है। मैंने बड़े भक्ति-भाव से फूलों को समाधि पर चढ़ाया। सिरहाने के पत्थर पर मार्क्स का नाम भी खुदा था, और किसी ने छोटा-सा लाल झंडा रख दिया था। उसी दिन मैं वेस्ट-मिनिस्टर एबे देखने गया। यहाँ गरीबों के खून चूसनेवालों की समाधियाँ हैं। दर्जनों राजा-रानियों और उनके दरबारियों की समाधियाँ, जिनको सजाने और बनाने में रुपयों को पानी की तरह बहाया गया है।

फिर फ्रांस में—14 नवम्बर को मैंने आनन्दजी और दूसरे मित्रों से बिदाई ली। 11 बजे रेल पकड़ते वक्त आकाश में बादल छाया हुआ था। अब की डोवर-केले का रास्ता पकड़ा। लन्दन से डोवर रेल पर आया, फिर जहाज में बैठा। समुद्र स्थिर था। अब मैं बिलकुल अकेला था। केले में जहाज छोड़कर रेल पर बैठा और छै बजे पेरिस के 'गार-दे-नार' स्टेशन पर पहुँचा। मिस लून्जबरी स्वागत के लिए तैयार थीं। पेरिस में तिब्बती चित्रपटों की प्रदर्शनी होनेवाली थी, इसलिए मैं उन्हें साथ लाया था। अभी चित्रपटों के दिखलाने में कस्टम वाले देर करते, इसलिए वह काम दूसरे आदमी के जिम्मे देकर मिस लून्जबरी ने मुझे एक होटल में पहुँचाया। चित्रपटों की संख्या पूछने पर मैंने अन्दाजन एक चित्र अधिक बतला दिया। चित्रपट तो चले आए लेकिन फ्रांस से बाहर निकलने पर एक चित्रपट कम हो रहा था, जिसका दाम आँककर मेरे मित्रों को सरकारी महसूल देना पड़ा। होटल में कमरा बहुत साफ-सुथरा मिला था। किनारे पर 5 अंगुल चिपटे गर्म पानी के नलों की घूमघुमौवा

पाँती थी, जिसके कारण मकान में सर्दी का नाम नहीं था।

दूसरे दिन (15 नवम्बर) अपराह्न को हम मुजी-ग्वी में गए। यह पेरिस का एक अच्छा संग्रहालय है, खासकर एसियाई कला का यहाँ बहुत अच्छा संग्रह है। पुराने दलाईलामों के 8 चित्रपटों का यहाँ भी अच्छा संग्रह था, लेकिन वह मेरे संग्रह के मुकाबिले में कुछ नहीं थे। गन्धार मूर्त्तियों का भी यहाँ बहुत अच्छा संग्रह है, खासकर हड्डा (अफगानिस्तान) की खुदाई में निकली चूने की मूर्त्तियाँ अनुपम हैं। रात के वक्त बुद्ध-प्रेमियों की सभा में मुझे बोलना भी पड़ा।

16 नवम्बर को आचार्य सेल्बेन् लेवी के घर पर गया। 70 वर्ष के करीब उनकी अवस्था थी। भारतीय संस्कृति के वह दुनिया में सर्वश्रेष्ठ विद्वान थे। सारे बाल सफेद हो गए थे। इस अवस्था से बहुत पहिले ही भारतीय विद्वान बूढ़ा समझ काम को छोड़ बैठते हैं। 1929 में मैं हिन्दू विश्वविद्यालय में प्रोफेसर राखालदास बनर्जी से जब मिला था, तो वह 50 साल के भी नहीं हो पाए थे, और कह रहे थे–"हमें जो कुछ करना था वह कर चुके, अब आगे तुम लोगों को करना है।" और यहाँ मैं आचार्य लेवी को देख रहा था, इस बुढ़ापे में भी वह दस-दस बारह-बारह घंटा अनुसंधान करते तथा अपने काम के लिए दुनिया के किसी भी कोने में जाने के लिए तैयार थे। मैंने अपने संपादित 'अभिधर्मकोष' को भेंट किया। उनके कमरे में चारों ओर पुस्तकें ही पुस्तकें दिखाई पड़तीं, जिनमें आधुनिक योरोपीय भाषाओं के अतिरिक्त चीनी, पाली, संस्कृत, तिब्बती की पुस्तकों की संख्या ज्यादा थी। एक टूटी हुई काले पत्थर की मूर्ति दिखलाकर आचार्य ने कहा–"इसे मैंने नालन्दा में पाया था।"

हम 4 घंटा तक बात करते रहे। ज्ञान के उस अगाध समुद्र में डुबकी लगाने से मैं तृप्त कैसे हो सकता था ? उन्होंने तिब्बती राजवंशावली की कुछ समस्याओं के बारे में मुझसे पूछा। मध्य एसिया में प्राप्त तिब्बती हस्तलिखित कागजों में एक अपरिचित-से राजकुमार का नाम आया था। मेरे पास अपनी नोटबुक मौजूद थी, उसे देखने पर वह नाम मिल गया। आचार्य को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने हाल ही में गिलगित में मिले हस्तलेखों का जिक्र करते हुए कहा–"आप वहाँ जरूर जायँ और उन पुस्तकों के बारे में लिखें।" मैंने 'गंगा' पुरातत्त्वांक के लिए 'महायान की उत्पत्ति' और 'चौरासीसिद्ध' पर दो लेख लिखे थे, जिनका अंग्रेजी अनुवाद मेरे पास था। उन्होंने लेखों को बहुत पसन्द किया और 'जूर्नाल् आसियातिक' में छापने के लिए ले लिया, पीछे वह छपे भी। वहीं अनेक भाषाओं के पंडित गोवा निवासी बरगनूज़ा महाशय मिले, जो मुझे होटल तक पहुँचाने गए। वह भारतीय नृत्य पर एक पुस्तक लिख रहे थे, और 'भरतनाट्यशास्त्र' के नृत्यसंबंधी अध्यायों के अनुवाद में मेरी सहायता चाहते थे। मैंने खुशी से इसे स्वीकार किया। वह पश्चिमी नृत्यशास्त्र के जानकार थे, उनके मुँह से यह सुनकर मुझे बड़ा अभिमान हुआ, कि भरत ने जितनी नृत्यमुद्राएँ बतलाई हैं, उनसे ज्यादा योरोपियन-नृत्यशास्त्र में भी नहीं हैं।

मैं रहता तो था होटल में। खाना लेकिन खाने मिस लून्जवरी के घर जाता था। उनका घर दूर नहीं था। खाने में भात, सूप, मछली, रोटी, मक्खन, भाजी, कितने ही तरह के फल थे। फलों में ताजी अंजीर उतनी मीठी तो नहीं थी, लेकिन मैंने पहिले-पहिल ताजी अंजीर वहाँ चखा था, इसलिए नया स्वाद मालूम होता था। उस दिन बरगंजा महाशय मुझे राष्ट्रीय पुस्तकालय (Bibliothic Nationale) दिखलाने के लिए ले गए। ब्रिटिश म्युजियम की तरह यह भी दुनिया के सबसे बड़े पुस्तकालयों में है। यहाँ पढ़ने का इंतजाम और अच्छा है। 3 बजे हम सोरबोन् विश्वविद्यालय में गए। प्रोफेसर लेवी, प्रोफेसर फूशे तथा दूसरे अध्यापक मिले। कितनी ही देर तक शास्त्र-चर्चा होती रही। मिस सिल्वर बौद्धदर्शन की छात्रा थीं, उन्होंने कई बुद्धिमानी के सवाल पूछे। हमारे गम्भीर वार्त्तालाप को देखते हुए सरदार उमरावसिंह ने मजाक करते हुए कहा–"हम बूढ़ों को ये छोकरियाँ कहाँ पूछती हैं।" मैंने कहा–"दाढ़ी तो और बुढ़ापे को बढ़ा-चढ़ा के बतलाती है।"

मैं सोवियत जाने के लिए बहुत उत्सुक था। यूरोप के बहुत-से और देशों का नाम तो मैंने लन्दन ही में विदेश-विभाग में अपने पासपोर्ट को भेजकर लिखवा लिया था, लेकिन अभी उसमें सोवियत का नाम नहीं था। मैं इसके लिए पेरिस में ब्रिटिश कौंसिल के पास गया। समझता था, बहुत दिक्कत होगी, लेकिन कौंसिल

ने चीन में रहते कोई बौद्धमूर्ति प्राप्त की थी, उसके बारे में उन्होंने कुछ जानना चाहा। मैंने बतलाया और उन्होंने भी पोलैण्ड और सोवियत का नाम मेरे पासपोर्ट पर चढ़ा दिया। यद्यपि अभी बिल्कुल निश्चित नहीं था, कि मैं सोवियत जा सकूँगा, लेकिन मैंने रूसी भाषा पढ़ना शुरू कर दिया। पोलैण्ड की एक कोनटिस बड़े प्रेम से पढ़ा रही थी, वह रूस के वोलशेविकों को फूटी आँखों भी नहीं देख सकती थी, लेकिन उनको क्या पता था कि सामने पीले कपड़ों में वोलशेविकों का एक जबर्दस्त हिमायती बैठा हुआ है। सोवियत दूतावास में जाने पर पता लगा, कि सोवियत वीसा मिलने में बहुत देर लगेगी। उन्होंने सोवियत यात्रा एजेन्सी–इनूतूरीस्त–के पास भेज दिया। इनूतूरीस्त वालों ने बतलाया कि वीसा मिलने में 7 दिन से कम नहीं लगेगा और खर्च लगेंगे 36 पौंड। निराशा जरूर हुई, फिर भी अभी आशा बिलकुल खतम नहीं हो गई, क्योंकि लन्दन में एक तरुण मित्र ने बतलाया था कि जरमनी से बहुत सस्ते में और आसानी से सोवियत जाया जा सकता है।

मैं एक दिन फ्रेमान् से मिलने गया था। उनकी दूकान बन्द थी, इसलिए सोरबोन् के पास घूम रहा था। एक मिश्री विद्यार्थी गलाल (जलाल) मिल गया। वह अपने रहने की जगह पर ले गया। हिसाब लगा के उसने बतलाया, कि मेरा खर्च महीने में 6 सौ फ्रांक (प्रायः 75 रु.) मासिक पड़ता है। लन्दन में तो इससे दूने से भी काम नहीं चल सकता।

एक दिन (29 नवम्बर) मदाम् ला-फ़्वानूत ने पेरिस के उपनगर की सैर कराई। ढाई बजे हम मोटर से बाहर निकले। मदाम् ला-फ़्वानूत खुद मोटर चला रही थीं। बाहर एक विशाल क्रीड़ावन था, जिसे प्राकृतिक देवदारु-वन की शकल में रखा गया था। तीन ही बजे सूर्यबिम्ब पच्छिमी क्षितिज पर खूनी लाल रंग से रँगा मालूम होता था। कम्पि गाँव होते वरसाइ महाप्रासाद तक गए। पहिले यह फ्रांस के वाजिदअली शाहों का महल था, लेकिन आजकल सैनिक म्युजियम है। वहाँ से हम लोग लौट गए। उसी दिन मिस्टर नायडू ने मदाम करी की अनुसंधानशाला दिखाई। वहाँ एक रूसी तरुण भी अनुसंधान का काम कर रहा था। उससे सोवियत के बारे में कुछ बातें हुईं। नायडू सोवियत के साथ भारी सहानुभूति रखते थे।

जर्मनी में–सवा 9 बजे मैं पेरिस से जर्मनी के लिए रवाना हुआ, पहिला मुकाम था फ्राँकफुर्त। वहाँ ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंह को पहिले ही से चिट्ठी भेज दी थी। अपने कम्पार्ट में मैं अकेला ही था। सारी यात्रा रात ही में बीती थी, इसलिए मैं आसपास की भूमि को नहीं देख सका। रास्ते में फ्रांस से जर्मनी की सीमा पार करते समय आठ बजे अधिकारियों ने पासपोर्ट देख लिया था। 30 नवम्बर को आठ बजे खूब सबेरा हो गया था, मैंने सबेरे के प्रकाश में देखा–चारों ओर पहाड़ियाँ हैं, जहाँ-तहाँ गाँव बसे हुए हैं, वृक्षों के पत्ते झड़ चुके हैं। एक जगह घोड़ों का हल चल रहा था। मारबुर्ग के पास मैंने बैलों का भी हल चलते देखा, और पूछने पर आचार्य ओटो ने कहा कि उनके लड़कपन में ज्यादातर हल बैल ही से चला करते थे। जान पड़ता है, यूरप में धीरे-धीरे लोगों ने हल में बैलों की जगह घोड़ा जोतना शुरू किया और अब तो सोवियत जैसे देशों से हल, बैल, घोड़े तीनों गए और उनकी जगह ट्रेक्टर आ गया। अभी हम हिन्दुस्तानी बैलोंवाले युग में ही हैं। 10 बजे मैं फ्राँकफुर्त पहुँचा। स्टेशन पर ठाकुर इन्द्रबहादुरसिंह और जापानी विद्वान डाक्टर कितायामा पहुँचे हुए थे। मेरा कपड़ा परिचय के लिए काफी था। डाक्टर कितायामा यहाँ और मारबुर्ग दोनों विश्वविद्यालयों में बौद्धधर्म का अध्यापन करते थे। हम सब ठाकुर साहब के घर पर गए। ठाकुर इन्द्रबहादुर काशी विद्यापीठ के शास्त्री थे, वह वहाँ पी. एच. डी. की तैयारी कर रहे थे। वहाँ डाक्टर सुधीन्द्र बोस के भतीजे इंजीनियर बोस और दिल्ली-निवासी डा. देवीलाल भी मिले। डा. देवीलाल और बसु अब विद्यार्थी नहीं थे, वह भारत से चाय मँगा कर उसी की बिक्री से अपनी जीविका चलाते थे। डा. कितायामा ने बतलाया कि डा. ओटो बाहर जानेवाले हैं, इसलिए आप पहले मारबुर्ग चलिए। डा. ओटो जर्मनी के अच्छे संस्कृतज्ञों में थे। वह विद्वान भी थे, और ईसाई भगत भी, लेकिन विचारों में बड़े उदार थे। जब मैं पहिली बार सीलोन गया था और वहाँ पहुँचे कुछ ही महीना हुआ था, तभी उनसे वहीं मुलाकात हुई थी। वार्तालाप के द्वारा हम एक-दूसरे के बहुत नजदीक आ गए थे और पीछे बराबर पत्र-व्यवहार रहा। उन्होंने मारबुर्ग आने के लिए बहुत आग्रह किया था और इसीलिए डा. कितायामा को भेजा था।

सबेरे मैंने इन्द्रबहादुरजी के घर ही पर चाय-पानी किया, दोपहर को हम एक रसोईघर में भोजन करने गए। पहले गोमांस आया, नाम मालूम होते ही मैंने उसे छोड़ दिया। भारतीय विद्यार्थी, जो यूरोप आते हैं, वह इन बातों की पर्वाह नहीं करते; मैं भी यदि ज्यादा दिन रहता तो शायद पर्वाह न करता।

भोजनोपरान्त एकाध चीजें साथ में ले कितायामा के साथ स्टेशन पहुँचा। चार मार्क देकर मारबुर्ग का तीसरे दर्जे का टिकट लिया। यद्यपि अभी बर्फ नहीं दिखाई पड़ रही थी, लेकिन हरियाली कहीं नहीं थी। किसान खेतों को जोत रहे थे। यहाँ की किसान औरतें अपने लम्बे-लम्बे बालों को वैसे ही रखे थीं। पेरिस और लन्दन की तरह उन्होंने काटकर पटा नहीं बना लिया था। पहाड़ वृक्षों से ढके हुए थे। 4 बजे हम मारबुर्ग पहुँचे। ट्राम पर चढ़के होटल में गए। थोड़ा ठहरके मैं डाक्टर ओटो के घर पर गया। उनका घर पहाड़ पर थोड़ा ऊँचे था। पाँच घंटे हमारी शास्त्र-चर्चा चलती रही। कभी पाली और बौद्धधर्म, कभी महायान, कभी रामानुज का विशिष्टाद्वैत वेदान्त और कभी आर्यों का अश्वपालन, ये सब हमारे वार्तालाप के विषय थे।

2 दिसम्बर को मुझे मारबुर्ग में ही रहना था। सबेरे रोटी, मक्खन और काफी का नाश्ता हुआ। होटल में नहाने का इन्तजाम नहीं था। हम दोपहर के भोजन के लिए डा. ओटो के घर पर गए। मांस, उबले हुए आलू, गोभी और दूसरे कई तरह के पदार्थ थे। वहाँ से आकर होटल में थोड़ा विश्राम किया। 3 बजे बाद कितायामा अपने साथ मुझे विश्वविद्यालय ले गए। डाक्टर ओटो जाड़े की छुट्टियों में इटली के लिए रवाना होनेवाले थे, इसलिए आज 4-5 सौ शिष्य-शिष्याओं की मंडली उनके व्याख्यान को सुनने के लिए एकत्रित हुई थी। डाक्टर ओटो ने आज महात्मा गाँधी के बारे में भाषण दिया। मैं भी पीला कपड़ा पहिने वहाँ बैठा था। श्रोताओं को जिज्ञासा थी, उन्होंने मेरे बारे में भी कुछ कहा। चाय-पान के बाद वह अपने धार्मिक संग्रहालय को दिखलाने के लिए ले गए। वहाँ बौद्ध, हिन्दू, यहूदी, ईसाई और मुसल्मान पाँचों धर्मों की पूजा की चीजें–पुस्तकें, पूजाभाण्ड, मूर्तियाँ और चित्रपट–बाकायदा सजाकर रखे हुए थे। मैंने तिब्बत से लाए जिन चित्रपटों और पुस्तकों को सीलोन से उनके लिए भेजा था, वह भी वहाँ रखे हुए थे।

पेरिस से तिब्बती चित्र यहाँ आनेवाले थे, डाक्टर ओटो उनकी प्रदर्शनी के लिए बहुत उत्सुक थे–पेरिस में भी उन चित्रों की प्रदर्शनी मूजीग्वी में हुई थी, और दर्शकों ने बड़ी तारीफ की थी, लेकिन चित्रपट अभी मारबुर्ग नहीं पहुँचे थे। 3 तारीख को डा. ओटो से शास्त्र-चर्चा रही। आज ही वह इटली जानेवाले थे, और मैं भी सोवियत जाने की आशा बाँधे बर्लिन पहुँचने की जल्दी में था।

पौने 5 बजे की गाड़ी पकड़ पौने दो घंटे में फ्रॉंकफुर्त पहुँच गए। स्टेशन से मोटर ले इन्द्रबहादुरजी के घर पहुँचा। आज भारतीय मित्र-मण्डल की बैठक थी। मुझे भी वहाँ कुछ बोलना पड़ा। 11 तारीख तक अब यहीं रहना था। 4 तारीख की रात को हम दोनों शहर घूमने गए। पीले कपड़े का प्रदर्शन न करने के लिए मैंने इन्द्रबहादुरजी का ओवरकोट पहन लिया–वस्तुतः वह ओवरकोट नहीं, बल्कि घर के भीतर पहना जाने वाला कोट था। उसको पहनकर बाहर निकलना देशाचार-विरुद्ध था। खैर, हम लोग सड़क पर घूमते रहे। आज अतवार का दिन था, सड़क पर बड़ी भीड़ थी, बिजली के प्रदीपों को वृक्षों में इतना ज्यादा लगाया गया था, कि जान पड़ता था वह विद्युत्-प्रदीपों का झाड़ है। जहाँ-तहाँ कुछ जवान औरतें खड़ी थीं। इन्द्रबहादुर हर जगह उन्हें दिखलाते हुए कहते–ये वेश्याएँ हैं। हर 10 कदम पर चार-पाँच वेश्या खड़ी हैं, इसका मुझे विश्वास नहीं हुआ, और आठ-दस बार दुहराने के बाद मैंने कह दिया–रहने दो, मुझे बनाओ मत। फिर क्या था, हम एक गली के रास्ते जा रहे थे, उन्होंने इशारा कर दिया, औरतों ने मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरे पास जर्मन शब्दों की जो पूँजी थी, उसमें 'नाइन' (नाही) बस यही मुँह से निकल रहा था। मैंने इन्द्रबहादुर के हाथ जोड़े, तब जान बचा के निकल पाया।

5 तारीख को आनन्दजी का पत्र आया। उन्होंने लिखा कि महाबोधि सभावालों का बहुत आग्रह है, कि आके लन्दन में रहें और फिर अमेरिका जायँ। लेकिन यूरप का पूँजीवादी जीवन मुझे बहुत रूखा मालूम होता था। मैंने समझा जो देखना था, सो देख लिया, अमेरिका में भी यही लोग और यही चीजें हैं, इसलिए फिजूल का समय बर्बाद नहीं करना चाहिए। यात्रा का तो मैं बचपन ही से भारी प्रेमी हूँ, फिर यात्रा में यह अनासक्ति

क्यों हुई ? इसीलिए कि वह साहस-यात्रा नहीं थी, एक आराम की यात्रा थी। रेल, मोटर, जहाज से चलना, कोठियों में रहना, कहीं अमीरों के विलास को देखकर कुढ़ना, और कहीं गरीबों के दुःख को देखकर जलना। मैंने लिख दिया कि मैं अब देश ही लौटूँगा। हाँ, इच्छा रूस जाने की तो वैसी ही प्रचण्ड थी, फ्रौंकफुर्त में रहते दस पौण्ड और आ गए, इसलिए यात्रा के लिए पैसों की कुछ निश्चिन्तिता होती जा रही थी।

डाक्टर ओटो ने एक स्विस् महिला (Olga Frobe Keptyr) के बनाए हुए कुछ रंगीन ज्यामितीय चित्र दिखलाए। उन्होंने कहा था कि यह महिला स्वप्न-समाधि में ऐसे चित्रों को देखती है, और उसी को पीछे कागज पर अंकित करती है। उन्होंने मेरी राय पूछी, तो मैंने कहा कि इनमें से कुछ चित्र तिब्बती मंडल-चक्र से मिलते हैं। उन्होंने यह भी कहा कि वह महिला आपसे मिलना चाहती है। 6 तारीख को स्विस् महिला का तार मिला, कि वह अगले दिन आ रही है। खैर, अभी तो मुझे वहाँ रहना ही था। दूसरे दिन (7 दिसंबर) को 4 बजे वह आईं। देर तक उनसे बात होती रही। योग में उनकी बड़ी श्रद्धा थी और कुछ योग किया करती थीं। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनके घर पर चलूँ। योगियों के हथकंडों से मैं वाकिफ था। मेरी प्रकृति इतनी बुद्धिप्रधान है कि मैं आत्मसम्मोहन (Self-hypnotization) नहीं कर सकता था, लेकिन दूसरों को समाधि लगवा देना कोई मुश्किल नहीं था। लेकिन मैं हृदय-हीन चिरनाटक को खेलने के लिए तैयार नहीं। विद्यासंबंधी अनुसंधान ही मुझे प्रिय है। महिला ने ध्यान में उन रंगों को देखा था, मैं बोधगया के मंदिर और कौन-कौन से शहर सम्मोहन द्वारा दूसरों को लदाख में दिखला चुका था, और जानता था, कि हर एक देखे-सुने संस्कार चित्र की एकाग्रता से भौतिक रूप धारण किए दिखलाई पड़ते हैं। तिब्बत के भी सिद्धों को मैं देख चुका था। मैंने महिला के चित्रों के बारे में जो व्याख्या की, उससे वह बहुत सन्तुष्ट हुईं।

अगले दिन मैंने विश्वविद्यालय देखा, सब चीजों में बड़ी बाकायदगी थी। संस्कृत और दूसरी प्राच्य विद्याओं के पढ़ाने का इंतिजाम था। श्री सत्यनारायणसिंह (छपरा) यहीं पढ़ रहे थे, लेकिन वह ठहरे एक नम्बर के घुमक्कड़। आजकल वह नारवे-स्वीडन की ओर चक्कर लगा रहे थे।

अतवार को मध्याह्न-भोजन के बाद शहर के पुराने भाग को देखने गए। उस घर को भी देखा, जिसमें महाकवि गेटे पैदा हुए थे। पुराने फ्रौंकफुर्त की गलियाँ बनारस की गलियों जैसी टेढ़ी-मेढ़ी और सँकरी थीं, लेकिन उतनी गन्दी नहीं। फिर हम राइन नदी के किनारे-किनारे देवदार वृक्षों के साथ घूमते रहे। आज सर्दी बहुत तेज थी।

शाम को मारबुर्ग विद्यालय के प्रोफेसर फ्रिक मिलने आए। वह धर्म के अध्यापक थे। उन्होंने बतलाया, दुनिया में ऐसे खतरनाक ख्यालात फैल रहे हैं कि अगर सावधानी न की गई तो धर्म लुप्त हो जाएँगे। इस वक्त धर्मों की आपसी प्रतिद्वंदिता का समय नहीं है, सभी धर्मों को मिलकर नए खतरे का सामना करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा कि हमें आपस में छात्रों का परिवर्तन करना चाहिए। विश्वविद्यालय आपस में छात्रों का परिवर्तन करें, इसे तो मैं पसन्द करता था, लेकिन धर्मों की नाव डूब जाय, इस पर एक बूँद आँसू बहाने के लिए मैं तैयार नहीं था; तो भी मैं शिष्टाचार के नाते उनसे बातें करता रहा। उन्होंने एक दिन के लिए मारबुर्ग आने को कहा, लेकिन मैंने यह कहकर क्षमा माँग ली, कि मैं कल ही बर्लिन जा रहा हूँ।

आदमी जीवनयात्रा में कितने ही सहृदय नर-नारियों से मिलता है, उनसे कितनी ही सहायता और सहानुभूति पाता है। इन उपकारों का बदला चुकाना आदमी की शक्ति से बाहर की चीज है। मैं नहीं समझता, क्यों आदमी की प्रकृति को इतना स्वार्थपूर्ण चित्रित किया जाता है। मैं यह मानता हूँ, कि स्वार्थ के पीछे अन्धे हो गए आदमी भी मिलते हैं, लेकिन यदि आदमी केवल स्वार्थमय होता, तो किसी की जीवन-यात्रा में जरा भी माधुर्य नहीं रह जाता। मैं तो जब अपनी जीवन-यात्रा को याद करता हूँ, तो हजारों स्नेहपूर्ण चेहरे आँखों के सामने घूमने लगते हैं। मैं मन ही मन उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, उनके उपकार से उऋण होना असम्भव है। मनुष्य में जो स्वार्थान्धता आती है, उसे भी मैं उसकी स्वाभाविक प्रकृति नहीं मानता। उसकी निन्नानवे सैकड़ा जिम्मेवारी है आज के समाज की बनावट पर। अगर यह स्वार्थान्धतापूर्ण बनावट हट जाय, तो मानव सचमुच ही दिव्य दिखलाई पड़ने लगेगा।

12 दिसम्बर को, अभी पेरिस से चित्रपट नहीं आए थे, रात को पौने ग्यारह बजे की गाड़ी से बर्लिन के लिए रवाना हुआ। किराया था 24 मार्क (प्रायः 18 रुपये)। बर्लिन यहाँ से 600 किलोमीतर (400 मील) से ज्यादा है। डब्बे में भीड़ नहीं थी, और मैं सोता चला गया। चाँदनी रात में ऊँची-नीची जमीन और पहाड़ दिखलाई पड़ रहे थे। कहीं-कहीं जुते हुए खेत थे, लेकिन अभी जमीन पर बरफ नहीं थी।

13 दिसम्बर को 7 बजे अनटेनहलट स्टेशन पर पहुँचे। एक तरुण के साथ कुमारी वर्था डालके स्टेशन पर आई हुई थीं। मुझे बर्लिन में नहीं फ्रोनों के बुद्ध-भवन में रहना था। स्टेशन से मोटर द्वारा बिजलीवाले स्टेशन पर पहुँचे, फिर फ्रोनों स्टेशन पर पहुँच गए। फ्रोनों बर्लिन का उपनगर है। जर्मनी के चिकित्सक और प्रसिद्ध विद्वान डा. पाल डालके ने एक छोटी-सी पहाड़ी पर इस बौद्ध-विहार को बनवाया था। पहाड़ी ज्यादातर मिट्टी से ढँकी हुई है, उस पर देवदार के वृक्ष हैं। इन्हीं में अलग-अलग निवास भवन, बुद्ध-मन्दिर, समाधि-भवन आदि कई भवन बने हुए हैं। डा. डालके ने चाहा था, कि इस मकान का एक ट्रस्ट बन जाय, लेकिन वैसा करने से पहिले उनका देहान्त हो गया। अब यह उनकी तीन बहनों, अनुजवधू, और भतीजे की सम्पत्ति है। बहनें, खासकर के वर्था, कोशिश करती हैं कि उनके भाई की यह कीर्त्ति बौद्ध धार्मिक केन्द्र के रूप में रहे। रास्ते में हमने मजदूरों के छोटे-छोटे घर देखे, जिनके ऊपर लाल झंडा फहरा रहा था। घर पर डालके परिवार ने मेरा स्वागत किया। वहाँ मुझे श्री जुनूजी सकाकिबारा मिले। सकाकिबारा जापान के सिन्सू सम्प्रदाय के तरुण पुरोहित थे। वह यहाँ पढ़ने के लिए आए हुए थे। मैंने स्नान भोजन के बाद विश्राम किया। 7 बजे शाम को 50 बुद्ध भक्तों की सभा हुई। डाक्टर ब्रूनो ने भाषण दिया, और मैंने भी। वहाँ एक लाहौर के मौलवी साहेब भी आए थे, जो इसलाम-धर्म का प्रचार कर रहे थे।

जहाँ पीले कपड़े को देखकर ख्वाहमख्वाह सैकड़ों आँखें चकित हो देखने लगें, जहाँ की भाषा भी न मालूम हो और फिर बर्लिन जैसा शहर, जहाँ जाने में रास्ते में कई स्टेशन बदलने हों, वहाँ अकेले यात्रा करने में दिक्कत जरूर मालूम होती है। 14 के मध्याह्न-भोजन के बाद मैं फ्रोनों स्टेशन से सवार होकर बर्लिन गया। यूनीवर्सिटी के तरुण छात्र औसूटेर स्टेशन पर ही मिल गए। उनके साथ दूसरी गाड़ी बदल शर्लोटनबेर्ग स्टेशन पर पहुँचे। मैं आज बर्लिन वस्तुतः आया था सोवियत जाने के लिए कोई प्रबन्ध करने। सरोजनी नायडू के पुत्र बाबा नायडू, भगिनी पति नम्बियर और दूसरे कितने ही भारतीय कम्यूनिस्ट बर्लिन में रहते हैं, यह मैंने सुना था। नम्बियर प्रमुख थे। मैं उनके पास मिलने के लिए गया। लेकिन वह घर पर नहीं थे। टेलीफून से बात करने पर उन्होंने एक रेस्तोराँ में आकर मिलने का वक्त दिया। मैं वहाँ चला गया। पचीसों आदमी वहाँ भोजन कर रहे थे, यद्यपि मैं कोने में जाकर बैठा, लेकिन मेरे कपड़ों पर सभी की नजरें केन्द्रित थीं। जान पड़ता था शरीर में उतनी सूइयाँ चुभोई जा रही हैं। ढाई घंटा बाद नम्बियर ने खबर भेजी, कि आज मुझे मिलने की छुट्टी नहीं। यह मैं मानता था, कि भारतीय कम्यूनिस्टों के पीछे विदेश में भी ब्रिटिश सरकार हाथ धोकर पड़ी रहती है, उनके चर बराबर पीछा करते रहते हैं। उनको यह सन्देह होना आवश्यक था, कि यह आदमी शायद अंग्रेजों का आदमी हो। ऐसा ख्याल आना बिल्कुल ठीक था, लेकिन दूसरी ओर भी ख्याल करना होगा—हो सकता है मिलनेवाला आदमी ईमानदार हो, हमारे ही विचारोंवाला हो, हमारे ही तरह उसे भी गुप्तचरों (अँगरेजी) से बचकर रहना हो। फिर उसको मिलने के लिए हमने समय दिया है, वह अजनबी की तरह, चिड़ियाघर के जानवर की तरह लोगों की भीड़ में बैठा रहा। ढाई-ढाई घंटे इन्तजार करता रहा, ऐसे आदमी से दो मिनट बोले बिना खबर भेज देना कि मुझे आने की छुट्टी नहीं है, क्या इसे भद्रोचित कहा जा सकता है ? मैं किसी नम्बियर की परवाह नहीं करता, लेकिन सोवियत भूमि देखने के लिए बेकरार था। किसी ने बतलाया कि नम्बियर की मदद से, वहाँ जाने का इन्तजाम हो सकता है। अपार क्षोभ के साथ मैं उस भोजनशाला से बाहर निकला। जहाँ-तहाँ पता लगाकर लखनऊ निवासी अपने मित्र रामचन्द्रसिंह से मिला। रामचन्द्रसिंह लखनऊ यूनीवर्सिटी के एक बहुत ही होनहार विद्यार्थी थे। एम. एस. सी. करके वह बर्लिन विश्वविद्यालय में आइन्-स्टाइन् के नीचे अनुसन्धान कर रहे थे। उनका जीवन भी बड़ा ही शोकपूर्ण जीवन है। डी. एस. सी. की समाप्ति के लिए कुछ ही महीने रह गये थे। हिटलर ने जर्मनी का शासन हाथ में ले यहूदियों पर जुल्म के पहाड़ ढाने शुरू

किये। आइन्-स्टाइन् को जर्मनी छोड़कर भाग जाना पड़ा। रामचन्द्र का अनुसन्धान भी खटाई में पड़ा रह गया। साइंस का रास्ता छोड़कर उन्होंने अब कभी किसी कम्पनी की एजेंसी ली, कभी वकालत शुरू करनी चाही, कभी कोई जीविका का दूसरा रास्ता अपनाया। रामचन्द्र जर्मन फासिस्टवाद के शिकार हुए, उसके साथ ही आज की हमारी सामाजिक व्यवस्था के भी। यदि अपने विषय में लगा रहता, तो साइंसज्ञान की वृद्धि में, देश की समृद्धि में जो भारी सहायक होता, उस मस्तिष्क ने एक ओर अपनी सारी महत्त्वाकांक्षाओं को धूल में मिलते देखा, दूसरी ओर उसे नून-तेल लकड़ी के लिए उन कामों को करना पड़ा, जिनके लिए उसने अपने को कभी तैयार नहीं किया था। फिर यदि वीणा के तार उतर जाएँ, तो आश्चर्य क्या है। वस्तुतः ऐसी प्रतिभाओं को व्यर्थ करने का जो प्रयत्न वर्त्तमान सामाजिक व्यवस्था करती है, उसे देखकर दिल खौल उठता है, और चाहता है कि इस समाज की ईंट से ईंट बजा दें। रामचन्द्र-ऐसे मेधावी छात्र विश्ववंद्य गुरु के चले जाने के कारण एक ओर तरद्दुद में पड़ते हैं, खर्च-वर्च की अलग दिक्कत होती है और वह अपने काम को पूरा नहीं कर पाते। दूसरी ओर गधों के लड़के गधे सिर्फ सोने, चाँदी के बल पर आक्सफोर्ड केम्ब्रिज में पानी की तरह रुपये बहाते अपना समय और दूसरों का समय बरबाद करते हैं।

रामचन्द्र की बीवी कमला भी दो बरस से बर्लिन में ही थीं। उनका नैहर पटना है। उन्होंने सिर्फ हिन्दी पढ़ी थी। रामचन्द्र ने पत्नी को वहीं बुला लिया, और अब तो वह जर्मन भाषा खूब बोलती-पढ़ती हैं, अँगरेजी भाषा बेचारी नहीं जानतीं। दोनों पति-पत्नी बड़े प्रेम से रहते और कम से कम खर्च पर गुजारा करते थे। रामचन्द्रजी ने बतलाया कि 150 मार्क में लेनिनग्राड की यात्रा हो सकती है–जाना-आना दोनों। मेरे पास 250 मार्क के करीब थे, इसलिए जहाँ तक पैसे का सवाल था, मैं निश्चिंत था। उन्होंने कहा कि मैं यात्रा के बारे में पूछ-पाँछकर जो इन्तजाम हो सकेगा, करूँगा। रामचन्द्र स्वयं सोवियत नहीं गये थे, क्योंकि सोवियत चले जाने पर पीछे भारत आने में सरकार रुकावट डालती। लेकिन कमला वहाँ हो आई थीं। रामचन्द्रजी ने भी सोवियत के बारे में बहुत पढ़ा और सुना था, और उसके बड़े पक्षपाती थे। मैंने अपनी किताब 'बाईसवीं सदी' उन्हें दी; उस वक्त रूस में प्रथम पंचवार्षिक योजना बड़ी सफलता के साथ समाप्ति पर पहुँच रही थी। उन्होंने पुस्तक पढ़कर कहा–कैसे आपने इन बातों की कल्पना की, जिन पर सोवियत की योजना आज अमल कर रही है। मेरे लिए यह कल्पना कोई मुश्किल नहीं थी। यद्यपि मैंने अपनी पुस्तक को 1923-24 में समाप्त किया था, किन्तु समय की कमी थी, नहीं तो 'बाईसवीं सदी' को 1918 या 1922 में समाप्त कर चुका होता। आखिर जब आप इन सिद्धान्तों को मान लेते हैं कि सारे देश का एक परिवार हो, देश की सारी सम्पत्ति पर उस विशाल परिवार का अधिकार हो, साइंस के नये से नये अनुसन्धानों को जल्दी से जल्दी अपनाने के लिए वह परिवार बेकरार है, तो चाहे आदमी ने मार्क्स और मार्क्सवादियों को न भी पढ़ा हो, वह वैसे ही, गाँवों, नगरों, खेती-बारी, बाग-बगीचों, विद्याशाला, रंगशाला इत्यादि की कल्पना करेगा।

रात को फ्रोनों लौटते वक्त ट्रेन को कई जगह बदलना था, रामचन्द्रजी ने अन्तिम परिवर्तन-स्टेशन तक मुझे पहुँचा दिया, और मैं आधी रात को बुद्धभवन में लौट आया।

उस वक्त नम्बियर के बर्ताव से एक ओर चित्त खिन्न था, और दूसरी ओर रामचन्द्र के सौहार्द से हृदय स्नेह-सिक्त।

16 दिसम्बर को मैं और सकाकिवारा दोनों साथ बर्लिन गये। रामचन्द्रजी ने बतलाया कि 28 जनवरी से पहिले लेनिनग्राड जाने का इन्तजाम नहीं हो सकता, और यह भी बतलाया कि मैं एक हफ्ते पहिले आया होता तो आसानी से जा सकता था।

लन्दन में एक सिंहल तरुण ने मुझे एक जर्मन कम्यूनिस्ट का पता दे दिया था। मैंने उन्हें एक पोस्टकार्ड पर लिख दिया, और दूसरे-तीसरे दिन देखा, कि एक हट्टा-कट्टा आदमी नंगे सर साधारण मजदूरों जैसा चमड़े का कोट पहने दोनों हाथों में पन्द्रह-पन्द्रह सेर के बेग लटकाये हमारे सामने खड़ा है। उसने अपना परिचय दिया। उनकी शकल-सूरत देख हम मजदूर छोड़ और कुछ नहीं कह सकते थे। लेकिन वह पी. एच. डी. (दर्शन-आचार्य) थे, और बोलचाल बर्ताव में तो और भी मधुर थे। हम देर तक बातें करते रहे। सोवियत-यात्रा

के बारे में इस वक्त कोई प्रबन्ध न कर सकने के लिए उन्हें बहुत खेद था। कुछ दिनों बाद (22 दिसम्बर) को मैं रामचन्द्रजी के साथ जीमान कम्पनी के विशाल कारखाने को देखकर झुटपुटा होते समय सड़क से जा रहा था, उस वक्त किसी ने पीछे से आवाज दी। मैंने देखा, वही चर्मकंचुकधारिणी विशालमूर्त्ति मेरे पास आ रही है। उन्होंने हाथ मिलाया। मैं सोचने लगा, यह भी कम्यूनिस्ट है, और नमूबियर जैसे भी हैं। हाँ, एक बात कहना भूल गया, कि कमला ने जब मेरे बारे में उन्हें कुछ बतलाया, तो मिलने के लिए आग्रह होने लगा, किन्तु मैं फिर वहाँ नहीं गया।

ज्यादातर मैं बुद्धभवन में रहता। कभी सकाकिवारा से बात होती, और कभी वर्था से। बुद्धभवन को बर्मा के उत्तम भिक्षु खरीद लेना चाहते थे। डालके परिवार भी उसे बेंचने के लिए तैयार था। शायद यूरोपीय ढंग से मकान होते, तो दूसरे खरीदनेवाले भी आसानी से मिल जाते। लेकिन वहाँ कोई मकान चीनी ढंग का था, तो कोई बर्मी ढंग का, कोई भारतीय ढंग का तो कोई लंका जैसा। भिक्षु उत्तम स्वयं जर्मनी इस काम के लिए आना चाहते थे, लेकिन सरकार उन्हें आने के लिए पासपोर्ट नहीं देती थी। डालके आज-कल करते-करते मकान का ट्रस्ट नहीं बना सके। भिक्षु उत्तम आज-कल करते उसे खरीद नहीं सके।

जर्मनी के शिक्षित मध्यम-वर्ग में बुद्ध के प्रति अनुराग रखनेवाले आदमियों की बहुत काफी तादाद थी। संस्कृत और पाली भाषाओं के बड़े-बड़े विद्वान जर्मनी में पैदा हुए। उन्होंने हजारों ग्रंथों का सम्पादन और अनुवाद किया। उन्हें मालूम हुआ कि एक ऐसा भी व्यक्ति संसार में पैदा हुआ था, जिसके जीवन में ईसा से भी ज्यादा स्नेह, माधुर्य और सादगी थी, जिसकी प्रतिभा कितनी ही बातों में ढाई हजार बरस बाद आज भी बिल्कुल ताजी है। ऐसे व्यक्ति के प्रति निम्न-मध्यम-वर्ग के शिक्षितों का आकृष्ट होना स्वाभाविक है। यदि वे अधिक धनी होते, तो उन्हें ऐसे धर्म की जरूरत होती, जिसके द्वारा साधारण जनता की आँखों में ज्यादा धूल झोंकी जा सकती, और ऐसा धर्म वही हो सकता है, जिसको सैकड़ों वर्षों से अपनाकर जनता हजारों परम्पराओं और मिथ्या विश्वासों का ताना-बाना अपने गिर्द घेर चुकी है। यदि वे सम्पत्तिहीन मजूर-वर्ग के होते, तो ध्यान और निर्वाण के शराब के नशे में गर्क होने की जगह कोई बेहतर काम अपने हाथ में लेते, जिससे संसार में लोगों का जीवन अधिक सुखपूर्ण हो सकता।

डाक्टर डालके की तरह और भी कितने ही जर्मन शिक्षित थे, जो बुद्ध की ओर आकृष्ट हुए थे। सीलोन में दोडन्दुव के दीप को जर्मन भिक्षुओं ने एक विहार के रूप में परिणत कर दिया था और वहाँ के स्थविर ज्ञानातिलोक ने अपनी मातृभाषा जर्मन में कई-कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ बौद्धधर्म पर लिखे थे। डालके की कलम तो और भी जोरदार थी और उन्होंने आधे दर्जन से अधिक बहुत ही अच्छे ग्रन्थ लिखे थे। जर्मनी के शहरों में सभी जगह बुद्ध के भक्त मिलते थे। उनमें प्रोफेसर और डाक्टर भी काफी थे। डाक्टर स्टाइन् थे तो अर्थशास्त्र के प्रोफेसर, लेकिन उन्होंने बौद्धधर्म का अच्छा अध्ययन किया था और अपनी वाणी द्वारा उसका खूब प्रचार भी किया था। दो-तीन बार मुझसे उनकी बात हुई थी। डाक्टर डालके ने जर्मनी के उत्तरवाले समुद्रतट पर भी एक छोटा-सा बुद्धभवन स्थापित किया था। अब जाड़े का मध्य आ गया था। सर्दी खूब पड़ रही थी, लेकिन हमारे पास फलालैन का चीवर था, इसलिए सर्दी की कोई चिन्ता नहीं थी।

रामचन्द्रजी ने जीमान के कारखाने को देखने का इंतजाम किया था। दुनिया में बिजली-सम्बन्धी यन्त्रों के बनाने का यह सबसे बड़ा कारखाना था। 22 दिसम्बर को रामचन्द्रजी मुझको लेकर वहाँ गये। कारखाना क्या, एक पूरा शहर था। दो साल पहिले यहाँ एक लाख बीस हजार काम करनेवाले थे। विश्वव्यापी मन्दी के कारण 40 हजार लोगों को जवाब दे देना पड़ा। कारखाने के मैनेजर ने हमें अपनी मोटर और एक पथप्रदर्शक दे दिया। हम घूम-घूमकर कारखाने के भिन्न-भिन्न विभागों और मजदूरों के घरों को देखते रहे। शाम को रामचन्द्रजी के घर पर ठहरे। उनके घर की मालकिन एक जर्मन जरनैल की लड़की थीं। पच्छिमी देशों में लड़कियों का ब्याह इतना आसान नहीं, इसलिए वृद्धा, प्रौढ़ा, कुमारियाँ बहुत देखी जाती हैं। कुछ साल पहिले जब जर्मन सिक्का मार्क मिट्टी के मोल का हो गया, उस वक्त बाप के जमा किये हुए पैसे बैंक में रखे-रखे हवा हो गये। और महाधनी जरनैल की लड़की को जीविका का कोई अवलम्ब नहीं रह गया। उसने 4, 5 कमरे मकानवाले

से किराये में लिया और अब उन कमरों को किराये पर दे तथा किरायादारों के चाय-पानी का इन्तिजाम करके वह अपनी जीविका चला रही थी। तीन दिन बाद बड़ा दिन, ईसाइयों का सबसे बड़ा पर्व, आ रहा था, इसके लिए घर-घर में तैयारी हो रही थी। गृह-पत्नी ने जिस कमरे में मेरे सोने का इन्तजाम किया था, उसमें ईसा के जन्म की झाँकी दिखलाने के लिए भेड़ें और माँ-बाप मरियम तथा जोजफ (यूसुफ) की छोटी-छोटी मूर्त्तियाँ बनाकर रखी हुई थीं।

दूसरे दिन (23 दिसम्बर) हम बर्लिन के विश्वविद्यालय और बहुत-से संग्रहालयों (म्युजियम) को देखने गये। जर्मनी में विद्या का बहुत प्रेम है। साइंस की हरेक शाखा में जर्मनों की देन बहुत ज्यादा है, पूर्वी भाषाओं और संस्कृति के अध्ययन में वह सदा आगे रहे हैं। उनके संग्रहालयों में चीजों को बहुत अच्छी तरह सजाया गया है, लन्दन और पेरिस की तरह उनको सूचीपत्र की भाँति पाँती से रख नहीं दिया गया है, बल्कि जिस तरह दर्शकों को उनके बारे में ज्यादा से ज्यादा ज्ञान हो सकता है, उस क्रम से उन्हें रखा गया है। मध्य-एसिया के भित्तिचित्रों को, उनके वातावरण को दिखलाने के लिए मन्दिर खड़ा करके दीवारों में लगा दिया गया है।

टामस कुक ने चित्रपटों का जिम्मा लेना स्वीकार कर लिया, इसलिए मैं उनकी तरफ से निश्चिन्त था।

जर्मनी में आठ साल की पढ़ाई अनिवार्य है, फिर 5 साल हाईस्कूल में पढ़ना अपनी इच्छा और शक्ति पर निर्भर है। 13 बरस बाद हाईस्कूल की परीक्षा खतम करके विद्यार्थी विश्वविद्यालय में जाता है, और वहाँ तीन साल में पी. एच. डी. की उपाधि प्राप्त करता है।

आज (24 दिसम्बर) बड़े दिन की पहिलेवाली रात्रि है। हमारे यहाँ भी डालके परिवार ने देवदारु की शाखा गाड़ी थी, उस पर बहुत से चिराग जल रहे थे। लोग इष्ट-मित्र और बच्चों को भेंट दे रहे थे। ईसाई धर्म स्वीकार करने से पहिले भी जर्मनी में ऐसा उत्सव मनाया जाता था, जो सूर्य के उत्तरायण के आरम्भ के उपलक्ष में होता था।

24 को ही लन्दन से तार आ गया, कि मारसेई में 'फेलीरुसल' फ्रेंच जहाज से यात्रा करने का प्रबन्ध किया गया।

25 दिसम्बर··· आज बड़ा दिन था। 7 बजे मैंने फ्रोनों छोड़ा। 62 मार्क (1 रुपया बराबर 1 मार्क) में बर्लिन से मारसेई नगर का टिकट मिला। रास्ते में पहाड़ों के ऊपर और नीचे भी अब बरफ दिखलाई पड़ती थी। 5 बजे शाम को मैं फ्राँकफुर्त पहुँचा। इन्द्रबहादुर के मकान पर जाने पर मालूम हुआ कि वह छुट्टियों में बाहर चले गये हैं। डा. लाल भी घर पर नहीं थे। भाषा की मुश्किल भी सिर पर थी। बहुत इधर-उधर चक्कर काटा, अन्त में 3 दिन के लिए 12 मार्क (12 रुपया) देकर एक कमरा किराये पर मिला। दूसरे दिन (26 दिसम्बर) इन्द्रबहादुर आ गये। फ्राँकफुर्त में अब कोई नई चीज तो देखनी थी नहीं, लेकिन तो भी शहर में घूमते रहे। हिटलर के, नाजियों का जोर पहिले से कुछ कम हो रहा है, यही सब बतलाते थे। बर्लिन में मैंने स्टेशनों के बाहर नाजियों को मुसाफिरों से चन्दा माँगते देखा। जान पड़ रहा था, यदि जल्दी ही कुछ और नहीं हुआ तो जैसे सोशलिस्टों से लोग उदास होने लगे, वही हालत नाजियों की भी होगी, लेकिन इस बात को अब जर्मनी के जागीरदारों को समझाना था। पूँजीपतियों ने तो अपनी थैली खोल दी थी, क्योंकि कम्युनिस्टों के प्रभाव को बढ़ते हुए देखकर वह बहुत भयभीत थे। जर्मन जागीरदार जर्मन सेना के सर्वेसर्वा रहे हैं, आज भी उन्हीं जागीरदारों का आदमी हिन्डनबर्ग जर्मन प्रजातंत्र का राष्ट्रपति था। अभी जागीरदारों की नजर राजवंश पर थी। यद्यपि राजवंश की जागीरें अब भी सुरक्षित थीं, लेकिन उसके राजप्रासाद अब सरकार के हाथों में थे। भूतपूर्व कैसर हालेण्ड में दिन काट रहा था। जर्मनी छोड़ने के महीने-भर बाद ही हिन्डनबर्ग ने अपने वर्ग के भविष्य पर अच्छी तरह विचार करके हिटलर को शासन की बागडोर थमाई, और वह दुनिया को पिछले महायुद्ध से भी भयंकर खूनीजंग में ढकेलने के लिए तैयारी करने लगा।

28 दिसम्बर को 5 बजकर 54 मिनट पर मैंने रेल पकड़ी। इन्द्रबहादुरजी से विदाई ली। 9 बजे एक जगह गाड़ी बदली, किन्तु मेरा डब्बा सीधे ही मारसेई जानेवाला था। दूसरे दिन (29 दिसम्बर) मारसेई पहुँचा। मोटर लेकर ब्रिस्टल-होटल में गया। 43 फ्रांक (6 रुपया) दिन पर रहने के लिए कोठरी मिली। जहाज की

कम्पनी मेंसाजिरी मारीतीम के आफिस में गये। वहाँ लन्दन से मेरे लिए सीट सुरक्षित करने की सूचना नहीं आई थी। टामस कूक के यहाँ जाने पर लन्दन का तार मिला, जिसमें लिखा था कि जहाज के टिकिट को रजिस्ट्री चिट्ठी से कल भेज दिया गया। दूसरे ही दिन 'फेलीरुसल' मारसेई से छूटनेवाला था। अगर टिकिट नहीं पहुँचता तो न जाने फिर कितने ही दिनों इन्तजार करना पड़ता।

यूरा^ **से प्रस्थान**–दूसरे दिन (30 दि.) टामस कुक के पास गया। टिकिट आया हुआ था। दिन-रात रहने का मकान और खाना मिलाकर 16 रु. से ऊपर खर्च हुआ। यूरप में चीजें हैं ही सब महँगी। सामान उठवाकर जहाज पर पहुँचा। केबिन अच्छा था, उसमें 4 बर्थ (शैया) थीं, लेकिन आदमी दो ही थे। दूसरे सहयात्री मिस्टर यूअन् चीन के युन्नानप्रान्त के निवासी थे, और अमेरिका से अध्ययन करके लौट रहे थे। हमारा जहाज 4 बजे शाम को रवाना हुआ। इस जहाज में कोई दूसरा हिन्दुस्तानी नहीं था, यूअन् महाशय अँगरेजी बोलते थे। लेकिन वह बोलते बहुत कम थे। अबकी पढ़ने के लिए पुस्तकें भी कोई नहीं थीं। दूसरा दिन (31 दिसम्बर) 1932 का अन्तिम दिन था। मैंने कारसीका और सारदीनियाँ को अपने सामने से हटते देखा। शाम को समुद्र ज्यादा तरंगित हो चला, लेकिन मैं अब अभ्यस्त हो गया था। इसी समय मैंने निश्चय किया कि साधारण हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए साम्यवाद पर कोई पुस्तक लिखनी चाहिए, जिसकी पूर्त्ति मैं दो साल बाद कर सका।

नये वर्ष (1933) का पहला दिन था। आज लोग बहुत उत्सव मना रहे थे, आधी रात के बाद तक नाच-गान होता रहा। पोलैण्ड के लोग ज्यादा जिन्दादिल मालूम होते थे। समुद्र भी जोर लगा रहा था। यूअन् महाशय की तबियत बहुत परेशान थी। दूसरे और तीसरे दिन भी समुद्र बहुत चंचल रहा। यूअन् महाशय को बात करने की कहाँ हिम्मत थी ? हमारे जहाज में पौलण्ड के 30 स्त्री-पुरुष पोर्टसईद तक जा रहे थे, वह यहूदी तीर्थों की यात्रा कर रहे थे। उनमें से कुछ से मैंने परिचय किया, लेकिन बोली की बड़ी दिक्कत थी।

चार जनवरी को 7 बजे सवेरे ही हम पोर्टसईद पहुँचे। वहाँ कोई देखने की चीज नहीं थी, इसलिए मैं जहाज ही पर पड़ा रहा। जहाज में एक ईसाई प्रचारक बाइबिल बेंच रहे थे। उनके पास 14 भाषाओं की बाइबिलें थीं। मैंने 50 फ्रांक (7 रुपये) में सबकी एक-एक प्रति खरीदी। लिथुआनियन भाषा की बाइबिल उनके पास नहीं थी। मैंने उनको दाम दे दिया और पीछे उन्होंने मेरे पास पुस्तक भेज भी दी।

दोपहर बाद एक बजे जहाज स्वेज नहर में दाखिल हुआ। 5 जनवरी को अब सर्दी कम मालूम हो रही थी, हम लालसागर में चल रहे थे। शाम तक एसिया और अफरीका दोनों के पर्वत हमें अगल-बगल में दिखाई पड़ते थे। ज्यादा यात्री पोर्टसईद में उतर गए थे, अब जहाज में बहुत कम यात्री रह गए थे। तीसरे दर्जे में उनकी संख्या दो दर्जन से ज्यादा नहीं थी। खाली समय को मैं किसी काम में लगाना चाहता था। यहीं लालसागर में 5 तारीख को 'डीहबाबा' कहानी लिख डाली। बातचीत करने के लिए एक अनामी दम्पत्ति आ गये थे, जो 5 साल से फ्रांस में कानून पढ़ रहे थे। जैसे-जैसे हम पूरब बढ़ रहे थे, वैसे-वैसे घड़ी की सुइयों को बढ़ाते रहना पड़ रहा था। अब गर्मी मालूम होती थी। जहाँ मारसेई से पोर्टसईद तक हमारे केबिन को गरम रखने का इन्तजाम किया गया था, वहाँ अब हवा फेंकनेवाली कुप्पी चल रही थी। 8 जनवरी को बेतार की खबर ने बतलाया कि राजेन्द्र बाबू गिरफ्तार हो गये। उस दिन शाम को मुझे बुखार आ गया। मैंने निर्जला भूख हड़ताल कर दी, और चौथे दिन 11 तारीख को 72 घंटे बाद नमक के साथ जल पिया। जिबूती को उतर कर देखना था, जहाज 7 बजे से 12 बजे तक (9 जनवरी) वहाँ खड़ा रहा। लेकिन ज्वर के कारण मैं किनारे पर नहीं जा सकता था। 9 तारीख ही से हमारा जहाज हिन्द महासागर में चल रहा था। समुद्र एक-दो दिन चंचल रहा, फिर ठीक हो गया।

चीनी तरुण बड़े विचित्र स्वभाव का मालूम होता था। पोर्टसईद में उसने बहुत-सी गन्दी-गन्दी चीजें खरीदी थीं, और मेरे बीमार होने पर भी इतना हल्ला मचाता था कि केबिन में रहना मुश्किल था। मैंने कभी कुछ नहीं कहा। 12 जनवरी के 102 घंटों के उपवास के बाद मैंने नारंगी का रस लिया। जहाज का स्टीवर्ट बहुत अच्छा था, वह बराबर खाने के लिए पूछा करता था। 13 तक 2, 3 दिन के लिए समुद्र और चंचल हो उठा था। यद्यपि अब बुखार नहीं था, और मैं खाना खाने लगा था, लेकिन मुँह का स्वाद फीका रहता था।

लंका में–16 जनवरी के 9 बजे सवेरे जहाज कोलम्बो में पहुँचा। बन्दर पर मिस्टर एन. डी. यस. सिलूवा, माणिकलाल भाई तथा कुछ दूसरे सज्जन आए हुए थे। सिलूवा महाशय के घर पर जाकर स्नान-भोजन किया। उनके पुत्र विमल अपनी मोटर पर मुझे विद्यालंकार विहार ले जा रहे थे, रास्ते में वह एक जगह मोटर को बाईं-तरफ हटाने लगे, तो मैं उनका हाथ रोकने जा रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य से बाहर सारी दुनियाँ में आदमी को अपने दाहिनी से रास्ता जाना पड़ता है। मैं अभी फ्रांस, जर्मनी में इसे देख आया था, इसीलिए मैं वैसा करने जा रहा था; मुझे ख्याल नहीं आया कि अब ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर आ गया हूँ। इसी तरह की एक गलती और की थी। 30 जनवरी को भारत जाने के लिए मैं कोलम्बो स्टेशन पर गया, वहाँ जाके बड़े इतमीनान से दूसरे दर्जे के जनाने मुसाफिरखाने की कुर्सी पर बैठा। किसी ने आकर बड़ी नम्रता से कहा कि यह स्त्रियों का स्थान है, तब मुझे ख्याल आया कि अब योरप में नहीं हूँ।

कई महीने बाद चारों ओर हरियाली से ढँकी भूमि को देखा। विद्यालंकार के लोग बड़े प्रेम से मिले। देर तक उनसे यात्रा के बारे में बात होती रही। नायक महास्थविर इस समय अनागरिक धर्मपाल को भिक्षु बनाने के लिए लंका के और भिक्षुओं के साथ भारत गये थे। तबियत अभी भी अच्छी नहीं थी। पेट में गड़बड़ी थी। ठंडी जगह से गरम जगह आने में अक्सर ऐसा होता है।

18 जनवरी को अब भी नालन्दा का खब्त मेरे सिर से हटा नहीं था। मैंने उस दिन अपनी डायरी में लिखा था–"अब की जाकर नालन्दा में कुछ भूमि लेने का प्रबन्ध करना है। यदि उसी जगह न हो सका तो मोहनपुर में थोड़ी-सी ले लेंगे और वहीं झोंपड़ी बनेगी। किन्तु (अभी) तो पैसे का कोई भी इन्तिज़ाम नहीं हुआ। 2, 3 हजार रुपयों की जरूरत होगी। जिस वक्त मठ के भरण-पोषण के तरद्‌दुदों का ख्याल आता है, उस वक्त चित्त हिचकिचाने लगता है। स्वतंत्रता जाती रहेगी। धनिकों के आगे हाथ पसारना होगा।"

इस तरद्दुद ने आगे चलकर नालन्दा का ख्याल मेरे दिल से निकाल दिया। मैंने यूरोप जाते वक्त अधीर बनर्जी और वाङ-मो-लम् को यहाँ छोड़ा था। अधीर अपनी अंग्रेजी पढ़ाई में लगे थे। वाङ्-मो-लम् पर एक बार तपेदिक का आक्रमण हो चुका था और वह दुबारा सेनीटोरियम में गये थे, मुझे क्या पता था कि अब फिर अपने मित्र का दर्शन न कर सकूँगा। अब मैं अपने कार्यक्षेत्र को भारत में परिवर्तित करनेवाला था, तिब्बत से लाई पुस्तकों और चित्रपटों को भारत भेजना था। खैर, उसके लिए सिंधिया कम्पनीवाले तैयार थे, और फिर मेरी कितनी ही चीजें लन्दन से आई नहीं थीं। नायक महास्थविर भी हिन्दुस्तान से नहीं लौटे थे। इसलिए अभी कुछ दिनों रुकना था। 'गंगा पुरातत्त्वांक' के संपादन की भी जिम्मेदारी थी। 90 के करीब लेख मेरे पास देखने के लिए आ चुके थे। 23 जनवरी को गंगावालों ने मार्ग-व्यय के लिए 50 रु. भेज भी दिए। 11 बजे नायक महास्थविर भी आ गये।

26 जनवरी को मैं वीरहने के विहार में गया था। दोनों वक्त (सबेरे और दोपहर) मछली में खूब मिर्च डाली गई थी, मिर्च खाने में लंकावाले मदरास से कम नहीं हैं। वहाँ वेजवाड़ा के एक जोतिसी ब्राह्मण मिले। सिंहल में जितना ही अधिक अंग्रेजी पढ़ने-लिखने का जोर है, उतना ही अधिक जोतिस का जोर है। आदमी जितना ही अधिक खर्च बढ़ाता है, आजकल के समाज में उसकी चिन्ता भी उतनी ही बढ़ती है, फिर वह जोतिसियों, हाथ देखनेवालों और मंत्र-तंत्र-विशारदों के हाथ की कठपुतली बनता है। यह आन्ध्राजोतिसी रोज 3, 4 रुपया कमा लेते थे, लेकिन उन्हें इतने से सन्तोष नहीं था, वह चाहते थे कि छप्पर फ़ाड़कर इकट्ठा ही लाख-दो लाख गिरे; इसीलिए वह अपने रुपयों को घुड़दौड़ के जुए में लगाकर फाँकेमस्त रहते। वह बहस करने लगे, कि मांस-मछली खाना धर्म नहीं। मैंने पूछा–"आप किस हैसियत से कह रहे हैं।" उन्होंने कहा–"ब्राह्मण की हैसियत से।" मैंने कहा–"विश्वामित्र, वशिष्ठ, भरद्वाज, गोतम (दीर्घतमा) का आप अपने शरीर में एक बूँद भी खून मानते हैं या नहीं ?" उन्होंने "हाँ" कहा। फिर मैंने पूछा–"फिर जाने दो भाई, गोत्रोच्चार मत करवाओ। हमारे ये बड़े-बड़े ऋषि खड़ी-खड़ी गाय खा जाते थे, डकार तक नहीं लेते थे और तुम चले हो मांस-मछली का वर्जन कराने ! फिर तुम दक्षिणवाले ब्राह्मण वशिष्ठ, विश्वामित्र की जन्मभूमि से सैकड़ों योजन दूर चले आये हो, तुमको क्या पता है कि काशी, और मिथिला के ब्राह्मण मांस-मछली से कितना प्रेम करते हैं।" विहार के भिक्षु को

मेरे जवाब से बड़ा सन्तोष हुआ, क्योंकि जोतिसी ने उनकी नाक में दम कर दिया था।

30 जनवरी को मुझे शाम की गाड़ी से हिन्दुस्तान रवाना होना था। नायक महास्थविर दोपहर को ही किसी जगह धर्मोपदेश करने के लिए जा रहे थे। मैंने प्रणाम करके उनसे छुट्टी ली। मैंने डायरी में लिखा—"विदा होते वक्त (उनकी) आँखों में आँसू आ गये। उनका बड़ा प्रेम है, कौन जानता है, यही अन्तिम दर्शन हो।" सचमुच ही श्री धर्मानन्द नायक महास्थविर का हृदय बहुत ही कोमल था, और मेरे ऊपर तो उनका अपार स्नेह था।

11

भारत के जाड़े में (1933 ई.)

यद्यपि मैंने अपने लेख 'गंगा' के पास भेज दिये थे, किन्तु प्राप्त लेखों के निर्वाचन और सम्पादकीय टिप्पणियों का काम दूर रहते नहीं हो सकता था, और गंगावालों के पत्र पर पत्र आ रहे थे; इसलिए लंका में अधिक रहने की छुट्टी न थी। साथ ही अब मुझे स्थायी तौर से भारत जाना था, इसलिए तिब्बत से लाई अपनी पुस्तकों और सामग्री को भी भारत ले चलना था। मैंने चीजों को पैक कराया, और सिन्धिया कम्पनी ने बिना किराये के उन्हें कलकत्ता भेज देने का जिम्मा लिया। मैं सिर्फ उतने ही दिनों के लिए वहाँ ठहरा।

30 जनवरी (1933) को भारत के लिए रवाना हुआ। अब के मद्रास में म्युजियम देखना तथा दक्षिण हिन्दी प्रचार सभा के कुछ दोस्तों से मिलना था, इसलिए मद्रास में दो-तीन दिनों के लिए ठहर गया। पुरातत्त्व अब मेरा अपना विषय था, उसमें रस आने लगा था—रस आने ही से तो मैं उसके विशाल साहित्य के अवगाहन में व्यस्त हुआ था। मैंने मद्रास म्युजियम के अमरावती, गोली, नागर्जुनीकोंडा से प्राप्त पाषाणशिल्प को बड़े चाव से देखा। एक दिन त्रिपलीकेन के उत्तरार्धीमठ में गया हरिप्रपन्नाचार्य और तिरुमिशी के बारे में जानने के लिए। मठ की स्थापिका बुढ़िया साधुनी अब अन्धी हो गई थी, और वह मेरे स्वर को पहिचान न सकी। मालूम हुआ हरिप्रपन्ना स्वामी अब नहीं रहे, मठ का काम देवराज करते हैं। पुराने सहपाठी और सखा भक्ति (वेंकटाचार्य) को देखने की उत्कट इच्छा प्रकट हुई, किन्तु 'गंगा' के तकाजे से वैसा करना सम्भव न था। अबकी प्रबल इच्छा थी नागार्जुनीकोंडा की खुदाई देखने की। पंडित हरिहर शर्मा और ब्रजनन्दन बाबू ने गुंटूर, अमरावती के लिए पत्र और तार भी दे दिये थे, किन्तु अन्त में दिन गिनने पर उस इच्छा को भी दबाना पड़ा।

मद्रास से (2 फर्वरी) को) रवाना होने पर गाड़ी में एक आन्ध्र वृद्ध ब्राह्मण मिले, उनके एक पैर में कड़ा था। बात आरम्भ करने पर मालूम हुआ, वह संस्कृतज्ञ पंडित भारतीय-नृत्यकला के मर्मज्ञ और स्वयं श्रेष्ठ नर्त्तक हैं। कुछ ही महीने पहिले मैंने भरतनाट्यशास्त्र के नृत्य-सम्बन्धी अध्याय के अनुवाद करने में पेरिस में श्री वर्गांजा को मदद की थी, इसलिए नृत्य की गतियों और आसनों की बहुत कुछ स्मृति थी। उस विषय में मेरा कुछ प्रवेश देखकर, उन्होंने बड़ी रुचि के साथ वार्तालाप जारी रखा।

कलकत्ता में दो-एक दिनों के लिए ठहरते मैं 6 फर्वरी को सुल्तानगंज पहुँचा। धूपनाथ और बाबू देवनारायण वहीं थे, और उनके रहते सुल्तानगंज मुझे घर-सा मालूम होता था। अभी तक जब-जब मैं यहाँ आया, तब-तब निरामिष भोजन करता था, किन्तु अब तक युरोपयात्रा के सम्बन्ध में मेरे कितने ही लेख 'गंगा' में छप चुके थे, जिनमें आनन्दजी के घासाहार का मजाक करते मैंने अपने मांसाहार का वर्णन किया था। धूपनाथ, देवनारायण बाबू और वहाँ रहनेवाला उनका परिवार मांसाहारी था, इसलिए मुझे घासाहार करने की जरूरत न थी।

'पुरातत्त्वांक' में कितने ही लेख छप चुके थे, बाकी में से महत्वपूर्ण लेखों का चुनाव; और पुरातत्त्व क्या सभी विज्ञानों के अवगमन के लिए 'विकासवाद' का जानना जरूरी है, इसलिए वहीं रहते 'भारत में मानवविकास' पर एक लेख लिख डाला। विक्रमशिला की खोज में कहलगाँव और पथपट्टा की एक दिन यात्रा की, किन्तु

वह विक्रमशिला के उपयुक्त स्थान नहीं जँचा। प्राकृतिक अनुकूलता सुल्तानगंज ही के पक्ष में है, जिसे कि डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने भी माना था, किन्तु विक्रमशिला जैसे विहार के अनुरूप यहाँ विस्तृत ध्वंसावशेष नहीं हैं।

'गंगा' के स्वामी कुमारकृष्णानन्द के दर्बार में मैं एकाध ही बार गया। कुमार साहेब का बर्ताव मेरे साथ बहुत नम्रतापूर्ण होता, किन्तु मुझे उनके पास की जमात पर इतनी घृणा थी, कि वहाँ जाना असह्य मालूम होता था। सभी गिद्ध की तरह उनको नोंच खाने के लिए तैयार थे। स्त्री-पुरुष और दो-तीन बच्चों के लिए दस-बारह हजार मासिक कम नहीं हैं, किन्तु इन खुशामदियों को फायदा तो तब था, जब कि वह हर महीने बीस हजार खर्च करें। खर्च के रास्ते ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाले जा रहे थे। कुमार को खुद अपने भले-बुरे समझने के लिए पैनी परख न थी। धूपनाथ एक बार नौकरी छोड़ साधू बनने को तैयार थे, किन्तु पीछे उतना लम्बा कदम न उठा सके और इसमें मेरा भी कुछ हाथ था। वह कुमार साहेब के खजांची सिर्फ नौकरी की साध से नहीं हुए थे, इसीलिए वहाँ के कुत्सित वायुमंडल से वह तंग आ गये थे। वह चाहते थे कुमार को समझावें, किन्तु "जिमि दशनन में जीभ बेचारी" करें क्या ?

सुल्तानगंज से मैंने श्री काशीप्रसाद जायसवाल के पास पत्र लिखा था, जिसका उत्तर इतना आत्मीयता भरा हुआ था, कि मुझे उसकी कभी आशा नहीं हो सकती थी। मैं उनकी विशाल कोठी, भारी साहेबी ठाट को देख चुका था। और वह मेरे भारत में प्रत्यागमन का स्वागत और स्नेहपूर्ण निमन्त्रण भेजते हुए लिख रहे थे, अब तो मैं भी दुनिया से ऊब गया हूँ, और चाहता हूँ, बुद्ध का भिक्षु बनूँ। मैं खुद भिक्षु था, आनन्दजी मेरी सम्मति से भिक्षु हुए, तो भी खास-खास आदर्शवादियों को ही मैं घर की जिम्मेदारी से मुक्त होने की राय दे सकता था। खैर ! यह जानकर मुझे खुशी हुई, कि भारत में भी मेरे लिए एक खुला हृदय है।

9 मार्च को पटना जंकशन पर उतरते वक्त देखा, जायसवालजी प्लेटफार्म पर इन्तिजार कर रहे हैं। मेरे भिक्षु-वस्त्र परिचय देने के लिए काफी थे, और उनके चेहरे को मैं 1925 और 1929 में देख चुका था। बड़े स्नेह से अपनी कोठी पर ले गये, स्नेह का आरम्भ बड़े वेग से हुआ था, और बड़ा आरम्भ पीछे असफलता में परिणत होता है; किन्तु यहाँ जिस स्नेह का सूत्रपात हुआ, वह दिन पर दिन बढ़ता ही गया, और 9 मार्च (1933 ई.) से लेकर 5 अगस्त 1937 तक, जब कि मैंने अपने कन्धों पर उनकी अरथी उठाई, वह मेरे प्रिय ज्येष्ठ भ्राता और मैं उनका स्नेहभाजन अनुज रहा। हर साल जाड़ों में मैं मैदान में रहता, और उसका अधिकांश उनके साथ उनके घर में गुजारता। आज जब कभी भी अपने उस मित्र की याद आती है, तो कलेजा सुन्न होने लगता है, आँखें पिघलने लगती हैं।

जायसवाल जी उस वक्त अपने बड़े लड़के के लिए परेशानी में थे। चेतसिंह की शादी पहिले ही हो चुकी थी। जाति के भीतर बहुत संकुचित क्षेत्र में योग्य कन्या का मिलना आसान नहीं है। चेतसिंह के जैसा संस्कृत रुचि रखनेवाला तरुण, साधारण युवती को कैसे पसन्द करता। जब वह विलायत बैरिस्टरी पढ़ने गये, तो वहाँ उनका एक अंग्रेज युवती से स्नेह हो गया, और वह घनिष्ठता पति-पत्नी के रूप में परिणत हो गई। भारत आते वक्त वह अपनी उसी स्त्री को भी लेते आये, लेकिन पिता अपने पुत्र के इस जोड़े को आश्रय देकर अपनी पहिली बहू के साथ अन्याय करने को तैयार न थे। चेतसिंह बहुत मुसीबत में फँस गये, लेकिन साथ ही वह इतने नीच हृदय के न थे, कि अपनी प्रेमिका अंग्रेज तरुणी को आश्रयहीन छोड़ देते। उन्होंने कोशिश की कि कोई स्वतन्त्र जीविका ढूँढ़ लें, किन्तु एक नये बैरिस्टर को पहिले तो कुछ साल निराशापूर्ण स्थिति में रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। कुछ महीनों तक इधर-उधर की खाक छानने के बाद चेतसिंह को यही उचित मालूम हुआ, कि अपनी बेबशी को जाहिर कर तरुणी को विलायत पहुँचा आयें। मुझे चेतसिंह एक बड़े ही सहृदय और संस्कृत तरुण जँचे, और उनके प्रति मेरी पूर्ण सहानुभूति थी, साथ ही उनके पिता की चिन्ता भी सहानुभूति की पात्र थी। मैं सोचता था, जायसवाल जैसा समझदार देश देखा आदमी लड़के की शादी करने में वैसी गलती क्यों कर बैठा ? वह खुद विलायत में रहते किसी के प्रेम में फँस चुके थे। किसी-किसी का कहना है, कि उनकी प्रेमिका सीलोन तक आई भी थीं। लेकिन क्रान्तिकारी विचार भी जमाने और समाज के

थपेड़े से ढीले पड़ जाते हैं। इसी कारण जायसवाल जी के राजनीतिक क्रान्तिकारी विचार दब गये थे, और परिवार के स्नेह, तथा बन्धुजनों के हृदय का ख्याल कर उनके सामाजिक क्रान्ति के भाव भी लुप्त हो गये। उनको बड़ी प्रसन्नता हुई, और हृदय पर से एक भारी बोझ उतरा-सा जान पड़ा, जब कि उन्होंने सुना कि चेत तरुणी को इंग्लैण्ड पहुँचा आया।

मेरे साम्यवादी विचार को फिर से उत्तेजना देने में जायसवाल जैसे व्यक्तियों के जीवन-संघर्ष भारी सहायक हुए। यहाँ भारतीय इतिहास का अगाध ज्ञान रखनेवाला एक व्यक्ति था, जो प्रथम श्रेणी की प्रतिभा का धनी था, जो चलती बैरिस्टरी के काम से बचा आवश्यक नींद और विश्राम को तिलांजलि देकर गम्भीर ऐतिहासिक चिन्तन करता, नई-नई बातें निकालता था, किन्तु समाज की राजनीतिक व्यवस्था ने मजबूर किया था, कि वह अपने अमूल्य जीवन के सबसे अधिक समय को किसी धनी के इन्कमटेक्स को कम कराने के लिए बड़ी-बड़ी कानूनी बहसें तैयार करे, क्योंकि उसे अपनी रोजी भी चलानी थी, अपने पुत्रों और पुत्रियों को उच्च शिक्षा दिलानी थी, जिसमें कि वह अपने पिता के कर्त्तव्य से च्युत न समझा जाये। मैं सोचता था, जायसवाल के जीवन को इस तरह बेकार के कामों में बिताने के लिए मजबूर कौन कर रहा है ? उस वक्त तक मैंने सोवियत के विद्वानों के निश्चिन्त जीवन को नहीं देखा था, तो भी 'बाईसवीं सदी' मेरे दिमाग से प्रसूत हो चुकी थी, मैं इनकी सारी जिम्मेवारी को वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के ऊपर डालता था।

सप्ताह बीतते-बीतते जायसवाल जी की प्रकृति से मैं परिचित हो गया। न उनको बनावटी रूप में अपने को रखने की आवश्यकता थी, न मैं अपने को यथार्थ से अधिक दिखलाने की जरूरत समझता था, उनके लड़के नारायण, दीप, छोटी लड़की ज्ञानशीला (बबुनी) मेरे पढ़ने-लिखने के बाद के समय के लिए प्यार और मनोरंजन की सामग्री थीं। गिल्गित के पास धरती से खोदकर निकले प्राचीन बौद्ध ग्रंथों के मिलने की बात मैं बहुत पहिले ही सुन चुका था। पेरिस में आचार्य सेल्वेन लेवी ने उसकी और चर्चा चलाई थी, और यहाँ भी उनका पत्र आया था, कि मैं उन ग्रंथों को देखूँ। मैं भी उनके लिए उत्सुक था, मैंने यह तै किया। जायसवाल जी ने कुछ रुपयों और एक फोटो केमरे का इन्तिजाम कर दिया।

मुझे 29 अप्रैल को सारनाथ से देवप्रिय का तार मिला, कि श्री धर्मपाल का देहान्त हो गया। दूसरे ही दिन सारनाथ पहुँचा। चालिस साल से अनथक परिश्रम करने के बाद आज यह महापुरुष अनन्त निद्रा में सो रहा था। पहिले उनका शरीर लंका ले जाना चाहते थे, मगर तीसरे दिन शरीर जाने लायक नहीं रह गया, इसलिए इस वीर लंकापुत्र को ऋषिपत्तन गृगदाव (सारनाथ) की पवित्र भूमि पर ही जलाया गया।

12

द्वितीय लदाख यात्रा (1933 ई.)

सारनाथ में अनागरिक धर्मपाल का शव-सम्मान करते, प्रयाग में पंडित जयचन्द विद्यालंकार से मिलते मैं लाहौर के लिए रवाना हुआ। अबकी यात्रा जम्मू के रास्ते करनी थी, उसी रास्ते से दूसरी बार न जाना मेरे स्वभाव में दाखिल हो गया है। 15 मई को जम्मू में पहुँच वहाँ विज्ञान के प्रोफेसर माणिकचन्द के यहाँ ठहरा। मुझे यह मालूम करके बड़ी प्रसन्नता हुई, कि मेरे लदाख के सहायक श्री रामरखामल इंजीनियर यहीं हैं। जिस वक्त मैं उनकी कोठी पर मिलने गया, तो वे वहाँ मौजूद न थे, लेकिन लौटने पर जैसे ही उन्हें खबर मिली, वह मिलने आये। अब वह डिविजनल इंजीनियर थे। सात वर्षों की उनके चेहरे पर छाप थी, किन्तु अब भी वह वैसे ही सहायता के लिए उत्सुक थे, जैसे लदाख की यात्रा में।

17 मई को जम्मू से मैं मोटर द्वारा श्रीनगर के लिए रवाना हुआ। यह सड़क मेरी पिछली यात्रा के बाद तैयार हुई थी। रास्ते में हर जगह खाने-पीने की दूकाने थीं। झीबर (धीवर) लोग बहुत सस्ती और स्वादिष्ट

रोटी-मांस बेंचते थे। रास्ते के पहाड़ और गाँव सुन्दर थे, किन्तु मेरी आँखों को तो तब तक तृप्ति न हुई, जब तक कि मैं देवदारों के पहाड़ में न पहुँच गया।

पुराने परिचित डाक्टर कुलभूषण से मेरा बराबर पत्र-व्यवहार रहा, इसलिए मुझे वे भूले न थे, और श्रीनगर में उन्हीं के यहाँ ठहरना तै हुआ था। डाक्टर कुलभूषण विलायत के पढ़े डाक्टर, और श्रीनगर म्युनिस्पेल्टी के हेल्थ-आफिसर थे। विलायत से लौटने पर उन्हें संस्कृत पढ़ने का अनुराग पैदा हुआ, और इसके लिए उन्होंने नियम से कुछ घंटे देने शुरू किये थे। उनका सिद्धान्तकौमुदी पढ़ना मुझे नापसन्द था, इसलिए नहीं कि सिद्धान्तकौमुदी पाठ्य पुस्तक के तौर पर बेकार चीज है, बल्कि इसलिए कि डाक्टर साहेब को उन सूत्रों को याद करने की फुर्सत न थी। उसकी जगह यदि उन्हें साहित्यिक ग्रंथों को पढ़ाया जाता, और प्रयोगात्मक व्याकरण का ज्ञान कराया जाता, तो ज्यादा लाभप्रद होता। उन्हें संस्कृत बोलने का बड़ा शौक था। डाक्टर कुलभूषण अब शहर से बाहर अपने निजी घर में रहते थे, जहाँ मेरे लिए एक कमरा रिजर्व था। डाक्टर साहेब कट्टर आर्यसमाजी थे। छै साल पहिले भी मेरे व्याख्यानों में बुद्ध की प्रशंसा पाकर उन्होंने कहा था, कहीं आप बौद्ध न हो जायें, और वह बात सच निकली। इस वक्त उन्हें यह देखकर अफसोस होता था, कि मैं आर्यसमाज में नहीं रहा।

अबकी बार मेरी मुख्य मंशा थी गिल्गित जाने की। मेरे दोस्त श्री श्यामबहादुर बैरिस्टर ने कश्मीर-सरकार के शिक्षा-मंत्री चौधुरी वजाहतहुसेन (I.C.S.) को मेरे बारे में परिचय-पत्र लिख दिया था। मुझे यह भी मालूम हुआ था, कि गिल्गित में प्राप्त हस्तलिखित ग्रंथों का एक भाग यहीं पर है। चौधरी साहेब से मिलने मैं उनके आफिस में गया, वह बड़े प्रेम से मिले, और कहा कि मुझसे जो कुछ हो सकता है मैं आपकी सहायता के लिए तैयार हूँ। उन्होंने बड़े उत्साह के साथ अपने साथी एक दूसरे अधिकारी से 'मेरे मुल्की' (स्वप्रान्तीय) के तौर पर परिचय कराया, किन्तु मुझे बड़ी निराशा हुई जब हस्तलेखों के अधिकारी ने इस शर्त के साथ उनकी झाँकी कराना स्वीकार किया, कि मैं नोट न लूँ। उनका कहना था, कि ग्रंथ सरकार स्वयं प्रकाशित कराना चाहती है, इसलिए वह नहीं चाहती, कि कोई दूसरा विद्वान् उसमें हाथ लगाये। वे महत्त्वपूर्ण हस्तलेख बस्ते बाँधकर ऐसे रखे गये थे, कि मालूम होता था, किसी व्यापारी का बहीखाता है। बारह-तेरह सौ वर्ष पुराने भोजपत्र पर लिखे उन हस्तलेखों की दुर्गति हो रही थी, उनमें से कितने ही टुकड़े झड़ रहे थे–पुराना भोजपत्र बहुत हल्के दबाव से टूट जाता है। सरकारी ग्रंथमाला के अध्यक्ष श्री मधूसूदन कौल से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। वह भी मेरी ही तरह इन ग्रंथों की रक्षा और सम्पादन के लिए व्यग्र थे। उन्होंने ग्रंथों की एक विस्तृत सूची भी तैयार की थी, किन्तु राज्य के बहुधंधी ऊँचे अधिकारी काक अपने नाम से प्रकाशित करा यश-अर्जन करना चाहते थे। मेरी निराशा की सीमा न रही, जब मैंने वहाँ के म्युजियम की दुरावस्था को देखा। महाराजा उसे बेकार समझते थे, और एक बार तो नीलाम कर देने पर तुल गये थे, किन्तु जब लोगों ने समझाया कि इससे भारी बदनामी होगी, तो अपने इरादे से बाज आये। आधुनिक विज्ञान के आविष्कारों की भाँति भोग-विलास की सामग्री में भी धनिकों ने बड़े-बड़े आविष्कार किये हैं, जिसके लिए लाख नहीं, करोड़ भी कोई चीज़ नहीं है। फिर यह रंगीले महाराज तो एक रात के लिए पेरिस की एक अप्सरा को बीस लाख का चेक काटने के लिए जगद्विख्यात हो चुके थे।

म्युजियम जिस अवस्था में था, उससे तो कहीं अच्छा होता, कि वह किसी अधिकारी संस्था के हाथ नीलाम कर दिया जाता। उसे एकाध चौकीदारों के हाथ में रख दिया गया था, जिनसे कुछ रुपयों में इतिहास और कला की अनमोल सामग्री खरीदी जा सकती थी और खरीदी जा रही थी। शायद यूरोप का पतित से पतित धनी भी ऐसी बर्बता नहीं कर सकता था।

गिल्गित के हस्तलेखों के सिलसिले में एक दूसरे मंत्री श्री वी. एम. मेहता से भी मिला। वह जायसवाल जी के दोस्त थे, उन्होंने भी मेरे उद्देश्य के साथ सहानुभूति प्रकट की; किन्तु वह ऐसे यंत्र के पुर्जे थे, जिसमें उन्हें अपनी बेबसी प्रतीत हो रही थी। कुछ दिनों बाद श्री एन्. सी. मेहता (I.C.S.) श्रीनगर आये, और मेरे आने की बात सुनकर उन्होंने मिलने की इच्छा प्रकट की। उन्हें कला-पारखी के तौर पर मैं जानता था, इसलिए

फोन आने पर मैं उनसे मिलने गया।

श्रीनगर में रहने का अधिकांश समय मैंने वहाँ के पुराने स्थानों को देखने, दोस्तों से मिलने और लिखने-पढ़ने में बिताया। रोज सबेरे नदी के बाँध पर 3, 4 मील टहलने जाता, जिसमें बहुधा डाक्टर कुलभूषण भी शामिल होते। कई बार शंकराचार्य के पहाड़ पर चढ़ा, यद्यपि पिछली बार की तरह प्रतिदिन चढ़कर पहाड़ पर चढ़ने के अभ्यास के लिए नहीं। मार्तंड और दूसरे ध्वंस अबकी मैंने ज्यादा शौक से देखे, क्योंकि अब मैं उन पुराने पाषाणों की मूकभाषा को समझता था। कश्मीरी पंडितों में कुछ की रुचि बौद्धधर्म की ओर थी, और उनके कई निमंत्रण भी मुझे स्वीकार करने पड़े। कुछ ही दिनों बाद जर्मनबौद्ध ब्रह्मचारी गोविन्द भी आ गये, फिर तो 'खूब निबहैगी जब मिल बैठेंगे दिवाने दो' की कहावत चरितार्थ होने लगी।

गिल्गित और लदाख जाने के लिए अंग्रेज ज्वाइंट कमिश्नर के पर्मिट (आज्ञापत्र) लेने की जरूरत पड़ती थी। मैंने गिल्गित का पर्मिट माँगा, तो उन्होंने कहा–अफसोस, हम वहाँ जाने का पर्मिट नहीं दे सकते। अपने ही घर में आखिर हम भारतीय बेगाने थे, फिर कलेजे में सुई चुभने की शिकायत करने की जरूरत ? गिल्गित दूसरे यूरोपियन–फ्रेंच या हुंगेरियन–जा सकते हैं, किन्तु एक भारतीय को उधर जाने की इजाजत नहीं। सोवियत ताजिकिस्तान की सीमा गिल्गित से दूर नहीं है, इसलिए ब्रिटिश सरकार गिल्गित में अपना एक हवाई मोर्चा और फौजी छावनी बनाने की धुन में थी। उस वक्त भी अफवाह थी, कि अंग्रेज गिल्गित को राज से ले लेना चाहते हैं। गिल्गित-यात्रा से निराश होने पर मैंने लदाख जाना तै किया, ब्रह्मचारी गोविन्द ने भी साथ चलने की इच्छा प्रकट की। पासपोर्ट देखने पर ब्रिटिश ज्वाइंट कमिश्नर ने परमिट देना मंजूर कर लिया।

जोजीला पार के घोड़े वाले अब श्रीनगर पहुँचने लगे। हमने द्रास या कर्गिल के लिए सवारी और बारबर्दारी के लिए टट्टू किराये किये, और 6 जून को श्रीनगर से रवाना हो गये। घोड़ेवाले घास देखकर रात को ठहरना पसन्द करते थे, हमने भी उनके काम में सहयोग देना पसंद किया। मैं तो फोटोग्राफी में बिल्कुल नौसिखिया था, लाहौर में तो फोटो लेने में असफल रहा, किन्तु यहाँ के दो-चार चित्रों से कुछ आशा बँधी थी। ब्रह्मचारी गोविन्द फोटो ही अच्छा नहीं लेते थे, बल्कि वह एक अच्छे चित्रकार थे। हम लोग पहिली रात गाँव से कुछ दूर नदी के किनारे रात के लिए ठहरे। सबेरे के वक्त काफी सर्दी थी, किन्तु इसी वक्त मुझे पश्मीने की चादर की करामात मालूम हुई–उस पतली चादर में लोई जितनी गर्मी थी।

हमारा खाना घोड़ेवाले दरद बनाते थे, और सिवाय कोको के हमारा भोजन सोलहों आना हिन्दुस्तानी होता था। ब्रह्मचारी गोविन्द के साथ बात करने में आनन्द आता था। वह कलाकार, दार्शनिक होने के अतिरिक्त यूरोप, अफ्रीका और ऐसिया के कितने ही भागों में घूमे हुए थे। उनका स्वभाव मृदुल, वार्तालाप का ढंग आकर्षक और रहन-सहन सीधी-सादी थी। चिड़चिड़ापन तो उनमें छू तक नहीं गया था। साम्यवाद के साथ भी उनकी सहानुभूति थी, यद्यपि वह उसमें उतना दूर तक जाने के लिए तैयार न थे, जितना कि मैं। पिछले महायुद्ध में वह सैनिक रह युद्ध के भयानक दृश्य को अपनी आँखों देख चुके थे, वह खूब महसूस करते थे, कि वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के बदलने की भारी जरूरत है। वह एक आदर्शवादी व्यक्ति हैं, यद्यपि उस आदर्शवाद में एक धर्मप्रेमी भी कलाकार का हृदय होने से उनमें शान्तिकामना और करुण सम्मिश्रण–मंजिल के अन्त में ही नहीं आरम्भ और मध्य में भी–बहुत ज्यादा है।

जोजीला (जोत) पार हो घोड़ेवाले हमें रास्ते से बायें हटकर काली सिन्ध के किनारे अपने गाँव होलियाल में (11 जून) ले गये। दरद-भाषा में हर एक नदी सिन्ध या सिन्द कही जाती है। अभी भी, मानों, इस शब्द का वैदिक अर्थ वहाँ प्रचलित है। गाँव में तीस के करीब घर हैं, और वे बहुत गरीबी की जिन्दगी बसर करते हैं। वनस्पतिहीन नंगे पहाड़, अपनी ऊँचाई, वर्षा की कमी और सिंचाई की कठिनाई के कारण खेती या बागवानी के अनुकूल नहीं हैं। घोड़ों से माल लादना ही यहाँ के लोगों की प्रधान जीविका है। मेरे मित्र एक दिन एक आदमी से पूछ रहे थे–"जब खाने की यह हालत है, प्रकृति तुम्हारे साथ इतनी निष्ठुर है, तो इतने बच्चे क्यों पैदा करते हो ?"–हमें बतलाया जा चुका था, कि उस गाँव में पिछले 50 वर्षों में तिगुने घर बढ़ गये हैं। उत्तर मिला–जिसने पैदा किया है, अर्थात् खुदा, वही सब सँभालेगा। ब्रह्मचारी गोविन्द ने कहा–"हाँ, यदि खुदा

नहीं, तो भूख और महामारी तो उन्हें सँभालने के लिए तैयार ही है।" यहाँ हम लोगों को बहुपति-विवाह की उपयोगिता मालूम हुई। यदि तिब्बती लोगों की तरह यहाँवाले भी सब भाइयों के लिए एक स्त्री लाते, तो पचास क्या, पाँच सौ बरस बाद भी उतने ही घर रहते, किन्तु वे तो खुदा के भरोसे बच्चे पर बच्चे पैदा करते जा रहे हैं।

'सिन्ध' के किनारे-किनारे हम आगे बढ़े। द्रास से कुछ आगे पहुँचने पर रास्ते में हमें वह खंडित मूर्तियाँ और शिलालेख मिले। शिलालेख सातवीं-आठवीं शताब्दी की लिपि में था। पढ़ने-भर का समय न था, मैंने फोटो लिये, किन्तु अभी उतना उसका अन्दाजा न था, और उसमें मैं सफल नहीं रहा।

कर्गिल में हम दो दिन (15-16 जून) ठहरे। यद्यपि जोजीला से पहिले पर्मिट देखने के लिए एक आदमी दौड़ा आया था, किन्तु वह शायद ब्रह्मचारी गोविन्द के यूरोपीय रंग के कारण। वैसे कर्गिल तक अब पर्मिट की जरूरत नहीं पड़ती थी। पिछली यात्रा के समय से जरूर कुछ उदारता दिखलाई गई है। कर्गिल में तहसीलदार ने पर्मिट देखा। हमें वहाँ दो-तीन दिन ठहरना था। यहीं मालूम हुआ, कि ङरी-लामा—जिन्होंने ल्हासा में दलाई-लामा से मिलकर मेरे रहने में बड़ी सहायता की थी—आजकल लदाख से होते जान्स्कर में ठहरे हुए हैं। रास्ता छोड़कर जान्स्कर जाने में फिर घोड़ों के पाने में दिक्कत होती, इसलिए हमने उधर जाने का ख्याल छोड़ दिया।

मुल्-बेक् में भी हम दो दिन (18-19 जून) ठहरे। गोविन्द जी वहाँ के रंगबिरंगे पर्वतों को चित्रित करना चाहते थे, वे तो अपने काम में व्यस्त रहे, और मैं वहाँ के लोगों की सामाजिक आर्थिक अवस्था का अध्ययन करने लगा। प्रकृति यहाँ भी निष्ठुर है, किन्तु सन्तितिनिरोध में बहुपति-विवाह बहुत सहायक है, इसलिए लोगों को उतनी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। यहाँ एक स्कूल है, जिसमें पढ़ाई उर्दू द्वारा दी जाती है। नौकरी का लोगों को आकर्षण नहीं, फिर ये तिब्बती-भाषाभाषी लोग क्यों उस मुश्किल भाषा और उससे भी ज्यादा मुश्किल लिपि को पढ़ने में मन लगावें। तिब्बती भाषा के पढ़ाने का कोई बाकायदा इन्तिजाम नहीं है, तो भी कितने ही व्यक्ति साक्षर हैं। यदि कश्मीर सर्कार उन्हें अपनी भाषा में शिक्षा दिलाती, तो ये लोग बड़े चाव से पढ़ते। किन्तु सर्कार सबको साक्षर करना अपना फर्ज थोड़े ही समझती है। मुल्-बेक् में पर्वतगात्र में खुदी मैत्रेय की एक सुन्दर प्रतिमा है, जो बतलाती है, कि किसी वक्त यहाँ भारतीय मूर्तिकला के अच्छे शिल्पियों की कमी न थी।

मुल्-बेक् और उससे आगे के गाँवों पर अधिकार जमाने में इस्लाम और बौद्धधर्म का संघर्ष रहा है, कर्गिल से मुल्-बेक् तक के गाँव अभी लोगों के होश में मुसल्मान हुए। मुल्-बेक् पहुँचने से पहिले हम यहाँ कुछ अच्छे-अच्छे मकानोंवाले एक गाँव से गुजर रहे थे। उसी वक्त एक भद्र पुरुष ने आकर हमें चाय पीकर जाने के लिए आग्रह किया। बैठक में अच्छे यारकन्दी कालीन बिछे हुए थे। मकान में कुछ सजावट भी थी। मालूम हुआ, वह एक अच्छे व्यापारी हैं। इस्लामी देश-दुनिया देखे होने से इन्होंने भी स्त्रियों को पर्दे में रखना अपना कर्त्तव्य समझा था।

मुल्-बेक् आगे लामायुरु के पहिले तक मुस्लिम-बौद्ध-मिश्रित बस्तियाँ थीं। आबादी दूर-दूर। वही नंगे पहाड़, वही सूखी जमीन, किन्तु फसल के जम आने से कितने ही हरे-हरे खेतों को देखकर आँखों की थकावट दूर हो जाती थी।

मुल्-बेक् से पहिले शरगोल में 17 जून को हम गाँव के मुखिया के घर पर ठहरे थे। मुखिया स्वयं कट्टर मुसल्मान था, ब्याहने या रखेली रखने से जैसे भी हो दूसरों को मुसल्मान बनाने में वह भारी पुण्य (सवाब) समझता था, किन्तु उसकी माँ पर उसका असर नहीं हुआ था। बुढ़िया को जब मालूम हुआ, दो बौद्ध भिक्षु आए हैं, तो वह छत के ऊपर आई, और तिब्बती कायदे से उसने साष्टांग प्रणाम किया। वह फूट-फूटकर रोते हुए कहने लगी—"मेरा लड़का बड़ा जुल्म करता है, मुझे पूजा-पाठ और लामाओं का सत्कार तक नहीं करने देता। मैं तो मृत्यु के घाट पर बैठी हुई हूँ, और यह कुछ कमाई नहीं कर लेने देता। अपने तो यह नरक में जायेगा ही, और अपनी बूढ़ी माँ को भी वहीं ढकेलना चाहता है।" गाँव से थोड़ी दूर पर एक गुम्बा (बौद्ध विहार) थी, जो पर्वत की स्वाभाविक गुहा में इस तरह बनाई गई थी कि बाहरी दीवारें शिला से मिली हुई

उसमें चिपकी-सी मालूम होती थीं। किन्तु रास्ते में शिम्सा-खर्बू और दूसरी जगहों पर उजड़ी गुम्बाओं की खड़ी दीवारें हमने देखी थीं और साफ मालूम हो रहा था कि अनुयायी जिस तरह कम हो रहे हैं, उससे इस गुम्बा की भी वही हालत होनेवाली है।

हमें पता लगा था, कि यहाँ से कुछ दूर पर एक प्राकृतिक गुफा है, जिसमें पुरानी मुद्राएँ और मिट्टी की मूर्तियाँ मिलती हैं। वैसे होता तो मुखिया (नम्बरदार) हमारी मदद नहीं करता, किन्तु तहसीलदार का पत्र था, इसलिए उसने भाड़े पर टट्टू कर दिये। हम लोग पूरब की तरफ उस गुहा की तलाश में गये। रास्ता चालू नहीं है, इसलिए कितनी ही जगह खतरनाक था, तो भी जब हम चल चुके थे, तो लौटने का सवाल ही न था। गुहा काफी बड़ी थी, और उसमें कुछ अंकित मुद्राएँ भी थीं, किनतु वह उतनी पुरानी न थीं।

गाँव में लौट कर हम फिर सड़क से आगे बढ़े, और मुल्-बेक् होते लामायुरु पहुँचे। गोविन्दजी ने गुम्बा का एक चित्र बनाया। मैं लामाओं से बात करना चाहता था, किन्तु सभी अशिक्षित उजड्ड थे। वस्तुतः लदाख में—और विशेषकर मुल्-बेक् प्रदेश में बौद्धों का लोप इन्हीं अयोग्य साधुओं के कारण हो रहा है। हर जगह गुम्बा के पास खेत हैं, और खाना—छंग (शराब) पीना—बस इतने ही में ये लोग अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझते हैं। हर एक धर्म का मूल्य इसी से तौला जा सकता है, कि वह अपने अनुयायियों में नैतिक बल कितना लाता है, इस कसौटी पर कसने से मालूम होता है, कि लदाखी लोग मुसल्मान बनकर कई अपने अच्छे गुणों को छोड़ बैठे हैं। लदाखी बौद्ध स्वभावतः झूठ बोलना, चोरी करना नहीं जानते। कर्गिल के कश्मीरी तहसीलदार कह रहे थे कि कभी-कभी इनकी ईमानदारी महँगी पड़ती है। वह आप-बीती या किसी दूसरे की बात कर रहे थे—उनका लदाखी बौद्ध नौकर बैठक में झाड़ू दे रहा था, वहाँ एक अठन्नी पड़ी हुई थी। चोरी के डर से नौकर उसे हाथ नहीं लगा सकता था, उसने चाकू से अठन्नी के किनारे-किनारे कालीन काट डाली, और झाड़कर फिर उसे वैसा ही बैठा दिया। हो सकता है, आजकल के जमाने में ईमानदार आदमी संसार-संघर्ष में सफल नहीं हो, किन्तु इससे ईमानदारी का नैतिक मूल्य कम नहीं होता।

खल्-चे में हमें एक बौद्ध ग्रामीण अध्यापक मिले, उन्होंने आग्रह किया रात को अपने गाँव में रहने का। उनका घर (नुरला) सड़क से बहुत दूर न था, इसलिए हमने उसे स्वीकार किया। अध्यापक का घर काफी समृद्ध था। उसके बाग में खूबानी, सेब और अंगूर लगे हुए थे, घर भी साफ-सुथरा था। माँ-बाप लड़के से सन्तुष्ट न थे, क्योंकि वह शराब बहुत पीता था, और अपनी स्त्री से विरक्त था। उसकी स्त्री इतनी सुन्दर थी, कि मुझे समझ में नहीं आया, उससे वह विरक्त क्यों है। शराबीपन की तो लदाख में आम शिकायत है। यद्यपि जौ की सस्ती छंग से कोई कंगाल नहीं हो सकता, तो भी उससे काम की बेपर्वाही होती है, और उक्त अध्यापक की नौकरी इसीलिए बची हुई थी, कि लदाख में अध्यापक सुलभ न थे।

रास्ते में हम रिजोङ्-गुन्पा (गुम्बा) में गये। वह लदाख की प्रधान गुन्पाओं में है। यहाँ के पिछले लामा लदाख के सबसे अधिक सुशिक्षित और सुसंस्कृत लामा थे, और पिछली यात्रा में मैं उनसे मिल चुका था। अब उनका देहान्त हो चुका था, और तीन-चार वर्ष के छोटे-से बच्चे को अवतार समझकर उनकी जगह लामा बनाया गया था। गुन्पा के भिक्षुओं ने चाय पीने का आग्रह किया। बच्चा लामा के लिए भी आसन और चाय-चौकी रख दी गई। हमने दर्शन आदि का काम खतम कर चाय पी। ब्रह्मचारी गोविन्द ने फिसलाऊ खड़े पर्वत गात्रों पर कूदते हुए, अपनी रोलैफेक्स से कई फोटो लिये।

सस्पोला (23 जून) बहुत बड़ा गाँव है, और वर्ष के दस महीने में दूर तक फैली खेतों की हरियाली, बीच-बीच में खूबानी, सेब, सफेदे और वीरी के हरे-भरे दरख्तोंवाले बाग उसकी शोभा को और बढ़ा देते हैं। मिस्टर शटलवर्थ ने जब सुना, कि मैं लदाख की ओर जानेवाला हूँ, तो उन्होंने लन्दन से एक विस्तृत पत्र लदाख-जान्स्कर-लाहुल के प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के बारे में लिखा था, उसमें उन्होंने अलूची के मन्दिर का भी जिक्र किया था। नीमू से थोड़ा पीछे हट नदी पार हो हम अलूची पहुँचे। अलूची में भी काफी खेत हैं, किन्तु लोचवा के मन्दिर के पासवाले घर अधिकतर गरीब हैं। बाहर से उस मन्दिर को देखकर किसी को भान नहीं हो सकता, कि यह ग्यारहवीं शताब्दी की उत्तर-भारतीय चित्रकला का महान् संग्रहालय है। पुजारी आया,

हम लोग भीतर गये। कुछ अँधेरा-सा था, किन्तु उस सम्पत्ति को देखकर आँखें चकाचौंध हो गईं। नौ सौ वर्ष बाद आज भी सूक्ष्म तूलिकाओं द्वारा मात्रायुक्त वर्णों में चित्रित ये चित्र सजीव मालूम होते हैं। सभी चित्र सुन्दर हैं, किन्तु अवलोकितेश्वर की मूर्ति के ऊपर छोटे-छोटे चित्रों के अंकन में तो और कमाल किया गया है। गोविन्दजी स्वयं कलाकार थे, वह तो इस कलाभंडार को देखकर कुछ समय तक स्तब्ध रह गये। अजन्ता के अर्धलुप्त चित्रों से आदमी को पूरी तृप्ति नहीं होती, और यहाँ थे पूर्ण चित्र, सो भी ऐसे समय के, जिसके कुछ नमूने सिर्फ हस्तलिखित पुस्तकों में ही मिलते हैं। रोशनी काफी नहीं थी, इसलिए फोटो की सफलता का हमें विश्वास न था; तो भी हमने कुछ फोटो लिये।

पहिले भी हमने विहार की दयनीय दशा को देखा था, किन्तु अब बाहर निकलकर उस रत्नकोश की रक्षिका इमारत की ओर खासतौर से देखना शुरू किया। वहाँ मरम्मत का चिह्न तक न था। लदाख में वर्षा बहुत कम होती है, किन्तु शताब्दियों की वर्षा का असर न होना असम्भव था। बाहरी द्वार के ऊपर के खम्भे टेढ़े पड़ गये थे, मोटी दीवार की मिट्टी कट-कटकर दरार-सी बन गई थी, और साफ मालूम होता था, कि जिस उपेक्षित दशा में यह मन्दिर है, उससे वह चन्द दिनों का ही मेहमान है। फिर हमें ख्याल आया—पास-पड़ोस के रहनेवाले गरीब हैं, अनभिज्ञ हैं—किन्तु कश्मीर रियासत की सर्कार क्या करती है ? लेकिन, अफसोस ! सभ्यता की नकल करनेवाले पशुओं को पालने और ऊँचा बढ़ाने की भारी कीमत हमारे समाज को चुकानी पड़ेगी। तिब्बत के महान् विद्वान् लो-च-वा रिन्-छेन्-जङ्-पो (मृ. 1052 ई.) ने जैसे सैकड़ों संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद कर तिब्बती भाषा में सुरक्षित किया, उसी तरह उसने तत्कालीन भारतीय चित्रकला के सुन्दर नमूनों को इस मन्दिर के रूप में सुरक्षित किया था, लेकिन बीसवीं सदी में अब हमारी आँखों के सामने वह लुप्त होनेवाला है। भावी भारतीय जनता अवश्य इन कर्त्तव्यविमुख मूढ़ों को क्षमा नहीं करेगी, किन्तु उससे खोई हमारी यह सम्पत्ति लौट तो नहीं आयेगी। लदाख से लौट मैंने अंग्रेजी-हिन्दी पत्रों में वक्तव्य दिया था, राजमन्त्री, तथा स्थानीय अधिकारियों से तो उसी वक्त प्रार्थना की थी, किन्तु हमारी प्रार्थना का जिस तरह स्वागत हुआ, उससे कोई आशा नहीं बँधी।

सस्पोला लौटकर हम ले (लेह) के लिए रवाना हुए। 25 को ले पहुँचे। लाला शिवराम का देहान्त हो चुका था, किन्तु उनके भतीजे लाला कुन्दनलाल भी वैसे ही उत्साही व्यक्ति थे। हम लोग हेमिस् लब्रङ् में ठहरे। रात को निश्चिन्त हो सोने की तैयारी कर रहे थे, कि शरीर में चिंगारी-सी लगती दिखाई पड़ी। टार्च उठाकर देखा, तो बिस्तरों पर हजारों खटमल रेंग रहे थे, और सदियों की पुरानी दीवार तो उनके चल कारवाँ से लाल-सी हो गई है। हम लोग तुरन्त अपना बिस्तर उठाकर बाहर छत पर लाए। हेमिस् का वार्षिक मेला तुरन्त आनेवाला था, इसलिए कुछ ही दिनों बाद 1 जुलाई को हेमिस् के लिए रवाना हो गये।

हेमिस्लामा उस वक्त तिब्बत में गये हुए थे, इसलिए वहाँ हमारा कोई परिचित न था। हेमिस् बहुत धनी मठ है, लदाख के खेतों का बहुत भारी हिस्सा उसकी जागीर है, किन्तु उसके प्रबन्ध करनेवाले आदमी निकम्मे थे। छग्-जोद (मैनेजर) तो निरा जानवर था, उसे किसी चीज की तमीज न थी। हम लोगों के बारे में वह सुन चुका था, कि यहाँ के उच्च अधिकारी भी सम्मान करते हैं, हेमिस्लामा मेरे पुराने मित्र थे, और उनसे मेरा बराबर का पत्र-व्यवहार है, तो भी उसने बँगले में कमरों के खाली रहते भी बाहर रखना चाहा। खैर, दूसरे लोगों ने समझाया, तब हमें एक कमरा मिला। मेला और 'भूतनृत्य' को मैं दूसरी बार देख रहा था, तो भी अब उसे ज्यादा समझ सकता था, क्योंकि अब मैं तिब्बत और बुद्धधर्म के इतिहास से परिचय रखता था। वस्तुतः वह 'भूतनृत्य' (डेविल डैन्स) नहीं, धार्मिक नाटक था, जिसमें बुद्ध, तिब्बत के पुराने सम्राट् साङ्चन-गैम्बो, लङ्-दर मा और क्रूर देवताओं का अभिनय होता था। क्रूर देवताओं के विकरात चेहरे को देखकर यूरोपीय यात्रियों ने इसे 'भूतनृत्य' का नाम दे दिया। गोविन्दजी ने नृत्य के कई फोटो लिए।

पिछली यात्रा में मैंने नाट्यस्थान के बगल की चौपाल में चौरासी सिद्धों के चित्र पाषाण पर अंकित देखे थे, किन्तु उस वक्त तक आठवीं से बारहवीं सदी के भारतीय बौद्धधर्म और हिन्दी साहित्य के सम्बन्ध में चौरासी सिद्धों के महत्त्व को मैंने नहीं समझ पाया था, अबकी मैंने उन्हें गौर से देखा, और ब्रह्मचारी गोविन्द का ध्यान

भी उधर आकर्षित किया। इन चित्रों की कापी करना निश्चित कर गोविन्द जी ठहर गये, और पीछे ले लौटकर उन्होंने बताया कि पाषाण पर उत्कीर्ण रेखाचित्र, बाहरी रंग से अंकित चित्रों से ज्यादा सुन्दर हैं।

3 जुलाई को ले लौट आया। ले में मेरे रहने का इन्तिजाम हेमिस्‌लामा के नये मकान में हुआ था, वह ज्यादा साफ-सुथरा, हवादार और खटमलों की वला से पाक था। मेरे ले चले आने पर एक रात खूब वर्षा हुई। लोग बतला रहे थे ऐसी वर्षा बूढ़ों तक ने नहीं देखी थी। लदाख के भिट्टी की दीवारें, मिट्टी के छतों के मकान एकाध इंच सालाना वर्षा के लिए वनाये होते हैं, सदियों के तजर्बे से वर्षा के एक खास परिणाम तक ही लोगों का ध्यान जा सकता है। उन्हें क्या मालूम, कि इतनी भी वर्षा हो सकती है। परिणाम यह हुआ कि दूसरे दिन ले के पचासों घर भहरा-भहराकर गिर पड़े, जिनमें हेमिस् लब्रङ भी था, और जिसमें हम पहिले दो-चार दिन के लिए ठहरे थे।

लदाख में अव मुझे कहीं घूमने की इच्छा न थी, जिसमें हाथ में लिये काम भी बाधक थे। मैंने पिछले साल 'धम्मपद' का हिन्दी-संस्कृत अनुवाद किया था, अबकी बार सारे 'मज्झिमनिकाय' का अनुवाद कर डालना था। तिब्बत में बौद्धधर्म के इतिहास पर एक निबन्ध डाक्टर कुलभूषण के आग्रह पर उनकी संसकृत पत्रिका 'श्री' के लिए श्रीनगर ही में लिखकर दे आया था, अब उसे हिन्दी में सप्रमाण लिखना था। तीन महीने के लिए यही काम काफी थे, किन्तु लदाख के बौद्धों की शिक्षा के लिए, विशेषकर आरम्भिक पाठशालाओं के लिए तिब्बती भाषा की पाठ्यपुस्तकों और व्याकरण की बड़ी जरूरत थी। नोनो छेतेन्-फुन्-दोग् एक उत्साही तरुण थे, उनका भी आग्रह हुआ और, मुझे व्याकरण तथा चार पुस्तकों के लिखने का काम भी हाथ में लेना पड़ा। काम से घिरे रहने में भी एक आनन्द आता है, और इसलिए रात-दिन व्यस्त रहते भी वे तीन मास मेरे लिए खुशी के दिन थे।

लदाख में सबसे अधिक प्रसन्नता मुझे पादरी जोजेफ गेर्गेन् से मिलकर हुई। गेर्गेन् बहुत बूढ़े थे, किन्तु अब भी वह शारीरिक-मानसिक कर्मठता रखते थे। यद्यपि उन्हें कन्-जुर् तन-जुर् के रूप में भारतीय वाङ्मय के विस्तृत अनुवादों को पढ़ने का मौका न मिला था, और न वह उसके दर्शन से ही परिचय रखते थे, किन्तु शुद्ध तिब्बती साहित्य, भाषा, और इतिहास का उनका ज्ञान बहुत गम्भीर था। उन्हें अपनी तिब्बती जातीयता का अभिमान था, इसलिए वह इन सभी चीजों का बड़ी श्रद्धा के साथ अध्ययन करते थे। डाक्टर फ्रांके के लेह में रहते वक्त उन्होंने उनकी खोजों में बहुत सहायता की थी, और उक्त जर्मन विद्वान् के संसर्ग से गेर्गेन् की अन्वेषण-दृष्टि कुछ वैज्ञानिक भी हो गई थी। हम दोनों का सम्पर्क मित्रता के रूप में परिणत हो गया, क्योंकि मैं भी उन्हीं की भाँति तिब्बती जाति के भूत को श्रद्धा की चीज समझता था। कितनी ही बार वह मेरे यहाँ आते और कितनी ही बार मैं उनके घर जाता। वस्तुतः यह घर भी, जिसमें मैं ठहरा हुआ था, गेर्गेन् का ही बनवाया हुआ था, जिसे पीछे हेमिस्‌लामा ने खरीद लिया। उनका नया मकान कुछ पूरब हटकर खेतों में था, और पहिले से ज्यादा हवादार, रोशनीदार था।

लेह में काफी पंजाबी दूकानदार हैं, उनका बराबर निमन्त्रण पड़ा रहता था, किन्तु, मैंने जितने काम अपने सिर पर ले रखे थे, उनकी पूर्ति के लिए समय को बहुत कंजूसी से खर्च करना पड़ता था, और सिर्फ रविवार को ही निमन्त्रण पर जाता था। साबित उड़द और लोबिया की दाल बहुत मीठी होती है, किन्तु समुद्रतट से 13,500 फीट ऊपर उसको पकाने के लिए आठ-आठ, दस-दस घंटों की जरूरत होती है। मेरे मेजबान, हो नहीं सकता था, कि पंजाब के श्रेष्ठ खाने से निम्न कोटि का खाना खिलाते, और रोज का खाना मकान में रहनेवाले मास्टर—जो मिडल स्कूल में तिब्वती भाषा के द्वितीयाध्यापक थे—की पत्नी पका दिया करती थीं। दोपहर के बाद मैं सिर्फ चाय पी सकता था, इसलिए उनके ऊपर बहुत भार भी नहीं था। मास्टर नम्-ग्यल् बड़े सीधे-सादे आदमी थे, मैंने चाहा कि तिब्बती साहित्य की ओर उनकी विशेष रुचि हो, किन्तु अब उनके लिए वह समय बीत चुका था। मेरी आँखें दुखने को आई थीं। मैं अस्पताल से आई-लोशन् (नेत्ररस) ले आया। शाम को मास्टर से कहा, कि दवा आँखों में डाल दें। मास्टर ने कहा—"आज नहीं कल।' मैंने दोबारा कहा, फिर वही जवाब। तीसरी बार भी दुहराने पर कोई फल नहीं हुआ। मैं समझ नहीं सकता था, कि वह कल के लिए क्यों कह

रहे हैं। मैंने कहा—"नहीं, दवाई डालने की सख्त जरूरत है, आज ही डालना चाहिए।" फिर उसके बाद का नजारा ! मास्टर धीरे से आकर मेरे आसन के पास बैठ गये, और ऊपर की ओर मुँह करके, आँखों के पास अँगुली रखकर कहा—"अच्छा तो डाल दीजिए।" मेरी हँसी रुकनेवाली न थी, और कुछ देर तक मुँह से बात निकालनी मुश्किल हो गई। फिर मैंने कहा—"आँखें मेरी दुख रही हैं, इनमें दवा डालने की जरूरत है।" उन्होंने कहा—"मैंने तो समझा था, मेरी आँखों में दवा डाली जायेगी, इसीलिए कल के लिए कह रहा था।" मास्टर की स्त्री उनसे ज्यादा चतुर थीं, और घर का काम-काज वही सँभालती थीं।

एक दिन शाम को हेमिस् का मैनेजर (छग्-जोद्) आया। उसे रात को वहीं रहना था। उसने कहला भेजा, आज कमरे में मैं रहूँगा, आप दूसरे कमरे में चले जायँ। बिखरे हुए पुस्तक-पत्रों के ढेर को दूसरे कमरे में ले जाना आसान काम न था, फिर वह तो निरा अपमान था। मैंने कह दिया—छग्-जोद् साहेब ही मेहरबानी करके उस कमरे में चले जावें। वह क्या-क्या बुड़बुड़ाता रहा। जब यह बात अधिकारियों को मालूम हुई, तो उन्होंने उसे बुलाकर बहुत फटकारा। वह तो निरा बैल था, तो भी डर के मारे बहाना किया—मैं उस वक्त शराब के नशे में था। लेकिन यह तो उसकी रोज-बरोज की बात थी।

हेमिस् से लौटकर गोविन्दजी ले आये। उन्होंने अपने पैंसिल के रेखाचित्रों को दिखलाया, और मूल चित्रों की बड़ी प्रशंसा की। मनू-पङ्-गोङ् जाने की न मेरी इच्छा थी, न उसके लिए समय; किन्तु उसके सौन्दर्य, उसके नीलम जैसे जल की मैंने उनसे तारीफ करके वहाँ जाने की राय दी। वह घोड़ा किराया करके उधर गये, और मेरी प्रशंसा को वास्तविकता से कम बतलाया। खाने-पीने के लिए मैंने कह दिया था, कि काफी सामान लेकर जावें। एक जगह के मक्खन के बारे में कह रहे थे—मैंने एक रुपये का मक्खन खरीदा। सामने आने पर पूछा—दाम ऊन के लिए हैं या मक्खन के।

मनू-पङ्-गोङ् से लौटकर गोविन्द जी को नीचे के लिए रवाना होना था, क्योंकि शान्तिनिकेतन की पढ़ाई शुरू होनेवाली थी, जहाँ पर वह अध्यापन का काम करते थे। हिटलर मेरे जर्मनी छोड़ने के दो ही महीने बाद अधिकारारूढ़ हो गया था। गोविन्दजी को जर्मनी में मौजूद उनकी सम्पत्ति से कुछ रुपये भारत में आया करते थे। नाजी शासन ने बाहर रुपये जाने बन्द कर दिये। गोविन्दजी और उनकी बूढ़ी धर्ममाता के लिए विदेश में एक विषम परिस्थिति उपस्थित हो गई। उन्होंने कलकत्तास्थ, जर्मन कौंसल-जेनरल को कड़ा पत्र लिखा—जर्मनी के सम्बन्ध में हम जितना सांस्कृतिक काम कर रहे हैं, उससे जर्मन शासकों को हमारा कृतज्ञ होना चाहिए था, और वे उल्टा हमें दंड देना चाहते हैं। यह कश्मकश कुछ वर्षों तक रही, और पीछे जब भारत में रहनेवाले नाजियों ने सम्बन्ध को असह्य कर दिया, तो युद्धारम्भ से बहुत पहिले ही वह जर्मन जातीयता का परित्याग कर भारतीय प्रजा बन गये। गोविन्दजी के अकेले लौटने से हम दोनों को अफसोस हुआ। हम दोनों की यात्रा एक-दूसरे के साथ बड़े प्रेम और सहानुभूति के साथ हुई थी, नाना सांस्कृतिक-सामाजिक विषयों पर मधुर चर्चा होती रहती थी।

लेह सौ ही वर्ष पहिले स्वतन्त्र लदाख राजा की राजधानी थी। आज भी राजा का विशाल प्रासाद एक पहाड़ी टेकरी पर मौजूद है, और वह पुराने राजवंश के हाथ में है, तो भी उसकी वह श्री नहीं है। जम्मू की सेना ने इस राज्य के दखल करते वक्त काफी बर्बरता से काम लिया था। राजप्रासाद में मोटे काले चिकने हाथ के बने कागज पर सुनहले अक्षरों में ढेर के ढेर कंजूर के पत्रे मैंने देखे थे, अब की सोच रहा था, यदि वह वैसे सड़ने के लिए कूड़े के ढेर की तरह रखे हों, तो मालिकों से कहकर ले चलूँगा, किन्तु अबकी देखने पर मालूम हुआ, पत्रों को सिलसिले से लगाने की कोशिश की गई है। मैंने लुप्त पत्रों के बारे में पूछ-ताँछ की, तो मालूम हुआ, कितनी ही धार्मिक पुस्तकों से जम्मू के सेनापति ने स्थानीय किलों की छतों के पाटने का काम लिया था ! इस बात की सत्यता की परीक्षा के लिए एक दिन किले में गया। छत कच्ची है, उसे एक जगह जरा-सा खोदकर देखा; सचमुच ही सुनहले अक्षरों में लिखे काले पत्रों के टुकड़े निकले। यह है हिन्दुओं की धार्मिक सहिष्णुता का नमूना !!

मैंने राजप्रासाद और वहाँ की गुन्पा के पुस्तकालय और मूर्तियों की छानबीन की, सभी जगह पुरानी चीजें

थीं। लेह-प्रासाद के पास हेमिस् के अधीन एक मन्दिर है, जिसमें आठवीं-नवीं सदी की चाँदी की अम्लान आँखोंवाली बुद्धमूर्ति देखी। खोज की जाये, तो लदाख में अभी भी कितनी ही पुरानी चीजें मिल सकती हैं, लेकिन यह काम सिर्फ एक आदमी के वश का नहीं है।

पिछली बार जब लदाख आया, तब भी चीनी तुर्किस्तान जाने की बड़ी इच्छा उत्पन्न हुई थी, किन्तु उस वक्त मेरे पास पासपोर्ट न था। अबकी भी इच्छा हुई, और मेरे पास पासपोर्ट भी था, किन्तु दूसरे कामों के पूरा करने का भी आकर्षण इतना था, कि वह इच्छा पूरी नहीं कर सकता था। लदाख में तुर्किस्तान के व्यापारी और हज के यात्री गर्मियों में अक्सर आया करते हैं। अब की बार तुर्किस्तान में गृहकलह जारी थी, जिसके लिए भारतीय व्यापारी—जिनमें से कितनों ही की दूकानें ले में भी हैं, बड़े चिन्तित थे। वहाँ गये कितने ही भारतीय लुट गये थे, और कुछ की जान भी गई थी। चीनी अधिकारियों को निकालने में तो तुर्क लोग सफल हुए, किन्तु पीछे एक जाति का दूसरी जाति से झगड़ा हो गया। तुर्किस्तान किसी वक्त आर्य-भाषाभाषियों का प्रदेश था। चौथी-पाँचवीं सदी में कूचा के निवासी भारतीय-लिपि और संस्कृत से सम्बद्ध भाषा को बोलते थे—उनके कुछ ग्रंथ गोबी की रेत से प्राप्त हुए हैं। पीछे तुर्किस्तान भिन्न-भिन्न आक्रमणकारी जातियों का अखाड़ा बन गया। हूण, उइगुर, तुर्क, मंगोल और सातवीं सदी में तिब्बती लोगों ने भी उस पर आक्रमण किया। इन जातियों के बहुत-से लोग वहाँ बस भी गये। तुर्कों की संख्या और प्रभाव अधिक होने से देशवासियों पर उन्हीं की भाषा की छाप पड़ी। आठवीं-नवीं सदी में जब अरबों का अधिकार हुआ, तो तुर्क मुसल्मान हो गये। इस पर भी मूल जातियों का भेद कुछ बना ही रहा। हाल के विद्रोह में उस भेद ने जोर मारा, और एक जाति के मुखिया ने नहीं चाहा, कि दूसरी जाति के प्रभावशाली व्यक्ति देश के सर्वेसर्वा बन जावें। परिणाम हुआ, उनकी जातीय स्वतन्त्रता फिर उनके हाथ से जाती रही। अभी भी यह संघर्ष कितने ही स्थानों पर चल रहा था। मेरे ले छोड़ने से पूर्व एक बड़ा काफिला यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान या सिङ्-क्याङ्) से आया। अच्छे-अच्छे घोड़े महीनों की मंजिल से दुबले होकर हड्डी-हड्डी रह गये थे।

यहीं बड़ौदा से तार पहुँचा—आप ओरियंटल कान्फ्रेंस के हिन्दी विभाग का सभापतित्व स्वीकार करें। इस कान्फ्रेंस के सभापति जायसवाल जी होनेवाले थे और उनके साथ मुझे बड़ौदा जाना ही पड़ता, इसलिए उसके स्वीकार करने में कोई खास तरद्दुद न था। मैंने स्वीकृति भेज दी।

लौटने के लिए मैंने लाहुल-कुल्लू का रास्ता चुना था। जून-जुलाई के महीनों में होशियारपुर के घोड़े वाले आ चुके थे। खर्च के रुपयों की कमी हो गई थी, किन्तु नेपाल के साहु धर्ममानजी की एक शाखा यहाँ भी खुल गई थी, माहिला साहु वहाँ मौजूद थे, इसलिए मुझे पैसों के मिलने में दिक्कत न हुई।

लदाख से प्रस्थान—ले में मैं 4 जुलाई से 16 सितम्बर तक अबकी लगातार रह गया। काम भी बहुत हुआ। 'मज्झिमनिकाय' का हिन्दी अनुवाद 'तिब्बत में बौद्धधर्म', भोटिया पुस्तकें और यात्रा पर कई लेख लिख डाले।

17 सितम्बर को मुझे ले छोड़ना था। कानूनगो, तहसीलदार, वजीर साहेब सबसे विदाई ली। सबसे ज्यादा अफसोस हुआ जोजफ गेरगेन से बिदाई लेते वक्त। लदाख में वही एक ऐसे व्यक्ति थे, जिनको अपनी भाषा, संस्कृति और साहित्य का बहुत अभिमान है, और उन्होंने अपनी सारी जिन्दगी उसी के अध्ययन में लगा दिया। अब वह बहुत बूढ़े हो गये थे, पके आम की तरह किसी समय वृन्त से टूट सकते थे। गेरगेन से फिर मुलाकात हो सकेगी, इसमें सन्देह था। दोपहर बाद मैं अपने घोड़े पर सवार हुआ। आज बहुत दूर नहीं जाना था, सिर्फ 8 मील पर ठिक से गुम्बा में रहना था। 3 बजे शे के महल में पहुँचा। लदाख का राजवंश ले में राजधानी बनाने से पहिले इसी जगह रहता था। सिन्धु की धार यहाँ से नजदीक है। अब भी यहाँ एक महल और गुम्बा मौजूद है। 100 वर्ष पहिले जब लदाख स्वतन्त्र था, तब तक रानियाँ पुत्र-जन्म के वक्त इसी महल में आती थीं। पचीसों पीढ़ियों तक लदाख के राजा यहीं पैदा होते रहे। उस वंश का उत्तराधिकारी अब भी मौजूद है। ले के राजप्रासाद की तरह शे का प्रासाद भी उसी के हाथ में है, लेकिन बेचारे की इतनी आमदनी नहीं, कि महलों की मरम्मत करा सके। गुम्बा में बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति है। हस्तलिखित कंजूर-तंजूर के बहुत-से पत्रे ढेर किये हुए हैं। 7 साल पहिले यह ढेरी और बढ़ी थी, जान पड़ता है, लोग पत्रों को प्रासाद में लेते

जा रहे हैं। गाँव के पास एक विहार है, जिसमें कुछ पुरानी मिट्टी की मूर्त्तियाँ हैं। यह मूर्त्तियाँ लताओं में बनी हैं और किसी वक्त वह अरूमा के पुराने मठ विहार में रहती थीं। ठिक से दो ही मील था, पाँच बजे हमने वहाँ के लिए प्रस्थान कर दिया। ठिक से गुम्बा लदाख की 6 प्रधान गुम्बाओं में है। यहाँ के अवतारी लामा पर क्या-क्या बीती, इसका जिक्र मैं पहिले कर चुका हूँ। अभी जब तक वह अवतारी लामा जिन्दा है, तब तक दूसरा लामा (महन्त) कैसे बनाया जा सकता है ? हाँ, जब वह मर जायगा, तो लोग फिर उसकी तलाश में निकलेंगे। यह गुम्बा उतनी पुरानी नहीं है, लेकिन कुछ चीजें पुराने विहारों की भी यहाँ रखी हुई हैं। प्रधान मन्दिर में एक लकड़ी का बहुत सुन्दर प्रभामंडल रखा हुआ है, यह भी किसी पुराने विहार से आया है। सम्भव है, यह भी अद्मा के विहार से आया हो, जो कि दसवीं-ग्यारहवीं सदी में बना था। लदाख में इधर 60-70 वर्षों में बहुत-से घर मुसल्मान हो गये। यह देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई, कि खङ्सर परिवार ने मुसल्मान होने पर अपने घर की दो अच्छी मूर्त्तियों को सिन्धु में बहाने की जगह इस गुम्बा में फेंक दिया। आजकल मठ के अधिकारियों में आपस में बहुत झगड़ा है।

दूसरे दिन (18 सितम्बर) मैं आगे के लिए रवाना हुआ। दो मील पर अरूमा विहार का ध्वंसावशेष है। यह बहुत पुराना विहार था। यहाँ कई बड़े-बड़े देवालय थे, जिनकी मिट्टी की मोटी दीवारें अब भी खड़ी हैं। कुछ स्तूपों के भीतर अब भी पुराने चित्रों के चिह्न हैं, लेकिन चरवाहों ने पत्थर से कूट-कूटकर उन्हें बिगाड़ दिया है। नागरी अक्षरों में कच्ची मिट्टी पर छापी बहुत-सी मुहरें स्तूपों में मिलती हैं। मैंने उनमें से 4, 5 इकट्ठा कीं। चित्र निस्सन्देह अच्छे थे। एक चित्र का निचला भाग रह गया था और उस पर 'दीपंकरायनमो' लिखा हुआ था, मैंने चाकू से पलस्तर को काटकर उसे निकाला और ऊन के भीतर बक्स में बन्द करके पटना म्युजियम के लिए ले लिया। मुझे तो विश्वास नहीं था, कि वह सही-सलामत पटना पहुँच जायगा। लेकिन वहाँ ठीक तरह से पहुँचा देख बड़ा सन्तोष हुआ। अब आसपास में दो ही चार घर बौद्ध रह गये हैं, वे भी कुछ सालों में मुसल्मान हो जायेंगे। इसके लिए अफसोस करने की क्या जरूरत है ? आखिर आदमी पुराने धर्म में किसी सामाजिक त्रुटि को देखकर ही नये धर्म को अपनाता है। रणवीरपुर होते मैं हेमिस् गुम्बा के सामने के लकड़ी के पुल पर पहुँचा और उससे सिन्धु को पार किया। ऊपर की ओर चलते हुए सवा चार बजे मर-चेलङ् गाँव में पहुँचा। आज 14 मील आया, लेकिन घोड़े पर होने से कुछ मालूम नहीं हुआ। यह गाँव साढ़े ग्यारह हजार फीट की ऊँचाई पर है। रात में बूँदाबाँदी रही। यहीं होशियारपुर के हमारे घोड़ेवाले भी मिल गये।

दूसरे दिन (19 सितम्बर) 16 मील चलकर मीरू गाँव में रहना था। घोड़े-खच्चरवाले खा-पीकर 10, 11 बजे चलते हैं। हिन्दू होने से उन्हें खाने-पीने में बहुत ख्याल रखना पड़ता है। उपशी गाँव तक हम सिन्ध के किनारे-किनारे गये, फिर ग्य नदी का किनारा पकड़ा। आबादी कहीं नहीं दीख पड़ी। जगह-जगह छोटी-छोटी झाड़ियाँ मिलीं। दिन-भर बादल रहा और गाँव में पहुँचते-पहुँचते वर्षा होने लगी। मीरू बहुत पुराना गाँव है। कहावत मशहूर है—"मूखर्-लस् सुङ व ख-ल-र्चे। युल्-लस् सुङ व मि-रू-र्चे।" (प्रासादों में पुराना खलचे हैं, गाँवों में पुराना मिरू है)। किसी वक्त यह बड़ा गाँव था, दूर तक खँडहर ही खँडहर दिखलाई पड़ते हैं। सभी भाइयों की सिर्फ एक स्त्री होने के कारण तिब्बत की और जगहों की तरह लदाख की भी आबादी कम होती गई, और अभी उम्मेद नहीं कि गाँवों के बढ़ने की नौबत आयेगी। गाँव से आगे एक चट्टान आगे की ओर निकली हुई थी, उसीं के नीचे हम लोगों का डेरा पड़ा। ओरगेन् (रामदयाल) इसी गाँव में रहते थे। वह रहने वाले बुशहर के थे, लेकिन अब यहीं घर-जमाई बनकर रह गये। मुझे वह हेमिस् में मिल चुके थे, यहाँ भी मिल गये। उनके घर पर गया। घर क्या पत्थरों का ढेर था। गेहूँ का होला और 5 अंडे लेकर शाम को वह मेरे पास पहुँचे। उनका बहुत आग्रह था, कि मैं उनके लिए यन्त्र लिख दूँ, मैं कितना ही समझाता; किन्तु वह मानने के लिए तैयार नहीं थे। फिर उन्होंने दो यन्त्र लिखवाये, एक तो सन्तान होने के लिए, और दूसरा गृहिणी के गरम स्वभाव को ठंडा करने के लिए। मैंने ब्राह्मी अक्षर में यही लिख दिया, "मन्त्र कुछ नहीं।" गरम स्वभाव ठंडा होगा, इसकी तो आशा नहीं थी, लेकिन जो कहीं सन्तान हो गई, तो वह हिन्दुस्तान के लामा के मन्त्र का ही प्रभाव समझा जायगा। दूसरे दिन (20 सितम्बर) खाते-पीते साढ़े बारह बज गये। रास्ते में दो-एक घर

मिले, फिर ग्य का बड़ा गाँव आया। ग्य गाँव ग्यारहवीं सदी में मौजूद था। यहाँ का ही भिक्षु चोन्डूसेङ्गे विक्रमशिला में पढ़ने गया था और दीपंकर के साथ तिब्बत लौटा था। यहाँ आसपास पुराने स्तूपों और विहारों के बहुत-से ध्वंसावशेष हैं। 3 मील आगे जाने के बाद लदाख का आखिरी गाँव मिला, अब इसके बाद लाहुल में ही घर दिखलाई पड़नेवाले थे। उस वक्त फसल कट गई थी। हम ऊपर की तरफ जितना ही बढ़ते जा रहे थे, उपत्यका भी उतनी चौड़ी होती जा रही थी। नाले में घास उगी हुई थी। सवा सात बजे हम 16 मील चलकर टिकान पर पहुँचे।

दूसरे दिन (21 सितम्बर) फिर ग्यारह बजे रवाना हुए। आज अगला पड़ाव 22 मील पर था और साढ़े 17 हजार फीट ऊँचे तग्‌लुङ्-ला की जोत को पार करना था। चढ़ाई बहुत कठिन नहीं थी, लेकिन दम बहुत फूल रहा था। हमारे साथी कह रहे थे, यहाँ गन्धक बहुत है, इसीलिए दम फूल रही है, उन्हें क्या पता था कि हम समुद्रतल से साढ़े 17 हजार फीट ऊँचे आसमान में चल रहे हैं, और वहाँ हवा पतली तथा आक्सीजन की मात्रा बहुत कम है। कई खच्चरों को मुश्किल से डाँड़ा पार कराया गया। दूसरी तरफ नीचे आने पर देवृरिङ् का विशाल मैदान मिला। यह मैदान 15 हजार फीट से अधिक ऊँचाई पर है। जाड़ों में भेड़वाले यहीं रहते हैं। इस वक्त वहाँ काफी घास थी। क्याङ् (जंगली गदहा) का झुंड जगह-जगह चर रहा था। अँधेरा होते-होते हम ठहरने के मुकाम रोंगूचिन में पहुँचे। तम्बू वाले पशुपालकों का गाँव था और पास में एक छोटी-सी धार बह रही थी। जान पड़ता है, यहाँ कभी कोई गाँव भी था। हम एक पुरानी दीवार के पास ठहरे। चमरियों के बछड़े खूब फुदक रहे थे।

खाने की चीजों में हम आटा, चाय, चीनी, सेब, उबले अंडे और मांस साथ लाये थे। छठे दिन अब मांस (22 सितम्बर) खाने लायक नहीं रह गया। जान पड़ता है देवरिङ् और आसपास की उपत्यकाओं का पानी बाहर नहीं जाने पाता। यहाँ पानी है भी बहुत कम। आज हम 18 मील चलकर नदी के किनारे ठहरे। शाम को सर्दी काफी थी। पहाड़ ज्यादातर मिट्टी के मालूम होते थे, यहाँ खच्चरों के लिए चरने की घास नहीं थी। लेकिन लोग घास साथ ले आये थे। रात को 9 बजे रुप्शू का एक आदमी वहीं ठहरने के लिए आया। बेचारा गिड़गिड़ाता ही रह गया, लोगों ने हजारों गालियाँ दीं, और धमकाकर भगा दिया। मुझे बहुत बुरा लगा, किन्तु वहाँ कहता किससे। आज ला-च-लुङ् के सोलह हजार छै सौ फीट ऊँची जोत को पार करना था। हमारे साथी सबेरे 7 बजे ही चल पड़े। तीन मील चलने पर चढ़ाई शुरू हुई, लेकिन असली जोत 8 मील पर मिली। यद्यपि यह जोत तग्-लुङ् से ऊँची नहीं थी, लेकिन आदमी और जानवरों को बडा कष्ट हुआ। मेरा घोड़ा ले में पोलो का घोड़ा था, उसकी नाक से भी खून निकल रहा था। तिब्बती नामों का अर्थ तो हमारे साथी जानते नहीं थे, इसलिए उन्होंने एक जोत को लोङ्-लाचा बना दिया और दूसरे को बड़ा-लाचा। लाचा से उनका मतलब इलायची से है। हम लोग जोत पार होकर उतराई में आये। सबने सन्तोष की लम्बी साँस ली। ऐसी जोतों पर यदि कोई घोड़ा-खच्चर चलने गें असमर्थ हो जाता है, तो उसे वहीं छोड़ देना पड़ता है। क्योंकि घास-पात तो कहीं है नहीं, टिकने का मतलब है 2, 4 से और हाथ धोना। लोङ्-लाचा ने किसी पशु की बलि नहीं ली, इसके लिए उन्हें सन्तोष होना ही चाहिए। छूट गये गदहे या खच्चर का फलाहार करने के लिए पहाड़ों में भेड़िये काफी रहते हैं। अब हम चर्‌व नदी के किनारे आ गये। आगे कुछ दूर जाने पर हम लोग ठहर गये। आज 7 मील से ज्यादा नहीं चल सके। यह जगह भी 13 हजार 400 फीट ऊँची थी, लेकिन हम को गरम मालूम होती थी, क्योंकि हम बहुत सर्द जगह से आ रहे थे। नदी पार खूब घास थी। खच्चरवाले जानवरों को वहाँ चरने के लिए ले गये। रात को कोई जानवर घोड़ों पर हमला न करे, इसलिए 3 आदमी भी आटा-चाय लेकर वहीं सोने गये। अभी भी हम काश्मीर रियासत में थे। अगले दिन (24 सितम्बर) सवा ग्यारह बजे हमने कूच किया। हमारे बाएँ से एक नदी आई, यही लदाख (काश्मीर) और कुल्लू की सीमा है। कुछ दूर आगे जाने पर सामने एक पहाड़ की जड़ से पानी की पचासों धाराएँ निकलती दिखाई दीं। हमारे साथी इस जगह को टूटू पानी कहते थे। मुझे आश्चर्य है, ब्राह्मणों ने इसे कोई बड़ा तीर्थ क्यों नहीं बनाया ? पानी का इतना सुन्दर चमत्कार बहुत कम मिलेगा। इसे आसानी से सहस्रधारातीर्थ कहा जा सकता है और दस-बीस श्लोकों

को गढ़कर महातम भी बनाया जा सकता है। शायद, थैलीवाले भक्तों को यहाँ तक आने की हिम्मत नहीं होगी। अगली जोत कितनी खतरनाक है, यह आगे बतायेंगे। सिक्खों को भी हिमालय के तीर्थों की बड़ी जरूरत है, वही क्यों न अपने किसी गुरु के नाम पर सहस्रधारातीर्थ अपना लें। कोई-कोई कहते भी हैं कि यहाँ पाण्डवों ने यज्ञ किया था।

आगे लिङ्री का बड़ा मैदान मिला। यहाँ एक डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सराय है। नदी के किनारे घास भी खूब हैं। जहाँ-तहाँ कुछ पुराने स्तूप मौजूद हैं। हम मैदान के छोर तक पहुँच गये थे। वहाँ एक चश्मा था। बादल चारों ओर से घिर आये थे। लोगों ने यहीं पर 4 बजे ही डेरा डाल दिया। अभी फोलकंडडा की जोत यहाँ से 12 मील थी। यहाँ ठहरने का एक और भी कारण था–कुछ ही दूर पर जंगली चना, और गेहूँ खूब उगा हुआ था। जंगली कहने से आश्चर्य करने की जरूरत नहीं, क्योंकि पहिले सभी अनाज जंगल में पैदा होते थे, आदमी ने उन्हें खेतों में बोना शुरू किया और बुद्धि लगाकर उनसे और अच्छे बीज तैयार किये। गेहूँ का दाना तो मुझे नहीं मिल सका, लेकिन चने का दाना–जो मामूली चने से छोटा था, मैंने पटना म्युजियम के लिए ले लिया।

रात को ही बरफ पड़नी शुरू हो गई। आज (25 सितम्बर) दोपहर तक बरफ और वर्षा पड़ती रही। दोपहर को आसमान खुला, लेकिन लोग अब भी चलने में हिचकिचा रहे थे। जंगली गेहूँ-चने खिलाकर खच्चरों को तगड़ा करने का ख्याल हो रहा था। मैंने कहा–"चार दिन तक ऐसा ही मौसिम रहेगा, चलना हो तो चलो।" उनको चने-गेहूँ का लालच था, और मुझे जल्दी आगे बढ़ने का। कुछ भी हो, उस दिन की भविष्यवाणी ठीक उतरी, और चौथे ही दिन जा के बादल आसमान से हटा। उस दिन वह टस से मस नहीं हुए। इस इलाके में जंगली गेहूँ और चने ही नहीं हैं, बल्कि जंगली भेड़-बकरियाँ भी रहती हैं। प्राणिशास्त्रियों और कृषिशास्त्रियों के अनुसंधान के लिए यह अच्छी जगह है। इन अनाजों की घास का महत्व पशु-पालक खूब समझते हैं, और गर्मियों में गूजर हजारों भेड़ें इधर चराने के लिए ले आते हैं।

लाहुल में–अगले दिन (26 सितम्बर) भी बादल नहीं हटा। लोग घबराने लगे, और साढ़े ग्यारह बजे वहाँ से चल पड़े। 5 मील पर केलू (केनलुङ्) की सराय थी। यहाँ मैंने भी जंगली चनों को उगे हुए देखा। रास्ता बहुत खराब है, खासकर छोटे-बड़े लाखों पत्थरों से ऊबड़-खाबड़ के कारण, डाँड़ा से दो-तीन मील पहिले यूननूछो झील मिली। इसका घेरा एक मील से ज्यादा नहीं होगा और इस वक्त तो पानी और भी कम था। 104 वें मीलवाले पत्थर से हम बरफ पर चलने लगे और 102 वाले तक वह बराबर वैसी ही बिछी हुई थी, फिर कुछ कम हुई। 103-104 वें मील पत्थरों के बीच में बड़ा-लाचा जोत मिली। वहाँ खूब बरफ पड़ रही थी। कुछ घोड़ों पर चढ़े कुछ पैदल, हम एक पाँती से चल रहे थे। खच्चरों की घंटियाँ टुनटुना रही थीं, जान पड़ता था बराती जा रहे हैं और उनके ऊपर खीलें बरसाई जा रही हैं। हम 4 बजे जोत पर पहुँचे। वहाँ बरफ का खेत मालूम होता था। 2 मील नीचे उतरने पर सूरज दल झील मिली, आकार में छोटी पर बहुत गहरी। हम थोड़ा ही आगे बढ़े, कि लोग अत्यन्त संत्रस्त-से दौड़ने लगे। यह बहुत खतरनाक जगह है। बगल की पहाड़ी से हर वक्त छोटे-बड़े पत्थर गिरते रहते हैं। यदि मैं फाहयान और ह्वेनचाङ् के समय यात्रा करता होता, तो लिखता–इस पहाड़ पर एक बहुत भारी दैत्य रहता है, वह हर वक्त पत्थर बरसाया करता है, और कितने ही आदमी और पशु बेचारे प्राण से हाथ धोते हैं। मेरे सामने भी दो-चार छोटे-छोटे पत्थर गिरे। पहिले के गिरे हुए भी वहाँ मौजूद थे। मेरा घोड़ेवाला सुक्खू कह रहा था कि पत्थर के लगने से पिछले साल उनकी चाय की मोटरी गिर गई और पीछे आनेवाली खचरी तो टाँग झूल गई थी। बरफ इस वक्त बराबर पड़ रही थी। इस पहाड़ से पत्थरों के गिरने का कारण है–मिट्टी का नाम नहीं है, लाखों बरसों से टूटकर अरबों छोटे-बड़े पत्थर जमा हैं, जो बरफ के पिघलने से खिसकते और एक-दूसरे से टकराते नीचे की ओर गिरते हैं।

उतराई मुश्किल नहीं थी, कहीं-कहीं पैर फिसल रहा था। मैंने अपने घोड़े को आगे बढ़ाया। 98, 97वें मील वाले पत्थरों के बीच जीजीङ्बड़ की सराय मिली। लोगों ने परसेव (दो-सम्) में आज रहने के लिए कहा था, मैं वहाँ सराय में पहुँचा। सराय बहुत गन्दी थी। एक फुट लेंड़ी-गोबर भरा हुआ। 1 घंटा प्रतीक्षा की,

लेकिन वह डाकबँगले के पासवाली सराय में ठहरनेवाले थे, इसलिए मैं भी वहाँ चला गया। सावन के महीने में यहाँ बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें जाँस्‌कर, लदाख, तिब्बत, स्पिति, लाहुल के हजारों आदमी आते हैं; ऊन, नमक, भेड़-बकरी तथा नीचे की चीजों की खरीद-फरोख्त होती है।

अगले दिन 27 सितम्बर में 9½ बजे ही घोड़े से रवाना हो गया। 93 वें मील से 87 वें मील के पास तक रास्ता उतराई का था और कहीं-कहीं वह बहुत कठिन था। इस जगह पहाड़ों पर बाँसी-जैसी घास थी। नदी की दूसरी ओर भोजपत्र के वृक्ष दिखलाई पड़ते थे। अब हम भागानदी के किनारे-किनारे चल रहे थे। 91 वें मील के पास पहिला देवदार दिखलाई पड़ा। लदाख के वृक्ष बनस्पति-शून्य नंगे पहाड़ों को साढ़े तीन महीनों से देखते-देखते आँखें हरियाली के लिए तरस रही थीं। 86वें मील के बाद पहिला घर मिला। यह घर भी लदाखियों जैसा था। इस इलाके को दारचा कहते हैं। सारे लाहुल-प्रदेश की आबादी 10, 12 हजार से ज्यादा नहीं, किन्तु यहाँ आधी दर्जन भाषाएँ बोली जाती हैं, और पोशाक में भी एक-दूसरे से अन्तर है। दारचा की औरतें लदाखी औरतों की भाँति ही फीरोजाजटित नागफणवाला भूषण और कानों पर ऊनी हाथी-कान लगाती हैं; हाँ उसके साथ-साथ नाक में एक दुअन्नी-भर की लवंग भी, जो बतलाती है कि हम हिन्दुस्तान के पास पहुँच रहे हैं। आगे तीन नदियों की सम्मिलित धार आई। हम उसके दाहिने किनारे से चलने लगे। अब देवदार काफी दिखलाई पड़ रहे थे। रास्ते के नीचे बहुत दूर तक छोटे-बड़े पत्थर पड़े हुए थे। मालूम देता था, सचमुच ही सैकड़ों दैत्यों ने हजारों वर्षों से पत्थर तोड़-तोड़कर यहाँ फेंका है। पीछे ठाकुर खुशहालचन्द ने इस जगह का इतिहास बतलाया। वहाँ 108 घरों का एक बहुत अच्छा गाँव बसता था। एक दिन लोग किसी दावत में भोजन करने के लिए इकट्ठा थे। सब लोग बैठ गए, उसी वक्त तिब्बत की ओर से एक बूढ़ा आया। पाँती में वह जहाँ भी बैठना चाहता, लोग हटो-हटो कह देते। एक लड़के ने अपनी जगह बूढ़े को दे दी। लोगों ने भोजन किया, शराब पी और नाचने लगे। इसी वक्त पत्थरों की वर्षा होने लगी। बूढ़ा तब-तक लापता हो गया था। सारा गाँव बरबाद हो गया। लड़के को हवा उड़ा के नदीपार ले गई, और उसकी सन्तान अब भी वहाँ लुम् पाचन गाँव में बसती हैं। वहाँ एक बहुत जबर्दस्त भूत रहता है। ठाकुर खुशहालचन्द कह रहे थे, कि दिन में भी उधर से गुजरना खतरे से खाली नहीं है। मैं तो सोचने लगा था कि अकेले चलकर बड़ी गलती की। ठा. खुशहालचन्द ने यह भी बतला दिया, कि हेमिस् के लामा ने 2, 3 साल पहिले मंत्र से उसे बाँध दिया है, तब मुझे बहुत सन्तोष हुआ। लेकिन इतनी बात सच मालूम होती है, कि पहिले वहाँ कोई गाँव था। 1937 में जब मैं दूसरी बार लाहुल गया, तो सड़क के किनारे पत्थरों को हटाकर देखा, वहाँ स्याही से भोजपत्र पर लिखे कुछ मंत्र मिले थे। संभव है, किसी वक्त इन पत्थरों के हटाने में ज्यादा परिश्रम किया जायगा और उस वक्त ध्वस्त गाँव कितनी ही ऐतिहासिक चीजों को प्रदान करेगा। आगे पहाड़ों पर और देवदार के जंगल बढ़ते गये, 2, 3 गाँवों को पार कर हम कोलङ् में पहुँचे। यह कुल्लू से 79 मील पर है। अभी ढाई बजा था, लेकिन हम ग्यमुर् के ठाकुर मंगलचन्द से मिलना चाहते थे। मिस्टर शटलवर्थ ने एक लम्बे पत्र में लाहुल-स्पिति, और जाँसकर की पुरानी मूर्त्तियों और गुम्बाओं के बारे में लिखा था और यह भी कहा था, कि आप ठाकुर मंगलचन्द से जरूर मिलें, वह आपको बहुत-सी पुरानी चीजों का पता देंगे। मैं ठाकुर साहेब के घर में गया। भीतर अँधेरा था, मैं चुपचाप कितनी देर तक खड़ा रहा। ठाकुरानी अपने मजदूरों को खिला-पिला रही थीं, खुशहालचन्द कुल्लू हाई स्कूल में 9 वें दर्जे में पढ़ रहे थे, वह भी वहाँ चुपचाप बैठे थे। देर तक खड़े रहने के बाद वह मेरे पास आये। मैंने ठाकुर मंगलचन्द के बारे में पूछा और शटलवर्थ की चिट्ठी दिखलाई। वह मुझे सबसे ऊपर के कमरे में ले गये। कमरा अच्छा, साफ हवादार था। ठा. खुशहालचन्द ने बतलाया कि ठाकुर साहेब केलङ् गये हैं, लेकिन आज लौट आयेंगे। रात को सोने के लिए चारपाई आ गई। खुशहालचन्द की बीवी और एक नौकरानी मेरे लिए बिस्तरा बिछा रही थीं, और साथ-साथ हँसी-मजाक करती जा रही थीं। वह शुद्ध तिब्बती बोल रहीं थीं, मेरे समझने में तो कोई दिक्कत न थी, किन्तु मैं चुपचाप सुनता जा रहा था। मैं उस वक्त यह नहीं अनुमान कर सकता था, कि उनमें वह हृष्ट-पुष्ट बलिष्ठ तरुणी खुशहालचन्द की बीवी है। खुशहालचन्द को वह तीन उँगुली से उठा सकती थी। ऐसा अनमेल विवाह क्यों ? लाहुल में कोलङ् खङसर् और गुनदला में ठाकुरों के

तीन परिवार हैं। वह किसी समय अपने-अपने इलाके के सामन्त राजा थे। और उनकी ब्याह-शादी अपने ही जैसे उच्च वंशों में हुआ करती थी। अब भी वह इन्हीं तीनों परिवारों में शादी करते हैं, इसलिए लड़के-लड़कियों की जोड़ी बैठाना उनके हाथ में नहीं। रात को देर से ठाकुर मंगलचन्द आये। उन्होंने आकर मेरे आराम के लिए पूछ-ताछ की।

अगले दिन (28 सितम्बर) ठाकुर मंगलचन्द से बात होती रही। उन्होंने बतलाया कि कोलङ् में तिब्बत सम्राट स्रोङ्-चन के वंश का कोई सामन्त शासन करता था। उस वक्त एक लड़की गद्दी पर थी। नीचे के पहाड़ों से नीला राणा नामक एक राजकुमार आया। उसने लड़की से ब्याह कर लिया। नीला राणा बहुत जुल्म करता था, लोग उससे तंग आ गये थे। एक दिन उसने शिकार मारा। शिकार खड्ड में गिर गया। कोई उतरने के लिए तैयार नहीं था। नीला राणा खुद उतरा, लेकिन रस्से की सहायता बिना ऊपर नहीं आ सकता था। उसके नौकर-चाकर नीला को वहीं छोड़कर चले आये। कोलङ् ठाकुरवंश उसी लड़की की सन्तान है—माँ की तरफ से तिब्बती और बाप की तरफ से पहाड़ी राजपूत। मुझे पता लगा कि पास की गुम्बा में एक बहुत सुन्दर चित्रपट है। गुम्बा ठाकुर साहेब के घर से आधे मील की चढ़ाई पर थी। वह मुझे वहाँ ले गये। चित्रपट रेशम पर बना है, और बहुत सुन्दर है।

भोजन और थोड़ा विश्राम करके दो बजे मैं अपने घोड़े पर केलङ् के लिए रवाना हुआ। रास्ता दस मील का है, लेकिन मुझे कोई जल्दी नहीं थी; और तीन घंटे चलकर केलङ् (10100 फीट) पहुँचे। घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये थे। केलङ् लाहुल का शासनकेन्द्र है। लाहुल यह ल्ह-युल् (देवदेश) से बिगड़कर बना है, लेकिन यहाँ वाले अपने प्रदेश को ह-श अथवा गर्-जा कहते हैं। लोग तिब्बती बौद्ध धर्म को मानते हैं, और नाम प्रायः दो-दो रखते हैं, जैसे ठाकुर मंगलचन्द का तिब्बती नाम है टशी-दावा और उनके पुत्र खुशहालचन्द का कलूजङ्-दावा। जिस वक्त पंजाब में सिक्खों का राज था, तो लाहुल ने महाराजा रणजीतसिंह की अधीनता स्वीकार की थी। लेकिन जैसे ही अंग्रेज कुल्लू तक पहुँचे, वैसे ही लाहुल के ठाकुरों ने अधीनता स्वीकार करते हुए अंग्रेजों के पास भेंट भेजी। अंग्रेजों ने लाहुल पर हथियार का कानून कभी नहीं लगाया, आज भी वहाँ बन्दूक पर लाइसेंस नहीं है। शायद हिन्दुस्तान में कुर्ग और लाहुल दो ही ऐसे प्रदेश हैं, जहाँ हथियारों का कानून नहीं है। केलन में तहसीलदार के भाई ठा. पृथ्वीचन्द मिले। यह ठाकुर मंगलसिंह के बड़े भाई के लड़के हैं। शुरू ही से लाहुल की तहसीलदारी कोलङ् के ठाकुर-खानदान में चली आई। पृथ्वीचन्द एफ. एस-सी. में फेल हो गये। आजकल वह फौज में अफसर होने की कोशिश कर रहे थे।

अगले दिन (29 सितम्बर) ठाकुर पृथ्वीचन्द के साथ घोड़े पर चढ़कर मैं गुङरङ गया। लदाख (स्तोक्) की रानी इसी खानदान की हैं। यहाँ की गुम्बा में सहस्रबाहु अवलोकितेश्वर की मूर्ति है। उस वक्त वहाँ सेरा गुम्बा का एक ढोंगी ढावा ठहरा हुआ था। गुम्बा की दीवारों में चित्र बने हुए हैं और लता के साथ कुछ मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ टूट गई हैं। यह मूर्त्तियाँ काफी पुरानी हैं। कड़ी उतराई उतरकर हम भागा के किनारे आये, और पुल पार करके जो-लिङ् गये। यहाँ एक मन्दिर में बुद्ध और देवताओं की पुरानी काष्ठमूर्त्तियाँ हैं। मन्दिर की मरम्मत करने की कोई परवाह नहीं करता। वर्षा के पानी से मूर्तियों को बहुत नुकसान पहुँचा है। हम केलङ् लौट आये। यहाँ मोरावियन् मिशन का बहुत दिनों से काम हो रहा है, लेकिन लोगों को ईसाई बनाने में उसे बहुत कम सफलता हुई। पादरी अश्बो बहुत भद्र पुरुष हैं, वह चाहते हैं कि केलङ्वाले सुशिक्षित बनें और सुखी रहें।

दो बजे हम आगे के लिए रवाना हुए। नजदीक का पुल टूट गया था, इसलिए कठिन चढ़ाई-उतराई के बाद हमें नीचे के पुल से भागा को पार करना पड़ा। फारदङ् अगला गाँव था, यहाँ कपड़ा बुननेवाले बुशहरियों के बहुत-से घर थे, पहाड़ में खोदी कुछ मूर्त्तियाँ भी थीं। बाईं ओर के एक ऊँचे पहाड़ पर गनधोला की गुम्बा है, इसे गुरुघंटाल भी कहते हैं, और इसका सम्बन्ध सिद्धवज्रघंटापा से जोड़ा जाता है। यहीं नीचे चन्द्रा और भागा दोनों नदियों का मेल होता है, फिर वह चन्द्रभागा बन चम्बा रियासत की ओर जाती है। अब हमारा रास्ता चन्द्रा के दाहिने तट से था। आगे 58 वें मील पर हम गूंदला पहुँचे। गूंदला के ठाकुर फतेहचन्द से

पृथ्वीचन्द की बहन ब्याही है, और फतेहचन्द की बहन खुशहालचन्द से। यहाँ के ठाकुरों का मकान बहुत विचित्र-सा है, ज्यादातर काठ का है, और छै तल्लों में विभाजित है—दूर से देखने में एक बड़ी आलमारी-सा मालूम होता है। यद्यपि ठाकुर फतेहचन्द इस वक्त कुल्लू के मेले में गये थे, लेकिन पृथ्वीचन्द हमारे साथ थे, कोई कष्ट नहीं हुआ। त्रुमबा (फाफड़) के आटे का चीला, मक्खन और खट्टी दही की चटनी खाने में बहुत अच्छी लगी। तीसरे तल्ले पर मन्दिर है। मूर्त्तियों में प्रथम संस्थापक ठाकुर की भी मूर्त्ति है, उसकी पोशाक मुगलकाल की पगड़ी और चौबन्दी। तिब्बती भाषा में 'कर्मशतक' का एक पुराना खंडित हस्तलेख देखा। यहाँ एक लचकदार खाँडा रखा हुआ है, जिसके बारे में कहा जाता है कि यह तिब्बत में मिला था, पहिले टूटा हुआ था, फिर जुड़ गया। संगमरमर की एक जैनमूर्त्ति भी है, जो बुद्ध के नाम से पूजी जा रही है। कुछ और भी तिब्बती हस्तलिखित ग्रंथ हैं।

ठाकुर पृथ्वीचन्द को यहीं से लौट जाना था, मुझे आज खोक्सर पहुँचना था। लेकिन बीच में कुछ पुरानी मूर्त्तियों का पता लगा था, इसलिए मुझे वहाँ भी जाना था। अगले दिन (30 सितम्बर) साढ़े आठ बजे रवाना हुआ। 55 वें मील पर सुक्खू और उनके साथी ठहरे हुए थे, उन्होंने वहाँ घोड़े को दाना खिलाया, फिर मैं सीसू गाँव की ओर चला। वह रास्ते से हटकर पहाड़ के ऊपर था। किसी वक्त लाहुल के सारे पहाड़ देवदार के वृक्षों से ढके रहे होंगे। लेकिन सैंकड़ों वर्षों से लोगों ने वृक्षों को बेदर्दी से काटा है। फलतः जंगल बहुत कम रह गया है। कूट का रोजगार जब से चमका है, तब से लोग और नये खेतों के बनाने में पिल पड़े हैं। कूट एक बहुत ही सुगन्धित जड़ है। उस वक्त वह 5 रुपया बट्टी (1 बट्टी—30 छटाँक) बिकता था। कूट पहिले सिर्फ जांस्कर के जंगलों में मिलता था। लाहुलवाले वहाँ कूट चुराने जाया करते थे। फिर उन्होंने यहाँ लगाकर देखा और अब वह बाकायदा कूट की खेती करते हैं, और कूट सिर्फ कश्मीर की इजारादारी नहीं रह गई। सीसू की मूर्त्तियाँ मुझे उतनी पुरानी नहीं जँचीं। वहाँ से दो गाँव और आगे जाने पर मुझे वैद्य घास काटता हुआ मिला, जिसके पास कुछ पुरानी मूर्त्तियों को बतलाया गया था। पीतल की ललितासना मूर्ति वस्तुतः सुन्दर है, कहा जाता है वह बनारस से उड़कर आई है। दूसरी छोटी-सी मूर्त्ति मुकुटधारी धर्मचक्र प्रवर्त्तन-मुद्रासन बुद्ध की है। इसकी पीठ पर संस्कृत में कुछ लिखा हुआ है। अक्षर 10वीं सदी के आसपास के मालूम होते हैं। वैद्य दूर तक मुझे पहुँचाने आया। बेरास्ता ही उतरकर चन्द्रा के किनारे आना पड़ा। रास्ते की कठिनाई के लिए क्या पूछना ? सूर्यास्त के समय खोक्सर पहुँचा। हमारे साथी पहिले ही से डाकबँगले के पास डेरा डाले हुए थे।

कुल्लू में—कुल्लू 53 मील रह गया था। अगले दिन (1 अक्टूबर) मैं 7 बजे सबेरे ही चल पड़ा। घोड़े वाले अभी हुक्का-चिलम में लगे हुए थे। कुछ दूर तक तो मामूली चढ़ाई रही, फिर 3 मील जबर्दस्त चढ़ाई आ गई। आगे रटङ्जोत का समतल-सा मैदान मिला। उच्चतम स्थान से जरा-सा आगे बढ़ने पर व्यास-कुण्ड था। व्यास नदी का आरम्भ इसी से होता है, ब्राह्मणों ने इसे छोटा-मोटा तीर्थ बना लिया और इसे व्यासमुनि का स्थान बतलाते हैं। उन्हें यह पता नहीं कि व्यास नदी का नाम 'विपाश्' है। कुंड के पास एक खंडित मूर्त्ति हैं। आगे सिर्फ एक जगह थोड़ी-सी बरफ मिली, जो फिसलाऊ भी थी। उतराई में घोड़े पर चढ़ना सवार और जानवर दोनों के लिए तकलीफ की बात है। मैं लगाम पकड़े पैदल चल रहा था। सोचा लगाम छोड़ दें, घोड़ा को ऐसे ही ले चलें, लेकिन वह नीचे की ओर चल पड़ा। खैर, दौड़कर किसी तरह उसे हाथ में लिया। कितनी ही दूर जाकर फिर उतराई आई। लोगों ने बतलाया था कि वहाँ साँपों की मढ़ी है, सैंकड़ों साँप पड़े रहते हैं, लोग मिठाई चढ़ाते हैं, और नाग भगवान को हाथ जोड़ते हैं। मैं भी नाग भगवान का दर्शन करना चाहता था, पर उस वक्त उनका पता नहीं था। नीचे एक पुल मिला। अब जगह अच्छी आ गई थी, इसलिए घोड़े पर चढ़ गया। मैंने उसे तेज किया। कई बार व्यास नदी को आरपार करना पड़ा। सड़क राला के डाक बँगले से ही अच्छी मिल गई थी। रास्ते में एक जगह लदाख के सेब और साथ के परोठे खाये। दो बजे मैं मनाली पहुँच गया। यह अच्छा-खासा बाजार है और पंजाबी दूकानदार हर तरह की चीजें बेंचते हैं। पास में देवदारों का एक अच्छा-सा बाग है, जिसे जंगल के मुहकमे ने लगाया है। सेब के बगीचे भी यहीं से शुरू हो जाते

हैं, मोटर कुल्लू जाने के लिए तैयार थी। कुल्लू यहाँ से 23 मील है। गोया आज मैं 30 मील घोड़े से आया। सवाल था, यहाँ रहकर सुक्खू का इन्तजार करें या आगे चले जायँ। मीरू दूकानदार से सुक्खू की जान-पहिचान थी। मैंने घोड़े के खिलाने के लिए चार आने पैसे दे दिये और कह दिया कि इसे सुक्खू को दे देना। सवा दो रुपया दे मोटर पर बैठा। कुल्लू तक सड़क काफी चौड़ी नहीं है, इसलिए एक वक्त एक ही ओर लारी आती है और मनाली तथा कुल्लू दोनों ओर की मोटरें कटराई में मिलती हैं। यहाँ हरे-हरे दरख्तों से ढँके पहाड़ दोनों तरफ हैं। सड़क के किनारे बगीचों में लाल-लाल सेब लटके हुए थे। शाम को मैं कुल्लू पहुँच गया। लाला थेब्बड़मल के लड़के रुलियाराम ने लदाख ही में पता बता दिया था, इसलिए मैं उनके घर पर पहुँचा। लाला थेब्बड़मल के देखने से मालूम होता था, कि कोई महागरीब है, लेकिन उन्होंने खूब धन पैदा किया है। कुल्लू में उंनकी पाँच, छै दूकानें हैं। एक लड़का लदाख का अच्छा सौदागर है, दूसरा यारकन्द (चीनी तुर्किस्तान) में रोज़गार करता है। लाला थेब्बड़मल व्यापारी ही नहीं हैं, बल्कि खुद ही अपने मकानों के इंजीनियर हैं, किंतु आदमी सजग न रहे, तो दिन में ज़रूर कोई न कोई अंग टूट के रहेगा।

आजकल कुल्लू में दशहरे का मेला लगा हुआ था। मैं भी दूसरे दिन (2 अक्तूबर) मेला देखने गया। हर तरह की चीजें तो बिकती ही हैं, लेकिन यहाँ की खास बात थी सारे पहाड़ के 365 देवताओं का एकत्रित होना। मुझे संख्या तो पूरी नहीं मालूम होती थी, लेकिन देवता आये थे बहुत सजधज के। छोटी-छोटी डोलियाँ थीं, जिनके भीतर देवता कपड़ों में लपेटकर रखे थे। शायद वहाँ कपड़े और चाँदी के पत्तर पर बेढंगी तसवीरें खुदी हुई थीं। अपने-अपने देवता को लोगों ने अलग स्थान निवास-स्थान में रखे थे। स्त्री-पुरुष शराब पी-पीकर खूब मस्त थे, जगह-जगह नाच हो रहा था। स्त्रियों की नाक में दुअन्नी-भर की गोल लवंग जरूर होती थी और किसी-किसी ने तो नाक में तीन-तीन छेद करवाये थे। तिब्बत की स्त्रियों ने अभी इसे नहीं समझा है, कि नाक का सूँघने के अलावा दूसरा भी इस्तेमाल हो सकता है। दूसरा मार्के का आभूषण था टिकली। पोशाक–पाजामा, कुर्त्ता और शिर पर रूमाल। किसी-किसी ने कुर्त्ते के ऊपर जाकेट भी पहिन रखी थी। यहाँ के स्त्री-पुरुष दोनों सिगरेट के शौकीन हैं। कुल्लू में एक राजा भी रहता है, लेकिन अब वह जागीरदार-भर था। उसका महल सुल्तानपुर में है। टालपुर, सुल्तानपुर की अपेक्षा अखाड़ा बाजार में ज्यादा बड़ी-बड़ी दूकानें हैं। दूसरे दिन (3 अक्तूबर) रावण जलाया गया, देवताओं को पाँच प्राणियों–मछली, मुर्गी, मेष, भैंसा और सूअर की बलि दी गई। कुल्लू सिर्फ सेब ही के लिए मशहूर नहीं है, बल्कि इधर पहाड़ की एक बड़ी मंडी है। तिब्बत का ऊन यहाँ आता है। हमारे साथ चीनी तुर्किस्तान के चरस को ढो-ढोकर ला रहे थे और यहीं से वह सारे हिन्दुस्तान में जाती है।

4 अक्तूबर को मेले की तरफ गये, मालूम हुआ, घोड़ेवाले कल ही यहाँ पहुँच गये। सामान काफी था, सबको अपने साथ ले जाना जहमत समझ मैंने यहीं से रेलवे ऐजेन्सी को देकर पटना के लिए बिल्टी करा दिया। लाला थेब्बड़मल खाने-पीने में कंजूस नहीं थे। उनके यहाँ मांस पकता था और कुल्लू के झीवर (कहार) व्यास की मछलियों को पकाकर बेंचते थे। वह स्वादिष्ट थीं।

5 अक्तूबर को सबेरे ही उठकर हाथ-मुँह धो नाश्ता किया। मोटर साढ़े 6 बजे से आकर मेले के मैदान में ठहरी रही। फिर 8 बजे डाक लेकर वहाँ से रवाना हुई। रास्ते में गद्दियों की भेड़ें मिलती थीं, और उनके हटने में देर होती थी। अब हमें गरमी मालूम हो रही थी। 11 बजे मंडी पहुँचे, यहीं मध्याह्न-भोजन किया। 12 बजे फिर लॉरी चली। थोड़ा ही आगे व्यास का पुल पार करना पड़ा। पुलवाले ने एक पैसा महसूल लिया। कुछ देर चलकर फिर हमें पहाड़ों पर ऊपर-ऊपर चढ़ना पड़ा। एक जगह और रियासत को 6 आना कर देना पड़ा। 4 बजे हम योगेन्द्र नगर पर पहुँच गये। आर्यसमाज में ही गुजारा हो सकता था, क्योंकि सनातनधर्म मन्दिरवाले शायद हमारे भक्ष्याभक्ष्य से सन्तुष्ट न होते।

6 अक्तूबर को 9 बजे सबेरे हमारी गाड़ी रवाना हुई। बैजनाथ मन्दिर आने पर बहुत गरमी मालूम होने लगी। मैंने समझा था, अक्तूबर में गर्मी खतम हो जायेगी। गाड़ी में भीड़ नहीं थी। ज्वालामुखी-रोड स्टेशन को पार किया, देवी का दर्शन नहीं कर सके, इसके लिए अफसोस रहा। एक सज्जन ज्ञानयोग, कर्मयोग पर

बात करते रहे। अन्त में उन्हें मालूम हुआ कि मैं नास्तिक हूँ, तो उन्हें कुछ आश्चर्य हुआ। साढ़े 5 बजे पठानकोट पहुँचे। छोटी लाइन खतम हो गई, और बड़ी लाइन की गाड़ी 6 बजे रवाना हुई। अमृतसर में गाड़ी बदलने की जरूरत नहीं पड़ी। मैं साढ़े दश बजे रात को लाहौर पहुँच गया।

लाहौर में (7-11 अक्तूबर 1933 ई.)–लाहौर से मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध है, लेकिन पुराने सम्बन्ध वाले स्थानों में सालों बाद जब आदमी जाता है, तो कितने ही परिचित चेहरों को सदा के लिए विलुप्त हो गया देखता है, जिससे दिल पर हल्की-सी टीस लगती है। यह प्रसन्नता की बात थी, कि एक पुराने मित्र पं. सन्तराम वहाँ मौजूद थे। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप तो कल स्टेशन पर लेने गये थे, किन्तु मैं वहाँ से चला आया था। वह कहाँ छोड़नेवाले थे, इसलिए उनके घर पर चला जाना पड़ा। लाहौर में मुझे एक विशेष कार्य के लिए प्रयत्न करना था, वह था पंजाब-विश्वविद्यालय में तिब्बती भाषा को भी परीक्षा के लिए स्वीकार कराना। डाक्टर बुलनर उस वक्त विश्वविद्यालय के वाइस-चान्सलर थे। उन्होंने इस विषय में बड़ी दिलचस्पी दिखाई और कहा कि यदि कश्मीर-सरकार का शिक्षाविभाग सिफारिश कर दे, तो हमारे काम में आसानी हो जायेगी। कश्मीर के शिक्षाविभाग से आशा नहीं थी और वह बात वहीं की वहीं पड़ी रही।

यद्यपि अक्तूबर का प्रथम सप्ताह बीत चुका था, किन्तु मुझे यहाँ गर्मी मालूम हो रही थी। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने अपना जीवन निरुक्त के लिए दे दिया था। अपने सामने मैंने उन्हें नवतरुण देखा था, जब कि मैं पहले-पहल लाहौर गया था, किन्तु अब वह शरीर और मन दोनों से बूढ़े हो गये थे। मालूम होता था कि अब वह अपने को जीवन के अन्तिम छोर पर समझ रहे हैं। प्रोफेसर सिल्व्याँ लेवी का पत्र लेकर कुमारी लाजवंती रामकृष्णा कश्मीर गई थीं, किन्तु तब तक मैं लदाख चला गया था। वहाँ डाक से उनका पत्र मिला। मैंने लाहौर आने पर उनको सूचित कर दिया था। उनके पत्र के उत्तर में डाक्टर साहब ने बड़ी नम्रता के साथ लिख दिया था कि मैं उनके यहाँ ठहरा हूँ, यदि इच्छा हो (If she Cares) तो अमुक समय मिल सकती है। 'इच्छा हो' के लिए डाक्टर साहब ने जिस शब्द का प्रयोग किया था, उसका अंग्रेजी से अक्षरशः अनुवाद करने पर अर्थ निकलता था 'यदि गरज हो'। इस पर लाजवंती जी बहुत नाराज हो गईं। मुझे और डाक्टर साहब को बहुत सफाई देनी पड़ी। डिक्शनरियाँ खोलकर भी हम दिखाने को तैयार थे, किन्तु उधर 'तिरियाहठ' था। लाजवंती जी ने मीठी-मीठी चाय पिलाई। मुझ पर तो वह रंज नहीं थीं, किन्तु मालूम नहीं, डाक्टर साहब को उन्होंने क्षमा किया या नहीं ? डाक्टर साहब होम्योपैथिक डिब्बा भी रखते थे। मैंने पूछा, यह क्यों ? उत्तर मिला–सचमुच राजी-खुशी से नहीं, ठोंक-पीटकर वैद्य बनाया गया हूँ। पहाड़ पर जाया करता था। लोग डाक्टर सुनकर दवाई लेने चले आया करते थे। यह डाक्टर नहीं, वह–इसके बारे में कौन माथा-पच्ची करे, मैंने होम्योपैथी का डिब्बा मँगा लिया और जो आता उसे दवा देता था। यह अच्छी तरह जानता ही था, कि होम्योपैथी की गोलियाँ नुकसान नहीं करतीं। "और फायदा भी रामभरोसे ही होता है"–मैंने हँसते हुए कहा।

लाहौर में कुछ व्याख्यान भी देने पड़े। लाहौर अब 18 साल पहलेवाला लाहौर नहीं था। अभी वह वहाँ नहीं पहुँचा था, जहाँ कि वह उजड़ने के समय पहुँचा था, किन्तु यहाँ का शिक्षित मध्यम-वर्ग यूरोप के आधे मार्ग से ही यूरोप की भूमि पर पहुँच गया था। रमणियाँ पेरिस की अप्सराओं का कान काट रही थीं। लाहौर की जन-संख्या भी तेजी से बढ़ती जा रही थी। शिक्षा ही लोगों को गाँवों की तरफ से नगरों की तरफ फेंकती है। यहाँ तो हिन्दुओं को शहरों की तरफ भागने के लिए मजबूरियाँ भी पैदा हो गई थीं। उस समय वह लाहौर को अलकापुरी बनाने में लगे हुए थे, किन्तु तब उनको क्या पता था–"सब ठाठ पड़ा रह जायेगा, जब लाद चलेगा बनजारा।"

11 अक्तूबर को अपने दो मित्रों पं. सन्तरामजी और प. भूमानन्दजी के साथ स्वामी सत्यानन्दजी से मिलने अमृतधारा गये। आर्यसमाज के ये बड़े प्रसिद्ध वृद्ध संन्यासी थे। जैन साधु से वह आर्यसमाजी बने थे। उनके मधुर व्याख्यानों की बड़ी धूम रहती थी। मैंने मुसाफिर विद्यालय के जमाने में आगरे में उनके दर्शन किए थे। लाहौर में जब पहिले-पहिल आया, उस वक्त उन्होंने मेरी सहायता की थी। उन दिनों आर्यसमाजी प्रचारक बनने की मुझमें धुन थी। अब मैं नास्तिक हो गया था। ईश्वर के अभाव का मुझे चौबीसों घंटे साक्षात्कार होता था

और उधर स्वामी सत्यानन्दजी भगवान का दर्शन कर चुके थे। अजब विरोधी-समागम था। उनका स्वभाव भी मधुर है और मैं भी बात करने में उत्तेजित नहीं होता। मैंने चर्चा चलने पर अपनी नास्तिकता के बारे में स्पष्ट कहा। वह आँखें मूँदे ध्यानावस्थित हो बातें कर रहे थे, ईश्वरदर्शन की भी बातें करते जा रहे थे।

11 अक्तूबर को मैं लाहौर से पूरब की ओर चला।

1. जाड़े के दिन (1933 ई.)

अबकी लदाख-निवास में मैंने 'मज्झिमनिकाय' का पाली से हिन्दी में अनुवाद किया था। उसका दिसम्बर तक छप जाना भी अनिवार्य था, इसलिए प्रयाग में रहने की आवश्यकता थी; क्योंकि वहीं लॉ जर्नल प्रेस में पुस्तक दी जानेवाली थी। लेकिन, बीच में जहाँ-तहाँ मित्रों के आग्रह को पूर्ण करना भी आवश्यक था।

बनारस-सारनाथ–हमारी गाड़ी लाहौर से फैजाबाद होती सीधे बनारस पहुँची। यहाँ के मित्र सभी बाहर गये हुए थे। 13 अक्तूबर को भाई साहब मौलवी महेशप्रसाद से मिलने नगवा गया। अब बड़े परिवार के स्वामी थे, लेकिन आर्यसमाज की लगन अब भी उनमें बनी हुई थी। 14 ता. को सारनाथ गये। अनागरिक धर्मपाल के देहान्त हो जाने के बाद अभी महाबोधि सभा के खर्च का अधिकार मंत्री को मिला नहीं था, इसलिए 'मज्झिमनिकाय' के अनुवाद के छापने का निश्चय नहीं हो सका। विसेसरगंज में पुराने मित्र राजवैद्य मुरारीलालजी मिले। उनको वैद्य बनाने में मेरा भी कुछ हाथ था। मैंने ही आर्यसमाज की उपदेशकी छोड़ वैद्यक पढ़ने के लिए कहा था, लेकिन उनकी वैद्यक कुछ चल नहीं रही थी। हाँ, वेदान्त की बीमारी अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ रही थी।

पटना–14 ता. को ही मैं पटना पहुँच गया। तीन बजे रात को कौन नौकरों को परेशान करे, मैं जायसवालजी की कोठी के बरामदे में कुर्सी पर ही लेट रहा। सबेरे जायसवालजी ने देखा और दोनों गंगाजी स्नान करने गये–वह गंगास्नान के बड़े पक्षपाती थे और कहते थे, इससे जुकाम कभी नहीं होता। गंगाजल अब भी रजस्वल था, इसलिए नहाने में मुझे तो आनन्द नहीं आया, मालूम हुआ अब की साल की अतिवृष्टि से लदाख ही में घर नहीं गिरे, बल्कि इधर भी अच्छे-अच्छे घर चूने लगे थे।

'मंजुश्रीमूलकल्प' को देखते वक्त मुझे उसके कुछ अध्याय ऐतिहासिक महत्व के मालूम हुए। मैंने इसकी चर्चा जायसवालजी से की। वह अब की गर्मियों में उस पर भिड़ गये और उन्होंने उसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण लेख लिख डाला। मैंने जब उसके हस्तलेख को पढ़ा, तो मुँह से निकल आया–जायसवालजी जादूगर हैं, कहाँ से इतनी बातें निकाल लेते हैं। सचमुच ही उनकी प्रतिभा अद्वितीय थी। अफसोस यही रहता कि जीवन के बहुमूल्य समय को वह अपने योग्य काम में नहीं लगा सके।

छपरा के मेरे राजनीतिक सहकर्मी अब भी जब-तब मिलते और कभी-कभी कार्यक्षेत्र में आने के लिए जोर भी देते थे। किन्तु जान पड़ता है, मैं प्रकृत्या राजनीति के लिए नहीं बनाया गया। 16 अक्तूबर को मैंने दैनन्दिनी में लिखा भी था–(1) "अत्यन्त आदर्शवाद, पुराने साथियों के विरोध पर पश्चात्ताप का प्राबल्य; (2) इतिहास की खोज की ओर उत्कट रुचि"...। मेरे राजनैतिक सहकारी जैसी बयार बहती थी, वैसे बन जाते थे–कहीं जाति-पाँति की भावना के सहारे काम निकालना चाहते थे और कभी निजी स्वार्थ के फेर में पड़ जाते थे। मैं इस पैंतरेबाजी में कितनी बार अकेला रह जाता था। दूसरी ओर विद्यासंबंधी कार्यों का आकर्षण था ही। तो भी वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक विधान से मैं सन्तुष्ट नहीं था, इसीलिए समय-समय पर मैं अपने को काबू में नहीं रख पाता था। उस वक्त छपरा में कोई चुनाव की धूम थी।

भागलपुर–भागलपुर में बिहार प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन था, जिसके सभापति जायसवालजी निर्वाचित हुए थे। 20 अक्तूबर को जायसवालजी के साथ भागलपुर के लिए रवाना हो गया। उसी दिन श्री बलदेव चौबे (वर्तमान स्वामी सत्यानन्द) की चिट्ठी मिली। उन्होंने अन्तिम परीक्षा से तीन महीने पहिले बी. ए. की पढ़ाई से असहयोग करना चाहा था, उस समय मैंने उन्हें रोकना चाहा था; किन्तु वे रुके नहीं, अब लोकसेवक समिति की सदस्यता से इस्तीफा देने जा रहे थे। मैंने परिवार का विचार करके वैसा न करने के लिए कहा, लेकिन

वे मानने को तैयार नहीं थे। खैर, आदमी या परिवार हर एक परिस्थिति में कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं। और मैं तो चौबेजी के परिवार की जीवन-यात्रा का काफी श्रेय बहन महादेवीजी को दूँगा। उन्होंने अध्यापकी करके लड़के-लड़कियों की पढ़ाई को सँभाला, नहीं तो चौबेजी आरंभ ही से घरफूँकू थे। घुमक्कड़ होते हुए घरफूँकू की चिन्ता मुझे क्यों होने लगी, यह प्रश्न हो सकता है, किन्तु मेरी चिन्ता चौबेजी के लिए नहीं थी।

भागलपुर में हम श्री देवीप्रसाद ढंढनियाँ के यहाँ ठहरे, जायसवालजी के कारण ही समझिए, नहीं तो मुझे वहाँ ठहरने की आवश्यकता नहीं थी। ढंढनियाँजी का मकान खूब साफ-सुथरा था, कमरे सजे हुए थे। कितनी ही कलासम्बन्धी वस्तुओं का भी उन्होंने संग्रह किया था। लेकिन मैंने टिप्पणी लिखी थी—

"जिनके परिश्रम के बल पर यह सब उपजता है, उनकी क्या अवस्था है ?" अगले दिन (21 अक्तूबर) हम सुलतानगंज गये। गढ़ पर एकाध मूर्त्तिखंड नये देखने में आए। नाव से हम गंगा के भीतर अजगैबीनाथ देखने गये। जिस शिला का यह टापू है, उस पर बहुत-सी मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण हैं। जायसवालजी भी सहमत थे, कि वे गुप्तकाल की हैं। गुप्तकाल अर्थात् विक्रमादित्यकाल, फिर यह शिला विक्रमशिला कही जा सकती है। तो भी सुल्तानगंज विक्रमशिला है यह निस्संकोच नहीं कहा जा सकता; क्योंकि विक्रमशिला जैसे महाविहार का ध्वंसावशेष यहाँ दीख नहीं पड़ता।

सवा बजे से साहित्य-सम्मेलन का आरंभ हुआ। बनैली के कुमार रामानन्दसिंह स्वागताध्यक्ष बनाये गये थे, लेकिन उन्हें आने की फुर्सत नहीं थी ! जायसवालजी का भाषण विद्वत्तापूर्ण रहा। शाम को गृहपति के भतीजे हमें अपना सुन्दर वन दिखलाने को ले गये। वहाँ 80 बीघे में एक विशाल बाग था। एक बड़ी साफ-सुथरी मिट्टी की भीत जैसी सीमेंट की कुटिया भी थी। गृहपति का बहुत आग्रह था, कि मैं जब-तब यहाँ आकर उनके आतिथ्य को स्वीकार करूँ। किन्तु मेरे पैर में तो चक्कर है।

सम्मेलन की दूसरे दिन की बैठक में प्रवाह के विरुद्ध मैंने कचहरियों में रोमन लिपि के पक्ष में बोलना चाहा। चारों ओर से घोर विरोध हुआ और कहा गया कि चूँकि मैं सदस्य नहीं हूँ इसलिए मुझे बोलने का अधिकार नहीं। किन्तु जायसवालजी के कहने पर लोग मेरी बात सुनने के लिए तैयार हो गये। उस वक्त सरकार अंग्रेजों के इशारे पर उर्दू लिपि को भी बिहार की कचहरियों में घुसेड़ना चाहती थी। मैंने यही कहा, कि यदि रोमन अक्षर स्वीकार करते हैं, तो उर्दू से पिंड छूटता है, नहीं तो उर्दू भी सबको अवश्य पढ़ना पड़ेगा। कचहरियों के बाहर हमारा सब काम-काज हिन्दी नागरी में होना चाहिए।

भागलपुर जाने के अवसर षर एक और काम हो गया। मैंने अपनी यात्राओं और यात्रा-सम्बन्धी लेखों के लिखने से अनुभव किया था, कि घुमक्कड़ के पास फोटो का केमरा अवश्य होना चाहिए। मैं अपने साथ लदाख एक केमरा ले गया था, किन्तु वह उतना अच्छा नहीं जँचा। लाहौर में एक दूकान पर रोले-फ्लैक्स को देखा। था पुराने माडल का इसलिए 170 रु. में मिल रहा था, किन्तु उस वक्त तो यह रकम भी मेरे लिए बहुत थी। सुल्तानगंज से निकलनेवाली 'गंगा' में मैंने बहुत-से निःशुल्क लेख दिये थे। अब मैंने कहा—आगे लेख तभी मिलेंगे, यदि केमरा मिल जाय। 'गंगा' वालों ने रुपया मनीआर्डर कर दिया और केमरा कुछ समय बाद मेरे पास चला आया। तब से 11 साल तक वह केमरा मेरे साथ देश-विदेश घूमता रहा, मैंने उससे हजारों फोटो लिये। 1944 ई. में रूस जाते वक्त साथ ले जाने की आज्ञा न होने के कारण क्वेटा में एक सज्जन के पास रख दिया और वह सदा के लिए बिछुड़ गया।

प्रयाग—पहली नवम्बर को मैं सारनाथ में था। 'मज्झिमनिकाय' के छपवाने की बड़ी चिन्ता थी। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई जब महाबोधि सभा के मंत्री देवप्रियजी ने उसका छपवाना स्वीकार कर लिया और लॉ जर्नल प्रेस के लिए 500 रुपये का चेक भी दे दिया। मैं अगले ही दिन प्रयाग पहुँचा। लेकिन अभी छपाई के काम के पहले एक और बला सामने आई। भागलपुर से ही पैर के अँगूठे में दर्द होने लगा था, जो दिन-दिन बढ़ता ही गया और एक समय तो मालूम होने लगा कि शायद आपरेशन कराना पड़ेगा। डाक्टर धोते रहे, दवाई देते रहे, किन्तु कोई लाभ नहीं। रात को नींद हराम हो गई थी। मैं तो अँगूठे से वंचित होने के लिए भी तैयार था। शायद वह पीड़ा काफी दिनों तक रही। मैं समझता था कि फोड़ा भीतर ही भीतर पक रहा है। किन्तु

अँगूठा फूला भी नहीं था। काफी दिनों बाद पता लगा, कि रबड़ के जूते के कारण नंगे अँगूठे पर रबड़ की रगड़ ही इस दर्द का कारण थी। मैंने जूता हटा दिया और एक-दो दिन में पैर बिल्कुल ठीक हो गया।

लॉ जर्नल प्रेस को पुस्तक 3 नवम्बर को सौंप दी। पं. कृष्णप्रसाद दर ने कहा कि बड़ौदा जाने तक पुस्तक छपकर तैयार हो जायेगी। पौने दो महीने में अस्सी फरमे की किताब छापना आसान काम नहीं था और उस समय अभी लॉ जर्नल प्रेस में मोनोटाइप मशीन भी नहीं थी। हिसाब लगाने से मालूम हुआ कि 1500 प्रतियों पर करीब 2700 रुपये खर्च होंगे।

श्री वाङ्मोलम को मैं यूरोप जाते सिंहल में छोड़ गया था। उन पर यक्ष्मा का आक्रमण हुआ। एक बार कुछ महीने कनक-शानतुरे के स्वास्थ्य आश्रम में होकर लौट भी आये थे, किन्तु फिर पुराने लक्षण प्रकट होने लगे और उन्हें लौट जाना पड़ा। सिलोन से 8 नवम्बर को चिट्ठी मिली, जिसमें वाङ्मोलम के देहान्त की सूचना थी। आगे यह भी पता लगा, कि वाङ् महाशय ने समुद्र में कूदकर आत्महत्या की थी। वह जीवन से निराश थे, घुल-घुलकर जीने के लिए तैयार नहीं थे और इस तरह उन्होंने छुटकारा पा लिया। किन्तु उनके मित्रों को तो जीवन-भर उनकी स्मृति अपने पास रखनी होगी, जब-तब उस आदर्शवादी हृदय और उसकी सौम्यमूर्ति का ध्यान करना होगा। हाँ, यह ध्यान एक ही पीढ़ी तक रहेगा। अगली पीढ़ी क्या जानती है, कि चीन में एक आदर्शवादी तरुण था, उसने अपना जीवन बुद्ध के सन्देश को फैलाने में अर्पण किया, फिर बुद्ध के देश और उनके व्यक्तित्व से अधिक घनिष्टता प्राप्त करने के लिए वह भारत के पास सिंहल में आया। वहाँ कितनी सादगी और बालसुलभ स्वभाव से वह रहता रहा और अन्त में इस प्रकार अपने जीवन का अन्त किया।

सारनाथ—सारनाथ का वार्षिकोत्सव आया। 8 से 16 नवम्बर तक मुझे वहाँ रहना पड़ा। सारनाथ लोगों को अधिक और अधिक आकर्षित कर रहा था। उस साल 400 से अधिक यात्री चटगाँव से आये थे। 10 नवम्बर को बनारस में मैंने भाषण दिया, वहीं एक आदमी मेरे पास आकर खड़ा हुआ। मैंने पूछा कि तुम कहाँ रहते हो ? जवाब मिला—बनारस। मुझे उस समय यह नहीं मालूम हुआ, कि वह मेरा द्वितीय सहोदर रामधारी है। पीछे जब स्मृति ताजी हुई, तो मुझे दुख हुआ, वह अपने मन में न जाने क्या समझेगा। लेकिन पचीस-पचीस साल बाद तक स्मृति कैसे ताजी रह सकती थी।

11 नवम्बर को सारनाथ में बौद्धों की सभा थी। जापानी प्रोफेसर व्योदो भी उसमें बोले थे, मैं तो सभा का सभापति ही था। वक्ताओं में पं. जवाहरलाल भी थे, उन्होंने बुद्ध के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि भेंट की थी। पेनांग (मलाया) के भिक्षु गुणरत्न ने अपने यहाँ आने का आग्रह किया, किन्तु उसे मैं दो साल बाद पूरा कर सका। उसी समय श्री व्योदो के यहाँ भी अतिथि बनने का सौभाग्य मिला।

मैं प्राच्य सम्मेलन (Oriental Conference) बड़ौदा के हिन्दी-विभाग का अध्यक्ष चुना गया था। उसके लिए भाषण लिखना आवश्यक था, किन्तु मेरा लिखने का मन नहीं करता था। बेमन का लिखना मेरे लिए बड़ा भार होता है। वस्तुतः उसे भाषण देने के एक दिन पहिले बड़ौदा जाकर पूरा कर सका।

फिर प्रयाग में—मैंने सोचा था कि सारनाथ रहकर प्रूफ देख लूँगा; किन्तु तजर्बे ने बतलाया, कि लग्गी से पानी नहीं पिलाया जा सकता। इसलिए 19 नवम्बर को प्रयाग चला आया। उदयनारायण तिवारी (अभी वह डाक्टर नहीं हुए थे) उस वक्त दारागंज की एक सकरी गली के भीतर रहते थे, वहीं 19 नवम्बर से प्रायः एक महीने के लिए मैंने डेरा डाल दिया। प्रूफ का काम बड़े जोर से चला। कभी-कभी तो रात के ढाई-तीन बज जाते थे। अन्त में तो एक दिन (17 दिसम्बर) प्रेस में जाकर डेरा डालना पड़ा। वहाँ सबेरे आठ बजे से रात के आठ बजे तक प्रूफ देखने का काम हुआ। 18 दिसम्बर को 'मज्झिमनिकाय' की छपाई समाप्त हो गई। मुझे बड़ा सन्तोष हुआ।

प्रयाग से मेरा यह प्रथम परिचय हो रहा था। उस समय मुझे क्या मालूम था, कि प्रयाग में घर-द्वार न होते भी वह मेरा घर-सा बन जायेगा और वहाँ बहुत-से हितमित्र, बन्धु-बान्धव तैयार हो जायेंगे। डा. बद्रीनाथप्रसाद और डा. उदयनारायण तिवारी तो आरंभिक दिन ही से मेरे मित्र बन गये। यह मित्रता धीरे-धीरे और अधिक आत्मीयता में परिणत हो गई। 26 नवम्बर को म्युनिसिपल म्युजियम देखने का अवसर मिला।

दो ही साल पहले पं. ब्रजमोहन व्यास ने संग्रह के काम को शुरू किया था और केवल आन्तरिक भक्ति से प्रेरित होकर। वहाँ भारशिव काल की मूर्तियाँ और कितने ही लेख संग्रहीत थे। दो शिलालेख महाराज भद्रमाघ के थे। व्यासजी ने कितने ही चित्र और हजारों हस्तलिखित ग्रंथ भी जमा कर लिये थे। व्यासजी को पुरानी वस्तुओं के संग्रह का नशा है। जब तक नशा न हो, तब तक कोई आदमी असाधारण काम नहीं कर सकता। अल्पसाधन या असाधन आदमी भी धुन में लग जाने पर क्या कर सकता है, इसका उदाहरण यह म्युजियम है। दशाब्दियाँ बीतते-बीतते शताब्दी का रूप ले लेंगी, तब तक यह संग्रहालय भी एक विशाल संग्रहालय का रूप ले लेगा। उस समय प्रयाग के ही नहीं, बाहर के भी इतिहासप्रेमी पं. ब्रजमोहन व्यास का नाम बड़े आदर से लेंगे। कितने ही लोगों ने पुरातत्व-सामग्री के संग्रह का शौक किया, काफी सिक्के और मूर्त्तियाँ भी जमा कीं, वह व्यापार के लिए भी यह काम नहीं करते रहे, किन्तु उनके देहान्त के बाद संग्रहीत निधि तितर-बितर हो गई। हर बात में पुत्र पिता का उत्तराधिकारी नहीं हुआ करता, इसीलिए अग्रसोची को व्यासपथ का अनुसरण करना चाहिए। और वस्तुओं के संग्रह में व्यासजी ने जो-जो पथ स्वीकार किए, जैसे-जैसे मूजियों के पेट में से अनमोल सामग्री को निकाल लाए, यदि उन बातों को उल्लेखबद्ध कर दें, तो वह अत्यन्त मनोरंजक ही नहीं बल्कि भविष्य के संग्रहाकों के लिए बड़े लाभ की चीज होगी।

लदाख में रहते 'मज्झिमनिकाय' के अनुवाद के अतिरिक्त मैंने जो तिब्बती प्राइमर, तिब्बती पाठावलियाँ और तिब्बती व्याकरण लिखे थे, उनके छपाने की भी फिक्र में था; किन्तु उस समय केवल प्राइमर के छपने का प्रबन्ध हो सका, व्याकरण अगले साल निकला। 'तिब्बत में बौद्धधर्म' भी उसी वक्त लिखा गया था। हिन्दुस्तानी एकेडमी की पत्रिका ने सौ रुपया देकर उसे छापना मंजूर स्वीकार किया। उस जाड़े में चालीस रुपये जायसवालजी और चालीस रुपये महाबोधिसभा से भी मिले थे। यह था सम्बल जिसके बल पर घुमक्कड़ी नहीं की जा सकती, किन्तु तो भी देनेवालों के लिए कृतज्ञता तो प्रकट करनी ही होगी।

4 दिसंबर को मैं उस कल्पना को सोच रहा था, जो आगे चलकर 'वोल्गा से गंगा' के रूप में प्रकट हुई। चाहता था कि शिकारी जीवन से लेकर ईस्वी 12 वीं शताब्दी तक की ऐतिहासिक कहानियाँ लिखी जायँ। कहानियाँ 10 से अधिक न हों और प्रत्येक 40 पृष्ठ से अधिक न हो। किन्तु यह कल्पना 9 साल बाद हजारीबाग-जेल में कागज पर उतरी।

9 दिसंबर को पुस्तक-प्रेमी चक्करवालों के चक्कर में पड़ गया और उनकी बैठक में जाना पड़ा। बैठक तेजबहादुर सप्रू के भवन में थी, जिसमें हाईकोर्ट के दो जज बाजपेयी और नियामतुल्ला तथा दो अंग्रेज सज्जन भी आए थे। मैंने तिब्बत-यात्रा पर कुछ कहा। वहाँवालों में सप्रू का दिमाग तो बिल्कुल बूढ़ा मालूम होता था। वह यूरोप और जर्मनी होकर उसी समय लौटे थे। वोल्शेविकों की निंदा और हिटलर की तारीफ बड़ी गंभीरता के साथ कर रहे थे। नियामतुल्ला के दिमाग में कुछ अधिक ताजगी मालूम होती थी। दो घंटे वहाँ देने पड़े, जो उस समय बड़े मूल्यवान थे, किन्तु तो भी समाज की नाक को नजदीक से देखने का मौका मिला—वहाँ यद्यपि सिर्फ लिफाफा और ढोल के अन्दर पोल थी, किन्तु मेरे लिए वह अनुभव बेकार नहीं हो सकता था।

पटना से ही भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ हो लिये थे। धर्मकीर्ति वड्काल के पास बुरियत मंगोलिया के रहने वाले मेरी प्रथम तिब्बत-यात्रा के साथी थे। वह दार्जिलिंग में आए हुए थे। मेरे पत्र लिखने पर चले आए थे। यहाँ आने पर उनकी तबियत खराब हो गई और मैंने बनारस में रामकृष्ण मिशन अस्पताल में आपरेशन के लिए रख दिया। 10 दिसंबर को उनका आपरेशन हुआ। चौथे दिन पता पाकर मैं वहाँ गया। देखा, वह अच्छी हालत में हैं। उनका घाव पूरा नहीं हुआ था कि जनवरी में भूकंप आया, धर्मकीर्ति मकान को हिलते देखकर उसी अवस्था में भी निकलकर बाहर हो गए थे।

2. बड़ौदा की यात्रा

20 दिसंबर को प्रयाग से बड़ौदा के लिए चलना पड़ा, किन्तु सभापति का भाषण अब भी तैयार नहीं हो पाया

था। हाँ, मुझे बड़ा सन्तोष था, कि मैं अपने साथ 'मज्झिमनिकाय' की 12 हिन्दी प्रतियाँ विद्वानों को भेंट करने के लिए ले चल रहा हूँ। प्रयाग से पं. जयचन्द्र विद्यालंकार भी साथ चल रहे थे। रेल-यात्रा के बारे में हम दोनों के सिद्धान्तों में आकाश-पाताल का अन्तर है। मैं ट्रेन के समय से आधा घंटा पहिले स्टेशन पहुँचने का पक्षपाती हूँ और विद्यालंकार जी एक सेकेंड भी आगे पहुँचने को समय का भारी अपव्यय समझते हैं। मैंने तो समझा, शायद वह साथ नहीं चल सकेंगे, लेकिन गार्ड के झंडी दिखलाते-दिखलाते वह हाँफते-दौड़ते डिब्बे के भीतर पहुँच गये। छिंउकी में हमें गाड़ी बदलनी पड़ी और वहाँ हम उसी ट्रेन में बैठे जिससे जायसवाल जी चल रहे थे। हमारी एक पूरी जमात थी, जिसमें जायसवाल परिवार के अतिरिक्त पटना म्युजियम के क्यूरेटर श्री मनोरंजन घोष, फोटोग्रफर तथा दूसरे सहायक भी थे। श्री क्षीरोदकुमार राय के साथ तो सबसे अधिक समय और अधिक दूर तक मुझे रहना पड़ा था। आज भी आर्थिक कठिनाइयों से पीड़ित किन्तु चेहरे पर की हँसी की रेखा को कभी मलिन न होने देनेवाले उस प्रतिभाशाली पुरुष की स्मृति जब आती है, तो कह उठता हूँ—राय मोशाय, तुम क्यों इतने जल्दी चले गये और अपने जौहर को बिना दिखलाये जाना क्या उचित था ?

कटनी में डा. हीरालाल मिलने आये। बड़ौदा वह कुछ ठहरकर आनेवाले थे। उनकी आयु 60 वर्ष से अधिक की थी, किन्तु शरीर से स्वस्थ थे। किसे मालूम था कि वइ इतनी जल्दी और हाथ में इतना बड़ा काम लेकर हमें छोड़ जायेंगे।

अजन्ता-एलौरा—21 दिसम्बर को ट्रेन जलगाँव पहुँची। वहाँ से फर्दाबाद के लिए मोटर-बस की गई। तेरीगाँव भी प्राचीन नगरी रही होगी। पाहुर में हमने हाथ-मुँह धोकर जलपान किया। आठ बजे के करीब फर्दाबाद के अतिथिभवन में पहुँचे। जायसवालजी की पार्टी निजाम की अतिथि थी। वहाँ सरकारी प्रबन्ध था। भोजन करते-करते बारह बज गये। फिर हम लेना (गुफा) देखने गये और साढ़े तीन घंटे तक घूमते रहे। अधिकांश लेना बाकाटक-काल की है। वहाँ वज्रयान का पता नहीं है। महायानी बोधिसत्त्वों की मूर्त्तियाँ भी दो-एक ही जगह दिखाई पड़ीं। यह मुख्यतः हीनयानी विहार था। एक जगह भवचक्क (भवचक्र) चित्रित था, किन्तु खंडित था, इसलिए कहा नहीं जा सकता कि तिब्बती भवचक्र से क्या अन्तर रखता है। चैत्य (स्तूप) वाले घर बहुत पुराने हैं। एक चैत्य को काटकर बुद्धमूर्त्ति बनाई गई थी, जो पीछे का काम था। चित्रों के अधिकांश उत्तम पात्र तुंगनास है, चित्रों के सौन्दर्य के बारे में कहने की क्या आवश्यकता ?

अगले दिन हम वहाँ से एलौरा के लिए रवाना हुए। देवगिरि (दौलताबाद) रास्ते में पड़ा। यह दुर्जय दुर्ग कैसे पराजित हुआ, कैसे मुट्ठी-भर मुसल्मान दिल्ली से आकर इसे दखल करने में सफल हुए ? देवगिरि, जिसका मंत्री हेमाद्रि जैसा विद्वान् था, जिसके दरबार में भास्कराचार्य जैसा ज्योतिषशास्त्री था, क्या वह पराजित होने के लिए था ? दुर्गपाल हैदराबाद का सैनिक था। वह और उसके सिपाही सभी मुसल्मान थे। मुसल्मान होना बुरा नहीं, किन्तु अपनी संस्कृति के साथ सहानुभूति का अभाव, जरूर बुरी तरह खटकता है। देवगिरि को ऊपर-नीचे देखकर हम लौट रहे थे। सिपाहियों के सर्दार से मैंने पूछा—तुम्हारे यहाँ शरियत की पाबन्दी कैसी की जाती है ? उसने बड़े अभिमान से कहा—हमारी इस्लामी बादशाहत है। मैंने पूछा—तुम्हारे इस्लामी बादशाह की दोनों पुत्रबधुएँ मुँह खोलकर क्यों घूमती हैं ? तुरन्त उत्तर मिला—सारी रियाया उनकी औलाद है, औलाद के सामने पर्दा करने की क्या आवश्यकता ?

रास्ते में खुल्दाबाद मिला। यहीं औरंगजेब की कब्र है। औरंगजेब से चिढ़ने की क्या आवश्यकता ? समाज का कोढ़ कहीं से फूटकर निकलेगा ही, व्यक्ति तो निमित्तमात्र होता है।

साढ़े ग्यारह बजे हम बेरूल पहुँचे। इसी बेरूल को अंगरेजों ने एलौरा बना दिया। अहल्याबाई यहीं पैदा हुई थी, बल्कि उसने एक बार फिर 'कैलाश' में पूजा शुरू करवाई थी। उसी समय कुछ भद्दी मरम्मत का भी उपक्रम हुआ था। अब भी उस समय का कुछ रंग जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ता है। पल्लवों के महाबलीपुरम् के गुहाप्रासादों से प्रेरणा पाकर राष्ट्रकूटों ने 'कैलाश' का निर्माण किया था। पल्लव-कला ने यहाँ ही नहीं, समुद्र पार 'वरोबुदूर' (जावा) के बनानेवालों को प्रेरणा दी थी, जहाँ से प्रेरणा पाकर कंबुजनरेशों ने अंकोरथोम का

निर्माण किया था। हम बौद्ध, जैन, ब्राह्मण सभी गुफाओं को देखते रहे। वज्रयान का यहाँ भी पता नहीं था। हाँ, महायान के अमोघपाश अवलोकितेश्वर, प्रज्ञापारमिता और तारा की मूर्त्तियाँ अवश्य थीं। इन गुहाओं का निर्माण बाकाटकों से भी पहले से शुरू हुआ था।

आगे 23 दिसंबर को नासिक और 24 दिसंबर को हमने कार्ला की गुफाएँ देखीं। नासिक की पाण्डवलेनी गुफाएँ शक-शातवाहन काल की हैं। यहाँ बहुत-से अभिलेख हैं। यहाँ पर भी कुछ स्तूपों पर पीछे बुद्ध की मूर्त्ति खोदी गई।

23 ता. को ही हम लोनावड़ा पहुँच गये और श्री खोटे के बँगले पर ठहरे। श्री दुर्गा खोटे सिनेमा-तारका वहाँ मौजूद नहीं थीं, किन्तु उनके घर के बच्चे फर-फर हिन्दी बोल रहे थे। मैंने पूछा—तुमने हिन्दी कहाँ से सीखी ? जवाब मिला—सिनेमा से, और कहाँ से ? हाँ, सिनेमा ने अहिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में जो हिन्दी का प्रचार किया है, वह कम महत्त्व की चीज नहीं है। अगले दिन हमने कार्ला और भाजा की गुफाएँ देखीं। बड़े दिन की छुट्टियाँ थीं, इसलिए दर्शक बहुत आए थे। पहाड़ से एक मील के कम ही की चढ़ाई थी, हमने पानी के चश्मे, संघाराम की कोठरियाँ, सिंहस्तम्भ और चैत्यघर देखे। चैत्यघर के भीतर स्तम्भों की पाँतियाँ हैं, जिनके ऊपर हाथियों पर सुन्दर स्त्री-पुरुष-मूर्त्तियाँ बनी हुई हैं। बहुत-से हस्तलेख हैं, जो ब्राह्मी होने के कारण मेरे लिए दुष्पाठ्य नहीं थे। मैं भीतर उन अभिलेखों को पढ़ रहा था, और ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी की वेष-भूषा को बड़े ध्यान से देख रहा था; इधर बरामदे में जायसवालजी राय महाशय से कुछ लिखवा रहे थे। मेरे बाहर निकलने पर उन्होंने बड़ी गंभीरता से कहा—यह देखिए, इस काल में बुद्धमूर्त्ति बना करती थी। मैंने कहा—यह हो नहीं सकता। किन्तु सचमुच वहाँ बुद्धमूर्त्ति उत्कीर्ण थी। मैंने ध्यान से देखा तो मालूम हुआ कि जहाँ बुद्ध की मूर्त्ति उत्कीर्ण है, वहाँ पहिले एक वृक्ष था, जिसका ऊपरी भाग अब भी वहाँ मौजूद था; बुद्धमूर्त्ति भिति के साधारण तल के भीतर से खोदकर बनाई गई है। मैंने इस बात को समझाया। जायसवालजी ने कहा—आपने ठीक कहा, मैं भारी गलती करने जा रहा था। राय महाशय से नोटबुक की पंक्तियाँ कटवा दी गईं। कार्ला से मड़वली स्टेशन के पास से हो वहाँ से आध मील पर अवस्थित भाजा गाँव गये। थोड़ी-सी चढ़ाई चढ़ने पर बौद्ध गुफाएँ मिलीं। यहाँ की गुफाएँ कार्ला से भी प्राचीन हैं। अंतिम चैत्यगुहा के बरामदे में सात चैत्य बने हुए हैं। यहाँ सातवाहन राजा कौशिकीपुत्र का अभिलेख है। इस उपत्यका का नाम नाड़ी मांवड़ है। किसी समय यहाँ बहुत-से समृद्ध गाँव और नगर रहे होंगे। भाजा की गुफाओं के ऊपर लोहगढ़ का पुराना दुर्ग है, जिसका शिवाजी के वीरतापूर्ण इतिहास से विशेष सम्बन्ध है।

बम्बई—25 दिसम्बर को हम बम्बई पहुँच गये। वहाँ एक उच्च-मध्यमवर्ग के शिक्षित महाराष्ट्र परिवार में ठहरे। दिन-भर बम्बई में रहना था। हमने एलिफैंटा के गुहाप्रासाद और सुंदर मूर्त्तियाँ भी देखीं। फादर हेरास ने भी सांत्-साविये महाविद्यालय (सेंटजेवियर कालेज) में अपने पुरातत्त्व-संग्रहालय को दिखलाया। फादर हेरास अपनी धुन के पक्के हैं, पंडित ब्रजमोहन व्यास की तरह तो नहीं, किन्तु उनका भी संग्रह बहुत अच्छा है। सबसे विचित्र बात हमें घर की गृहपत्नी की मालूम होती है। वह गलित-यौवना थी, किन्तु उनकी साध बुझी नहीं थी। जिस समय सासें अपने शृंगारसज्जा को बहू के लिए छोड़ देती हैं, उस समय भी वह अपने को सजाने में अपनी त्रिपुर-सुन्दरी पुत्रवधू के कान काट रही थीं। हम तो दश ही बारह घंटे वहाँ रहे, किन्तु इसी में न मालूम कितनी बार उन्होंने अपनी साड़ियाँ बदलीं। हाँ, मैं मानूँगा कि उनका यह कार्य किसी को अरुचिकर नहीं मालूम हो सकता था, क्योंकि पतझड़ के समय में भी चिरविस्मृत वसंत की सुगन्धि उनके मुखमंडल से सर्वथा विलुप्त नहीं हुई थी, फिर अतिथियों के सत्कार के लिए तो वह बराबर हाथ बाँधे खड़ी रहती थीं।

बड़ौदा—26 दिसम्बर को सूर्योदय से पहिले ही बड़ौदा होटल के पास अतिथिशाला में हमें पहुँचा दिया गया। जायसवालजी थोड़ी देर बाद दूसरी गाड़ी से आये। रियासत के मेहमानों का यह भवन था, फिर आराम और सफाई के लिए क्या पूछना ? डाक्टर हीरालाल और डाक्टर हीरानन्द भी उसी दिन आ गये और हम लोगों के साथ ही ठहरे।

बड़ौदा में प्राच्य्-सम्मेलन के अतिरिक्त जो चीजें देखीं, उनमें एक आर्यकन्या महाविद्यालय भी था। बिहार के मेरे परिचित बन्धु श्री श्रुतबन्धु शास्त्री वहाँ अध्यापक थे, उन्होंने विद्यालय दिखलाया। लड़कियाँ कुर्ता और हाफपेंट पहने घूमती बुरी नहीं मालूम होती थीं। व्यायाम का भी उनमें बहुत शौक था और संगीत जैसी ललित-कला को भी वह भुलाना नहीं चाहती थीं। पढ़ाने का ढंग आधुनिक और प्राचीन दोनों था। विद्यालय के संस्थापक राजरत्न पं. आत्माराम अमृतसरी बड़े प्रेम से मिले। आर्यसमाज के प्रथम आवेग में मैंने उनके ग्रंथों से लाभ उठाया था, इसलिए 68 वर्ष के उस कर्मठ पुरुष से मिलकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

श्री देवप्रिय ने महाबोधिसभा के प्रकाशन के कार्य के लिए महाराजा से सहायता प्राप्त करने के बारे में कहा था। चन्दा माँगने में हमेशा कच्चा रहा हूँ और राजा-महाराजाओं की तो परछाईं भी मुझे कड़वी लगती है, किन्तु जब महाराजा की ओर से मिलने के लिए सूचना आई, तो मैं "मज्झिमनिकाय' के प्रकाशक के आग्रह को कैसे ठुकरा सकता था ? वह इन्द्रभवन जैसे राजप्रासाद के उपवन में धूपनिवारक छत्र लगी कुर्सी पर बैठे थे। एक-एक करके लोग सामने लाये गये, मैं भी पहुँचा। मैंने इस भेंट के बारे में उस दिन लिखा था : "अच्छे पुरुष हैं। भाषान्तर के कार्य में सहानुभूति प्रकट की। 'विद्याधिकारी से कहेंगे' बोले।"

उसी दिन (27 दिसम्बर को) न्यायमन्दिर में साढ़े चार बजे प्राच्य-सम्मेलन का कार्य आरम्भ हुआ। सारे भारत के बड़े-बड़े इतिहासकार, पुरातत्त्ववेत्ता, मुद्राशास्त्री, पुरालिपिशास्त्री, भाषातत्वज्ञ, उस विशाल शाला में आसीन हो चाँद-चकोर हो प्रतीक्षा कर रहे थे, महाराजा पूरे आध घंटे के बाद पधारे। महाराजों की कुछ तो विशेषता होनी चाहिए, आखिर वह पृथ्वी पर विष्णु भगवान के अवतार होते हैं। और बड़ौदा के महाराजा सयाजीराव कोई दकियानूसी उजड्ड राजा नहीं थे। वह सभी बातों में बहुत आगे बढ़े हुए बतलाये जाते थे। खैर ! उनका भाषण बहुत अच्छा हुआ और अन्त में अलिखित भाषण उन्होंने और भी अच्छा किया। जायसवालजी ने सभापति पद से बहुत सुन्दर भाषण दिया।

आगे अलग-अलग विभागों की सम्मिलनियाँ शुरू हुईं। 28 दिसम्बर तक मैंने इसी तरह अपने भाषण को तैयार कर लिया था। 29 तारीख को दोपहर को हिन्दी विभाग की बैठक में उसे पढ़ा। दूसरे विद्वानों ने भी कुछ निबन्ध पढ़े, किन्तु प्राच्य-सम्मेलन में तो अंग्रेजी सर्वेसर्वा थी, वहाँ हिन्दी को कौन पूछता था ?

बड़ौदा में उस समय कर्नल वेयर रेजिडेण्ट थे। उनसे मिलकर अवश्य प्रसन्नता हुई। जब मैं अपनी पहली तिब्बत-यात्रा से लौट रहा था, उस समय यही 'बड़े साहेब' थे। उन्होंने अपने तिब्बती चित्रों, मूर्त्तियों तथा दूसरी चीजों के संग्रह को दिखलाया। अवलोकितेश्वर की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्त्ति उनके पास थी। पति-पत्नी दोनों सज्जन, संस्कृत और कलाप्रेमी थे। उनकी लड़की ने भी अपने बनाये कितने ही चित्र दिखलाये।

बड़ौदा से लौटते वक्त हमारा प्रोग्राम अहमदाबाद, आबू, अजमेर, चित्तौड़, उदयपुर, साँची और भिल्सा देखने का था, लेकिन जायसवालजी का साथ अजमेर ही तक रहा। उन्हें किसी मुकदमे की पैरवी के लिए वहाँ से सीधे पटना चला जाना पड़ा।

अहमदाबाद–31 दिसम्बर को दोपहर से पहिले ही हम अहमदाबाद पहुँच गये। सर गिरिजाप्रसाद-चिनूभाई माधवलाल के प्रासाद में ठहरे। यह साधारण 'सर' नहीं बल्कि पुश्तैनी 'सर' पदवीधारी (बेरोनेट) थे। उनका प्रासाद यूरोपीय ढंग से सजा हुआ था, लेकिन भोजन भारतीय, और भारतीय ढंग से परोसा जाता था। मेजबान ने आतिथ्य-सत्कार बड़े खुले दिल से किया। जहाँ सर गिरिजाप्रसाद ने अपने खींचे सिनेमा फिल्मों में प्राकृतिक दृश्यों की झाँकी कराई, वहाँ गृहललनाओं ने गर्बानृत्य देखने का भी मौका दिया। वैसे तो भारत का कौन-सा भाग है, जिसमें मुझे आत्मीयता नहीं मालूम होती, किन्तु गुजरात का माधुर्य एक विलक्षण है। गुजरात की यह मेरी दूसरी यात्रा थी। प्रथम यात्रा (1913) में भी भूल गया था, कि मैं किसी और जगह आ गया हूँ। उस बार तो अभी मेरी आँखें बन्द थीं। उस वक्त जो कुछ ज्ञान होना था, वह केवल स्पर्श से। आणंद और नडियाद उस वक्त भी देखे थे, और अहमदाबाद में तो महीने-भर रहा था, किन्तु उस वक्त कहाँ मालूम था, कि यहाँ 'हठीभाई नी वाड़ी' (1846 ई.) जैसा सुन्दर जैनमन्दिर है। यहीं हिलते मीनारोंवाली मस्जिद है, जिसका दूसरा नमूना दो साल बाद मुझे अस्पहान में देखने को मिला। यहाँ के मस्जिदों की सजावट में एलौरा की छाप दिखाई

पड़ती थी, सैकड़ों स्तम्भवाली मस्जिदें देवगिरि के मस्जिद बनें मन्दिर का स्मरण दिला रही थीं। हमने अहमदाबाद की पुरानी इमारतें देखीं और आधुनिक युग की विभूति कपड़े की मिलों को भी देखा। नगर के भीतर एक मस्जिद के पास एक बावड़ी देखी, जिसके दो तले पानी से ऊपर और पाँच पानी के नीचे हैं। इसे किसी मुसल्मान महिला ने बनवाया था, लेकिन इस पर संस्कृत में भी अभिलेख हैं। अहमदाबाद आकर सत्याग्रह आश्रम देखे बिना कैसे लौट सकते थे ? लेकिन हम साबरमती (सत्याग्रह) आश्रम में तब गये, जब कि सोनचिरैया चिरकाल से इस पिंजड़े को सूना कर गई थी। मकानों की कौन सुधि लेता ? लोग लकड़ियाँ उठाये लिये जा रहे थे। अस्पृश्यता-निवारण का कुछ काम यहाँ से होता था, लेकिन आँगन सहित दो महला मकान अधिकतर खाली पड़ा था। वहाँ से लौटते वक्त मुनि जिनविजयजी के दर्शन का सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता और विद्याप्रेम की सुगन्धि तो पहिले भी पहुँच गई थी, किन्तु परिचय प्राप्त करने का यहीं अवसर प्राप्त हुआ।

राजस्थान में–31 दिसम्बर की रात की गाड़ी से जायसवालजी, मैं और एक कोई और आबू के लिए रवाना हुए। 'जीवन-यात्रा' का 7 अक्तूबर 1933 से सितम्बर (1934) प्रथम सप्ताह तक प्रायः ग्यारह महीने का वर्णन खो जाने के कारण मुझे दोबारा लिखना पड़ रहा है, जिसमें पौने नौ महीनों के लिए मैं दैनन्दिनी इस्तेमाल कर सकता था, किन्तु पहिली जनवरी से 6 मार्च तक की डायरी भी मेरे पास नहीं है, इसलिए इस समय का वर्णन केवल स्मृति के भरोसे करना पड़ रहा है।

आबू-रोड से टैक्सी में हम लोग आबू पहुँचे। जायसवालजी के जातिभाई वहाँ पोस्टमास्टर थे। अपनी टुटही-मँड़इया में राम को देखकर शबरी जिस तरह विह्वल और चंचल हुई होगी, वही हालत उनकी थी। हम लोगों को वहाँ अधिक ठहरना नहीं था, इसलिए जलपान के बाद आबू के महासरोवर का थोड़ा-सा चक्कर काट देलवाड़ा के मंदिर की ओर चल पड़े।

वस्तुपाल-तेजपाल की यह अमरकृति भारतीय वास्तुशिल्प की अमरनिधि है, संगमर्मर को मोम और मक्खन की तरह काटकर सुन्दर फूल-पत्ते निकाले गये हैं। किन्तु जान पड़ता है मूर्त्तिकला उससे पहिले ही भारत से रूठ गई थी।

आबू से अगला पड़ाव अजमेर पड़ा। ढाई दिन का झोंपड़ा, ख्वाजा साहेब की दरगाह और पुष्करराज के मगरमच्छ भी देखे। इनके साथ ही अठारह वर्ष बाद मुझे पं. रामसहाय शर्मा को भी देखने का मौका मिला, जो किसी समय संस्कृत विद्या से निराश होकर मेरे पास पहुँचे थे, किन्तु निराश ही उन्हें लौटना नहीं पड़ा। अजमेर से जायसवालजी पटना चले गये और बाकी यात्रा में अधिकंतर चेतसिंह, जायसवाल और राय महाशय के साथ मुझे रहना पड़ा।

जयपुर और चित्तौड़ को हमने बड़े ध्यान दे देखा था, लेकिन दैनन्दिनी के पत्रों के बिना स्मृति अब उसे कहाँ तक स्फुरित करे। उदयपुर ही में किसी हवेली में हमें ठहराया गया था। वहाँ के कितने ही नये-पुराने महलों को हमने देखा। फिर वहाँ से एक कृत्रिम समुन्दर (जयसमुन्दर ?) को भी देखने गये थे, जहाँ से लौटते वक्त महाराणा भूपाल सिंह की मोटर हमारे पास से जाती दिखाई पड़ी। चेहरा यद्यपि कुछ सेकेंड ही हमारे पास रहा, किन्तु उसमें सीसौदिया वंश की कोई दिव्यता नहीं दिखाई पड़ी। लेकिन दिव्यता के लिए हम उनकी ही क्यों शिकायत करें ? दूसरे वंशों के अवतंसों ने ही कौन-से सुर्खाब के पर खोंस रक्खे हैं ?

चित्तौड़ में हमने कई घंटे लगाये, वहाँ की एक अर्धनिर्मित स्त्रीमूर्ति हमें बहुत सुन्दर मालूम हुई। चित्तौड़ या चित्रकूट क्यों नाम पड़ा ? यहाँ कूट या शिखर नहीं है, इसका नाम चित्रपीठ हो सकता था, लेकिन पीठ के साथ चित्रता का संबंध कुछ विचित्र-सा मालूम होता ! चित्रकूट के दो कीर्तिस्तम्भों में राणा कुम्भावाला तो मूर्त्तिशिल्प में हमें बहुत दरिद्र दिखलाई पड़ा, किन्तु दूसरा अच्छा था।

उज्जैन–चित्तौड़ से हम महाकाल की नगरी उज्जैन में पहुँचे। अवन्तिपुरी न जाने क्यों सुन्दर कविता-सी आकर्षक मालूम होती हैं। उसका नाम तो और भी आकर्षक है। शूद्रक, कालिदास, वाण, दण्डी सभी ने उसकी कीर्ति फैलाने में अपनी अमर लेखनी की सहायता दी। मेरी यह दूसरी यात्रा थी। महाकाल को देखा, लेकिन यह वही मन्दिर नहीं था, जहाँ वाण के व्यास महाभारत की सुन्दर कथा सुनाया करते थे। लेकिन हमारे लिए

वहाँ एक व्यास मौजूद थे, जिन्होंने अवन्तिपुरी का हमें अच्छी तरह दर्शन कराया। पं. सूर्यनारायण व्यास सचमुच इस यात्रा में कवितामय मालूम होते थे। वह अपनी जन्मनगरी 'जन्मभूमि ममपुरी सुहावनि' के प्रति उचित गर्व कर सकते थे। कौन जानता है, अवन्तिपुरी फिर कभी विस्मृति के गर्भ से प्रकट होकर हमारे सामने आये। मेरे लिए तो वह सप्तपुरियों में सबसे श्रेष्ठ है।

साँची-भिल्सा–उज्जैन से हम भिल्सा चले आये। ग्वालियर रियासत ने भी जायसवालजी के देखने का प्रबन्ध किया था, जिसका उपयोग हम तीनों मूर्त्तियों ने किया। साँची को तो मैं पहिले भी देख चुका था, और खूब ध्यानपूर्वक, किन्तु विदिशा के खंडहरों को इसी बार देखने का मौका मिला। 'खमूबाबा' के नाम से प्रसिद्ध ग्रीक भागवत हेलियोदोर का गरुड़स्तम्भ देखा। उदयगिरि की गुफा में रोम-रोम से बलवीर्य बिखेरती नरसिंह की गुप्तकालीन मूर्त्ति देखी, जिसमें शायद चन्द्रगुप्त ने अपने ही को नरसिंह और गुप्तराज-लक्ष्मी ध्रुवदेवी को पृथ्वी के रूप में उत्कीर्ण कराया था। भिल्सा से हम ग्यारसपुत्र के उजड़े मन्दिरों को देखने गये। वहाँ के कुछ मन्दिर दशवीं शताब्दी और उससे पहिले के हैं, जब कि मूर्तिकला भारत से रूठी नहीं थी। वहाँ के तोरण सूक्ष्म तक्षणकला के श्रेष्ठ नमूने हैं।

भूकम्प (1934)–बड़ौदा की यात्रा से लौटकर जनवरी के मध्य में मैं प्रयाग में पं. उदयनारायण तिवारी के उसी गलीवाले मकान में था, जहाँ चाय के प्याले पी-पीकर रात-भर प्रूफ देखा जाता रहा। दोपहर के बाद थोड़ा ही समय बीता था, जब कि खिड़कियाँ खड़खड़ाने और दीवारें गनगनाने लगीं। मुझे लंदन में तीन महीने तक इसका अनुभव था। मेरे अवचेतन मन ने अपने को लंदन में समझ लिया। लेकिन लंदन में तो भूगर्भी रेल के कारण वैसा होता था, यहाँ यह किसलिए, इसे सोचने को मुझे आवश्यकता नहीं मालूम हुई। इसी वक्त लोगों ने कहा–भूकम्प। अब भी हम जल्दी-जल्दी कोठे से नीचे नहीं उतरे। जल्दी-जल्दी नीचे उतरने की आवश्यकता भी नहीं थी, क्योंकि वहाँ तो सारा काम सेकेंडों में हो रहा था। हम कोठे से नीचे उतर कर सौ गज चलते, तब सड़क पर पहुँचते। दारागंज की सड़क भी दोनों ओर ऊँची अट्टालिकाओं से भरी है, फिर यदि मुंगेर और मुजफ्फरपुर की तरह मकान लेटने लगते, तो भागने के लिए समय कहाँ था ? जब हम कोठे से नीचे उतर कर गली में पहुँचे, तब भी दीवार हिल रही थी।

भूकम्प बंद हुआ। हम फिर मकान में चले गये और फिर पहिले की तरह बातचीत होने लगी। रात तक हम इस घटना को भूल ही-से गये थे, किन्तु अगले दिन के समाचारपत्रों ने बिहार में भूकम्प की प्रलय-लीला छपी पढ़ी। मुजफ्फरपुर, दरभंगा को प्रलय समुद्र के गर्भ में समझा जाता था, उनकी कोई खबर ही नहीं थी। जमालपुर और मुंगेर की भयंकर ध्वंसलीला का कुछ-कुछ पता लगा था। ऐसे समय मुझे अपना स्थान भूकम्प-पीड़ित जनता में दिखलाई पड़ा।

भूकम्प-क्षेत्र में–मैं प्रयाग से पटना के लिए रवाना हुआ। प्रयाग में तो भूकम्प का प्रभाव नहीं के बराबर था। मिर्जापुर में स्टेशन के पास कुछ ईंटें गिरी दिखलाई पड़ीं। पटना में जायसवालजी के परिवार में कुहराम मचा हुआ था–जायसवालजी किसी मुकदमें में दरभंगा गये थे। रात को आए, तो अँकवार भर के मिले–सचमुच ही लोग निराश हो गये थे, उत्तर बिहार से ऐसी ही खबरें आ रही थीं।

मैंने उत्तर बिहार में सेवा के लिए जाने का निश्चय किया। भूकम्प से प्रांत की जो अवस्था हो गई थी, उसे सँभालने के लिए सरकार अकेली पर्याप्त नहीं थी। उसने राजेन्द्रबाबू और दूसरे नेताओं को जेल से छोड़ दिया। राजेन्द्रबाबू अपने पुराने दमा के रोग से पीड़ित थे, तो भी उस आफत में वह अपने रोग की पर्वाह नहीं कर सकते थे। देश-सेवक और उत्तर बिहार के पीड़ित क्षेत्र के नेता उनके पास पटना में पहुँचे थे। रात को जो पहिली टोली गंगा पार हुई, उसमें मैं भी था और पंडित जवाहरलाल नेहरू भी। पुराने कांग्रेसकर्मी बाबू देवेन्द्रगुप्त को एक ट्रेन पहले ही भेजा गया था, कि हाजीपुर में कुछ नाश्ता और एक टेक्सी का इंतिजाम कर रक्खें, किन्तु भारत की घड़ी एक घंटा लेट रहती है और बिहार की तो उससे भी एक घंटा पीछे। अँधेरा रहते ही जब हम हाजीपुर पहुँचे, तो वहाँ कोई प्रबन्ध नहीं हो पाया था। लोग कह-भर रहे थे–सब हो रहा है। धीरे-धीरे पौ फटने लगी, लेकिन टेक्सी का कहीं पता नहीं। हाजीपुर और मुजफ्फरपुर के बीच में भूकम्प

ने लाइन तोड़ दी थी इसलिए टेक्सी छोड़ जाने का कोई साधन नहीं था। नेहरूजी शंकित होने लगे। प्रबंध करने वालों में, विशेषकर देवेन्द्रबाबू को घबड़ाहट बढ़ी। देवेन्द्रबाबू वहाँ के रहनेवाले नहीं थे, उन्होंने किसी दूसरे से प्रबन्ध करने को कह दिया था, दूसरे ने तीसरे को। खैर, हम लोगों ने वहीं मौजूद किसी मोटरवाले के हाथ-पैर पकड़ के मोटर मँगवाई। चाय के साथ भी छप्पन परकार बन रहा था, मैंने उसको छुड़वा वहाँ किसी जगह से कुछ अंडे उबलवाए और कुछ प्यालियाँ चाय की बनवाईं, इस तरह सूर्योदय होने के साथ-साथ हम वहाँ से रवाना हो सके।

मुजफ्फरपुर–रास्ते में पुल टूटे थे और गड्ढों तथा झीलों में तो बाढ़-सी आ गई थी। मालूम हुआ, यह सारा पानी भूकम्प के वक्त धरती फोड़कर निकला था। रास्ते के गाँवों में ईंट के मकानों को अधिक नुकसान पहुँचा था। मुजफ्फरपुर में तो कितने ही मुहल्लों में मकानों के स्थान पर ईंटों और कड़ियों के ढेर लगे थे। कितनी जगह अब भी लाशें दबी पड़ी थीं। घायलों की संख्या अधिक थी और उनके रहने के लिए अस्पताली झोंपड़ियाँ बना दी गई थीं। भूकम्प का पूरा रूप अभी बाहरवालों को अच्छी तरह से मालूम नहीं हुआ था। जो खबरें गई थीं, वह इतनी अतिशयोक्तिपूर्ण थीं, कि उन पर विश्वास करना मुश्किल था।

शहर में घूमने के बाद राष्ट्रकर्मियों की छोटी सभा हुई। सीतामढ़ी की हालत बहुत बुरी बतलाई गई। वहीं मुझे सीतामढ़ी जाने के लिए कहा गया।

सीतामढ़ी–दूसरे दिन सबेरे ही तीन मूर्त्तियों के साथ हम सीतामढ़ी के लिए रवाना हुए। रेल का रास्ता बंद था, सड़क के भी पुल टूटे हुए थे, इसलिए सवारी का कोई सवाल नहीं था। हम चार मूर्त्ति सड़क पकड़कर सीतामढ़ी की ओर चले। एक मूर्त्ति तो अपने गाँव में पहुँचकर अंतर्धान हो गई। यही नहीं, जब पीछे सहायता की वस्तुएँ लदकर सीतामढ़ी जाने लगीं, तो उस पर से एकाध कनस्तर तेल भी उसने उतार लिया। बाकी दो मूर्त्तियों के साथ हम आगे बढ़े। सीतामढ़ी अब भी काफी दूर थी। भूकम्प के तोड़े एक पुल के पास जिस वक्त हम नाव से नाला पार हो रहे थे, उसी समय एक मोटरलारी खड़ी दिखाई पड़ी। मालूम हुआ, वह डिस्ट्रिक्टबोर्ड के चेयरमैन बाबू चन्द्रेश्वरप्रसाद नारायणसिंह के लिए आई हैं। मैंने अपने एक साथी को दौड़कर कहलवाया कि हमें भी साथ लेते चलें। लारी में जगह खाली पड़ी थी। चेयरमैन साहब वहाँ मौजूद थे, और वह मेरे नाम से अपरिचित नहीं थे, किन्तु उनका उत्तर उनके शिक्षा और पद के योग्य नहीं था। हम आराम के लिए नहीं बल्कि उसी दिन सीतामढ़ी पहुँचने के ख्याल से प्रार्थी हुए थे। उसी दिन शाम को या दूसरे दिन हम सीतामढ़ी पहुँच गये। सीतामढ़ी के पास ही भूकम्प का केन्द्र था, इसलिए उसका सबसे भीषण रोष सीतामढ़ी पर हुआ था। पक्के मकान शायद ही कोई बच पाए थे। जेल की दीवारें तो लेटा-सी दी गई थीं।

कष्ट-सहायता का कुछ थोड़ा-बहुत पहले का भी मेरा अनुभव था। वहाँ फक्कड़ बाबा नरसिंहदासजी भी मौजूद थे। सहायता की वस्तुएँ भी जल्दी-जल्दी पहुँचने लगीं। हमने सहायता-केन्द्र स्थापित किया। अन्न की आवश्यकता सबसे अधिक थी, फिर जाड़ों के लिए कंबल भी चाहिए थे। डेढ़-दो हफ्ते बीतते-बीतते तो वहाँ बहुत-सी संस्थाएँ सहायता करने के लिए पहुँच गईं और बिहार केन्द्रीय सहायता समिति में, जिसके काम के लिए मैं गया था, काम करने के लिए बहुत-से आदमी पहुँच गये। पं. नेहरूजी दूसरी बार भी वहाँ पहुँचे। हमारे साथ की एक और मूर्त्ति कुछ ही दिनों बाद यहाँ से उड़ंछू हो गई। वस्तुतः यह दोनों मूर्त्तियाँ उड़ंछू थीं ही, एक तो भयंकर थी और दूसरी दायित्वहीन। तीसरे साथी बहुत सधे हुए, परिश्रमी और सेवापरायण व्यक्ति थे, उनका मकान सीतामढ़ी के पास था। उनके गाँव को भी क्षति पहुँची थी, लेकिन उन्होंने कभी घर जाने का नाम नहीं लिया और न सहायता पहुँचाने की बात कही। भले-बुरे आदमी की परीक्षा ऐसे ही समय होती है।

हम आस-पास के गाँवों में भी गये। सीतामढ़ी के कुछ मीलों पर देकुली स्थान में मुझे किसी प्राचीन ध्वंसावशेष का संदेह हुआ, लेकिन वह समय पुरातत्त्व की गवेषणा का नहीं था।

चम्पारन–सीतामढ़ी का काम खूब होने लगा था। अब वहाँ मेरी विशेष आवश्यकता नहीं थी। मुझे वहाँ रहते प्रायः एक महीना हो गया था। मैंने वहाँ ही नेपाल में भीषण-संहार की ख़बर सुनी। महाबोधि सभावालों

ने वहाँ सहायता के लिए जाने को भी कहा था, मैं सीतामढ़ी से ऊपर ही ऊपर मोतीहारी के लिए रवाना हुआ। रास्ते का नदी का पुल टूट गया था। उससे आगे कहीं पैदल और कहीं इक्के पर होते ढाका (?) थाना पहुँचा, और दूसरे दिन मोतीहारी गया। मोतीहारी को भी क्षति हुई थी, किन्तु सीतामढ़ी के बराबर नहीं। सहायता का काम बड़ी तत्परता से हो रहा था। वही बात मैंने बेतिया में भी देखी। फिर मैं रक्सौल पहुँचा। भूकंप ने अँगरेजी सरकार को अपना कानून नरम करने के लिए बाध्य किया और उसने कांग्रेसी नेताओं को सहायता के काम के लिए जेल से बाहर कर दिया था, किन्तु नेपाल सरकार राहदारी के नियम को शिथिल करने को तैयार नहीं थी। मेरा आगे का रास्ता बन्द था। कुछ नेपाली भद्रपुरुष लौट रहे थे। मेरे पास सहायता के लिए जो पैसे थे, उसे मैंने उनके हाथ में दे दिया और फिर चम्पारन से सारन की ओर प्रस्थान किया।

सारन में–रक्सौल से लौटते वक्त एक जगह एक पूरी की पूरी पैसेंजर ट्रेन स्टेशन से दूर लाइन पर खड़ी थी। भूकम्प ने उसके आगे-पीछे के रास्ते को काट दिया था। मोतीहारी से गाड़ी अभी नहीं चलती थी, इसलिए एक नदी पार करके उसे पकड़ना पड़ा। मुजफ्फरपुर होते छपरा पहुँचा। छपरा में भूकम्प ने उतनी क्षति नहीं पहुँचाई थी, तो भी गंडक के किनारे के गाँवों में कुछ आदमी दबे थे। एक घर की पर्दानशीन औरतें तो चौखट के पास आकर दब मरी थीं। शायद "चौखट के बाहर निकलें या न निकलें" इस पर विचार कर रही थीं, भूकम्प ने उन्हें निर्णय करने का अवसर नहीं दिया।

5 मार्च तक हमने इसी तरह जहाँ-तहाँ भूकम्प पीड़ित स्थानों को देखते हुए बिता दिया।

गया–6 मार्च को पटना से गया पहुँचा। मेरे साथ मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति (छोइडक) भी थे। उस समय श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी गया में थे। जायसवाल जी के द्वारा उनसे परिचय हो चुका था। हम उनके बँगले पर गये। चौधरीजी उन आई. सी. एस. भारतीयों में से थे, जिनको विद्या का भी व्यसन होता है। भारतीय इतिहास और कला से उनका विशेष प्रेम था। उस दिन आधी रात के बाद तक हमारी बात होती रही। गया में अपने साथी को बोधगया का दर्शन कराने के लिए आया था। अगले दिन चौधरीजी अपनी मोटर पर हमें बोधगया ले गये। बोधगया धर्मशाला में तीन मंगोल और दो-तीन चीनी भिक्षु थे। चीनी भिक्षुओं में दो की आपस में लाग-डाँट रहा करती थी। उनमें कुबड़ा शुद्ध चीनी और दूसरा अर्द्धचीनी (तिब्बती माता का पुत्र) था। कुबड़ा यद्यपि बहुत वर्षों से यहाँ रह रहा था, किन्तु उसने कभी हिन्दी सीखने की ओर ध्यान नहीं दिया। उसका नाम फू-चिन् था। उसके प्रतिद्वन्द्वी ने भी अपना नाम फू-चिन् रख लिया था, और भेद करने के लिए उन्हें बड़ा-छोटा फू-चिन् कहा जाता था। बड़े फू-चिन् ने नाम रखने के विरुद्ध जिला मजिस्ट्रेट तक अर्जी लगाई थी, लेकिन बड़े फू-चिन् की अर्जी का पढ़ना किसी के बस की बात नहीं थी। उसके पास चीनी-अंग्रेजी कोश था, जिसे देखकर वह अँगरेजी में अर्जी लिखा करता था। अपने प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध वह शिकायत कर रहा था–"चोता फू-चिन् काना पेसी-पेसी, पूचा तोरा-तोरा, बरा फू-चिन् पूचा पेसी-पेसी, काना तोरा-तोरा" अर्थात् छोटा फू-चिन् पूजा कम करता है और खाना वेशी खाता है, लेकिन बड़ा फू-चिन् पूजा वेशी करता है और खाना कम खाता है।

मन्दिर के भीतर तिब्बती लोगों ने घी के दीपकों को जला-जलाकर भीतर चिपचिप कर रखा था। महंत की कृपा से बुद्ध के माथे पर वैष्णवी तिलक और कपड़े की अल्फी अब भी पड़ी थी। यह दृश्य किसी भी बौद्ध के लिए असह्य था। बौद्धों का यह परम पवित्र स्थान कब तक अवांछनीय हाथों में रहेगा ?

गया में आकर साहित्यिक पंडाधिराज श्री मोहनलाल महतो से मिले बिना कैसे लौटा जा सकता था। उनका पुराना घर गिर गया था। एक दूसरे घर में मुलाकात हुई। कुछ देर तक सन्त-समागम रहा, लेकिन हरिकथा नहीं।

चौधरी महाशय पहुँचाने के लिए स्टेशन पर आये हुए थे। उनके एक परिचित सज्जन को उनके ब्याह की बड़ी फिक्र थी। वह कहने लगे–साहेब, आप ब्याह कर लें।

–क्या जरूरत है ?

–आराम मिलेगा।

—और तरद्दुद ?

उक्त सज्जन मुझसे कहने लगे—आप क्यों नहीं ब्याह करने के लिए इन्हें समझाते ?

—मैं क्यों समझाऊँ, जब देखता हूँ कि एक आदमी ठीक रास्ते पर है।

—सभी सन्त तो नहीं हो सकते ?

—शादी हो जाने पर ही इसका कौन निश्चय है ?

सुल्तानगंज—8 मार्च को पटना होते सुल्तानगंज के लिए रवाना हुआ। इधर सीतामढ़ी से ही गले में खराश और खाँसी हो रही थी। मैं समझता था, कि निनाँवाँ या काँटें निकल आये हैं। अभी मुझे नहीं मालूम हो पाया था, कि यह टोन्सिल की बीमारी है, जितनी जल्दी उसे आप्रेशन करके निकलवा दिया जाय, उतना ही अच्छा। जमालपुर में देखा, कि यहाँ भूकम्प ने मकानों को अधिक नुकसान पहुँचाया है। सुल्तानगंज में धूपनाथसिंह और उनके बड़े भाई देवनाथसिंह का आतिथ्य था। उनके परिवार से और विशेषकर धूपनाथसिंह से मेरी बहुत आत्मीयता थी। धूपनाथसिंह जमींदार की तहसीलदारी छोड़कर विरागी बन गये थे, किन्तु पीछे उन्होंने कुमार कृष्णानन्दसिंह की खजांचीगिरी स्वीकार कर ली थी। दरबार में उनके जैसे ईमानदार आदमी का टिकना मुश्किल था। दरबार के गिद्ध कब पसन्द करते थे, कि धूपनाथ कुमार के पास रहें। मालूम हुआ, उन्हें नौकरी छोड़ने की नौबत आ रही है। मुझे तो यह बात अच्छी मालूम हुई। कुमार को इतना विश्वासपात्र आदमी नहीं मिलता, किन्तु उनके रहने से भी कुमार का विशेष फायदा नहीं हो रहा था। खर्च अंधाधुंध चल रहा था और लोग बहती गंगा में हाथ धो रहे थे। गढ़ पर कुमार साहेब का बँगला बन रहा था, भूकम्प के कारण उसे फिर से गिराकर बनाने की आवश्यकता पड़ी थी। दीवार के लिए नींव खोदी जा रही थी, उसी वक्त ऊपरी धरातल से पौने 6 फीट नीचे पुरानी दीवार निकल आई। वहाँ एक चबूतरा भी मिला, जो पौने बारह फीट अर्थात् ऊपर से साढ़े सत्तरह फीट नीचे तक चला गया था। सबसे नीचे की ईंट चौड़ाई में सवा ग्यारह और मोटाई में सवा दो इंच थी। दूसरी ईंटें थीं 14 X 7 X 2½, 13 X 8 X 2, 12 3/8 X 8½ X 2, 9 7/8 X 7 1/8 X 2 इंच। ऊपरी तल से दो फीट नीचे एक फुट मोटी और दो फुट लम्बी राख की तह मिली थी, अर्थात् आग लगी थी। एक जगह ऊपरी तल से 4 फीट नीचे 9 7/8 X 7 1/8 X 2 इंच की दो फुट मोटी दीवार मिली, जिसकी जोड़ाई बहुत अच्छी थी और दीवार पर बाहर की ओर गौंखे बने हुए थे। ये दीवारें 9 वीं से 12 वीं शताब्दी तक की मालूम होती थीं, यदि चबूतरे की निचली नींव को छोड़ दिया जाय। सुल्तानगंज प्राचीन स्थान है। वहाँ की गुप्तकालीन पीतल की विशाल बुद्धमूर्त्ति एडिनबरा में मौजूद है, इसलिए गुप्तकाल से उसका सम्बन्ध तो है ही।

10 मार्च को मुंगेर देखने गये। भूकम्प ने सबसे अधिक हानि इसी नगर को पहुँचाई थी। चौक बाजार और पूरबसराय बिलकुल सहेट-महेट हो गये थे। राजा रघुनन्दनप्रसाद के मकान के पास अब भी दबी लाशों की बदबू आ रही थी। शहर का मलवा हटाने में अभी काफी देर थी।

अगले दिन मैं पटना में था। वहाँ विक्रमशिला से तिब्बत गये आचार्य दीपंकर श्रीज्ञान के शिष्य डोम्-तोन्-पा द्वारा रचित 'गुरुगुणधर्माकर' में विक्रमशिला के बारे में देखने लगा। डोम्-तोन्-पा ने लिखा है, कि नालन्दा के भिक्षु कपल ने गंगा के किनारे एक पहाड़ी पर विहार बनवाया था। पीछे भिक्षु पालवंश-संस्थापक महाराज गोपाल के पुत्र धर्मपाल के रूप में पैदा हुआ। धर्मपाल ने वहाँ एक विशाल विहार बनवाया। पालवंशी राजा महीपाल ने वज्रासन (बोधगया) विहार से दीपंकर श्रीज्ञान को विक्रमशिला विहार में बुलवाया। विक्रमशिला नामक चट्टान विहार के उत्तर तरफ थी और भंगलपुर राजधानी से विक्रमशिला विहार उत्तर तरफ था। सुल्तानगंज के विक्रमशिला होने में पक्ष और विपक्ष दोनों प्रकार के प्रमाण इतने समान हैं, कि उसके बारे में कोई निश्चय करना आसान नहीं है।

19 मार्च तक मुझे पटना ही में रहना था। मंगोल भिक्षु धर्मकीर्ति मेरे साथ थे। आपरेशन से अब वह स्वस्थ हो गये थे। मेरी बड़ी इच्छा थी कि तिब्बती भाषा की पंडिताई के साथ यदि वह कुछ संस्कृत पढ़ लेते, तो अच्छा था; किन्तु उनके लिए संस्कृत सचमुच 'बूढ़ा तोता राम-राम' वाली बात थी। मार्च के मध्य में ही

गर्मी उनके बर्दाश्त के बाहर हो गई थी, लेकिन इस पर भी वह हफ्तों नहाने का नाम न लेते थे। मुझे डर लगता था, कि कहीं बीमार न पड़ जायँ।

बिहार भूकम्प सहायता के सम्बन्ध मे गाँधीजी पटना आये हुए थ। उनकी परिचिता एक अँगरेज महिला स्वदेश लौटनेवाली थी। जहाज का जल्दी प्रबन्ध होना मुश्किल था, यदि वह जल्दी मिल सकता था, तो लंका से ही। राजेन्द्र बाबू ने उनको बतलाया कि मेरे लंका में परिचित व्यक्ति हैं। मैंने सर जयतिलक को पत्र और तार दे दिया। इसी काम के सम्बन्ध में मैं गाँधीजी के पास गया हुआ था। इससे पहिले भी गाँधीजी से मिलने का मुझे एक से अधिक बार अवसर मिला, लेकिन मुझे कभी उनसे कोई अधिक बात जानने की इच्छा नहीं हुई। उनके आदर्शवाद का सन्मान करते हुए भी मैं बौद्धिक तौर से उनसे बहुत दूर था, इसीलिए मैं कभी उनके यहाँ गया भी तो कुछ मिनटों से अधिक नहीं ठहरा। गाँधीजी के पास से जब मैं बाहर आया, तो मालवीयजी महाराज मिल गये। उनको विश्वास था, कि बुद्ध ईश्वर के भक्त थे। जब सारनाथ में किसी ने उल्टी बात बताई, तो उनको बहुत आश्चर्य हुआ। मैं बौद्धधर्म का प्रसिद्ध पंडित माना जाता था। उन्होंने मुझसे पूछा—क्या सचमुच ही बुद्ध ने ईश्वर को नहीं माना है ? मैंने 'सब्बं अनिच्च' इस बुद्धवाक्य को बतलाया और कहा कि इस नियम का ईश्वर भी अपवाद नहीं हो सकते। फिर मैंने महाब्रह्मावाली 'दीर्घनिकाय' की कथा सुनाई, जिसमें ईश्वर का स्पष्ट निषेध है। मालवीयजी को खेद तो हुआ होगा, किन्तु मैं सत्य का अपलाप कैसे करता ?

मुझे इस साल फिर तिब्बत में दूसरी यात्रा पर जाना था। जाने से पहले मालूम हुआ कि बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी मुझे अपना पूजित सदस्य बना रही है, इसके लिए कोई हर्ष-विस्मय की बात नहीं थी, किन्तु विचित्र बात यही थी, कि जेम्स, फाकस, हैलट तथा दूसरे अँगरेज नौकरशाहों ने इस सन्मान की स्वीकृति दी थी, और मुझे अब भी अँगरेज नौकरशाही की परछाईं से नफरत थी।

13

द्वितीय तिब्बत-यात्रा (1934 ई.)

1. ल्हासा को

कलिम्पोङ्—20 मार्च को धर्मकीर्ति के साथ मैं पटना से कलिम्पोङ् के लिए रवाना हुआ। जहाज से गंगापार कर सोनपुर, कटिहार और पार्वतीपुर में गाड़ी बदलते अगले दिन सुबह होते-होते हम सिलीगोड़ी पहुँच गये। 4 रुपए में दोनों के लिए टेक्सी में स्थान मिल गया। रास्ते में धर्मकीर्त्ति को बहुत कै हुई। ढाई घंटे में हम लोग कलिम्पोङ् पहुँचे। साहू भाजूरत्न ने (जिनको तिब्बती लोग शमो-कर्पो—सफेद टोपी के नाम से पुकारते हैं) स्वागत किया। हम लोग बौद्धप्रतिष्ठान में ठहराये गये। नेपाल में वेष बदलकर सीमान्त तक पहुँचानेवाले दशरत्न साहु ने मेरी सहायता की थी, अब वह भिक्षु धर्मालोक थे। वह भी यहाँ मिल गये और मालूम हुआ कि उन्हें भी तिब्बत जाना है। मेरी खाँसी बन्द नहीं हो रही थी—खाँसी होना शुभ लक्षण नहीं है। मैं कुछ दवाई करते काम-धन्धे से थोड़ा विश्राम भी लेने लगा।

कलिम्पोङ् में बिहार के बहुत आदमी रहते थे, यह कैसे हो सकता था कि वे मिलने नहीं आते। वलिया-निवासी हरेराम बाबा, बारह-तेरह साल से इधर रह रहे थे। उन्हें मेरी नास्तिकता पर कुछ खेद तो जरूर हुआ होगा, किन्तु अपनों के हाथ की रूखी रोटी भी मीठी होती है। परमहंस मिश्र दूसरे तरुण थे, जो यहाँ अध्यापकी कर रहे थे। वह तो और भी अधिक आया करते थे। वासुदेव ओझा (धनगडहा) तीसरे मित्र थे, जो हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार थे। धर्मालोकजी तो बराबर ही साथ रहते थे, और उनकी बातें

बड़ी मनोरंजक होती थीं। उन्होंने अब मौन पर्यटकाधिराज का व्रत लिया था। वह तिब्बत होकर बोधिसत्व मंजुश्री को ढूँढ़ने चीन जाने की इच्छा रखते थे। धर्मालोकजी से एक दिन नेपाल के भूतों के बारे में बातचीत होने लगी। उनके कथनानुसार नेपाल में अठारह प्रकार की भूत-जातियाँ हैं–

(1) मुँड़कटा–सिर कटने से मरा व्यक्ति;
(2) अगतित्वों–बहुत पीड़ा और अज्ञान से मरा व्यक्ति;
(3) राछस–जो बन में मिलने पर आदमी का कलेजा खा जाता है;
(4) कौं–कंकालमात्र शरीरवाला जो 'कौं' कहकर बोलता है;
(5) कीं-चक्-नीं–भूतनी जो सुन्दरी का रूप धारण कर छरती और मारती है;
(6) मीचू-लाखे–नदियों और सूने मैदानों में मुँह से आग निकालकर दौड़नेवाला राकस;
(7) हाँ न्याघर–हवाई भूत जो घर में बैठकर ढेला फेंकता है;
(8) सीक-अगति–उसी घर में मरकर रहनेवाला भूत;
(9) ख्याक्-तुयू-म्ह–सफेद बानर जैसा, हानि नहीं लाभ देनेवाला भूत;
(10) भ्वाठऽ-ग्वारा-ख्याक्–चिथड़ा लपेटनेवाला भूत जो आदमी को गिराकर हँसता है;
(11) नाङ्-सू-ख्याक–रास्ते में नाम लेकर पुकारनेवाला भूत;
(12) गुरु-रुरु-ख्याक–कोठे पर धमधम करनेवाला भूत जो अत्यन्त कल्याणकारी है;
(13) लैं-पनेम्हऽ-ख्याक्–रास्ता रोकनेवाला भूत;
(14) ग्व-दू-मा-मि-सा–मूँछोंवाली भूतनी;
(15) जङ्-की-को–यमदूत;
(16) जू-मी–आदमी को सीधा ले जानेवाला भूत;
(17) वारा-ख्याक्–प्रथम ऋतुमती मर के बनी भूतनी;
(18) यो-ख्याक्–चरखा कातनेवाली भूतनी।

मुझे अफसोस हुआ, कि संख्या बीस तक पहुँचने नहीं पाई, लेकिन मैं तो इसकी आधी संख्या को भी अपने यहाँ से पूरा नहीं कर सकता था।

छपरा के लोगों ने यहाँ कलकत्ता की तरह मजूरी का रोजगार नहीं उठाया है, बल्कि वह छोटे-मोटे साहूकार हैं, पहिले पैसा भुनाने का काम करते, फिर चवनियाँ हार और नाक की लवँग रखते-रखते इन्हें सोनार बन जाना पड़ा। कलिम्पोङ् में उनकी पाँच-छै जेवर की दूकानें थीं, जिनके मालिक सभी जाति के थे।

मेरी पहिली यात्रा में ल्हासा रहते समय नेपाल के प्रधानमंत्री (जो वस्तुतः राजा थे) चन्द्रशमशेर मर गये। उनके स्थान पर उनके भाई भीमशमशेर गद्दी पर बैठे और उनके मरने पर सबसे छोटे भाई युद्धशमशेर प्रधानमंत्री या तीन सरकार बने थे। इसी समय पता लगा, कि नेपाल में एक छोटी-मोटी क्रांति हो गई, यद्यपि उसका प्रभाव केवल राना-वंश तक सीमित था। चन्द्रशमशेर के पुत्र अधिक शिक्षित, धनी और प्रभावशाली थे। उन्हें यह पसन्द नहीं हो सकता था, कि दूसरे लोग आधी शताब्दी तक राज करते रहें और उनको मौका ही न मिले–नेपाल में प्रधानमंत्री का पद आनुवंशिक है और वह आयुक्रम से सभी भाइयों और पीछे बेटों-भतीजों में घूमता है। युद्धशमशेर अब प्रधानमंत्री थे, रुद्रशमशेर उनके उत्तराधिकारी चीफ़ साहेब बने थे। समाचारपत्रों से पता लगा, कि रुद्रशमशेर और कितने ही और अधिकार से वंचित करके दूसरी जगह भेज दिये गये और अब भीमशमशेर के पुत्र पद्मशमशेर चीफ हुए हैं, उनके बाद के तीन उत्तराधिकारी चन्द्रशमशेर के लड़के–मोहनशमशेर, बबरशमशेर, और केसरशमशेर हुए हैं; इस प्रकार शक्ति चन्द्रशमशेर के पुत्रों के हाथ में चली गई। डर तो उसी समय लग रहा था, कि शायद युद्धशमशेर और पद्मशमशेर को भी नेपाल छोड़ना पड़े, किन्तु यह बात एक दशाब्दी बाद हुई। इस छोटी-सी क्रान्ति ने, शुद्ध और अशुद्ध वंश के बहाने से युद्धशमशेर के 22 पुत्रों में से 18 को उत्तराधिकारी-सूची से निकाल दिया। वीरशमशेर ने रानावंश-स्थापक जंगबहादुर के सन्तान के साथ ऐसा ही किया था, अब उन्हीं के पुत्र रुद्रशमशेर और दूसरे अधिकार वंचित किये गये। चन्द्रशमशेर के पुत्र भी क्या

इस बीमारी से अछूते रह जायेंगे। शायद यही ख्याल करके उन्होंने युद्धशमशेर और पद्मशमशेर को 1947 ई. तक राज्य करने दिया।

तिब्बत में प्रवेश करने के लिए गन्तोक् के पोलिटिकल-अफ़सर का आज्ञापत्र आवश्यक था। पटना से अर्द्ध-सरकारी तौर से गनूतोक में मेरे बारे में लिखा गया था। मैं कलिम्पोङ् में आज्ञापत्र आने की प्रतीक्षा कर रहा था। उधर श्री राजनाथ पाण्डेय ने अबकी साल प्रयाग में एम. ए. की अन्तिम परीक्षा दी थी और वह भी ल्हासा चलने के लिए उत्सुक थे। तिब्बत के लिए प्रस्थान करने से पहिले मेरे पास काफी काम भी थे। मेरे 'भोट-भाषा-व्याकरण' का प्रूफ आ रहा था, उधर लंका में रहते मैंने स्वेन्चाङ् अनुवादित विज्ञप्तिमात्रता के प्रतिशब्द श्री वाङ्मोलम् की सहायता से एकत्रित कर लिये थे, जिन्हें अब मैं संस्कृत में परिवर्तित कर रहा था। आगे के दूसरे कामों के कारण मैं 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि' के आधे को ही संस्कृत में करके प्रकाशित[1] करा सका। साथ ही इस समय एस्पेरन्तो भाषा सीखने की ओर कुछ रुचि हुई थी, किन्तु वह आगे बढ़ नहीं सकी।

यात्रा के लिए मैंने कहाँ-कहाँ से पाँच सौ रुपये जमा किये थे, जिनमें एक सौ रुपये 'हिन्दुस्तानी' पत्रिका के थे। सम्भव है कुछ महाबोधिसभा से मिले हों। इतनी बे-सरोसामानी से तिब्बत में बहुत काम तो नहीं किया जा सकता, किन्तु मेरी यात्राएँ रुपयों के बल पर नहीं होती थीं।

दस अप्रैल को मेरी पुस्तक 'तिब्बत में सवा बरस' आई। दूसरी यात्रा से पहिले ही प्रथम यात्रा की पुस्तक छपकर आ गई, इसके लिए मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। अप्रैल में खाँसी के साथ कुछ बुखार भी आया, मैंने यह सोचकर संतोष किया, कि तिब्बत में घुसने से पहिले ही रोग से तो छुट्टी मिल जाये। जायसवालजी को मेरी यात्रा का महत्त्व मालूम था। 16 अप्रैल को उनके भेजे दो सौ रुपये मिले। मैंने उस पर लिखा था—"वस्तुतः उनका जैसा खर्च है, उससे तो उनसे कुछ लेना अच्छा नहीं है। तो भी वह इतने उदार हैं, कि मानेंगे नहीं।"

जापानी बौद्धविद्वान ब्योदो 17 अप्रैल को कलिम्पोङ् आये और कुछ दिनों उनका समागम रहा। इसी समय अगले साल जापान जाने का विचार पक्का हुआ। एक मनोरंजक बात एक दिन बलिया जिले के एक जमादार के मुँह से सुनने में आई। वह ब्राह्मण थे और यहाँ के सब-जेल में काम करते थे। बेचारे गरीबी के कारण जिन्दगी-भर क्वाँरे रह गये और अब पचास के करीब पहुँचने के कारण तमादी लगनेवाली थी। छुट्टी लेकर जब-तब 'देश' जाते, किन्तु भाग्य का द्वार कहीं से खुलता नहीं दिखाई पड़ा। एक दिन बड़े खिन्न मन से कह रहे थे—"बाबा ! आखिर सगइया होई लेकिन··· तिवारी के मुवाइके !" (विधवा विवाह तो आखिर हो के रहेगा, किन्तु तब होगा जब मैं मर जाऊँगा।)

गन्तोक्—कलिम्पोङ् में आये प्रायः एक महीने हो गये, पर अब भी गन्तोक् से आज्ञापत्र आने का कोई लक्षण नहीं मालूम हो रहा था। वहीं चलकर दर्वाजा खटखटाने का निश्चय करना पड़ा और 19 अप्रैल को श्री वासुदेव ओझा के साथ मोटर से हम गन्तोक् के लिए रवाना हुए। 10 मील नीचे उतरकर तिस्ता नदी के किनारे पहुँचे, फिर वहाँ से रास्ता ऊपर की ओर बाएँ किनारे से था। रम्-फू में नदी का पुल दार्जिलिंग जिले और सिकिम राज्य की सीमा है। यहाँ के बाजार में भी बिहारी दूकानदार अधिक थे। सिम्-ताङ् के पास नारंगी के बाग मिले—सिकिम की नारंगियाँ अपने माधुर्य के लिए बहुत प्रसिद्ध हैं, यद्यपि वह इतनी मात्रा में नहीं होतीं कि दूर-दूर पहुँच सकें।

रात के साढ़े सात बजे हम गन्तोक् पहुँचे; समुद्रतल से यह आठ हजार पाँच सौ फीट ऊपर है, लेकिन सर्दी अधिक नहीं है। रहने की कोई व्यवस्था नहीं थी, इसलिए हमने एक मंदिर की शरण ली। पोलिटीकल आफिसर के हेडक्लर्क छपरानिवासी थे। वासुदेवजी को आशा थी, कि उनसे कुछ सहायता मिलेगी, लेकिन उन्होंने खड़े-खड़े बड़े रूखे स्वर से कहा—आप आज मंदिर में रहिए, कल दस बजे दिन को आफिस में आइएगा। पुजारी अमनौर (छपरा) के पास के रहनेवाले थे, उन्होंने हमारे आराम का बहुत ख्याल रक्खा। अगले दिन पोलिटिकल-अफसर के क्लर्क बाबू ग्यल्-छन्-छे-रिङ से मिले। यह उतने रूखे नहीं मालूम हुए। उन्होंने दस बजे

1. बिहार-उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी के जर्नल में।

आफिस में आने के लिए कहा। पटना से लिखने पर भी कोई सुनवाई नहीं हुई, यहाँ के पारखद भी अधिक अनुकूल नहीं दिखाई पड़े, फिर साहब से क्या अधिक आशा रक्खी जा सकती थी। मैंने बँगले पर जाकर अपना कार्ड भेज दिया। मिस्टर विलियम्सन ने तुरन्त भीतर बुलाया और अच्छी तरह से बात की। उन्होंने कहा कि आज्ञापत्र के बारे में एक दो और बातें जाननी थीं, मैंने पटना लिखा था और उत्तर की प्रतीक्षा में था। कुछ ही समय पहले बिहार के गवर्नर ने बिहार रिसर्च सोसाइटी के वार्षिक अधिवेशन प्रर मेरी प्रथम तिब्बत-यात्रा और उसके काम की बड़ी प्रशंसा की थी। संयोग से जर्नल का वह अंक मेरे पास था, जिसमें भाषण छपा था। विलियम्सन वैसे भी सहृदय व्यक्ति थे, इस भाषण को पढ़कर तो वह और भी प्रभावित हुए और उन्होंने तुरंत क्लर्क को आज्ञापत्र लिखकर लाने को कह दिया। इसके बाद तो तिब्बत के बारे में उनसे और घुल-घुलकर बातें होने लगीं। उन्होंने वहाँ के अपने लिये बहुत-से फोटो दिखलाए और हर तरह से सहायता करने की इच्छा प्रकट की। मैंने इतना ही कहा कि आप अपने ट्रेडएजेंट को ग्याँची लिख दें। काम इतनी आसानी से हो जायेगा, यह मुझे विश्वास नहीं था, और यहाँ ग्यारह बजे तक आज्ञापत्र मेरे हाथ में था।

गन्तोक् आये तो कुछ और देख लेना चाहिए। पहले राजकीय विहार और प्रासाद की ओर गये। महाराज और महारानी से भेंट हुई। महारानी विशेष समझदार मालूम हुईं। मैंने अपने तिब्बती प्राइमर की एक प्रति भेंट की। जब मैं विहार देखते वहाँ ठहरे तिब्बती लामा के पास पहुँचा, तो देखा रानी भी हर्षोत्फुल्ल हो मेरी प्राइमर को उन्हें दिखा रही हैं। लामा से काफी देर तक बातें होती रहीं। वे मेरे नाम से पहले ही से परिचित थे। पीछे वह ल्हासा में भी मिले और सहायता करने के लिए तैयार थे।

उसी दिन चार बजे चलकर पौने नौ बजे हम कलिम्पोङ् पहुँच गये। अब तिब्बत के लिए प्रस्थान करना था। सवारी का प्रबंध होना कोई मुश्किल नहीं था, क्योंकि प्रतिदिन सैंकड़ों खच्चर यहाँ से माल लेकर तिब्बत के लिए रवाना होते हैं। हमें बड़ी सावधानी से रुपया खर्च करना था। राजनाथ के लिए आज्ञापत्र मिलना आसान नहीं था। माँगने पर उनके लिए भी बनारस की पुलिस को जाँच करने को कहा जाता। इसलिए यही अच्छा समझा गया, कि वह नेपाली वेष में चलें। उनका ठिगना शरीर भी इसमें सहायक हुआ। फरी तक के लिए 32 रुपये में एक सामान और दो सवारी के खच्चर किराये किये गये। रास्ते के लिए आवश्यक चीजें और दवाइयाँ जमा कर ली गईं, जिनमें साबुन, दंतलेई, ब्लेड, फाउन्टेनपेन-स्याही, जूता, छाता, ताला, तौलिया, पेन्सिल, कागज, लेटर पेपर, लिफाफा, टिकट, पोस्टकार्ड, लालटेन, चायबर्तन, ओढ़ने का कपड़ा, टार्च, प्याला, चम्मच और बरसाती तथा कितनी साधारण दवाइयाँ (टिंचर अइडिन, रुई, पट्टी, ज्वर की दवा, जुलाब) शामिल थीं।

फरी-जोङ् को–22 अप्रैल को सवा नौ बजे हम साहु भाजूरत्न से विदा हुए। राजनाथ पाण्डे नेपाली टोपी और पाजामे में थे। उनके साथ एक नेपाली तरुण को अलगडहा बाजार (आठ मील) तक भेज दिया था। राजनाथ ने नेपाली भेस तो बना लिया था, लेकिन बोली कहाँ से लाएँ। सलाह हुई कि पूछने पर कह देंगे–हमारे माता-पिता शिमला में रहते रहे, इसलिए मुझे नेपाली भाषा बोलने का मौका नहीं मिला। चार मील और चलने पर पेडोङ् आया। पुलिस ने नाम-धाम लिखा। मैं भिक्षुवेष में था, किन्तु मेरे पास आज्ञापत्र था, और राजनाथ का भेस ही उनके लिए आज्ञापत्र का काम दे रहा था। 23 ता. को 6 बजे सबेरे ही हमारा काफिला रवाना हुआ। तीन मील उतराई के बाद चढ़ाई शुरू हुई। फरी तक में अबकी सिकिम पुलिस ने नाम-धाम लिखा। 5 मील चढ़ाई के बाद उतराई आई। यहाँ बड़ी इलायची के बाग लगे हुए थे। पहले बड़ी इलायची की खान नेपाल थी, लेकिन अब गोरखा लोगों ने उसे नेपाल के बाहर के पहाड़ों में भी फैला दिया है। रं-गी-ली बाजार में साढ़े दस बजे पहुँचे। नेपाली बौद्ध कांछावांडा (वंद्य) ने बड़े आग्रह और प्रेम से भोजन कराया। साढ़े बारह बजे हम फिर ऊपर की ओर चढ़ने लगे। तीन घंटे बाद लिङ्-ताङ् पहुँच गये। जगह देखने में बहुत अच्छी मालूम हुई, लेकिन रात को पिस्सुओं ने नींद हराम कर दी।

सबेरे उठे, तो पानी बरस रहा था। लेकिन पानी की प्रतीक्षा के लिए समय कहाँ था ? हम सात बजे चल पड़े। आगे अब चढ़ाई ही चढ़ाई थी। तिब्बत का व्यापार-पथ होने से यहाँ आदमियों की आवाजाही बहुत रहती है, इसलिए मीठी चाय की दूकानें जगह-जगह मिलती हैं। फदमचन् (4 मील) तक हम साढ़े चार घंटे

पैदल ही चले। यहीं रोटी-चाय का भोजन हुआ। अब हम डाँड़े की ओर जा रहे थे, इसलिए चढ़ाई की क्या शिकायत ? उस दिन रात को ज-लू में जाकर ठहरे। यहाँ भी पिस्सुओं ने सोने नहीं दिया।

25 अप्रेल को 6 बजे ही रवाना हुए, चढ़ाई खूब कड़वी थी। पहले छोटा डाँड़ा (जोत) आया, यहाँ पास में चाय की दूकान थी। गङ्-चन्-जोद्-लुङ् (किञ्चिनजंगा) की चोटी दिखाई पड़ी। 1 बजे हम नाथङ् पहुँचे। राजनाथ दूसरे नेपाली यात्रियों के साथ आगे-आगे जा रहे थे, उनको किसी ने नहीं पूछा; किन्तु जैसे ही मैं वहाँ से गुजरा पुलिस ने दौड़कर आवाज लगाई और पास दिखाने के लिए कहा। पास दिखाते हुए मैंने कहा—मुझसे ही क्यों पास माँगते हो ? जवाब मिला—नेपालियों के लिए पास नहीं देखा जाता। मैं मन ही मन हँसा—राजनाथ अच्छे नेपाली निकले। जिस वक्त हम जा-लेप-ला को पार कर रहे थे, उस वक्त चारों ओर खूब बादल था। खैरियत यही हुई कि बर्फ नहीं पड़ी। जा-लेपूला का डाँड़ा भारत और भोट की सीमा है। आगे उतराई ही उतराई थी। साढ़े पाँच बजे ग्यूं-थङ् पहुँचे और उसी आवसथ में ठहरे, जहाँ पिछली बार देववाहिनी का साक्षात्कार हुआ था।

हमारे खच्चरवाले पद्मोगङ् के रहनेवाले थे। उनका गाँव सड़क से हटकर, नदी के भी परले पार काफी ऊँचे स्थान पर था। उन्हें अपने गाँव में होकर जाना था। रास्ते में रिन् छेन्-गङ् में हमने चाय पी। अब हम बौद्ध देश में थे, किन्तु कैसा बौद्ध देश, जहाँ भूत-प्रेत और जादू-मंतर छोड़ किसी और बात पर श्रद्धा नहीं। स्यासिमा में अँगरेजी सैनिक टुकड़ी रहती है। वहाँ हम एक बजे के करीब पहुँचे। डेढ़ मील आगे चलने पर पुल पार हो पहाड़ पर चढ़ने लगे। 3 मील जाने के बाद ङोइ-डुब हमें अपने गाँव पद्मोगङ् में ले गया। चुम्-बी (टो-मो) उपत्यका का यह एक अच्छा गाँव है। यहाँ के लोगों की जीविका खेती के साथ माल-ढोलाई भी है। गाँव में सोलह परिवार हैं, जो सभी भाइयों के एक ब्याह होने के कारण शायद कभी बढ़े नहीं। पीढ़ियों की अविभक्त सम्पत्ति यहाँ जमा होती रही होगी, किन्तु तीन वर्ष पहले आग लगने से सारा गाँव जल गया। गाँव के इतिहास के बारे में एक वृद्ध ने बतलाया कि यह डेढ़ हजार वर्ष पुराना है, अर्थात् भोट के प्रथम सम्राट स्रोङ्-चन्-गंबों से भी पहले का। इतने लम्बे काल का उल्लेख तो मिल नहीं सकता, किन्तु कोई स्थान प्रागैतिहासिक भी हो सकता है। हाँ, इस गाँव की एक विशेषता जरूर थी। यह लोग बोन्-धर्म के माननेवाले थे, जो भूतप्रेत-पूजा के रूप में बौद्धधर्म के आने से पहिले यहाँ मौजूद था। इस गाँव में बोन्-धर्म के दो मन्दिर हैं। किन्तु दोनों में शाक्यमुनि की भी मूर्तियाँ हैं। मन्दिर में बोन्-धर्म की कुछ हस्तलिखित पोथियाँ भी हैं, जिनमें बोन्-बुम् (बोन्-धर्म की शतसाहस्रिका) की सोलह पोथियाँ बहुत पुरानी हैं—इनमें तालपोथियों की तरह छिद्रस्थान बने हैं और शताब्दियों पहिले से परित्यक्त दकार (द-द्रग) भी मौजूद हैं। वस्तुतः बोन्-धर्म ने बहुत-सी चीजें बौद्धों से ले ली हैं, इसलिए यह वही प्राग्बौद्धकालीन बोन्-धर्म नहीं रहा। पूर्ववाला देवालय अधिक पुराना है। इसके द्वार पर चीनी अक्षरों में भी कुछ लिखा है, लेकिन इन काठ के घरों में न जाने कितनी बार आग लगी होगी और बहुत कम ही चीजें बचाई जा सकी होंगी।

27 अप्रेल को भी यहीं ठहरना पड़ा। अब की गर्मियों में विनयपिटक का हिन्दी में अनुवाद करना था, इसलिए आज से ही वह काम शुरू कर दिया।

28 अप्रेल को साढ़े छै बजे ही चल पड़े। आज 22 मील चलकर फरी-जोङ् पहुँचना था। दो मील उतराई के बाद टो-मो-गेशे का विहार मिला। टो-मो इस हरी-भरी उपत्यका का नाम है, जिसे अंग्रेजी में चम्बी या चुम्बी कहते हैं। टो-मो-गेशे अवतारी लामा नहीं थे, लेकिन उनकी सिद्धाई की दार्जिलिंग और कनौर तक ख्याति थी। बारह बजे से पहिले ही हम गो पड़ाव पर पहुँच गये। आज दिन अच्छा था। आसपास भी साफ था। आठ मील पूर्व ही से फरी और पास दिखाई पड़नेवाला फगँ-री शिखर सामने खड़ा था। इसी समय एक बड़ी रोमांचकारिणी दुर्घटना घटित हुई। राजनाथ से मैंने पहिले घोड़े की सवारी के बारे में पूछ लिया था। उन्होंने कहा कि चढ़ लेता हूँ। मैं इतमीनान से फरी गाँव को देखता आगे-आगे जा रहा था। इसी वक्त मैंने मुँह पीछे फेरा, तो देखा राजनाथ की खचरी ढलुवा मैदान पर नीचे की ओर भाग रही है। पचास-साठ गज दौड़ने पर राजनाथ गिर पड़े। खच्चर बोझा ढोनेवाले थे, इसलिए उन पर चारजामा रिकाब नहीं थी। रिकाब का काम

चमड़े के फीते को लटकाकर किया गया था। एक पैर फीते में फँस गया। खचरी घूमने लगी, पैर और भी फँसता गया। मेरा दिल सन्न हो गया था। कुछ ही सेकेंडों में भयंकर घटना घटनेवाली थी। इसी समय खचरी बैठ गई। राजनाथ ने पीछे बतलाया कि उन्होंने खचरी के अगले पैर को पकड़ लिया था। खैर आदमी दौड़े, पैर छुड़ाया गया। उन्हें फिर से खचरी को ठीककर चढ़ाया गया। मैं अपने खच्चर को पीटते ही रह गया, लेकिन वह फरी को सामने देखकर पीछे लौटने के लिए तैयार न था। उतरना चाहा तो वह कूदने लगा। राजनाथ मौत के मुँह में से निकले थे, इसमें संदेह नहीं। फरी पहुँचकर शरीर को अच्छी तरह देखने पर मालूम हुआ, कि हड्डी कोई नहीं टूटी है, कई जगह चमड़ा छिल गया है। मुझे ख्याल हो रहा था कि यदि कोई अनिष्ट होता तो 'जइहौं अवध कवन मुँह लाई'।

28 अप्रैल से 5 मई तक फरी में ही रह जाना पड़ा। राजनाथ तो दूसरे दिन से ही तैयार हो गये थे, किन्तु वहाँ से खच्चर का प्रबन्ध नहीं हो रहा था। अब फरी ही देखने लगे। यूरोपीय यात्रियों ने फरी गाँव को दुनिया का सबसे गंदा स्थान बतलाया है। हो सकता है इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो, किन्तु शहर के भीतर और बाहर सभी जगह कूड़ा-कर्कट, पाखाना-पेशाब फैला मिलेगा, जिन पर महीनों से कुत्तों की लाशें पड़ी दीख पड़ेंगी। 14000 फीट से अधिक ऊँचाई होने के कारण यहाँ बारहों महीने सर्दी की अधिकता है, इसलिए लाशें जल्दी सड़ती भी नहीं। भारतीय सीमा से ग्यांची तक की सड़क और बँगले अंग्रेजी-सरकार (भारतीय सरकार) की देखरेख में हैं। टो-मो उपत्यका से ग्यांची तक आसानी से मोटर चलाई जा सकती है। अंग्रेजों ने दो मोटरें भी मँगाई थीं, जो अब भी यहाँ गराज में बन्द थीं, किन्तु उनको देखकर खच्चर एवं चवँरियाँ भड़कने लगीं। भोट सरकार ने विरोध किया, तब से मोटरें गराज में कैद हैं।

फरी में बादल तो मानो बारह मास रहते हैं और वर्षा होती है बर्फ के रूप ही में। हवा इतनी पतली है, कि 15 पग चलने पर भी साँस फूलने लगती है। फरी के पास के पहाड़ों को पारकर आधे दिन में भूटान पहुँचा जा सकता है। भूटानी लोग फल, साग, और चावल बेंचने के लिए यहाँ आया करते हैं।

खच्चर मिलने की कठिनाई अब भी थी। सबसे दिक्कत धर्मकीर्ति के लिए थी, उनकी तबियत ठीक नहीं थी। मैं चाहता था, कि उनको कम से कम खच्चर पर ल्हासा भेज दूँ। उधर 5 मई को कलिम्पोङ् से तार आया, कि सौ रुपये का चैक भुन नहीं सका अर्थात् अब खर्च करने के लिए मेरे पास तीन सौ रुपये ही रह गये थे। खैर, उसके लिए मैं ज्यादा चिन्ता नहीं कर रहा था। यद्यपि यहाँ रहते अनुवाद का काम जारी था, किन्तु मैं अब उकता गया था। डाक बाबू की सहायता से अन्त में 5 मई को चार घोड़ों का प्रबन्ध हो गया। इसी समय ब्रिटिश ट्रेडएजेंट कप्तान हेली भी वहाँ आ पहुँचे। मिस्टर विलियमसन ने, जान पड़ता है, उसके पास पत्र लिख दिया था। उन्होंने चाय के लिए निमन्त्रित किया और कहा कि आप सरकारी डाक बँगले को इस्तेमाल कर सकते हैं। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और लौटते समय इस्तेमाल करने के लिए कहा—किन्तु लौटना मेरा नेपाल के रास्ते हुआ।

ल्हासा को—6 मई को हम फरी छोड़ सके। कप्तान हेली से रास्ते में मुलाकात हुई, किन्तु वह हमसे बहुत पहिले ग्यांची पहुँचनेवाले थे। फरी से काफी दूर तक आसमान में टँगा दुनिया का यह सबसे ऊँचा मैदान चला गया है। यहाँ सदा तेज हवा चलती रहती है। खैरियत थी, कि वह पीछे से आ रही थी। हवा की सर्दी रोकने के लिए हमारे पास कपड़ा काफी था और पिछले सप्ताह-भर की फरी की मार से राजनाथ भी पक्के हो गये थे। उस दिन हमारा डेरा दूना गाँव में रहा।

7 मई को 2 बजे रात ही को उठे। थुक्-पा (मांस सहित पतली लपसी) पीते-पीते सवा चार बज गये। कुछ उजाला भी हो चला। फिर वहाँ से हम रवाना हुए। सर्दी खूब थी। कहीं-कहीं बर्फ ओस के रूप में पड़ी मिली। साढ़े तीन घंटे में चौदह मील चलकर हम दोजिन् पहुँचे। पास में विशाल ल्ह-म्छो (देवसरोवर) आज बिल्कुल शान्त था। हंसों के कलरव जहाँ-तहाँ सुनाई देते थे। फरी शिखर का बड़ा सुन्दर दृश्य सामने था। साढ़े दस बजे छ-लू गाँव में पहुँच गये, लेकिन घोड़ेवाले तीन बजे आये। बीच के दो-तीन बस्तियों से निराश होकर उस रात को क-ला-नुब् गाँव में ठहरने की जगह मिली। फरी से पहिले दिन उन्नीस मील, दूसरे दिन

सत्रह मील और आज 38 मील (67 से 29 वें मील तक) आये। उस दिन खङ्-मर गाँव में रहना पड़ा। डे-पुङ् विहार के अवतारी लामा से भेंट हो गई, जिससे रहने का स्थान अच्छा मिल गया। अब ग्यांची 29 मील रह गया था।

9 मई को साढ़े चार बजे ही हम चल पड़े और बीच में दो घंटा चाय-विश्राम करते पौने चार बजे ग्यांची पहुँच गये।

ग्यांची निश्चिन्तता का स्थान था। धर्ममान साहु की कोठी की यहाँ एक शाखा थी, उनके सुपुत्र ज्ञानमान साहु ने सीधे ल्हासा आने की चिट्ठी लिखी थी। ग्यांची अन्तिम विश्वसनीय डाकघर था–यह भारत सरकार के आधीन था। चार दिन ग्यांची में रहे। किन्तु उसे बेकार नहीं जाने दिया। विनयपिटक के अनुवाद का भी काम चलता रहा और ग्यांची के पुराने विहार को अच्छी तरह देखा भी। ग्यारह मई को मैं गुम्बा (विहार) देखने गया। पिछली यात्रा में भी मैंने देखा था, किन्तु उस समय अभी आँखें अच्छी तरह खुली नहीं थीं। उपोसथागार के किनारे तीन तरफ तीन सुन्दर मन्दिर हैं। प्रधान मन्दिर में बुद्ध की मूर्ति है, दाहिनी ओर का मन्दिर अधिक पुराना मालूम होता है। उसमें नाथ-त्रय (मंजुघोष, एकादशमुख अवलोकितेश्वर और वज्रपाणि) की मूर्तियाँ हैं।

बाईं ओर की चार मूर्त्तियों में कोने की मूर्त्ति आचार्य शान्तरक्षित की है। यह तुंगनास और शुकनास दोनों हैं। फिर भोट के तीन धर्मराजों–स्रोङ-चन-गंबो, खी-स्रोङ्-दे-चन् और रल्-पा-चन् की मूर्त्तियाँ हैं। भित्तिचित्र भी यहाँ के बहुत अच्छे हैं। यह देवालय निश्चय ही छै-सात सौ वर्ष से इधर का नहीं हो सकता। वैसे कहावत है, कि इसे धर्मराजा रब्-तन्-कै-जन ने बनवाया था, जिसका समय पन्द्रहवीं सदी के आसपास है। गुम्बा का स्तूप भी असाधारण है। इसमें बहुत-से भित्तिचित्र हैं। स्तूप की बगल के एक मठ में चोङ्-ख-पा के मेघावी शिष्य खस्-ग्रुब् (1385-1438 ई.) रहे थे। एक सन्दूक के भीतर मूर्त्ति के साथ उनके हाथ की कितनी ही वस्तुएँ बन्द हैं। इस विहार में स-स्व-य-पा, बू-स्तोन्-पा और गे-लुक्-पा तीनों सम्प्रदायों के भिक्षु इकट्ठा रहते हैं।

13 मई को हम ग्यांची छोड़ सके। आज भी एक जगह भिक्षु धर्मालोक की खच्चरी ठोकर खाकर गिरी, जिस पर राजनाथवाली खच्चरी ने दुलत्ती मारकर उन्हें गिरा दिया। वस्तुतः राजनाथ गुरुत्वाकर्षण के भरोसे सवारी करनेवाले सवार थे। मुझे बड़ी चिन्ता होने लगी। पैदल वह चल नहीं सकते थे और तिब्बत की खच्चरियाँ उनके मान की नहीं थीं–मरियल भी उनके लिए शेर बन जाती थीं। और अब की खच्चरी ने उन्हें पत्थर पर पटका था। छाती के बाईं ओर और घुटनों में चोट आई। कलेजा जरा-सा बच गया। वह कुछ देर तक मूर्च्छित रहे। किसी तरह 22 मील चलकर उस दिन स-ल-गङ् गाँव में डेरा डाला। गाँव के धनी व्यक्ति के घर में जगह मिली। आजकल 'कातिक' की भीड़ थी, मजूरों और कमकरों से घर भरा हुआ था। आवभगत तो हुई, लेकिन भूत-भविष्य की पूछताँछ भी बहुत होने लगी। लामा, उसमें भी भारतीय लामा हो और भाग्य न भाख सके, तो वह कैसा लामा !

अब एक और समस्या आ खड़ी हुई। धर्मालोकजी पुराने ढंग के आदमी थे, दुनिया की बातें नहीं जानते थे और सीधी-सादी बातें करते रहते थे। राजनाथ नवतरुण थे, इसी साल एम. ए. में प्रथम आये थे। वह बीच-बीच में कुछ मजाक कर देते थे। पहिले तो धर्मालोक समझ नहीं पाते थे, लेकिन जब बात उनको मालूम हो गई, तो उन्हें अपने तरुण सहयात्री की सूरत से भी नफरत हो गई। उस दिन दूसरी मरतबे राजनाथ मौत के मुँह से निकले थे, किन्तु धर्मालोक जी ने दवा लगाने से इन्कार कर दिया। हमारा काफिला कुछ छोटा-मोटा शंकर का परिवार-सा बन गया था। किन्तु किसी तरह सम्हालकर तो ले चलना था। 14 मई को हमारी यात्रा जारी रही। राजनाथ बिल्कुल उदास थे–कारण चोट भी थी और हियाब की कमी भी। वह थे भी काँच के बरतन की भाँति। उन्हें बहुत सम्हालकर ले चलना था और एक सीधा-सादा घोड़ा खरीदकर कलिम्पोङ् लौटा देना था। धर्मालोकजी आज सारे दिन पैदल आये और साढ़े चार बजे ज-रा के विश्रामस्थान पर पहुँचकर अपने काम में डँट गये। हाँ, वह राजनाथ से बात करने के लिए तैयार न थे।

ज-रा का डाँड़ा हमने कल ही पार कर लिया था। आज (15 मई को) ग्यारह बजे नङ्-कर-चे पहुँचे। यहाँ खच्चर मिल रहे थे, किन्तु आगे न्यम्-पा-सी-पो-ओत् (ननूपा-शिवा) में छू-शिङ्-सा (धर्ममान साव की कोठी

का नाम) का माल भेजनेवाला एजेंट रहता था। उसके लिए पत्र भी था। इसलिए तीन मील और चलकर वहाँ पहुँच गये। यहाँ से फग्-ग्रुब् (फग्-डुप्) का ऐतिहासिक विहार सामने, किन्तू दूर दिखाई पड़ता था। तिब्बत में यही एक विहार है, जहाँ स्त्री अवतारी लामा है—उसे वज्रवाराही का अवतार माना जाता है। आजकल वह ध्यान-पूजा में थीं, इसलिए हमने वहाँ जाने का आग्रह नहीं किया।

16 मई को हम युम-डोक् महासरोवर के किनारे-किनारे आगे चले। यह स्थान फरी के करीब ऊँचा है। एक जगह जंगली गुलाब की झाड़ियाँ मिलीं, किन्तु उनके लिए अभी बसन्त नहीं आया था और अभी भी वह निष्पत्र थीं। उस दिन बीस मील से ऊपर चलकर रात को ठमा-लुङ् गाँव में ठहरे।

17 मई को खम्-बाका ऊँचा डाँड़ा पार करना था। चढ़ाई डेढ़ मील से अधिक नहीं थी, किन्तु थी अधिक कठिन। फिर 5 मील की उतराई उतरकर साढ़े आठ बजे खम्-बाकचे गाँव में जाकर चाय पी और विश्राम किया। सवा ग्यारह बजे हम ब्रह्मपुत्र के घाट पर पहुँच गये। चा-सम्-छु-वो-री नामक पवित्र पर्वत बगल में था। लोग इसकी दण्डवत् (भूंइपरी) करते परिक्रमा करते हैं। धर्मालोकजी बतला रहे थे कि यह पर्वत तिब्बत का नहीं भारत का है, यह वहाँ से लाया गया है। मैंने कहा—यह कोई असम्भव बात नहीं है। पुराने समय में पर्वत उड़ा करते थे।

—क्या पंख होते थे ?

—हाँ, पंख होते थे।

—ब्राह्मणों के पुराणों में लिखा है कि इन्द्र ने इनके पंखों को काट दिया, तबसे बेचारे बेपंख हो धरती पर पड़े हैं।

—तो उसी वक्त से पर्वत आए होंगे ?

—हाँ, नहीं तो इतने बड़े पर्वतों को कौन यहाँ उठाकर लाता ?

मैंने हनुमानजी की बात नहीं कही। हाँ, यह जरूर कहा, कि उस समय आदमियों का जीवन बड़ा संकटमय था। पहाड़ों पर कितने ही पत्थर और चट्टानें इधर-उधर पड़ी रहती ही हैं। उड़ते पहाड़ों से जब-तब जरूर कुछ नीचे गिरती थीं और कभी कोई किसान खेत में काम करता उनके नीचे दब जाता और कभी कोई चरवाहा भेड़ चराते प्राणों से हाथ धोता था। धर्मालोकजी ने बताया कि इस पवित्र पर्वत के किनारे 108 विहार हैं, किन्तु वहाँ परिक्रमा करने का आग्रह किसी को नहीं था।

ब्रह्मपुत्र को हमने नाव से पार किया और ढाई बजे छू-सुर् पहुँच गये। यहाँ खेतों में फसल थोड़ी-थोड़ी उगी थी और लौहित्य (ब्रह्मपुत्र)-उपत्यका के वृक्ष नये पत्तों से सजे थे।

दीपंकर श्रीज्ञान का निर्वाण-स्थान ने-थङ् के पास तारामन्दिर में था। मुझे उसके दर्शन की बड़ी इच्छा थी। 18 मई को पाँच बजे रवाना हुए। रास्ते में मध्याह्न भोजन करके 12 बजे तारामन्दिर में पहुँचे। यह मुख्य मार्ग से थोड़ा हटकर है। एक पिंजड़े के भीतर दीपंकर श्रीज्ञान का पात्र, दंड, धर्मकरक और तारा की छोटी-सी मूर्ति बन्द है। बाहर ताला बन्द करके सरकारी मुहर लगी हुई थी, इसलिए खोला नहीं जा सकता था। लेकिन इन पवित्र वस्तुओं को देखकर मैं गद्गद् हो उठा। यह कभी उस महापुरुष के हाथ में थीं, जिसने बुढ़ापे की पर्वाह न करके, देश के सुख और सम्मान को लात मारकर, दुर्लंघ्य हिमालय को अकिंचन बना भारत के सन्देश को यहाँ पहुँचाया था। मन्दिर में कुछ पीतल के स्तूप हैं। पुजारी ने बतलाया कि पहिले में दीपंकर के शिष्य डोम-तोन् का वस्त्र है, दूसरे में सिद्ध नारोपा (नाड़पाद) का हृदय और बाकी में अष्टसाहस्रिका की पुस्तकें हैं। मन्दिर में तारा की 21 पीतल-मूर्तियों के अतिरिक्त कुछ और भी मूर्तियाँ हैं। हस्तलिखित भोटिया ग्रंथों के कितने ही अस्त-व्यस्त पत्रे भी ढेर किये हुए थे, जिनके कुछ अष्टसाहस्रिका और कुछ शतसाहस्रिका के थे। फिर अमितायु के मन्दिर में गये। दीपंकर यहीं रहते थे। उनके देहान्त के बाद यह मन्दिर बना। मूर्ति के पीछे का मकर-तोरण बतला रहा था, कि वह काफी पुराना है। बाहर दो स्तूप हैं, जिनमें दाहिनी पौरवाले में डोम्-तोन् और बाईंवाले में दीपंकर के घोड़े की काठी रक्खी हुई है।

आज ही ल्हासा पहुँच सकते थे, लेकिन खच्चरवाले गङ् गाँव में ठहर गये।

ल्हासा में—19 मई को साढ़े पाँच बजे रवाना हुए। ठी-सम् के बड़े पुल की आजकल मरम्मत हो रही थी। अब खेतों में बोवाई का काम खूब लगा हुआ था। वृक्ष सब हरे-भरे थे। धर्मालोकजी एक दुरारोह चट्टान को दिखाकर बता रहे थे—इसी के छेद के भीतर गुह्येश्वरी देवी विराज रही हैं। डेपुङ् को बाएँ और दलाईलामा के उद्यान नोर्बू-लिङ्-का को दाहिने छोड़ते हम पोतला महाप्रासाद के सामने आये। ल्हासावाले शायद बहुत दिनों बाद पीले कपड़ेवाले भारतीय भिक्षु को देख रहे थे। सभी अपनी बहुज्ञता दिखलाते बल्-पो (नेपाली) लामा कह रहे थे। साढ़े नौ बजे हम ल्हासा में अपने मेजबान पुण्यात्मा धर्ममान साव की कोठी छू-शिङ्-शा में पहुँच गये। ज्ञानमान साव ने दिल खोलकर स्वागत किया। रास्ते की सभी तकलीफें भूल गईं।

अब की बार मेरी यात्रा विशेषकर संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिए हुई थी। 'तिब्बत में बौद्धधर्म' लिखते समय जब मैंने भोटिया ग्रंथों के पन्ने उलटे, तो विश्वास हो गया, कि भारत से कई हजार तालपोथियों में से वहाँ कुछ जरूर होनी चाहिए। भोजनोपरान्त तारघर के अफसर कुशो-तन्-दर के पास मिलने गये। देर तक बात होती रही। मैंने उनसे कहा कि सक्या और ङोर के विहारों में संस्कृत पुस्तकें हो सकती हैं; किन्तु उन पर सरकारी मुहर होगी। उन्होंने कहा—तब उनके खोलने के लिए भोट सरकार से आज्ञापत्र लेना होगा। मैंने सोचा—देखें इसमें कितनी सफलता होती है। आजकल वैशाख का पवित्र मास था, जिसे भोट में 'स-ग-दावा' कहते हैं। ल्हासा के केन्द्र में तिब्बत में सबसे पुराना और सबसे पवित्र जो-खङ् का मन्दिर है। दर्शन और परिक्रमा के लिए श्रद्धालुओं के भीड़ थी। कितने ही लोग पंचकोशी कर रहे थे। मैं भी दर्शन करने गया।

अब मेरे सामने सबसे प्रमुख काम संस्कृत पुस्तकों की खोज के लिए सहायता प्राप्त करना था। किन्तु उससे पहिले विनयपिटक का अनुवाद समाप्त करने तथा राजनाथजी को सही-सलामत लौटाने का भी काम करना था। 19 मई से 29 जुलाई तक ल्हासा में ही रहना था, इसलिए समय भी कम नहीं था, किन्तु काम तो रोज कुछ न कुछ करने ही से होता। मैंने अगले ही दिन से काम में हाथ लगा दिया।

1933 ई. में तेरहवें दलाईलामा का देहान्त हो चुका था। उनके अधिक कृपापात्र अधिक कोप के भाजन हुए थे। विलायत से शिक्षाप्राप्त महासेनापति लुङ्शर पकड़कर जेल में डाल दिए गये थे। 20 मई को हल्ला उठा कि पेट के बल पर लिटाकर पीठ पर पत्थर का बोझ लाद के उनकी दोनों आँखें निकाल ली गईं और खून रोकने के लिए गर्मतेल डाल दिया गया। दूसरे कृपापात्र और सबसे अधिक प्रभावशाली पुरुष कुम्भेला को भी कहीं निर्वासित कर दिया गया।

खैर, मुझे अपने काम से काम था, वहाँ की राजनीति की चिन्ता करने से कोई फायदा नहीं था। मुझे पता लगा कि मुरुविहार में गोलोग् गे-शे नाम के एक बड़े विद्वान ठहरे हुए हैं और उनका राज के प्रधान व्यक्तियों पर बहुत प्रभाव है। मैं 20 ता. को उनके पास पहुँचा। मैंने दर्शन के कुछ अप्रचलित ग्रन्थों का नाम लिया, वह उन्हें जानते थे। इतिहास के विषय में भी उनकी काफी जानकारी थी। संस्कृत हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में उन्होंने सहायता करने का वचन दिया। उन्होंने जब सुना कि भारत से अधिकांश संस्कृत ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं, तो स्वयं प्रस्ताव किया, कि कुछ तिब्बती विद्वान संस्कृत पढ़ें और इसी तरह भारतीय विद्वान भोट-भाषा पढ़ें, तब दोनों मिलकर तिब्बती ग्रन्थों का पुनः अनुवाद करें। उनकी बात से मेरी आशा काफी बढ़ी।

विनयपिटक का अनुवाद तो चल ही रहा था। 20 मई से 'साम्यवाद ही क्यों ?' के लिखने में भी मैंने हाथ लगा दिया और एक अध्याय उस दिन समाप्त भी कर दिया।

21 मई को अपने परिचित भूतपूर्व ठी-रिन्-पो-छे (गद्दीधर) के पास गये। वे अब बहुत वृद्ध हो गये थे। आँखों से अच्छी तरह सूझता भी नहीं था, किन्तु पहले ही की तरह उन्होंने घंटे-भर बड़े प्रेम से बात की।

मुझे अपने लिखने का काम खतम करके पुस्तकों के पीछे पड़ना था, पर मिलने-जुलनेवाले भी जान नहीं छोड़ते थे। लेकिन मुझे तो अपनी नींद काटकर भी काम की नियत मात्रा को पूरा करना जरूरी था। रविवार को मैं लिखने का काम बंद रखता था। बोलकर लिखाते वक्त राजनाथजी लिखने के काम के ही लिए आसानी नहीं कर देते थे, बल्कि उससे मात्रा भी अधिक बढ़ जाती थी। 24 मई को आँखें लाल हो आईं—देवता विघ्न तो नहीं करना चाहते ? आज प्रदक्षिणा करने गया तो देखा तीन-चार लोग चित्रपट दिखलाकर बुद्ध के जीवन

और जातकों पर व्याख्यान दे रहे हैं। अब की बार भोट और भारत दोनों की वैशाख पूर्णिमा एक साथ पड़ रही थी, नहीं तो अधिक मासों के एक-साथ नहीं होने से वह आगे-पीछे पड़ा करती थी।

25 मई को नेपाली राजदूत ने मेरे बारे में खासतौर से पूछताछ की। मैं नेपाली प्रजा के यहाँ ठहरा था, इसलिए यह उनकी कोई अनधिकारचेष्टा नहीं थी। वह जानना चाहते थे, कि मैं किस काम के लिए आया हूँ। पिछले दलाईलामा के सबसे कृपापात्र महासेनापति लुङ्-शर और उप-दलाईलामा कुन-बे-ला आज भारी विपत्ति में पड़े थे। जब उनका अधिकार था, तो उन्होंने अच्छा-बुरा सभी तरह का काम किया होगा। तिब्बत में समाचारपत्र का काम अफवाहें करती हैं और उनसे भी महत्वपूर्ण काम जनगीतों का है। आजकल इन दोनों की गीतें बनकर बाजार में गायी जा रही थीं।

26 मई को मंगोल विद्वान् गोन्-कर-क्यब से भेंट हुई। भोट और मंगोलिया के यह अद्वितीय नैयायिक समझे जाते थे। गेशे-तन्-दर सेरा-गुंबा में थे। 27 मई को उनके निमंत्रण पर सेरा देखने गये। सेरा तिब्बत की द्वितीय नालंदा है, प्रथम डे-पुङ् है। सम-लो छात्रावास के ख-ल-खा-मी-छङ् में उनके ही पास ठहरे। आज शाक्यमुनि के जन्म और निर्वाण की तिथि वैशाख पूर्णिमा थी। ड-सङ् (महाविद्यालय) के शालों में भिक्षुओं का बड़ा जमाव था। स्मद्-ड-सङ् की शाला की मरम्मत हो रही थी। दीवारों पर सुंदर भित्ति-चित्र थे। पलास्तर उतारा जा रहा था। फिर नऐ पलास्तर पर नए चित्र बनाए जायेंगे। तिब्बत के मठों में मुश्किल से दस सैंकड़ा शिक्षित या विद्याप्रेमी भिक्षु मिलेंगे, नहीं तो बाकी धर्म के कलंक हैं। उसी दिन शाम को हम ल्हासा लौट आए।

28 मई को ल्हासा में वैशाख पूर्णिमा मनाई गई, सेरा में वह कल थी। बाजार बंद-सा था। लोगों की बड़ी भीड़ थी। पोतला के मुख्य मंदिर में तो जाना बहुत मुश्किल था। पिछले दलाईलामाओं के मृतशरीर जिन स्तूपों में रक्खे हुए हैं, उन्हें देखा। सवा साल पहिले मरे दलाईलामा के स्तूप की तैयारी की जा रही थी। काम करनेवाले बेगार में पकड़कर आए थे और वह लोगों से बक्शीश माँगकर निर्वाह कर रहे थे। रेडिङ्लामा आजकल दलाईलामा के स्थानापन्न थे। अभी राजनीति की बलि होने में उन्हें चौदह साल की देर थी। आज उनकी सवारी बड़ी धूमधाम से निकली। लोग पंचकोशी कर रहे थे। कितने ही नेपाली भगत तो बाजे-गाजे के साथ परिक्रमा कर रहे थे।

हमारे गृहपति ज्ञानमान साहु घर लौट रहे थे। उनके साथ अपने खच्चर जा रहे थे। राजनाथ के लौटाने का इससे अच्छा अवसर नहीं मिलता। राजनाथ यद्यपि रास्ते की कठिनाइयों को कुछ भूल-से गये थे, किन्तु मैं भली-भाँति समझता था, कि अगले बीहड़ रास्तों में उनको सँभालकर ले जाना बड़ा मुश्किल होगा। 6 की शाम को साहुजी का विदाई-भोज हुआ। शराब, सारस का अंडा और मछली ये शुभ समझी जाती हैं। नौकरों और मित्रों ने खा-ता (माला की जगह रेशमी चीट) गले में डाला। नन्हीं-सी चीनी कुतिया मोती भी उनके साथ जा रही थी, उसके गले में भी खा-ता की माला पड़ी। राजनाथ ल्हासा में 20 दिन रहे, लेकिन उनको चीजों के देखने का बहुत शौक नहीं था। हाँ, मेरे लिखने के काम में उन्होंने बहुत मेहनत की और जाने के समय विनयपिटक के अनुवाद का बहुत थोड़ा ही भाग बच रहा था। उनके साथ रहने से अवश्य बहुत मदद मिलती, किन्तु रास्ते की दो भयंकर दुर्घटनाएँ हो चुकी थीं, जिनसे ब्राह्मणी के सिंदूर ने ही उन्हें बचाया था, मैं सिंदूर धुलाने का पाप नहीं लेना चाहता था।

7 जून को राजनाथ और ज्ञानमान साहु भारत के लिए रवाना हुए। भिक्षु धर्मालोक ल्हासा पहुँचने के बाद ही दूसरी जगह रहने चले गये। अब मैं अपनी कोठरी में अकेला था। मेरी कोठरी का एक दरवाजा रसोईघर में खुलता था और दूसरा दरवाजा बन्द था, क्योंकि उधरवाली कोठरी में कादिरभाई (तिब्बती माता और कश्मीरी पिता की सन्तान) रहते थे। दिन में काफी समय आने-जानेवालों को देना पड़ता था, जिसकी कमी रात को जागकर पूरी करनी पड़ती थी। कभी-कभी तो रात के दो बज जाते थे।

कोठरी में अकेले रहते कई दिन बीत गये। एक दिन कादिरभाई ने पूछा—लामाजी ! आप बड़ी रात तक जागते हैं, कुछ दिखलाई तो नहीं पड़ता ?

दिखलाई पड़ने का अर्थ ताड़कर मैंने कहा—दिखलाई पड़ने की क्या बात पूछते हो कादिरभाई, रात के

बारह बजे नहीं, कि मेरी कोठरी में तिल रखने की जगह नहीं रह जाती।

कादिरभाई की स्त्री कदीजा (ब्याह करने के बाद मुसलमानी नाम) आँख फाड़कर देखने लगीं और बात को गम्भीर होते देख साहु की रसोइया सत्तरसाला अचाचे-ङा भी टमक गई। कादिरभाई ने कहा—क्या दस-बारह !

मैंने कहा—दस-बारह नहीं, मेरा बिस्तरा छोड़कर सारी कोठरी में, धरती ही नहीं अधर में भी, बस भूत-भूतनी ही दिखाई देते हैं।

—काम में बाधा नहीं डालते ?

—बिल्कुल नहीं, बड़े भलेमानस हैं। कोई मुँह से बात निकालना भी चाहे, तो दूसरे संकेत से रोक देते हैं। ऐसे भलेमानसु तो दिन में मेरे पास आनेवाले आदमी भी नहीं होते।

कदीजा ने बीच में रोकर कहा—नहीं लामाजी ! इतने कहाँ से होंगे ?

—मैंने कहा—तो तुम्हें विश्वास नहीं है, रात के एक बजे बस किवाड़ खोलने की देर है, कहो तो दर्शन देने के लिए तुम्हारे पास भेज दूँ।

कदीजा की कहाँ इतनी हिम्मत हो सकती थी, उसने गिड़गिड़ाते हुए कहा—क्षमा, क्षमा लामाजी ! हमारे घर में न भेजिए। मैंने कभी आवाज नहीं सुनी, इसीलिए कह रही थी।

मैंने कहा—वैसे आवाज नहीं होती, किन्तु सोते वक्त मैं एक बहुत करुणा भरी आवाज सुनता हूँ।

सबके कान खड़े हो गये। कादिरभाई ने कहा—"करुणा भरी आवाज !"

अचा-चेङा ने एक साँस में कह डाला—अरे वही नेपाली जो इसी कोठरी में अपना गला काटकर मर गया था।

मुझे इसका कोई पता नहीं था। अब मैंने उसमें और नमक-मिर्च लगाई। श्रोताओं का भी विश्वास बढ़ा और रात के लिए घबड़ाहट भी हो चली। कादिरभाई की बड़ी बेटी भी तब तक आ पहुँची। उसने पूछा—और यहाँ बारजे पर, आँगन में तो कुछ दिखाई नहीं पड़ता ?

मैंने कहा—बारजे की बात अलग, मैं तो तुम्हारी कोठरी के भीतर से एक सफेद दाढ़ीवाले को निकलते देखता हूँ।

श्रोताओं में से कोई बोल उठा—सिङ्-पा, सिङ्-पा !

मैं सँभल गया। दाढ़ीवाला मैंने कादिरभाई के बाप का ख्याल करके कहा था। वह कश्मीरी मुसल्मान थे; इसलिए सिङ्-पा प्रायः सौ वर्ष पहिले कश्मीर-तिब्बत की लड़ाई में पकड़े गये सिंहों (सिक्खों या राजपूतों) को कहते थे। मैंने अपने भूत को सिक्ख लिबास पहिना दिया। मालूम हुआ कि सचमुच ही एक सिङ्-पा उस कोठरी में बहुत साल रहा था। बेचारी तरुणी बहुत घबड़ाने लगी। आँगन के बारे में और बतलाते हुए मैंने कहा—इस बारजे पर तो हर जगह वही दिखाई देते हैं, और नीचे आँगन में तो नव-वर्ष जैसा नाच का अखाड़ा जमता है।

अचा-चेङा ने एक कान से दूसरे कान तक मुँह फाड़कर हँसते हुए कहा—नहीं लामाजी, आप हमें डरवाते हैं।

—यानी झूठमूठ डरवाते हैं, लेकिन एक बजे रात को अपना दरवाजा खोलकर देख क्यों नहीं लेतीं ? या कहो तो दो-चार को तुम्हारी कोठरी में भेज दूँ ?

अचा-चेङा घबड़ाकर बोली—नहीं लामा ला ! कू-चि, कू-चि (क्षमा, क्षमा), मैं मर जाऊँगी, मैं ऐसे ही कह रही थी, आप जरूर देखते होंगे।

—हाँ, मैं देखता हूँ, उनकी यहाँ बड़ी भीड़ रहती है, लेकिन मुझे सभी रास्ता दे दते हैं। मैंने ऐसे भलेमानस भूत तो दुनिया में कहीं नहीं देखे।

दो बातें संयोग से सच्ची निकल आई थीं, अब भला उनको मेरी बातों पर क्यों नहीं विश्वास होता ? और मैं क्या इस मनोरंजक कथा को कहकर उनके मिथ्या विश्वास में कोई वृद्धि कर रहा था ? वहाँ तो उसका

समुन्दर पड़ा हुआ था। मैं अतिरंजन इसीलिए कर रहा था, कि श्रद्धा का कोमल तन्तु अधिक तनाव पर टूट जाये।

मैंने दोस्तों को तालपोथियों को खोजने के लिए भी कह रखा था। एक दिन माघ (शिशुपालवध) काव्य पर भवदत्त की टीका 'तत्त्वकौमुदी' आई। पुस्तक खंडित थी और उसकी मैथिली लिपि दो-तीन सौ वर्ष से अधिक पुरानी नहीं थी। उसके साथ व्याकरण की किसी पुस्तक के भी दो-चार पत्रे थे। टीका में काशी के जगद्धर का भी नाम था। अमर और विश्व इन दोनों कोशों के काफी उद्धरण थे। अलंकारों पर दंडी और छन्दों पर श्रुतबोध का प्रमाण दिया गया था।

8 जून को 'अभिसमयालंकार' पर बुद्धश्रीज्ञान विरचित 'प्रज्ञाप्रदीपावलि' नामक कृति आई। यह दर्शन का ग्रन्थ था और अभी कहीं छपा नहीं था। मालिक पुस्तक बेचना नहीं चाहता था, इसलिए हमने उसे उतारने का निश्चय किया। ज्ञानमानसिंह इस पुस्तक को लाये थे। उन्होंने और पुस्तकों के होने की बात कही और मेरा विश्वास अब बढ़ चला।

मुझे पता लगा था, कि रेडिङ्-विहार में कुछ तालपोथियाँ हैं। इस विहार को दीपंकर श्रीज्ञान के शिष्य डोम्-तोन्-पा ने ग्यारहवीं सदी के मध्य में बनवाया था और वहीं के बड़े लामा आजकल भोट के स्थानापन्न राजा थे। 10 जून को हम उनसे मिलने गये। डेढ़ घंटा बात होती रही। उन्होंने कहा—जहाँ भी आवश्यकता होगी, हम चिट्ठी लिख देंगे। अपने विहार की तालपोथी के बारे में कहा कि वह आधी जल गई है।

ल्हासा बड़ी ठंडी जगह है, वहाँवाले तो सालों नहाने की आवश्यकता नहीं समझते, लेकिन हममें उतनी हिम्मत नहीं थी। हफ्ते में एक दिन नहाना हम जरूरी समझते थे। इसके लिए सबसे अनुकूल स्थान शो-गङ् (सुर-खङ्) राजभवन था। शो-गङ्वंश धन और भूमि दोनों में तिब्बत का सबसे बड़ा सामन्तवंश है। पिता एक वेश्या के पीछे घर छोड़ गये थे। उनके दो पुत्र सरकार में भी अच्छे पदों पर थे। (1949 ई. में तो बड़ा पुत्र तिब्बत-सरकार का एक मन्त्री है और दूसरा जेनरल)। दोनों कुमार और उनकी माता बड़े मधुर स्वभाव के थे। मेरी वह हर तरह से सहायता करने के लिए तैयार थे। रविवार को मैं काम से छुट्टी रखता था और उस दिन उनके प्रासाद में स्नान करने जाता था। आँगन में एक बड़े तांबे के बर्तन में गर्म पानी रख दिया जाता और मैं साबुन लगाकर स्नान कर लेता। घर की स्वामिनी ल्हा-चम् (देवी-भट्टारिका) थीं। वह स्रोङ्-चन धर्मराज के वंश की लड़की थीं। इस वंश के सामंत का आज भी तिब्बत में बहुत सम्मान है। उनके पास तेर्-गी के ब्लाक का छपा कन्-जुर आया था। तेर्-गी का छापा सबसे सुन्दर माना जाता है। मेरे कहने पर उन्होंने देना स्वीकार कर लिया, दाम हजार के आसपास था और बोझा साढ़े तीन खच्चर का था। मैं उस सुपाठ्य कनूजुर को पटना ले आया, लेकिन 'धोबी बसिके का करे दीगम्बर के गाँव'। मेरे पास कहाँ पैसा था, कि उसे अपने लिए खरीद लेता। कलकत्ता विश्वविद्यालय को खबर लगी, तो उसने तुरन्त डाक्टर बागची को भेजा और पुस्तक वहाँ चली गई।

हमारे वहाँ रहते ही तेर-गी थैजी (तेरगी के राजा साहेब) आ गये। पता लगा कि उनके पास तालपोथी के 400 पत्रे हैं। पीछे देखने पर मालूम हुआ, कि वह 'शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' का कुछ अंश है, जो कि दुर्लभ चीज नहीं है।

दिन को विघ्न होने पर हम रात को लिखकर काम पूरा करना चाहते थे, किन्तु खटमल और पिस्सु जैसे दानव यज्ञ में बाधा डालने के लिए बराबर तैयार थे। 13 जून को एक रोचक बात हुई। मेरे एक सिंहलमित्र भिक्षु धर्मरत्न ने दार्जिलिंग या कलकत्ता से तार दिया—"बड़ी गम्भीर बात है, आपकी उपस्थिति अत्यन्त आवश्यक है, तुरन्त चले आइये।" मौत भी निमन्त्रण देती, तो भी क्या वहाँ का काम छोड़कर मैं चला आता ? तार देते वक्त शायद उन्हें ख्याल हुआ, कि मैं कहीं रेल के छोर पर बैठा हुआ हूँ।

श्याटा-कुशो नये-नये मन्त्री हुए थे, काम आरम्भ भी नहीं कर पाये थे, कि मौत ने आ दबोचा। दान-पुण्य

का कुछ पैसा और एक खा-ता मेरे पास भी आया। यह अच्छा लक्षण था, क्योंकि बड़ी जगहों के परिचय से ही बन्द जगहों के दरवाजे मेरे लिए खुल सकते थे। शो-गङ् के कुमार (आजकल जेनरल शो-गङ्) भी मेरे लिए कोशिश कर रहे थे। उन्होंने खबर दी, कि कुन्-दे-लिङ् विहार में कुछ तालपोथियाँ हैं। 18 जून को उनके साथ हम कुन-दे-लिङ् गये। डेपुङ् के गेशे-शेरब् भी वहीं मिले। उनके जैसे पंडित सारे तिब्बत में दो ही चार मिलेंगे। भोट-शास्त्रों के विद्यासागर, वह चान्द्र-व्याकरण भी रटे हुए हैं, किन्तु संस्कृत पढ़ने का अवसर नहीं मिला। वह जोर देकर कह रहे थे, कि गुरु शब्द का द्विवचन 'गुरवौ' बनता है, तथा भारत में च, छ, ज, नहीं बल्कि च़, छ़, ज़ बोला जाता है। बात करते वक्त कभी उनकी पण्डितमूर्खता पर हँसी आती, और कभी कुछ विरक्ति भी। लेकिन उसी दिन से हमारी मित्रता आरम्भ हो गई और पीछे तो वह बड़े घनिष्ठ मित्र बन गये। कुन्-दे-लिङ् लामा के वह अध्यापक थे, इसलिए तालपोथियों के देखने में दिक्कत नहीं हुई। इनमें दो पोथियाँ अष्टसाहस्रिका की थीं, जो छप चुकी हैं। एक पोथी रञ्जन-अक्षर में थी, जो गे-शे के कथनानुसार खास आचार्य नागार्जुन के हाथ की थी। हाँ, एक पोथी बड़ी अनमोल देखने को मिली। वह धर्मकीर्त्ति के 'वादन्याय' पर शान्तरक्षित की टीका थी। पीछे मैंने उसका फोटा लिया। उसी यात्रा में ङोर-विहार में उसका मूल भी मिल गया और कुछ समय बाद उसे मैंने प्रकाशित भी करा दिया।

भोट-सरकार से चिट्ठी लेने की बड़ी आवश्यकता थी और उसके लिए जहाँ से भी सिफारिश करवाई जा सकती थी, उसे हम करवा रहे थे। चार मंत्रियों में भिक्षुमंत्री (क-लोन् लामा) की प्रशंसा सुनी थी। उनके पास गये। उन्होंने बड़ा उत्साह दिखलाया, लेकिन अगले ही हफ्ते उनका देहान्त हो गया। 19 जून को गो-लोग्-गेशे के पास गये। गो-लोग्-गेशे पैरों से लुञ्ज थे। लोगों का कहना था कि बैठे-बैठे अधिक स्वाध्याय और ध्यान करने के कारण उनकी यह दशा हुई। वह बड़े स्वाध्यायशील व्यक्ति थे, इसमें तो सन्देह नहीं। उन्होंने बड़ी जगहों पर सिफारिश करने का वचन दिया।

20 जून को पहिली बार डे-पुङ् के अम्दो चित्रकार से भेंट हुई। गेशे धर्मवर्द्धन (गेदुन-छोम्फेल) का परिचय इसी नाम से उस दिन कराया गया था। उस वक्त मैं नहीं जानता था, कि यह पतला-दुबला सीधा-सा आदमी भोट-साहित्य और दर्शन का एक अच्छा पंडित, कुशल चित्रकार, ऊँचे दर्जे का कवि, और उदारचेता आदर्शवादी पुरुष है। तब से कई वर्षों तक मेरा धर्मवर्द्धन का साथ रहा, मैं उनका अधिक और अधिक प्रशंसक होता गया। 1948 ई. में जब मालूम हुआ कि भोट सरकार ने स्वतन्त्र विचारों के लिए उन्हें जेल में डाल दिया है, तो मुझे बड़ी चिन्ता हुई, जिससे जनवरी (1949) में जेनरल शो-गङ् के मुँह से छुटकारा पाने के समाचार से ही मैं भी छुटकारा पा सका। पहिले दिन बातचीत हुई। अभी इसका कोई संकेत भी नहीं था कि धर्मवर्द्धन हमारे साथ आयेंगे। मैंने अपनी डायरी में लिखा था—"साहित्य का भी जानकार है, प्रमाणवार्त्तिक अच्छा पढ़ा है। सारस्वत के भी बहुत-से सूत्र याद हैं। इस प्रकार वह सिर्फ चित्रकार नहीं है। भारत चलना चाहता है। क्यों न सम्-ये की यात्रा में उसे साथ ले चलें।"

22 जून को बुलौवा आया और हम ताल की पोथियों के लिए कुन्-दे-लिङ् गये। वहाँ एक पोथी सद्धर्मपुण्डरीक की भी थी, जो महाराज विजयपालदेव के समय में लिखी गई थी और वादन्यायटीका कुटलाक्षर में नेपाल के महाराज आनन्ददेव के समय लिखी गई थी। पुस्तक के असली मालिक का नाम चाकू से कुरेद कर मिटाया गया था। कुन्-दे-लिङ् विहार के पुस्तकालय में भोटपंडितों की कुछ अप्रकाशित जीवनियाँ भी हैं। वस्तुतः इन पुराने विहारों में ढूँढ़ने पर कितने ही महत्वपूर्ण ग्रन्थ और कला की चीजें प्राप्त हो सकती हैं।

28 जून को मैंने लिखा था—"ल्हासा में मनुष्यों के बाद सबसे अधिक संख्या शायद कुत्तों की होगी।" मनुष्यों से कुत्तों की होड़ क्या ? यहाँ तो घरभर की केवल एक पत्नी होती है, इसलिए सन्तान भी सीमित ही होती है और दूसरी ओर वैसी कोई रोकथाम नहीं, बीमारी से मर जायँ तो भले ही कुछ संख्या कम हो। ये कुत्ते गरीबों पर टूट पड़ते हैं, कपड़ा-लत्ता अच्छा हो तो नहीं पूछते। सड़क तो खैर प्रधान मन्दिर की परिक्रमा भी है, इसलिए दूकानदारों को अपना दरवाजा साफ करना ही पड़ता है। घर के पिछवारे की गन्दगी की बात मत पूछिये, यदि यह नीचे का कोई शहर होता, तो यहाँ बराबर हैजा बनी रहती।"

जून के अन्त तक विनयपिटक का अनुवाद समाप्त हो गया था। अब एक बड़े यज्ञ को पूरा करने से कुछ निश्चिन्तता आ गई थी, इसलिए अब जहाँ-तहाँ जाने के लिए भी छुट्टी थी। मृत दलाईलामा के सर्वेसर्वा कुशो कुन्-बे-ला कहीं दूर गाँव में नजरबन्द थे और उनकी पचीसों वर्ष की कमाई नीलाम हो रही थी। शायद उनमें कोई पोथी या मूर्ति हो, इसलिए हम 6 जुलाई को नोर्बूलिंका गये। नीलाम की चीजें दलाईलामा के अस्तबल में रक्खी हुई थीं। अच्छी चीजें अफसर पहिले ही उड़ा ले गये होंगे, वह भला यहाँ कैसे आने पातीं ! पूछने पर मालूम हुआ, कि इनके बिक जाने पर और भी चीजें आयेंगी। लौटते वक्त पता लगा, कि रेडिङ्लामा के महल पर ल्हा-रम्-पा बननेवालों का शास्त्रार्थ हो रहा है। भोट सरकार प्रतिवर्ष 16 विद्वानों को यह पदवी प्रदान करती है, जो कि विद्या की सर्वोच्च पदवी (डाक्टर या आचार्य) है। तीन बड़े-बड़े विहारों (डेपुङ्-, से-रा, गन्-दन्) के छात्र ही इस परीक्षा में शामिल हो सकते हैं। परीक्षा शास्त्रार्थ द्वारा ली जाती है, जो तीन वर्षों में समाप्त होती है। आज अन्तिम सालोंवाले परीक्षार्थी शास्त्रार्थ कर रहे थे। उसमें शास्त्रार्थ ही नहीं, काफी कसरत भी होती थी। वादी कभी अपनी माला को ऐंठकर बाण खींचने की मुद्रा धारण करता, कभी चद्दर कमर से लपेट कर पैतरा मारता, ताली पीटना और बन्दर की भाँति किलकारी मारना भी शास्त्रार्थ का एक अंग था। तिब्बती विद्वानों का कहना है कि यह सारी मुद्रा भारत से आई है। मैं वहाँ सिर्फ शास्त्रार्थ देखने गया था, लेकिन नौकर ने समझा मालिक से मिलने आये हैं। मालिक ने समय न रहने की बात कहला भेजी, वह अनुचित नहीं थी।

12 जुलाई को हम डे-पुङ् विहार गये। लुम्-बुङ् गेशे शेरब् बहुत प्रेम से मिले और साढ़े नौ बजे से 4 बजे तक दर्शन, इतिहास आदि नाना विषयों पर बात होती रही। यहाँ की पढ़ाई के बारे में पूछने पर मालूम हुआ, कि अक्षरारम्भ 6 वर्ष की अवस्था में होता है। इसके बाद दो साल साधारण पाठ होते हैं, फिर चार साल 'श्वेतरक्त-रंग' की पढ़ाई होती है। यह कोई चित्रकार की विद्या नहीं है। "लाल-सफ़ेद नहीं है, सफेद-लाल नहीं" जैसी न्यायशास्त्र की आरम्भिक बातें इस तरह सिखाई जाती हैं। इस प्रकार 6 वर्ष पढ़ने के बाद 'प्रमाणवार्तिक' शुरू होता है, जिसके समाप्त करने में 5 साल लगते हैं। फिर बाकी दर्शन एवं धर्म की पुस्तकों के लिए 16 वर्ष चाहिए। इस प्रकार 27 वर्ष पढ़ने के बाद आदमी ल्हा-रम्-पा का उम्मीदवार हो सकता है। इसकी परीक्षाएँ शास्त्रार्थ के रूप में तीन वर्ष तक चलती हैं। इन परीक्षाओं में उत्तीर्ण 16 आदमी प्रतिवर्ष ल्हा-रम्-पा बनाये जाते हैं। यदि कोई धनी अवतारी लामा हों, तो उसको ल्हा-रम्-पा बनने में बहुत दिक्कत नहीं होती। उस दिन लो-सलिङ् और गो-मङ् के महाविद्यालयों के विद्यार्थी विनयसूत्र पर शास्त्रार्थ कर रहे थे। हम तमाशा देखने गये, लेकिन स्वयं तमाशा बन गये—सब लोग हमारी तरफ देखने लगे। रात को डे-पुङ् में ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (13 जुलाई) सवा तीन बजे शाम तक यहीं रहे और डे-पुङ् के भिन्न-भिन्न महाविद्यालयों एवं छात्रालयों को देखते रहे। यह सुनकर दुःख हुआ, कि मेरे पहिली यात्रा के साथी मंगोल भिक्षु सुमतिप्रज्ञ दो वर्ष पहिले मर चुके। बुर्यत भिक्षु प्रज्ञोपाय भी अब वहाँ नहीं थे। गेशे-शेरब् से आज भी बात हुई। उनसे मालूम हुआ कि कुन-दे-लिङ् जैसे कुछ विहारों में लो-च-वा (भोटिया अनुवादकों) की जीवनियाँ मौजूद हैं। भोट के इतिहास की न जाने कितनी अनमोल सामग्री इन पुराने विहारों में पड़ी सड़ रही है।

ल्हासा में अब हमारा कोई दूसरा काम नहीं रह गया था। सरकार से पत्र लेने की आवश्यकता थी, जिसमें एक ओर मुहरबंद कोठरियों को खोल पुस्तकें देखने का सुभीता हो और दूसरे सवारी के घोड़े आसानी से मिल सकें। कभी आशा हो आती थी कि चिट्ठी जल्दी मिल जायगी और कभी निराशा भी होती थी। गो-लोग् गेशे भी हमारे लिए कष्ट उठा रहे थे। 18 जुलाई को उन्होंने भोट सरकार के एक मंत्री श्री मोन्‌शापे से भेंट करवाई। उन्होंने भी भारत में बौद्धग्रन्थों की आवश्यकता के बारे में समझाया और मैंने भी कहा। मंत्री ने राय दी कि क-शाक् (मंत्रिमंडल) के पास आवेदनपत्र देकर लोङ्-छेन् (महामंत्री) और एक दूसरे मंत्री से भी मिल लेना चाहिए। मुझे पहिले ल्हासा के उत्तर की यात्रा करनी थी, उसके लिए तो पत्र मिलने की संभावना नहीं थी। आवेदनपत्र लिखने के काम का जिम्मा शो-गङ् (क्षुर-खड्) कुमार ने लिया।

20 जुलाई को हम गो-लोग् गेशे के साथ भोट के महामंत्री से मिले। बड़ी देर की प्रतीक्षा के बाद महामंत्री जी ने दर्शन दिया। उन्होंने मंत्रिमंडल के पास प्रार्थना करने की सम्मति दी।

आजकल ल्हासा का एक तरुण चित्रकार साहु के लिए चित्र बना रहा था। मैंने उससे भोट में चित्रकला के उपकरण और शिक्षा आदि के बारे में बहुत-सी बातें जानीं, जिस पर पीछे एक लेख भी लिखा।

तालपोथियों के बारे में तो बहुत जगह होने की खबरें मिलती थीं, जिनमें 70 प्रतिशत को तो मैं असंभव समझता था, तो भी कुछ जगहों में उनके होने की संभावना थी। सिकिम के लामा ओर्ग्येन ने बतलाया कि सम्-ये विहार में सरकारी मुहरछाप के भीतर कुछ तालपोथियाँ बन्द हैं। मिल-डो-लिङ् विहार में भी चार पोथियों के होने की संभावना थी। ङोर् और स-स्क्या के बारे में तो बहुतों ने कहा था। लेकिन अभी तो हमें ल्हासा से उत्तर की ओर जाना था, जहाँ केवल रेडिङ् में संभावना थी। 28 जुलाई को रेडिङ्लाभा ने अपने अफसर के लिए पत्र दे दिया। सिकिम की महारानी ने अपने भाई र-क-सा-कुशो से एक पत्र तग्-लुङ् गुम्बा के लिए दिलवाया। साथ चलने के लिए ल्हासा के नेपाली फोटोग्राफर नातीला तैयार हुए। गेशे धर्मवर्द्धन भी 29 ता. को हमारे पास चले आए। सवारी के लिए छु-शिङ्-शा ने अपने खच्चर दे दिये।

2. रेडिङ् की ओर

ल्हासा में 19 मई से 7 सितम्बर तक रहकर 'विनयपिटक' हिन्दी अनुवाद, और 'साम्यवाद ही क्यों ?' के भी लिखने का बहुत-सा काम ख़तम हो गया। अब मुझे उन गुम्बाओं में जाना था, जहाँ भारत से लाई संस्कृत की तालपत्र पुस्तकें हैं। रेडिङ् गुम्बा में दीपंकर श्रीज्ञान के हाथ की कुछ तालपत्र पुस्तकें हैं, इसका मुझे पता लगा था। रेडिङ्लामा आजकल दलाईलामा के स्थानापन्न थे। मैं उनसे मिला। पूछने पर उन्होंने बतलाया कि एक बंडल पुस्तकों का है, लेकिन आग लगने से किसी वक्त उसका थोड़ा-सा हिस्सा जल गया। क्या पुस्तकें हैं, इसके बारे में वे क्या बतला सकते थे ? यदि वह दीपंकर के हाथ की पुस्तकें हैं, तो धर्म, दर्शन, तन्त्र किसी विषय की पुस्तक हो सकती है। यदि दीपंकर के शिष्य डोमूतोन्पा के हाथ की पुस्तकें हैं, तो ज्यादा सम्भव है कि वह तन्त्र या सिद्धों के दोहों की पुस्तकें हों। कुछ भी हो, मैं उसके देखने के लिए उत्सुक था। मैंने भोट-सरकार के पास प्रार्थना की थी, कि पुरानी पुस्तकों, चित्रपटों आदि पर जहाँ-जहाँ सरकारी मुहर लगी हुई है, उन्हें मुझे देखने की इजाजत मिले। साथ ही सवारी के लिए घोड़ों और खच्चरों के पाने की आज्ञा मिले। सारी दुनिया ही में सरकारी दफ्तरों की चाल बहुत धीमी होती है, उसमें भोट-सरकार की गति तो और मन्द होती है। उस 1934 के निवेदनपत्र की स्वीकृति 4 बरस बाद 1938 में मिली, जब कि मैं चौथी बार मध्य-तिब्बत गया। इसमें भोट-सरकार का कोई दोष नहीं था। सरकारी जवाब की जल्दी आशा नहीं थी। रेडिङ् रिन्पोंछे (रेडिङ्लामा) से मैंने उनके मठ के लिए चिट्ठी माँगी, जिसमें कि मैं वहाँ संगृहीत भारतीय पुस्तकों और चित्रपटों को देख सकूँ। उन्होंने एक चिट्ठी दी। खच्चरों की समस्या को छु-शिङ्शा के स्वामी ज्ञानमान साहु ने अपने खच्चरों को देकर हल कर दिया। एक फोटोग्राफर की जरूरत थी, ल्हासा के नेपाली फोटोग्राफर नातीला (लक्ष्मीरत्न) ने साथ चलने के लिए स्वीकृति दे दी। मैं मंगोलभिक्षु धर्मकीर्त्ति और अमदो के चित्रकार पंडित धर्मवर्द्धन (गेन्-दुन् छोन्फेल्) को साथ ले जाना चाहता था। धर्मकीर्त्ति धर्मवर्धन के साथ चलने के लिए तैयार नहीं हुए और धर्मवर्धन अपनी गुम्बा (डेपुङ्) को छोड़कर चले आये थे, इसलिए उनको साथ ले चलना जरूरी था। अब हम तीन साथी थे। चौथा था सोनाम्-ग्यन्ज़े छुशिङ्-शा का खच्चरवाला।

30 जुलाई को एक खच्चर पर सामान और तीन खच्चरों पर हम तीनों सवार होकर साढ़े नौ बजे सवेरे ल्हासा से रवाना हुए। जरा-जरा बूँदा-बाँदी हो रही थी। दो मील पर तब्ची का टकसाल घर मिला। हम हरे-हरे खेतों में से आगे बढ़े, फिर दाहिनी ओर की उपत्यका को छोड़ बाईं ओर का रास्ता लिया। 5 मील पर बिजली पैदा करने का घर मिला। आगे एक उजड़ा-सा गाँव था, फिर अगली चढ़ाई शुरू हुई। डेढ़ बजे गोला-जोत के ऊपर पहुँचे। वहाँ से उतराई थी। लेकिन कड़ी नहीं थी। साढ़े 4 बजे हम पायागाँव में पहुँचे। एक किसान के घर में ठहरे।

हम को मालूम नहीं था कि लङ्थङ गुम्बा दो मील ही आगे है, नहीं तो कल ही यहाँ पहुँच गये होते। फन्-पो की विस्तृत उपत्यका सामने आई। पुरानी गुम्बाओं की तरह लङ्थंङ भी समतल भूमि में है। लङ्थङ-पा

दोर्जेसेङ्गे एक बहुत ही विनयशील भिक्षु हुआ था। बाहर से देखने पर गुम्बा बिल्कुल अकिंचन-सी मालूम होती है। पुजारी भी दरिद्र-से हैं, भीतर चीजें भी अस्त-व्यस्त रखी हैं, लेकिन यहाँ कुछ भारत की बहुत सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। मैत्रेय और बुद्ध की प्रतिमाएँ पीतल की हैं।

भारतीय योगी फदम्प सेङ्गे की मिट्टी की मूर्ति बहुत पुरानी मालूम होती है। पुस्तकों में लङ्थङ-पा के समय की स्वर्णाक्षरों में लिखी 'अष्टसाहस्रिका' बहुत सुन्दर है। हमने कितनी ही चीजों के फोटो लिये, यहीं भोजन किया और 12 बजे आगे के लिए रवाना हुए। दो घंटा चलने के बाद हम नालन्दा विहार में पहुँचे—भारत के नालन्दा के नाम पर ही 15 वीं शताब्दी के आरम्भ में यह विहार बनाया गया। बरसात के कारण सभी पहाड़ों पर हरी घास जमी हुई थी, यद्यपि वह छोटी ही छोटी थी, लेकिन दूर से देखने पर बहुत छोटी मालूम होती थी। नालन्दा के लिए अच्छा स्थान चुना गया था। यह उपत्यका से जरा ऊपर ढालुवाँ मैदान में स्थापित है। गुम्बा के पास वृक्ष भी काफी हैं। चू-ल्ह-खङ् सबसे पुराना मन्दिर है, जिसे सक्या-पा सम्प्रदाय के पंडित रोङ्-स्तोन् ने बनवाया था। यहाँ के भिक्षुओं ने हमारे काम में हर तरह से सहायता की, रहने के लिए स्थान दिया। ल्हासा में बड़ी जल्दी जुएँ पैदा हो जाती हैं, लेकिन न जाने क्या चमत्कार है फनूपो में जुएँ बिल्कुल दिखाई नहीं पड़तीं।

अगले दिन (1 अगस्त) हम 8 बजे रवाना हुए। बादल था लेकिन तिब्बत में वर्षा से बहुत कम डर लगता है। बाईं ओर मुड़कर हमने एक छोटी जोत (डाड़ा) पार की। रास्ता अधिकतर पश्चिम की ओर था। दो जगह दो धारों को पार करना पड़ा। पहाड़ी के ऊपर कुछ घरोंवाला दुईने विहार मिला। फिर उसी धारा को पार कर हम पाछब् गाँव में पहुँचे। पुराने अनुवादकों (लोचवा) में पाछब् ञिमङग् बहुत ही जबर्दस्त विद्वान् था। उसने दर्जनों ग्रन्थ संस्कृत से तिब्बती भाषा में अनुवाद किए। कहते हैं यही गाँव उस विद्वान की जन्मभूमि है। लोचवा का विहार पहाड़ के किनारे गाँव से कुछ हटकर है। कोई पुरानी इमारत नहीं है। एक स्तूप है, कहा जाता है इसी के भीतर लोचवा का शरीर है। आजकल यहाँ एक भिक्षु-विहार है, जिसमें 20, 25 भिक्षुणियाँ रहती हैं। यह स्थान नालन्दा से बारह मील पर है। 12 बजे फिर हम आगे के लिए रवाना हुए। यहाँ से डेढ़ ही मील आगे बहुत पुराना विहार ग्याल्हखङ् मिला। यहाँ दोरिङ (पाषाणस्तंभ) और पुराने ढंग के स्तूप देखने ही से मालूम होता था, कि हम 8 वीं 9 वीं शताब्दी के मठ में आ गए हैं। पूछने पर ज्ञात हुआ कि इस विहार को तिब्बत के अशोक सम्राट ठि-स्रोङ ने बनवाया था। पाषाण-स्तंभ चौपहला है, जिसके पूरब, उत्तर, पश्चिम और दक्खिन में क्रमशः वज्र, युगलवज्र, पद्म और रत्न बने हुए हैं। सबसे पुराना मंदिर मैत्रेय का मालूम होता है। यहाँ हस्तलिखित तीन कंजूर-तंजूर हैं। इन पुराने विहारों में पुस्तकों की इतनी ज़्यादा छल्लियाँ हैं, कि कितनी पुस्तकें तो सैंकड़ों वर्ष हो गये, खोली ही नहीं गईं। दाता लोग अपनी पुस्तकों पर नाम और देश-काल भी लिखवा दिया करते थे। इन लेखों से तिब्बत के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता है। तिब्बत ने अपने इतिहास (साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक) और भारतीय इतिहास की भी न जाने कितनी सामग्री अपने भीतर छिपा रखी है, लेकिन इस वक्त उनके रहस्य का उद्‌घाटन कौन कर सकता है ? यह ठीक है कि तिब्बत हमसे चार-पाँच सौ बरस पीछे है, लेकिन उसमें ऐसी क्षमता है, कि पुरानी बाधाओं के हटाने पर पचास वर्ष में वह हमसे 100 बरस आगे चला जाये। कुछ भी हो, तिब्बत और भारत के इतिहास-प्रेमियों को बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करनी है, जब कि तिब्बत के सैंकड़ों विहारों में हजार वर्षों से जमा होती इन लाखों पोथियों की छल्लियों को तोड़कर उनका विवरण-सहित सूचीपत्र तैयार हो।

हम लोग मैत्रेय के विशाल मंदिर में ठहरे। इस मंदिर में कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ भी हैं। दूसरे मंदिरों में कुछ पुरानी मूर्त्तियाँ और चित्रपट हैं। यहाँ तोय, और मे दो डसङ (कॉलेज) हैं, जिनमें कभी बाकायदा पढ़ाई होती थी; लेकिन आजकल यहाँ पढ़ाने का कोई विशेष प्रबन्ध नहीं। पाषाणस्तंभ पर पुराना लेख है। मैत्रेयमंदिर में कुछ पोथियाँ रद्दी में पड़ी हुई हैं। पुजारी को कहने पर उसने शतसाहस्रि की एक पोथी (फ.) दे दी, जिसे मैंने पटना म्युज़ियम में लाकर रख दिया। इसके अक्षर पुराने हैं, लेकिन तेरहवीं सदी के बाद के ही हैं। आरंभ में बुद्ध के दो चित्र बने हुए हैं।

अगले दिन (2 अगस्त) बूँदा-बाँदी हो रही थी, जब कि चाय पीकर हम लोग आगे की ओर रवाना हुए। दो छोटी-छोटी जोतों को पार कर हम दोपहर बाद शरबुम्पा विहार में पहुँचे। गेशे शरबा दीपंकर श्रीज्ञान के शिष्य डोमृतोन्-पा का प्रशिष्य था और बारहवीं सदी में हुआ था। इसका तन्त्र-मन्त्र पर विश्वास नहीं था। वह तार्किक और दार्शनिक था, लोग उसकी विद्वत्ता का लोहा मानते थे, लेकिन तन्त्र-मन्त्र, देवी-देवताओं के न मानने के कारण यह भी मानते हैं, कि वह मरकर नरक में गया। यहाँ शर्बा का स्तूप है। मूर्त्तियाँ कोई उतनी पुरानी नहीं हैं, लेकिन स्तूप के भीतर पुरानी महत्वपूर्ण चीजें हो सकती हैं। आजकल यहाँ सत्तर, अस्सी भिक्षुणियाँ हैं, वही पुजारिन हैं। तीर्थ करने के लिए यात्री आया करते हैं।

हमने दर्शन और भोजन के बाद ढाई बजे आगे का रास्ता लिया। चढ़कर एक जोत पार की, फिर कुछ उतराई पड़ी, तब रास्ता समतल भूमि में आ गया। 5 बजे हम फन्दागाँव में पहुँचे, एक गरीब किसान के घर ठहरे। इस गाँव में सभी गरीब बसते हैं, पास में स्नेऊ-सुर् के स्तूप हैं।

अगले दिन हमने आगे का रास्ता लिया। यहाँ के पहाड़ों पर कुछ झाड़ियाँ दिखाई पड़ीं, जिनमें अधिकतर गुलाब की थीं। एक टूटा पुल पार कर चढ़ाई शुरू हुई, लेकिन कड़ी चढ़ाई आखिरी डेढ़-दो मील ही की थी। चारों ओर काली-काली चँमरियाँ चर रही थीं। एक कस्तूरीमृग को भी भागते देखा। सवा तीन घंटे चलने पर छ-ला जोत पर पहुँचे। इस जोत पर डाकुओं का बहुत भय रहता था। लेकिन हम लोगों के पास कई पिस्तौल और एक राइफल थी, इसलिए डाकुओं को सँभलकर हमारी ओर नजर डालनी पड़ती है। ल्हासा से चलते समय नातीला (फोटोग्राफर) ने पिस्तौल न रखने के लिए यह कहकर बहुत जिद की थी, कि मुझे पिस्तौल की जरूरत नहीं, मेरे पास मि-टि-कू (स्मृतिज्ञानकीर्त्ति की बनाई मिट्टी की छोटी-सी मूर्त्ति) है। तिब्बती लोगों का विश्वास है कि किसी के पास मि-टि-कू हो, तो उसके शरीर पर गोली बिल्कुल असर नहीं कर सकती। मैंने उनसे कहा, लाओ पिहले मि-टि-कू पर ही गोली चलाकर तर्जबा कर लें, यदि वह न फूटे तो तुम्हें पिस्तौल ले चलने की जरूरत न होगी। नातीला इसके लिए तैयार न थे और एक पिस्तौल उनके साथ भी बाँध दी गई; लेकिन इसमें सन्देह था कि, मौका पड़ने पर वह उसे इस्तेमाल करते। खैर, देखनेवालों को तो मालूम हो रहा होगा कि तीनों सवारों के पास तीन पिस्तौलें हैं।

उतराई कुछ ज्यादा कड़ी थी। 2 घंटा उतरने के बाद बाईं ओर की पहाड़ी की रीढ़ को पार करके हम तगलुङ्वाली नदी की उपत्यका में आये। उतराई में धर्म वर्धन ने अपनी खचरी की लगाम छोड़ दी। उसने कूद-फाँद के लगाम तोड़ दिया। यह आज दूसरी बार हुआ था। सोनमृग्यनूजे आग-बगूला हो गया और गेशे धर्मवर्धन का गुस्सा खचरी पर उतारा। डेढ़ मील जाने पर तगलुङ् विहार मिला। यह भी समतल भूमि पर है। पुराना विहार बहुत ही विशाल है, और उसकी छतें ऊँची और खंभे बड़े-बड़े थे। यहाँ पर भी पुरानी पुस्तकें भारी संख्या में दीवार के सहारे छल्ली बना के रखी हैं। महाराजा शिकम के साले रक्सांकुशो की चिट्ठी लाये थे, तो भी रहने के लिए हमें बहुत खराब जगह मिली थी। अभी हम प्रतीक्षा कर रहे थे, लेकिन खच्चरों के आने में देर हो रही थी। कितनी ही देर बाद सोनमृग्यंजे खच्चरों को लेके आया। उसने कहा—मैं साथ नहीं चलूँगा, ल्हासा लौट जाऊँगा। हमने कितना ही समझाने की कोशिश की, लेकिन वह न माना और फुनूदो की ओर चला ही गया। अब हमारे लिए एक और चिन्ता आई—पाँच-पाँच खच्चरों को बाँधना, खिलाना और लादना आसान काम नहीं था। हम तीनों में से किसी ने कभी इस काम को सीखा नहीं था। खच्चरों को बाँध दिया। हमने तग्लुङ् की इस बड़ी गुम्बा के मन्दिरों का दर्शन किया। विशाल पीतल की मूर्तियाँ देखीं। इस विहार को 1180 ई. में स्थापित किया गया, इसके एक मन्दिर के ऊपर चीनी ढंग की सुनहली छत है।

रात को हमने बहुत दौड़-धूप करके दो आदमियों को यहाँ से साथ ले चलने के लिए तैयार किया।

दूसरे दिन (4 अगस्त) अभी कुछ अँधेरा ही था, कि सोनमृग्यंजे आकर हमारे सामने खड़ा हो गया। सोनमृग्यंजे मध्य तिब्बत का नहीं, बल्कि चीनी सीमा के पार खम्प्रदेश का था और ऐसे खूँख्वार कबीले का, जिसके तरुणों के लिए दो खून करना अपमान की बात है, वहाँ छोटे-छोटे लड़के गोश्त के टुकड़े को हवा में पकड़कर तलवार से काटने का खेल करते हैं। न वह खुद अपने मरने की परवाह करते, न दूसरे का प्राण लेने ही में उन्हें हिचकिचाहट

होती है। वह परम स्वतन्त्र होते हैं, और मालिक को भी फटकारने से बाज नहीं आते। साथ ही उनमें गुन हैं–वह चोर, झूठे और बेईमान नहीं होते, जो करना होता है, सीधे करते हैं। टेढ़ी-मेढ़ी चाल उन्हें नहीं मालूम। और विश्वास पा जाने पर मित्र के लिए प्राण देना कोई मुश्किल बात नहीं। सोनमृग्यंजे ऐसे ही कबीले का प्रतिनिधि था। चाहे अनजाने ही हो, लेकिन साँप को हमने क्रुद्ध कर दिया था। मुझे पहिले इस बात का ख्याल नहीं आया, नहीं तो शायद कुछ और सावधान रहते। यह ठीक है कि वह हमारे साथ ही बराबर बैठता, चाय पीता, सत्तू-गोश्त खाता, लेकिन इतना ही काफी नहीं था। हम तीनों शिक्षित-संस्कृत व्यक्ति थे, हम अपनी ही बातों में लगे रहते थे। शायद बात इतनी न बढ़ती, यदि हममें से एक भी सोनमृग्यंजे के साथ बैठकर छङ् पीता और उससे दिल खोल-खोलकर बातें करता। जिस समाज में सांस्कृतिक उन्नति के साथ-साथ बहुत अधिक विषमता आ गई है, वहाँ नौकर-चाकर अपने स्थान को समझते हैं और कितनी ही उपेक्षाओं-अवहेलनाओं की परवाह नहीं करते। लेकिन कबीलाशाही समाज का आदमी विषमता को दिल से स्वीकार नहीं करता, इसीलिए वह किसी वक्त भी बगावत कर बैठता है, और उसकी बगावत बड़ी निष्ठुर और भीषण होती है। इन बातों को जानते हुए हम स्थिति की भीषणता को समझ रहे थे। सोनमृग्यन्जे को सबेरे ही लौटा देखकर हमें तरह-तरह की आशंका होने लगी। उसने कहा कि रात को मैं किसी जगह सोया, कोई आदमी मेरा ताडू (घोड़े पर रखा जानेवाला चमड़े का झोला) उठा ले गया। हमें उसकी बात का विश्वास नहीं था, हम समझ रहे थे कि वह लूट-पाट के लिए लौटा है। हमने उसे बन्दूक देते वक्त उसमें गोली नहीं डाली थी। कारतूसों की माला को भी अपने ताडुओं में रख लिया था। सभी बड़े सावधान होकर चल रहे थे। इधर के पहाड़ों पर जंगली गुलाब और करौंदे की झाड़ियाँ बहुत हैं, इन्हें नंगा नहीं कहा जाता। बिच्छू घास भी ज्यादा लगे हुए हैं, लेकिन हमारा ध्यान बीच-बीच में टूट जाता था। कल तक सोनमृग्यन्जे हमारा रक्षक था और अब उसके आगे-आगे चलने पर भी हमें सावधान रहना पड़ता है। हम एक छोटी नदी के किनारे चले, जो ल्हासावाली नदी उई-छू में मिलती है। यहीं फोनदो की छोटी बस्ती है। 12 बजे हम नदी के किनारे पहुँचे। पास में लोहे की जंजीरों पर एक पुल बना हुआ है, लेकिन खच्चरों को तैराकर पार कराना था, उन्हें घेरकर पानी में डाल दिया जाता, फिर लोग हल्ला करते हुए पत्थर फेंकते, इस प्रकार खच्चर परले पार चले जाते। बरसाती पानी भी था, इसलिए नदी की धारा काफी बड़ी थी। हम लोग चमड़े की नाव (क्वा) से नदी पार हुए। दो बजे नदी से आगे रवाना हो सके। अब हम रेडिङ् सें आगेवाली नदी की उपत्यका में चल रहे थे। यहाँ के हरी झाड़ियों से ढँके पहाड़ों को देखकर विश्वास नहीं होता कि हम तिब्बत में हैं। सामने से एक लामा काली याक की पीठ पर चढ़ा चला आ रहा था, मैं समझता हूँ शंकर का नादिया भी सफेद नहीं काला ही होगा। कैलाश में बैल का जीना सम्भव नहीं, इसलिए शंकर की सवारी बैल नहीं, याक होगी–याक भी गो-जाति में ही है। और शंकर जब अपने नन्दी याक पर चढ़कर चलते होंगे, तो वह इसी लामा की तरह मालूम होते होंगे।

5 बजे हम ल्हखङ् पहुँचे, आज यहीं ठहरना था। यहीं से बाईं ओर का रास्ता मंगोलिया को जाता है, और दाहिनी ओर का रेडिङ् गुम्बा को। ल्हखङ् का अर्थ है, देवालय, आज भी वहाँ एक देवालय है, लेकिन शुरू-शुरू में सम्राट् श्रोङ्चन् ने यह कोई मन्दिर बनवाया था। चीन, मंगोलिया, मध्यएशिया के रास्ते पर होने से स्थान महत्त्वपूर्ण रहा होगा। बाहर से आनेवाले यहीं आकर समझते होंगे कि हम तिब्बत में पहुँच गये।

उस दिन शाम को साथियों ने पूछा–साथ आया मांस खतम हो गया। मांस बिकने को आया है, क्यों न ले लें ? मैंने कहा–"हाँ ले लो।" उन्होंने पूछा "कितना ?"–मैंने कहा–"पूरा शरीर"। उन्होंने कहा–"पूरा शरीर लेने की जरूरत नहीं, एक टाँग ले लेते हैं।" मैंने कहा–"ले लो।" फिर वह तीन-तीन, चार-चार सेर के मांसखण्ड को बर्तन में रखकर मेरे सामने ले आये। निश्चय ही वह भेड़ का मांस नहीं हो सकता था। मैंने उनसे पूछा–"यह किसका मांस है ?" जवाब मिला–"याक् का"। "नहीं-नहीं", मैंने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा–"शायद यह मेरे लिए नहीं होगा। तुम जानते हो, मैं याक् का मांस नहीं खाता।" उन्होंने कहा–"6 दिन से आप याक् ही का मांस तो खाते आ रहे हैं।" ल्हासा से हमारे साथ सूखा मांस आया था, वह छोटे-छोटे टुकड़े काटकर सुखाया गया था, इसलिए याक का है, या भेड़ का, पहचानना मुश्किल था। मेरे साथी कह रहे थे कि वह याक् का

मांस है, मैं यह भी जानता था कि नेपाली लोग याक् का मांस खाते हैं, और गाय के मांस का तो नाम भी नहीं सुन सकते। वह याक् को गाय नहीं मानते, लेकिन मुझे इसमें बिल्कुल सन्देह नहीं था, कि याक् और गाय दोनों की उसी तरह एक जाति है, जैसे हिन्दुस्तानी और विलायती गाय की। यद्यपि अपने प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन, विदेशों के पर्यटन और खुद अपने तर्क-वितर्क से मैं समझता था, कि गाय, भेड़ और सूअर तीनों के मांस बराबर हैं, भेड़-सूअर के मांस को खाने में मुझे कोई उजुर न था। लेकिन, पुराने संस्कार बाधक थे, इसीलिए मैं याक् के मांस से परहेज करता था। लेकिन अब 6 दिन का तो खा चुका था, और किसी दिन भीतर से कै क्या, मिचली भी नहीं आई। मैंने कहा-"अच्छा, ठीक है, कुछ पकाकर सवेरे के लिए भी रख छोड़ना।" भिक्षुओं के नियम के अनुसार मैं दोपहर बाद भोजन नहीं कर सकता था, इसलिए यह कहा था। दूसरे दिन सत्तू खाते वक्त जब वह मांस सामने आया, तो मुझे मालूम होने लगा, कि मैंने यदि इसे मुँह में दिया, तो जरूर कै हो जायगी। बुद्धि और तर्क जोर से समर्थन कर रहे थे, कि इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन उस दिन पुराने संस्कारों का पलड़ा भारी रहा। पुराने संस्कार कब दबे, यह मुझे याद नहीं, पीछे तो मैं याक् के मांस को सबसे अच्छा मांस समझने लगा।

अगले दिन (5 अगस्त) पौने आठ बजे जब हम रवाना हुए, तो बूँदें पड़ रही थीं। तीन मील चलने के बाद देवदार के एकाध छोटे-छोटे वृक्ष दिखलाई पड़े। एक ओर जौ के कुछ खेत भी थे। यहाँ के लोग खेती की अपेक्षा याक् और भेड़ का पालना ज्यादा पसन्द करते हैं। कहीं-कहीं मानी (मन्त्र लिखे हुए पत्थरों) की छल्लियाँ भी थीं, और श्रद्धालु मुसाफिर उन्हें अपनी दाहिनी ओर रखते चलकर परिक्रमा का पुण्य लेना चाहते थे। तगलुङ् से साथ आये दोनों आदमियों को हमने देखा, कि वह पत्थर कूट-कूटकर "चा-फू, मा-फू" कर रहे थे। "चा-फू-मा-फू" से मुझे बहुत घृणा है। इसका शब्दार्थ तो है "चाय दो, मक्खन दो" लेकिन यह चाय-मक्खन देवता से माँगते, पत्थर-पत्थर से रगड़ते वह कभी-कभी बहुत क्रूर कर्म करते हैं। ल्हासा में एक ग्यारह सौ वर्ष पुराना शिलालेख है। लोगों ने "चाफू-माफू" करके उसके बहुत-से अक्षरों को उड़ा दिया, और उसमें गोल-गोल गड्ढे बना दिये हैं। मैंने शंकित हृदय से नजदीक जाकर देखा, तो मालूम हुआ कि वह मामूली रास्ते का पत्थर है। एक पहाड़ का मोड़ पार करते ही देवदारों के जंगल में रेडिङ् विहार दिखलाई पड़ा। इन देवदारों के देखने से मालूम हो गया, कि याक् और भेड़ों से बचाते हुए देवदार लगाने की कोशिश की जाय, तो तिब्बत के बहुत से नंगे पहाड़ देवदारों के वन से ढँक सकते हैं।

रेडिङ् के अफसर लामा को चिट्ठी दी गई। रहने के लिए बहुत अच्छा स्थान मिला, लेकिन जब हमने पुस्तक दिखलाने को कहा, तो उसने इनकार कर दिया। हमें बहुत आश्चर्य हुआ, जब सुना कि चिट्ठी में लामा ने पुस्तक दिखलाने की कोई बात नहीं लिखी है ! फिर हमारा तकलीफ-तरद्दुद उठाना सारा बेकार गया, यह साफ था। नातीला बेचारा अपना काम छोड़कर यहाँ आया था, यदि रेडिङ्लामा पुस्तक नहीं दिखलाना चाहते थे, तो वहीं से इनकार कर दिया होता। हम सभी को बहुत क्षोभ हुआ, लेकिन करना क्या था ? ल्हासा चिट्ठी भेजकर जबाब माँगना भी पंद्रह, बीस दिन की इन्तिजारी का काम था। मुमकिन है, यदि दो-तीन सौ रुपये यहाँ अधिकारियों को दे सकते, तो कुछ काम बनता। लेकिन मैं तो अपनी सारी यात्राएँ बेसरोसामानी के साथ करता रहा हूँ, एक तरह आप इसे धींगामुस्ती कह सकते हैं। मैं अपने शरीर से हरेक खतरे को बरदाश्त करने, हरेक कष्ट को सहने के लिए तैयार था; लेकिन, जहाँ रुपयों से ही काम चल सकता हो, वहाँ क्या करता ? शायद पाठकों को जानने की इच्छा होगी, कि आखिर दुनिया में इतनी-इतनी जगह मैं घूमा, और सब जगह पैसों की जरूरत होती ही है; फिर ये पैसे कहाँ से आते थे ? इसके बारे में इतना ही कहना है, कि यूरोप-यात्रा में जरूर महाबोधि सभा जैसे धनिक संस्था ने मुझे भेजा था, वह अमेरिका भी भेजना चाहती थी, लेकिन मैंने स्वयं जाना नहीं पसंद किया। बस वही एक यात्रा थी, जिसमें मैं पैसों की ओर से कुछ अधिक निश्चिन्त था। बाकी यात्राओं के लिए पैसे कुछ तो अपनी लेखनी से मिले-सबसे अधिक पैसा एक अमेरिकन पत्रिका ने मेरे एक लेख के लिए दिया था, और यह बड़े अच्छे मौके पर जापान में मिला था, जिसकी वजह से मैं रूस, ईरान भी हो आ सका था। डाक्टर जायसवाल मेरी सहायता करने के लिए हर वक्त उत्सुक रहते

थे, लेकिन मैं उनके घर का एक व्यक्ति-सा होने के कारण उनकी आर्थिक अवस्था से परिचित था। इसलिए हमेशा उन पर कोई भार डालने से अपने को बचाता था, तिब्बत के चित्रों, मूर्त्तियों से अपने यात्रा के लिए काफी पैसा निकाल सकता था, लेकिन जब मुझे कोई अच्छी चीज मिलती, तो मैं उसे बेचने की जगह किसी म्युजियम को देना पसन्द करता था, तो भी दो-तीन चीजों के लिए पटना म्युजियम से मुझे कुछ रुपये मिले थे। कोई-कोई मित्र भी कभी कुछ सहायता करते थे, किन्तु मेरे मित्र सिर्फ विद्वान और गुणग्राही थे; लक्ष्मी का वरदहस्त उनके ऊपर नहीं था। लक्ष्मी-पुत्रों से मुझे बराबर चिढ़ रही। हो सकता है कोई समझे कि मैं गलती कर रहा था। मैं भी समझता हूँ, कि काफी पैसा रहने पर मैं किसी भी यूरोपियन अनुसन्धानकर्ता से सौ गुना काम कर सकता था, मेरी स्थिति ऐसी थी, कि उनसे हजार गुना अधिक तथा बहुत ही महत्वपूर्ण चीजें जमा कर लेता।

रेडिङ् विहार ग्यारहवीं शताब्दी में बना था। तब से वह बराबर तिब्बत का एक महाप्रसिद्ध विहार रहा। आज भी उसके पास लाखों की जागीर और उसके लामा दलाईलामा के बाद तिब्बत के चार सबसे प्रभावशाली लामाओं में हैं। इसी प्रभाव के कारण 22 वर्ष की उम्र में ही वर्तमान रेडिङ्लामा, दलाईलामा का स्थानापन्न बन सका। ताल पुस्तकों के देखने की आशा तो थी नहीं, हम मन्दिर देखने गये। चारों ओर मकानों से घिरा एक आँगन था, जिसकी एक ओर तीन देवालय, जिनमें एक में मैत्रेय की मूर्त्ति थी–मूर्त्तियाँ सुन्दर थीं। रेडिङ् में सोलह भारतीय चित्रपट, इनके अतिरिक्त दीपंकर श्रीज्ञान और डोमूतोन्पा के भी चित्र हैं। ऊपर के देवालयों में कुछ छोटे-छोटे चित्रपट भारतीय तूलिका की सृष्टि मालूम पड़ते हैं। उस वक्त सोलहों चित्रपट बरांडे में टँगे हुए थे। अजन्ता के चित्र बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट से हैं, लेकिन यहाँ के यह हजार बरस पुराने चित्रपट बहुत ही सुरक्षित अवस्था में हैं। उनकी रेखाएँ, हल्के रंग सभी बतलाते थे, कि इन्हें किसी कुशल हाथों ने तैयार किया है। मैंने चाहा कि चित्रपटों का ही फोटो ले लिया जाय, लेकिन अधिकारियों ने उसके लिए भी इजाजत नहीं दी। गेशे धर्मवर्धन स्वयं एक अच्छे चित्रकार हैं, उन्होंने चाहा कि एकाध की नकल करें, लेकिन इसे भी अधिकारियों ने मना कर दिया। उस दिन और दूसरे दिन भी दो बार हमने उन चित्रों का दर्शन करके ही सन्तोष किया।

अब हमारे लिए यहाँ कोई और काम न था और बड़े खेद और क्षोभ के साथ 6 अगस्त के 8 बजे हमने रेडिङ् छोड़ा। हमें डीगुङ की प्रसिद्ध गुम्बा में भी जाना था, वह यहाँ से दूर नहीं थी। डीगुङ् गुम्बा के लामा किसी वक्त चीन सम्राट के गुरु रह चुके थे। यह भी पता लगा, कि वहाँ बहुत-सी पुरानी चीजें रखी हुई हैं। लेकिन सोनम्ग्यनूजे को लेकर हम वहाँ जा नहीं सकते थे। हमने ल्हासा लौटने का निश्चय किया। साढ़े नौ बजे हम ल्हखङ्दोङ् पहुँचे और एक बजे नदी के किनारे। सवा घंटे पार उतरने में लगे। उस दिन फुन-दो में रह गये। अगले दिन हमें तगूलुङ् के दोनों आदमियों को छोड़ देना था। खाने के अतिरिक्त छै आना रोज पर हमने एक आदमी को दो दिन के लिए रखा। समझ रहे थे, सोनमूग्यनूजे किसी दिन चला गया, तो खच्चरों के लिए एक आदमी रहना चाहिए। हमारा इरादा था गेनदुनछोकोर् और येर्वा के पुराने विहारों को देखने का। अगले दिन (7 अगस्त) 7 बजे ही हम रवाना हो गये। तगूलुङ्गुम्बा दाहिनी ओर काफी दूर छूट गया। साढ़े 11 बजे हम छलाजोत पर पहुँच गये। हम जाना चाहते थे पोतोगुम्बा। यह भी ग्यारहवीं शताब्दी के एक प्रसिद्ध पंडित पोतोपा का निवास स्थान है। लेकिन हम पहुँच गये, डगूग्यब् गुम्बा में। काफी वक्त हो गया था, इसलिए रात को वहीं रहना निश्चित किया। यहाँ हम लोगों को उस कोठरी में जगह मिली, जिसमें पहिले के अवतारी लामा का मोमियाई शरीर (मर्दोङ) रखा हुआ था। देखने में साधारण मूर्त्ति-सा मालूम होता था। पहिले समय में पेट चीरकर अँतड़ी साफ कर लेते, फिर शरीर को सुखा लेते थे; किन्तु आजकल शव को नमक में डालकर दो मास तक रखा जाता है, और हर सातवें दिन ऊपर से नमक डालते रहते हैं। सूखे शरीर पर आज भी और पहिले भी खास तरह का पलस्तर लगा देते हैं। ऐसे मर्दोङ और मठों में भी हैं, लेकिन वह स्तूपों के भीतर बन्द हैं, इसलिए उन्हें देखा नहीं जा सकता। इस गुम्बा को डगूग्यबूपा ने बनाया था, जो कि पोतोपा (1027-1104 ई.) का समकालीन था। आजकल यहाँ कोई वैसी पुरानी चीज नहीं थी।

फनपो (फनूयूल्) 11वीं से 13वीं सदी तक पंडितों की खान रही, अब उनके निवास स्थानों पर अच्छी-अच्छी

गुम्बाएँ मिलती हैं, लेकिन विद्या गोलाजोत के पार ल्हासा प्रदेश में चली गई।

अगले दिन (8 अगस्त) हम 7 बजे ही निकले। आज हमें पोतोविहार देखना था। नीचे उतरकर जैसे ही पोतो की ओर मुड़ने लगे, सोनमृग्यनूजे ने कहा, मैं नहीं जाऊँगा, तुम्हीं तीनों जाओ। जब हमने कहा, कि हमें वहाँ केमरे की जरूरत होगी तो उसने तलवार पर हाथ रख कर कहा–"तनदे चे" (खबरदार)। हमने रंग-ढंग से समझ लिया कि वह क्या चाहता था। बदन में आग लग गई थी, पिस्तौल पर हाथ जाना चाहता था, लेकिन दिमाग ने समझाया–क्या तुम भी जानवर बनोगे। अब सोनमृग्यनूजे को एक दिन भी साथ रखना बेकार था। नातीला की साली पास ही के गाँव में रहती थी, हम तीनों वहाँ गये, चाय पी। नातीला को सामान के साथ आने के लिए छोड़ दिया। बरसात की नदी मीलों में सहस्रधार होके बह रही थी, वहाँ रास्ता भूल जाने का डर था। नदी पार कराने के लिए हमने एक आदमी साथ लिया, और दस बजे वहाँ से चल पड़े। 3, 4 धाराएँ पार करनी पड़ीं। 12 बजे हम पहिले दिन के मुकाम पाया में पहुँचे। गोला (जोत) पार करते वक्त खच्चर थक गये थे। गेशे धर्मवर्धन का खच्चर मुश्किल से ऊपर तक पहुँचा। यह जोत भी डाकुओं के लिए मशहूर है, लेकिन जब 3 बजकर 20 मिनट पर डाँड़े पर पहुँचे, तो कोई वहाँ नहीं था। उतराई उतरते सूर्यास्त से पहिले ही हम दोनों ल्हासा पहुँच गये।

रेडिङ् की यात्रा हमारी निष्फल रही, दो-दो, तीन-तीन बाधाएँ हमारे रास्ते में आ गईं। यद्यपि नातीला ने हमारी हर तरह से सहायता की, और गेशे धर्मवर्धन के रूप में तो मैंने एक स्थायी मित्र पाया। गेशे तिब्बत में बड़े पंडित को कहते हैं, और वह बड़े प्रतिभाशाली पंडित हैं, इसमें सन्देह नहीं। उन्होंने बौद्धन्याय का विधिवत् गम्भीर अध्ययन किया है, और पूरे बुद्धिवादी हैं। स्वयं एक अच्छे कवि, और प्राचीन तथा नवीन बौद्धसाहित्य और बौद्धपरम्परा का विशाल ज्ञान रखते हैं। साथ ही उनमें सबसे बड़ा गुण है कि उनको विद्या का अभिमान नहीं, और वह समझते हैं कि विद्या-समुद्र में से उनके पास अभी एक ही दो बूँद आया है। चित्रकार वह एक अच्छी कोटि के हैं। ल्हासा के सामन्त-घरों में उनकी विद्या की उतनी माँग नहीं थी, लेकिन चित्रकारी के लिए बड़ी पूछ थी। विद्या के प्रेम ने ही उन्हें सुख और आराम के जीवन को त्यागने के लिए मजबूर किया। वह अमदो प्रदेश (चीनी इलाके) के एक गुम्बा के अवतारी लामा थे। दूसरे अवतारी लामों की तरह उन्हें अमीरों के भोग सुलभ थे। लेकिन उन्होंने गद्दी छोड़ी, गुम्बा के वैभव को छोड़ा और विद्या पढ़ने के लिए ल्हासा का रास्ता लिया। वह डेपुङ् में कई साल पढ़ते रहे। पीछे हम दोनों का साथ कई साल तक रहा, यद्यपि लगातार नहीं, क्योंकि दूसरे कामों के कारण मुझे कभी-कभी अकेले भी देश-विदेश में घूमना पड़ता था, फिर सरकारी जेलों में मैं कैसे उन्हें घसीट सकता था ? लेकिन यह मैं कहूँगा, कि गेशे धर्मवर्धन जैसा विद्वान्, गुणी, त्यागी, संस्कृत, आदर्शवादी, सहृदय पुरुष तिब्बत में मिलना बहुत मुश्किल है। बार-बार मेरा दिल कहता, कि हम दोनों साथ रहें, लेकिन वह हमारे बस की बात नहीं थी; फिर मधुर स्मृतियों को ही जब-तब उज्जीवित करके मन को सन्तोष दिया जा सकता है। पीछे उग्र राजनीतिक विचारों के सन्देह पर ल्हासा सरकार ने उन्हें जेल में डाल दिया था।

हम चाहते थे कि ल्होखा (सम्-ये) वाले प्रदेश के विहारों में जायँ, क्योंकि उधर बहुत-से पुराने मठ हैं। लेकिन बड़ी दिक्कत थी सवारी की। मेरे पास इतना पैसा नहीं था, कि दो खच्चर खरीद लेता और हम दोनों घूमते-फिरते। फिर मेरे पास सिर्फ रोलैफ्लेक्स केमरा था, उससे आदमियों और दृश्यों का अच्छा फोटो लिया जा सकता था, लेकिन किताबों का फोटो मैं नहीं ले सकता था; नहीं, अँधेरे मंदिरों की मूर्त्तियों का ही फोटो पा सकता था। सवारी और दूसरे इन्तिजाम के लिए मैंने जो चिट्ठी भोट-सरकार को दी थी, उसके बारे में (14 अगस्त) मालूम हुआ, कि मंत्रिमंडल में पढ़ी गई और सहायता देने के लिए वह तैयार है। लेकिन सरकारी पत्र मिलना इतना जल्दी थोड़े ही हो सकता है। आजकल चीनी प्रतिनिधि ल्हासा में आए थे। चीनवालों ने तिब्बत के ऊपर सीधे शासन कभी नहीं किया और उसका बर्ताव गुम्बाओं के साथ हमेशा अच्छा रहा। अब भी बड़ी-बड़ी गुम्बाओं में चीन-सम्राटों के दिये महादान से समय-समय पर भोज होता है। अधिकतर भिक्षु और साधारण जनता यही जानती है, कि चीन में अब भी सम्राट का राज्य है। 14 तारीख को चीनी प्रतिनिधियों ने अपनी सरकार

की एक घोषणा ल्हासा में दीवारों पर चिपकायी। चीन सरकार तिब्बत की जनता के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं स्थापित करना चाहती, वैसा करने पर जरूर तिब्बत का प्रभुवर्ग उसे पसन्द न करता; तो भी इस घोषणा के चिपकाने से बात साधारण जनता तक जाती थी, जिसे प्रभु लोग पसन्द नहीं करते।

और एक हफ्ता इंतिजार किया, लेकिन देखा, ल्होखा जाने का कोई इन्तिजाम नहीं हो सकता। बातचीत करने से यह भी विश्वास हो चला था, कि चाङ् (टशील्हुनूपो और सक्यावाले) प्रदेश में जरूर संस्कृत की तालपोथियाँ है। पोइखङ् विहार के एक अधिकारी भिक्षु ल्हासा में मिले। उन्होंने निश्चित तौर से बतलाया, कि हमारे यहाँ तालपत्र की तीन पोथियाँ हैं। मैंने समझा, ल्होखा तो नहीं जा सकता, फिर क्यों न चाङ्-प्रदेश के ही विहारों को देखा जाय; गेशे भी मेरी राय से सहमत थे। तब तक मुझे 'साम्यवाद ही क्यों ?' के बाकी अध्यायों को पूरा करना था। मैं उसमें लग गया। चीनी अफसर अपने साथ रेडियो लाये थे, उसे सुनने के लिए बड़ी भीड़ लगती थी। अधिकारी डर रहे थे, कि ढावा कुछ झगड़ा न कर बैठें। 28 अगस्त को एक चीनी जनरल आया, सरकार की ओर से उसका स्वागत किया गया। 400 सौ से ऊपर पलटन गई थी, मंत्रिमंडल की ओर से स्वागत में कलोन्लामा और एक गृहस्थमंत्री गए थे। दूसरे आदमी 5, 6 हजार रहे होंगे, चीनी, नेपानी और मुसलमान भी पहुँचे थे। चीनी जनरल और उसके साथी चीनी, नेपाली, और मुसलमान भी पहुँचे थे। चीनी जनरल और उसके साथी चीनी सीमा से यहाँ तक पालकी पर आए थे। एक-एक पालकी 6, 6 आदमी ढोते थे। उनके साथ एक दर्जन से अधिक सिपाही नहीं थे। स्वागत का चलते फिल्म से फोटो लिया गया था। उन्हें जिस जगह ठहराया गया, उसके सामने भी भीड़ लगी रहती थी। शाम को एक तब्-तब् ढावा (ऊजड्ड, अनपढ़ भिक्षु) अन्दर जाने लगा, पहरेदारों ने रोका, इस पर उसने छुरी निकाल ली।

26 तारीख को कशा (मंत्रिसभा) की ओर से सवारी के घोड़ों की संख्या के बारे में पूछा गया। मैंने पाँच-छै बतला दिया। 31 तारीख को लोन्-छेन् (महामंत्री) से गुभाला धीरेन्द्र वज्र ने आज्ञापत्र के बारे में पूछा, तो जवाब मिला—काम की भीड़ के कारण अभी पत्र नहीं लिखा जा सकता, लेकिन जल्दी दिया जायगा। मुझे आज्ञापत्र के जल्दी मिलने की आशा नहीं थी। 27 अगस्त को 'साम्यवाद ही क्यों ?' समाप्त हो गया था, अब यही फिकर थी, कि किस वक्त खच्चर मिले, और मैं यहाँ से रवाना होऊँ। मैं छुशिङ् के खच्चरों को साथ नहीं ले जाना चाहता था, किन्तु, कई जगह के वादों को झूठा पाकर मुझे ज्ञानमान साहु से ही खच्चर के लिए कहना पड़ा।

4 सितम्बर को कोई मर गया था, उसकी लाश को लोग श्मशान ले जा रहे थे। मैं वहाँ नहीं जा सका, किन्तु पता लगा कि तबूची के पीछे एक पहाड़ी है, वहीं पर मुर्दों को ले जाया जाता है। ढोनेवाले राकोवा, एक खास जाति के लोग हैं। वहाँ ले जाकर वह मुर्दों को पत्थर पर औंधे मुँह नंगा लिटा देते हैं, फिर चार राकोवा भिड़ जाते हैं। उनके हाथ में गड़ासी की तरह की तेज छुरी होती है। पहिले पैर के तलवे की मांस की छोटी-छोटी बोटी को काटकर पत्थर के गढ़हे में रखते हैं, इसी तरह सारे शरीर के मांस को निकालकर जमा कर देते हैं। उधर धूप के धुएँ को देखकर सैंकड़ों गृद्ध आसपास जमा हो जाते हैं। सारे मांस को काटकर गढ़हे में ढाँककर रख दिया जाता है, फिर पत्थर से हड्डियों को चूर-चूर करके सत्तू के साथ सान लिया जाता है—गिद्धों के हटाने के लिए एक आदमी लाठी लिये खड़ा रहता है। हड्डी मिले सत्तू की गोलियाँ पहले फेंकी जाती हैं, फिर मांस की बोटियाँ; डेढ़ घंटे के भीतर ही सारा मुर्दा गिद्धों के पेट में चला जाता है, इस विधि को थेक्छेन् (महायान) कहते हैं।

राकोवा मुर्दा काटते-काटते भी चाय-सत्तू खाते-पीते जाते हैं, जाड़े के दिनों में बरफ बन जाने से पानी नहीं मिलता, तो वह अपने पेशाब से ही हाथ धो लेते हैं। राकोवा अपने इस काम के लिए बहुत घृणा की दृष्टि से देखे जाते हैं। तिब्बत में लकड़ी का इतना अभाव है कि मुर्दों को जलाया नहीं जा सकता। शरीर से कुछ प्राणियों का पेट भर जाय, इसी ख्याल से यह प्रथा वहाँ चलाई गई; लेकिन इसके कारण राकोवा अछूत बन गये हैं।

3. साक्या की ओर

8 सितम्बर को हम दोनों ल्हासा से निकले। गेशे धर्मवर्धन ने डेपुङ्-गुम्बा के एक मंगोल भिक्षु को साथ चलने के लिए ठीक किया था, चारों खच्चरों को उसे सँभालना था। छु-शिङ्शिावालों ने सोनम्‌ग्यनूजे के जिम्मे खच्चरों के कसने का काम लगा दिया। उसने एक बूढ़ी, एक लँगड़ी और एक बिल्कुल कमजोर तीन खचरियों को कस दिया। जब हम ल्हासा से निकलकर पोतला के पास चले आए, तब इस बात का पता लगा। मेरे खच्चर पर तो काठी के नीचे गद्दा भी नहीं रखा, खच्चरों की मुहेड़ी और बाँधने की रस्सियाँ भी नहीं दी थीं। दूसरा खच्चरवाला छु-शिङ्शिा की एक लाल खचरी को चढ़ने के लिए लाया था, हमने उसे बदल लिया, डेपुङ् के नीचेवाले गाँव में हम मंगोल भिक्षु के आने का इन्तिजार करने लगे। इसी वक्त सोनम्‌ग्यनूजे आया। वह दूर ही से बाँह चढ़ाता आ रहा था। हमने इस जानवर से कुछ भी न बोलने का निश्चय किया, वह लाल खचरी को लेकर चला गया। किन्तु देर हो रही थी, और मंगोल भिक्षु भी नहीं आया था। इन खच्चरों को लौटाकर नये खच्चरों के मँगाने का ख्याल छोड़ देना पड़ा। हमने चारों खच्चरों को ल्हासा लौटा दिया। अपने सामान के लिए गधों को किराये पर किया, और उनके साथ ही पैदल चल दिया। आज रात को गङ् गाँव में पहुँचे।

अगले दिन (9 सितम्बर) गधेवाले साढ़े पाँच बजे डेढ़ घंटा रात रहंते ही चल पड़े। 9 मील चलकर नदी के किनारे विश्राम और भोजन के लिए ठहर गये। कुछ देर तक तो अच्छी तरह चले, फिर शरीर बिल्कुल कमजोर मालूम होने लगा, ज्वर आता दिखलाई दिया। 7, 8 मील और चलने पर नदी के किनारे जङ् में गाँव में पहुँचे। आज रात को यहीं विश्राम करना था। कल से आज का निवास अच्छा था, किन्तु पिस्सुओं का डर लग रहा था। रास्ते में पूछने पर पता लगा, कि मंगोल भिक्षु हमें आगे गया जानकर आगे जा रहा है। रात को ज्वर मालूम हो रहा था। खटमलों और पिस्सुओं ने एक साथ ही हमला बोल दिया। मैं दो घंटे तक डटा रहा, लेकिन सारे शरीर में काट-काटकर उन्होंने चकत्ते से निकल दिये। टार्च (चोरबत्ती) लगा के देखा, दीवार पर खटमलों की भारी पलटन कूच करती आ रही थी। अब उस मोर्चे पर डटा रहना बुद्धिमानी नहीं थी, छत पर बिस्तरा लेकर चले गये, लेकिन कुछ खटमल-पिस्सू भी साथ चले आये।

रात के ज्वर से आज और कमजोरी आ गई थी और आगे पैदल चलना असम्भव मालूम हो रहा था। कोशिश करने पर छुसुर क लिए एक घोड़ा किराये पर मिला। फसल पकने को आई थी, वृक्षों की पत्तियाँ कहीं-कहीं पीली हो चली थीं, यह सब जाड़े के आने की सूचना थी। छुसुर में तारघर नहीं है, लेकिन तार-लाइन के देखने के लिए एक आदमी रहता है, टेलीफोन भी है। ल्हासा के तारघर के अफसर मेरे मित्र कुशो-तनदर ने टेलीफोनवालों को सूचना दे रखी थी, कि मुझे हर तरह से मदद करें। आदमी ने देखते ही पहचान लिया। चाय पिलाई। कल शाम ही से भोजन नहीं किया था, आज अंडे के साथ दूध पिया, भूख तो बिल्कुल नहीं थी, मुँह कड़वा था, लेकिन बिना खाये रास्ता चलना अच्छा नहीं था। तारवाले भाई ने ञबूसो घाट तक के लिए एक घोड़ा कर दिया। अभी ब्रह्मपुत्र की धार बड़ी थी, इसलिए छूवो-रि के घाट पर काठ की नाव नहीं चलनी शुरू हुई थी। बरसात में ञबूसो से ही मुसाफिर चमड़े की नाव से नदी पार होते हैं। छूवो-रि के सामने मंगोल भिक्षु मिला। बेचारा बहुत हैरान हुआ, वह समझता था, कि हम आगे-आगे जा रहे हैं, इसलिए यहाँ तक चला आया। मैंने उसे कुछ पैसे दिये, वह डेपुङ् की ओर लौट गया। हम उस दिन सेमाथोब् की तीन-चार घरवाली बस्ती में ठहरे। रात को पिस्सुओं और खटमलों ने जो आफत की थी, उसे देखकर हमने आज वृक्ष के नीचे ही सोना पसन्द किया

अगले दिन (11 सितम्बर) दो बड़ी-बड़ी गुम्बाएँ बखोर् और छोस्-कोर-यङ्चे मिलीं। दूसरी गुम्बा बहुत बड़ी है। इसके आसपास बहुत वृक्ष लगे हुए हैं। नजदीक में और दाहिनी ओर पहाड़ में कितनी ही और गुम्बाएँ हैं। जब घाट दो-तीन मील रह गया, तो एक दोरिङ् (पाषाणस्तम्भ) मिला। इसके अक्षर बहुत-से मिट चुके हैं, लेकिन यह जरूर सम्राटों के समय (630-902 ई.) का पाषाणस्तम्भ है। उस समय यही भारत जाने का प्रधान रास्ता था। हम ब्रह्मपुत्र के किनारे पहुँचे। ञबूसो, रोङ्, शिगर्चे, सक्या, केरोङ् होते नेपाल जाने का, यही पुराने

समय में रास्ता था। इस रास्ते पर जगह-जगह विहार और पुराने गाँव हैं, लेकिन आजकल कितनी ही जगह में रास्ते बदल गये हैं। हम इस रास्ते से चलने का निश्चय कैसे कर सकते थे, जब कि हम बिल्कुल बेबस थे। यद्यपि ब्रह्मपुत्र नदी शिगर्चे से ही यहाँ आई है, लेकिन बीच में वह कुछ ऐसे पहाड़ों से गुजरी है कि उसके किनारे-किनारे कोई जा नहीं सकता।

9 बजे से पहिले हम घाट पर पहुँच गये। यहाँ दोनों कूल कुछ अधिक ऊँचे हैं। इसलिए नदी ज्यादा इधर-उधर हट नहीं सकती। दो घंटा हमें चमड़े की नाव से नदी पार करने में लगा। 3 बजे हम खङ्छङ् गाँव में पहुँचकर गोवा (गाँव के मुखिया) के घर पर ठहरे। रास्ते के गाँवों में आतशक और सूजाक की बीमारी बहुत ज्यादा मालूम होती थी, कुछ औरतें आतशक की दवाई लेने आईं। मैं दस्त, बुखार, सिरदर्द जैसी साधारण बीमारियों की दवाएँ और मलहम अपने पास रखता था, मलहम देकर पिंड छुड़ाया।

अगले दिन गोवा ने सामान के लिए दो बैल और सवारी के लिए दो घोड़ियाँ कर दीं। अब हम ञबूसो जोत की ओर चढ़ रहे थे। पहिले चढ़ाई साधारण थी, लेकिन डाकवाले के घर से वह कठिन होने लगी। हमारे सभी जानवर कमजोर थे, इसलिए वह धीरे ही धीरे आगे बढ़ सकते थे। कुछ वर्षा भी होने लगी। यह जोत खून और डकैती के लिए मशहूर है। खैर, किसी तरह हम जोत पर पहुँचे, दूसरी तरफ हमारा मार्ग बहुत दूर तक समतल भूमि पर था, फिर उतराई शुरू हुई। जोत से हमें एक ओर ब्रह्मपुत्र नदी और दूसरी ओर युमूडोक् का विशाल सरोवर दिखलाई पड़ा। जहाँ ब्रह्मपुत्र की उपत्यका के गाँवों में जगह-जगह सफेदे, वीरी, खूबानी, और शायद अखरोट के भी वृक्ष दिखाई देते, वहाँ युमूडोक-सरोवर के किनारे के गाँव में वृक्षों का कहीं नाम नहीं था। बरसात ने जो हरी-हरी घास लगा दी थी, वह अब भी सूखी नहीं थी। 3 बजे हम गाँव में पहुँचे। यहाँ ही चाय पी, और दो दिन बाद आज सत्तू खाया। दो तीर्थयात्रिणी तरुणियाँ कुछ माँगने आईं, कुत्ते ने एक के पैर में काट खाया। मैंने गेशे से टिनचर-ऐडिन लगा देने के लिए कहा। बात करने पर मालूम हुआ, कि दोनों गेशे की जन्मभूमि अमदो प्रदेश की हैं। अमदो (तंगुत) ल्हासा से मंगोलिया की ओर दो महीना के रास्ते पर है। और बीच में ऐसी भी जगहें हैं, जहाँ हफ्ते-भर कोई गाँव नहीं मिलता। यह दोनों लड़कियाँ अकेली थीं। उनके साथ कोई पुरुष नहीं था। उनकी उमर बाईस-चौबीस से ज्यादा नहीं होगी, और उनमें से एक को तो हम सुंदरी कह सकते हैं। मैं ख्याल करता था, इनके साहस के सामने मेरी यात्रा कुछ भी नहीं है, वह युवती स्त्री हैं, और अपना देश छोड़ दो-दो, तीन-तीन महीने के रास्ते पर निकली हैं। उनके पास काफी पैसा नहीं, इसलिए दूसरे तीर्थयात्रियों की तरह रास्ते में सत्तू-चाय माँगती चलती हैं। गेशे ने बतलाया कि ल्हासा के उत्तर के निर्जन स्थानों को उन्होंने काफले के साथ पार किया होगा, तो भी उन्हें डाकुओं के खतरे से भरे पचीसों जोतों को अकेले पार करना पड़ा होगा। स्त्री, पैसा नहीं, डाकुओं का रास्ता, और वर्षों के लिए घर से निकल पड़ना, इन बातों पर मैं सोच रहा था, जब गाँव से निकलने पर गेशे ने सब बातें बतलाईं। हमने उन्हें थोड़ा-सा पैसा दे दिया था। पहिले पता लगा होता, तो उन्हें ग्यानूची तक अच्छी तरह ला सकते थे। गेशे ने एक को तो अपने परिचित गाँव की लड़की बतलाया था, इसलिए और भी अफसोस हुआ। लेकिन यह जानकर सन्तोष हुआ, कि वह हमारी मदद के भरोसे नहीं, बल्कि अपनी हिम्मत पर तीर्थयात्रा और साहस-यात्रा के लिए घर से निकली हैं। तिब्बत में ऐसे यात्री और यात्रिणियाँ बराबर देखने को मिलतीं। अभी उनको तथाकथित सभ्यता से पाला नहीं पड़ा है, इसलिए बहुत सरल स्वभाव हैं। गेशे ने बतलाया कि उधर की कुमारियाँ बहुत स्वच्छन्द होती हैं, और ब्याह होने पर तरुणी के कौमार-जीवन की स्वच्छन्दता का ख्याल नहीं किया जाता।

उस दिन (12 सितम्बर) हम पेदे के तारवाले के घर पर ठहरे। यहाँ पर भी हमारे दयालु दोस्त कुशो तनूदर ने टेलीफोन कर दिया था, इसलिए तारवाले आदमी हमारी मदद करने के लिए तैयार थे। यह गाँव युमूडोक् महासरोवर के किनारे पर बसा है। इस सरोवर की मछलियाँ बहुत स्वादिष्ट होती हैं, और लोग उन्हें सुखाकर रख लेते हैं। तारवाले ने हमें खाने के लिए सूखी मछलियाँ दीं। मछली को चीर के काँटा निकाल कर सुखाया जाता है, सूख जाने पर वह बहुत हल्की हो जाती है। हमने सोचा कि पाँच-सात सेर मिल जायँ, तो रास्ते के लिए खरीद लिया जाय; किन्तु मालूम हुआ कि लोग पैसे से नहीं, अनाज से ही बदलते हैं, इसलिए

बहुत थोड़ी-सी मछली हमें मिल सकी। तारवाले ने हमारे लिए दो घोड़े और दो खच्चर का इंतिजाम किया था। लेकिन हमारे साथवाले घोड़े नम्पाशिवा गाँव तक के लिए थे। उस गाँव में छु-शिङ्शा और मेरा भी परिचित गोवा (नम्बरदार) था, इसलिए पूरी आशा थी कि वहाँ से दूसरे खच्चर मिल जायेंगे।

अगले दिन (13 सितम्बर) को 6 बजे सवेरे ही हम रवाना हुए। आसमान में बादल घिरे हुए थे, लेकिन वर्षा नहीं हुई, 10 बजे के करीब, जब नम्पाशिवा एक मील रह गया, तो सर चार्ल्स वेल् अपने दलबल के साथ रास्ते में मिले। सर चार्ल्स पिछले साल मरे दलाईलामा के बड़े दोस्त थे। जब वह पोलटिकल एजेन्ट थे, उस वक्त उनके प्रभाव से तिब्बत के साथ ब्रिटिश सरकार की बड़ी गहरी मित्रता स्थापित हुई थी। अब वह बहुत वृद्ध थे, और पेनशन लेकर विलायत में रहते थे। मरने से पहले एक बार फिर तिब्बत को देखने की उनकी इच्छा थी। दलाईलामा ने आने की इजाजत दे दी, लेकिन अपने मित्र के देखने से पहले ही वह चल बसे। सर चार्ल्स मुझे रास्ते ही में मिले। शायद उनको पता था, कि मैं आजकल तिब्बत में हूँ। मेरे चेहरे और पीले चीवर को देखने ही से समझ सकते थे, कि मैं कौन हूँ। घोड़े पर चढ़े-चढ़े हम लोग देर तक बातें करते रहे, उधर चलते फिल्मवाला फोटोग्राफर तस्वीरें खींच रहा था। उन्होंने यात्रा के प्रयोजन के बारे में पूछा। मैंने कहा कि मैं भारत से लुप्त संस्कृतग्रंथों की खोज में आया हूँ। स्थान पूछने पर मैंने छपरा का नाम लिया। उन्होंने बतलाया—तरुण आई. सी. एस. होकर आने के वक्त मैं एक वर्ष छपरा में रहा हूँ। उन्हें एकमा स्टेशन भूला नहीं था, वह हिन्दी बोल लेते थे। उन्होंने कुछ रुपए निकालकर देना चाहा, मैंने धन्यवादपूर्वक उसे अस्वीकार किया। यद्यपि उन्हें उस तरह की यात्रा नहीं करनी थी, जैसी कि मैं कर रहा था—उनके साथ सहयात्रियों की एक पूरी पलटन चल रही थी—लेकिन 70 वर्ष के बूढ़े के लिए वह साधारण यात्रा नहीं थी। मैं उनके साहस की प्रशंसा किए बिना नहीं रह सकता था।

11 बजे मैं नम्पाशिवा गाँव में पहुँचा। चोला (गाँव का परिचित भाई) को खबर दी, लेकिन वह हमारे सामने भी नहीं आया। ग्यानूची के लिए खच्चर माँगने पर बहाना कर दिया। तिब्बत में साधारण परिचय और परिचित का परिचय कोई काम नहीं देता। लोग अपने प्रभुओं से बहुत डरते हैं, और उनके सामने हाथ बाँधे खड़े रहते हैं। वस्तुतः सैकड़ों वर्षों से बहुत क्रूर सामंती-पुरोहिती के कारण लोगों में मानव-सहृदयता कम पाई जाती है—वहाँ मालिक और दास दो ही श्रेणियाँ और दो ही सम्बन्ध हैं। खैर, न-ग-चे वहाँ से तीन ही मील था, बहुत कहने-सुनने पर वहाँ तक इंतिजाम हो गया। कुशो तन्दर की कृपा से न-ग-चे के तारवाले चोला (भाई) ने हमारे ठहरने का प्रबन्ध कर रखा था। वैसे होता तो न जाने वहाँ कितने दिन तक बैठा रहना पड़ता, लेकिन उसी दिन गोरखा राजदूत न-ग-चे पहुँचा। उसी बेगार में बहुत-से घोड़े आए थे। बारह-बारह टंका पर रालुङ के लिए चार घोड़े हमें मिल गए।

अगले दिन (14 सितम्बर) 5 बजे भिनसारे ही हम चले। आसमान बादल से घिरा था, अँधेरा दूर होते ही बूँदें पड़ने लगीं, और वह जरा तक जारी रहीं। सर्दी भी काफी बढ़ गई थी। पहाड़ों के ऊपर ताजी बरफ पड़ी हुई थी। 17 मील चलने के बाद खरुला-जोत के पास डाक ढोनेवाले के घर में चाय-सत्तू खाया, फिर 4 बजे रा-लुङ् के तर-खङ् (तारघर) में पहुँच गए। यहाँ तारघर नहीं था, सिर्फ तारवाला आदमी लाइन को देखता और टेलीफोन से खबर देता था। तारवाला ल्हासा चला गया था, लेकिन तिब्बत में पुरुष का काम स्त्री आसानी से सँभाल लेती है, तर-खङ् पहिले चीनी फौजी चौकी थी, जिसमें आते-जाते वक्त चीनी अफसर ठहरा करते थे। आजकल कुछ कोठरियों को तारवाला इस्तेमाल करता है, बाकी गिरनेवाली हैं। मरम्मत करने का कोई ख्याल नहीं, भोट सरकार के पास सरकारी इमारतों का कोई महकमा नहीं, तारमो (तारवाली स्त्री) ने ग्यानची के लिए चार घोड़े का इंतिजाम किया, लेकिन अभी हमें रा-लुङ् गुम्बा भी देखना था।

दूसरे दिन हम दोनों घोड़ों पर चढ़कर तीन मील दूर रालुङ् गुम्बा देखने गये। यह 11 वीं 12 वीं सदी की पुरानी गुम्बा है। मकान किसी वक्त बड़े अच्छे रहे होंगे। कुछ मूर्त्तियाँ बहुत सुन्दर हैं। चार प्रधान देवालयों में बड़ी-बड़ी काष्ठ या पीतल की मूर्त्तियाँ हैं। ऊपर एक कोठरी में बहुत-सी छोटी पीतल की मूर्त्तियाँ हैं। इन्हें लोहपत्ती के जँगले में रखा गया है, और दरवाजे पर मोहर लगी है, शायद इसीलिए कि कोई चुराकर बेंच

न ले। इस गुम्बा में सत्तर के करीब ढावा (भिक्षु) और 100 से ऊपर अनी (भिक्षुणी) रहती हैं। यह विहार कर्‌युदपा संप्रदाय की डुकूपा शाखा का है। ढावा-अनी दोनों का यह सम्मिलित मठ है। आगे की पीढ़ी चलाने के लिए उन्हें बाहर से चेला-चेली करने की जरूरत नहीं। हर भिक्षु-भिक्षुणी पति-पत्नी भी हैं, और उनके जितने लड़के-लड़की होती हैं वह सब ढावा-अनी बन जाते हैं। इस प्रकार दूसरे मठों में जैसे यौन-दुराचार जो देखे जाते हैं, वह यहाँ नहीं हैं। लेकिन जनसंख्या इतनी बढ़ी हुई है, कि गुम्बा की जागीर जीविका के लिए काफी नहीं है। तिब्बत के गृहस्थों में सब भाइयों की एक पत्नी होने के कारण जनसंख्या नहीं बढ़ने पाती, किन्तु यहाँ कोई उसकी रुकावट नहीं। इसलिए वह दिन पर दिन और बढ़ती जाती है। आजकल फसल कट रही थी, इसलिए भिक्षु-भिक्षुणी खेत काटने में लगे हुए थे। जाड़ों में यहाँ की भिक्षुणियाँ पाँच-पाँच सात-सात का गिरोह बाँधकर दूर-दूर तक तारा या किसी देवी-देवता का स्तोत्रपाठ करने और भिक्षा माँगने के लिए निकल जाती हैं। यहाँ कोई तालपत्र की पोथी नहीं थी, यद्यपि उसी की बात सुनकर हम यहाँ आए थे।

11 बजे हम तार-खङ् में लौट आये। सामान के घोड़े आगे चले गये थे। हम भी तुरन्त ग्यानची के लिए रवाना हो गये। रास्ते में कुछ वर्षा हुई। यद्यपि ऊँचाई के अनुसार यहाँ खेत आगे-पीछे बोए जाते हैं, लेकिन अब वह एक ही साथ कट रहे थे। अँधेरा होते-होते हम छङ्वा के 4, 5 घरवाले छोटे गाँव में पहुँचे। दूसरे दिन साढ़े तीन घंटे चलने के बाद साढ़े आठ बजे ग्यानूची पहुँचे। बहुत-सी चिट्ठियों के अतिरिक्त श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी (आई. सी. एस.) का भेजा केमरा आया हुआ था, उसके साथ काफी फिल्म भी थे। लेकिन अभी तक मैंने फिल्म धोने का काम नहीं सीखा था। यात्राओं ने मुझे ठोक-पीटकर आधा फोटोग्राफर बना दिया था—अब मैं अपने रोलैफ्लेक्स से अच्छा फोटो ले सकता था। संभव है, इस दुगुनी भाथीवाले केमरे से मैं पुस्तकों का फोटो ले लेता, लेकिन मसाले से धोने का काम उतना आसान नहीं था। लेकिन जब 14 वर्ष की उम्र में घुमक्कड़ बनने का पहिला प्रयास किया, उस वक्त मुझे क्या मालूम था, कि अभी दुनिया में क्या-क्या सीखना है। खेतों की कटनी के कारण आगे के लिए खच्चर नहीं मिल रहे थे, हमें एक हफ्ते तक ग्यानची में रह जाना पड़ा।

22 सितम्बर को हमें अश्वतर (खच्चर) नहीं, खरतर (गदही में घोड़े के बच्चे) मिले। पहिले हमने सोचा कि नदी के परले पार से जाकर पोइखङ् के पास नाव से इस पार चले आएँगे। लेकिन पीछे उसका ख्याल छोड़ देना पड़ा और वह अच्छा ही हुआ, नहीं तो नदी पार करना उतना आसान न था। पोइखङ् ग्यानूची से प्रायः 23 मील है, जिसमें ढाई-तीन मील रास्ता छोड़कर पहाड़ों के भीतर से जाना पड़ता है। यहाँ 100 के करीब भिक्षु रहते हैं। लामा ञोमजे से मैं ल्हासा में मिल चुका था, उन्होंने बड़ी खातिर की। पता लगा, कि विक्रमशिला के अन्तिम संघराज साक्य श्रीभद्र (1127-1235 ई.) तिब्बत के जिन चार मठों में ज्यादातर रहे थे, उनमें से यह एक है; लेकिन उस वक्त यह विहार नदी के किनारे समतल भूमि में था, शायद वह और भी पहिले का बना हुआ था। वह विहार किसी कारण टूट गया, फिर उनकी परंपरा के किसी भिक्षु ने इस विहार को बनवाया। यहाँ शाक्य श्रीभद्र के तीन चीवर (भिक्षु-वस्त्र), कपड़े का जूता, भिक्षापात्र और जलछक्का रक्खा हुआ है। उनकी एक छोटी मूर्त्ति भी है, जिसकी तोते जैसी नाक और आँख-मुँह देखने से पता लग जाता है, कि यह किसी भारतीय कलाकार के हाथ की चीज है। गेशे पो-तो-पा तथा दूसरे भोटदेशीय आचार्यों के भिक्षापात्र और अन्य चीजें सुरक्षित तौर से रक्खी हुई हैं। एक छोटा-सा भारतीय चित्रपट, अमोघपाश, अवलोकितेश्वर है। 100 से ऊपर बहुत ही सुन्दर चित्रपट यहाँ पर रक्खे हुए हैं। इन्हें किसी चतुर चित्रकार ने सोलहवीं सदी के आरंभ में (कुनसङ् रब् तङ् के समय में) बनाया था। यहाँ तीन वेष्टन संस्कृत पोथियों का था, एक में खंडित सूत्र, धारिणी, व्याकरण, अजातशत्रु पर काव्य के पत्रे थे। दूसरी पोथी बड़ी महत्वपूर्ण थी। इसमें दो पोथियाँ थीं। एक थी "साकेतक आर्य-सुवर्णाक्षीपुत्र सर्वास्तिवादी भिक्षु अश्वघोष की दण्डमाला"। इसमें उपदेश देने के नमूने दिए हुए थे। मालूम होता है उस काल में भिक्षुओं को व्याख्यान देने की बाकायदा शिक्षा दी जाती थी। दूसरी पोथी (परिकथा) भी व्याख्यान सिखलाने की ही थी, किन्तु ग्रंथकर्ता का नाम उस पर नहीं है। तीसरे वेष्टन में 'मध्यांत-विभंग' 'धर्म-धर्मता-विभंग' और 'अभिसमयालंकार' की तीन छोटी-छोटी

पोथियाँ कागज पर थीं। ल्हासा के कुन्दे-लिङ् गुम्बा के बाद यह दूसरी गुम्बा मिली, जिसमें भारत से लाए संस्कृत ग्रन्थ मौजूद है। मैंने पुस्तकों की सूची बनाई, कुछ फोटो लिये, विहार को घूम-घूम के देखा और दूसरे दिन (23 सितंबर को) 4 बजे शिगर्चे के लिए रवाना हुआ। उस दिन 4, 6 मील चलकर ट्शीबू गाँव में ठहरे, और 24 तारीख को 35 मील चलकर सूर्यास्त होते-होते शिगर्चे में पहुँच गए। अब पत्तियाँ और पीली हो चुकी थीं और उसी के अनुसार सर्दी भी बढ़ गई थी।

यात्रा में जब अनुकूल साथी मिल जाता है, तो आदमी की बहुत-सी चिन्ताएँ दूर हो जाती हैं। गेशे और मैं इसी तरह के साथी थे। शलू, ङोर और सस्क्या इन्हीं तीनों मठों से मुझे संस्कृत पुस्तकों की आशा थी। सितंबर खतम हो रहा था, जाड़ा सिर पर आ गया था, इसलिए इमें जल्दी भारत लौटना था। उस वक्त मेरे कार्य का प्रोग्राम यही होता था, कि गर्मी और बरसात को तिब्बत में बिताया जाय, और जाड़ों में पटना आकर पुस्तकों के छापने और संपादन करने का काम किया जाय। अब के जाड़ा में भी मुझे 'विनयपिटक' छपवाना था, साथ ही अब पैसा भी इतना नहीं रह गया था, कि जाड़े-भर वहीं रहने का, संकल्प करता। फसल कटने का वक्त होने के कारण यहाँ भी जल्दी घोड़ों के मिलने की आशा नहीं थी। रघुवीर (छोन्जेला) अब भी ट्शी ल्हुन् पो में पढ़ रहे थे, और काफी तरक्की की थी। गेशे धर्मवर्धन से मालूम हुआ, कि यहाँ के समलोगेशे (योनतन) तिब्बत के गिने-चुने महापंडितों में हैं—शायद मैं यह लिखना भूल गया, कि पहिली तिब्बत-यात्रा में काशी के पंडितों ने मुझे (महापंडित) की उपाधि दी थी। तिब्बती भाषा में महापण्डित का पर्यायवाची है (पण-छेन), लेकिन यह ट्शीलामा की खास उपाधि है, इसलिए कोई दूसरा इस्तेमाल नहीं करता। रघुवीर समलोगेशे के विद्यार्थी थे। एक दिन हम दोनों रघुवीर के साथ समलोगेशे से मिलने गए। उनमें विद्वत्ता के साथ-साथ बड़ी सरलता पाई। दस साल से ऊपर हुए, जब कि ट्शीलामा ने मध्य तिब्बत के विद्यातल को और ऊँचा करने के लिए कुछ विद्वानों को अम्दो से बुलवाया था। उसी समय समलोगेशे ट्शील्हुनूपो आए। पीछे दलाईलामा से मतभेद होने के कारण ट्शीलामा को तिब्बत छोड़कर चीन में जाना पड़ा, तब से ट्शील्हुन् पो गुम्बा श्रीहीन हो गया। दलाईलामा के मरने के बाद आशा थी, कि ट्शीलामा अब तिब्बत में चले आएँगे। मेरे शिगर्चे रहते ही वक्त ट्शीलामा का सैकड़ों खच्चर सामान वहाँ आया था। ट्शीलामा तिब्बत की सीमा पर आ गये हैं, किन्तु वर्तमान प्रभुवर्ग उनके आने को अपने लिए खतरे की बात समझता है और हर तरह की रुकावटें डालता है। समलो-गेशे का भी मन अब नहीं लगता, लेकिन उन्होंने बहुत-सा समय यहाँ बिता दिया, अमदो नजदीक भी नहीं है, इसलिए यहीं पड़े हुए हैं।

अगले दिन (26 सितंबर) हमें शलू के लिए खच्चर मिल गये। 4 घंटा चलने के बाद हम विहार में साढ़े ग्यारह बजे पहुँच गये। रिसुर-रिम्पोछे बड़े प्रेम से मिले। उन्होंने बतलाया कि तालपोथियाँ रिफुग (पहाड़ पर के विहार) में हैं, और जिस कोठरी में वह बन्द हैं, उसका दरवाजा दो अवतारी लामों (रिसुर-रिम्पोछे और वूतोन्-रिम्पोछे) और चार खनपो के जमा होने पर खुलता है। हम उस दिन मंदिर देखने गये। दूसरे पुराने विहारों की तरह यह विहार भी मैदान में चौकोर है। मंदिरों की परिक्रमा में 14 वीं शताब्दी के किसी चित्रकार ने बड़े सुन्दर चित्र बनाए हैं, जिनमें से बहुत-से जातक-चित्र हैं। अगले दिन दोपहर को ग्यारह तालपोथियाँ आईं। मैं चार बजे तक उन्हें देखता रहा। अधिकतर पुस्तकें अपूर्ण हैं। यह काबुल-तुर्किस्तान की 7 वीं शताब्दी की लिखी शारदा, रंजन, तथा तीन प्रकार की वर्तुल लिपियों में लिखी थीं। एक ग्रन्थ को देखने से मालूम हुआ, कि वह महासांधिक लोकोत्तरवाद संप्रदाय का भिक्षु प्रकीर्णक (विनयग्रन्थ) संपूर्ण और महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। विक्रमशिला के नैयायिक ज्ञानश्री के नव न्यायग्रंथ भी पूर्ण हैं। यह दो वेष्टन मुझे बहुत ही महत्वपूर्ण मालूम हुए। मैंने फोटो भी लिया। लेकिन जब तक वहीं धोकर देख न लिया जाय, तब तक क्या आशा रखी जा सकती है ? बैठ के लिखने के लिए तो समय नहीं था। तिब्बत के श्रेष्ठ विद्वानों में एक बुतोन् (रिनूछेन् डुब, 1290--1364 ई.) इसी शलू विहार के थे। वह बहुत सालों तक साक्या में रहे। जान पड़ता है, वही यह पुस्तक साक्या से उठा लाए। बातचीत से मालूम हुआ, कि तालपत्र की कुछ और पुस्तकें वहाँ हैं, लेकिन अभी वहाँ वाले दिखलाना नहीं चाहते। रिसुर्-रिम्पोछे को अकेले कुछ करने का अधिकार नहीं था। उन्होंने कहा कि (भोटिया)

दूसरे महीने (मार्च) में मैं उन पुस्तकों को अलग कर रखूँगा, फिर आपके पास संख्या आदि के बारे में लिखूँगा। दूसरे दिन (28 सितंबर) रिसुर्-रिम्पोछे ने अपने घोड़े दिए, और दोपहर तक हम शिगर्चे पहुँच गए। लदाख में मैंने जिस लामा के हाथ में कुछ तालपत्र देखे थे, वह ङोर गुम्बा का था। मैं उसे एवं के नाम से जानता था, लेकिन लोगों में यह नाम प्रसिद्ध नहीं, इसलिए उस गुम्बा का पता मुझे देर से लगा। उसी दिन ङोर का एक भिक्षु आया। उसने बतलाया, कि जो लामा लदाख गये थे, वह आजकल खम् प्रदेश में हैं, साथ ही उसने यह भी बताया कि ङोर में 700 से अधिक तालपोथियाँ हैं। अब तक मैं सिर्फ अटकल लगाया करता था, लेकिन अब निश्चित तौर से मालूम हो रहा था, कि वहाँ कुछ तालपोथियाँ जरूर हैं।

30 नवंबर को हम नर-थङ् गए। खच्चर दो ही मिले थे, जिसमें से एक पर हमारा सामान था। गेशे को पैदल चलना पड़ता था। यदि हम इन खच्चरों को छोड़ देते, तो फिर न जाने कितने समय तक बैठा रहना पड़ता। समलो गेशे और दूसरे मित्रों से मिल आए। समलो गेशे ने कहा कि आप जिस किसी संस्कृतज्ञ नौजवान को भेजना चाहते हैं, भेजिए; मैं उसे पढ़ाऊँगा, और इस बुढ़ापे में भी कुछ संस्कृत पढ़ूँगा।

भूकम्प के बाद सीतामढ़ी में मैं जब गया था, उसी वक्त खाँसी हो गई थी, और वह दो-ढाई महीने रही। अब फिर थोड़ी-थोड़ी खाँसी शुरू हो गई थी, और कुछ ज्वर भी आ रहा था। लेकिन अभी मुझे नहीं मालूम हुआ था, कि वह टोन्सिल का फसाद है। मैंने समझा था, शायद जुकाम आना चाहता है। शिगर्चे से देर कर के रवाना हुए थे, इसलिए जब नर-थङ् पहुँचे तो खूब अँधेरा हो गया था।

दूसरे दिन (1 अक्तूबर) पहिले यहाँ की गुम्बा को देखना था। यहाँ तालपत्र की कोई पुस्तक नहीं मिली, यदि कोई पुस्तक कभी रही हो, तो वह आज या तो किसी स्तूप में होगी, या टशीलामा के खास भंडार में—नर-थङ् गुम्बा टशील्हुन्पो के आधीन है, लेकिन वहाँ तालपत्र की पुस्तकों का पता नहीं लगता। पिछली बार जब मैं नर-थङ् आया था, उस वक्त सामने की चीजों को पूछ-पूछकर देखने की कोशिश नहीं करता था। अबकी बार तो इसकी ओर सबसे ज्यादा ध्यान रहता था। मुहर में बन्द कुछ चीजें थीं, किन्तु इनमें ज्यादातर गेशे शरवा तथा दूसरे भोट गुरुओं के जूते, डोमतोन-पा आदि की छड़ियाँ थीं। दो पत्थर की मूर्त्तियाँ एक मंदिर में दिखाई पड़ीं। वह भारतीय थीं। कोठे पर के मंदिर में कुछ भारतीय चित्रपट हैं, उनमें से कुछ के फोटो लिये। कंजूर-छापाखानेवाले मंदिर की दीवारों को देखने लगा, तो वहाँ कुछ बड़े-बड़े चित्रपट टँगे थे। नजदीक से देखने पर पता लगा कि, वह भारतीय चित्रपट हैं। इनकी संख्या बारह है और बहुत ही अरिक्षत जगह में रखे हुए हैं। संयोग ही समझिए, जो अब तक बच रहे हैं। तारामंदिर में बोधगया के मंदिर का पत्थर का एक नमूना रखा हुआ था। यद्यपि इस पर फाटकों का नाम तिब्बती अक्षर में लिखा था, लेकिन तेलिया पत्थर बतला रहा था कि शायद इसे 11वीं 12वीं सदी में कोई बोधगया से ले आया है।

पहिली अक्तूबर को 11 बजे हम ङोर के लिए रवाना हुए, गेशे को पैदल चलना पड़ा। साढ़े तीन घंटे में हम ङोर पहुँच गए। गुम्बा बहुत विशाल है। बहुत से मंदिर हैं। कोई परिचित तो यहाँ था नहीं, कोशिश करने पर एक सुनसान घर में जगह मिली, जिसमें न कोई दरवाजा था न खिड़की। इसका मतलब था कि हम उधर मंदिर में जाते और इधर कोई लटा-पटा उठा ले जाता। रात को दो तालपत्र आए, जो किसी न्याय ग्रन्थ के थे। पूछने पर मालूम हुआ, कि 20 पोथियाँ हैं—खैर, 100 से वह 20 रह गईं, तो भी कुछ हैं, यह जानकर संतोष हुआ।

सबेरे चाय पीना था। गेशे ईंधन लेने गए, बहुत मुश्किल से थोड़ी-सी लकड़ी मिली। उतने से चाय के पानी के गरम होने में भारी संदेह था। सबेरे तो मालूम होने लगा, कि जल्दी ही इस जगह को छोड़ना पड़ेगा। मकान के लिए वहाँ बैठकर एक आदमी को अगोरना, ईंधन के लिए त्राहि-त्राहि, ऊपर से मठ का छग्जोद् (प्रबन्धक) बहुत ही रूखा था। वह मठ का प्रबन्धकर्ता होने की जगह डाकुओं का सरदार अच्छा बन सकता था। गेशे को जोर लगाना था, किसी तरह दो-एक दिन भी हम यहाँ टिक सकें। गेशे खुद ही बहुत अच्छे पण्डित हैं, लेकिन इन मूर्खों की जमात में "धोबी बसि के का करे, दीगम्बर के गाँव।" लामा गेनूदुन्ला यहाँ के बृहस्पति और शुक्राचार्य थे। वह आदमी बुरे नहीं थे, लेकिन थे बिल्कुल मुहदुब्बर। ताना के लामा ङ-वङ् के पास गए।

तानालामा बेचारा गरीब भिक्षु था, उसके पास एक ही कोठरी थी, जिसमें चाय पकाना पड़ता था, और रहना भी। उसने बड़ी खुशी से अपनी कोठरी में हमें भी जगह दी। लंका में एक विभीषण भगत मिल गया। अब हम इधर-उधर जा भी सकते थे। पास में ही दो अवतारी लामों का महल था। नीचे एक प्रसिद्ध तान्त्रिक सिद्ध थे। उन्होंने अच्छी तरह बात की, और कहा कि तालपोथियाँ जरूर देखने को मिलेंगी। ऊपर एक वृद्ध अवतारी लामा उछेन (रिन्पोछे) रहते थे। वह बहुत ही अच्छे आदमी थे। एक और लामा का पता लगा। उनके पास भी गए। मालूम हुआ कि पोथियाँ तो सभी लामाओं की राय से मिल सकती हैं, लेकिन इस वक्त प्रबन्ध लब्रङ्-शुङ्-छग्जोद् के हाथ में है। उससे पूछने पर वह गोलमोल जवाब दे रहा था। खैर, जाने के दूसरे दिन शाम को हम तानालामा की कोठरी में चले आए। इसलिए जोड़-तोड़ लगा सकते थे। प्रधान मन्दिर में नीचे बुद्ध और बोधिसत्त्वों की मूर्त्तियाँ हैं, सामने संघभवन है। ऊपर के मन्दिरों में कुछ भारतीय मूर्त्तियाँ भी हैं। एक मन्दिर में भोट के महावैयाकरण सितू पणूछेन के बनाए हुए कितने ही चित्रपट हैं, जिनमें उन्होंने बुद्ध की जीवनी चित्रित की है। मानव-अंगोपांग तो उतने अच्छे नहीं हैं, लेकिन प्राकृतिक दृश्य सुन्दर हैं, और अंकन में चीनी प्रभाव है। छग्जोद् टालमटोल कर रहा था। 2 बजे के करीब आदमी बुलाने आया। दुतल्ले के ऊपर एक कोठरी का दरवाजा खुला। भीतर का दरवाजा खुला, अँधेरा था। दीवार के साथ-साथ कितनी ही मूर्तियाँ रखी थीं। एक दीवार के किनारे लकड़ी के ढाँचे हैं, जिन पर कितनी ही सौ हस्तलिखित पुस्तकें रखी थीं, इनमें ज्यादातर तिब्बती भाषा में थीं। यह भी अपना ऐतिहासिक महत्व रखती हैं, लेकिन मुझे तो तालपोथियों की जरूरत थी। सम्भव है कागज की पोथियों में भी कोई संस्कृत की हो, लेकिन उसके ढूँढ़ने के लिए तो हजार के करीब पोथियों को खोलना-बाँधना पड़ता। छग्जोद् इसके लिए भला कैसे इजाजत दे सकता था। तालपत्र की पोथियाँ अपने पतले लम्बे आकार के कारण आसानी से पहचानी जा सकती थीं। हमने एक-एक करके उतारना शुरू किया, कुल 38 बंडल (मुट्ठे) निकल आये। खुशी के बारे में क्या पूछना। और फिर जब बाहर ले जा छग्जोद् के घर में खोलकर देखते हैं, तो वहाँ 'वादन्याय' मूल की दो पोथियाँ हैं। मैं धर्मकीर्त्ति और दिग्नाग के पीछे दीवाना था। और 'वादन्याय' धर्मकीर्त्ति की पुस्तक थी। इसी बार ल्हासा में 'वादन्याय' की टीका मिली थी, लेकिन मूल वहाँ नहीं था। मैंने मूल को भोट-अनुवाद की सहायता से थोड़ा-थोड़ा संस्कृत में करना भी शुरू किया था, लेकिन अब तो मूल पुस्तक ही मिल गई। मैंने आज बारह पोथियों को देखा, इनमें एक पोथी में धर्मकीर्त्ति के दो ग्रंथ 'हेतुविन्दु' और 'न्यायविन्दु' पर दुर्वेक मिश्र की दो अन्य टीकाएँ थीं। यह सभी ग्रंथ बौद्धन्याय के थे। दिग्नाथ और धर्मकीर्त्ति जैसे नैयायिकों ने बौद्ध साहित्य को समृद्ध किया था और वे हिन्दुस्तान के सर्वश्रेष्ठ बुद्धिवादी थे। धर्मकीर्त्ति के इन ग्रंथों को देखकर मैं खुशी से उछलने लगा। मुझे सारे कष्ट भूल गये। औरों का मैं फोटो ही ले सकता था, यद्यपि इसमें सन्देह था कि मैं इसमें सफल होऊँगा; किन्तु 'वादन्याय' को मैं संयोग से ऊपर नहीं छोड़ सकता था। उसी दिन मैंने उसके तीन पत्रे उतार डाले और चौथे दिन उसे लिखकर खतम कर दिया।

अगले दिन (4 अक्तूबर) को बाकी 27 पोथियों को देखा। उनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी–(1) वादन्याय टीका, (2) अभिधर्म कोषमूल, (3) सुभाषित रत्नकोष (भीमज्ञान सोम), (4) अमरकोषटीका (कामधेनु), (5) न्यायविन्दु-पंजिकाटीका (धमोत्तर+दुर्वेकमिश्र), (6) हेतुविन्दु-अनुटीका (धर्माकरदत्त-अर्चट+दुर्वेकमिश्र), (7) प्राप्ति मोक्षसूत्र (लोकोत्तरवाद), (8) मध्यान्तविभंग-भाष्य।

ईंधन की तकलीफ बहुत थी, मोल लेने पर भी नहीं मिलता था। सर्दी बढ़ती जा रही थी, अभी हमें साक्या भी जाना था, फिर हिमालय की बड़ी-बड़ी जोतों को पार करना था। 8 अक्तूबर को हमें प्रस्थान करना था। एक दिन पहिले ही उछेन-रिम्पोछे से विदाई ली। उन्होंने मक्खन की बट्टी और चाय की एक ईंट विदाई दी। जुङ्-रिम्पोछे ने पाँच चाय की ईंटें दीं, इनकार करने पर भी नहीं माने, साथ ही तीन पुस्तकें दीं, जिनमें एक विहार-संस्थापक कुनूगा-जङ्पो की जीवनी थी। ङोर आने पर पहिले दिन जैसा स्वागत हुआ था, उससे हम जितना खिन्न हुए थे, आज उतना ही प्रसन्न थे। साक्या के लिए हमें परिचयपत्र भी मिले। ङोरगुम्बा भी साक्या-सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखता है, इस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा लामा (गुरु) साक्या में रहता है।

हम उस दिन साढ़े सात बजे रवाना हुए। हमें शब गाँव के लिए एक घोड़ा और दो खच्चर मिले थे, हमारे ही साथ साक्या का एक आदमी भी चल रहा था। तीन मील पर पहिले एक छोटी-सी जोत आई, फिर सबसे बड़ी जोत छगूपाला पर हम दो बजे पहुँचे। उतराई उतरते हुए 4 बजे के करीब शब में पहुँचे। चिट्ठी जिसको देनी थी, उसको दे दी। पहिला स्वागत तो यह हुआ, कि घर से बाहर हमें ठहरने के लिए जगह मिली। घोड़े-खच्चर की बात करने पर, पता लगा, इनके मिलने की कोई सम्भावना नहीं। सोचा, अगर सामान ढोने के लिए गधा मिले, तो वही करें। उसका भी ठिकाना नहीं था। डोर से आये घोड़े-खच्चर तो पहिले ही लौट गये थे। रात को हम दोनों मन मारे सो रहे। शायद यह वही शब था, जहाँ भारतीय पंडित स्मृतिज्ञानकीर्त्ति कुछ दिनों भेड़ चराते रहे।

अगले दिन (9 अक्तूबर) को बहुत दौड़धूप करने पर सेङ्गेचे गाँव तक के लिए 9 टंके पर दो गधे मिले। सूर्योदय के पहिले ही हम रवाना हुए और 7 बजे सेङ्गेचे पहुँच गये। पास की पहाड़ी (सेङ्गे) पर कभी एक बड़ा विहार था, जो अब बहुत कुछ नष्ट हो गया है। नीचे 2, 3 मानियों की छल्लियाँ थीं। एक मानी के पास कुछ आदमी खड़े थे। उनमें से एक के कान में पेन्सिल जैसा कर्णभूषण लटक रहा था, अर्थात् वह कोई छोटा-मोटा राज्याधिकारी था। हमने उससे बातचीत की। उसने तुरन्त चाङ्शुम् तक के लिए दो गधे और एक घोड़े का इंतिजाम कर दिया। 9 बजे हम बड़ी नदी के किनारे पहुँचे। पानी अधिक था। जहाँ-तहाँ पता लगा करके हम ऐसी जगह से पार हो गये, जहाँ नदी की दो धार हो गई थीं। धूप ज्यादा लग रही थी, गेशे ने अपने टोप को घोड़े में बाँध दिया था, वह गिर गया। हमने घोड़ेवाले को खोज लाने के लिए दौड़ाया, आने पर उसने कहा—नहीं मिला। लेकिन हम साफ देख रहे थे, उसका छुपा पेट पर कुछ फूला-फूला है। हमने कहा—खैर, टोपी नहीं मिली, तो कोई परवाह नहीं, लेकिन, तुम्हें क्या हो गया है, पेट में कोई बीमारी तो नहीं है। गेशे पैदल ही चल रहे थे, उन्होंने बीमारी देखनी चाही और टोपी निकाल ली। आदमी हँसकर रह गया। बेचारे सभ्यता में अभी आगे नहीं बढ़े हैं, कि काम को दूर तक सोचकर करें। चाङ्शुङ से डेढ़ मील पहिले समूदोङ् में हम 12 बजे पहुँचे। घोड़े-गधों का पहिले ही इंतिजाम करना ठीक समझ हमने यहीं पूछ-ताछ शुरू की। तिब्बत के देवताओं की मदद हुई। साक्या तक के लिए दो घोड़े और सामान के लिए गधे मिल गये। आज यहीं ठहर गये।

अगले दिन (10 अक्तूबर को) 7 बजकर 20 मिनट पर रवाना हुए। हमारा रास्ता नदी के बाएँ-बाएँ था। कुछ दूर जाने पर दाहिनी ओर से एक नदी आई, अब हम उसके किनारे-किनारे चलने लगे। इस उपत्यका में दूर तक खेत और बगीचे मिलते गये। 12 बजे सुमूदो गाँव में पहुँचे। पहिले यह किसी सामन्त की राजधानी रही, या सैनिक छावनी। दीवारों की चिनाई बहुत अच्छी है। पुराने मकानों के बहुत-से खँडहर हैं। चाय-सत्तू खाया। एक बजे फिर रवाना हुए। डेढ़ घंटे बाद एक त्रिवेणी आई। यहाँ छोटा-सा किला था। नेपाल से ल्हासा जाने का यह प्रधान मार्ग था, इसलिए सैनिकरक्षा का इंतिजाम जरूरी था। पास में पुराने ढंग का मकान है, जिसे भिक्षुणियों ने अपने मठ के रूप में परिवर्तित कर दिया था। आगे घास पीली पड़ गई। शोङ्ला जोत अभी डेढ़ मील थी, तभी जिग्ग्युवा नामक पशु-पालकों का गाँव मिला। तीन ही चार घर थे। यहाँ के लोगों की जीविका है, भेड़ और चँवरी। इसके अतिरिक्त मुसाफिरों के टिकाने, और पशुओं के चारे से भी कुछ मिल जाता है। यह जगह पन्द्रह, सोलह हजार फीट से कम ऊँची न होगी।

अगले दिन (11 अक्तूबर) 5 बजकर 20 मिनट पर हम आगे के लिए रवाना हुए। सर्दी बहुत तेज थी। हवा सामने से आ रही थी और मुँह पर शीत के जोरदार चाँटे लग रहे थे। हमें सारा मुँह ढाँकना पड़ा। चढ़ाई उतनी कठिन नहीं थी। उतराई जरूर थोड़ी दूर कठिन थी। अब हम नदी के बाएँ किनारे से चल रहे थे। नदी पार दो-एक डोक्पा (पशुपालक) गाँव थे। 10 बजे नदी पार कर तीन, चार घर के डोक्पा गाँव में खाने-पीने के लिए ठहर गये। साढ़े बारह बजे फिर नदी पार हुए। कुछ आगे बढ़ने पर हमने पहाड़ की बाईं ओर चढ़ना शुरू किया और दो मील जाने के बद अटुला जोत मिली। उतराई जरूर कठिन थी, लेकिन मील-भर से अधिक न होगी। आगे हमें साक्या नदी मिली। सामने साक्या के भव्य विहार थे—एक पहाड़ से लगा हुआ, और दूसरा

नदी पार समतल भूमि के ऊपर।

साक्या विहार की स्थापना 1073 ई. में हुई थी, लेकिन आजकल की सबसे पुरानी इमारतें 12 वीं 13 वीं सदी की हैं। 13वीं 14वीं सदी में साक्या भोट के सबसे अधिक भाग की राजधानी रही। आज भी साक्या के महंतराज के पास बहुत बड़ी जागीर है, और दलाईलामा, टशीलामा के बाद सबसे अधिक सम्मान तिब्बत में उन्हीं का है। नदी पार कर, बस्ती में जाने के लिए तीन-तीन पुल बने हुए हैं। बस्ती पहाड़ के नीचे नदी के किनारे-किनारे चली गई है। हमारे पास महंतराज के प्रेमपात्र डोनिर् छेनूपो (महा पेशकार) के लिए चिट्ठी थी। दरवाजे पर आवाज दी, बाहरी फाटक खुला। आँगन में पहुँचे, वहाँ आँगन में भैंस-जैसा एक काला कुत्ता बँधा था। आदमी ने आकर कुत्ते को पकड़ा। हम दरवाजे के भीतर गये। डोनिर् छेनूपो ने अच्छा स्वागत किया। तिब्बती लोगों के ऐसे स्वागत का कोई विश्वास नहीं, सब उनकी मौज पर निर्भर करता है। किसी वक्त मौज हुई, तो उठाकर सिर पर रख लेंगे और दूसरी बेर बात तक नहीं पूछेंगे। लेकिन, डोनिर् छेनूपो इसके भारी अपवाद मिले। मुझे तीन-तीन मरतबे साक्या जाना पड़ा और महीनों उनके घर पर रहा, लेकिन उनका स्नेह वैसा ही रहा। हमें कंजूर मन्दिर में रहने के लिए स्थान दिया गया। डोनिर् छेनूपो की चामूकुशो छेरिङ् पलूमो (दीर्घायुश्री) ने आकर स्वयं आसन लगवाने और चाय-पानी का इंतिजाम किया। डोनिर् छेनूपो विद्या-व्यसनी हैं। धार्मिक ग्रंथों को तो उन्होंने उतना ही पढ़ा है, जितना पूजा-पाठ के लिए जरूरी है, किन्तु तिब्बती साहित्य और व्याकरण का वह बहुत अच्छा ज्ञान रखते हैं। साथ ही वह एक सिद्धहस्त वैद्य हैं, लेकिन वह वैद्यक पैसे के लिए नहीं करते। उनकी सलाह हुई, दग्छेन् रिन्पोछे (महंतराज) के पास एक अर्जी दें। दरबारी चिट्ठी-पत्री के लिखने में वह सिद्धहस्त थे, उन्होंने खुद चिट्ठी लिखी।

10 बजे हम मैदानवाले विहार ल्हखङ् छेनूपो देखने गए। इस विहार को चंगेज-खाँ के पौत्र चीन-सम्राट कुबले-खाँ के गुरु संघराज फग्फा (1234-80 ई.) ने बनवाया था। बीच में बड़ा आँगन है, जिसकी तीन तरफ कई दीवारें और फाटक की ओर वाले पार्श्व में देवताओं की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ हैं। सबसे बाहर आकर देखने पर विहार एक किला-सा मालूम होता है। देवालयों में बुद्ध और बोधिसत्वों की बड़ी-बड़ी मूर्त्तियाँ हैं। यहाँ की परिक्रमा में तग्लुङ् से भी ज्यादा पुस्तकें ईंटों की तरह चुनी हुई हैं। इनकी पुष्पिकाओं में न जाने तिब्बती इतिहास की कितनी सामग्री प्राप्त होगी। कई सौ बरसों से यह उस दिन की इंतिजार में हैं, जब तिब्बती ऐतिहासिक इनका सदुपयोग करेंगे। प्रधान मन्दिर के बाहर की खुली सभामंडप में बहुत विशाल देवदार के खम्भे हैं। इन खम्भों को हिमालय पार से लाना आदमी की शक्ति से बाहर है, यह समझकर लोग विश्वास करते हैं, कि संघराज फग्फा के हुकूम से देवताओं ने इन खम्भों को खड़ा किया, मुख्य मन्दिर के बाहर आने पर बाईं ओर एक बहुत ऊँची सीधी सीढ़ी है। सचमुच ही यदि ऊपर के सिरे से निचले सिरे को आप उतरना चाहें तो घबड़ा जायेंगे। कोठे पर भी कई मन्दिर हैं और एक कोठरी तो सीढ़ी के पार ही है। उस कोठरी ने कितने अनमोल संस्कृत ग्रंथ रखे हैं, इसका पता उस यात्रा में न मुझे मालूम हुआ न अधिकारियों को। मैं उस कोठरी के दरवाजे से होता कायस्थ-पंडित गयाधर के देवालय की ओर चला गया। अवश्य यह हिरण्य-निधि के ऊपर-ऊपर गँवार का चलना था। गयाधर पंडित की मूर्त्ति बिल्कुल भारतीय थी। गेशे ने पीछे जाकर उसका चित्र खींचा।

दोपहर बाद हम महंतराज से मिलने ताराप्रासाद में गये। उनकी 63 साल की उमर थी। डोनिर् छेनपो महंतराज के विश्वासपात्र अधिकारी थे, इसलिए उनसे बढ़कर परिचय देनेवाला कौन हो सकता था। हमने महंतराज की सेवा में पुस्तकें दीं। बातचीत हुई। उन्होंने पुस्तकों के दिखाने की इजाजत दे दी।

उस दिन हम नदी-पार के विहार का दर्शन कर आये थे, अब हमें पहाड़ के पचासों मन्दिरों को देखना था। हमारे ठहरने के स्थान के पास ही पुराने महंतराजों के स्तूप थे। इनके भीतर उनके शव रखे हैं। शवों के साथ मृत व्यक्ति की बहुमूल्य वस्तुएँ और पुस्तकों के रखने का रिवाज है। इन स्तूपों में न जाने कितनी तालपत्र की पोथियाँ होंगी; लेकिन, उनका दर्शन तभी हो सकता है, जब तिब्बत 15 वीं से 21 वीं सदी में आये। गोरिम् ल्हखङ् एक पुस्तकागार है। शाक्य श्रीभद्र इसी में ठहरे थे। यहीं उन्होंने साक्या पण्छेन् को पढ़ाया था। मन्दिर छोटा-सा है। इसमें भी कुछ पुराने चित्रपट हैं, लेकिन भारतीय नहीं। बगल में एक दूसरा

अँधेरा कमरा है जिसमें जाने पर थोड़ी देर बाद आँख ठीक करने में लगी। फिर भी दीपक मँगाने की जरूरत पड़ी। हमने सुना था, कि यहाँ हजारो ग्य-पोत् हैं। ऊपर कागज की बहुत-सी कुंडलियाँ रखी हुई थीं। हजार की संख्या चाहे न हो, लेकिन हैं वह बहुत। वह भला भारतीय पुस्तकें कैसे हो सकती थीं। लेकिन हैं वह भी महत्वपूर्ण। वह ब्लाक में छपी चीनी त्रिपिटक की पुस्तकें हैं और 13 वीं 14 वीं सदी की हो सकती हैं, अर्थात् मंगोल-शासन के आरम्भिक काल की। ठीक है, वह ग्य-पोत् हैं, किन्तु ग्यगर्-पोत् (भारतीय पुस्तक) नहीं, ग्यनक्-पोत् (चीनी पुस्तक) हैं। उनके नीचे लकड़ी के तख्तों पर बहुत-सी पुस्तकों की दो-दो, तीन-तीन हाथ मोटी छल्ली दूर तक फैली हुई थी—यह सब तिब्बती पुस्तकें थीं। हमने ङोर् में देखा था, कि कैसे तालपोथियाँ कागज की तिब्बती पोथियों में मिली हुई थीं। एकाएक गेशे के हाथ में एक पच्चीस इंच लम्बी, 4 इंच चौड़ी कागज की पुस्तक आई। देखने पर मालूम हुआ कि यह 'प्रमाणवार्तिक' के डेढ़ परिच्छेदों पर प्रज्ञाकरगुप्त का भाष्य—वार्तिकालंकार है। बड़ी महत्वपूर्ण पुस्तक हाथ लगी, इसमें सन्देह नहीं। हमारा उत्साह और बढ़ा, दूसरे दिन फिर देखने पर एक तालपत्र की पुस्तक मिली, लेकिन वह इतनी महत्व की नहीं थी। हम उस पुस्तक को साथ लाये। वहाँ से वूचे-ल्हखङ् में गये। यहाँ साक्या पण्छेन् (1182-1251 ई.) का चित्रपट था। उसका मैंने फोटो लिया। फिर चिदोङ् प्रासाद में गये। इसमें एक कमरा ग्यगर्-ल्हखङ् (भारतीय मन्दिर) है। यहाँ सात-आठ पाँतियों में बहुत-सी पीतल की मूर्त्तियाँ रखी हुई हैं, जिनमें बहुत-सी भारतीय हैं, कुछ तो बहुत ही सुन्दर और कुछ सातवीं-आठवीं सदी की हो सकती हैं। संवत् 1192 (1135 ई.) की एक जैनमूर्त्ति भी देखी। 28 मूर्त्तियाँ संगमरमर की हैं। इनमें से कुछ का हमने फोटो लिया। वहाँ से हम महाकाल के मन्दिर में गये। यहाँ ताँबे के कड़ाह में पानी रखा हुआ है। चामूकुशो दीर्घायुश्री ने बतलाया, कि यह पानी न कभी घटता है, न सूखता है और इसमें झाँकने पर बहुत-से अच्छे-अच्छे दर्शन होते हैं, भविष्य की बातें मालूम होती हैं। वह बहुत अँधेरे घर में रखा था, जिसमें दीपक के सहारे ही हम घूम-फिर सकते थे। उस कड़ाह का पानी प्रलय तक नहीं सूखेगा, यह तो बच्चों की-सी बात थी; लेकिन दर्शन होना स्वाभाविक है। उस अँधेरे में चिराग की हल्की रोशनी के साथ कड़ाह का पानी मेस्मरेज़िम के काले बुन्दे का काम दे सकता था और यदि श्रद्धाप्रधान आदमी का चित्त एकाग्र हो जाय, तो मस्तिष्क के भीतर के संस्कार इस दर्पण में उछल आ सकते हैं।

'प्रमाणवार्तिक-भाष्य' शाक्य श्रीभद्र के शिष्य विभूतिचन्द्र के हाथ का लिखा हुआ था, विक्रमशिला के ध्वंस होने पर शाक्य श्रीभद्र पहिले वारीन्द्र (पूर्वी बंगाल) में गये, वहाँ से नेपाल आये। नेपाल में साक्यालामा डग्पा-ग्यल्छन (1147-1216 ई.) के दूत ठोफूल्लोचवा के बुलाने पर साक्या आये, और कितने ही वर्ष यहाँ रहे। यहीं साक्या पण्छेन् उनका भिक्षु शिष्य बना। इसमें सन्देह नहीं, उनका यह योग्य शिष्य तिब्बत का सबसे बड़ा पंडित और विचारक हुआ। भारत में अभी कागज नहीं पहुँचा था, लेकिन तिब्बत में वह चीन के सम्बन्ध से 4 शताब्दियों पहिले ही पहुँच चुका था। भारत में जैसे तालपत्र सुलभ था, यहाँ वैसे ही कागज, इसलिए विभूतिचन्द्र ने 'वार्तिकालंकार' को कागज पर लिखा। इसमें मूलकारिकाएँ भी दी हुई थीं। हमने इसे उतारने का निश्चय किया। दूसरी पोथी में 11 पुस्तकों के खंडित अंश थे, जिनमें 'अष्टसाहस्रिका' और 'महाप्रतिसरा' के कितने ही पत्र थे। साक्या पण्छेन् के पिता तक साक्या-गुम्बा भिक्षु नहीं, एक गृहस्थ सामन्त का महल था। साक्या पण्छेन् भिक्षु थे और फिर 7, 8 पीढ़ियों तक साक्या की गद्दी पर भिक्षु ही बैठते रहे। साक्या पण्छेन् ने ही पहिले-पहिल मंगोलों में धर्मप्रचार किया। यह वह समय था, जब कि हिन्दुस्तान से बौद्धधर्म लुप्त हो रहा था और उधर मंगोलिया में जड़ जमा रहा था। साक्या पण्छेन् के भतीजे और उत्तराधिकारी फगूफा कुबलेखान का गुरु हुआ और तिब्बत का राज्य उसे गुरुदक्षिणा में मिला। यद्यपि 7, 8 पीढ़ियों तक भिक्षु गद्दी पर बैठते रहे, लेकिन गद्दी हमेशा अपने ही खानदान में रही; क्योंकि उत्तराधिकारी सदा भतीजा ही होता था। पीछे भिक्षु का नियम भी टूट गया और घर का गृहस्थ ज्येष्ठ पुत्र गद्दी पर बैठने लगा। आज भी वही बात चली आती है। आगे चलकर दो भाइयों ने अलग-अलग शादी की, और उनके डोल्मा (तारा), और फुनूछोग् दो महल हो गये। अब गद्दी पर एक बार डोल्मा महल का ज्येष्ठ पुरुष बैठता है, और उसके मरने पर दूसरे महल का ज्येष्ठ पुरुष। आजकल गद्दीधर दगूछेन् (महात्मा) रिम्पोछे डोल्मा महल के हैं। इनके बाद फुनूछोग्

महल का मालिक गद्दी पर बैठेगा। हम दूसरे दिन (14 अक्तूबर) फुन्छोग् महल गये। इनका स्वभाव लड़कों की तरह सरल है। रूप तो अच्छा नहीं है, लेकिन इनकी दोनों पुत्रियाँ और सबसे छोटे दोनों पुत्र बड़े सुन्दर हैं। चार, पाँच घंटे बात होती रही। उन्होंने बतलाया, गुरिम पुस्तकालय के घर की जब मरम्मत हो रही थी, उस समय पुस्तकों को हटाना पड़ा था, तब बहुत-सी तालपोथियाँ मिली थीं। उन्होंने कहा, और ढूँढ़ना चाहिए, पुस्तकें कहीं जरूर मिलेंगी। लेकिन उस यात्रा में यह पता नहीं लग सका कि वहाँ और तालपोथियाँ हैं।

अगले दिन मैंने वार्त्तिकालंकार के फोटे लिये, लेकिन अपने फोटो पर भरोसा नहीं कर सकता था, इसलिए लिखकर उतारने लगा। पोथियों की खोज के लिए गेशे जाते थे। दूसरे दिन वह तीन ताल पोथियों का बंडल ले आये। यह बंडल गुरिम्-लिम् ल्हखङ् से आई थी। इसमें बहुत-सी पुस्तकों के दो-दो, चार-चार पत्र थे। लोगों से मालूम हुआ कि तालपोथियों को धोकर पिलाने से बीमारी भी छूट जाती है, और पाप भी। धनी भक्तों को इन तालपत्रों से काट-काट के प्रसाद भी दिया जाता है। यह सुनकर मेरा हृदय विचलित हो गया। सैकड़ों वर्षों में भोट के दर्जनों मठों ने न जाने कितने अनमोल ग्रंथ इस तरह काट के बाँट दिये होंगे। उस वक्त मुझे लगा, कि बाहर रखकर प्रसाद बाँटने से लाख गुना अच्छा यही था, कि पुस्तकें स्तूप या मूर्ति के पेट में रहें। वह हमें देखने को नहीं मिल सकतीं, लेकिन हमारे भविष्य के विद्वान किसी न किसी समय उन्हें सुरक्षित पायेंगे। अब मैं पुस्तक उतारने में लग गया। गेशे पंडित गयाधर का चित्र उतार लाये। पता लगा कि गयाधर की मूर्त्ति के पासवाली किसी कोठरी में धर्मकीर्त्ति की मूर्त्ति है, जिसके पेट में 'प्रमाणवार्त्तिक' रखा हुआ है।

चाम्-कुशो न्यूने (उपवास) व्रत कर रही थीं। वही व्रत जिसे पहिली यात्रा में मैं दोपहर तक करके दंडवतों के मारे छोड़ बैठा था। व्रत में पहिले दिन मध्याह्न के बाद भोजन-त्याग करना होता है। दूसरे दिन निराहार रहना पड़ता है। तीसरे दिन भोजन ग्रहण करते हैं। 20 अक्तूबर को चाम्-कुशो का पारण था। वह पारण करके मेरे पास आकर बैठ गई। मैं पुस्तक लिखने में लगा था, और गेशे स्मृतिज्ञानकीर्त्ति की एक जीवन-घटना का चित्र बना रहे थे। स्मृतिज्ञानकीर्त्ति भारत के बहुत अच्छे पंडित थे। कोई तिब्बती विद्वान उन्हें धर्मप्रचार और अनुवाद के काम के लिए तिब्बत ले जा रहा था। विद्वान नेपाल में मर गया। यद्यपि स्मृतिज्ञान न भाषा जानते थे न देश से ही परिचित थे, लेकिन उनके दिल में इतना साहस भरा हुआ था, जिसे देखकर मैं तो अपने को उनकी चरणधूलि लेने के योग्य भी नहीं समझता। उन्होंने निश्चय किया कि पहिले भाषा पर अधिकार जमाना चाहिए। उन्होंने भिक्षु का कपड़ा छोड़ा। साधारण भोटिया का भेष लिया। शब् में कुछ दिनों तक भेड़ चराते रहे, लेकिन वह भारत के मार्ग पर था, इसलिए उन्होंने वहाँ अपने को सुरक्षित न समझ ब्रह्मपुत्र पार शिगर्चे से दो मील के रास्ते पर घुमक्कड़ पशुपालकों (डोक्पा) के इलाके ताना में 10, 12 वर्ष भेड़ चराने में बिताये। उनकी मालकिन बहुत कठोरहृदया थी। याक् का दूध दूहते वक्त थन ऊँचा पड़ता था, इसलिए स्मृतिज्ञान को कभी-कभी मोढ़ा बनना पड़ता था, जिस पर बैठकर मालकिन इत्मीनान से दूध दूहती थी।

पुस्तक उतारते वक्त कोई वैसी बात होती, तो गेशे से बोलता भी जाता था। वहाँ उस वक्त पोथी में एक जगह आया था—यह पूजा-पाठ सब लड़कों का खेल हैं। मैं और गेशे हँस रहे थे। उसी वक्त चाम्-कुशो आईं। उन्होंने पूछ दिया—क्या बात है। मैंने कहा, पोथी की बात है। उन्होंने कहा, मुझे भी सुनाइए। पोथी सुनाना तो आसान नहीं था, क्योंकि प्रज्ञाकर के गद्य-पद्यमय भाष्य का फिर लंबा भाष्य करना पड़ता। लेकिन चाम्-कुशो छोड़नेवाली नहीं थी और उनका हम पर पूरा अधिकार था। उनके पति गेशे के पांडित्य को देखकर और मेरे बारे में सुनकर बहुत बंधुत्व रखते थे। चाम्-कुशो वैसे चतुर स्त्री थी, पूजा-पाठ की पुस्तकें पढ़ भी लेती थीं, किन्तु हम दोनों के गुणों को वह सिर्फ सुनकर ही जान सकती थीं। हमारे खाने-पीने, आराम का उनको बहुत ध्यान था। इस काम को वह सिर्फ नौकर-नौकरानियों पर छोड़ने के लिए तैयार नहीं थीं। छुट्टी मिलने पर वह हम लोगों के पास आकर बैठतीं, कभी गेशे को चित्र बनाते देखतीं और कभी मेरी कलम को कागज पर चलते। गेशे के चित्र को वह समझ सकती थीं, मेरी कलम को नहीं; तो भी उस दिन उन्होंने हँसने की बात को जानने के लिए जिद किया। मैंने कहना शुरू किया—इसमें लिखा है : पूजा-पाठ लड़कों का खेल है, निस्सार है। चाम्-कुशो बेचारी दो ही दिन पहिले व्रत किए थीं, मैं अब दस दिन से इस घर में रह रहा

था, और स्नेह-सम्बन्ध के कारण अब संकोच नहीं रह गया था। मैंने कहना शुरू किया—"मालकिन ने तीन दिन का न्यूने व्रत रखा। आज पारण का दिन था। नौकरानी ने सूप बनाकर मालकिन के सामने रखा। शायद सूप फीका था या मालकिन का मिजाज भी झुँझलाया हुआ था। मालकिन ने सूप के प्याले को फेंक दिया और नौकरानी को चार चपत लगाए। कहो उस न्यूने का क्या पुन्य हुआ ?"

चाम्-कुशो एकाएक बोल उठीं—मैंने मारा नहीं, सिर्फ थोड़ा गुस्सा हुई। यह बिल्कुल संयोग था, मुझे उस घटना का कोई पता नहीं था। मैं सिर्फ पुजारिनों का मजाक करना चाहता था। चाम्-कुशो जिन्दगी-भर कहती रहेंगी, कि हिन्दुस्तान के लामा बड़ी दिव्यदृष्टि रखते हैं। मुझे आशंका हुई कि चाम्-कुशो कुछ नाराज होंगी, लेकिन उन्होंने उसका कोई ख्याल नहीं किया। चाम्-कुशो और डोनिर् छेनूपो को कोई सन्तान नहीं, चाम्-कुशो की आयु 35 साल की है, अब विश्वास नहीं, कि कोई बच्चा होगा। उनकी मौसेरी बहिन दिकीला भी साथ ही रहती थीं। दिकीला की एक छोटी-सी लड़की डोल्मा छेरिङ् (तारा दीर्घायुषी) को कुशो अपनी कन्या बना के पाल रहे थे। चाम्-कुशो के भाई डोनिरला ही अपने बहनोई के घर के भी उत्तराधिकारी थे, लेकिन उनको एक मरियल-सी कुछ महीनों की लड़की थी। यदि वह भी न रही (अगली यात्रा के वक्त तक वह बेचारी चल बसी थी) तो फिर दोनों घरों को मिलाकर बने इस एक घर का उत्तराधिकारी डोल्मा और उसका पति ही होगा।

अब सर्दी बहुत बढ़ गई थी, अक्तूबर समाप्त हो गया था। भोटिया दसवाँ महीना बारह-तेरह दिनों में शुरू होनेवाला था, जब से कि पोस्तीन पहिनना शुरू होता है। एक साल पहिले अंग्रेजी पोलिटिकल एजेन्ट मिस्टर विलियम्सन अपनी पत्नी के साथ साक्या आये थे। चाम्-कुशो कह रही थी—"क्या है, अंग्रेज चाम्-कुशो भिखमंगिन की तरह आई थी। न उसके कान में कोई आभूषण थे न कंठ में न हाथ ही में। और फिर पुरुष की तरह अपने ही कूदकर घोड़े पर चढ़ जाती थी।" मैंने कहा—लेकिन उसके पास धनुष-वाणवाला आभूषण होता है, तुम लोगों के पास बिना वाण का खाली-खाली धनुष होता है। उस चाम्-कुशो के धनुष-वाणवाले आभूषण में 25, 30 हजार की मोतियाँ और फिरोजे लगे होते हैं। उन्होंने कहा—मैंने तो उसके सिर कोई धनुष-वाण का आभूषण नहीं देखा। गेशे पहिले ही से मुसकराने लगे। मैंने हँसते हुए कहा—अंग्रेज चाम्-कुशो के धनुष-वाण को सिर्फ अंग्रेज मर्द ही देख सकते हैं।

फुनछोग् महल के स्वामी का बार-बार आग्रह रहता था और मैं उनके पास कई बार गया। उन्होंने दो पीतल और छै लकड़ी की मूर्तियाँ दीं और फिर आने के लिए आग्रह किया। 'वार्तिकालंकार' का यद्यपि मैं खंडित परिच्छेद (तीसरे का उत्तरार्द्ध) ही लिख सका, चौथे परिच्छेद को लिखने में नवम्बर को भी वहीं बिताना पड़ता। हमें चलने के लिए मजबूर होना पड़ा।

(4) नेपाल की ओर—साक्या में 17 दिन रहने के बाद 27 अक्तूबर को हम सवा आठ बजे वहाँ से रवाना हो गए। चाम्-कुशो के भाई से भी हमारा परिचय हो गया था। उन्होंने अपने गाँव मबूजा से 4 घोड़े हमारे लिए भेज दिये थे। घोड़े अच्छे थे। मैं, गेशे और आदमी घोड़े पर थे, चौथा आदमी घोड़े के ऊपर सामान लिये पहिले ही चल चुका था। साक्या छोड़ते वक्त हमें अफसोस हुआ। यहाँ इतने प्रियजन मिले, जितने तिब्बत में कभी नहीं मिले थे। और, यह बात उसी यात्रा में नहीं रही, बल्कि बाद में दो बार मुझे तिब्बत और जाना पड़ा, तब भी वह स्नेह उसी तरह बना रहा। आगे तो वहाँ 40 से ऊपर संस्कृत की पुस्तकें निकल आईं, जिन्होंने मेरे लिए साक्या को एक तीर्थ बना दिया। सवा तीन घंटा चलने के बाद साढ़े 11 बजे हम डोला जोत पर पहुँचे। चढ़ाई बहुत नहीं थी, लेकिन वह बहुत दूर तक थी। जोत पर से दक्षिण की ओर हिमालय की बर्फीली चोटियाँ दिखाई पड़ रही थीं। मील-भर पैदल ही उतरते रहे, फिर घोड़े पर चढ़ रास्ते में एक जगह चाय-सत्तू हुआ। अब हम मबूजा की चौड़ी उपत्यका में थे, जो उत्तर-दक्खिन चली गई है। जान पड़ता है, किसी वक्त इस उपत्यका में ज्यादा घनी आबादी थी। जगह-जगह उजड़े घरों और गाँवों के ध्वंसावशेष पड़े हुए हैं। कुछ जगह तो बड़ी-बड़ी दीवारें वैसी ही खड़ी हैं, जैसी वह बनने के वक्त रही होंगी। यदि उन पर छत रख दी जाय और किवाड़ लगा दिये जायँ, तो आज भी उनमें आदमी रह सकते हैं। ल्हादोङ् गाँव किसी वक्त बहुत बड़ा गाँव था। यहाँ एक बहुत बड़ा विहार भी था। लेकिन अब कुछ थोड़े-से घर बच रहे हैं। हमारी बाईं

ओर ओम्पा का ध्वंसावशेष है, जिसकी विशाल दीवारें अब भी खड़ी हैं। कहते हैं, पहिले यहाँ विधर्मी मोन् लोग रहते थे, जिनको राजा मिवङ् तोबूग्ये ने परास्त किया था।

एक मिवङ् पाँचवें दलाईलामा (1617-82) का मंत्री था, संभव है, उसी ने मबूजा की समृद्ध उपत्यका को बरबाद किया हो। उसकी सेना ने यहाँ के लड़ाके पुरुषों ही नहीं, बच्चों पर भी कितना गजब ढाया, इसे 'परास्त' शब्द से हम प्रकट नहीं कर सकते। 5 बजे हम मबूजा पहुँचे गए। कुशो डोनिरूला मिले। 10 बरस पहिले बने देवालय में हमें ठहराया गया।

मबूजा बहुत ही ठंडी जगह है। दूसरे दिन यहीं रहना था। 10 बजे दिन तक तो कम्बल ओढ़ के पड़े रहे, फिर कुशो डोनिरूला से बात होने लगी। तिब्बत के हर गाँव में घर का अलग-अलग नाम होता है, सरकारी कागजों में खेत इन्हीं घरों के नाम दर्ज होते हैं, घर के मालिक का नाम नहीं रहता। बड़ा लड़का घर का मालिक होता है। छोटे भाई यदि अलग शादी करें, तो हिस्सा नहीं, थोड़ा-सा खाने-पीने-भर को मिल जायगा। साक्या के राज्य (ग्यलूखब्) में प्रायः दो सौ गाँव और दो हजार घर हैं, खम्-प्रदेश में भी इसके कई गाँव हैं। पुत्र न होने पर पुत्री के लिए घरजमाई लाया जाता है, और वही घर का मालिक होता है। यदि पुत्री भी न हो, तो किसी रिश्तेदार को उत्तराधिकारी बना लेते हैं। कुशो डोनिरूला के पास काफी खेत थे, और उनके बहनोई तो अच्छे-खासे अमीर थे।

अगले दिन (29 अक्तूबर) हम 8 बजे यहाँ से चले। 33 सांग में तीन घोड़े तेरसा तक के लिए किये गये। तेरसा साक्या की जमींदारी है। वहाँ से दूसरे घोड़े आगे के लिए मिल जायेंगे, यह विश्वास दिलाया गया था। हम दोनों के पास भी एक-एक पिस्तौल थी। जो आदमी घोड़े के साथ चल रहा था, उसके पास भी पिस्तौल थी। आगे भी बहुत दूर तक मबूजा उपत्यका चली गई थी। मबूजा का अर्थ है मोर। किन्तु हिमालय जैसी सर्द जगह में मोर नहीं हो सकता, फिर ऐसा नाम क्यों रखा गया। मबूजा 14 हजार फीट से कम ऊँचा नहीं होगा, आसपास की चोटियों में सत्रह, अठारह हजार फीटवाली कई थीं। डोनिरूला ने बतलाया कि पहिले इन चोटियों पर बारहों महीने बरफ रहा करती थी, किन्तु अब कुछ ही महीने रहती है। एक नाले से सुगन्धित देवदार की लकड़ियाँ काटकर लोग ला रहे थे। पहिले वहाँ अच्छा-खासा जंगल था। लेकिन अब कोई उसकी रक्षा का ख्याल नहीं करता, सभी वहाँ से लकड़ियाँ काट-काटकर ले आते हैं। हो सकता है, तिब्बत में इसकी वजह से भी कितनी ही उपत्यकाएँ वृक्षशून्य बन गई हों। मबूजा का पानी कोसी में जाता है। यहाँ से दो दिन में हिमवाले पहाड़ों को पार कर देवदार और दूसरे वृक्षों से भरे जंगल में पहुँचा जा सकता है, अर्थात् साक्या के विहार में लगे बड़े-बड़े स्तम्भों का जंगल वहाँ से तीन ही दिन के रास्ते पर है। हाँ, चढ़ाई बहुत कठिन है और हजारों आदमी महीनों तक खींच-खींचकर एक-एक खम्भे को साक्या पहुँचाए होंगे। कोसी के किनारे-किनारे रास्ता बहुत खराब है। जहाँ तिङ्रीवाली नदी और मबूजा नदी का संगम है, वहाँ एक जगह रस्सी के सहारे नदी को पार करना पड़ता है। यदि पैदल चलने की हिम्मत होती, और हमें काठमांडो जाने की जरूरत न होती, तो वहाँ से सीधे धनकुटा होते नीचे जयनगर (दरभंगा) स्टेशन पर पहुँच जाते। इस रास्ते में आदमी ज्यादा नहीं मिलते। बस्तियाँ दूर-दूर हैं, फिर डाकुओं का डर तो ठहरा ही। हम निशा के इलाके में पहुँचे और रात को उसके गनूजङ् गाँव में ठहरे। अगले दिन (30 अक्तूबर) जब हम चलने लगे, तो घरवालों ने सोग्पो (मंगोल) लामा को चाय भेंट की। गाँववालों ने हाथ रखने के लिए अपने-अपने सिर झुकाये। मत्थे पर हाथ रखवाने के लिए सारा गाँव दौड़ पड़ा। घोड़ेवाले ने मुझे सोगूपो लामा कहकर ही प्रसिद्ध किया था। आगे एक बड़ी जोत पड़ी। जोत (ठङ्ला) पर से एक पाँच-छै मील के घेरेवाली झील दिखाई दी। उतराई के बाद मैदान ही मैदान था। छोङ् गाँव में चाय-सत्तू किया, फिर पौने 5 बजे हम देनू-वङ्-जुगू गाँव में रात के लिए ठहरे। आगे रास्ता चढ़ाई का नहीं था। उस दिन शाम को हम चकौर गाँव में आ गये। 5 साल पहिले सुमतिप्रज्ञ के साथ मैं इस गाँव से गुजरा था। पास में चिबूरी का पवित्र पहाड़ है।

अगले दिन (1 नवम्बर) चाय पीकर साढ़े 6 बजे ही हम चल पड़े। मेमों आया, और मुझे कुत्ता छूटने, सत्तू छोड़ चलने और सुमतिप्रज्ञ के नाराज होने की घटनाएँ याद हो आईं। डमूबा का डाकुओंवाला गाँव भी

पास में छूट गया और 12 बजे बाद हम तिङ्री पहुँच गये। पहिली यात्रा का दो दिन का रास्ता आज आधे दिन में खतम हुआ। तिङ्री में चाय पीने के लिए थोड़ा ठहरे। गेशे यहाँ के भोटिया पंडित पूरा-ग्यर्गेन से मिलने गये। उसी दिन पौने चार बजे हम तेरसा पहुँच गये। तेरसा गाँव नेपाल के रास्ते पर है। साक्या के अधिकारी ने हमारा स्वागत किया। सबसे अच्छे कमरे में ठहराया। दूसरे दिन (2 नवम्बर) खच्चर मिलने की सम्भावना नहीं थी, इसलिए हम यहीं रह गये।

पूरा-ग्यर्गेन के बारे में एक बड़ी ही मनोरंजक कथा मालूम हुई। वह बूढ़ा है, और बूढ़े को तरुणी भार्या बहुत प्रिय होती है। पुरा की बीवी ने किसी नौजवान खम्पा से प्रेम कर लिया। पुराने जोङ्पोन् के पास फरियाद की। खम्पा को खूब बेंत लगे। खम्पा पर कैसे बेंत पड़े, वह कैसे छटपटा रहा था, इस पर पुरा ने एक कविता बनाई। कविता बुरी नहीं थी। पुरा ने उसे अपने एक विद्यार्थी को लिखवा दिया था, जिससे हमने कापी करवा ली।

यहाँ एक तरह का खट्टा फल होता है, गेशे मना कर रहे थे। मैंने तजुर्बा करना चाहा और जिम्बू (जंगली प्याज) नमक, मिर्च डलवाकर चटनी बनवाई। गेशे कहाँ न खाने की कसम खा रहे थे, और अब कहने लगे—कुछ रास्ते के लिए भी बना के ले चलें। उनको डर था, इसके खाने से दाँत कोठ हो जायेंगे, लेकिन चटनी खाने में वह बात नहीं हुई।

हम जिस घर में ठहरे थे, उसकी खिड़की से चमो-लोङ्मा (गौरीशंकर या एवरेस्ट शिखर) बिल्कुल सामने और साफ-साफ दिखलाई देता था। हमारे गृहपति को पता था कि इसी साल अंग्रेजों का हवाई जहाज इस पर्वत-शिखर पर मँडराया था। उन्हें यह भी मालूम था, कि कई सालों से विदेशी लोग इसके ऊपर चढ़ना चाहते हैं। और लोगों की तरह उन्हें भी विश्वास था कि ऊपर हवाई जहाज के उड़ने से शिखर का देवता नाराज हो गया, जिसके कारण वह भूकम्प आया, जिससे बिहार में कई हजार आदमी मरे। मैं उनको बड़ी गम्भीरता से देवी-देवताओं की बात समझा रहा था। तिब्बत में देवी-देवताओं की काफी संख्या है। हमारे भारतीय देवता भी वहाँ बहुत-से पहुँचे हैं, उनके लिए बड़े-बड़े मन्दिर भी बने हैं। तिब्बती देवताओं की भी संख्या कम नहीं है, यद्यपि उनकी हालत बहुत खराब है—जहाँ तक खाने रहने का सम्बन्ध है। तिब्बत के देवताओं की मुख्य-मुख्य जातियाँ इस प्रकार हैं—

1. तो-टों-डक्-पा (श्मशानवासी)।
2. थो-गो-मेन-पा (आग मुँह से निकालनेवाला)।
3. डे-कु-शुं (सुर-सुर करके पीछे पड़नेवाला)।
4. शो-लं-दो-ड-शि (कोयले की भाँति काले मुँहवाला)।
5. चं-मर्-पो (लाल रंगवाला)।
6. शिन्-डे (चुड़ैल)।
7. थो-गो-क-रि (श्वेतकंकाल)।
8. थेब्-रङ् (दृष्टभूत)।
9. दक् (मरा कंजूस)।
10. तोङ्-डे-ठि-बा (भुलौना)।
11. तोङ्-डे-पी-वा (भाथी चलानेवाला भूत)।

भूतों के लिए तिब्बती लोग शाम-सवेरे छत के ऊपर थोड़ी-सी सत्तू की धूप दे देते हैं, फिर वह क्यों न नाराज होने लगे। चोला (गृहपति) ने पूछा—यह विदेशी लोग तो अपने भाग जाते हैं, और देवता नाराज होकर हम लोगों का नुकसान करते हैं। इस इलाके में भूकम्प से कोई नुकसान नहीं हुआ था। मैंने जब बतलाया कि हवाई जहाज में जलनेवाला स-नुम् (पेटरौल) देवताओं और भूतों के लिए बहुत बुरा होता है। इसके कारण हमारे देश के बहुत-से देवता भाग गये हैं, अब थोड़े-से रह गये हैं। उसको यह सुनकर बड़ी खुशी हुई, क्योंकि अब उसके खच्चरों की पीठ नहीं कटा करेगी, जूते से पैर नहीं कटा करेंगे, सैकड़ों तरह की बीमारियाँ नहीं

होंगी। अगले दिन (3 नवम्बर) 16 साङ्पर तीन घोड़े किराये पर मिले और हम 10 बजे रवाना हुए। उस रात लङ्कोर् में एक वैद्य के घर में रहे। 4 नवम्बर को सवा तीन ही बजे चल पड़े, देर होने पर थोङ्-ला जोत पर हवा बहुत तेज होती और यह जाड़ों के दिन थे। जल्दी चलने का भी कोई फायदा नहीं। सर्द हवा हड्डी को आरपार कर रही थी। साढ़े बारह बजे जोत पर पहुँचे। उतराई में बहुत दूर तक पैदल ही गये। एक जगह चाय-सत्तू खाया, डेढ़ घंटे विश्राम किया। रास्ते में पानी जमकर बर्फ हो गया था, जिसके ऊपर घोड़ों का पैर बहुत फिसलता था। 6 बजे अँधेरा होते-होते हम थुलुङ् गाँव में पहुँचे। एक बहुत ही गरीब घर में ठहरे। अगले दिन हम ञेनम् पहुँचनेवाले थे, इसलिए चावल और खाने की चीजों को ढोकर ले जाने की जरूरत नहीं थी। हमने ढाई-तीन सेर चावल घरवाले को दे दिया।

अगले दिन (5 नवम्बर) सबेरे 8 बजे रवाना हुए। घोड़ेवाले को ठहरने का स्थान बतला हम दोनों चल पड़े। वह गाँव भी आया, जिसमें सुमति ने पुत्र होने के लिए जन्तर लिखवाया था। पिछली बार हम असली रास्ते को दूर तक छोड़ कुछ हट गये थे, अब हम मुख्य रास्ते से चल रहे थे। कुछ दूर जाने पर एक ढालवाँ पहाड़ पर पुरानी बस्ती के चिह्न दिखाई पड़े। यहाँ जल भी है और जनसंख्या हो, तो एक अच्छा गाँव आबाद हो सकता है। वहाँ से उतरने पर जहाँ-तहाँ सैकड़ों चश्मे जमीन फोड़कर बहते दिखाई पड़े। यहाँ से पास ही वह मठ था, जिसमें सुमति के साथ हमने चाय पी थी। अब ञेनम् छै मील रह गया था, और पिछले पाँच मील का रास्ता बहुत खराब था। अन्तिम तीन मील तो कड़ी उतराई थी; और हमें पैदल चलना पड़ा। 4 बजे ञेनम् पहुँचे। योगमान साहु (नेपाली) के घर पर ठहरे। रात को बुखार आ गया। आगे घोड़े की आशा नहीं थी। रात से ही बरफ पड़ती मालूम होने लगी और वह दिन-भर कुछ न कुछ पड़ती रही। उस दिन हमें यहीं रह जाना पड़ा। हमारे पास काष्ठ पीतल की बारह मूर्त्तियाँ थीं और एक पोथी भी। नेपाली दीठा (राजदूत) से उनके लिए एक चिट्ठी लिख देने के लिए कहा, क्योंकि नेपाल से निकलने पर रोक-टोक हो सकती थी, लेकिन बेचारा चिट्ठी लिखने से घबड़ाता था। उसने कहा—मैं सरकार को लिख दूँगा।

39 नेपाली मोहर पर हमने तीन भरिया (भारवाहक) काठमांडो तक के लिए किये। भरियों ने कहा, हम तुरन्त आ रहे हैं। हम दोनों 11 बजे रवाना हुए। कुछ मील पर रास्ते में एक अकेला घर मिला, यहीं से वृक्ष-वनस्पति पहाड़ों पर दिखलाई देने लगे। यहाँ से आगे बढ़ने पर कुछ बर्फ भी पड़ने लगी। कहीं-कहीं रास्ता बहुत खराब था। साढ़े तीन घंटा चलने के बाद हम गरम पानी के कुंड—छक्सम् पहुँच गये। हमारे पास ओढ़ना-बिछौना या खाने-पीने की कोई चीज नहीं थी। शाम तक इन्तिजार करते रहे। खैर, खाने के लिए तो हमने घरवाली से इन्तिजाम कर लिया; रात को जाड़े के मारे ठिठुर जाते, लेकिन उसी समय अपने साहु की रजाई-बिस्तरा लिये एक आदमी चला आया। रात कट गई, दोपहर तक इन्तिजार किया। लेकिन कुलियों का अब भी कोई पता नहीं। दोपहर बाद धर्मवर्धन को देखने ञेनम् की ओर भेजा। सूर्यास्त के वक्त भरिया आये। रात को यहीं रहना पड़ा। नेपाली प्रजा एक शरूबा कह रहा था—नेपाल में तो हमारे कानून हैं, लेकिन भोटियों के यहाँ कोई कानून नहीं। जोङ्पोन् की जैसी मर्जी हुई, वही फैसला कर देता है।

अगले दिन (9 नवम्बर) 10 बजे तक खाते-पीते ही रह गये। रास्ता बहुत खराब था। रास्ते में उस घर का खंडहर मिला, जो पाँच साल पहिले बना था और चश्मा निकल आने से गृहपति ने घबड़ाकर डुक्पा लामा से वरदान माँगा था। वरदान झूठा हो गया और अंत में चश्मे के नाग ने इस घर को उजाड़कर ही छोड़ा। डाम् तीन मील रह गया था, तभी देवदार हमारे रास्ते से खतम हो गये। आज गर्मी भी मालूम हो रही थी।

रात को डाम् में रहकर दूसरे दिन 10 बजे फिर रवाना हुए। थङ्-थुङ् ग्यल्पो के जंजीरवाले पुल को पार करते वक्त गेशे काँपने लगे, वह बहुत हिल रहा था। थङ्-थुङ् ग्यल्पो कोई सिद्ध लामा था। वह हर जगह नदियों पर पुल बनवाता फिरता था। बनवाये होंगे दश-बीस या पचीस पुल, लेकिन पीछे तो हर जंजीरवाले पुल को थङ्-थुङ् ग्यल्पो का पुल कहा जाने लगा। 12 बजे हम नेपाली छावनी पर पहुँचे। सूबेदार आये। नाम लिखवा दिया। लेकिन, वह मधेस के आदमी को छोड़ने में डरते थे। 4 घंटे तक वहीं बैठे रहे। फिर चाय

पीने के लिए पिछले गाँव में जाने की छुट्टी मिली। साढ़े चार बजे हम जब आये, तो उन्होंने हमारे बक्सों को खोलकर देखा। फिल्म को पहचानकर कहने लगे–यह चोरबत्ती है। सूर्यास्त से पहिले ही हम तातपानी गाँव में पहुँचे। चुंगीवालों ने भी बक्स को खोल के देखा। गरम पानी में जाकर खूब नहाये। रात को हमारे गृहपति (लक्पा) ने नेपाली ढंग से साग, सेम और खेकसा की तर्कारी बनाकर भात के साथ खिलाया।

आगे जाने के दो रास्ते थे, एक ऊपर-ऊपर से और एक नीचे-नीचे से। ऊपरवाला रास्ता बहुत कठिन था, किंतु हमारे कुलियों ने उसी को पकड़ा। पहिले हमें नहीं मालूम था, लेकिन जब कठिन रास्ता शुरू हो गया, तो हम काफी दूर चले आये थे। बिल्कुल सीधी ही सीधी चढ़ाई थी, रास्ता पगडंडी का था। डाँड़े पर हमें शरबों का गाँव छङ्-चिङ् मिला। यह मुख्य रास्ता तो था नहीं, कि दूकानें मिलतीं। ऊपर की ठंड की मार खाये हुए थे, इसलिए हमें इस जगह भी जेठ-वैसाख की गर्मी मालूम होती थी। रास्ता आगे भी इतना कठिन था कि पैर की ओर छोड़कर इधर-उधर झाँकने में भी डर लगता था। वह एक सवा बित्ता से अधिक चौड़ा नहीं था। मैं तो मैदानी आदमी था ही, लेकिन गेशे भी काँप रहे थे। शरबों का गाँव गोमूथन मिला। यहाँ से रास्ता चौड़ा था। साढ़े 4 बजे यङ्लाकोट गाँव आया। अधिकांश बस्ती तमंगों की थी और 5 घर नेवार सेठों के। दो पासल (पण्यशाला–दूकान) थीं। भूख बहुत लगी हुई थी। हमने थोड़ा चिउड़ा-मिश्री लेकर खाया।

अगले दिन (13 नवम्बर) हम जलबीरा बाजार में पहुँचे। यह अच्छा-खासा गाँव है। दश-बारह दूकानें हैं। भरिया हमें नदी पार करा सामने की बस्ती फलम-साँकू में ले गये। एक दूकान में बैठकर भोजन बनाया। अब तिब्बत की सारी तकलीफें भूल गईं, और वहाँ के लोगों के गुन ही गुन याद आने लगे। यह ठीक है, वह लोग कभी-कभी रूखे दिखाई पड़ते हैं। यह भी निश्चय नहीं कि किस वक्त उनका कैसा मिजाज होगा। लेकिन जहाँ आदमी-आदमी के तौर पर आपका परिचय हो गया, तो उनका घर आपका घर है। अपने चूल्हे में पकाकर आपको खाना दे देंगे। बड़े-बड़े घरों की स्त्रियाँ भी चाय लेकर आपके सामने हाजिर होंगी। आप का दुख-सुख पूछेंगी, अपना कहेंगी। लेकिन यहाँ जलबीरा में अभी हम भारतीय सभ्यता के अंचल पर ही पहुँचे थे, कि एक-एक बात के लिए तरद्दुद दिखाई पड़ने लगा। बर्तन-भाँड़े का इंतिजाम करो, अपने हाथ से चूल्हा फूँको–जब कि रास्ता चलते-चलते शरीर थककर चूर हो रहा हो। बड़े घरों में तो बिना जान-पहिचान के शरण भी नहीं मिलती। छोटे घरों में उतनी जगह नहीं होती। फिर जनानखाना का सवाल अलग। और चौके-चूल्हे का सवाल तो तब हल होगा, जब आप अपनी 7 पीढ़ी उनसे मिलाएँ। खैर, हमारे कुली मौजूद थे, वह चाहे कोई जाति के हों, हम उनके हाथ का खाना खाने के लिए तैयार थे, उन्होंने खाना पकाया। ञेनम् से इधर घास-पात पर गुजारा होता आया था, यहाँ देखा कि आग में भुनी मछलियाँ बिक रही हैं और पाव-पाव भर तक की। हमने 7 मछलियाँ खरीदीं। कुछ पका के खा भी लीं, कुछ साथ लिये और दोपहर बाद चल पड़े। ऐसे ही हमें जेठ-वैसाख का मौसम अप्रिय मालूम हो रहा था, उस पर से धूप सामने की थी। धान के खेत बहुत थे और धान अच्छी जात का होता है। पहाड़ी डाँड़े पर बसे चौतरिया-बाजार में जब हम पहुँचे, तो सूर्य अस्त हो रहा था। एक दूकान में रात को जगह मिली। अगले दिन (14 नवम्बर) दो ही बजे हम सिपा गाँव में पहुँच गये, हमारे कुली इसी गाँव के थे। आज उन्हें अपने घर में रहना था। पपीता को यहाँ मेवा कहते हैं, हमने कोशिश की लेकिन मेवा नसीब नहीं हुआ। रात में दूध-भात और साथ लाई मछली का भोग लगाया। उस रात को खूब ज्वर आया।

लेकिन ज्वर आने से रास्ता चलना थोड़े ही बन्द किया जा सकता था। दूसरे दिन (15 नवम्बर) एक छोटे-से डाँड़े को पार कर 11 बजे इन्द्रावती नदी के किनारे पहुँचे। पेड़ खोखला करके दो नावें बनाई गई थीं। साढ़े पाँच आना नेपाली पैसा दिया, नदी पार हुए। कहीं-कहीं कठिन चढ़ाई थी। देवपुर गाँव में शाम के वक्त पहुँचे। भूकम्प से गिरे हुए कितने ही घरों को देखा। पांथशाला में डेरा डाला और रात को यहीं सो गए।

अगले दिन (16 नवम्बर) सूर्योदय से पहिले, ही बिना खाये-पिये चल पड़े। 9 बजे नलूदोम् (चीसपानी) के डाँड़े पर पहुँचे। यहाँ से नेपाल उपत्यका दिखाई पड़ती है, लेकिन उस दिन बादल था। कुलियों को खाना

बनाते छोड़ बारह बजे हम लोग साखू पहुँच गये। यह अच्छा-खासा कस्बा या शहर है। अट्ठारह आना (हिन्दुस्तानी नौ आने) देकर एक दूकान पर मिठाई-दही खाये। भूकम्प से गिरे मकानों को देखा। यहाँ तक मोटर का रास्ता आया है, किन्तु उस पर लारी नहीं चलती। सूर्यास्त के वक्त बौधा (महाबौधा) पहुँच गये। पिछली यात्रा में यहीं मुझे महीने-भर छिपकर रहना पड़ा था। चीनी लामा से बातचीत होती रही। उन्होंने पाँच दिन पहिले (11 नवम्बर) का 'स्टेट्समैन' पढ़ने को दिया। ग्यानूची छोड़ने (22 सितम्बर) के बाद अब जा के बाहरी दुनिया की खबर मिली।

17 नवम्बर को हम सवेरे ही धर्मासाहु के घर पर (47 तनूलाछी टोल, काठमांडु) पहुँच गये। साहु त्रिरत्नमान और ज्ञानमान दोनों घर पर ही थे। भरियों को मजूरी देकर बिदा कर दिया, कपड़े धोने के लिए दे दिये। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा के पास आने की सूचना दे दी। अब पहिली दिसम्बर तक यहीं रहना था।

किताबों के फिल्मों को धुलवाने पर वह बेकार सिद्ध हुए। काठमांडो और पाटन के शहरों को देखा। बहुतेरे मकान गिरे हुए थे। कितने ही स्तूप और मन्दिर ध्वस्त हो गये थे। इनमें पाटन का महाबोधि मन्दिर भी था।

एक दिन मैं घमूते हुए सुनयश्री के विहार की जगह पर पहुँचा। विहार गिर गया था। सुनयश्री की मिट्टी की मूर्त्ति टूटी हुई एक जगह रखी थी, सिर बच रह था, उसका मैंने फोटो लिया। सुनयश्री भोट गए थे और उन्होंने कुछ पुस्तकों के अनुवाद में सहायता की थी। मैं शाम को राजगुरु से मिलने गया, उस वक्त सुनयश्री के विहार का जिक्र किया, उन्होंने ठंडी साँस लेकर कहा—"वहाँ तो दिल दहलानेवाली घटना घटी है। उस विहार में पचासों बहुमूल्य तालपोथियाँ थीं। मैंने बहुत बार उन्हें देखने की कोशिश की, लेकिन गुभाजू (बौद्धपुरोहित) लोग दिखाने के लिए राजी नहीं हुए। भूकम्प की सहायता में मुझे भी काम करना पड़ता था। बरसात के बाद मैं एक दिन उस जगह पर पहुँचा तो पुस्तकें याद आईं। मैंने पूछा– वह पुस्तकें कहाँ हैं ? बताया गया—यहीं जमीन में। सारी बरसात-भर वर्षा पड़ती रही। उन पुस्तकों के लिए आशा क्या हो सकती थी, तो भी मैंने जल्दी-जल्दी कुछ आदमियों को बुलाकर उस जगह को खुदवाना शुरू किया। मेरी आँखों से आँसू निकल पड़े, जब मैंने पुस्तकें बाँधने की तखतियों को हाथ से उठाकर देखा, तो तालपत्र सड़कर कीचड़ हो गए थे।" मुझे भी इस घटना से बेहद दुख हुआ।

मैं अधिकतर राजगुरु की खंडित पुस्तक और गेशे की कंठस्थ भोटिया करिकाओं की मदद से 'प्रमाणवार्त्तिक' की कारिकाओं को क्रम से लगाने में लगा रहता था। पहिली तिब्बत-यात्रा से लौटकर धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' का महत्त्व मुझे इतना मालूम हुआ था, कि मैंने उसे तिब्बती से संस्कृत में करना शुरू किया था। पीछे श्रीजयचन्द्र विद्यालंकार ने खबर दी कि राजगुरु के पास 'प्रमाणवार्त्तिक' की संस्कृत प्रति मौजूद है। नेपाल के रास्ते लौटने का यह भी कारण था। मूलप्रति तो राजगुरु ने इटालियन प्रोफेसर तूची को दे दी थी, किन्तु खोजने पर उसका फोटो मिल गया। पत्रे इतने जीर्ण-शीर्ण थे, कि बहुतों के पृष्ठांक गायब हो चुके थे। कई दिन भिड़ने के बाद हमें मालूम हुआ, कि पुस्तक में दस पत्रे नहीं हैं। मैंने काठमांडो, पाटन और भातगाँव में पुस्तकों के देखने की बहुत कोशिश की, किन्तु कोई नई महत्त्वूपर्ण पुस्तक देखने को नहीं मिली।

21 नवंबर को हम विक्रमशिला-विहार (काठमांडू) देखने गए। यहाँ की मूर्त्ति असल में बुद्ध की है, लेकिन उसे सिंहसाथवाह बना दिया गया है। यदि ऊपर कपड़ा पहनाकर सार्थवाह बना दिया गया होता, तो भी बुरा न था, लेकिन यहाँ तो छेनी लेकर बुद्ध के शरीर के चीवर को काट डाला गया था, तो भी बाएँ हाथ से चीवर का कोना अब भी लगा हुआ है। अपने ही धर्मवाले अपनी मूर्त्ति के साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं, इसकी आशा नहीं की जा सकती थी। यहाँ भी कुछ संस्कृत पुस्तकें हैं, किन्तु उनका दर्शन श्रावण के महीने में मिल सकता है। एक कागज पर सोने से लिखी 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' भी है, जिसे नागार्जुन ने स्वयं अपने हाथ से लिखा था और वह सामनेवाले सरोवर में से निकली। कागज सरोवर में से निकले ! लेकिन, धर्म ऐसा कहता है, आप इनकार कैसे कर सकते हैं ? 12 वीं शताब्दी से पहिले हिन्दुस्तान में कागज का बिल्कुल रिवाज नहीं था, और नागार्जुन एक हजार बरस पहिले पैदा हुए थे, फिर वह कागज पर कैसे लिखेंगे, यह प्रश्न करने

की जरूरत नहीं। नागार्जुन अमर हैं, आज भी जिन्दा हैं, और क्या ताज्जुब है यदि वह मोनोटाइप और रोटरी मशीन में 'अष्टसाहस्रिका' को छाप रहे हों। स्वयंभू स्तूप को भी देखने गये। यहाँ भी चारों कोने की पीतल की चार बुद्धमूर्त्तियों के चीवरों को नष्ट करके उन्हें भूषण पहिनाया गया है।

अबकी यात्रा में दो-तीन राजवंशी पुरुषों से भी भेंट करनी पड़ी। मृगेन्द्र शमशेर राणावंश के प्रथम एम. ए. हैं, दर्बार पुस्तकालय के वही अध्यक्ष हैं। मुझे पुस्तकालय की कुछ पोथियों को देखना था, इसके लिए उनके पास भी जाना पड़ा। कुछ और बातों के साथ तिब्बत की राजनीति पर भी बात चल पड़ी। जब मैंने कहा कि नेपाली व्यापारियों को साथ में अपनी स्त्री ले जाने की इजाजत नहीं है, तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ।

28 नवम्बर को दोपहर में जनरल केसर शमशेर के पास जाना पड़ा। वह बहुत सीधी-सादी पोशाक में थे। इनको विद्या का शौक है। 500 से ऊपर हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है। उन्होंने मेरी 'बुद्धचर्या' को पढ़ा था। पुस्तक पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा, मैंने हस्ताक्षर कर दिया। मूर्त्तियों और चित्रों के संग्रह से मालूम होता था, कि उनको कला से भी रुचि है। इन सबके साथ जनरल केसर नेपाल राज के विदेशमन्त्री भी थे। यह जरूरी नहीं कि एक ओर आदमी साहित्य, कला और कोमल विचारों के लिए प्राण दे रहा हो, और दूसरी ओर अपने आसपास में धायँ-धायँ करके जलती नरक की लपटों को देखकर उसे कोई पर्वाह न हो।

एक दिन (1 दिसम्बर) जनरल मोहन शमशेर के यहाँ भी जाना पड़ा। उनके यहाँ जाने के लिए मेरा कोई प्रयोजन नहीं था, लेकिन उन्होंने धर्ममानसाहु से कह रखा था—बौद्धसंन्यासी के आने पर मुझसे जरूर मिलाना। मैं आठ, नौ मिनट वहाँ रहा होऊँगा। मैं कोई दरबारी तो था नहीं, कि विरुदावली पढ़ने लगता; शायद उनको भी मुझसे किसी बात के जानने की इच्छा न थी। तो भी उनका बरताव शिष्टतापूर्ण था। बौद्धधर्म ईश्वर को नहीं मानता, यह सुनकर वे बहुत चकित हुए।

रात को ज्वर आ गया था, लेकिन अगले दिन (2 दिसम्बर) को हमने प्रस्थान कर ही दिया। हमारे साथ त्रिरत्नमान साहु भी थे। थानकोट तक मोटर से आये। सवारी के लिए घोड़ा मिल गया था, इसलिए चन्द्रागढ़ी की चढ़ाई में कोई तकलीफ नहीं हुई। चित्लाङ् पहुँचते-पहुँचते जोर का बुखार आ गया। घोड़ा न लाये होते, तो बहुत मुश्किल होती।

सवेरे बुखार नहीं था। चीसपानी (सीसागढ़ी) की चढ़ाई भी मुश्किल नहीं मालूम हुई। 11 बजे चीसपानी पहुँचे। कुली अभी पीछे थे। एक बजे फिर ज्वर आरम्भ हुआ, इसलिए गेशे को साथ ले मैं भीमफेरी चल पड़ा, घंटे-भर में वहाँ पहुँच गया। त्रिरत्नमान साहु और भरिया तीन बजे पहुँचे। पता लगा कि कस्टमवालों ने 'प्रमाणवार्त्तिक' और 'वार्त्तिकालंकार' की फोटो कापियों को रोक लिया। राजगुरु का घोड़ा यहाँ से लौट रहा था, मैंने फोटो के बारे में उनको चिट्ठी लिख दी।

साढ़े 3 बजे हमारी मोटर लारी चली। रास्ते में चार जगह राहदानी और दो जगह बक्स देखनेवाले आये। शाम के वक्त अमलेखगंज पहुँच गये। रात को खूब बुखार रहा, नींद नहीं आई, अन्न तो दो दिन से छूट गया था।

अगले दिन सवा तीन बजे तक यहीं रहना पड़ा। अब बाजार पहिले से ज्यादा बढ़ गया है। हिन्दू होटल भी खुल गये हैं। बुखार तो नहीं था, लेकिन कंठ में खरास-सी हो रही थी। सवा तीन बजे रेल मिली। अँधेरा होने से पूर्व ही रक्सौल पहुँच गये। आठ बजे रात को सुगौली की गाड़ी मिली। भूकम्प के कारण जो रास्ते टूट गये थे, वह नौ महीने बाद करीब-करीब तैयार हो चुके थे। सुगौलीवाली लाइन तो अभी-अभी चार दिन पहिले खुली थी। यहाँ से मुजफ्फरपुर की गाड़ी पकड़ी। चार बजे गंगा-तट जानेवाली गाड़ी मिली। आठ बजे, गंगातट पर पहले जा घाट पहुँचे, फिर जहाज से महेन्द्रू जा 11 बजे (5 दिसम्बर) जायसवालनिवास में पहुँच गये।

14
भारत के जाड़ों में

5 दिसंबर (1934 ई.) से 2 अप्रेल (1935 ई.) तक चार महीने मुझे भारत में रहना पड़ा। गले की खरास और बुखार तो साथ ही लाया था, अब थूक घोटने में भी असह्य पीड़ा होने लगी। वैद्यक और होमियोपैथी की दवा होने लगी। होमियोपैथी को तो मैं साधुओं की खाक-भभूत और ओझा-सोखा की लबंग से अधिक महत्त्व नहीं देता, लेकिन जायसवालजी का विश्वास था। मैंने कहा, इसका भी तजरबा कर लें। पीड़ा और बढ़ी, फिर डाक्टर हसनैन को बुलाया गया। हमारे वैद्य और होमियोपैथिक डाक्टर बिना रोग पहचाने ही दवा देते जा रहे थे। डाक्टर हसनैन ने कहा कि यह टोनसिल है, चिरवाने से ही अच्छा होगा। दूसरे दिन उन्होंने आकर चीर दिया। मैं अस्पताल में चला गया। दर्द उस रात को बहुत था, और ज्वर भी 100 डिगरी का। दूसरे दिन (8 दिसम्बर) उन्होंने फिर थोड़ा अस्त्र चलाया। अब दर्द बिल्कुल खतम हो गया। मुझे तो कोई शिकायत नहीं हो सकती थी, लेकिन मैं देखता था कि गरीब बीमारों की कोई पर्वाह नहीं करता। अगले दिन मैं अस्पताल से चला आया। धूपनाथ भी आ गये। उनसे बड़ी देर तक बातचीत होती रही। धूपनाथ का आग्रह था, कि नालन्दा की भूमि के मूल्य के लिए मुझसे ही रुपया लिया जाय। नालन्दा के बारे में मैं अब कुछ ढीला पड़ने लगा था। 12 दिसम्बर को श्रीमती बोसी सेन आईं, उन्होंने 'एसिया' (अमेरिकन) पत्र के लिए तिब्बत की चित्रकला पर एक लेख लिखने के लिए कहा। मैंने उसे स्वीकार किया।

18 (दिसम्बर) तारीख तक अभी कुछ कमजोरी थी। अगले दिन आनन्दजी, जयचन्दजी, धूपनाथ और गेशे के साथ राजगिर गये। राजगिर में अब आबादी बढ़ रही थी, तप्त कुंड में नहाने के लिए ज्यादा आदमी आने लगे थे। हम गृद्धकूट मनियरमठ, सोनभंडार आदि पुराने स्थानों को देखने गये। दूसरे दिन नालन्दा पहुँचे। भोट-ग्रंथों में नालन्दा में 14 महाविहारों के होने की बात लिखी है, लेकिन अभी यहाँ 11 ही खोदे गये थे। उसी दिन हम पटना चले गये।

23 दिसम्बर को जब मैं बनारस स्टेशन पर उतरा, तो साक्या के फुनूछोग् महल के दगूछेन, रिम्पोछे का पत्र मिला, वह शिकम पहुँच गये थे। मैं बड़ी कोशिश में था कि उनकी कुछ प्रतिसेवा कर सकूँ, लेकिन वह जल्दी-जल्दी भी आये और लौट भी गये। सारनाथ होकर 25 तारीख को प्रयाग पहुँच गया। विनयपिटक का अनुवाद मैंने ल्हासा में किया था, और अब वह लॉ-जरनल प्रेस में कम्पोज हो रहा था। 10, 11 फार्म का प्रूफ भी मिला। मैं डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद के यहाँ ठहरा। 24 दिन प्रयाग में ही रहना पड़ा, ज्यादातर काम था प्रूफ देखना। 'वादन्याय' को भी लॉ-जरनल प्रेस में छापने के लिए दे दिया। गेशे एक हफ्ता मेरे साथ रहे, फिर वह सारनाथ चले गये। मैंने अबकी तिब्बत-यात्रा को भी लिख डाला। वह अभी प्रेस में नहीं गई, हाँ, 'साम्यवाद ही क्यों' प्रेस में चला गया।

12 जनवरी को 28 साल बाद पुराने मित्र महादेवप्रसाद जी (सादाबाद, हँडिया) मिले। कहाँ उस वक्त 14, 15 बरस के नवतरुण और कहाँ अब 42, 43 बरस के अर्धवृद्ध–हमारे देश में चिन्ताएँ ज्यादा हैं, इसलिए वर्षों का बोझ बहुत भारी होता है। अब उनके चेहरे पर बुढ़ापे का असर था। तरुणाई ने उन्हें भी एक बार कलकत्ता तक छलाँग मारने के लिए मजबूर किया था, लेकिन फिर वे हिम्मत हारकर बैठ गये। नून, तेल, लकड़ी की फिकर ने सारे जीवन को ले लिया। मैं छलाँगों पर छलाँगें मारता रहा, और अब भी नई छलाँगों के लिए उतना ही उत्साह है। मैं मरूँगा भी तो छलाँगें मारता ही।

जिस वक्त मैं तिब्बत की चित्रकला के ऊपर लेख लिख रहा था, उसी वक्त भारतीय चित्रकला के बारे में भी कुछ विचार आये थे। मुझे विश्वास नहीं, कि मैं इस विषय पर कलम उठाऊँ, किन्तु मैंने उस समय भारतीय चित्रकला को सात कालों में विभक्त किया था–(1) मौर्य (300 ई. पू.), (2) गन्धार कुषाण (100 ई.), (3) गुप्त (500 ई.), (4) अन्तिम हिन्दू (1000 ई.), (5) मुगल (1600 ई.), (6) राजपूत (1700 ई.),

(7) आधुनिक (1900 ई.)।

पहले दो कालों के चित्रों के मिलने की बहुत कम सम्भावना है, लेकिन उस वक्त की उत्कीर्ण मूर्त्तियों से हम कुछ-कुछ चित्रकला का अनुमान कर सकते हैं। उस काल की चित्रकला में स्वाभाविकता ज्यादा रही होगी। तृतीय-चतुर्थ काल के चित्रों में स्वाभाविकता कम और कल्पना ज्यादा होती है। चित्र सुन्दर होते हैं, खास करके गुप्तकालीन चित्र तो अपनी कोमल रेखाओं के लिए अद्वितीय हैं। त्रिभंगी आकृतियाँ बड़ी आकर्षक लगती हैं। पाँचवें काल में ईरानी प्रभाव अधिक है। छठे काल की चित्रकला मुगल चित्रकला का भारतीकरण है। सातवें काल की हमारी आधुनिक चित्रकला गुप्तकालीन चित्रकला से अधिक प्रभावित है।

पं. अवध उपाध्याय एक प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। हमारे अभागे देश को बहुत-सी प्रतिभाओं से वंचित होना पड़ा है। हमारे देश में अधिकतर लोग गरीब हैं। प्रतिभाएँ भी अधिकतर गरीबों के घरों ही में पैदा होती हैं। न उन्हें पढ़ने का मौका मिलता है, न आगे बढ़ने का। अवध उपाध्याय एक ऐसे ही प्रतिभाशाली पुरुष थे। गणित की ओर उनका दिमाग बहुत चलता था। एक विषय में असाधारण होने पर यह कोई जरूरी नहीं है कि और विषयों में वैसी ही रुचि हो। अवध उपाध्याय किसी तरह मैट्रिक पास हो गये लेकिन आगे पढ़ने के लिए उनके पास साधन नहीं थे। वह पुराने ही वातावरण में पले थे, इसलिए ब्राह्मणों के छुआछूत, जातपात की सारी बीमारियाँ उनके सिर पर सवार थीं। कितने ही दूसरे भारतीयों की तरह उनको भी सनक थी कि हिन्दुस्तान की सारी पुरानी बेवकूफियाँ किसी वैज्ञानिक आधार पर स्थापित हैं—साढ़े तीन हजार वर्ष पुराने हमारे ऋषि ज्यादा उर्वर मस्तिष्क रखते थे, इसलिए गऊ के खुर-भर की चोटी रखनी चाहिए; अंगुल-भर मोटा जनेऊ भी गले में डालना चाहिए, माघ-पूस के जाड़े में कपड़ा उतारकर कूदकर चौके में जाना चाहिए। किसी समय जब श्रीचिन्तामणि शिक्षामन्त्री थे, तो उन्होंने अवध को छात्रवृत्ति दे विलायत भेजना चाहा, मगर वह म्लेच्छों के देश जाने के लिए क्यों राजी होते ? कलकत्ता विश्वविद्यालय के विधाता सर आशुतोष मुकर्जी को उनकी प्रतिभा का पता लगा। अवधजी कलकत्ता बुलाये गये; लेकिन, आशुतोष ज्यादा दिन जीवित नहीं रह सके। अवधजी ने उच्च गणित के कुछ विषयों पर लेख लिखे थे, जो यूरोप की प्रतिष्ठित अनुसन्धान-पत्रिकाओं में छपे थे। उनकी सराहना भी हुई थी। कुछ दिनों वह फड़फड़ाये जरूर, लेकिन देखा, कुछ फल नहीं होता, फिर भाग्य पर सन्तोष करने के सिवा और क्या करते ? अब वह किसी स्कूल में मास्टरी कर रहे थे। मैं सोचने लगा—यह तो प्रतिभा को जिबह करना है। अभी तक मेरा उनसे साक्षात् परिचय नहीं हुआ था, लेकिन मैंने कोई भी शिष्टाचार दिखाये बिना सीधे तौर से चिट्ठी लिखी—प्रतिभा को इस तरह से बरबाद करने से मर जाना अच्छा है। 18 जनवरी को उनका पत्र आया, उन्होंने विदेश जाने के लिए अपने को तैयार कहा और साथ ही कुछ कठिनाइयाँ भी बतलाईं। 17 फर्वरी को वह प्रयाग आये। फिर हमारी खुल के बातें हुईं। अपनी लिखी पुस्तकों से सौ-डेढ़ सौ रुपये महीने में आ जाया करते थे। मैंने हिसाब लगाकर बतलाया, कि इतना रुपया काफी है। एक दूसरे मित्र के पास उन्हें और उत्साहित कराने के लिए ले गया। लेकिन, मित्र इन कठिनाइयों में नहीं पले थे, और न उन्हें साहसी जीवन का क-ख ही मालूम था। उन्होंने अनुत्साहजनक बातें ही बतलाईं, खासकर यूरोपीय विश्वविद्यालयों में डाक्टर-उपाधि के लिए प्रवेश करने की कठिनाइयों का भयंकर चित्र खींच दिया। हम दोनों लौट आये। मैंने अवध जी से कहा—इनकी बातों को यहीं पल्ला झाड़कर चलिए; गणित में मेरी भी किसी वक्त रुचि थी, मैं नहीं कह सकता कि यदि गणित को अपनाये होता, तो कहाँ पहुँचता। मैं यह नहीं बतला सकता, कि गणित के किन-किन विषयों की कहाँ-कहाँ अच्छी शिक्षा होती है, और कौन-कौन वहाँ श्रेष्ठ गणितज्ञ हैं। लेकिन मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, कि विश्वविद्यालय में प्रवेश करने में जरा भी दिक्कत नहीं होगी। आपके लेख भी अनुसन्धान पत्रिकाओं में छपे हैं। यदि आप प्रतिभा को मस्तिष्क के भीतर छिपाये ही वहाँ पहुँच जाते, तो भी आपके लिए दरवाजे बन्द न होते। अवधजी दो-तीन दिन रहे। और उन्होंने कहा—"अब मैं कोई पर्वाह नहीं करता, मैं फ्रांस जाऊँगा। वहाँ कुछ भी खाना-पीना पड़े, मैं उसकी पर्वाह नहीं करता।" उस वक्त भी उपाध्यायजी की उमर 45 के पास थी। मैं जानता था, उनके जीवन के बहुमूल्य 25 वर्षों को हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था ने चौपट कर डाला है। गधों के लड़के गधे ट्यूशन लगा-लगाकर

आगे बढ़ाये जाते हैं, सिर्फ इसलिए कि वह धनी हैं और प्रतिभाएँ रास्ते में धूल फाँकती फिरती हैं। जिस एक बात ने मुझे आज के समाज का अधिक कट्टर दुश्मन बना दिया है, वह है प्रतिभाओं की अवहेलना। प्रतिभाएँ सिर्फ शौक की चीजें नहीं हैं। यह राष्ट्र की सबसे ठोस, सबसे बहुमूल्य पूँजी है। विज्ञान के एक-एक आविष्कार ने दुनिया को समृद्ध बनाने के लिए कैसे-कैसे साधन प्रदान किये हैं ? जो वर्ष बीत गये, वह बीत गये, लेकिन अवधजी के हाथ में तो अभी और भी वर्ष थे–मुझे बहुत दुख हुआ कि उस संकल्प के बाद कुल 6 ही वर्ष वह और जी सके। वह फ्रांस गये। वहाँ डाक्टर की उपाधि पाई। भारत के कालेजों और विश्वविद्यालयों में "सब धान बाईस पंसेरी" बहुत चलता है। किसी विश्वविद्यालय को उठा लीजिए, और एक-एक चेहरे पर एक-एक नजर डालिए। इसमें शक नहीं कि वहाँ टोप, नेकटाई, और कोट ज्यादा दिखलाई पड़ेंगी, लेकिन उन टोपों के नीचे की पीली मज्जा को तौलिये, तब मालूम होगा कि हम क्या देख रहे हैं। सिर्फ खुशामद के भरोसे, सिर्फ बेटा-दामाद और चचा-भतीजा होने के कारण वहाँ पचास फीसदी गधे, खच्चर, टट्टू भरे हुए हैं। और जिनके हाथ में विश्वविद्यालयों का संचालन है, उनमें तो और भी कम योग्य आदमी दिखाई पड़ते हैं : अवधजी जैसे योग्य आदमी के लिए जब किसी कालेज या विश्वविद्यालय में जाने की बात आई, तो वही दिक्कतें आने लगीं। खैर, उनको लखनऊ यूनिवर्सिटी में गणित-सम्बन्धी अनुसन्धान में छात्रों की सहायता करने का काम मिल गया। वह अपना सारा समय उसी में लगाना चाहते थे। लेकिन मृत्यु ने उन्हें दो-तीन वर्ष भी काम नहीं करने दिया।

बनारस (20 जनवरी) में विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने व्याख्यान देने गया। मेरी बातें बूढ़ों को जरूर कड़ी मालूम होती थीं–यद्यपि मेरे शरीर पर भिक्षुओं का पीला कपड़ा था, लेकिन मेरी बातों में धर्म के साथ कोई रू-रियायत नहीं होती थी।

पता लगा, भिक्षु उत्तम चाहते हैं, कि पाली-त्रिपिटक हिन्दी अक्षरों में छापा जाय। मैं त्रिपिटक में से 'बुद्धचर्या', 'धम्मपद', 'मज्झिमनिकाय' का अनुवाद कर चुका था। 'विनयपिटक' का अनुवाद भी प्रेस में कम्पोज हो रहा था। मालूम नहीं, तब तक कोई प्रकाशक मिल गया था या नहीं, 'माड़ौ गाड़कर वर-ढुँढाई' की नीति मैंने कुछ-कुछ इधर अपना ली थी। लॉ जरनल प्रेसवाले भी विश्वास करने लगे थे, कि माड़ौ गाड़ने में सहायता देने में कोई हर्ज नहीं। हिन्दी पुस्तकों के बारे में मैं ऐसा कर सकता, लेकिन पाली त्रिपिटक के लिए मैं वैसा करना नहीं चाहता था। 23 जनवरी को कलकत्ता गया, तो भिक्षु उत्तम मिले और तय हुआ कि 'खुद्दकनिकाय' के कुछ ग्रंथों की पहिली जिल्द निकाली जाय। इधर मैं जब प्रयाग में था, तो एक दिन पंडित ब्रजमोहन व्यास ने कागज को दूर रखकर मुझे पढ़ते देखा। उनकी सलाह हुई, और कलकत्ता से हमने चश्मा मँगा 42 वर्ष की उम्र (27 जनवरी) से चश्मा लगाना शुरू किया। 28 जनवरी को गया में था। श्री मोहनलाल महतो के यहाँ कुछ गप-शप होती रही। बोधगया मन्दिर की वही दुर अवस्था थी। बुद्ध की मूर्ति के सिर में त्रिफटा का चन्दन और गेरुआ कफनी पड़ी हुई थी।

यथार्थवाद की ओर मैं कितना बढ़ चुका था, यह 2 फर्वरी की डायरी में लिखी इन पंक्तियों से मालूम होगा–"चीजों का मूल्य वर्तमान में है, और वह कितने मिनटों तक रहता है ?" अतीत की स्मृतियों को भी मैं प्यारी वस्तु मानता था। मधुर सम्बन्धों की स्मृति दुनिया में सबसे मधुर वस्तु है।

28 जनवरी से 23 फर्वरी तक प्रयाग में ही अपने पुस्तकों के काम में लगा रहा। उस वक्त (3 फर्वरी) त्रिवेणी तट पर अमावस्या की बड़ी भीड़ थी। मैं भी दो-एक मित्रों के साथ रेती में घूमने गया था। यकायक गोरखपुर के एक वृद्ध ने पैर पकड़ लिया। पीले कपड़ों में हृष्ट-पुष्ट शरीर को देखकर उसने समझा होगा, कि यह कोई दिव्य पुरुष है। मैं कितना ही कहता रहा, लेकिन वह बिना कुछ खिलाये छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उस वक्त प्रूफ, फोटो से 'वादन्याय' का उतारना आदि-आदि इतने ज्यादा काम थे, कि कभी-कभी रात को पाँच-पाँच बजे तक जागना पड़ता था। 29 फर्वरी को मैं पहिला फिल्म ('चंडीदास') देखने गया, मुझे वह बिल्कुल बुरा लगा। इससे पहिले 1930 में सिर्फ एक अंग्रेजी फिल्म देखा था, लेकिन वह मूकचित्रपट था। छपरा (24 फर्वरी) भी गया और सीवान (25-27) भी। छपरा में तो अपने पुराने दोस्तों से मिलना था और सीवान

में श्री प्रशान्तचन्द्र चौधरी से। चौधरी तरुण आई. सी. एस. थे। ऐतिहासिक अनुसन्धान से उन्हें बहुत प्रेम था। उन्होंने मेरे लिए तिब्बत में केमरा भेजा था। गेशे भी आजकल उन्हीं के यहाँ थे। उस वक्त वह सीवान में सबडिविजनल मजिस्ट्रेट थे। उनके न्याय और प्रजावत्सलता की बहुत-सी कहानियाँ मशहूर हो चुकी थीं। वह बहुत ज्यादा मुकदमों को सुलह करवा देते थे। एक कहावत मशहूर थी–धोबी अपने गधे पर बहुत अधिक बोझ लादे हुए आ रहा था। गधा मजिस्ट्रेट साहेब के बँगले के सामने आकर चिल्लाने लगा। मजिस्ट्रेट साहेब बाहर निकल आये। उन्होंने धोबी से कहा–यदि इतना बोझ तुम्हारे ऊपर लादा जाय, तो बताओ तुम्हारी क्या गति होगी ?

यहाँ भी मैं अपने साथ प्रूफ लाया था, और जब चौधरी साहेब कचहरी जाते, तो मैं प्रूफ का काम करता रहता। धूपनाथ मेरे प्रिय थे, यह कैसे हो सकता था, कि मैं कहीं आसपास में होऊँ और वह न आवें। चौधरी साहेब के यहाँ चीनी रसोइया था। फिर भक्ष्याभक्ष्य का सवाल ही क्यां हो सकता है ? दुनिया में कौन-सा भोजन है, जिसका तजर्बा चीनियों ने न किया हो ? धूपनाथ का भोजन मुसल्मान चपरासी अपने हाथ से लाया। उसने अपने ही जिले के एक हट्टे-कट्टे आदमी को मेज पर बैठे खाते देखा, वह बहुत चकित हुआ। मालूम नहीं, धूपनाथ घबराये कि नहीं। धूपनाथ के साथ पहिला परिचय 9 साल पहिले हुआ था। उस वक्त उनके ऊपर वैराग्य और वेदान्त का जबर्दस्त भूत सवार था। घरवाले बहुत परेशान थे। मैं भी साधू-फकीर था, और पास ही परसा स्थान का एक विद्वान साधू। त्याग के लिए क्या कहना था, जबकि एक कालीकमली की अलफी और लँगोट-भर से वास्ता था। धूपनाथ दो-चार साधू-संन्यासियों की मार खाये हुए थे, उन्हें सन्तोष नहीं हुआ था। समझा होगा, इस कालीकमली में कोई गुन है। वह मेरे पास आये। पहिले मैंने उन्हें 1926 के कौंसिल एलेक्शन में जोत दिया। उस साल कांग्रेस ने पहिले-पहिल अपने आदमियों को खड़ा किया था। इसके बाद जाड़ों में मैं जब कभी भी आता, धूपनाथ या तो मेरे पास आते या मैं सुल्तानगंज चला जाता। वह मेरी बातों और पुस्तकों से ईश्वर और वेदान्त के फन्दे से छूटे। लेकिन गुरु गुड़ ही रह गया, चेला चीनी हो गया–मैं अभी धर्म की बहुत-सी बातों से दूर तो हो गया, बौद्ध के निर्वाण को भी बेकार की चीज समझता था, लेकिन बौद्धिकवाद में पूरा पैर डालने में एक बात बाधा डाल रही थी, वह थी पुनर्जन्म की कल्पना। पुनर्जन्म पर मुझे विश्वास था, यह बात नहीं थी। लेकिन अभी मैं उसे साफ इनकार करने के लिए तैयार नहीं था। धूपनाथ को पहिले ही रोशनी मिल गई, उन्होंने एक दिन कहा–यह पुनर्जन्म भी केवल झूठी कल्पना है।

सीवान से गेशे और मैं दोनों कसया (कुसीनारा) गये। कसया बुद्ध का निर्वाण स्थान है। 30 वर्ष के करीब हुए, जब कि महावीर भिक्षु और चन्द्रमणि महास्थविर ने वहाँ धूनी रमाई। उससे पहिले वहाँ उस स्थान के महत्त्व का किसी को ख्याल भी नहीं था। अब वह एक प्रसिद्ध स्थान है और देश-विदेश से हजारों आदमी आते हैं। हिन्दुओं के कुछ नेताओं को यह खब्त है, कि अगर बौद्धों को भी हम अपने साथ जोड़ लें, तो दुनिया-भर में हमारी संख्या अधिक हो जायगी। लेकिन बल बढ़ाने का ख्याल भी उन्होंने कभी किया ? हिन्दुओं की संख्या तो हिन्दुस्तान में भी अधिक है, लेकिन एक तिहाई को अछूत बना के आदमी नहीं, जानवरों की श्रेणी में रख दिया गया है। आधी संख्या स्त्रियाँ हैं, जो हिन्दुओं के घरों में सबसे अधिक बेबस और अधिकार-वंचिता हैं। हजारों जातियों में बिखरे, एक दूसरे को नीच समझनेवाले ये लोग समझते हैं, कि दुनिया के बौद्धों को मिलाकर हम मजबूत बन जायेंगे। भगवान बचाये बौद्धों को इन हिन्दुओं के धरम की छाया से। बल्कि भगवान भी मालूम होता है, बहुत दिनों से है ही नहीं, नहीं तो न जाने ऐसे हिन्दू धर्म का बेड़ा कब का गर्क हो गया होता। और यह नेता बौद्धों को अपने साथ लेना चाहते हैं, अपनी शर्त पर। बौद्ध ईश्वर को मानें और कहें कि बुद्ध ईश्वर को मानते थे, ईश्वर की भक्ति करने के लिए उपदेश देते थे, या कम से कम वह खुद ही ईश्वर के अवतार थे। चाहे सीलोन, बर्मा, तिब्बत के बौद्ध गाय-भैंस-याक्-सुअर खाते हों, लेकिन अब उन्हें गोमाता के खुर को अपने सिर पर चढ़ाना चाहिए, आदि-आदि। सेठ जुगुलकिशोर बिड़ला और बाबा राघवदास इसी तरह के हिन्दू नेता हैं। बिड़लों के पास रुपया है। सट्टेबाजी के दशांश को भी ऐसे कामों में लगा दें, तो भी वह पचीसियों धर्मशालाएँ बनवा सकते हैं। उस उक्त यहाँ बिड़ला के पैसे और बाबा राघवदास के परिश्रम

से एक धर्मशाला बनने जा रही थी। शायद कुछ औंधी खोपड़ियों का ख्याल है कि 25, 50 हजार खर्च करके अनीश्वरवादी जात-पाँत विरोधी, भक्ष्याभक्ष्य-स्वतन्त्र बौद्धों को हिन्दू बनाया जा सकता है, इसीलिए बाबा चन्द्रमणि की धर्मशाला के साथ नहीं, उससे अलग एक धर्मशाला बनने जा रही है। अब की बार देखा, चन्दा बाबा पर काफी बुढ़ापा आ गया है। अगले दिन (1 मार्च) हम गोरखपुर गये। गेशे को हिन्दुस्तान की चीजें दिखलानी थीं। उन्हें हम गीता प्रेस में भी ले गये। छापाखाना तो वहाँ लॉ जरनल प्रेस जैसा देख आये थे। मैंने कहा, यह है चीन से भी सस्ती अफीम की दूकान। यहाँ मनुष्यता के कलंक, हिन्दुओं के पाखंडों को मजबूत करने के लिए कागज-स्याही के रूप में सस्ती से सस्ती अफीम बेंची जाती है। तारीफ यह है कि पुराने जुग में राजाओं ने भी अफीम बेचने के लिए दूसरी जाति–ब्राह्मण को ठेका दिया था, लेकिन अब कलियुग में धन है बनियों के हाथ में, बनिये कपास खरीदने से देश-विदेश में उसे ढोने, सूत कातने, कपड़ा बुनने, फिर देश-विदेश पहुँचाने, बेंचने, कागज के रूप में बदलने आदि सभी कामों और सभी नफों को अपने ही हाथों में जैसे रखते हैं, उसी तरह अब वह धर्म का भी सारा धन्धा अपने हाथ में रखना चाहते हैं। मैंने गेशे से कहा–तिब्बत के योगियों के नाम से अगर तुम भी बड़े-बड़े चमत्कारों को बतलाओ, तो उसे सच्चा बना के छापकर 30 करोड़ हिन्दुओं में पहुँचाने की जिम्मेवारी यह दूकान लेने को तैयार है।

हम लोग सीधे रात को नौतनवाँ पहुँच गये और फिर बैलगाड़ी लेकर लुम्बिनी गये। अबकी बार लुम्बिनी की भी कायापलट हुई थी। आसपास की जमीन की खुदाई हुई थी। पोखरी की झाड़ियाँ खतम हो गईं, और पहिली यात्रा में जिन्हे चोरों के छिपने का स्थान कहा जाता था, वह अब नहीं रहीं। अब ज्यादा खुली-सी जगह मालूम होती थी। लेकिन खुदाई का इन्तिजाम ऐसे आदमी से कराया जा रहा था, जिसमें उत्साह भले ही ज्यादा हो, किन्तु पुरातत्त्व के क-ख से भी उसे वास्ता नहीं। पत्थर, चूना, मिट्टी सभी तरह की मूर्त्तियों को बेढंगी तौर से टोकरियों में भरकर या जमीन पर ऐसे ही इकट्ठा रख दिया गया था। मूर्त्तियाँ घिस-घिसकर टूट रही थीं। उनमें न जाने कितनी नेपाल-म्युजियम में भी न जा सकेंगी। इनमें एक शुंगकालीन मिट्टी का खिलौना है, तो दूसरा कुषाणकालीन लाल पत्थर का सिर है, एक 6, 7 अंगुल की अवलोकितेश्वर की अति सुन्दर पत्थर की मूर्त्ति है। एक मुद्रा में खड्गधारी पुरुष पर 7 वीं 8 वीं शताब्दी के अक्षरों में "ये धर्मा···" अंकित है। कितने ही गुप्तकालीन मिट्टी के सुन्दर शिर हैं। मैंने डायरी में लिखा था, "मूर्त्तियों का महत्त्व कुछ भी न मालूम होने से उतना ध्यान नहीं रखा गया, (जिससे) भयंकर भूल (हानि) हो जाने का डर है।"

गुप्तकाल के बाद की बहुत कम मूर्त्तियाँ हैं। खुदाई से निकली मिट्टी को दो स्तूपों और एक बड़े चबूतरे के रूप में जमा किया गया है। अब यात्रियों के ठहरने के लिए एक अच्छा साफ-सुथरा बँगला बन गया है। गेशे ने सामने दिखाई देते हिमालय का एक चित्र बनाया।

दूसरे दिन (3 मार्च) 11 बजे चलकर 7 बजे शाम को हम नौतनवाँ स्टेशन पर पहुँच गए। वहाँ से हम बलरामपुर उतर सहेटमहेट (जेतवन, श्रावस्ती) गए। पुरानी जगहों को फिर देखा। कान्हभारी गाँव में कितने ही पुराने कार्षापण (सिक्के) खरीदे, और एक शुंगकालीन मिट्टी का खिलौना भी। ऐसी चीजें यहाँ के लोगों को अकसर मिल जाया करती हैं। बलरामपुर गोंडा होते हम लखनऊ पहुँचे। भदन्त बोधानन्द महास्थविर बड़े प्रेम से मिले। यही पहिले बौद्धभिक्षु थे, जिनके साक्षात्कार का मौका मुझे मिला था। गेशे को लखनऊ-म्युजियम दिखलाया। हड़हा के शिलालेख को देखकर उन्होंने कहा–यह तो तिब्बती अक्षर का मालूम होता है, लेकिन पढ़ने पर कुछ पल्ले नहीं पड़ता। मैंने कहा–हाँ, इसी अक्षर से तिब्बतीलिपि बनी। 7 से 9 मार्च तक हम प्रयाग में प्रूफ देखते रहे। विनयपिटक के प्रकाशन को महाबोधि सभा ने अपने जिम्मे ले लिया, इसलिए एक बड़ी चिन्ता दूर हो गई। 11 से 26 मार्च तक पटना में रहे, काम वही प्रूफ देखने का था, जिसमें भिक्षु जगदीश काश्यप ने भी हाथ बँटाया।

अबकी साल मैंने गर्मियों का प्रोग्राम जापान के लिए बनाया था। दोस्तों ने 6, 7 सौ रुपए हाथ में कर दिए थे, इसलिए सकुशल वहाँ पहुँच जाने में सन्देह नहीं था। 27 को धूपनाथ के साथ सुल्तानगंज गए और वहाँ से दूसरे दिन कलकत्ता।

श्री क्षीरोदकुमार राय अब पटना से कलकत्ता चले आए थे। राय साहब एक प्रतिभावान् पुरुष थे। अंग्रेजी पर उनका कमाल का अधिकार था। पुरातत्त्व और इतिहास में उनका बहुत अच्छा प्रवेश था। तरुणाई में देशप्रेम और विवाह दो आफतें उन्होंने मोल ले ली थीं। अब घर में बच्चे भी अधिक हो गए थे, इसलिए परिवार का बोझ बहुत बढ़ गया था। नौकरियों के लिए आजकल जात-पाँत और प्रान्तीयता का जोर बहुत बढ़ा हुआ है। जायसवालजी योग्य पुरुष को देखकर उसे हर तरह की मदद करना चाहते थे। क्षीरोद बाबू कितने ही सालों तक पटना में रहे। हम लोगों ने अजंता, एलोरा, सांची, भिलसा आदि कितने ही पुराने स्थानों की एक साथ यात्रा की थी। एक ओर मुझे क्षीरोद बाबू के ज्ञान और प्रतिभा को नजदीक से देखने का मौका मिला था, और दूसरी ओर उनकी आर्थिक कठिनाइयों को भी। जायसवालजी ने पटना-म्युजियम के क्यूरेटर के लिए कोशिश की, लेकिन झट बंगाली, बिहारी का सवाल उठ खड़ा हुआ, और पटना-म्युजियम एक बड़े ही योग्य व्यक्ति की सेवाओं से वंचित हो गया। अब क्षीरोद बाबू कलकत्ता चले आये थे, और किसी धनी के नाम से अपनी लेखनी को चलाकर गुजारा कर रहे थे। उनका स्वभाव कितना सरल और मधुर था। चिन्ताओं की आग भीतर सुलगती रहती थी, लेकिन उसके धुएँ को वह चेहरे पर आने देना नहीं चाहते थे। वह उस वक्त मेरी पुस्तक ('तिब्बत में सवा बरस') का अंग्रेजी अनुवाद एक अमेरिकन प्रकाशक के लिए कर रहे थे, मुझे क्या मालूम था कि अब उस मंदस्मित चेहरे को फिर नहीं देख सकूँगा। मेरे साथ पेनाङ् तक भिक्षु जगदीश काश्यप भी जानेवाले थे। पहिली अप्रेल को मैंने अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी को रुपये देकर दो सौ नब्बे डालर के चेक लिये, जापान का बीजा भी करा लिया। रंगून का टिकट 14, 14 रुपये में मिला। गेशे से भी विदाई ली, उन्हें अब दार्जिलिंग में रहना था।

15

जापान-यात्रा (1935 ई.)

1. जापान की ओर

2 अप्रेल को दो बजे 'गंगासागर' जहाज से कलकत्ता से रवाना हुए, और 5 को नौ, दस बजे रंगून पहुँचे। हम लोग डेक् के मुसाफिर थे। अंग्रेज जहाजी और रेल कंपनियाँ तीसरे दरजे के मुसाफिरों की कितनी पर्वाह करती हैं, इसके कहने की जरूरत नहीं। डेक् पर सैकड़ों मुसाफिर ठसमठस बैठे हुए थे। उनके लिए सिर्फ एक नल्के का प्रबन्ध था। नहाने की कोई कोठरी नहीं, पाखाना बहुत गन्दा था। डेक् के ऊपर कानवेस की छत थी, जो अप्रेल-मई की धूप को क्या रोकती ? खाने का इन्तिजाम सबसे बुरा था, हिन्दुओं के खाने का तो कोई भी इन्तिजाम नहीं था। एक मुसलिम होटल था, क़िन्तु हिन्दू अपनी बेवकूफी के कारण उससे फायदा नहीं उठा सकते थे। भोजन के लिए जब हम इधर-उधर तलाश करने लगे, तो मुसलिम भोजनशाला का पता लगा। भात और मुर्गी का मांस तैयार था, इसलिए जहाँ तक मेरा सम्बन्ध था, मैं अपने इलाहाबादी मोमिन भाई को हजार-हजार दुआ देने के लिए तैयार था। और हिन्दू मुसाफिरों को इस वृक्ष की सुखद छाया से लाभ उठाने का अवसर नहीं था। काश्यप जी भी आधा ही फायदा उठा सकते थे, क्योंकि आनन्दजी की तरह वह भी घास-पात में फँसे हुए थे। मैं उनसे कहता था—भले मानुस ! मुर्गी का मांस खाओ, शरीर की चर्बी कम होगी, बदन कुछ हल्का होगा, मन में कुछ फुर्ती आयेगी। लेकिन "सकल पदारथ एहि जग माँही। कर्महीन नर पावत नाही।" उन्होंने सिर्फ रोटी-तरकारी खाई। तरकारी में और मांस में भी कुछ मिर्च जरूर अधिक पड़ी थी। दोनों के भोजन पर सवा रुपया कोई बेसी नहीं था। जयपुर के पंडित हनुमानप्रसाद रंगून में वैद्यक करते थे। वह सपरिवार घर से आ रहे थे। हम लोगों के पीले कपड़े और शिक्षा-दीक्षा को देखकर वह हमारी अच्छी खातिर

करते थे। लेकिन मुसल्मान होटल में मुर्गी और भात की बात उन्हें जरूर खटकती थी। वह सवाल करते थे–अहिंसा को मानते हुए मांस क्यों खाते हैं, क्या इससे आप हिंसा के भागी नहीं होते। मैंने कहा–क्रिया होने से पहिले उसके करने की इच्छा यदि पुरुष में हो, तभी वह उस क्रिया का कर्ता हो सकता है। आप जानते हैं, बाजार में बकरा मारने की क्रिया जिस वक्त हो रही थी, उससे पहिले उस क्रिया के करने की मेरे मन में कोई इच्छा नहीं थी, तो भला मैं उस क्रिया का कर्ता कैसे हुआ ? हम मांस को जिस रूप में खाते हैं, वह तो चावल-दाल की तरह निर्जीव अवस्था है। हाँ, मैंने भोजन की इच्छा प्रकट की, उसके बाद कोई छुरी लेकर मुर्गी जबह करने चले, तो उसका जिम्मेवार मैं अपने को जरूर समझूँगा।

खाने की समस्या तो हमने उसी दिन हल कर ली थी, अब नहाने और पाखाने की बात रह गई थी। अपने बनारस जिले के बुद्धू भगत जहाज में मेहतर का काम करते थे। मैंने उनसे भाई-चारा स्थापित किया, और उसमें मातृभाषा ने बहुत मदद की। सिर्फ पैसा दे देने से बुद्धू उतने प्रेम से नहीं काम करते। एक कोई कोठरी थी, जिसमें वह बाल्टी-भर पानी भर के रख देते थे और हम मजे से साबुन लगाकर स्नान कर लेते थे। भंगी के हाथ के पानी से स्नान करने पर पड़ोसी, साथी आपस में क्या बात करते थे, इसके लिए हमारे कान बहरे थे।

हमारा जहाज पहिले दिन गंगा ही में 2 बजे एक जगह खड़ा हो गया, मालूम हुआ कि धारा में पानी कम रह गया है। तीन घंटे बाद वह फिर चला। शाम से पहिले ही हम समुद्र में पहुँच गये। समुद्र खूब शान्त था। बादल था किन्तु वर्षा नहीं हुई, यही खैरियत थी, नहीं तो डेक् के मुसाफिरों की न जाने क्या गति हुई होती। हमारे जहाज में अधिकांश क्या प्रायः सभी भारतीय थे। युक्तप्रान्त, बिहार, नेपाल, पंजाब, गुजरात, सिन्ध और बंगाल सभी जगह के आदमी थे। पंजाबियों की संख्या काफी थी।

5 तारीख को अँधेरा रहते ही 'गंगासागर' रंगून की खाड़ी में जाकर रुक गया। फिर 6 बजे सबेरे बन्दर की ओर चला। 7 बजे तट पर लगा। एक गुजराती मित्र ने सहायता की, और हमारा पास भी सेकेन्ड क्लास वालों के साथ बन गया। रंगून की हिन्दी गोष्ठी ने जब सुना, कि मैं जापान जानेवाला हूँ, तो अपने वार्षिक अधिवेशन का सभापति होने के लिए मुझे लिखा, मैंने भी स्वीकार कर लिया था। श्रीधर्मचन्द्र खेमका आए हुए थे। कस्टम आदि में कोई दिक्कत नहीं हुई और हम मोटर से लक्ष्मीनारायण धर्मशलाा में पहुँच गये। शाम को मोटर से शहर भी देख आये। रंगून की 4 लाख की बस्ती में 1 लाख हिन्दुस्तानी और 50 हजार चीनी हैं, इसलिए हर चार आदमी में 1 भारतीय दिखाई देना स्वाभाविक बात थी। राजसरोवर देखा और स्वेदंगङ् स्तूप भी। यह सुनहला स्तूप बहुत ही भव्य है, लेकिन सफाई उतनी नहीं। फूल और धूपबत्ती की दूकानें बहुत हैं। कबूतरों के सामने लोग अनाज फेंकते हैं। दो-चार और जगहों में जाकर हम अपने स्थान पर लौट आये।

गोष्ठी का उत्सव 10 अप्रेल को होनेवाला था और पेनाङ् का जहाज 11 को जा रहा था। हमने इन 5, 6 दिनों को बर्मा देखने में लगाने का निश्चय किया। 6 अप्रेल को सवा दो बजे दिन को मांदले की गाड़ी पकड़ी। बर्मा में रेलयात्रा का अपना एक बिल्कुल स्वतन्त्र नियम है। बैठने की बेंच के एक छोर पर एक आदमी के लिए बैठने की जगह रखकर सारे डिब्बे में आने-जाने का रास्ता कटा होता है। बेंच के बड़े भाग में तीन आदमी बैठ सकते हैं, किन्तु जिसने पहिले जाकर अपना बिस्तरा बिछा दिया, उसको ब्रह्मा भी नहीं उठा सकता। बाकी आदमी आएँ तो खड़े रहें। हम दोनों को भी दो बेंचे दखल करने का मौका मिल गया था, इसलिए हम यात्रा-भर के लिए निश्चिन्त थे। रेल की लाइन से दूर-दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। स्तूपों की तो भरमार थी, कोई बस्ती नहीं थी, जहाँ एक स्तूप न हो। भिक्षुओं के विहार भी जगह-जगह थे, किसी-किसी जगह लंका के अभयगिरि की भाँति कृत्रिम पर्वताकार स्तूप बने थे। दूर वृक्षों के भीतर एक अतिविशाल बुद्धमूर्त्ति दिखाई दी। भूमि बहुत उपजाऊ मालूम होती थी और खेत ज्यादातर धान के थे। फलों में आम, केले बहुत ज्यादा और नारियल क़म थे। बर्मी लोग बहुत बेफिकर होते हैं। जीवन के आनन्द को वह वर्तमान में मानते हैं, भविष्य की उतनी चिन्ता नहीं करते। गाना-बजाना, नाचना-खेलना उन्हें बहुत पसन्द आता है। अगर कोई गाँव में नाटक

आया हो, तो घर-भर के लोग चटाई लेके वहाँ पहुँच जायेंगे, चाहे घर लुट ही क्यों न जाय। झुटपुटा हो रहा था, जब कि हमारी ट्रेन एक बस्ती से पार हुई। देखा, कोई नाटक अभी भी खतम नहीं हुआ है।

अगले दिन (7 अप्रेल) 6 बजे हम मांदले स्टेशन पर पहुँचे। और कोई परिचित स्थान था नहीं, इसलिए हम लोग सीधे आर्यसमाज में गये। बिना कुंडी-ताले की कोठरी में बिस्तरा फेंका, और शहर देखने के लिए निकल पड़े। एक विहार में गये। एक वृद्ध भिक्षु से हम कुछ बात करना चाहते थे, किन्तु उसने हाथ हिला करके हमें दूर हटा दिया। बर्मा में जितनी बड़ी संख्या भिक्षुओं की है, उससे बौद्धधर्म को बदनाम ही होना पड़ रहा है। अधिकांश भिक्षु तिब्बत के भिक्षुओं से कुछ ही बेहतर अवस्था में हैं। छुरा चलाना, खून करना बात-बात में लड़ पड़ना, सिनेमा और खेलों की जगहों में जाकर हुड़दंग करना–यह ऐसी बातें नहीं हैं, जिनसे शिक्षित लोगों की उनके प्रति श्रद्धा हो। हमने सगाई के लिए तीन रुपये पर घोड़ागाड़ी की। 12 मील जाने पर बर्मा की पुरानी राजधानी–मांदले से पहिले की राजधानी–अमरपुर के ध्वंसावशेष दिखाई पड़े। हजारों स्तूप गिर-पड़ रहे थे। पुराने मन्दिरों और स्तूपों की मरम्मत करने की जगह हर आदमी नये स्तूप, नये मन्दिर बनाना चाहता है। शायद इसीलिए कि यह उसकी स्वतन्त्र कीर्त्ति होगी। लेकिन देख तो रहे हैं, डेढ़ ही दो सौ वर्षों में पहिलेवालों की कीर्तियाँ धूल में मिल रही हैं। आदमी इतना बेवकूफ क्यों बनता है ? अपने को इतना धोखा क्यों देता है ? और आगे जाने पर नदी (इरावदी) के तट पर और भी पहिले की राजधानी आवा के ध्वंसावशेष थे। हम नये पुल से नदी पार हुए। इरावदी काफी चौड़ी है।

सगाईं अच्छा बाजार है। बहुत-सी दूकानें हैं। 10 बजे से कुछ पहिले ही हम वहाँ पहुँचे थे, और तुरन्त 1 रुपये पर दूसरी घोड़ागाड़ी करके हम सगाईं पहाड़ के विहारों को देखने के लिए चल पड़े। इसके लिए 2 मील और चलना तथा पर्वत पर जरा चढ़ना पड़ा। चारों ओर भिक्षुओं के छोटे-बड़े आवास थे। हमारा गाड़ी वाला मनीपुर का ब्राह्मण था। उसके कण्ठ में तुलसी की माला थी, लेकिन चेहरा बिल्कुल बर्मी लोगों जैसा। हो सकता है, किसी वक्त विश्वामित्र और शृंगी ऋषि की कोई सन्तान मनीपुर आई हो, अप्सराओं ने उसका ध्यान भंग किया हो और वह अपनी सन्तान वहाँ रखकर चला गया हो। आदमी बहुत अच्छा था। उसने ले जाकर विहारों को दिखाया। एक जगह एक कुतिया ने चुपके से आकर उस तरुण को काट खाया। यहाँ के भिक्षु बिल्कुल रूखे, अधिकांश अशिक्षित और अभद्र थे। सुनते हैं, इस पर्वत में बड़े-बड़े ध्यानी महात्मा रहते हैं, लेकिन ध्यानी महात्माओं के दर्शन की साध मेरी न जाने कब की बुझ गई थी। लौटकर सगाईं आये, एक चेट्टी (मदरासी) भिक्षु का पता लगा। भिक्षु तो नहीं मिले, लेकिन उनके भाई-बन्द मौजूद थे। उन्होंने हमें मध्याह्न भोजन कराया। 2 बजे तक हम मांदले लौट आये। फिर किला में गये, राजा और रानियों के प्रासादों को देखा। इमारतें ज्यादातर लकड़ी की हैं।

सवा चार बजे की गाड़ी से फिर हम रंगून के लिए रवाना हुए। अबकी गाड़ी में हमें मुश्किल से बैठने की जगह मिली थी। अगले दिन (8 अप्रैल) 8 बजे सवेरे हम रंगून पहुँच गये। मेरी बहुत-सी चिट्ठियाँ आई थीं, कितनी ही पुस्तकों के प्रूफ आये थे, जिन्हें यहाँ से देखकर लौटाना था। 2 बजे रात तक प्रूफ, चिट्ठी लिखने का काम करता रहा। अगले दो दिन भी लोग मिलने के लिए आते रहे, और मुझे जो समय मिल जाता था, उसमें प्रूफ देखता था। बर्मा और हिन्दुस्तान पहिले एक थे। अंग्रेजों ने समझा, हिन्दुस्तान के साथ रहने से बर्मी भी राजनीतिक आन्दोलन में पड़ जाते हैं। इसलिए बर्मा को उन्होंने अलग कर दिया। मिट्टी के तेल, जहाज, रेल, चावल और सागौन की बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेजों के हाथ में हैं। उसके बाद बड़े व्यापारी हैं हिन्दुस्तानी, उनमें भी सबसे ज्यादा अधिक मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती। कुली, यू. पी. और बिहारवाले। बल्कि यू. पी. तो, किसानी का काम करने के लिए है, बिहारवालों को, चाहे वह बाबू ही क्यों न हो, दरबान कहा जाता है, जिस तरह बम्बई और सिन्ध में भैया कहा जाता है। रंगून के एक हिन्दी दैनिकपत्र (बर्मा समाचारपत्र) के सम्पादक, जो कि आजमगढ़ जिले के ही रहनेवाले थे, मेरे पास बैठे हुए थे। धर्मशालेवाले चौकीदार ने पुकारा–"ऐ दरबानजी, ए दरबानजी !" मैंने पाटेश्वरी बाबू को उठकर जाते देखा। फिर मैंने उनसे पूछा–यह किसको दरबानजी कह रहा था। उन्होंने बतलाया, यदि हथुआ और बलरामपुर के महाराजा भी यहाँ आ जायँ, राजेन्द्रप्रसाद और

जवाहरलाल नेहरू भी यहाँ आ जायँ, तो वह दरबान ही कहलायेंगे। मुझे मन ही मन एक तरह खुशी भी हुई, चलने दो "सब धान बाईस पंसेरी।" और दरबान कोई कामचोर थोड़े ही होता है, वह पसीने की कमाई खाता है। बर्मा और हिन्दुस्तान पड़ोसी हैं। बर्मा ने हिन्दुस्तान के धर्म (बौद्ध) को अपनाया है, और उसके बड़े-बड़े तीर्थ हिन्दुस्तान में हैं, लेकिन हिन्दुस्तानियों को वह भी 'काला' कहते हैं; मालूम नहीं इस शब्द में गोरों जैसी घृणा है या नहीं। लेकिन घृणा के दूसरे कारण मौजूद हैं। मारवाड़ी, चेट्टी और गुजराती व्यापारियों के सामने बर्मी व्यापारियों को परास्त होना पड़ता है, इसलिए काला आदमी बहुत खराब है। रेलवे और दूसरी नौकरियों में हिन्दुस्तानी सस्ते से सस्ते दाम में काम करने को तैयार हैं, बर्मी शिक्षितों को नौकरी नहीं मिलती, इसलिए काला आदमी खराब है। हिन्दुस्तानी कुली आधा पेट खा के आधी तनख्वाह ले के काम करने के लिए तैयार है, बर्मी मजदूर के लिए काम मिलना मुश्किल होता है, इसलिए काला आदमी खराब है। इससे कौन इनकार कर सकता है, कि बर्मा बर्मियों का है, और वहाँ किसी भी आदमी को उनकी मर्जी के खिलाफ रहने का अधिकार नहीं होना चाहिए। अंग्रेजों ने वहाँ हिन्दुस्तानियों को जाने दिया। हिन्दुस्तानियों की पन्द्रह-पन्द्रह लाख संख्या को जीवन के हर रास्ते में मुकाबिला करते हुए देख बर्मियों के मन में वैमनस्य होना स्वाभाविक है। इस वैमनस्य को अंग्रेज अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करते हैं। हमारे देश को इससे क्या फायदा है, कि हमारे दस, बीस लाख आदमी किसी दूसरे छोटे-से देश में जाकर वहाँ के जीवन को छिन्न-भिन्न करें। हमारा दुख-दरिद्र अपने देश को आजाद करने से छूट सकता है। इन थोड़े-से आदमियों के स्वार्थ के लिए अपने किसी पड़ोसी से दुश्मनी मोल लेना हमारे लिए फायदे की चीज नहीं है। फिर हिन्दुस्तानियों का भी आपस में वैमनस्य है। हिन्दुस्तानी व्यापारी भी अपने कमेरों को दरबान कहकर उन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। हमारे दरबान भी इन जोंकों को अच्छी निगाह से नहीं देखते। बर्मा की स्त्रियाँ सारे एसिया में (सोवियत् को छोड़कर) सबसे अधिक स्वतन्त्र है—आर्थिक तौर से भी और सामाजिक तौर से भी। हिन्दुस्तानी उन्हें प्रेम में फाँसते हैं; लेकिन वेश्या और दासी की तरह रखना चाहते हैं, अपने बच्चों को भी बेगाना की तरह मानते हैं। बर्मी समझते हैं, कि हिन्दू हम को नीच समझते हैं। हिन्दुस्तानी मुसल्मान इस बात में ज्यादा उदार हैं, लेकिन वह अपने बच्चों को बर्मी न बना उन पर अपनी संस्कृति और अपना धर्म लादते हैं। बर्मी समझते हैं मुसल्मान हमारी जाति को कमजोर करते हैं। यह भी वैमनस्य की भारी जड़ है और हाल में कितने ही खूनी झगड़े इसीलिए हुए हैं। सारी समस्याओं का हल यही है, कि बर्मा बर्मियों का हो, हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का हो, खून चूसनेवाली देशी-विदेशी जोंकें तबाह हो जायँ।

10 अप्रेल को सोनी-हाल में गोष्ठी का वार्षिकोत्सव हुआ। 7 बजे से शुरू होकर सवा दो घंटे में काम खतम हो गया। मैंने अपना भाषण पढ़ा। काश्यपजी भी बोले। कुछ और लोगों ने व्याख्यान दिया।

11 अप्रेल को 6 बजे मैं बन्दरपुर पहुँचा। 'खंडाला' जहाज कुछ दूर पर खड़ा था। डाक्टरों ने डेक् के यात्रियों की बड़ी सावधानी से परीक्षा की। उनके कपड़े भाप में दे दिये गये। टीका न लगाये आदमियों को टीका लगाया गया। जा तो रहे थे हम डेक् ही से, लेकिन कपड़ा साफ-सुथरा रहने से हम बच गये। छोटे अगिनबोट से हम जहाज पर पहुँचे। पानी के नल के पास जगह मिली। अब 4 दिन तक इसी जहाज में रहना था। दूसरे दिन (12 अप्रेल) को खूब ज्वर आया। शाम को भी थोड़ा ज्वर रहा। मैं सिर्फ पानी पीता रहा। जहाज में अधिकांश पंजाबी मुसल्मान थे, उनके बाद पंजाबी सिख। कपड़ों के मैलेपन के लिए कुछ मत पूछिए, लेकिन मैं तो तिब्बत में रह चुका था। तीसरे दिन (13 अप्रेल) काश्यपजी ने भी ज्वर का आवाहन किया। आधीरात को बूँदें भी पड़ने लगीं। हम कुछ भीगते और कुछ कम्बल के भीतर दुबके रहे। काश्यपजी को भारी ज्वर था। इस जहाज में हमारी बड़ी गत बनी।

पेनाङ् में—7 बजे (14 अप्रेल) जहाज पेनाङ् की खाड़ी में पहुँचा। हम पाँती से खड़े हुए। डाक्टर ने सबको कोरेनटीन में भेजने का हुक्म दिया। हमारे सहयात्रियों के कपड़े-लत्ते और रहन-सहन जितनी गन्दी थी, उसके लिए यह जरूरी था। पता लगा, अब ढाई दिन कोरेनटीन में रहना होगा। कोरेनटीन का टापू 6 मील हटकर था। नावों पर लादकर हमें वहाँ पहुँचाया गया। नाव से उतरकर पाँती से बैठे। हमारे कपड़ों को भाप में दे

दिया गया। फिर सबको टीका लगाया गया। अन्त में दवा मिले पानी से नहलाया गया। अब 11 बज गया। टीन के खुले ओसारे थे। हमें वहाँ ले जाकर रख दिया गया। धूप खूब थी ही, और सिर पर टीन की छत तप रही थी। बहुत गरमी मालूम होती थी। आसपास के पहाड़ बहुत हरे-भरे थे। लेकिन हम तो एक दूसरी बला में फँस गये थे। सेकेंड क्लास में न आकर हमने गलती की थी। सिपाही पंजाबी सिख थे। हमने किसी भारतीय सज्जन को ज्ञानोदय एसोसिएशन को फोन कर देने के लिए कहा था, लेकिन उसके पहुँचने की हमें ज्यादा आशा न थी। हम किस्मत पर हाथ रखकर बैठे थे। मैंने 50 घंटे से खाना छोड़ रखा था। ज्वर के लिए यह मुझे कितनी ही बार अच्छी चिकित्सा साबित हुई है। 12 बजे के कुछ बाद पेनाङ् के बौद्धसज्जन मोटर नाव लेकर पहुँच गये। हमने उन्हें लिखा नहीं था, कि हम डेक् में आ रहे हैं; इसलिए वह सेकेंड क्लास की प्रतीक्षा कर रहे थे। खैर, सही-सलामत हमने उस कैदखाने से छुट्टी पाई और बुद्धिस्ट एसोसियेशन के भव्य मन्दिर में पहुँच गये। छप्पन घंटे बाद थोड़ा-सा दूध लेकर उपवास को तोड़ा। अब चार दिन मुझे यहीं रहना था, काश्यपजी तो महीनों के लिए यहाँ आये हुए थे।

बुद्धिस्ट एसोसियेशन बहुत धनी संस्था है। मन्दिर अत्यन्त स्वच्छ, देखकर ही तबियत खुश हो गई है। बुद्ध, आनन्द, काश्यप, अमिताम आदि की संगमरमर की मूर्त्तियाँ इटली से बनवाकर मँगवाई गई थीं। फर्श रक्त कमलों से अलंकृत चीनी मिट्टी की ईंटों से ढँका था। द्वार और द्वारदीपकों के सजाने में बहुत सुरुचि का परिचय दिया गया था। मन्दिर के पीछे एक ओर कार्यालय और दूसरी ओर व्याख्यानशाला थी। भिक्षुओं के रहने के लिए स्वच्छ कमरे थे।

16 अप्रेल को मैं इस योग्य हो सका, कि पेनाङ् की दर्शनीय जगहों को देखूँ। 3 बजे काश्यप को 103 डिग्री ज्वर था। 4 बजे शाम को मोटर पर घूमने के लिए निकले। पेनाङ् एक छोटा-सा पहाड़ी द्वीप है। प्रकृति ने दिल खोलकर इसे हरियाली न्यौछावर की है। चारों ओर नारियल और रबर के वृक्ष दिखाई पड़ते हैं। रास्ते में कई गाँव देखे। गाँव में अधिकतर मलाई लोग रहते हैं। जान पड़ता है, पेनाङ् का वैभव विदेशियों के लिए है।

अगले दिन (17 अप्रेल) 9 बजे ही घूमने के लिए निकल गये। दो स्यामी विहारों को देखा। विहार क्या, दूकानें हैं। एक विहार के भिक्षुओं में आपस में झगड़ा हो गया था। पैसा सर्कार के हाथ में चला गया और वह खर्च के लिए कुछ मासिक दे दिया करती थी। ऊँचे दर्जेवालों या विश्वसनीय यात्रियों को कोरेनटीन में न रखकर इस शर्त पर छुट्टी दे दी जाती है, कि वह स्वास्थ्य-अफसर के पास उनकी निगरानी में रहे। उस दिन 10 बजे जाकर अफसर से छुट्टी ले आये।

मैं चाहता था कि यहीं से कोई जापानी जहाज पकड़ूँ, किन्तु अभी कोई जापानी जहाज जानेवाला नहीं था। अब सिंगापुर तक रेल से जाने के सिवाय कोई और चारा नहीं था। पता लगा, 'अन्योमारू' जहाज सिंगापुर से कुछ ही दिनों में छूटनेवाला है। जायसवालजी के ज्येष्ठ पुत्र चेतसिंह मलक्का में बैरिस्टरी कर रहे थे। उनकी दो चिट्ठियाँ आई थीं, और वह मलक्का आने के लिए बहुत आग्रह कर रहे थे। मैंने ट्रेन का नाम देकर तार दे दिया। मलक्का रास्ते से दूर था, इसलिए वहाँ जाने के लिए समय नहीं था। रात को महायान और हीनयान पर मेरा व्याख्यान हुआ।

सिंगापुर—18 अप्रेल को काश्यपजी से विदाई ली, अभी भी उनकी तबियत ठीक नहीं हुई थी। लेकिन किसी बात की चिन्ता नहीं थी। मोटर से बन्दर पर फिर स्टमीर से खाड़ी को पार हो एक नदी में थोड़ा घुसे। तीर पर ही पाई स्टेशन है। दूसरे दर्जे का टिकट था। गाड़ी में भीड़ नहीं थी। 9 बजे ट्रेन चली। पर्वत और भूमि हरे-भरे वृक्षों से ढँकी हुई थी। ज्यादातर रबड़ के बगीचे थे, किन्तु कहीं-कहीं जंगल भी थे। नारियल के बाग भी लगे हुए थे। जहाँ-तहाँ टीन की खानें थीं, जिनमें 75 फीसदी के मालिक अंग्रेज थे, और बाकी के चीनी।

6 बजे हम क्वालालम्पोर पहुँचे। स्टेशन ही पर बौद्धसभा के कुछ सज्जन और एक सिंहल भिक्षु मिले। क्वालालम्पोर मलाया की राजधानी है, और बड़े रमणीय स्थान पर बसी है। डेढ़ घंटे घूमकर शहर देखा। मलाया

में पेनाङ्, मलक्का और सिंगापुर तो सीधे अंग्रेजों के हाथ में हैं, बाकी कितनी ही रियासतें हैं। सबको मिलाकर संयुक्त मलाया-राज्य कायम किया गया है। शहर देखकर हम बौद्ध मन्दिर गये। मन्दिर अच्छा और अच्छी जगह पर बना हुआ है। मुझे बौद्ध गृहस्थों की छोटी सभा में कुछ देर बोलना पड़ा। साढ़े आठ बजे चेतसिंह जायसवाल पहुँच गये। उन्हें बड़ी तकलीफ हुई, बड़ी दौड़-धूप करनी पड़ी। यदि मालूम होता कि अन्योमारू चौथे दिन सिंगापुर से छूटेगा, तो मलक्का भी जाता। चेतसिंह जी की मोटर रास्ते में बिगड़ गई थी और जैसे-तैसे करके यहाँ पहुँचे थे। मेरी ट्रेन छूटने में डेढ़ घंटे की देर थी, हम स्टेशन पर गये, वहीं कुछ भोजन और बात करते रहे। मैंने घर का समाचार दिया। यह जानकार मुझे बहुत सन्तोष हुआ, कि चेतसिंह भी अपने काम में तत्परता से लगे हैं। चेतसिंह में पिता के सारे ही गुण हों, यह बात तो नहीं है; लेकिन कई बातें उनमें स्पृहणीय हैं। यद्यपि साहेब की तरह पले हैं, किन्तु वह कष्ट सहन कर सकते हैं। साहित्य और कला से उनका बहुत प्रेम है, आत्मनिर्भरता और आत्मसम्मान की भावना भी उनमें काफी है। सेरमूबन् तक वह हमारे साथ रहे। मलाया में जापानी भी काफी बसते हैं। हम रात को चल रहे थे, एक स्टेशन पर कुछ जापानी स्त्री-पुरुष अपने बन्धुओं को विदाई देने आये थे। उन्होंने गाड़ी चलते वक्त बड़े मधुर स्वर से 'सायोनारा' कहा। अभी मैं यह नहीं समझ पाया था, कि 'सायोनारा' का अर्थ है 'पुनर्दशनाय', यद्यपि उसका उस समय यह छोड़ दूसरा अर्थ नहीं हो सकता था। 19 को पह फट रही थी, जब हम जोहोर से आगे पुल द्वारा खाड़ी को पार कर रहे थे।

6 बजे सिंगापुर पहुँच गया। स्टेशन पर कई बौद्धसज्जन मिले और मुझे बुद्धिस्ट एसोसियेशन में ले गये। सिंगापुर में छै सौ के करीब सिंहलबौद्ध हैं, यह उन्हीं की सभा है। दिन-भर तो विश्राम, भोजन और बातचीत में लगे रहे, शाम को साढ़े पाँच बजे घूमने निकले। सिंगापुर 16 मील लम्बा 16 मील चौड़ा द्वीप है। पोर्टसईद की तरह यह भी बहुत-से द्वीपों के लोगों का मिलन-स्थान है। हिन्दुस्तान, लंका, स्याम, चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, और यूरोप सभी जगह के लोग यहाँ रहते हैं, बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ अंग्रेजों की हैं, व्यापारी चीनी हैं, दूध बेचनेवाले भैया लोग (युक्तप्रान्त-बिहारवाले) हैं और कुली हैं मदरासी। शहर साफ-सुथरा है, सड़कें भी अच्छी हैं। हाँ, गरीबों के मुहल्लों की न पूछिये। यहाँ एक स्यामी मंदिर भी है।

बुद्ध की एक विशाल मूर्त्ति देखी। सड़क को छोड़कर घूमते-फिरते एक चीनी मंदिर में पहुँचे। मंदिर बहुत बड़ा है, और किसी समय बड़ा सुन्दर रहा होगा, लेकिन अब उसकी बड़ी उपेक्षा है। मन्दिर और भीतरी सजावट, पत्थर के स्तंभ, सभी पर मृत्यु की छाया दीख पड़ रही थी। भिक्षु अयोग्य और निकम्मे थे, इसलिए किसी गृहस्थ की श्रद्धा को अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकते थे।

एक दिन पहिले (20 अप्रेल) हम निप्पन्-यूशेन-कइसा के कार्यालय से जहाज का टिकट खरीद लाए। जापान तक का दूसरे दर्जे का किराया 150 येन से कुछ ऊपर लगा। उस दिन शाम को चीनी बौद्धसभा में गए। लोग अमिताभ के भजन में लगे हुए थे। एक गृहस्थ ने यह सारा घर बनाकर दान कर दिया है। सिंहल बौद्धसभा में भी एक व्याख्यान देना पड़ा। मैं पाली में बोला और एक श्रामणेर ने उसका सिंहली में अनुवाद किया।

हाङ्-काङ्—21 अप्रेल को सवेरे ही 'अन्योमारू' सिंगापुर पहुँचा। ढाई बजे मैं भी जहाज पर पहुँच गया। 23 नवंबर के केविन में चार वर्थे थीं, लेकिन उसमें हम दो हिन्दुस्तानी थे—दूसरे सज्जन मदरासी थे। अन्योमारू शाम तक लोहे के टुकड़ों ओर रद्दी कनस्टरों को लादता रहा। यहाँ इन चीजों की कदर नहीं है, हालाँकि इनको गलाकर फिर अच्छा लोहा बनाया जा सकता है। जापान ऐसे कूड़े-करकट का स्वागत करता है। जब मैं पहिली बार लंका गया था, उस वक्त मैंने अपनी खिड़की से रेलवे की सड़क से ताकते हुए अक्सर एक जगह रेल के टूटे पहियों-पुरजों और दूसरे लोह-खंडों को एक गड्ढे में फेंके जाते देखा करता था। फिर किसी दिन वह चीजें बड़ी तेजी के साथ ढोई जाने लगीं। पता लगा, इस कूड़े-करकट को किसी जापानी कंपनी ने खरीद लिया है। अँगरेज कंपनियाँ या अँगरेजी सर्कार ऐसे कूड़े-करकटों की परवाह नहीं करती। आज लड़ाई के जमाने में लोहा इतना महँगा हो गया है, तो भी रेल लाइनों और दूसरी जगहों में न जाने कितने लाख मन लोहखंड पड़े हुए हैं, कोई उनकी पर्वाह नहीं करता। साढ़े 6 बजे शाम को जहाज रवाना हुआ। जहाज में पाँच मदरासी

(जिनमें दो स्त्रियाँ), दो बंगाली, दो पारसी, एक भैया (अकेला मैं) कुल दश भारतीय थे। एक आस्ट्रियन और दो जापानी भी थे। सिगरेट पीने का कमरा मुझे पढ़ने-लिखने के लिए बहुत अच्छा मालूम हुआ। शाम को डेक् पर टहलने में भी आनंद आता था। वादन्याय का प्रूफ मेरे साथ चल रहा था, अकेले उसे फोटो से मिलाने में बहुत वक्त लगता था। रामस्वामी अय्यर संस्कृत जानते थे, उन्होंने प्रूफ कापी को मिलाने में सहायता देने की इच्छा प्रकट की। मेरा काम बन गया। जहाज में हमें सवेरे सात बजे चाय-रोटी-मक्खन मिलता था, साढ़े आठ बजे नाश्ता, बारह बजे पूरा भोजन, सवा तीन बजे चाय-रोटी-मक्खन और रात को छै बजे भोजन। भोजन यूरोपीय ढंग का था, वैसा ही जैसा फ्रेंच जहाज में मिला करता था। पाँचों मदरासी सहयात्री ब्राह्मण थे, और मांस-मछली छू नहीं सकते थे। समुद्र बराबर शान्त रहा। विशाल समुद्र में कहीं देखो, एक ही तरह का दृश्य सामने रहता था। जहाज बिल्कुल हिलता नहीं था। प्रूफ का काम करने के बाद जो समय बचता है, वह जापान-सम्बन्धी किताबों को पढ़ने में लगता था, अथवा गोली लुढ़कानेवाले तख्ते का खेल खेलता था।

7 वें दिन (27 अप्रेल) 6 बजे सबेरे ही जहाज हाङ्कांङ् पहुँचा। यह चीन का टापू है, जिसे सौ वर्ष से अधिक समय हुआ, जब अंग्रेजों ने दखल कर लिया। यह उनका एक बहुत बड़ा व्यापार केन्द्र है, साथ ही सैनिक अड्डा भी। आखिर सेना भी तो व्यापार ही के रक्षा के लिए है। हाङ्काङ् चारों ओर पहाड़ों से घिरा एक स्वाभाविक बन्दरगाह है। इसका सिर्फ एक ओर समुद्र से सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। नाश्ता करके 9 बजे हम किनारे पर गये। पहाड़ हरे-भरे हैं और शहरवाले पहाड़ पर तो नीचे से चोटी तक कोठियाँ और बँगले बने हुए हैं। पहाड़ के ऊपर सिर्फ यूरोपियन ही घर बना सकते हैं। एसिया के भूखंड पर ही एसियाइयों का यह अपमान ! जिसकी लाठी उसकी भैंस जो ठहरी। यूरोपीय बाजार के मकान बड़े आलीशान हैं। हम पहाड़ पर जानेवाली ट्राम के अड्डे पर वहुँचे। आखिरी स्टेशन तक चले गये, जो एक हजार फीट से ऊँचा है। बादल था, इसलिए फोटो नहीं ले सके। वैसे भी कितने ही स्थानों का फोटो लेना मना है। नीचे उतरकर हमने टैक्सी की, और 27 मील का चक्कर लगाया। चीनी मालियों को फुलवारियों में साग-सब्जी के खेतों में काम करते देखा। यहाँ की सड़कें अच्छी हैं, विश्वविद्यालय है, अस्पताल है। यहाँ से कानूतेन् नगर 80 मील है। हम दो बजे जहाज पर लौट आये। ढाई बजे हमारा जहाज चल पड़ा।

शाङ्-हैई–छठे दिन हमें पहुँचना शाङ्-हैई था। सवेरे के वक्त उठे, तो देखा चारों ओर कुहरा फैला हुआ है, दोपहर तक ऐसा ही रहा। जहाज बार-बार सीटी दे रहा था। उसकी गति बहुत मन्द थी। अगले दिन (29 अप्रेल) दोपहर को तापमान 63 डिग्री था। हम 26 अक्षांश में चल रहे थे, वही जो कि इलाहाबाद का है, लेकिन यहाँ अप्रेल के अन्त में भी गर्मी बिल्कुल नहीं मालूम होती थी। 30 अप्रेल को खासी सर्दी लग रही थी। मालूम नहीं होता था कि हम गर्मी के मौसम में हैं। उस दिन दोपहर को हम याङ्ची और सागर के संगम पर पहुँच गए। लाखों वर्षों से नदी ऊपर की मिट्टी को ढो-ढोकर समुद्र को पाटने में लगी हुई है। उस समय समुद्र और भी आगे तक रहा होगा। यहाँ पानी कुछ उथला था, पौने तीन लाख मन (साढ़े-नौ हजार टन) भारी अन्योमारू। कहीं फँस न जाए, हमारा जहाज एक जगह ठमक गया। फिर एक पथ-प्रदर्शक अगिनबोट आया और उसके साथ हमारा जहाज आगे बढ़ने लगा। यहाँ आसपास द्वीप है। बाईं ओर पोतो द्वीप है, जहाँ बौद्धभिक्षुओं के कितने ही मन्दिर और विहार हैं। अँधेरा हो जाने के बाद हमारा जहाज शाङ्-हैई पहुँचा।

अगले दिन (1 मई) 9 बजे हम जहाज से उतरकर बाएँ तट पर गये। शाङ्-हैई एसिया का सबसे बड़ा शहर है। यद्यपि 50 लाख आबादीवाले तोक्यो के सामने इसकी 30 लाख की आबादी कम ही है। पहिले हम लोग डाकखाने गये। मुझे चिट्ठियाँ तथा प्रूफ का पार्सल भेजना था। उससे छुट्टी पाकर हमने 3 डालर (1 डालर=12/10 रुपया) घंटे पर टेक्सी ली। पहिले शहर में घूमे। भिन्न-भिन्न यूरोपीय राष्ट्रों ने शाङ्-हैई में अपना छोटा-छोटा राज्य कायम कर लिया है। शाङ्-हैई चीन-भूमि का जीवित अंग है, जिस पर विदेशी गिद्ध बैठकर चोंचे मार रहे हैं। चापई नामक चीनी मुहल्ले की ओर गये। कभी यह आबाद नगर था, लेकिन जापान ने तीन ही चार साल पहिले शाङ्-हैई पर हमला कर दिया। मंचूरिया की सफलता के बाद उसकी हिम्मत बढ़ गई थी, वह जानता

था कि यूरोपीय राज्य स्वार्थान्धता के मारे आपस में बँटे हुए हैं, वह हमारे रास्ते में रुकावट नहीं डाल सकते। उसने चापई को भून दिया। जले हुए घरों की दीवारें अब भी खड़ी थीं। 20 तले का सासून भवन शायद एसिया की सबसे ऊँची इमारत है। शाङ्-हैई के अंग्रेजी इलाके में सिक्ख पुलिस-सिपाही बहुत हैं। वह सस्ते भी हैं, और अपने गोरे मालिकों के आज्ञाकारी भी। यह तो हमें पहिले ही से मालूम था कि शाङ-हैई में हिन्दुस्तानी भी हैं। ढूँढ़ने पर एक इंडियन रेस्तोराँ (भारतीय भोजनशाला) देखा, वहीं चपाती और गोश्त खाया। शाङ्-हैई से अंग्रेजी अखबार भी निकलते हैं, हमने कुछ अखबार लिये। मालूम हुआ, चाङ् कइसेक् ने कई बार असफल होने के बाद अबकी बार बड़ी तैयारी के साथ चीनी कम्यूनिस्टों पर हमला किया है। चाङ् चीनी जोकों का पिट्ठू है, और गौरांग भी उसकी पीठ ठोकने के लिए तैयार हैं।

उसी दिन हमारा जहाज आगे के लिए रवाना हो गया। सर्दी खूब मालूम हो रही थी। भीतर केबिन को अब गरम किया जाने लगा था। बेतार से पता लगा, कि जापान के उत्तरी भाग में बहुत बर्फ पड़ी है, इसी के कारण यहाँ सदी बढ़ी है। अब हम शाङ्-हैई और जापान के बीच समुद्र में जा रहे थे। यह दो-ढाई दिन का रास्ता है। सर्दी के अतिरिक्त समुद्र भी ज्यादा चंचल हो उठा था, कुछ लोग बीमार पड़ गये थे, लेकिन मैं ऐसी-ऐसी चीजों को क्या समझता हूँ। काश्यपजी होते तो उनकी भी वही दशा होती, जो हमारे साथियों की हो रही थी। हम लोगों का टिकट कोबे तक का था। हमारे साथी याकोहामा का टिकट बनवा रहे थे, मैंने भी वैसा ही करा लिया।

2. जापान में

3 मई के दोपहर को दोनों ओर पहाड़ दिखाई देने लगे, यह था जापान। दाहिनी ओर क्यूशो (कोशू) द्वीप है और बाईं ओर प्रधान द्वीप। सामने बहुत-सी नोकाएँ, और स्टीमर दिखलाई पड़े। हम शीमोनोसकी की किलेबन्दी के भीतर घुस रहे थे। एक छपी नोटिस बाँटी गई, जिसमें बतलाया गया था, कि यहाँ फोटो लेना सख्त मना है। अगिनवोट से डाक्टर और कुछ दूसरे अफसर हमारे जहाज पर पहुँचे। डाक्टर ने मामूली तौर से देखा, कोई बीमार नहीं था। जहाज फिर रवाना हुआ। अफसर ने सबसे कुछ पूछ-ताछ की, मुझसे यात्रा के उद्देश्य के बारे में पूछता रहा। मैंने बतलाया कि मैं एक बौद्धभिक्षु हूँ और आपके बौद्धदेश का अध्ययन करने के लिए आया हूँ। उसने हमारे पासपोर्ट पर मुहर लगा दी।

साढ़े आठ बजे रात को हमने जापान की भूमि पर पैर रखा, यह क्यूशो द्वीप का मोजी शहर, एक लाख से ऊपर की आबादी है। पहाड़ की जड़ और समुन्दर के तट पर दूर तक शहर बसा हुआ है। हमने यहाँ बेपूपू के गरम चश्मों और एकाध बस्तियों के देखने का निश्चय किया। पहिले और दूसरे दर्जे का मुसाफिरखाना एक था, और तीसरे का दूसरी ओर। दोनों ही में लोगों के बैठने के लिए कुर्सियाँ थीं। फर्क इतना ही था कि तीसरे दर्जे में गद्दी नहीं थी। पुरुष अधिकांश कोट-पतलून पहने थे, लेकिन स्त्रियाँ सभी कीमोनो (लम्बा चोगा) और सुन्दर कमरपट्टी में थीं। 10 बजे के करीब हमारी रेल खुली। हमने सेकेंड क्लास का टिकट लिया। इसमें भी गद्दी लगी हुई थी। पहिले-दूसरे दर्जे में पीठ की ओर भी गद्दी रहती है, जो कि तीसरे में नहीं होती। लोगों की पोशाक बहुत साफ थी। हमारे डिब्बे भी बहुत साफ थे। रात को एक जापानी ढंग के होटल में रहने का इन्तिजाम किया गया था। स्टेशन से ही टेलीफोन कर दिया गया था और हमें होटल में ले जाने के लिए पथप्रदर्शक आ गया था।

अगले दिन (4 मई) हमने होटल ही में नाश्ता किया। हमारे कुछ साथी नहाना चाहते थे। गरम पानी का प्रबन्ध था, लेकिन वहाँ एक कुंड में स्त्री-पुरुष एक ही जगह नंगे नहा रहे थे। उन्हें साहस नहीं हुआ और लौट आये। साढ़े आठ बजे हम गरम चश्मों की ओर चले। मालूम होता है, यह इलाका ही गरम चश्मों का है। किसी जगह पर सिर्फ कीचड़ बुदबुदा रही थी, कहीं खौलता पानी गिर रहा था। पथप्रदर्शक अंग्रेजी में बताता जाता था, कि इस गरम कुंड की गहराई और तापमान इतना है। जिगोशकू के पीछे की ओर बहुत ही सुन्दर दृश्य था। सारा पहाड़ हरियाली से ढँका है। रास्ते में कितने ही गाँव मिले, जिनके छोटे-छोटे घर और घास

के छप्पर हिमालय के किसी स्थान का स्मरण दिला रहे थे। हल में घोड़े भी चलते थे, और बैल भी। अन्तिम तप्त कुंड में स्नान हुआ। खिड़की से नीचे ढलुवाँ उपत्यका थी, जहाँ देवदार और दूसरे वृक्ष दिखाई पड़ रहे थे। लौटते वक्त हमने गरम कुंडों से चिकित्सा करने का एक बड़ा अस्पताल देखा। डेढ़ बजे स्टेशन पर पहुँच कर मोजी के लिए रवाना हो गये और शाम तक अन्योमारू पहुँच गये।

कोबे–अब हम जापान के दोनों बड़े द्वीपों के मध्यवाले सागर में चल रहे थे। दोनों ओर की भूमि दिखाई दे रही थी। दृश्य वैसा ही सुन्दर था। पाँच बजे सवेरे जहाज कोबे के बन्दरगाह में घुसा और बिल्कुल किनारे पर जाकर लगा। आनन्द मोहन सहाय (भागलपुर) तथा कितने ही और भारतीय बम्बईवाले सज्जनों से मिलने आये थे। आनन्दमोहन को तेरह साल पहिले मैंने देखा था, जब वह मेडिकल कॉलेज से असहयोग करके राजेन्द्र बाबू के प्राइवेट सेक्रेटरी बने थे। हम लोगों की दो टुकड़ी हो गईं। एक तो सीधे कोतक महाशय के घर गई, और हम दोनों को आनन्दमोहन एक बौद्धमन्दिर में ले गये। मन्दिर खूब साफ-सुथरा था। बुद्ध की मूर्त्ति प्रशान्त थी। हर जगह से संगठन और व्यवस्था की झलक आती थी। मन्दिर के महंत बड़े प्रेम से मिले। वहाँ से हम कोतक महाशय के मकान पर गये, वहाँ भारतीयों को भोज दिया गया। पता लगा, अन्योमारू अब चार दिन बाद यहाँ से आगे जायगा और 11 मई को योकोहामा पहुँचेगा। जर्मनी के परिचित मित्र श्री सका किवारा का पत्र मिला। उन्होंने अपने मन्दिर में रहने का निमंत्रण दिया था। रात को हम जहाज में रहे।

अगले दिन (6 मई) दश बजे हम जहाज से निकले। पहिले चीजों और विशेषकर केमरे को दिखाने के लिए कस्टम-आफिस जाना पड़ा। वहाँ से सेन्नोमिया स्टेशन पर गये। मिस्टर मुराव पथप्रदर्शक मिले, वह अंग्रेजी जानते थे, इसलिए भाषा की दिक्कत दूर हो गई। रास्ते में ओसाका मिला, ओसाका बहुत बड़ा शहर है। यह कपड़े के लिए जापान का लंकाशायर-मानूचेस्टर है। बिजली की रेल हमें कई जगह बदलनी पड़ी थी। मजूरों के मकान बहुत छोटे किन्तु साफ दीख रहे थे। होरोमिया स्टेशन पर उतरकर मोटर बस में बैठ होरियोजी गये। होरियोजी जापान का सबसे पुराना विहार है। इसके मकानों, मन्दिरों और मूर्त्तियों में जापानी संस्कृति का इतिहास भरा पड़ा हुआ है। यहाँ के मन्दिर अधिकतर लकड़ी के हैं, और उनमें से सबसे पुराना आज से चौदह सौ वर्ष पहिले (छठी सदी) का बना हुआ है। प्रधान मन्दिर की दीवारों पर अजन्ता जैसे चित्र हैं। बोधिसत्वों की मूर्त्तियाँ तो कला के अद्‌भुत नमूने हैं। पीतल की कई सुन्दर मूर्त्तियाँ भी देखीं। मन्दिर में घुसने से पहिले अपने जूतों पर मढ़ने (पहनने) के लिए कपड़े के जूते हमें दिये गये थे। मन्दिर की पवित्रता अक्षुण्ण रखने के लिए यह प्रबन्ध था। मूर्त्तियाँ ही नहीं, चित्रपटों और वाद्यों का भी यहाँ अच्छा संग्रह है। एक छमंजिला स्तूप है। बुद्धपरिनिर्वाण की एक मूर्त्ति के बारे में बतलाया गया, कि यह भारत की मिट्टी से बनी है। यूमीदोनो विहार थोड़ा हटकर है, वहाँ पर भी चार, पाँच सुन्दर मूर्त्तियाँ हैं। बगल के चुगुजी विहार में दश भिक्षुणियाँ रहती हैं, इसमें अवलोकितेश्वर की एक मूर्त्ति है, जिसके बारे में कहा जाता है, कि इसे जापान के अशोक शोतोकू ने अपने हाथ से बनाया था। रास्ते में 7 वीं शताब्दी के दो प्रसिद्ध मन्दिरों को देखते हम नारा पहुँचे। नारा में दूसरी बार भी गया था, इसलिए उस के बारे में वहीं लिखूँगा। ओसाका शहर को हमने मोटर से देखा। वह कलकत्ता-बम्बई की तरह का है, वैसी ही बड़ी-बड़ी उसकी इमारतें हैं।

अगले दिन (7 मई) 9 बजे हम कोबो से क्योतो के लिए रवाना हुए, और दो घंटे में वहाँ पहुँच गये। हमें बौद्ध दैनिक पत्र 'चुमाइलिप्पो' के आफिस में ले जाया गया। वहाँ कुछ देर तक बौद्धधर्म पर बात होती रही। फिर ओतानी विश्वविद्यालय में गये। डाक्टर सुजुकी घर पर नहीं थे। श्रीमती सुजुकी मिलीं। परिचय और बातचीत हुई। मालूम हुआ, विद्यालय में संस्कृत, पालि और तिब्बती भाषाएँ पढ़ाई जाती हैं। क्योतो उन्नीसवीं शताब्दी तक जापान की राजधानी रहा। उस वक्त जापान-सम्राट पर्दे में रहा करते थे और सारा राज-काज नेपाल के तीन सर्कार की तरह शोगोन के हाथ में था। क्योतो की तीन तरफ देवदार से ढँकी हरी-भरी पहाड़ियाँ हैं। यह बहुत ही रमणीय स्थान है, इसीलिए तो सिनेमा-फिल्म बनानेवालों ने तोकियो नहीं, क्योतो को अपनी राजधानी बनाया। हम हिगाशी होङ्गनजी के विशाल मन्दिर में गये। सारा मन्दिर काठ का है, इसके देवदार के बड़े-बड़े खम्भों को खींच-खींच कर लाने के लिए जब मोटे-मोटे रस्सों की जरूरत हुई थी, उस वक्त हजारों

बौद्ध नारियों ने अपने-अपने केशों को काटकर रस्सा बनाने के लिए दिया था। आज भी वे रस्से वहाँ हिफाजत से रखे हुए हैं। 9 बजे हम कोबे लौट आये।

अगले दिन (8 मई) को दश बजे हमारा जहाज चला। समुद्र चंचल रहा। अब सिर्फ बाईं ओर जापान की भूमि दिखलाई पड़ती। दाहिनी ओर प्रशान्त महासागर की अनन्त जलराशि थी। रास्ते में हमने योक्काइची में चीनी मिट्टी के बर्तन के एक बड़े कारखाने को देखा। मिट्टी काटना, पानी में घोलना, थिर करना, सुखाना, पीसना, गूँथना, साँचे या चक्के पर बरतन बनाना, दूसरे चक्के पर सुधारना, थोड़ा पकाना, रँगना, चित्रण करना, पकाना सभी चीजों को देखा। मजूरों की तनख्वाह 15 येन् (12 रुपया) से 51 येन् (42 रुपया) मासिक थी—मजूरी रोजाना के हिसाब से थी। ज्यादातर मजदूरों की तनख्वाह 6 आना से 8 आना रोज तक थी, जो भारत में कारखाना के मजूरों की तनख्वाह इतनी ही होती है। ग्यारह बजे हम जहाज पर लौट आये और घंटे-भर बाद जहाज आगे चला।

दश मई को बड़े सवेरे ही हमारा जहाज योकोहामा पहुँचकर किनारे लगा। पासपोर्ट अफसर ने हमारे पासपोर्ट को देखा, रुपये देखे, कुछ प्रश्न किया—खासकर बौद्धवेष पर। हमारा सामान कस्टम आफिस में गया। उसने मामूली तौर से देखकर छोड़ दिया। सामान को हमने न्यूयोकोहामा एक्सप्रेस के जिम्मे लगाया। यह कम्पनी आपके सामान को घर पहुँचा देने का जिम्मा लेती है। अमेरिकन एक्सप्रेस के आफिस में गये। मैं अपनी चिट्ठियाँ इसी के मारफत मँगाता था। कितनी दूर से हमने टेक्सी की थी, लेकिन भाड़ा सिर्फ दो येन् (डेढ़ रुपया) देना पड़ा; जो बतला रहा था कि जापान में मोटरों का किराया कितना सस्ता है। चालीस सेन (प्रायः पाँच आने) में मुर्गी का गोश्त और भात खाया। पाँच आने में भला यह खाना भारत में मिल सकता है !

तोक्यो—योकोहामा से बिजली की गाड़ी पकड़ी और एक बजे के करीब हम तोक्यो पहुँच गये। टेक्सी करके पहिले मैसूर के एक सज्जन के पास गये, फिर 70 सेन (प्रायः 9 आना) पर टेक्सी की और शहर के दूसरे छोर पर नाका-ओकाची-माची मुहल्ले के कोशियोजी मन्दिर में श्री सकाकीबारा के पास पहुँच गये। रास्ते के बारे में कई जगह पूछना था। इतना सस्ता तो बनारस में एक्का भी नहीं मिलता। तोक्यो लन्दन शहर जैसा मालूम होता था। अब 10 मई से 26 जून तक तोक्यो में ही रहना था। तोक्यो में ट्राम भी है और टेक्सी भी। टेक्सी में एक दर है—उतना पैसा देकर टेक्सी पर चढ़के आप चाहे 10 कदम पर उतर जायँ, या शहर के आरपार। तोक्यो निवास के दिनों का ज्यादा समय विद्वानों से मिलने, विद्यासंस्थाओं के देखने में लगा। मेरे वहाँ पहुँचने से पाँच दिन बाद सिंहल के भिक्षु नारद तोक्यो पहुँच गये, ठहरे वह दूसरी जगह थे। सकाकीबारा मेरे आराम का हर तरह से ख्याल रखते थे। उनकी माँ तो और भी ज्यादा तत्पर रहती थीं। भारत से जापान के शिष्टाचार में कुछ अन्तर भी है, किन्तु बहुत-सी बातें एक हैं। वहाँ जमीन पर भी लोग चटाई पर बैठते हैं, चटाई पर ही सोते हैं। कुर्सी, पलंग, मेज का वहाँ रवाज नहीं है। घर बहुत साफ-सुथरे होते हैं, और खुले हुए खंभों पर बाहर की ओर खिसकाऊ तख्ते और भीतर की ओर साफ कागज मढ़े खिसकाऊ ढाँचे को लगाकर दीवार बना दी जाती है। बाहर के तख्ते तो रात ही को लगाए जाते हैं, भीतर के कागजी ढाँचे बराबर रहते हैं। कागज से छनकर प्रकाश भीतर आता है। जमीन पर पुआल की एक बालिश्त मोटी चटाइयाँ बिछाई जाती हैं, जिनके ऊपर सूती या रेशमी मगजी लगी सीतलपाटी (चटाई) सिली रहती है। यह चटाइयाँ एक ही नाप की बना करती हैं, और चटाइयों की गिनती से आप जान सकते हैं कि कमरा कितना बड़ा है। चटाइयों का फर्श बड़ा आरामदेह होता है और पैर रखते ही स्प्रिंगदार गद्दे की तरह दबता है।

रहने के कमरे को सामान से भर रखना जापान में पसन्द नहीं किया जाता। चित्र या फोटो भी एक या दो से अधिक नहीं टाँगे जाते। रात के सोने का गद्दा-तकिया, लिहाफ कागजीदीवार की आड़ के खाने में इस तरह रखे रहते हैं, कि मालूम नहीं होता। एक कमरा बैठक का होता है, जो भोजन-स्थान और शयनागार का भी काम देता है।

यूरोप में चम्मच-काँटे से खाने का रवाज है। जापान में चीन की तरह दस-दस इंच पेन्सिल जैसी दो लकड़ियों से खाने का रवाज है। मैंने जहाज में ही लकड़ियों से खाना सीख लिया था। वैसे तिब्बत में भी

बड़े-बड़े घरों में लकड़ी या हाथीदाँत की दो 'पेन्सिलें' दी जाती हैं, लेकिन वहाँ हाथ या चम्मच को भी इस्तेमाल किया जा सकता है, इसलिए पहिले नहीं सीखा था। लेकिन इस यात्रा में जापान पहुँचने से पहिले लकड़ी से खाने में दक्ष होने का मैं निश्चय कर चुका था। पहिले जापानी खाना कुछ फीका मालूम पड़ता था, क्योंकि उसमें न तेल-घी की बघार होती, न मिर्च-मसाला ही होता। मछली है, तो नमक के साथ उबली हुई। साग है, तो उसमें भी नमक पानी छोड़ और कुछ नहीं। सोया के कई तरह के पकवान बनते हैं, किन्तु उनमें भी घी-तेल, मिर्च-मसाले का नाम नहीं। चावल उतना बारीक नहीं होता, न सुगन्धित ही, लेकिन होता है मीठा। फिर गृहिणी लकड़ी की ढँकी बाल्टी में भाप निकलते भात को लेकर आपके सामने बैठी रहती हैं। जापान में एक अच्छत भी जूठा छोड़ना अनुचित माना जाता है। चीनी की कटोरों में जो कुछ अन्न चिपका रहता है, उसे भी धोकर पी जाते हैं। एक-दो बार मुझसे कुछ छूट गया था। इस पर दोस्त ने कहा—हमने भारत से यह शिष्टाचार सीखा है, यदि आप ही जूठा छोड़ेंगे तो लोग क्या कहेंगे ? जापान की लगी वह आदत मेरे साथ अब भी है। बहुत कम ऐसा अवसर आता है, जब मैं थाली में जूठा छोड़ता हूँ। ऐसा अवसर तभी आता है, जब कि कोई गृहपति या गृहिणी खानेवाले की नहीं बल्कि अपनी इच्छा के अनुकूल परोसते हैं। महीने-डेढ़ महीने के बाद मुझे जापानी भोजन स्वादिष्ट मालूम होने लगा। चाय भी पहिले दवाई के काढ़े जैसी मालूम होती, स्वाद कुछ कड़ुआ, न उसमें तिब्बत की तरह नमक-मक्खन न हिन्दुस्तान की दूध-चीनी, न कश्मीर की तरह मिश्री-इलायची; बस खाली पानी में उबली पत्तियों का अर्क होता, जिसका रंग हरा-पीला होता है। चाय के प्याले भी हमारे यहाँ के प्यालों से छोटे होते हैं। कुछ दिनों बाद इसमें भी स्वाद आने लगा। वस्तुतः भोजन या संगीत का स्वाद अधिकतर अभ्यास से पैदा होता है।

तोक्यो के राजप्रासाद को पास से हमने देखा। इसके भीतर सूर्य देवी के पुत्र जापान सम्राट् हिरोहितो रहते हैं। जापान के लोग उन्हें सचमुच ही देवता समझते हैं, शासकवर्ग उनकी श्रद्धा को और भी मजबूत करने की कोशिश करता है। आज के सम्राट् के दादा कुछ समझदार जरूर थे, यद्यपि उतने नहीं, जितना कि पुस्तकों में लिखा जाता है। पिता पागल थे, हालाँकि यह बात कभी बाहर नहीं आने पाई। वर्त्तमान सम्राट् को मौज-मेले से छुट्टी मिलने पर दूरबीन से तारे देखने और कविता लिखने का शौक है। मिकादो (जापान-सम्राट्) तोकूगावा-शोगन का अब बन्दी नहीं है, इसमें सन्देह नहीं; लेकिन, अब भी वह राज-काज में सीधे दखल नहीं देता।

पाँच-छै वर्ष पहिले जापान में भी स्वतंत्रा की हवा चली थी। मार्क्सवाद और कम्युनिज्म की भी बड़ी चर्चा होने लगी, विश्वविद्यालय उसके केन्द्र बन गए। यह हवा 12 रु. महीना पानेवाले फैक्टरी के मजदूरों और सात-आठ रुपया पानेवाले खेतिहर मजदूरों तक पहुँचने लगी। शासकवर्ग घबराया। यद्यपि उसने सूर्यदेवी के पुत्र मिकादो को देवता बनाकर पूजने और इतिहास के नाम पर सूर्यदेवी और दूसरी कथाओं को पढ़ाकर लोगों के मस्तिष्क में मिथ्याविश्वास भरने की सदा कोशिश की थी, तो भी जान पड़ता है भूख और भविष्य की चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए आदमी सभी बातों को ताक में रख सकता है। लोगों में भयंकर विचारों को फैलते देखकर शासकवर्ग ने कोदो (जापानी फासिस्टवाद) का प्रचार करना शुरू किया। हजारों मार्क्सवादी आज भी जेलों में सड़ रहे हैं। आज जापान का शासन न सम्राट के हाथ में है, न बनियों के। हयाशी, अराकी, मिनामी और मसाकी यह चार फौजी जरनैल और उनके सामन्ती वंश, जापान के वास्तविक शासक रहे। सामन्तवाद वस्तुतः वहाँ से लुप्त हुआ ही नहीं। उसने पूँजीपतियों को बढ़ने दिया, पार्लियामेन्ट और चुनाव की व्यवस्था को भी स्वीकार किया, किन्तु वोट को नहीं, सेना को अंतिम निर्णायक बनाया। राज्य की आमदनी का 46 सैकड़ा (आधे से कुछ कम) उस वक्त भी सेना पर खर्च होता था। सेना पर पालिर्यामेन्ट को कोई अधिकार नहीं; कहने के लिए वह सूर्यदेवी के पुत्र सम्राट् के अधीन मानी जाती है, लेकिन सम्राट स्वयं कुछ सैनिक सामन्तवंशों के हाथों की कठपुतली है। यदि वह इससे कुछ अधिक है, तो जापान का वह सबसे बड़ा तालुकदार जमींदार है, और कल-कारखानों में भी उसका करोड़ों येन् लगा हुआ है।

तोक्यो में इम्पीरियल यूनिवर्सिटी सरकारी विश्वविद्यालय है, उसके बाद वासेदा विश्वविद्यालय का नंबर आता है। यहाँ साइंस, अर्थशास्त्र, दर्शन आदि सभी विषय पढ़ाये जाते हैं। इसके पुस्तकालय में चार लाख

से ज्यादा पुस्तकें हैं। रिश्शो एक बौद्ध विश्वविद्यालय है। यह निचेरिन संप्रदाय से सम्बन्ध रखता है। प्रोफेसर किमूरा यहीं अध्यापक हैं, उनके साथ अनेक बार मेरी बात-चीत हुई। दो जापानी सभाओं और दूसरी संस्थाओं की ओर से भारतीय और सिंहाली (नारद) भिक्षुओं का स्वागत हुआ, व्याख्यान दिए गए। मैं समझता हूँ इसमें ज्यादातर शिष्टाचार ही नहीं था, बल्कि जापानियों का धर्म-प्रेम भी काम कर रहा था। प्रोफेसर इनोये, नागाई, कावागूची, किमूरा, वतनबे, ताकेदा से भेंट करके बड़ी प्रसन्नता हुई। इन विद्वानों ने एक सभा में हमारा स्वागत किया। स्वागत का उत्तर भिक्षु नारद ने पाली में और मैंने संस्कृत में दिया। कावागूची की तिब्बत-यात्रा मैंने तिब्बत जाने से पहिले पढ़ी थी, और उनके साहस का बहुत प्रशंसक था। यहाँ उनसे बात-चीत करने का मौका मिला। अभी भी वह तिब्बती भाषा बोल रहे थे।

जापान ने व्यापार में जो सफलता प्राप्त की है, उसका सारा फायदा पूँजीपतियों को हुआ है। उन्होंने मजूरों की तनख्वाह बढ़ने नहीं दी। उसी कपड़े को 6 रुपया रोज पानेवाले मजदूर तैयार करें और उसी को 6 आने रोजवाले भी, निश्चय है कि 6 आने मजूरी पानेवालों के हाथ का कपड़ा 16 गुना सस्ता होगा। जापानी कारखानेदार यदि विलायती कपड़े के भाव पर बेंचें, तो 16 गुना फायदा में रहेंगे, लेकिन वह ऐसा नहीं करते। वह नफा को कुछ कम करके माल को सस्ता बना देते हैं और फिर दुनिया के बाजारों में उनकी चीजों की माँग बढ़ जाती है। जापानी व्यवसाय के कारण सबसे घाटे में रहे मजूर। जापानी पूँजीपतियों को लाख का करोड़ और करोड़ का अरब बनाते देर भी नहीं लगी। उनके कारखानों में सौ सैकड़ा नफा बढ़ते देखा गया। हिन्दुस्तान में भी यह लूट है, कपड़े के कारखानों में भी और चीनी के कारखानों में भी। वही अंग्रेज पूँजीपति विलायत में अपने कारखाने के मजदूरों को सवा सौ और डेढ़ सौ महीना देते हैं, और हिन्दुस्तान में 12 या 15 रुपया। वही अंग्रेज जहाजी कम्पनियाँ विलायती मलाहों को डेढ़ सौ रुपया महीना देती हैं और हिन्दुस्तानी मलाहों को 30 रुपया में रखती हैं। पूँजीपतियों की जापान में मौज है। जापानी मजूर अपनी तकलीफों के लिए हड़ताल नहीं कर सकता, यह अर्जी-भर दे सकता है। लेकिन व्यापारियों के जेब में जो करोड़ों रुपये पहुँचे हैं, उसका कुछ अंश मन्दिरों में भी मिला है। जापानी मन्दिर और धार्मिक विश्वविद्यालयों की इमारतों को देखने से पता लग जाता है, कि सेठों ने धर्म के लिए कितनी उदारता दिखाई है। निशी होङ्वानूजी के 16, 17 लाख येन् के खर्च से 1930 में बने मन्दिर की बात छोड़ दीजिए। वह है भी एक करोड़पति गृहस्थ-महंत की सम्पत्ति। दूसरे मन्दिरों को भी देखिए, तो मालूम होगा, कि उन पर खूब रुपया खर्च हुआ है। हमने पुराने मन्दिरों को भी देखा। सोयोजी मन्दिर में काठ और लाख (लाक्षा) के पशु-पक्षी, फूल-पत्ती, इतने सुन्दर बने हैं, जिनको देखकर चित्त मुग्ध हो जाता है। जापानी मन्दिरों के देखने से मालूम होता है, कि कला ने वहाँ कितनी तरक्की की। सबसे बड़ी बात यह है, कि जापानी कला की परम्परा कभी विच्छिन्न नहीं हुई।

जापान के शासकवर्ग ने अपने सामाजिक ढाँचे को तो पुराना रखा, लेकिन पैसा और शक्ति को अपने हाथ में जमा करने के लिए पश्चिम की किसी बात को अपनाने में हिचकिचाहट नहीं दिखलाई। उन्होंने फैक्टरियों और मिलों को नई से नई मशीनों से सुसज्जित करने, नये से नये संगठन में बाँधने में पश्चिमी देशों का भी कान काटा। अमेरिकन व्यापारियों की सबसे नई किस्म की दूकानों—डिपार्टमेन्ट स्टोर—को खूब इस्तेमाल किया है। एक-एक डिपार्टमेन्ट स्टोर में बीस-बीस हजार तरह-तरह की चीजें बिकती हैं, और पाँच-पाच हजार बेचने वाले काम करते हैं। आप स्टेशन से उतरते हैं, वहाँ खूब भड़कीली और आरामदेह मोटर बस डिपार्टमेंट की ओर से आपको तैयार मिलेगी। आप को दो-तीन आना किराया देना पड़ेगा, लेकिन इस टिकट से आप स्टोर में चीज खरीद सकते हैं, इसलिए सवारी मुफ्त की मिली। वहाँ छोटे-छोटे खिलौने से लेकर बने-बनाये कोट-पतलून, फल-फूल और खाना सब चीजें मिल सकती हैं। उसका विशाल सभाभवन मुफ्त में सभा, धर्मोत्सव और नाटक के लिए मिल सकता है। पूँजीपति जानता है, कि यह उसकी दूकान के विज्ञापन का बहुत अच्छा साधन है। यद्यपि भारत की गरीबी से वहाँ का मुकाबिला नहीं किया जा सकता, किन्तु बेकार और भूखे लोग वहाँ भी बहुत हैं, भूख से तंग आकर कितने ही लोग आत्महत्या किया करते हैं।

मित्र सकाकिवारा बहुत सुधरे विचार के तरुण थे, यद्यपि हिटलर के जर्मनी में रहकर वह नाजियों के

संगठन से प्रभावित थे। तो भी वह अपने शासकों से सन्तुष्ट नहीं थे।

नित्ता–तोक्यो में करीब सवा महीने रहने के बाद मेरी इच्छा हुई, कि किसी जापानी गाँव में रहूँ, और वहाँ के ग्राम्य जीवन को नजदीक से देखूँ। श्री ब्योदो से भारत में मुलाकात हो चुकी थी, यहाँ भी वे मिले और उनका आग्रह था कि मैं उनके गाँव नित्ता में चलकर रहूँ। ब्योदो के माता-पिता छियासठ और सत्तर वर्ष के वृद्ध हैं। ब्योदो का छोटा भाई कम्युनिस्ट विचारों का था, जिसके लिए उसे कितने ही मासों तक जेल की हवा खानी पड़ी। आजकल वह एक मासिकपत्र का सम्पादक था। हम 28 मई को ब्योदो के साथ उनके गाँव में नित्ता गये। स्टेशन से दो मील टेक्सी से जाना पड़ा, फिर आध मील पहाड़ी पर चढ़ना-उतरना हुआ। उनका मन्दिर एक पहाड़ी के पार्श्व पर है। वह छै-सात सौ वर्ष पुराना है। इनका घर बौद्धपुरोहितों का है, यजमानों की आमदनी के अतिरिक्त पास में काफी खेत हैं। जापान के गाँव में भी बिजली की रोशनी लगी हुई है, लेकिन वह सिर्फ रात को ही काम में लाई जा सकती है। उस वक्त नित्ता में जौ, गेहूँ, बकला (क्लोवर) के खेत लहरा रहे थे, कुछ पक भी चुके थे। स्ट्रावरी के भी बहुत-से खेत थे। धान का बीज कभी छै-छै अंगुल उगा हुआ था। रोपने के लिए खेत तैयार किया जा रहा था। किसानों के मकानों की छतें अधिकतर फूस की थीं। पास में बाँस, देवदार आदि से ढँकी पहाड़ियाँ थीं। बाँस को यहाँ एक-एक करके अलग लगाया जाता है। कुछ समय पहिले बाँस से ज्यादा बाँस के करीर में नफा था। नरम करीर की तरकारी को जापानी लोग बहुत पसन्द करते हैं, उस दिन हम नित्ता में रह गये। हमें गाँव बहुत सुहावना मालूम हुआ।

अगले दिन (29 मई) मैं तोक्यो लौंट आया। वहाँ एक-दो जापानी फिल्म देखे। फिल्म में सबसे ज्यादा जिस बात की कोशिश की गई थी, वह थी लड़ाई और सैनिक शक्ति को बढ़ाने के लिए लोगों को तैयार करने की प्रेरणा। प्राकृतिक दृश्यों को चित्रित करने में अवश्य सुरुचि का परिचय दिया गया था।

2 जून को मैं नित्ता में रहने के लिए गया और तब से 20 जुलाई तक–डेढ़ महीने मैं वहीं रहा। रेल का डेढ़ घंटे का रास्ता था, लेकिन इतनी दूर की मोटर टेक्सी के लिए हमें सिर्फ ढाई येन् (1 रुपया 14 आना) किराया देना पड़ा। यहाँ पर ब्योदो महाशय ही अंग्रेजी जानते थे। उनके माता-पिता के साथ चाहे हाथ के इशारे से बातचीत करते या जापानी-अंग्रेजी-स्वयंशिक्षक की मदद से। ब्योदो-बन्धुओं (दोनों) ने अभी शादी नहीं की थी। उनके घर में एक और तरुण भिक्षुणी रहती थी, जिसे भिक्षुणी की जगह ब्रह्मचारिणी कहना ही ज्यादा ठीक होगा, क्योंकि उसकी वेषभूषा में कोई अन्तर नहीं था। यह बहुत ही शान्त और एकान्त स्थान था। मन्दिर और घर के हाते में एक छोटा-सा बाग था, जिसमें देवदार के भी कुछ वृक्ष थे। सर्दी में, जब कि बरफ पड़ जाती है, शीशे के गरम घरों में तरकारी पैदा करने का भी इन्तिजाम है। आजकल स्ट्रावरी पकी हुई थी। बिल्कुल ताजा और सस्ती स्ट्रावरी मिल रही थी। जापानी लोगों को प्राकृतिक सौन्दर्य से बहुत प्रेम है, वह अपने बगीचों को बहुत कुछ प्राकृतिक वनों के नमूने पर बनाते हैं। देवदार के सौन्दर्य पर वह मुग्ध हैं और हिमालय के देवदार को तो सौन्दर्य-शिखामणि मानते हैं। हिमालय से देवदार यहाँ लाये गये हैं और उसके आठ-आठ, दश-दश हाथ के पौदे बिकते दिखाई पड़ते हैं। नित्ता छोड़ने से पहिले व्योदोसान् (व्योदोजी) का आग्रह हुआ, कि मैं अपनी स्मृति के लिए एक हिमालयीय देवदार को मन्दिर के सामने लगा जाऊँ। स्मृति पर मुझे विश्वास बहुत नहीं है, लेकिन दो, चार, दश पीढ़ियों के लिए एक सुन्दर वस्तु छोड़ जाना अच्छी चीज है।

यहाँ भी मुझे अपना बहुत-सा समय प्रूफों को देखने और 'दीर्घनिकाय' के हिन्दी अनुवाद करने में देना पड़ता था। जापानी दैनिकपत्र वहाँ आता था, लेकिन मैं उसे पढ़ नहीं सकता था। हाँ, रात को रेडियो चलता था। कुछ मिनट अंग्रेजी में भी खबरें सुनाई जाती थीं। 3 जून को रेडियो ने खबर दी, कि क्वेटा में भयंकर भूकम्प आया और 60 हजार से ऊपर आदमी मरे। खबर सुनकर दिल विचलित हो गया। साल-भर पहिले के बिहार-भूकम्प के हृदय-द्रावक दृश्य को मैंने देखा था।

कभी-कभी वर्षा भी हो जाती थी, लेकिन वैसे मौसिम अच्छा था। यहाँ काफी मच्छर थे, और दिन में कुछ गर्मी भी मालूम होती थी। खाली समय में मैं जापानी सीखने के लिए कोशिश करता था। ब्योदोसान् संस्कृत

जानते थे। वह मुझसे कुछ काव्यग्रंथ पढ़ते थे। इधर-उधर के गाँवों और आसपास के नगरों में ले जाने में वह मेरे पथप्रदर्शक रहते थे।

20 जून को हम किसानों के घर देखने गये। फूस की छतों के छोटे-छोटे घर एक-दूसरे से अलग-अलग बसे थे। किसानों के घरों में नौकरानियों को कपड़ा, खाना, थोड़ा-सा पैसा दिया जाता है, जो सब मिलाकर 5 रुपया या 6 रुपया मासिक से ज्यादा नहीं पड़ता। जापानी अपने खाने में कितना कम खर्च करते हैं, यह इसी से मालूम होगा, कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को भी खाने के ऊपर 4 या 5 रु. से बेशी खर्च नहीं करना पड़ता। दूध, मक्खन, तेल, मांस, मसाला उनके भोजन में जरूरी नहीं है, मांस-मछली भी कभी-कभी खाते हैं। गाँव के लोगों का खर्च तो और कम पड़ता है।

खेती करने में जापानी किसान आधुनिक चीजों का बहुत उपयोग करते हैं। खेतों में खाद खूब देते हैं। फैक्टरियों की बनी खादों और कच्चे पाखाने को भी डालते हैं। शहरों और गाँवों में भी पाखाने के खरीदार घूमते रहते हैं। अगर आप अपने पाखाने को खेत में नहीं डाल रहे हैं, तो उसे अच्छे दाम पर बेंच सकते हैं। शहरों में म्युनिसपैलिटियाँ पाखानों को बेच देती हैं। इन्हें मुँहबन्द नावों में भरकर गाँव-गाँव ले जाते हैं। किसान खरीद लेते हैं। किसान को बाल्टी में पाखाना रखे, नाक को कपड़ों से बन्द किये, हाथ से खेत में छीटते देख आप समझेंगे कि पैरा छीट रहा है! कच्चा पाखाना पड़ जाने पर कुछ दिनों खेतों के रास्ते जाना मुश्किल हो जाता है। हमारे किसानों से वह चौगुना-पँचगुना फसल पैदा करते हैं। वहाँ भी बड़े-बड़े जमींदार हैं, सबसे बड़ा जमींदार तो जापान का सम्राट् है। किसानों को अपने पसीने की कमाई का बहुत-सा भाग इन निठल्लों को दे देना पड़ता है, तो भी वहाँ की सर्कार किसानों की और तरह से मदद करने की कोशिश करती है। कृषिविद्यालय वहाँ सर्कारी नौकर नहीं तैयार करते, बल्कि नये ढंग के किसान पैदा करते हैं। किसान खेतों में मशीनों का भी इस्तेमाल करते हैं। खासकर दँवाई में पैर से और तेल के इंजन से चलनेवाली मशीनों को इस्तेमाल करते हैं। जब फसल हो जाती है, तो जापानी किसान निश्चिन्त जीवन बिताता है; लेकिन यदि फसल खराब हो गई, तो हालत बहुत बुरी हो जाती है, क्योंकि साल-भर के खाने-कपड़े के बाद बहुत कम घरों में कुछ बच रहता है।

जापानी किसान एक-दूसरे की मदद के फायदे को पहिले से ही जानते थे। जापानी घर लकड़ी-कागज की दीवारों पर फूस की छत के सिवा और कुछ नहीं। मुमकिन है, सीमेंट के जमाने में वह नये तरह के घर बनाते। जापान में शायद ही कोई महीना जाता हो जिसमें भूकम्प न आता हो। बहुत सख्त भूकम्प कभी-कभी आते हैं। ईंट और पत्थर की दीवारें तो इन भूकम्पों के कर-स्पर्श से ही लेट जाती हैं, फिर ऐसे मकान सिर्फ आदमियों के लिए कब्र बनाने का काम कर सकते हैं। लकड़ी के मकान भूकम्प के लिए अच्छे सहायक हैं, इसमें शक नहीं, लेकिन उनमें आग भी बड़ी आसानी से लगती है। खैरियत यही है, कि मकान एक-दूसरे से दूर-दूर पर रहते हैं। हमारे गाँवों की तरह अगर होता, तो गाँव का गाँव जल जाता। किसी का घर जल जाने पर नई फसल होने तक गाँव-भर के रसोईखाने उसके लिए खुल जाते हैं। एक दिन हम जा रहे थे, देखा—दो खम्भों पर चौड़ी लकड़ी की पट्टी लगी हुई है, जिस पर हाथ से लिखकर बहुत-सी कागज की छोटी-छोटी चिटें साँटी हुई हैं। ब्योदोसान् ने बतलाया, कि उस घर में आग लग गई थी। आग लग जाने पर गाँव के सभी आदमियों को अपनी शक्ति के अनुसार मदद देना जरूरी है. और जला घर थोड़े ही दिनों में फिर खड़ा हो जाता है। खेत बँटने नहीं पाते, क्योंकि घर की सारी सम्पत्ति का मालिक बड़ा लड़का होता है। नकद रुपये में से माँ-बाप ने हाथ उठाकर कुछ दे दिया, या बड़े भाई ने कुछ दया दिखलाई, तो छोटे भाई को कुछ मिल जायगा, नहीं तो उसको कुछ भी पाने का हक नहीं है। मैं एक दिन ब्योदोसान् से इस प्रथा की निन्दा कर रहा था और वह उसका समर्थन कर रहे थे। मैंने कहा कि बड़े भाई ऐसा ही करेंगे। उन्होंने जवाब दिया—बड़े भाई की जिम्मेवारी बहुत ज्यादा है, उसे अपने छोटे भाइयों ही को नहीं देखना होता, बल्कि उस घर से अलग होकर जितने घर बने हैं, सबकी इज्जत का ख्याल रखना होता है। पितरों का श्राद्ध करना, उनकी समाधियों की पूजा के लिए आना जिनमें उनके पितरों की राख रखी हुई है, हरेक का धर्म है; उस समय परिवार-ज्येष्ठ

को सबको खाना देना पड़ता है। मैंने कहा—इसके साथ तिब्बत की तरह यदि सारे भाइयों की एक ही स्त्री होती, तो आदमी नये घर के बनाने और नई सम्पत्ति पैदा करने के तरद्दुद से बँच जाता। जापान में छोटे भाई जब खूब सयाने हो जाते हैं, कुछ कमा लेते हैं, तभी ब्याह करते हैं। लड़कियों को भी शादी के लिए रुपया जमा करना बहुत जरूरी है। वह तीन-तीन, चार-चार बरस के लिए किसी कारखाने या धनी आदमी के घर में नौकरानी बन जाती हैं, गरीब माता-पिता दो-दो, तीन-तीन सौ रुपये पेशगी ले लेते हैं, फिर ऐसी लड़कियाँ उतने दिनों के लिए बिक-सी जाती हैं।

स्त्रियों की अवस्था में नवीन जापान ने कोई सुधार नहीं किया है। विवाह से पूर्व उसका काम है, शरीर तक बेचकर माँ-बाप की सेवा करना। नाचने-गाने का पेशा करनेवाली लड़कियाँ गैशा कही जाती हैं। ऐसे गैशाघर सभी शहरों और कसबों में पाये जाते हैं, जिनमें 10-5 या अधिक लड़कियाँ रहती हैं। आप चाहें तो फीस दें, और गैशाघर में नाचना-गाना सुन आएँ, चाहें तो किसी लड़की को अपने घर पर बुला सकते हैं। लड़की की फीस मालिक लेता है। लड़कियाँ ज्यादातर ऐसे माँ-बाप की होती हैं, जिन्होंने गरीबी के कारण गैशाघर के मालिक से कुछ रुपये लेकर उन्हें कुछेक दिनों के लिए सौंप दिया है। गैशाघर का मालिक खाना-कपड़ा और थोड़ा-सा हाथ-खर्च दे देता है। गाहक और भी इनाम देते हैं, लेकिन इसका परिणाम कितना बुरा होता है, इसका अनुमान आप खुद कर सकते हैं। माँ-बाप के घर में रहनेवाली लड़कियाँ भी घर की गरीबी का बोझा हल्का करने के लिए पैसों पर दूसरों के घरों में नाचने-गाने जाया करती हैं, इसका भी परिणाम बुरा होता है। लेकिन कुमारी लड़कियों के इस जीवन का विवाह के बाद कुछ भी ख्याल नहीं किया जाता। विवाहित तरुणी अपने पति का पूरा विश्वासपात्र होती है। जापान में लड़कों की तरह लड़कियों की भी आरम्भिक शिक्षा अनिवार्य है, लेकिन जापानी राष्ट्र की पूरी चेष्टा होती है, स्त्री अपने पैरों पर खड़ी न होने पाये। लड़कियों के पाठ्यविषय में गाना, नाचना, रसोई बनाना, चाय को कलात्मक ढंग से परोसना, फूल-पत्ते सजाना, सिलाई तथा कसीदा काढ़ना आदि-आदि विषय भरे हुए हैं। उनकी पढ़ाई हाई स्कूल तक खतम हो जाती है। तोक्यो से काफी दूर सेन्दाई ही एक ऐसा विश्वविद्यालय है, जिसमें लड़कियाँ पढ़ सकती हैं, लेकिन संस्कृति, उद्योग-धन्धे और राजनीति के केन्द्रों से बहुत दूर होने के कारण बहुत कम लड़कियाँ वहाँ पढ़ने जाती हैं। सामन्तयुग की नारी जिस अवस्था में थी, आज भी जापानी स्त्री उसी दशा में है। बल्कि कल-कारखानों में अविवाहित लड़कियों की भारी पल्टन दस-दस, बारह-बारह घंटे काम करके अपने शरीर को ही नहीं चौपट करती, बल्कि जीवन भी उसका नष्ट हो जाता है।

एक दिन (30 जून) हम बोगिहारा के पास गये। जापान में संस्कृत के यह सबसे बड़े पंडित हैं। 68 बरस की आयु है, लेकिन लेवी और पेलियो की तरह यह भी रात-दिन विद्याव्यसन में लगे रहते हैं। इनकी शिक्षा जर्मनी में हुई थी, आजकल थैसो विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं। साथ ही यह एक मन्दिर के गृहस्थ महंत भी हैं। पहिले इनका मन्दिर शहर में था। शहर की भूमि का दाम बहुत बढ़ गया। जमीन को बेंच दिया गया और अब उन्होंने शहर से बाहर जमीन खरीदकर इस सरल किन्तु सुन्दर मन्दिर को बनवाया। मन्दिर के आसपास बढ़िया बाग है, जो बाग की अपेक्षा मनोहर वन से ज्यादा मिलता-जुलता है। आज भोजन भी उनके यहाँ हुआ, और बड़ी देर तक बौद्धसाहित्य के बारे में हमारी बात होती रही। उनके परिश्रम की सराहना करने पर उन्होंने कहा—मैं अड़सठ वर्ष का हो चुका हूँ, समझता हूँ जो करना है, जल्दी कर लेना चाहिए। जब हम वहाँ से लौट रहे थे, तो ब्योदोसान् की एक परिचिता और विद्यार्थिनी सकाई स्टेशन पर मिली। वह एक मन्दिर के महंत की लड़की थी, वह हमें अपने मन्दिर में ले गई। उसके पिता और भाई ने बड़ा स्वागत किया। मन्दिर छोटा था किन्तु निर्माण बहुत ही सुरुचिपूर्ण था। लड़की मार्क्सवादी विचारों की थी, जब से मार्क्सवादियों पर सर्कार का प्रकोप हुआ, तब से उसे अपने को छिपाना पड़ा।

गरीब ग्रामीण का एक अच्छा उदाहरण था ब्योदोसान् के घर के पास का किसान। पति-पत्नी के अतिरिक्त परिवार में चार लड़के और छै लड़कियाँ थीं। बड़ा लड़का बाप के साथ खेत में काम करता था। दूसरा लड़का योकोहामा में टेक्सी चलाता था, किसी ने अपनी लड़की से शादी करने के लिए उसके लिए एक गाड़ी भी

खरीदकर भाड़े पर चलाने के लिए दे दी है। तीसरा लड़का जब पन्द्रह वर्ष का था, तभी एक फूलवाले किसान के हाथ 500 येन् पर "बिक चुका है"। दो सौ रुपया उसने पेशगी दिया था, काम करते 5 वर्ष हो गये थे, एक वर्ष और काम करने पर छुट्टी मिलेगी। एक लड़की ब्याही जा चुकी थी। दो लड़कियाँ नौ और दश येन् मासिक पर तोक्यो में किसी के घर काम करती थीं। वह साल में दो बार घर आती थीं। बाकी बच्चे अभी छोटे थे। छोटा भाई होने के कारण उसे बाप की सम्पत्ति में से कुछ नहीं मिला। मेहनत-मजूरी करके किसी तरह उसने इस मकान को खरीदा। अब दूसरों के खेतों को अधिया पर जोतकर गुजारा करता है।

जापानी लोगों के बारे में इतना ही कहूँगा, कि साधारण जापानी बड़े ही मधुर स्वभाव के होते हैं। बाहर गये जापानी व्यापारियों के झूठ और धोखेबाजी को देखकर शायद लोग दूसरी धारणा करें, लेकिन वह गलत होगी। जापान की साधारण जनता बहुत ईमानदार है। उनमें स्नेह और प्रेम है, जो विदेशी के लिए और भी बढ़ जाता है। किसी भी गाँव में जाने पर हरेक आदमी मुसाफिर की सेवा करने के लिए उत्सुक दिखाई देता है। कष्ट सहने के लिए उनमें अद्भुत शक्ति है। घर में प्रिय से प्रिय सम्बन्धी मर गया है, लेकिन आप उनके मुख की मुस्कुराहट देखकर कभी समझ नहीं पायेंगे, कि इसके दिल में पीड़ा का तूफान चल रहा है। अपने दुख से दूसरे को दुखी करना वह पसन्द नहीं करता। लेकिन जापानी अपमान को नहीं सह सकता। मृत्यु से इतनी निर्भीक जातियाँ बहुत कम हैं। लेकिन यही सारी बातें जापानी शासकों के बारे में नहीं कही जा सकतीं। वह अपने स्वार्थ के लिए सब कुछ कर सकते हैं। वह साधारण जापानी जनता को यह सिखलाते हैं कि "देश के लिए जो कुछ किया जाय, सब धर्म है" और देश से उनका मतलब है अपना स्वार्थ। साधारण नागरिकों और धार्मिक नेताओं को मैंने बहुत मिलनसार देखा, लेकिन जिन लोगों के हाथ में जापानी शासन की बागडोर है, वह धोखाधड़ी, चालबाजी और क्रूरता में यूरोपियन साम्राज्यवादियों का भी कान काटते हैं। उन्होंने अपने ही देश-भाइयों के साथ ऐसा बरताव किया है, आज भी पाँच, छै हजार जापानी अपने जनहितैषी विचारों के लिए जेलों में बन्द थे।

ब्योदोसान् बहुत सीधे-सादे, व्यवहारशून्य किन्तु उदार विचार के पुरुष हैं। वह एक महंत के ज्येष्ठ पुत्र और उत्तराधिकारी हैं। मैं जापानी जीवन को और उसकी आर्थिक अवस्था को बहुत नजदीक से देखना चाहता था, इसीलिए आमदनी-खर्च, वेतन-मजूरी सबकी छानबीन करता था। जान पड़ता है ब्योदोसान् को ख्याल हो गया, कि मैं कोई ऐसी पुस्तक लिखूँगा, जिसमें जापान का रंग कुछ काला चित्रित होगा। हम नित्ता का स्कूल देखने गये थे। दोपहर के वक्त काफी गर्मी थी, लेकिन उस धूप में भी बच्चे सैनिक कवायद कर रहे थे। जापानी नेता सूर्यदेवी की सन्तान होने के कारण सारी दुनिया की विजय करने का स्वप्न देख रहे थे, उसी तरह जैसे हिटलर जर्मन जाति के शुद्ध (आर्य) होने के कारण उसे ही एकमात्र विश्व के शासन का अधिकारी मानता था। जापानी शासक अभी मंचूरिया और कोरिया-भर से सन्तुष्ट नहीं थे। विश्व-विजय के लिए खून और तलवार की जरूरत होगी, इसलिए स्कूल के छोटे-छोटे लड़कों से ही सिपाही बनाने का काम शुरू होना जरूरी था। हमने स्कूल के लड़के-लड़कियों की पढ़ाई देखी। प्रधानाध्यापक ने सभी बातें प्रेम से बताईं। यहाँ छै साल की पढ़ाई अनिवार्य है, लड़के-लड़कियाँ दोनों के लिए। फिर 4 साल मिडिल की पढ़ाई और 3 साल हाई स्कूल की। विश्वविद्यालय में तीन वर्ष की पढ़ाई है, मेडिकल कालेज में चार साल की। सारे जापान में आधे दर्जन से अधिक औरतें डाक्टर नहीं हैं। स्कूल में मेरे सवाल करते वक्त एक बार ब्योदोसान् नाराज हो गये। कहने लगे—मैं इसे नहीं बतलाऊँगा, इससे जापान की बदनामी होगी। मैंने ठंडे दिल से समझाया—दुनिया में कोई देश देवता नहीं है ? कौन-सा देश है, जहाँ दरिद्रता, मूर्खता और स्वार्थपरता न हो।

हम लोग एक दिन नित्ता से स्टेशन की ओर जा रहे थे। मैं जापान के बारे में अंग्रेजी में जितनी पुस्तकें मिलतीं, उनको पढ़ता रहता था। एक दिन कहीं पढ़ा कि वहाँ एक अछूतों जैसी जाति है। मैं ब्योदोसान् से पूछने लगा कि अमुक जाति अब है या नहीं। उन्होंने मेरा हाथ पकड़कर कहा—अभी चुप रहिए। जब हम उन तीन-चार घरों को पार कर आगे निकल गये, तो उन्होंने कहा—यह इसी जाति के घर हैं, यदि वह सुन लेते, तो बहुत बुरा होता, सर्कार की तरफ से कानून है, यदि कोई इस जाति से भेद करे, तो उसे दंड दिया जायगा।

शहरों में तो वे लोग शादी-ब्याह करके एक हो गये हैं, लेकिन गाँवों में अभी लोगों के दिल से यह भेदभाव नहीं गया है, कम से कम ब्याह-शादी में।

11 जुलाई को 5 बजकर 25 मिनट पर शाम को नित्ता में भूकम्प आया, करीब आध मिनट रहा होगा। सारा मकान हिल रहा था। बिजली की बत्तियाँ खूब हिल रही थीं। 7 बजे रेडियो में सुना कि सीजूओका नगर को काफी नुकसान पहुँचा। वहाँ बहुत से मकान गिरे। भूकम्प होते ही वहाँ के लोग पहिला काम करते हैं, आग को दबा देना।

योकोहामा को मैंने कई बार देखा। और भी आसपास के स्थानों को देख लिया था। यात्राओं में मुझे यही पसन्द है कि गये रास्ते न लौटा जाए। मैं सोच रहा था, सोवियत के रास्ते लौटें तो अच्छा हो, लेकिन मेरे पास पैसा न था। मैंने अमेरिकन वार्षिक पत्रिका 'एसिया' में तिब्बत की चित्रकला पर एक लेख लिखा। उसका 80 डालर (प्रायः 300 रुपये) का चेक आ गया। मुझे प्रसन्नता हुई कि मैं अब सोवियत के रास्ते लौट सकता हूँ। लेकिन अभी सोवियत का बीजा लेना था। सोवियत-यात्रा एजेंसी से बातचीत की। साथ ही मंचूरिया (मंचुकुओ) से भी बीजा लेना था। मंचूरिया के आफिस में गया, तो उन्होंने कहा—हमारे देश का नाम आपके पासपोर्ट पर नहीं है, पहले ब्रिटिश-कौन्सल के पास जाकर हमारे देश का नाम लिखवा लाइए, तब हम बीजा देंगे। ब्रिटिश-कौन्सल ने कहा कि हमारी सरकार ने मंचूरिया की सरकार को स्वीकार नहीं किया, इसलिए मंचूरिया तो नहीं लिख सकते, लेकिन सारे सुदूरपूर्व देशों के लिए लिख देते हैं। खैर, मंचूरिया के आफिस ने भी पासपोर्ट पर बीजा लिख दिया।

21 जुलाई को नित्ता से मैं तोक्यो लौट आया। सबसे ज्यादा प्रयत्न मंचूरिया और सोवियत् के बीजा के लिए करना पड़ा। खैर, सब काम खतम हो गया। अब जापान के कुछ और स्थानों को देखना चाहता था। ब्योदोसान् और उनके परिवार ने जो स्नेह दिखाया था, उससे शाब्दिक कृतज्ञता प्रकट करके मैं उऋण नहीं हो सकता। नित्ता, वहाँ के गाँववाले भद्र नर-नारी, ब्योदोसान्, उनके वृद्ध माता-पिता और भिक्षुणी की स्मृति मेरे लिए सदा मधुर रहेगी। मित्र सकाकिबारा ने एक हफ्ता मेरे साथ घूमने के लिए दिया था। हम दोनों 27 तारीख की आधी रात को तोक्यो से रवाना हुए। अगले दिन 7 बजे सबेरे कोदा स्टेशन पर उतरे। सामान बाइसिकल पर रख दिया। जापानी किसान बाइसिकल का अच्छा उपयोग करते हैं। बाइसिकल के पीछे एक-दो पहिये की रबड़ टायरवाली गाड़ी बाँध देते हैं और दो मन बोझा दौड़ाये लिये चलते हैं। सकाकिबारा को इचीजो-विहार में व्याख्यान देना था। रास्ता दो मील था। हम लोग पैदल चले। चारों ओर खेत में हाथ-सवा हाथ लम्बे धान खड़े थे। जहाँ-तहाँ ऊँची-नीची जमीन और हरी-भरी पहाड़ियाँ दिखाई देती थीं। ऊँचे के खेतों में तूत के पेड़ लगे हुए थे। यह रेशम के कीड़ों के लिए थे। सकाकिबारा ने तो शाम और रात को 3 बार व्याख्यान दिया। एक बार मुझे भी बोलना पड़ा। अगले दिन उन्होंने 4 व्याख्यान दिये। मुझे आश्चर्य होता था कि लोग इतने व्याख्यानों को धैर्य से सुनते कैसे हैं।

31 जुलाई को हम क्योतो पहुँचे। क्योतो एक बार हम देख चुके थे, लेकिन उस वक्त जल्दी-जल्दी में थे। अब की बार 31 जुलाई से 3 अगस्त तक वहाँ ही रहना पड़ा। पुराने राजमहलों को देखा। रूस विजेता नोगी की समाधि को भी देखा। दो तारीख को नारा भी हो आये। मूर्त्तियों और चित्रों का म्युजियम में एक अच्छा संग्रह है। दाईबुत्सु (महाबुद्ध) की धातु की विशाल प्रतिमा का दर्शन किया। वहाँ से तोशो दाईजी गये। यह एक पुराना विहार है, जिसमें दश भिक्षु रहते हैं। स्थविर कितागावा की आयु बहत्तर साल की है। जापान के बौद्धभिक्षुओं में विनय-नियमों पर चलनेवाला यही एक भिक्षु-सम्प्रदाय है। इनके 400 मन्दिर सारे देश में फैले हुए हैं। महास्थविर ने अपने ही जैसे विनय-सम्प्रदाय के एक भिक्षु और साथ ही बुद्ध की जन्मभूमि के निवासी को देखकर अपार स्नेह प्रकट किया। उन्होंने वहाँ रहने का बहुत आग्रह किया, लेकिन मैं तो अब जापान छोड़नेवाला था। वह अच्छे विद्वान हैं। बौद्धगृहस्थ उनका बड़ा सम्मान करते हैं। वह अपनी कठिनाइयों के बारे में कह रहे थे—क्या करें, शिक्षा-दीक्षा देकर लड़कों को तैयार करते हैं, जवानी का जोर बढ़ता है, फिर वह ब्याह करने चले जाते हैं। वस्तुतः जापान में गृहत्यागी भिक्षु रहना कठिन है; क्योंकि स्त्री-पुरुषों का संसर्ग

खुला है। इस मन्दिर में बहुत-सी कलापूर्ण पुरानी मूर्त्तियाँ हैं। जापान में ऐसी वस्तुओं को राष्ट्रधन बना लिया जाता है। यद्यपि वह मूर्त्ति उसी जगह रहने दी जाती है, किन्तु उसकी रक्षा की जिम्मेवारी सर्कार अपने ऊपर समझती है। इस विहार में ऐसे राष्ट्रधन बहुत हैं। हमने नारा में केगोन् (अवतंसक) सम्प्रदाय के विहार को देखा, यहाँ रित्सु (विनय) सम्प्रदाय के विहार को और हाशीमोतों में होस्सो (विज्ञानवाद) सम्प्रदाय के भिक्षुओं को। यही तीनों जापान के सबसे पुराने सम्प्रदाय हैं। उसी दिन हम क्योतो लौट आये।

अगले दिन एक बौद्धसभा की ओर से जलपान का इन्तिजाम हुआ था। फिर 4 अगस्त को क्योजू विहार के प्रधान और जापान के अच्छे विद्वान ओनिशी से मिले। जापान के बौद्धधर्माचार्यों में यह सबसे अधिक भद्र पुरुष मालूम हुए। यह बड़े विद्वान और सम्मानित पुरुष हैं। उन्होंने कहा, आप पढ़ने के लिए भेजिए, मैं पाँच भारतीय बच्चों का सारा भार अपने ऊपर लेने को तैयार हूँ। यह विहार क्योतो के पास की पहाड़ी पर एक बड़े ही रमणीय स्थान में बना हुआ है।

कोयासान्–डेढ़ बजे रेल से हम ओसाका के लिए रवाना हुए। स्टेशन पर विश्वविद्यालय के प्रोफेसर की तरुण स्त्री मिलने के लिए आई। गर्मी बहुत पड़ रही थी, उन्होंने पंखा देना चाहा, किन्तु जापान में स्त्री का पंखा पुरुष इस्तेमाल नहीं कर सकता, इसलिए उसे लेने की जरूरत नहीं पड़ी। टेक्सी से हम लोग दूसरे स्टेशन पर गए। यहाँ से सकाकिबारा ने विदाई ली। सकाकिबारा से परिचय प्राप्त करने का अवसर मुझे बर्लिन में मिला था, लेकिन वहाँ उतनी घनिष्टता नहीं हो पाई थी, और अब गोसाईं जी की चौपाई "बिछुरत एक प्राण हरि लेही" याद आ रही थी। कुछ दूर तक साधारण गाड़ी से जाना पड़ा। फिर तार द्वारा पहाड़ पर चढ़ने वाली बिजली की गाड़ी मिली। अब मैं बिल्कुल अकेला था। लेकिन तीन महीने रह जाने से सौ-डेढ़ सौ जापानी शब्द तो मुझे याद हो गए थे, इसलिए कोई दिक्कत नहीं हुई। बिजली-गाड़ी से उतरकर मोटर-बस पकड़ी। कोयाशान विहारों (मठों) का नगर है। फाटक पर के भद्र पुरुष ने एक पथप्रदर्शक दे दिया और वह मुझे मीजूहारा सान् के पास पहुँचाया आया। मीजूहारा सान् को पहिले ही से मेरे बारे में चिट्ठी मिल गई थी। वह पीत चीवरधारी भिक्षु थे। बड़े प्रेम से मिले। तुरन्त स्नान के लिए गरम पानी का प्रबंध हुआ। चारों ओर सुन्दरता और स्वच्छता दिखाई पड़ती थी। कोयासान् बिल्कुल हिमालय का टुकड़ा मालूम होता है। यद्यपि वह तीन हजार फीट ही ऊँचा है, लेकिन जापान में तो समुद्र के तट पर तीन-तीन फीट बर्फ जम जाती है। सारा पहाड़ ऊँचे-ऊँचे देवादरों से ढँका हुआ है। यहाँ की संस्थाएँ सभी भिक्षुओं के हाथों में हैं। हाईस्कूल के चार सौ विद्यार्थियों में तीन सौ भिक्षु हैं। कालेज के दो सौ साठ विद्यार्थियों में पाँच-सात छोड़ सभी भिक्षु हैं। अगले दिन हमने यहाँ का म्युजियम देखा। चित्रों और मूर्त्तियों का अच्छा संग्रह है। कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर फूचीदा और उयेदा मिले। पुस्तकालय में 70 हजार ग्रन्थ हैं। कोयासान् में जापान के महान् धर्माचार्य कोबो थइशी का निवास स्थान रहा, यहीं उनकी समाधि है। 11, 12 शताब्दियों से यह स्थान जापानी बौद्धों के लिए एक तीर्थस्थान-सा बन गया है। मैं यहाँ के बीसियों विहारों को घूम-घूमकर देखता रहा। दाईजोइन विहार में तीन मंगोल भिक्षु मिले। कोयासान् का प्राकृतिक सौन्दर्य अनुपम है। इसका अनुमान वही कर सकता है, जिसने कनौर (बुशहर राज्य) की देवदार वनस्थली को देखा है, अथवा हिमालय के किसी और देवदार-आच्छादित पर्वतस्थली को। मीजूहारा सान् को इसका बहुत अफसोस रहा, कि मैं दो रात से ज्यादा वहाँ ठहर नहीं सका। मैं भी समझता था कि जापान के लिए मैंने बहुत कम समय दिया। खासकर तोशोदाइजी, क्यो मीजू, और कोयासान् को तो दिन नहीं, महीने देने चाहिए। इन जगहों में मुझे मालूम नहीं होता था, कि मैं किसी दूसरे देश में आ गया हूँ।

अगले दिन 7 बजे सबेरे मुझे विदाई लेनी पड़ी। प्रोफेसर फूचीदा स्टेशन तक पहुँचाने आए। फिर उसी रास्ते ओसाका स्टेशन पहुँचा और ट्रेन पकड़कर कोवे में आनन्दमोहन सहाय के पास पहुँच गया। आनन्दमोहन ने इधर-उधर सूचना दे रखी थी, पत्रों के संवाददाता और फोटोग्राफर पहुँच गए।

7, 8 अगस्त को कोवे ही में रहना पड़ा। अभी भी रुपए की कुछ कमी मालूम होती थी, इसलिए रूस जाना संदिग्ध था। आनन्दजी के प्रयत्न से भारत से 3 सौ 67 येन का चेक मिल गया। अब रूस जाना निश्चित हो गया। लेकिन साथ ही मध्यचीन देखने की भी अब सम्भावना नहीं रह गई।

9 तारीख को 10 बजे आनन्दमोहन से विदाई ली। रेल पर बैठा। 8 बजे शाम को शीमोनोसकी पहुँचा। अब मैं कोरिया जा रहा था। 10 बजे जहाज पर पहुँच गया, लेकिन समुद्र में तूफान का डर था, इसलिए जहाज वहीं खड़ा रहा। मैं तीसरे दर्जे का यात्री था, लेकिन सफाई के लिए क्या कहना। बैठने के लिए बहुत साफ-शीतल-पाटियाँ बिछी थीं, हवा देने के लिए नलियाँ लगी थीं। पाखाना साफ था। मुँह धोने के लिए पीतल के बरतनों पर पचीसों नलियाँ लगी थीं और सामने दर्पण टँगे थे। भोजन का प्रबन्ध भी उत्तम था। 30 सेन (पौने चार आने) में तरकारी, मछली, अचार आदि के साथ भात का एक लकड़ी का बक्स मिलता था। हिन्दुस्तान में तो ऐसे बक्स ही का दो आना लग जायगा। हाँ, भीड़ ज्यादा थी। तूफान के डर के मारे उस दिन जहाज नहीं छूट सका। अगले दिन 10 अगस्त को भी वही हालत हुई। इधर जहाज जाने रुक गये थे, और उधर रेल मुसाफिरों को ढो-ढोकर ला रही थी। हमें दो-दो बार जहाज छोड़कर नीचे उतरना पड़ा। 9 बजे रात को जब जहाज छोड़ा गया तो, भीड़ में कुम्भ का मेला याद आ रहा था। खैर, किसी तरह 10 बजे रात को जहाज कोरिया के लिए रवाना हुआ।

16
कोरिया में

9 घंटा चलने के बाद हमारा जहाज शोमोनोसकी से फूसन (कोरिया) पहुँचा। छोटे-छोटे पहाड़ और उन पर जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे देवदार के दरख्त थे। फूसन 1 लाख 13 हजार (41 हजार जापानी) आबादी का एक अच्छा शहर है। प्राकृतिक दृश्य जापान-सा ही है, किन्तु यहाँ बड़े वृक्ष कम हैं। जापान की रेलवे आई. आर. और ओ. टी. आर. की लाइनों के बीच की है, लेकिन यहाँ जो रेलवे लाइन है वह चौड़ाई में ई. आई. ए. के बराबर है। हमारी ट्रेन तैयार थी, उस पर गद्दा भी था। हमारे डिब्बे में दो कोरियन विद्यार्थी भी चल रहे थे। सवा तीन बजे कोरिया की राजधानी केयिजो में पहुँच गये। केयिजो की आबादी 3 लाख, 15 हजार है, जिसमें 78 हजार जापानी और 4300 चीनी भी हैं। ढूँढ़ते-ढाँढ़ते मैं हीगाशी विहार में पहुँच गया। वहाँ के धर्माचार्य को चिट्ठी मिल गई थी। वह कोङ्गोशान् (वज्र पर्वत) की यात्रा के लिए तैयार थे। उन्होंने मुझे भी चलने के लिए कहा।

अगले दिन (12 अगस्त) को 5 बजे सवेरे ही हम सकुओजी स्टेशन पर पहुँचे। सवेरा होने से मोटर नहीं मिली और हमें पैदल चलना पड़ा। रास्ते में एक कोरियन गाँव मिला। अभी पर्वत आगे था, लेकिन यहाँ भी भूमि समतल नहीं थी। कोरियन किसानों के घर एकतल्ले होते हैं और छत फूस की रहती है, किवाड़ दुहरे रहते हैं, और उनमें कागज साटा रहता है। हम एक जापानी होटल में ठहरे। 10 बजे मोटर से मन्दिर की ओर चले, लेकिन पहले फाटक तक ही वह जा सकती थी। यहाँ देवदार के बड़े-बड़े वृक्ष थे। पाँच, छै देवालय हैं, जिनमें भेसज्जगुरु (बुद्ध), साक्यमुनि और अमिताभ की मूर्त्तियाँ थीं। कला की दृष्टि से उनमें कुछ नहीं था। एक मन्दिर में 500 अरहतों की पत्थर की मूर्त्तियाँ हैं। कहते हैं, एक अरहत नाराज हो गया और चला गया, तब से उसकी जगह खाली है, इन मूर्त्तियों में भी कोई कला नहीं है। यह मन्दिर 14वीं सदी में बना था। हमारे यहाँ भी 11वीं शताब्दी से कला पर शनिश्चर की दृष्टि पड़ जाती है। यहाँ के मठ का उपनायक एक तरुण कोरियन भिक्षु था, जिसने जापान में शिक्षा पाई है। जापानी बौद्धविहारों की कला और स्वच्छता के सामने सकुओजी के इस विहार की कोई गिनती नहीं।

स्टेशन लौटकर हमने दो बजे की गाड़ी पकड़ी और पूर्वी समुद्रतट पर गनूसेन् के बन्दरगाह पर पहुँच गये थे। यहाँ भी हीगाशी होङ्गन्जी सम्प्रदाय के मन्दिर में ठहरे। मालूम हुआ कि ब्लादीवोस्तोक् (सोवियत) से बराबर जहाज यहाँ आया करते हैं। सोवियत सीमा भी यहाँ से दूर नहीं।

कोङ्गोशान्–अगले दिन (13 अगस्त) हम सवेरे जलपान के बाद कोङ्गोशान् के लिए रवाना हुए। अब हम कोरिया के दीहात में से गुजर रहे थे। धान नहीं दिखाई पड़ा, नहीं तो वहाँ सँवाँ भी थे, बाजरा भी था, मक्की भी थी। फसल को मेंड़ के ऊपर बोया गया था, जिससे मालूम होता था, कि खेती के नये तरीकों को लोगों ने अपनाया है। रास्ते में बहुत-सी सुरंगें पार करनी पड़ीं, आखिर कोङ्गोशान् बारह हजार पर्वतशिखरों का प्रदेश है। 10 बजे के करीब हम चूसेन् स्टेशन पर पहुँचे। मोटर बस तैयार थी। होटल का एजेन्ट भी मौजूद था। 1 घंटे बाद हम जापानी होटल में पहुँच गये। इस स्थान को जापानी भाषा में ओसेइरी कहते हैं। यहाँ गरम पानी के चश्मे हैं। जापानी स्नान के बहुत शौकीन हैं, फिर वह हमारे गरम चश्मों की तरह बेकार थोड़े ही जाने देंगे ? यहाँ जापानियों ने कई होटल कायम किये हैं। होटल में जहाँ सस्ता रहने-खाने का इन्तिजाम है, वहाँ पाइप से जलकुंड भी भरे हुए हैं। लोग वहाँ बैठकर नहाते हैं। मैं डर रहा था कि कहीं नंगी स्त्रियों के साथ नंगा न नहाना पड़े। लेकिन उस वक्त मैदान खाली था। स्नान के बाद भोजन किया, फिर दो येन् (डेढ़ रुपया) पर टेक्सी करके तीन मील दूर सीङ्केइजी (कोरियन नाम छिनगेना) विहार देखने गये। यह विहार चौथी-पाँचवीं सदी में स्थापित हुआ था। स्थान निर्वाचित करने में भिक्षुओं ने कमाल किया था। 3 तरफ देवदारों से आच्छादित पर्वत हैं, जिनके 3, 4 उत्तुंग शिखर दर्शक की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहते। यहाँ की सारी इमारतें नई हैं, सिर्फ चीनी ढंग का एक पाषाण स्तूप ही पुराना है। विहार के पास अपने निर्वाह के लिए जंगल और खेत हैं। 20 भिक्षु हैं, जो धर्मप्रचार के लिए कोई उत्सुकता नहीं रखते। एक प्रारम्भिक पाठशाला है। वैसे विहार की अवस्था अच्छी है, नायक स्थविर ने रहने के लिए बहुत आग्रह किया, लेकिन अभी तो हमको 4, 5 मील और आगे जाना था। मुझे देवदारोंवाला हिमालय याद आ रहा था। लौट आने पर कोरियन भोजन चखने का मौका मिला। मिर्च नहीं थी, मैंने समझा कि जापान की तरह यहाँ भी मिर्च नहीं खाई जाती, पर पता लगा कि वह मेरे साथी श्रीकुरिता के ख्याल से ऐसा हुआ था। चिराग जलते-जलते हम अपने होटल में लौट आये।

अगले दिन (14 अगस्त) मैं साढ़े सात बजे मोटर से रवाना हुआ। आज कोरिया के एक बहुत बड़े विहार युतेनजी को देखना था। कोतेई एक अच्छा बाजार है, यहाँ कोरियनों और जापानियों की दूकानें हैं, आगे पैदल का रास्ता था, जिसके लिए एक आदमी का इन्तिजाम कर दिया गया था। साढ़े आठ बजे से साढ़े तीन घंटा चलने के बाद, हम पहाड़ की सबसे ऊँची जगह पहुँचे और सवा तीन घंटे बाद यूतेनजी विहार में पहुँच गये। यहाँ एक सौ से ऊपर भिक्षु रहते हैं। एक पाठशाला है, जिसमें विद्यार्थी पढ़ते हैं। यह विहार भी चौथी सदी में बना था, किन्तु उस वक्त का एक छोटा-सा नौतल्ला पाषाणस्तूप बचा रह गया है। चार सौ वर्ष पुराना एक विशाल घंटा है। पुस्तकालय में 700 वर्ष तक की पुरानी पुस्तकें हैं। स्थान देवदारों से ढँके पर्वतों के बीच में है, इसलिए प्राकृतिक सौन्दर्य के बारे में कुछ कहने की जरूरत नहीं। कोरिया में किसी भारतीय भिक्षु के आने का अवसर सात-आठ सौ बरस से इधर तो नहीं हुआ होगा। उसी दिन लौटने की बात सुनकर वहाँ के भिक्षुओं को बड़ा अफसोस हुआ। वस्तुतः मुझे भी फाशियान और स्वेनूचङ् की तरह अपने साथ समय काफी लेकर चलना चाहिए था, लेकिन तब मैं अभी भी कहीं उधर ही घूमता रहता। शाम को साढ़े सात बजे फिर मैं अपने होटल में लौट आया।

अब अगले दिन हमें कोरिया के सबसे ऊँचे पर्वत विरूहो को देखना था। हमारे साथी अब लौटनेवाले थे, लेकिन उन्होंने तीन जापानी अफसरों से मेरा परिचय करा दिया, जिनमें से एक कोरिया की रेलवे लाइनों के बड़े इंजीनियर थे। हमें कुछ दूर मोटर से जाना पड़ा, फिर पैदल चल के डाँड़ा पार किया, उतराई थोड़ी उतर के टेक्सी मिली। 40 सेन् (5 आना) देकर होतेन तक गये। फिर वहाँ से पैदल। रास्ते में सँवाँ, मकई के खेत मिले। सर्वांग सफेद कपड़े पहिने कोरियन स्त्री-पुरुष अपने काम में लगे थे। मकान वही छोटे-छोटे छप्परवाले। टेक्सी छोड़ने के स्थान से 6 मील जाने पर होटल मिला। आरम्भ में चढ़ाई साधारण थी, फिर कठिन होती गई। पर्वतों के आकार नाना प्रकार के थे। कोई नाग के आकार का, कोई घोड़े के आकार का। जल-मार्ग भी नाग, त्रिपुड़ी आदि आकार के थे। शिलाओं पर जापानी कम्पनियों ने मोटे-मोटे अक्षरों में अपने विज्ञापन

खुदवा डाले थे। आखिरी तीन मील का दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। दर्शनीय जलप्रपात, विचित्र शिला और शिखर, घनी वृक्षावली, जिसमें नीचे की ओर देवदार और ऊपरी भाग पर भोजपत्र थे। ओसेइरी से होटलवाले ने भोजन साथ कर दिया था, रास्ते में हमने वहाँ खाया। उसमें दो दिन का खाने-रहने, स्नान आदि का 8 येन् (6 रुपया) लिया था, जो कि बहुत कम था। हम लोग कुमे होटल में ठहरे। कुमे कोरियन रेलवे के प्रधान अफसर थे, उन्हीं की स्मृति में यह होटल खोला गया। सादगी और सफाई जापानी होटलों की तरह है। बिछौना-ओढ़ना होटल देता है। कोरिया के सर्वोच्च शिखर से यह एक मील पर है। सर्दी खूब थी, लेकिन यात्रियों के आराम का पूरा इन्तिजाम था। रेडियो भी लगा हुआ था।

अगले दिन (16 अगस्त) 8 बजे हमं बिरहो (वैरोचन) शिखर पर पहुँचे। उस दिन बादल था, इसलिए दूर तक हम नहीं देख सके, आसपास के हरे-भरे पहाड़ दिखाई पड़ते थे। प्रस्थान करते बहुत उतरकर पर्वत में उत्कीर्ण एक बुद्धमूर्त्ति देखी, फिर मकाइन (महायान्) विहार आया। यहाँ 30 भिक्षु थे। विहार नया, किन्तु अच्छी अवस्था में था। रास्ते में कई जगह पर्वतगात्र में उत्कीर्ण बुद्धमूर्त्तियाँ और मठ मिले। विहारों की अवस्था अच्छी थी, और जापानी बौद्धभिक्षु सहयोग देते थे। एक बजे चोअनजी विहार में गये। यह बड़ा विहार है, जिसमें कई देवालय थे, कार्यालय भी बहुत साफ-सुथरा था। थोड़ा विश्राम किया। आज के तीनों साथी, डाक्टर, इंजीनियर और भिक्षु गोतो स्टेशन तक मुझे पहुँचाने आये। जापान की तरह यहाँ भी हरेक चीजें सस्ती थीं।

केइजो–(सियोल)–साढ़े तीन बजे की गाड़ी मिली। 5 येन् 22 सेन् (प्रायः 4 रुपया) देकर केइजो का टिकट लिया। साढ़े तीन घंटे बिजली की रेल से गये, फिर ढाई-तीन घंटा साधारण रेल पर चलने के बाद केइजो नगर पर पहुँचे। विहार के धर्माचार्य स्टेशन पर पहुँचे हुए थे। बाजार में एकाध आदमियों से मिलते उनके स्थान पर पहुँच गये। थकावट के मारे देह चूर-चूर थी।

मेरे मित्रों ने जापान से कई परिचितों को पत्र लिख दिया था। चोजिया डिपार्टमेंट स्टोर (महादूकान) के स्वामी को क्योतो के धर्माचार्य ओनीशी का पत्र मिला और वह अपने घर आने की मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। इनकी महादूकान कई हजार तरह की चीजों को बेचती थी, और कई तल्ले के मकान में सैकड़ों स्त्री-पुरुष काम में लगे रहते थे। उन्होंने अंग्रेजी जाननेवाले कोरियन किम महाशय को मेरे साथ पथप्रदर्शक कर दिया। किम महाशय कई साल तक अमेरिका में रहे। वह अंग्रेजी में भी कविता करते थे, किन्तु मेरी उसमें दिलचस्पी न थी। उन्होंने छोसन (कोरिया) की सरकार के सचिवालय को दिखलाया। कोरियन और जापानियों का आपस में बर्ताव बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों का। इतना फरक जरूर है, कि जापानी कोरियन दामाद का स्वागत करते हैं, लेकिन कोरियन इसे शंका की दृष्टि से देखते हैं, उन्हें डर लगता है कि ऐसा करने से चन्द लाख कोरियन 6 करोड़ जापानियों में हजम हो जायेंगे। खैर, मेरे दोस्त और सहायक यहाँ बड़े-बड़े जापानी थे। प्रोफेसर लोग गर्मियों की छुट्टियों में बाहर गये हुए थे, इसलिए उनसे मिलने की सम्भावना नहीं थी। पुरोहित और व्यापारी हर तरह से मेरी मदद करने को तैयार थे।

सचिवालय में मुझे एक खास पथप्रदर्शक मिला, जिसने घूम-घूमकर आफिसों, वाइसराय के सभाभवन, म्युजियम आदि को दिखलाया। म्युजियम में कितनी ही सुन्दर बौद्धमूर्त्तियाँ थीं, जिनसे मालूम होता था, कि कोरियन कला किसी समय बहुत उन्नत थी। कोरियन राजा के सिंहासन-भवन को भी देखा। कोरिया के राजवंश का जापान ने उच्छेद नहीं किया। उसे राज के अधिकार से वंचित कर दिया और साथ ही जापानी सम्राट् के वंश में शादी-ब्याह कराके उसे कोरियन नहीं रहने दिया। जापानी सिंहासन-दरबार किस तरह का है, उसे न मैंने देखा, न देखने की इच्छा ही थी। सूर्यदेवी के पुत्र होने से जापान का सम्राट् मर्त्य नहीं, देवता है। देवता के लिए आदमी जितनी बेवकूफियाँ करता है, सम्राट्भक्त सीधी-सादी जापानी प्रजा को वह सब करना पड़ता था। जापान के सम्राट् का महल काबा-काशी है, उधर पैर करके नहीं सोना चाहिए। सम्राट् की छाया के सामने भी साष्टांग दंडवत् करनी चाहिए। उसका व्यक्तिगत नाम नहीं लेना चाहिए इत्यादि-इत्यादि। जब बीसवीं सदी के मध्य में प्रजा को इस तरह नाटक करना पड़ता है, तो कोरियन दर्बार तो पुराने युग का अवशेष था। उसके राजा यदि दो अमात्यों के कन्धे के सहारे उतरें, और अलग-अलग पाषाणफलकों के पास अपने दर्जे के अनुसार

लोग घुटने टेककर बैठे रहें, तो इसके लिए आश्चर्य करने की जरूरत नहीं। वाइसराय के सभाभवन में खूब सजावट थी। सामने जापान-सम्राट् का बड़ा चित्र टँगा था। यहीं कोरिया का राजसिंहासन पड़ा था। पुराने राजमहल भी श्रीहीन थे। शहर दिखलाते हुए किम महाशय मुझे अपने निवासस्थान पर ले गये। लोग छोटी-छोटी कोठरियों में रहते थे। किम महाशय 27 येन् (प्रायः 20 रुपया) मासिक देते थे, जिसमें उन्हें रहने के लिए कोठरी और खाना भी मिलता था।

मेरी बातचीत से किम को मालूम हो गया, कि मैं कोरिया की स्वतन्त्रता का पक्षपाती हूँ। उन्होंने कोरियन भोज़न खिलाया, जिसमें भात, तरकारी, मछली, मांस और अचार थे। यहाँवाले मिर्च-मसाले को इस्तेमाल करते हैं। भोजन हिन्दुस्तानी जीभ के ज्यादा अनुकूल मालूम हुआ। सवा 8 बजे वह एक कोरियन नाटक दिखलाने ले गये। इसमें मंचूरिया के चीनी जरनलों की बेईमानी दिखाई गई थी। कोरियन संगीत में जापानी संगीत की तरह ही यूरोपियन प्रभाव है। मुझे कई और कोरियन जवानों से बात करने का मौका मिला। यद्यपि जापान के वर्षों के क्रूरदमन के कारण, वह खुलकर अपने भावों को प्रकट नहीं करना चाहते थे, लेकिन मालूम होता था कि कोरियन अपने देश को आजाद देखना चाहते हैं। जापानी पुरुष बेरोक-टोक यूरोपियन पोशाक पहनते हैं, किन्तु कोरियन वैसी पोशाक पहनकर जापानी कहलाने के लिए तैयार नहीं। वह अपने लम्बे चोगा-जैसी पोशाक को पहिनने में अभिमान अनुभव करते हैं।

अगले दिन (18 अगस्त) दिन-भर यहीं रहना पड़ा। 4 बजे बौद्धक्लब में मुझे चायपार्टी दी गई, वहाँ कई जापानी व्यापारी और धर्माचार्य्य मौजूद थे। सभी बौद्ध होने के कारण मेरे साथ आत्मीयता प्रकट कर रहे थे। उनके व्यवहार में कोई बनावट नहीं थी। रात को सवा 8 बजे कई मित्र मुझे रेल पर पहुँचाने आये, उनका आग्रह था कि मैं भारत से कुछ बौद्धभिक्षुओं को यहाँ भेजूँ। ट्रेन छूटी। मैं कुछ लिखना चाहता था, लेकिन गाड़ी बहुत हिल रही थी।

17
मंचूरिया में (1935 ई.)

19 अगस्त को सुबह मैंने कोरिया की सीमा पार कर मंचूरिया में प्रवेश किया। 7 बजे ट्रेन अनूतुङ् पहुँची। कस्टमवालों ने चीजों की देखभाल की। गाड़ी फिर चली, भूमि अधिकतर पहाड़ी थी, लेकिन चारों ओर खेत ही खेत दिखलाई पड़ रहे थे। खेतों में मक्का, बाजरा जैसे मेरे परिचित पौधे खड़े थे। सेम या उड़द के पत्तोंवाली सोया भी लगी हुई थी। वर्षा पड़ रही थी। सभी स्टेशनों पर मोर्चाबन्दी और जापानी सैनिक दिखाई पड़ते थे, जान पड़ता था, जापानी अब भी निश्चिन्त नहीं हैं। लोग अधिकांशतः चीनी थे। बाल कटाये, लम्बा अँगरखा पहिने चीनी स्त्रियाँ घूम रही थीं। मुझे यह पोशाक बहुत भद्दी मालूम हुई, खासकर स्त्रियों के बित्ते-बित्ते-भर के कटे बाल, जो कि लोहे की तार की तरह सीधे पड़े दिखलाई पड़ते थे। घड़ी हमें एक घंटे पीछे करनी पड़ी, क्योंकि हम काफी दूर पच्छिम चले आये थे। डेढ़ बजे मुक्दन् पहुँचे।

मुक्दन्—स्टेशन पर हिगाशी मन्दिर के धर्माचार्य आये थे, उनके साथ उनके विहार में गये। यहाँ भी मुझे जापानी घर का मेहमान बनना पड़ा। मुक्दन् कुछ समय तक राजधानी रह चुका है। मंचू-राजवंश पहिले यहीं का था, अब भी यहाँ मंचूसम्राटों के प्रासाद हैं, पुराने सिंहासन और राजवस्त्र रखे हुए हैं। प्रान्तीय जादूघर (म्युजियम) पहले मंचू-प्रासाद था। उसमें मंगोल, सुङ् और मंचू सम्राटों और साम्राज्ञियों के चित्र रखे हुए थे। मुक्दन् के और भी कई दर्शनीय स्थानों को देखा। पुराने शहर के चारों तरफ चहारदीवारी है। सफाई का कोई ख्याल नहीं। मेरे मित्र मुझे वनस्सुइ नामक बड़े बौद्धविहार में ले गये। यह मंचूरिया का सबसे बड़ा चीनी मठ कहा जाता है, लेकिन जापानी क्या, कोरियन मठों जैसा भी यहाँ कोई संगठन नहीं। सभी चीजें अस्तव्यस्त

मालूम होती थीं। पता लगा कि यहाँ एक लामा मन्दिर भी है। हम लामा मन्दिर देखने गये। यह कुछ दूर हटकर उजड़े-से स्थान में है। लामा मन्दिर में राजा की दी हुई वृत्ति है। यहाँ 40, 50 मंगोल भिक्षु मौजूद थे। मालूम होता था मैं तिब्बत की किसी गुम्बा में चला आया हूँ। यहाँ टशीलामा के 2, 3 आदमी ठहरे हुए थे, मुझे फरफर तिब्बती बोलते देख वह दिल खोलकर मिले, चाय पिलाई, तिब्बत के बारे में पूछते रहे। वह बहुत खिन्न थे, क्योंकि तिब्बत लौटने का उन्हें कोई रास्ता नहीं दिखाई पड़ता था।

22 अगस्त को मेंने हवाई जहाज से सिङ्किङ् जाने का निश्चय किया था। लेकिन एक दिन पहिले से ही दस्त शुरू हो गये। अगले दिन भी दस्त होता रहा, इसलिए हवाई जहाज से जाने का निश्चय छोड़ना पड़ा। सिङ्किङ् मुकदन् से 200 मील पर है। रात को 10 बजकर 25 मिनट पर मैंने रेल पकड़ी।

सिङ्किङ्—सवेरे 6 बजकर 40 मिनट पर मैं सिङ्किङ् पहुँचा। यहाँ भी हिगाशी विहार के पुरोहित स्टेशन पर आये थे। मोटर से उनके साथ विहार में गये। विहार एक छोटे-से स्थान पर है। जापान के एक करोड़पति कोन्ट-महंत के लिए यह शोभा नहीं देता, कि मंचूरिया की राजधानी में उनका इतना छोटा-सा मन्दिर हो। लेकिन यह जल्दी-जल्दी का काम था, अब एक और बड़ी जगह मौके से ले ली गई है, जहाँ लाखों का मन्दिर बनने जा रहा है। मेरी तबियत ठीक हो गई थी। भोजनोपरान्त पुराहित के साथ मैं नगर देखने निकला। हरेक जापानी—चाहे व्यापारी हो, या पुरोहित, प्रोफेसर हो, या सैनिक सभी—जापान की यशः पताका को ऊँचा करना चाहता है। उनको ख्याल भी नहीं आता, कि जिन लोगों की स्वतन्त्रता को उन्होंने अपहरण किया है, उनके दिल पर क्या बीत रही है। कूटशासकों की बात छोड़िये, ईमानदार जापानी भी सोचते हैं—"भीतरी कमजोरियों के कारण जो देश यूरोपीय भेड़ों का शिकार हैं, उन्हें यदि हम अपनी छत्रच्छाया में ले लेते हैं, तो कौन-सा बुरा करते हैं ? चीनी मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य, संस्कृति, सभ्यता का हम भी अपने को उत्तराधिकारी मानते हैं, इसलिए हम उनकी रक्षा करना चाहते हैं। हम रंगभेद को नहीं मानते और सबके साथ खुला शादी-ब्याह का सम्बन्ध कायम करना चाहते हैं। क्रूर, लुटेरे जेनरलों के शासन को हटाकर हम सुव्यवस्थित शासनव्यवस्था स्थापित कर रहे हैं, उद्योग-धन्धों को बढ़ा रहे हैं, और उसमें चीनी व्यवसायिओं का स्वागत करने के लिए तैयार हैं।" लेकिन उनका यह सोचना बिल्कुल एकतरफा है, यह सब कुछ जातीय स्वतन्त्रता के सामने कोई चीज नहीं है। अन्धा भी समझ सकता है, जापानी मंचूरिया में सिर्फ परोपकार के लिए नहीं आये हैं। पिछले तीन वर्षों में सिर्फ सिङ्किङ् में जापानी 10 हजार से 40 हजार हो गए। अच्छे-अच्छे मकान, अच्छी-अच्छी दूकान, नगर का सबसे स्वच्छ स्थान उनके हाथ में है। जापानी सेना की अपनी अलग ही सरकार है—जापान में भी, और जापानी सेना जहाँ जाय, वहाँ भी।

पहिले हम जापानी (क्वानुतुङ्) सेना के कार्य-भवन में गये। प्रोपेगंडा के लिए अंग्रेजी में छपे बहुत-से बुलेटिन हमें दिये गये। जापानी प्रोपेगंडा के महत्त्व को समझते हैं, लेकिन उनका सबसे अधिक विश्वास अपनी चालाकी और तलवार पर है। दूसरे दिन (24 अगस्त) कई सरकारी विभागों में गये। शिक्षा विभागों के डाइरेक्टर तथा दूसरे अफसर मिले, उन्होंने यह समझाने की कोशिश की, कि जापान मंचूरिया से अज्ञान को जल्दी से जल्दी दूर करना चाहता है। मंगोलविभाग अलग था, जो मंचूरिया के मंगोल इलाके का जिम्मेवार था। लेकिन जापानी इसे सिर्फ मंचूरिया के मंगोलों के लिए ही इस्तेमाल नहीं करना चाहते, बल्कि उनके सामने बाह्य मंगोलिया का स्वतन्त्र प्रजातन्त्र और बुर्यत् सोवियत प्रजातन्त्र भी था। वह आशा रखते थे, कि एक दिन सारी मंगोल जाति उनके झंडे के नीचे आयेगी। 3, 4 साल बाद उन्होंने मंगोल प्रजातन्त्र में पैर भी रखा था, लेकिन बहुत पिटना पड़ा था, कई हजार आदमियों को मरवाकर शान्ति-भिक्षा के लिए नाक रगड़नी पड़ी थी। मैंने पुराने शहर को भी देखा। उस महल को भी देखा, जिसमें मंचूरिया के खिलौने राजा पूई रहते थे। शहर में घूमते वक्त दो सिन्धी दूकानें मिलीं। बूलचन्द और दौलतराम हैदराबाद सिन्ध के रहनेवाले थे। मुझे जब पहिले कहा गया, कि यहाँ हिन्दुस्तानी दर्जी रहते हैं, तो मैंने समझा कोई दर्जी की दूकान होगी। लेकिन यहाँ तो अच्छी सजी हुई कपड़े की दूकान थी, वैसी ही जैसे मैंने पोर्टसईद और कोलम्बो में देखी थी। उन्होंने बतलाया कि हमारी दूकानें मुकदन और हर्बिन् में भी हैं। जापानियों की प्रतिद्वंद्विता से वह बहुत परेशान थे, और भविष्य

के लिए बड़ी आशा नहीं रखते थे।

सिङ्किङ् नगर को बहुत बड़े पैमाने पर बसाया जा रहा था। तीन वर्षों के भीतर आबादी 1 लाख 52 हजार से 2 लाख 18 हजार हो गई थी। कुछ ही दिनों में वह 6,7 लाख होने जा रही थी। दक्षिणी मंचूरिया रेलवे ने मुझे घूमने के लिए पहिले दर्जे का टिकट दिया था, लेकिन मैं अब सोवियत की ओर जल्दी बढ़ना चाहता था, इसलिए उसे सधन्यवाद लौटाना पड़ा।

हर्‌बिन्–कुछ ही समय पहिले सिङ्किङ् से आगेवाली रेलवे लाइन सोवियत की सम्पत्ति थी। और सिङ्किङ् तथा दूसरे स्टेशनों पर बहुत अधिक रूसी अधिकारी रहते थे। बाद में जापान ने यह रेलवे सोवियत से खरीद ली। रूस में क्रान्ति हुई। धनियों ने क्रान्ति को खतम करने के लिए कोई बात उठा न रखी। दुनिया-भर के पूँजीपतियों ने क्रान्तिविरोधियों की खूब मदद की। क्रान्तिकारी लाल कहे जाते थे और क्रान्तिविरोधी सफेद रूसी। सफेद रूसियों ने वर्षों लड़ाई लड़कर पराजय का मुँह देखा। फिर वह भागकर पड़ोसी देशों में चले गये। लाख या अधिक सफेद रूसी मंचूरिया में भाग आये। उसी तरह हजारों ईरान में भाग गये और लाखों यूरोप के दूसरे मुल्कों में। धर्म और क्या-क्या कहकर कितने ही साधारण रूसियों को भी बहकाया गया। धनी रूसी तो दूसरे मुल्कों में भी जाकर अपने सोना या हीरा-मोती को बेंचकर दूकान या रोजगार कायम करने में सफल हुए। और नहीं तो उनकी फैशनेबुल सुन्दर लड़कियों ने ही शरीर बेचने का रोजगार शुरू किया। शाङ्हैई की श्वेतांग वेश्याओं में सफेद रूसियों की बड़ी अधिक संख्या है। लेकिन, उनके साथ अपने भाग्य को नत्थी करने वाले साधारण रूसियों पर आफत आई। सोवियत ने हजारों को देश लौटने की इजाजत दी, लेकिन अब भी हजारों सिङ्किङ् में मौजूद थे। इनका एक छोटा-सा गाँव बसा हुआ था। कितने ही सफेद रूसी रेलवे में चपरासी, पैटमैन जैसी नौकरियाँ कर पेट पालते थे। इनका चमड़ा वैसे ही सफेद था, जैसा अंग्रेजों, अमेरिकनों या फ्रांसीसियों का, किन्तु मंचूरिया में सचमुच ही सफेद चमड़े की कोई कीमत न थी।

4 बजे बाद हमारी रेल सिङ्किङ् से चली। गाड़ियाँ उतनी साफ नहीं थीं। स्टेशनों के नाम अब भी रूसी अक्षरों में लिखे हुए थे। आसपास के खेतों में बाजरा, सोया खड़े थे। नीले रंग के कुरते-पायजामे पहिने चीनी किसान कहीं अपने कामों में लगे थे, कहीं अपनी छोटी-छोटी झोंपड़ियों के सामने खड़े थे। साढ़े 6 बजे हमारा इंजन बिगड़ गया और कितनी ही देर तक यहीं रुका रहना पड़ा। फिर हर्‌बिन् से इंजन आया, तो हमारी गाड़ी चली और साढ़े 12 बजे रात को हम हर्‌बिन् पहुँचे। उस वक्त हिगाशी मन्दिर में पहुँचने में दिक्कत होती, लेकिन मन्दिर के पुजारी सिङ्किङ् से हमारे साथ ही आये थे, इसलिए वह हमें साथ ले गये। एक छोटी-सी जगह थी, जो आठ-नौ प्राणियों के लिए काफी न थी, पीछे की ओर लोहा-लक्कड़ भरा हुआ था। एक अच्छा मन्दिर बनाने के लिए जमीन भी ले ली गई थी। मच्छर नहीं थे, इसलिए हम आराम से सो गये। अब दो दिन हर्‌बिन् ही में रहना था। बैंक भी आज (25 अगस्त) अतवार होने से बन्द था।

यहाँ घोड़ेगाड़ी वाले अधिकतर रूसी थे, पुलिसमैन भी कितने ही रूसी थे और कुली भी ज्यादा वही थे। बहुत-से सफेद रूसियों को मैंने फटे और बुरे कपड़ों में देखा। कितनों के पैरों में जूता नहीं था और वह फुटपाथों पर बैठे थे। एक रूसी अर्थी का जलूस देखा। शायद कोई सफेद रूसियों का नेता मर गया था। जुलूस बहुत भारी था, जिसमें हजारों स्वस्तिकवाले थे। शायद यह लोग हिटलर से अपने भाग्य पलटाने की आशा रखते थे। आगे-आगे रूसी ईसाई भिक्षु चल रहे थे, उनके बड़े-बड़े केश, दाढ़ी, विचित्र पोशाक को देखकर मालूम होता था, कि जारशाही रूस का जनाजा कैसे निकलता होगा। हम अगले दिन दोपहर को सामान ले चीरोसूसू (गोकुराजी या सुखावती) विहार में गये। शायद मंचूरिया के किसी और मन्दिर में बौद्धभिक्षुओं की इतनी संख्या नहीं थी। यहाँ 175 भिक्षु रहते थे, जिनमें 35 विद्यालय में पढ़ते थे। तेन्दाई सम्प्रदाय के 7 जापानी भिक्षु भी इन्हीं के साथ रहते थे। विहार के नायक ने भारतीय भिक्षु का बड़ा सत्कार किया, चीनी भोजन कराया। चीनी मांस नहीं खाते, लेकिन उन्होंने फलाहारी भोजनों की बहुत-सी किस्मों का आविष्कार किया है। भोजन के बाद भी हम विहार को घूम-घूमकर देखते रहे। यहाँ कितने ही मन्दिर और रहने के बहुत-से घर हैं। विहार अच्छी अवस्था में है। महंत भी हमारे साथ हुए और हम शहर की ओर चले। दुभाषिया का काम एक जापानी भिक्षु

कर रहे थे और मैं अपने सौ-डेढ़ सौ जापानी शब्दों के बल पर बात कर रहा था। मन्दिर शहर से बाहर है। रूसी महल्ले में बड़ी-बड़ी दूकानें और अच्छे-अच्छे मकान हैं, सड़कें भी बहुत खराब नहीं हैं, लेकिन चीनी मुहल्लों की बुरी हालत है। हम जुङ्गारी नदी के किनारे गये। यह गंगा की तरह एक बड़ी नदी है, जिस पर रेल के लिए पुल बँधा हुआ है। नाव पर चढ़कर थोड़ी सैर की। शहर में आकर एक फिल्म देखने गये। फिल्म अमेरिकन था, लेकिन दर्शकों में रूसी ज्यादा थे। हर्‌बिन् रूसी भिखमंगों और रूसी औरतों की आवारागर्दी का अड्डा है। मुझे ताज्जुब होता था, कि क्यों इन्होंने अमीरों के फन्दे में पड़कर इस जिन्दगी को पसन्द किया।

अगले दिन (26 अगस्त) मैंने 'ऐसिया' के चेक को भुना लिया। 78 डालर से कुछ अधिक मिले। और पैसों के डालर अमेरिकन एक्सप्रेस कम्पनी के यात्री-चेक के रूप में पहिले ही भुना चुका था। 160 डालर देकर मनचूली से मास्को होते बाकू तक का टिकट ले लिया। अभी भी मेरे पास 210 डालर बचे थे। विहार के नायक और दूसरे भिक्षुओं ने मेरे साथ कितना सौहार्द दिखलाया, यह डायरी के इस वाक्य से मालूम होगा—"इस विहारवालों ने सौजन्य में हद मुका दी।"

मनचूली—अगले दिन (27 अगस्त) 9 बजे के बाद हमारी गाड़ी चली। जुङ्गारी का पुल पार किया। भूमि समतल मैदान-सी थी। हरी खेती खड़ी थी। गाँव में आबादी चीनियों की थी, स्टेशनों पर रूसी भी दिखाई पड़ते थे। रेल के अफसर अधिकतर जापानी और कुछ चीनी भी थे। रूसी ज्यादातर पैटमैन, चौकीदार या सिपाही, अर्थात् वह वही काम करते थे, जो यू. पी., बिहारवाले बंगाल में करते हैं। हमारे कम्पार्टमेंट में तीन रूसी थे, जिनमें दो स्त्रियाँ थीं। एक स्त्री पुराने फटे किसी उपन्यास को समाप्त करने में लगी हुई थी। ट्रेन और स्टेशनों पर शस्त्रधारी सैनिक पहरा दे रहे थे, जिससे मालूम हो रहा था, कि चीनी देशभक्तों ने अभी हथियार नहीं डाला है। डिब्बे में जगह बहुत थी, सोने का आराम था। जापान से लेकर यहाँ तक लाल-लाल तरबूजे खूब मिलते रहे।

सबेरे उठने पर मालूम हुआ, कि रात को हमारी गाड़ी भी कहीं लेटी थी, अब आसपास छोटे-छोटे पहाड़ थे, जिन पर देवदार और भोजपत्र उगे हुए थे। यहाँ मैदान में भी भोजपत्र के वृक्ष थे, जो कि हिमालय में 12 या 13 हजार फीट ऊँचाई से कम पर नहीं होते। इसका अर्थ यह हुआ, कि वह जगह गंगोत्री और बद्रीनाथ से भी ठंडी है। अब खेत कम दिखाई पड़ रहे थे, किन्तु मवेशी ज्यादा थे, और उनके लिए घास भी मौजूद थी। हमें सवा सात बजे मनचूली पहुँचना था, किन्तु गाड़ी 9 घंटा लेट थी। 11 बजे खैलर (हैलर) पहुँचे। यह मंगोल इलाका है। मंगोल ज्यादातर पशुपालन से जीविका चलाते हैं, इसलिए उन्हें शहर और कसबे से क्या मतलब ? खैलर में चीनी और रूसी ज्यादा हैं। मंगोल और जापानी भी हैं। खैलर मंचूरिया के मंगोल-प्रदेश के 4 जिलों में एक का सदर है। यहाँ हमारे डिब्बे में तीन मंगोल सवार हुए, जिनमें एक तो हिन्दुओं की तरह चोटी रखे था, जिससे मालूम हुआ, कि वह गृहस्थ है। भिक्षु से अलग पहिचान करने के लिए गृहस्थों को सारा केश नहीं कटाना पड़ता, वह सिर में छोटी-सी चुटैया रख छोड़ते हैं। दुनिया के सभी देशों में हजारों वर्षों तक सिर पर लम्बे केश रखने का रिवाज रहा—अस्तुरा मिलना भी तो इतना आसान नहीं था। लेकिन जब लोगों ने इस ख्वाहमख्वाह की गन्दगी और बोझ का सफाया करना शुरू किया, तो भी प्राचीनता (धर्म) के पक्षपात के कारण वह सारे सिर को घुटा नहीं सके, इसीलिए मंगोलों ने भी चोटी कायम रखी। चीनियों के सिर में चोटी रही। सोवियत् के एक ऐतिहासिक फिल्म में उकरइन के मर्दों के सिर पर भी मैंने वैसी ही चोटी देखी और हिन्दुस्तान में भी वही चोटी; लेकिन, शायद और कहीं चोटी को इतनी जबर्दस्त धर्म-पताका बनने का अवसर नहीं मिला। हिन्दू सबसे बड़े मल्लू निकले, और सब जगह चुटिया खतम हो गई, किन्तु यहाँ मौजूद है। हमारा साथी-मंगोल अभी भेड़ों की चरवाही करता है, इसलिए उसके पास हवा नहीं पहुँची, दूसरे मंगोल तो अन्धकारयुग के इस चिह्न को मिटा चुके हैं।

मेरी नजर दोनों मंगोल भिक्षुओं पर पड़ी। यकायक मेरे मुँह से तिब्बती शब्द निकल आये। मैं उम्मेद नहीं करता था, कि मुझे मंचूली तक मुँह खोलने की जरूरत पड़ेगी। भिक्षु ने तुरन्त उत्तर दिया। मैं जानता था, मंगोल लोग अपने धर्मग्रंथों को तिब्बती में पढ़ते हैं, लेकिन हर गीता के पाठ करनेवाले हिन्दू से यह आशा

नहीं रखी जाती, कि वह संस्कृत में जवाब देगा। खैर, मैं वहाँ के भिक्षुओं के बारे में कुछ बातें पूछता रहा। उसकी श्रद्धा और बढ़ी, जब उसे मालूम हुआ, कि मैं बुद्ध की मातृभूमि का रहनेवाला हूँ। उसने बतलाया, रास्ते से हटकर कितने ही मठ हैं। मन में इच्छा तो होती थी, कि इन मठों को भी देख आयें, वहाँ भाषा की कोई दिक्कत नहीं थी, और भारतीय भिक्षु का सब जगह स्वागत भी खूब होता। मंगोल लोगों के बारे में जानने-सुनने का मौका मिला। लेकिन मेरे शरीर में तो डोरी बँधी हुई थी। दोपहर बाद अब मैदान समतल कुछ नीचा-ऊँचा आया। घास बहुत थी। रूसी घोड़ेवाली मशीन से घास को काट रहे थे। इधर के रूसी ज्यादातर घोड़े-गाय और सुअर पालते हैं और स्टेशनों के पास बसे हुए हैं। मंगोल रेलवे लाइन से दूर अपने तम्बुओं में रहते हैं।

वृक्षों की पत्तियाँ पीली पड़ने लगी थीं, जाड़े के आने की सूचना यह थी। घास भी मुरझाने लगी थी। कहीं जंगल नहीं था। बहुत थोड़ी जगह जंगली बीरी दिखाई पड़ी। स्टेशन पर सफेदे लगे हुए थे। यहाँ के मकान छोटे-छोटे और मिट्टी की छतों के हैं, जैसे पच्छिमी यू. पी. और पंजाब के। लेकिन धुआँ निकलने के लिए हर घर में चिमनी है। चार बजे गाड़ी मनचूली स्टेशन में पहुँची। यही मंचूरिया का आखिरी स्टेशन है, अगला स्टेशन सोवियत-भूमि में है। पता लगा, मास्को की गाड़ी कल पौने चार बजे जायगी। जापानी जहाँ पहुँचे, वहाँ भला उनका होटल गये बिना कैसे रह सकता है ? इसमें शुबहा नहीं कि उनके होटल साफ-सुथरे और सस्ते होते हैं। मैं तमाया होटल में चला गया। एक कोठरी दी गई, एक जापानी तरुणी ने मुस्कुराते हुए अभिवादन किया। नहाने का अच्छा स्थान था। सर्दी यहाँ बहुत ज्यादा थी, और अब मुझे एक हफ्ता साइबेरिया की सर्दी से गुजरना था। मैंने यहाँ से एक ओवरकोट खरीदा, जिसके बारे में हिन्दुस्तान में मेरे दोस्त कहते थे कि बीस रुपये से अधिक तो, इसकी सिलाई लग जायगी। और कौन कपड़ा खरीदा था, यह याद नहीं; पर यह जरूर याद है, कि मंचूरिया में मेरे भिक्षुओं के कपड़े बक्स में बन्द हो गये थे।

18

सोवियत-भूमि की प्रथम झाँकी (1935 ई.)

लोगों ने हल्ला कर रखा था, कि सोवियत में रोटी, पनीर, मांस खाने को नहीं मिलते; मिलते भी हैं, तो बहुत महँगे। मैंने हफ्ते-भर के खाने के लिए एक ढेर पावरोटियाँ खरीदीं, मक्खन और पनीर के दो बड़े-बड़े गोले लिये। सूअर के मांस की सौसेज भी काफी बाँध ली (अँतड़ी में मांस के टुकड़ों को भरकर उसे पकाया जाता है। उसमें नमक-मसाला भी रहता है, इसी लम्बी-लम्बी गुल्ली को सौसेज कहते हैं)। लेकिन पीछे मालूम हुआ, कि मैंने फजूल ही इन चीजों से अपने कम्पार्टमेंट को भरा। 29 अगस्त को 4 बजे शाम को गाड़ी रवाना हुई, अब इस ट्रेन को 4 सितम्बर को (7 दिन में) मास्को पहुँचना था। 29 अगस्त से 21 सितम्बर तक (14 दिन में) मुझे सोवियत-भूमि में साँस लेने का मौका मिला। मैं इसे अपना धन्य भाग समझता था। 1917 की लालक्रान्ति ने दुनिया के करोड़ों आदमियों में विचारों की क्रान्ति पैदा की, और मेरे विचारों पर तो उसने स्थायी मुहर लगा दी। यद्यपि अभी मुझे 10 साल और आर्यसमाज के थोड़े-बहुत असर में रहना था, फिर बौद्धदर्शन का पल्ला पकड़ना था; परन्तु मुझे किस दिशा में जाना है, इसका निर्णय 1917 के अन्तिम मासों में हो गया था, जब कि खबरों से मुझे इतना मालूम हुआ कि रूस में राजा और धनियों का शासन खतम कर दिया गया, अब वहाँ गरीबों का राज है। मैंने इतनी पूँजी से अगले साल (1918) 'बाईसवीं सदी' लिखने के लिए खाका भी बना लिया, यद्यपि उसे पुस्तक का रूप देने में अभी 5, 6 वर्ष की और देर थी। गाँवों, शहरों, स्त्री-पुरुषों, का जो स्वरूप मैंने 'बाईसवीं सदी' में चित्रित किया था, वह कल्पना-जगत की चीजें थीं। लेकिन यहाँ ठोस दुनिया में उन्हें साकार रूप दिया जा रहा था, फिर सोवियत भूमि को मैं अपनी श्रद्धास्पद भूमि समझूँ, तो आश्चर्य क्या ? मनचूली से थोड़ा चलने के बाद को फासिस्टवादी जापान और साम्यवादी सोवियत की सीमा मिली।

वहाँ वृक्षरहित तृणपूर्ण पहाड़ियाँ थीं। फिर सोवियत का पहिला स्टेशन आया, गाड़ी ठहर गई। कस्टमवालों ने हमारी चीजों को देखा, मेरे पास कोई उतनी चीज नहीं थी। पासपोर्ट को देखा तो मालूम हुआ, कि वीसा की मियाद खतम हो गई है। मैं डरने लगा, कि कहीं यहीं से मनचूली लौटना न पड़े, फिर मैंने उन्हें समझाया—हम परतन्त्र देशों के आदमियों को सोवियत-भूमि में आने के लिए हजारों तरह की रुकावटें हैं, आप को इसका भी ख्याल करना चाहिए। थोड़ी देर बाद उसने कहा—अच्छा कोई परवाह नहीं। मैं सिर्फ आरपार हो जानेवाला मुसाफिर था, इसलिए मेरे रोलैफेक्स (केमरे) को बाँधकर राँगे की मुहर कर दी गई। हमारे कम्पार्टमेंट के 4 आदमियों में एक लिथुआनियन था, जो अमेरिका से आ रहा था। कागज में लपेट-लपेटकर प्याले, स्फटिक के बर्तन और क्या-क्या चीजें उसने बक्सों में भर रखी थीं। उसकी चीजों की जाँच-पड़ताल बहुत अधिक की गई। स्टेशन पर लेनिन, स्तालिन और दूसरे नेताओं की बड़ी-बड़ी तसवीरें टँगी थीं। लड़के स्वस्थ और बहुत खुश मालूम होते थे। स्त्रियाँ वैसी ही गोरी थीं, जैसी लन्दन और पेरिस की, किन्तु यहाँ उनमें वह अन्तर नहीं था, जो यूरोप के भिन्न-भिन्न वर्गों की स्त्रियों में पाया जाता है। ट्रेन की चौथी गाड़ी की 16वीं ऊपरली बर्थ मेरी थी। कम्पार्टमेंट के चारों आदमियों के पास काफी सामान था, और वह चारों ओर भरा हुआ था। खैरियत यही थी कि सोवियत की रेलों में सारी की सारी बर्थ (बेंच) एक आदमी को मिलती है, इसलिए सोने की कोई दिक्कत नहीं हुई।

उस दिन तो जल्दी ही शाम को अँधेरा होने पर मैं सो गया। दूसरे दिन सवेरे उठकर नीचे आया। बाहर की ओर देखा, तो वृक्षों में भोज के वृक्ष ही अधिक है। गाँव के मकानों में भी अन्तर था : वह ज्यादा अच्छे थे। लोगों के शरीर पर मजबूत कपड़े थे, लेकिन शौकीनी सफेदपोशी नहीं थी। गाड़ी के डिब्बे के एक कोने में पाखाना और हाथ-मुँह धोने का इंतिजाम था। वह बहुत साफ-सुथरा था, और तीसरे दर्जे के लिए क्या दूसरे के लिए भी हिन्दुस्तान में वैसी आशा नहीं की जा सकती। हरेक डिब्बे में दो आदमी डिब्बे की सफाई और मुसाफिरों की ओर ध्यान रखने के लिए तैनात थे। कहने पर वह चाय बना के दे देते थे।

मैंने हाथ-मुँह धो, नाश्ता किया, फिर बरांडे में आकर खिड़की से बाहरी दृश्य देखने लगा। तीन घंटा दिन चढ़ आया था, जब कि पहाड़ों पर देवदार के वृक्ष दिखाई देने लगे। हमारी ट्रेन किसी नदी के किनारे से चल रही थी। जहाँ-तहाँ पंचायती खेती—कल्खोज्—के बड़े-बड़े खेत थे, जिनको ट्रेक्टर (मोटरहल) जोत रहे थे। फसल बहुत कुछ कट चुकी थी, बाकी कटने को तैयार थी। चीता का बड़ा शहर आया। जगह-जगह नये मकान बन रहे थे। मकानों की दीवारें अधिकतर लकड़ी की थीं। यहाँ कितने ही मंगोल स्त्री-पुरुष दिखाई पड़े, लेकिन उनमें कोई चोटीवाला नहीं था। मंगोल तरुणियाँ भी रूसी स्त्रियों की तरह की ही पोशाक पहिने थीं, उनके केश भी कटे हुए थे। गाँव में भी बिजली की रोशनी और रेडियो के तार-खम्भे दिखलाई पड़ रहे थे। मैंने एक गाँव में गुलाबी गालोंवाली एक तरुण सुन्दरी को बहँगी पर पानी भरकर लाते देखा। मुझे कहावत याद आ गई, "रानी भरै पानी"। किन्तु उन रानियों का जमाना तो दुनिया के इस षष्ठांश से उठ गया, यहाँ अब पानी भरना शरम की बात नहीं रही। एक जगह कम्बाइन—यन्त्र में गेहूँ के पूले डाले जा रहे थे, और दाने अलग होकर बोरे में बन्द होते जा रहे थे। हमारी ट्रेन में इनटूरिस्ट (सोवियत्-यात्राविभाग) का एक प्रतिनिधि चल रहा था, वह अंग्रेजी खूब बोलता था। हमारे कम्पार्टमेंटवालों ने लेनिनग्राद देखने की इजाजत पाने के लिए मास्को को तार दिया, मैंने भी दे दिया।

अगले दिन (31 अगस्त) सवेरे हमारी गाड़ी बइकाल झील के तट पर चल रही थी। बड़ा रमणीय दृश्य था। हमारी दाहिनी ओर नीलाभ सरोवर था, जिसके पास धुँधले-से पर्वत दिखलाई पड़ रहे थे। बायें तो हम पर्वत के साथ चल ही रहे थे। हर जगह हमारी रेल को सुरंगों से पार होना पड़ता था। पहाड़ जंगल से ढँके हुए थे। पत्थर काले रंग के (तेलिया) थे। एक जगह स्कूल का मकान बन रहा था, लेकिन झूला और पैरेललबार वहाँ पहिले ही से गड़ गये थे। बइकाल स्टेशन पर पहुँचे, वहाँ कई बुर्यत् (मंगोल) तरुणियों को रूसी स्त्रियों के वेष में देखा। रेलवे अफसर भी एक स्त्री थी। आगे हमने अपने दाहिनी ओर अंगारा नदी की तीव्र धार को बहते देखा। इरकुत्स्क का विशाल नगर आया। प्लेटफार्म की ओर स्टेशन की इमारत पर लेनिन, स्तालिन

के चित्र लगे हुए थे। यहाँ स्त्री-पुरुष रूसी ही रूसी दिखाई पड़ते थे। मैं ट्रेन से उतरकर स्टेशन में गया। मुसाफिरों के बैठने का अच्छा इंतिजाम था। स्टेशन से बाहर शहर को एक आँख से झाँककर देखा, चौड़ी और साफ सड़क तथा किन्हीं-किन्हीं इमारतों पर लाल झंडे दिखाई दिये। अब रेल पर चढ़े तीसरा दिन हो रहा था, अपने कम्पार्टमेंट के दूसरे तीन आदमियों से घनिष्टता पैदा करने की मुझे इच्छा नहीं थी। निथुआनियन सज्जन वोलशेविकों को गाली देने में ही सन्तोष प्राप्त करते थे। चीनी नौजवान जर्मनी में पढ़ने जा रहा था, उससे कुछ ज्यादा हेलमेल जरूर हुआ, और उसने मेरी सौसेज देखकर चीनी सौसेज खाने को दी। वस्तुतः सौसेज बनाना चीनी ही जानते हैं। मुझे पता नहीं था कि सुअर का मांस इतना अमृतमय हो सकता है। लेकिन मुझे सबसे ज्यादा परवाह थी, रूसियों से मेलजोल बढ़ाने की। मिसेज मोलेर् मास्को जा रही थीं, और सखालेन द्वीप से आ रही थीं। उनकी उमर पैंतालीस के आसपास होगी। उनके पिता एक करोड़पति ठेकेदार थे। उनको वह दिन याद थे, वह साज याद थे, जब कि वह राजकुमारी के रूप में तड़क-भड़क के साथ पेरिस और स्वीट्जरलैंड की सैर किया करती थीं। बचपन में फ्रेंच और अंग्रेज दाइयाँ उनको खेलाया करती थीं। वह अंग्रेजी और फ्रेंच को भी उसी तरह फरफर बोलती थीं जैसे रूसी को। उनको अंग्रेजी बोलनेवाली देखकर मैं ज्यादा उनके पास जाने लगा। उन्हें भी बोलने से एतराज नहीं था, बल्कि दिल खोलकर वोलशेविकों को गाली देती थीं। मैंने सोचा—करोड़पति सेठ की बेटी अपने पिता की सम्पत्ति छीन लेनेवाले वोलशेविकों को गाली नहीं देगी तो आशीर्वाद देगी ? वह कह रही थीं—"वोलशेविक बड़े झूठे होते हैं। उनके अखबारों और पुस्तकों में सिर्फ झूठा प्रोपैगैंडा होता है। पहिले तो और झूठ बोलते थे, लेकिन इधर खाने-पीने की चीजें ज्यादा मिलने लगी हैं, लोगों की हालत कुछ बेहतर हुई, तो उनका झूठ भी कम हुआ।" उनकी बहन खबारोव्स्क में किसी सन्देह में पकड़कर जेल में डाल दी गई थीं। अब वह उसी के छुड़ाने की कोशिश में मास्को जा रही थीं। उन्होंने कोई नई बात नहीं कही, जिसे मैं पढ़ चुका न होऊँ। अफसोस कि मेरे दिल में इस वर्ग के प्रति सहानुभूति दिखलाने की जरा भी प्रेरणा नहीं रह गई थी। अभी मैंने उस वर्ग का नाम जोंक नहीं रखा था, किन्तु उसे साँप जरूर कहता था।

मेरे बगल के कम्पार्टमेंट में तीन रूसी—दो माँ-बेटे और एक इंजीनियर—थे, उनसे मेरी ज्यादा घनिष्टता हुई, और आगे तो मैं सिर्फ सोने के लिए अपने कम्पार्टमेंट में आता, नहीं तो उन्हीं के पास दिन बिताता। मेरी रूसी शब्दों की पूँजी सौ से ज्यादा नहीं होगी, लेकिन मालूम नहीं कैसे उतने से अपना दिन-भर काम चलाता था। लड़का और उसकी माँ और भी उत्सुक थे, हमसे बात करने के लिए। पति लालसेना में अफसर था। माँ-बेटे उसी के पास से लौटे आ रहे थे। उन्होंने खरकाफ् में अपने घर का पता दिया, और मुझे वहाँ आने के लिए बहुत आग्रह किया। इंजीनियर मास्को के थे, उन्होंने भी पता दिया था, और मास्को में जब उनकी बीवी मिलने के लिए आई, तो बीवी से मेरा परिचय कराया। एक आदर्श और एक भावना भाषा की दिक्कत रहने पर भी आदमी को कितना घनिष्ठ बना देती है, उसका यहाँ एक बहुत अच्छा उदाहरण था। 5 दिन, 5 रात हम एक साथ रहे। समय बहुत आनन्द से कटा। एक दिन एक वोद्का की बड़ी बोतल मँगाई गई, और प्याला मेरे सामने आया। मैं बड़ी मुश्किल में पड़ गया। धार्मिक ख्याल से उसे मैं घृणा की दृष्टि से देखता था यह बात नहीं थी, लेकिन शराब से मुझे सदा घृणा रही। मैं उसके पीने को हद दरजे की बेवकूफी समझता रहा। "नेत" (नहीं) शब्द से मैं परिचित था, किन्तु जिस प्रेम के साथ उन्होंने दिया था, उसके लिए तुरन्त नहीं करने में मुझे डर लग रहा था कि कहीं वह दूसरा न समझने लगें। मैंने प्याले को ओठ से छुआ, और शिर पर हाथ रखकर बैठ यह दिखलाने की कोशिश की, कि सिर में पीड़ा है। फिर मेरे सामने वोद्का नहीं पेश की गई। इन्टूरिस्ट का आदमी हमारी ट्रेन में चल रहा था, उसके लिए मेरी धारणा बहुत बुरी हो गई, उसने मुझसे सिगरेट खरिदवाकर अपने लिए मँगाए। उस वक्त सिगरेट विदेशियों के लिए जितना चाहे मिल सकता था, लेकिन स्वदेशियों के लिए संख्या निर्धारित थी। वैसे मैं सिगरेटों का दाम नहीं लेता, लेकिन उसने दाम की बात भी न की। मैं सोचने लगा, ऐसे आदमी विदेशियों के दिल में वोलशेविकों के प्रति बुरा भाव पैदा करेंगे। वोलशेविकों की निन्दा करने के लिए तो हर साल लाखों मन कागज खराब किये जा रहे हैं,

सोवियत-विरोधियों के हाथ में ऐसा हथियार दे देना बुरी बात है। इसी कारण उस आदमी को मैं अच्छी निगाह से नहीं देखता था, यद्यपि उसने कहा था, कि मैं सफेद रूसियों से लड़ा था।

पहिली सितम्बर को हम जिस स्थान में जा रहे थे, वहाँ दूसरे वृक्षों का नाम नहीं था। भोजपत्र के वृक्ष और घासवाले पहाड़ वहाँ कहीं-कहीं जरूर थे। आगे येनेसेइ नदी आई, यह गंगा से भी बड़ी नदी है। सामने क्रास्नोयार्स्क के कारखाने आये। श्रमिकों के घर, बड़े-बड़े महल से मालूम होते थे। सारे घर नये बने थे। नदी में लकड़ी के बड़े-बड़े ठाट बह रहे थे। स्त्रियाँ देखने में बड़ी स्वस्थ और फुर्तीली मालूम होती थीं। आगे कितने ही गाँवों में फैक्टरियाँ देखीं। एक गाँव में 8, 9 ट्रेक्टरों की पाँती खड़ी थी। हमारी ट्रेन में कितने ही लाल सिपाही चल रहे थे, वह मिलकर कोई गाना गा रहे थे।

अगले दिन (2 सितम्बर) कई जगह शृंगारहीन स्त्रियों को मस्तानी चाल से चलते देखा। कहीं-कहीं गाँवों में गिरजे अच्छी अवस्था में देखे, उनकी दीवारों पर सफेदी पुती हुई थी, कबरिस्तानों की नई कब्रों में क्रास (सलेव) भी लगी हुई थी, जिससे मालूम होता था कि धर्म माननेवाले भी काफी हैं। ओमस्क स्टेशन आया। बड़ा स्टेशन, बड़ा शहर है। उतरकर बाहर गया, वहाँ लेनिन की पाषाणमूर्ति खड़ी थी। हाँ, चीजों का दाम अत्यधिक मालूम हुआ।

3 सितम्बर को मनचूली छोड़े छटा दिन बीत रहा था। सबेरे से ही रेल की दोनों तरफ भोजपत्र के जंगल दिखाई दे रहे थे। यहाँ की मिट्टी काली थी, खेत बहुत लम्बे-चौड़े थे। हम पूरब से पच्छिम की ओर जितना बढ़ते गये, खेती में मशीनों का उतना ही अधिक उपयोग बढ़ते देखा।

मैंने पढ़ा था, कि यूरोप और एसिया को यूराल पर्वत पृथक करता है, इसी ख्याल से मैं किसी बड़े पर्वत की ताक में था, इसी वक्त एक तालाब के भिंडे जैसी पहाड़ी रीढ़ पर से ट्रेन पार हो गई, साथियों ने कहा, यही यूराल है। मैं सोचने लगा, इसे पहाड़ का नाम नहीं देना चाहिए था, लेकिन पत्थर का तो था, दूसरा नाम ही क्या देते ? आगे हमें स्वेर्दलोव्स्क नगर आया। गाड़ी कुछ देर तक ठहरी, मैं भी स्टेशन के बाहर गया। सामने एक विशाल नगर था, जिसके सबसे बड़े गिरजे पर लाल झंडा फहरा रहा था। आँख भरकर देखा, घूम आने-भर के लिए तो समय नहीं था। स्टेशन पर ही रंगबिरंगे पत्थरों के फोटो के फ्रेम, खिलौने और दूसरी चीजें बिक रही थीं। आगे रात हो गई। दूसरे दिन (4 सितम्बर) सबेरे जब मैंने खिड़की से बाहर झाँका, तो देखा फिर वही देवदार और भोजपत्र के घने जंगल हैं। बीच-बीच में गाँव और पंचायती खेत आते थे। इधर देवदार कुछ और बड़े थे। कुछ किसानों के शरीरों पर फटे कपड़े भी थे। मैंने सोचा शराब भी इसका कारण हो सकती है, क्योंकि शराब पीने की तो यहाँ रुकावट नहीं है।

मास्को—आधी रात को मास्को स्टेशन आया। रात-भर हमें गाड़ी में रहना था। अगले दिन (5 सितम्बर) 9 बजे मेत्रोपोल होटल में गये। पौने दो डालर नाश्ते का लगा। मालूम हुआ कि लेनिनग्राद देखने की हममें से किसी को इजाजत नहीं मिली। दिल में बहुत बुरा लगा। व्यक्तिगत तौर पर सोचने से ऐसा होता ही है, आदमी यह तो सोचता नहीं, कि सोवियत के बाहरी दुश्मन किस तरह अपने भेदियों को देश के भीतर भेजते हैं, और किस तरह पुराने अमीर अठारह वर्ष पहिले के अपने पुराने जीवन के लौटाने की फिक्र में हैं। मोटर पर नगर देखने के लिए चले। क्रेमलिन को देखा, वही क्रेमलिन जो दुनिया के छठे अंश के शासन का केन्द्र है। लाल मैदान से गुजरते हुए, लेनिन की छोटी-सी समाधि देखी। विश्वविद्यालय और लेनिन पुस्तकालय देखा, फिर सांस्कृतिक उद्यान (पार्क कुल्तूर) में गये। यहाँ हजारों आदमी नवयुवक-नवयुवती बूढ़े-बच्चे घूम रहे थे, फिर होटल लौट आये। एक बजे मैं अकेला पैदल निकल पड़ा। सड़कों पर सभी जगह भीड़ थी, बस, ट्राम और भूगर्भी रेलों के रहते भी इतनी भीड़ क्यों ? चारों ओर मीलों तक विशाल अट्टालिकाएँ खड़ी थीं। कितने ही नये मकान बन रहे थे। बड़ी सड़कों के अलावा कितनी ही गोल पत्थर बिछी सड़कें भी थीं। डाक्टर श्चेर्बात्स्की और डाक्टर ओल्देनूबर्ग से मिलने की बड़ी इच्छा थी। डाक्टर ओल्देनूबर्ग अकादमी में थे, यह मुझे यूरोप-यात्रा में मालूम हो चुका था। मैंने अकादमी का पता नोट कर लिया और ट्राम का रास्ता भी पूछ लिया। ट्राम पर चढ़ते ही पहिली दिक्कत पैसे की आई। मेरे पास रूसी पैसे नहीं थे और वहाँ वह अमेरिकन सेन्ट लेने को

तैयार नहीं था। किसी पड़ोसी ने पैसा दे दिया। जाने की जगह पूछने पर एक तुर्क ने कहा, मैं वहाँ पहुँचा दूँगा। उसने ढूँढ़-ढाँढ़कर वहाँ पहुँचा भी दिया। जाने पर मालूम हुआ, कि डाक्टर ओल्देनूबर्ग का देहान्त हो गया, डाक्टर श्चेर्वात्स्की लेनिनग्राद में रहते हैं। हिन्दुस्तानी विद्याओं के बड़े-बड़े विद्वान वहीं रहते हैं, इसलिए अपने विषय के किसी विद्वान से मुलाकात नहीं हुई। मैं फिर होटल में लौट आया। चीनी तरुण चाङ् को बड़ा आश्चर्य हुआ, जब उसने सुना कि मास्को की सारी छोटी-बड़ी दूकानें, बसें, मोटरें व्यक्तियों की नहीं, सारे राष्ट्र की हैं।

रात को दश बजे मुझे बाकू की गाड़ी मिली। घूमने में इतना वक्त लगा दिया, कि मैं रूसी सिक्का भी नहीं ले सका। इस गाड़ी में सभी सोवियत नागरिक थे, जिनमें भी रूसी ज्यादा थे। यहाँ भी एक पूरी बेंच हरेक मुसाफिर को मिली थी। हरेक कम्पार्टमेंट में दो बर्थें नीचे और दो बर्थें ऊपर थीं। सवेरे झाँककर देखा तो ऊँची-नीची हरी भूमि थी। चारों ओर बड़े-बड़े खेत दिखाई पड़ते थे। मैंने पैसे बदलने की रात को दो-एक जगह कोशिश की, लेकिन बदल नहीं सका। अब हमारी ट्रेन उक्रइन् में चल रही थी। यहाँ के गाँवों के मकान एक-दूसरे से अलग थे ओर दीवारें सफेद-सफेद। यद्यपि भाषा की दिक्कत थी, लेकिन गाड़ी के सभी लोगों में बड़ी सहृदयता थी, मेरे कम्पार्टमेंट में एक टाइपिस्ट प्रौढ़ा जा रही थीं। उन्होंने सबेरे ही रोटी-मक्खन मेरे और अपने बीच में रख दिया, मैंने एकाध बार नहीं किया, लेकिन सबको मालूम था, कि मेरे पास एक भी रूसी पैसा नहीं है। उन्होंने मुस्कराते हुए इशारे से कहा–"आओ खाओ, नखरा मत करो।" मैंने भी अपनी बेवकूफी समझी, और खाने में शामिल हो गया। फिर वही सौ-सवा सौ शब्दों से काम चलता रहा। पड़ोसी महिला से पूछने पर उन्होंने अपने को टाइपिस्ट कहा। मालूम नहीं मेरे चहरे पर उन्होंने क्या भाव देखा। झट अपने बाँह को दिखलाते बोल उठीं–"मैं हवाई जहाज चलाती हूँ, यह उसका निशान है; मैं बन्दूक का तेज निशाना लगाती हूँ, यह उसका बिल्ला है। हिटलर इधर मुँह करेगा तो दिखला दूँगी कि सोवियत-स्त्रियाँ कैसी होती हैं।" फिर उसने अपनी कड़ी हथेली को दिखा कर कहा–"मैं ट्रैक्टर भी चला सकती हूँ।" मैंने समझ लिया, यहाँ मक्खन-सी हथेलीवाली पद्मिनियों का मान नहीं है।

आगे खरिया मिट्टी के पहाड़ मिले। हमारे डिब्बे में यूरोपियन भी थे, और एसियाई भी, लेकिन वहाँ रंग की गन्ध भी नहीं थी; बड़ा स्टेशन आता, तो तरुण-तरुणियाँ हाथ मिलाये प्लेटफार्म पर घूमने लगतीं। स्टेशन पर सेब और दूसरे फल बहुत बिकते थे। कितनी ही जगह मोटी लम्बी लकड़ी बेंच की तरह रखी हुई थी, और उस पर पके मुर्गे, फल और दूसरी चीजें रखकर पचीसों स्त्रियाँ खड़ी थीं। मैं क्या खरीदने जाता ? मेरे साथियों में कोई न कोई बराबर रोटी-मक्खन-चाय दे देता। एक कमकर काकेशस जा रहा था, वह अमेरिका में कई साल रहा था, अंग्रेजी जानता था। वह खिलाने-पिलाने का बहुत ध्यान रखता था। मैंने उससे बीस रूबल माँगे और तीन डालर देने लगा। वह नहीं करने लगा, तो मैंने कहा, हो सके तो कहीं से भुना दीजिए, लेकिन लेने से इन्कार न कीजिए। रात के वक्त खरकोफ्–उक्रइन का सबसे बड़ा शहर आया। बिजली की रोशनी से जगमग-जगमग कर रहा था। अगले दिन (7 सितम्बर) सबेरे ही दोनबास पहुँचे। यहाँ चारों ओर कोयले की खानें हैं, मकानों का अन्त नहीं मालूम होता था, फिर दोन नदी के तट पर रोसतोफ शहर आया। दोन को पार किया। अँधेरा होते-होते अब हमारी गाड़ी काकेशस में चल रही थी। दाहिनी ओर बर्फ से ढँकी हुई चोटियाँ दिखाई देती थीं। उस दिन ट्रेन का गार्ड भी कुछ देर तक मेरे पास बैठा रहा, और मुझसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर वार्तालाप करता रहा था।

अगले दिन (8 सितम्बर) सबेरे दाहिनी ओर काकेशस का हिमाचल था; और बाईं ओर सूर्य उग रहा था। मेरे डिब्बे में एक तुर्ककुटुम्ब भी उसी स्टेशन से चढ़ा था। यह ताशकन्द के रहनेवाले थे, किन्तु अब तिफलिस के पास कहीं रहते थे। उनमें कई लड़के और स्त्रियाँ थीं। लड़कों, स्त्रियों के गले में ढेर की ढेर तावीजें बँधी थीं। वोलशेविक इन तावीजों को जबर्दस्ती तोड़कर नहीं फेंकना चाहते थे। हाँ, यह मैंने देखा कि स्त्रियाँ अपनी तावीजों को कुरते के भीतर रखना चाहती थीं। उनकी पोशाक भी कुर्ता, पाजामा और ओढ़नी थी, जो पंजाब की स्त्रियों से ज्यादा मिलती थी। मुसल्मान-ईसाई का तो सवाल ही नहीं था। सब साथ खाते-पीते चलते थे।

अब गाँवों में नंगे पैरवाली स्त्रियाँ बहुत मिलती थीं। काकेशस में घुसते ही जान पड़ा, कि मैं हिन्दुस्तान के नजदीक पहुँच गया हूँ। पावरोटी के साथ-साथ अब तन्दूर की रोटियाँ मिलने लगीं। कितनों के पैरों के जूते हिन्दुस्तानी जैसे, स्त्रियों के घघरे और कुर्ते पंजाब जैसे और गाय-बैल उत्तरी भारत की नसल के थे—यूरोपीय बैलों के कन्धे पर डील (ककुद) नहीं होता, यहाँ और हिन्दुस्तान के बैल ककुद्मान होते हैं। इधर गाँवों के मकानों में खपरैल और दीवारें सफेदी की हुई थीं। तरुण-तरुणियाँ पुरानी पोशाक को छोड़कर नई पोशाक को अपना चुकी थीं, तो भी रूसियों तथा उनमें रंग का फर्क था। सवा 6 बजे शाम को दोनों ओर दो-एक मील पर पहाड़ थे। किसी-किसी स्टेशन पर गाना गाकर पैसा माँगनेवाले भी एकाध दीख पड़े। अब इंजन कोयले की जगह तेल से चल रहा था। रात को दो बजे हम बाकू पहुँचे।

बाकू—शहर में दीपावली-सी जान पड़ती थी। स्टेशन बहुत स्वच्छ था। मुसाफिरखाने में लोग कुर्सियों पर बैठे थे। अंग्रेजी जाननेवाले साथी ने मेरा सामान लिये-दिये स्टेशन प्रबन्धक एक एसियाई महिला के पास पहुँचा सहायता देने के लिए कहकर खूब जोर से हाथ मिलाया। मैं स्टेशन की क्लब में जाकर बैठ गया। महिला बेचारी तुर्की और रूसी जानती थी, मैं ज्यादा क्या बातें कर सकता था ? उन्होंने कहा—सबेरे इन्टूरिस्ट होटल में पहुँचवा दूँगी। महिला अधेड़ थी, उनके केश कटे हुए थे। थोड़ी देर बाद एक और एसियाई परिवार आया। माँ पुराने ढंग की पोशाक में थी, बेटा-बहू दोनों नई पोशाक में थे। यह लोग कुछ ही साल पहिले कट्टर मुसल्मान थे। उस वक्त इस तरुण बहू को सूर्य भी न देख पाता। सबेरे एक आदमी मेरा सामान लेकर इन्टूरिस्ट के आफिस में पहुँचा आया। इन्टूरिस्ट के आफिस में अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, रूसी भाषा जाननेवाली कितनी ही महिलाएँ थीं। एक सतमहला मकान इन्टूरिस्ट का होटल था। दूसरे मुल्कों में जानेवाले यात्रियों की यात्रा, रहने, खाने-पीने, दिखलाने आदि का प्रबन्ध इन्टूरिस्ट करती है। सोवियत के बड़े-बड़े शहरों में इसके अपने आफिस और होटल हैं, पथप्रदर्शक दुभाषिए और मोटरें हैं। मुझे एक अच्छा कमरा मिला। नहाने का भी अच्छा इन्तिजाम था। आफिसवाली महिला ने बतला दिया था कि ईरान का जहाज परसों दोपहर बाद मिलेगा; इसलिए मुझे इस ढाई दिन के समय को पूरा इस्तेमाल करना था। घूमने के लिए ले जानेवाली मोटर कुछ देर से जानेवाली थी, इसलिए मैं अकेले ही निकल पड़ा। बड़े-बड़े मकानों को देखता समुद्रतट से एक उद्यान में गया। यह उद्यान क्रान्ति के बाद बना था। सड़कें कोलतारवाली और कुछ छोटी-छोटी गोल रोडेवाली भी थीं। एक जगह एक यहूदी-मन्दिर (सिनोगोज) को क्लब के रूप में परिणत देखा, एक ईसाई गिरजा भी किसी दूसरे के रूप में था। एक मसजिद गिर रही थी, बाहर की दुनिया में वोलशेविकों के खिलाफ प्रचार करने के लिए काफी मसाला था, क्योंकि कोई यह तो पूछेगा नहीं, कि इन मंदिरों को क्लब में परिणत करनेवाली वोलशेविक सरकार है, या भगत लोग स्वयं ही इन मकानों को दूसरा रूप देना चाहते हैं। सारे सिबेरिया और बाकू के रास्ते में मैंने कितने ही गिरजे सुरक्षित अवस्था में देखे। वोलशेविकों की सरकार तो इतना ही कहती हैं, कि सरकारी खजाने से किसी को एक कानी कौड़ी भी नहीं मिलेगी, मसजिद-गिरजा चलाना है, तो भगत लोग अपने पसीने की कमाई से चन्दा करके चलाएँ। हिन्दुस्तान की सरकार जो हिन्दू-मुसल्मान कर-दाताओं के लाखों रुपयों को ईसाई-चर्च के लिए देती है, इसको जो उचित कहेगा, वही वोलशेविकों को बुरा कह सकता है। मैं छोटी सड़कों से होकर बनारस की टेढ़ी-मेढ़ी गलियोंवाले पुराने मुहल्ले में गया। अभी यहाँ बनारस की बहार थी, तुर्की नहीं जानता था, नहीं तो कुछ और भी बातें पूछता।

खाना खाने के बाद एक महिला-दुभाषिया मिली और मोटर पर हम बाकू और उसके आस-पास के दर्शनीय स्थानों को देखने के लिए निकले। कुछ मकानों पर 1924 सन् लिखा था, यह पहिलेवाला मकान दुमहले पक्के थे, लेकिन नए मकानों को तो महल कहना पड़ेगा। इन महलों में एसियाई और यूरोपीय सभी जातियों के मजूर एक जगह रहते हैं। इनकी तनख्वाहें एक हैं। रंग, धरम और जाति का ख्याल इतना मिट गया है, कि परस्पर विवाह बहुत होते हैं। शहर से बाहर एक विशाल हवाई अड्डा दिखाई पड़ा। सड़क पर कहीं-कहीं ऊँट और गधे भी सामान ढोते दिखाई पड़े। और दूर जाने पर मिट्टी के तेल के कुएँ मिलने लगे। कुएँ किसी वक्त रहे होंगे, अब तो वे मोटे-मोटे पाइप-कूप थे। जमीन में गड़े हुए थे, जिनके ऊपर लोहे का ढाँचा खड़ा था, बिजली

पम्पों को चलाती थी और छोटे-बड़े पाइपों से होकर तेल बड़े कारखानों में चला जाता था। यह हजारों ढाँचे देखने में जंगल-से मालूम होते थे।

प्रायः 5 मील जाने पर हम बड़ी ज्वालादेवी के मंदिर के द्वार पर पहुँचे—यहाँवाले इसे अग्निपूजकों का मन्दिर कहते हैं, किन्तु है यह हिन्दुओं की बड़ी ज्वालामाई। 16 वर्ष पहिले मैंने इसी ज्वालामाई की बात सुनी, तो विश्वास नहीं हुआ। उस वक्त गर्मियों में नेपाल जाने के लिए रक्सौल (चंपारन जिला) पहुँचा था। रक्सौलवाली नदी के तट पर नेपाल राज्य में सड़क के ऊपर एक वैष्णव की कुटिया थी, मैं वहीं ठहरा हुआ था। वहाँ एक नौजवान वैरागी भी आया था। उससे मैंने पूछा—कहाँ से आए हो सन्त ? उसने जवाब दिया था—"मैं बड़ी ज्वालामाई से आया हूँ, बड़ी ज्वालामाई रूस मुल्क में है, बड़ी जागता माई है, उसके सामने जो नैवेद्य रखा जाता है, माई अपने आप ग्रहण करती है। वहाँ से महीनों घूमते-घामते हिमालय के कितने ही पहाड़ों को पार कर मैं यहाँ पहुँचा हूँ।" मैं उसे झूठा समझता था, यद्यपि उसके मुँह पर मैंने ऐसा नहीं कहा। पीछे अंग्रेजी की किसी अनुसंधान-पत्रिका में बाकू के हिन्दू मंदिर और उसकी ज्वालामाई का विवरण पढ़ा, तब विश्वास हुआ, कि वह साधू सच बोल रहा था। आज मैं ज्वालामाई के द्वार पर पहुँचा था। पथप्रदर्शिका ने चौकीदार को बुलाया, फाटक खोला गया, एक चौकोर आँगन जिसकी चारों तरफ पक्की कोठरियाँ थीं। कितनी ही कोठरियों में पत्थर पर लेख खुदे हुए थे, जिनकी संख्या बारह-तेरह से कम न होगी। यह लेख ज्यादातर नागरी में थे, दो गुरुमुखी में भी थे। आँगन के बीच में एक कुंड था, जिसके ऊपर खंभों पर पक्की छतरी थी, इस कुंड में आज से दस साल पहिले तक आग जला करती थी, यही हिन्दुओं की बड़ी ज्वालामाई थी। आसपास तो सारे मिट्टी के तेल के कुएँ हैं ही, ऐसी जगह किसी संघर्ष से आग का जल उठना और फिर भीतर की गैस से उसका बराबर जलते रहना बिल्कुल स्वाभाविक बात है। शायद हिन्दुओं की ज्वालामाई उस वक्त प्रकट हुई थीं, जब कि मिट्टी के तेल का उपयोग अभी शुरू नहीं हुआ था।

मैंने जब वहाँ के शिलालेखों को धड़ाधड़ पढ़ना शुरू किया, तो पथप्रदर्शिका को मेरे अपार ज्ञान पर बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने कहा—यहाँ बड़े-बड़े पंडित आये, लेकिन कोई इन लेखों को नहीं पढ़ सका। मैंने कहा—इन लेखों को हमारे देश का कोई भी चौथे दर्जे में पढ़नेवाला लड़का धड़ल्ले के साथ पढ़ सकता है। उन लेखों में से एक नागरी लेख निम्न प्रकार है—

"।। 60 ।। ओं श्रीगणेशायनमः ।। श्लोक ।। स्वस्तिश्री नरपति विक्रमादित राजसाके ।। श्रीज्वालाजी नियत दरवाजा बणायाः अतीकेचनगिर संन्यासी राम-दहावासी कोटेश्वर महादेवका ।। ··· आसोज वदि 8 ।। संवत् 1866 ।।"

ज्वालामाई की समाधि को देखकर फिर हमारी मोटर एक पुराने गाँव को दिखलाने के लिए जिख पहुँची। मकानों को पुराना रखने के लिए बहुत कोशिश की गई थी, लेकिन वहाँ के निवासी तो पुराने ढंग से नहीं न रहना चाहते ? घरों में बिजली और पानी के नलके लगे थे, खिड़कियों में काँच लगे थे। फिर समुद्रतट पर गये। यहाँ समुद्र में कूद-कूदकर नहाने का इन्तिजाम है। बाकू की पथरीली जमीन में मीठा पानी दुर्लभ चीज है, लेकिन तो भी यहाँ पर एक विशाल उद्यान लगाया गया है। हम लोग दुपहरी की धूप में पहुँचे थे, इसलिए शीतल छाया का मूल्य अच्छी तरह समझ सकते थे। अभी वृक्ष छोटे थे, लेकिन दस-पन्द्रह साल में इनकी सघन छाया के भीतर सूर्य का ताप प्रविष्ट नहीं हो सकेगा। उद्यान में नाटक और सिनेमा के लिए एक बड़ी रंगशाला थी और एक बड़ा रेस्तोराँ भी। वहाँ से लौटकर हम एक होटल चले आये। रात को आरमेनियन भाषा का फिल्म देखने गये। फिल्म में प्राकृतिक दृश्य बड़े ही सुन्दर और विशाल दिखलाये गये थे। जारशाही अफसर किस तरह न्याय का नाटक खेलते थे, यही कहानी का विषय था।

अगले दिन (10 सितम्बर) मैंने कुछ और स्थानों को देखा। पहिले स्तालिन कमकर सांस्कृतिक प्रासाद में गया। यह एक पँचमहला इमारत थी। इसके दो सभाभवनों में से एक में एक हजार और दूसरी में चार सौ कुर्सियाँ थीं। नाटक, सिनेमा, व्याख्यान और सोवियत चुनावों के लिए इन भवनों का उपयोग किया जाता है। यहाँ एक मिट्टी के तेल का म्युजियम था, जिससे मिट्टी के तेल के बारे में बहुत-सी बातें मालूम हो सकती

थीं। पुस्तकालय में पाँच हजार पुस्तकें थीं। एक कमरे में बिना पंख का एक हवाई जहाज रखा हुआ था, रुचि रखनेवाले कमकर यहाँ हवाई जहाज के पुरजों के बारे में सीखते थे। फिर पंचायती-भोजनालय में गये। यह भी पँचतल्ला महल है। भीतर जाने से पहिले डाक्टरों जैसा सफेद चोगा हमें ऊपर से पहिनने के लिए दिया गया। भोजनसामग्री देखने के लिए यहाँ विशेषज्ञ डाक्टर थे। एक रसायनशाला थी, जिसमें कच्चे-पक्के भोजन की परीक्षा होती थी। भीतर मेज-कुर्सी पर बैठकर खाने के लिए कई शालाएँ थीं। तरकारियाँ, मांस सभी मशीन से काटी जाती थीं और मशीन ही से धुलाई होती थी, यहाँ तीस हजार भोजन (परोसा) रोज तैयार होता था, अर्थात् सात हजार से ऊपर आदमी जलपान, मध्याहन् भोजन, चायपान और रात्रिभोजन यहाँ करते थे। 6 बजे ही जलपान तैयार हो जाता था। भोजन पकाने के कमरों में गये; यहाँ दो-दो तीन-तीन मन पकानेवाले कई बड़े कड़ाह थे, आँच एक नली द्वारा पेंदी से पहुँचाई जाती थी। हर कड़ाह में गर्मी नापने के लिए थर्मामीटर लगा हुआ था। सामने दीवार पर घड़ी टँगी हुई थी, हर चीज को नाप-तोल के डाला जाता था। थर्मामीटर तथा घड़ी बतला देते थे कि वह कब पक जायेगा। एक जगह मशीन जूठे बरतनों को धोकर साफ कर रही थी। भोजनशाला में जाने पर हमें कुछ भोजन करने के लिए कहा गया। मैंने शीशे की ग्लास में जमा दही खाया, बड़ा स्वादिष्ट था। हमारे साथ की अंग्रेज महिला ने इस संस्था के बारे में कहा कि यह बिल्कुल नई चीज है। वहाँ से फिर हम स्तालिनप्रासाद-स्कूल में गये। यहाँ 7 से 17 वर्ष के 1800 बालक-बालिकाएँ एक साथ पढ़ती थीं, जिनमें 190 तुर्क, 250 तातार, 320 आरमेनियन और 1040 रूसी थे। बालकों से बालिकाओं की संख्या अधिक थी। हर महीने की छठी, 12वीं, 18वीं, 24वीं तथा महीने की अन्तिम तारीख को छुट्टी रहती थी। 7 से 12 साल के बच्चे प्रतिदिन 4 घंटा पढ़ते थे, 13 से 17 वाले 6 घंटा। स्कूल के साथ भोजनशाला थी, जहाँ लड़कों को मुफ्त भोजन मिलता था, फीस का तो सवाल ही नहीं। हमारे साथ की अंग्रेज महिला ने अध्यापक से पूछा—आप धर्म के विरुद्ध किस तरह शिक्षा देते हैं। अध्यापक ने बतलाया—धर्म के विरुद्ध क्या, हम तो अपनी पुस्तकों में धर्म का नाम भी नहीं आने देते। हाँ, कोई घर से सुन-सुनाकर कुछ पूछता है, तो उसका साइंस के सहारे समाधान करते हैं।

फिर हम वागीरोफ शिशुशाला में गये। यहाँ 4 से 6 वर्ष तक के डेढ़ सौ बच्चे रहते हैं। उनके लिए मुँह धोने को दीवार के सहारे नीचे-नीचे नल लगे हुए, जिनके पास रूमाल टाँगने की खूटियाँ लगी हैं। साबुन के भी स्थान बने हुए हैं। खाने के कमरे में छोटी-छोटी मेजें, छोटी-छोटी कुर्सियाँ, उनकी प्याली और प्लेट भी छोटे-छोटे हैं। डेढ़ सौ किस्म से बेशी खिलौने हैं। लड़कों को अभी अक्षर नहीं सिखलाया जाता, इसलिए रूमालों और अपनी-अपनी आलमारियों पर कुत्ते, बिल्ली, बन्दर आदि की तसवीरें बनी हैं। यह तसवीरें एक-एक लड़के के लिए अलग हैं और इसी से वह अपने-अपने उपयोग की चीजें पहिचानते हैं। माताएँ अपने बच्चों को 8 बजे से 4 बजे तक के लिए रख जाती हैं। शिशुशाला ही की तरफ से उन्हें दो बार भोजन दिया जाता है। नर्स ने हमें बच्चों की खींची तसवीरों की फाइलें दिखाईं। लड़कों को चीन्हा खींचने का शौक होता है, उन्हें खेलने के लिए कागज और रंग-बिरंगी पेन्सिलें दी जाती हैं। वे खेल के लिए तसवीरें बनाते हैं, लेकिन कागज के एक-एक टुकड़े की फाइल रखी जाती है। जो चित्रकला में असाधारण प्रतिभा रखते हैं, उन्हें 6 वर्ष तक पकड़ लेते हैं, और पढ़ाने-सिखाने के लिए उन्हें खास विद्यालयों में भेज दिया जाता है। संगीत, अभिनय, गणित आदि कलाओं के भी असाधारण प्रतिभाशाली इसी तरह अलग करके सुशिक्षित किये जाते हैं। हम दो बजे पहुँचे थे, उस वक्त बच्चे चारपाई पर लेटे हुए थे। उनमें से कोई-कोई बात भी कर रहे थे। हम लोग पैर दबाये चुपके से कमरे को पार कर गये। बाकू में इस तरह की सौ से अधिक बालशालाएँ हैं।

अगले दिन (11 सितम्बर) फिर मैं अकेले ही शहर में निकला और उसकी सड़कों तथा गली-कूचों में फिरता रहा। वहाँ सोडावाटर और छोटी-छोटी दूकानों से लेकर बड़ी-बड़ी महादूकानों तक सभी राष्ट्रीय हैं, यह मैं जानता था। एक मझोले दर्जे की दूकान में जा मैंने चमड़े का एक मनीबेग पसन्द किया। उस पर 8 रूबल, 10 कोपेक लिखा हुआ था। फिर मैं खजानची के पास गया, उसे दाम दिया, उसने दोहरी पुरजी दी, उसमें से एक को बेचनेवाले के हाथ् में दिया, और मनीबेग लेकर चला आया। बाकू दो दिन पाँच-पाँच घंटा घूमने

का 14 डालर लगा, जहाज के सेकेंड क्लास का 19 डालर, बाकी खाने-रहने आदि का 9 डालर—सब मिलाकर 23 डालर या 70 रुपये खर्च हुए।

ईरान कौंसल से मैं बीजा ले चुका था। ढाई बजे बन्दरगाह पर पहुँचा। कस्टम अफसर एक एसियाई थे, जो फारसी जानते थे, उन्होंने मामूली तौर से सब देख लिया, रुपयों को गिन लिया। फिर मैं जहाज पर पहुँचा। जहाज का नाम 'फोमिन' था। यह एक हल्का-सा जहाज था। मेरे केबिन में तीन बर्थें थीं, लेकिन मैं वहाँ अकेला था। जहाज पर आकर बाकू के दो फोटो लिये। बाकू समुद्रतट पर धनुषाकार बसा हुआ है।

यात्रियों में कुछ यूरोपियन और दो-चार ईरानी थे। रेडियो में आजुरवाइजानी (बाकू) गाना गाया जा रहा था। ऊपर डेक पर गया। वहाँ एक अधेड़ ईरानी मिला। वह सोवियत सरकार को सराप दे रहा था—मैं 12 वर्ष से गंजा में रहा, बीवी-बाल-बच्चे यहीं हैं। शरीर में बल था, तो कमाया, अब हड्डी रह गई, तो कह दिया तुम चले जाओ अपने देश में। उसने एकतरफा बात की। यह तो नहीं बतलाया कि उसने कितनी बार साम्यवादी नियमों की अवहेलना की, शराब पीकर कितनी बार बीवी-बच्चों को मारा। खैर, मुझे सन्तोष हुआ कि अब सवा सौ शब्दों के भरोसे पर जबान का गला घोटना नहीं है। अब मैं पारसी बोलनेवालों में जा रहा था। कास्पियन समुद्र के शान्त तल पर 'फोमिन' सरकता जा रहा था, और मैं पिछले 14 दिन के देखे दृश्यों की मानसिक आवृत्ति कर रहा था।

19
ईरान में पहिली बार

12 सितंबर को सबेरे 8 बजे दूर एक ओर धुँधली-सी तटभूमि दिखाई देने लगी। जहाज 10 बजे एक पतली झील में होता हुआ किनारे पर पहुँचा। इसी झील की एक ओर कजियान और दूसरी ओर पहलवी नगर बसे हुए हैं। पहलवी की जनसंख्या 14 हजार है, जिसमें काफ़ी संख्या रूसियों की है। इस बन्दर और नगर को जारशाही सरकार ने बसाया था। यहाँ के मकान रूसी ढंग के हैं, सड़कें चौड़ी हैं। पासपोर्ट और कस्टम की जाँच में कोई दिक्कत नहीं हुई। हमें अब तेहरान जाना था। 15 तुमान (150 रियाल) में एक मोटर में जगह मिल रही थी, दूसरे मोटरवाले ने 10 तुमान में ले जाने की बात कही, लेकिन जब पहिली मोटर चली गई, तो वह इधर-उधर करने लगा। आखिर में हम 13 तुमान देने के लिए राजी हुए। इस मोटर में चेकोस्लोवाकिया के एक दम्पती (पति-पत्नी) भी चल रहे थे। पहलवी में सबसे सस्ती चीज अंगूर मालूम हुई। 1 बजे हमारी मोटर रवाना हुई। 39 किलोमीटर (26 मील पर) रेश्त का कसबा मिला। अच्छी-खासी आबादी है। प्रधान सड़क खूब चौड़ी है। बहुत-से मकानों की छतें लाल खपड़ैलों की हैं, जैसी कि पूर्वी यू. पी. में हुआ करती हैं। गाँवों के धान के खेत, फूस और खपड़ैल के छतों को देखकर मुझे भारत याद आता था। ईरानी भी गिलान के इस इलाके को छोटा हिन्दुस्तान (हिन्द-कोचक) कहते हैं। आगे दूर तक छोटे वृक्षों का घना जंगल चला गया है। मैंने समझा कि अब सारा दृश्य हिन्दुस्तान जैसा आयेगा। 120 किलोमीटर (80 मील) पर मंजिल नामक स्थान आया। यहाँ खूब हवा चल रही थी। मालूम हुआ कि गर्मियों में इस पहाड़ी दर्रे से हमेशा तेज हवा चला करती है। हमारी सड़क सफेदरूद (श्वेत-रोधस्) दरिया को पुल से पार हुई थी। नदी में पानी काफी था। इस सड़क से बहुत-सी लारियाँ चल रही थीं। चेकोस्लोवक सज्जन बहुत दिनों से ईरान में रहते थे। फारसी बहुत अच्छी बोलते थे। तेहरान में तो मेरा कोई परिचित नहीं था, अतः रात को दूसरा स्थान ढूँढ़ने से बेहतर यही था, कि उन्हीं के होटल में ठहर जाऊँ। 9 बजे हम कुहिन् (194 किलोमीटर) तक पहुँचे। यहाँ कितने ही भोजनालय थे। तीनों ने तँदूरी रोटी और मुर्गे का मांस खूब छककर खाया। साथी ने बतलाया कि जाड़ों में रास्ता यहाँ कभी-कभी बरफ से रुक जाता है। 11 बजे बाद हम कजवीन (232 किलोमीटर) पहुँचे। किसी समय यह ईरान

की राजधानी थी–चौड़ी सड़क, विशाल फाटक और बिजली की रोशनी। पीछे भी कई जगह हमें अपने पासपोर्ट दिखाने पड़े थे। यहाँ भी जाँच हुई। 1 बजे गाराज (337 किलोमीटर) पहुँचे। सड़क खूब अच्छी और रात को पूनों-सी चाँदनी छिटक रही थी। दो बजे रात को तेहरान (पहलवी से 377 किलोमीटर या 250 मील) पहुँच गये। मेहमानखाना कस्र (प्रासाद होटल) में ठहरे।

तेहरान में–9 बजे मुँह-हाथ धोकर बाहर निकले। सड़कें खूब चौड़ी, पक्की और साफ थीं। मकान भी कितने ही अच्छे थे। सरकारी दफ्तर और ईरान राष्ट्रीय बैंक की इमारतें विशाल और भव्य थीं। एक भोजनशाला में दो रियाल (5 आना) देकर मांस-रोटी का भोजन किया। सस्तेपन में तो ईरान जापान को भी मात कर रहा था। हाँ, यहाँ जूठ-मीठ का परहेज बिल्कुल नहीं। शीशे के एक बड़े गिलास में बरफ का टुकड़ा डाल एक आदमी को पानी पिला, फिर उसी टुकड़े के साथ दूसरा प्रानी डालकर दूसरे को पिला देते। लोगों की पोशाक बिलकुल यूरोपियन है। रजाशाह पहलवी ने ईरान की सारी पुरानी रूढ़ियों को तोड़ने के लिए इसे जरूरी समझा। स्त्रियाँ भी यूरोपियन पोशाक पहनती हैं, लेकिन ऊपर से एक काला पर्दा डाल लेती हैं, लेकिन मुँह बिल्कुल खुला रहता है। घूमते-फिरते एक आरमेनियन बस-ड्राइवर से मित्रता हो गई। उन्होंने ईरान की बहुत-सी बातें बतलाईं। उनकी अतिशयोक्ति थी, पर्दे की आड़ में यहाँ हद दर्जे का व्यभिचार है। शायद ही कोई औरत अपने पति पर सन्तोष करती हो, और दूसरे के पास सिर्फ पैसे के लिए न जाती हो। सरकार ने इस बुराई को हटाने के लिए भी पर्दे का हटाना जरूरी समझा।

आज शुक्रवार (13 सितम्बर) को छुट्टी का दिन था, लेकिन ईरानी छुट्टी को धर्म के लिए नहीं, मौज के लिए इस्तेमाल करते हैं। लोग तेहरान से 15 किलोमीटर (10 मील) दूर शमीरान को बसों पर जा रहे थे। यह जगह तेहरान से उत्तर अलबुर्ज–ईरान के सर्वोच्च तथा सुन्दरतम पर्वतशिखर–की जड़ में है। शमीरान तेहरान में 800 मीटर ऊँची और अधिक ठंडी जगह है। मैं भी बस पर शमीरान चला। सड़क बहुत अच्छी है, रास्ते में बहुत-से बाग हैं, और शमीरान में तो और ज्यादा। रास्ते में किलानुमा एक पुराना जेल, फौजी छावनी और बेतार का स्टेशन मिला। मैं सब देखकर रात को अपने होटल में लौट आया। दूसरे दिन फिर निकला। पहलवी महल, हथियारखाना, मजलिस (पार्लमिंट भवन) आदि इमारतें देखीं, फिर खयाबान चिराग-बर्फ (बिजली-बत्ती-सड़क) पर कई हिन्दुस्तानी दूकानें देखीं। सरदार रणवीरसिंह से परिचय हुआ, और मैं उनके पास के अहवाज-होटल में चला आया। पहिले होटल में एक रोज का जहाँ चौदह-पन्द्रह रियाल किराया था, वहाँ इस होटल में चार रियाल (10 आना) रोज पर एक कमरा मिल गया।

अस्फ़हान को–अभी कुछ दिन मैं ईरान में रह सकता था, इसलिए कुछ शहरों के देखने का निश्चय किया। रजाशाह-पहलवी जब से ईरान के शासक हुए, तब से उन्होंने देश की काफी उन्नति की। शिक्षा भी बढ़ी, व्यवसाय में भी ईरानी आगे आये। डकैती-बटमारी भी देश से हटी, और सबसे बड़ी बात यह हुई है, कि ईरानियों ने अपने को पहिचाना है। पुरानी रूढ़ियों को उखाड़कर उन्होंने देशोन्नति के लिए मजबूत नींव रखी है। अच्छे कामों में विघ्न भी होते हैं, जिन्हें जहाँ-तहाँ प्रसंगवश मैं बतलाऊँगा। साधारण जनता के जीवन में कितनी ही अनावश्यक पाबन्दियाँ आ गई हैं, जिनमें एक के कारण ईरान में यात्रा करना तरद्दुद का काम हो गया है। देशी लोगों को भी यहाँ अपने फोटो के साथ एक प्रमाणपत्र (जावाज) लेना पड़ता है। इसमें शक नहीं है, कि इससे सामाजिक अशान्तिकर्ताओं के रास्ते में रुकावट होती है, लेकिन गाँव और शहर के हरेक यात्री को एक शहर से दूसरे शहर जाने के लिए प्रमाण-पत्र लेना, और उसे शहर-शहर में दिखलाना बड़ी कठिनाइयाँ पैदा करता है। खास करके जब अफसरों में सुस्ती, बेपरवाही और घूस-रिश्वत की आदत मौजूद है। विदेशियों के पास तो पासपोर्ट रहता ही है, उन्हें जावाज के लिए मजबूर करना ख्वाहमख्वाह हैरान करना है। और जावाज देने वाले अफसर तो और भी तंग करते हैं। लोग पासपोर्ट थामे घंटों खड़े रहते हैं और वहाँ रजिस्टर मिलाया जा रहा है। खैर, किसी तरह मैंने जावाज ले 26 रियाल (4 रु. 1 आ.) देकर अस्फ़हान जानेवाली बस का टिकट लिया। इधर होटलों में ओढ़ना-बिछौना मिल ही जाता है, इसलिए मैं अपना सामान सरदार रणवीरसिंह के यहाँ छोड़ आया था, मेरे पास एक फोलियोबैग, फोटो केमरा-भर था। मोटर 8 बजे रात को रवाना हुई।

बसों पर आदमियों की तादाद लिखी रहती है, लेकिन उसकी कोई परवाह नहीं करता। आदमी ठूँस-ठूँसकर भर दिये जाते हैं। शहर से बाहर आध घंटे तक पुलिसवाले ने लिखा-पढ़ी के लिए रोका। शहर से कुछ मील चलने पर फिर एक जगह कागज-पत्र देखने के लिए खड़ा किया गया, हमारी बस में 3 आदमी बिना जावाज के थे। स्थान तो मालूम ही था, इसलिए वह पहिले ही उतरकर पैदल चल दिये और आगे फिर उन्होंने बस पकड़ ली। दो बजे रात को हम कुम् पहुँचे। 2 रियाल (5 आना) देने पर मुसाफिरखाने में सोने के लिए चारपाई, ओढ़ना-बिछौना सब मिल गया। कुम् तेहरान से 149 किलोमीटर और समुद्रतल से 3200 फीट ऊपर है, आबादी 30 हजार है। यहाँ इमामरजा की बहन फातमा की सोने की छतवाली दरगाह है, इसीलिए कुम् भी एक छोटा-मोटा तीर्थ है। बतला रहे थे कि दरगाह के सामने पहिले लाखों कब्रें थीं। अब उनका पता नहीं, अब उनकी जगह एक सार्वजनिक बाग–(बागे-मिल्ली=जातीय उद्यान) और मैदान है। मैंने कहा–"शाबाश रजाशाह !" यहाँ के घरों की दतें मिट्टी की हैं, जिसे मजबूत करने के लिए भुसमिली मिट्टी को इस्तेमाल किया गया है। ईरान में वर्षा कम होती है, इसलिए लोग पानी का मूल्य जानते हैं। हरेक घर के नीचे चहबच्चा होता है, जिसमें बरसात का पानी जमा किया जाता है। यह हाथ-पैर धोने, नहाने के काम आता है। एक आदमी के जूठे बरफ से पचासों आदमी ठंडा पानी यहाँ भी पी रहे थे। मैंने इससे बचने के लिए खरबूजा (सरदा) और तरबूज़ लेना पंसद किया। कुम् के बाजार की गलियाँ भी छत से ढँकी हुई हैं। छतें मेहराबदार हैं। जिस होटल में मैं ठहरा था, उस पर लिखा था "मुसाफिरखाना-इकतिसाद, बाकमाल एहतराम् अज आकायान् मुसाफिरीन् पंजीराई मीशवद्"। इसी तरह दूसरे मुसाफिरखानों पर भी लिखा था। मेहमानखाना अच्छे होटल को कहते हैं और मुसाफिरखाना टुटपुँजिया को। 3 बजे शाम को फिर हमारी बस रवाना हुई। शहर से बाहर होते ही पासपोर्ट देखा गया। देखने में यह प्रदेश तिब्बत जैसा मालूम होता था। वैसी ही छोटी-छोटी नंगी पहाड़ियाँ, वैसी ही उपत्यकाएँ। वृक्ष-जंगल का नाम नहीं। हाँ, तिब्बत में नदियाँ काफी बहती हैं, यहाँ वह भी नहीं। लेकिन जमीन में पानी आसानी से निकल आता है। इस पानी को कहीं-कहीं भूगर्भी नहर के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता है। ऐसी नहरों को बनाने के लिए थोड़ी-थोड़ी दूर पर कुएँ-से खोदे जाते हैं और भीतर से खोदकर एक कुएँ को दूसरे कुएँ से मिला दिया जाता है। कहीं-कहीं नहरें खुले मुँह की होती हैं, जैसा कि यहाँ कुम् में मैंने देखा। ईरान की भूमि में वह तासीर है, कि यहाँ जो भी फल लगाया जाता है, वही अमृत हो जाता है। हाँ, आम, लीची जैसे गर्म देशों के फल यहाँ नहीं हो सकते। केवल पानी का इन्तिजाम हो जाय, तो सारा ईरान मेवों के बाग के रूप में परिणत हो सकता है। ईरान में अब डाकुओं का डर नहीं रहा, इसलिए बसें रात-भर चला करती हैं। मुसाफिरों की आफत आती है, क्योंकि उन्हें अपने बेंच पर बैठे-बैठे ऊँघना पड़ता है।

रात के 2 या 3 बजे किसी गाँव में बस ठहरी, और हम मुसाफिरखाने में (होटल में) सो गये।

अगले दिन सबेरे अस्फ़हान पहुँच गये। अस्फ़हान बहुत दिनों तक ईरान की राजधानी रहा। इसकी भी सड़कें चौड़ी और अच्छी हालत में हैं। उनके किनारे नहरें बहती हैं जिनसे छिड़काव होता रहता है। सड़कें निकालने में सरकार ने मकानों, मकबरों, मसजिदों की परवाह नहीं की। जो रास्ते में पड़ा, उसे गिरा दिया गया। शहर घूमने के लिए तीन तोमान=30 रियाल (4 रुपया 11 आना) पर एक फिटन (दुरुशका) किराये पर ली। गाड़ीवान असगर एक छै फुट्टे हट्टे-कट्टे नौजवान थे। उनके भूरे बालों के साथ उनकी नीली आँखों में रुक्षता, कठोरता का निशान नहीं था। चहलसुतून (चत्वारिंशत् स्थूणा) देखने गये। इस बारहदरी में हैं बीस ही खम्भे, लेकिन सामने के जलकुंड में बीस खम्भों की छाया आती है, इसीलिए चालीस-खम्भा कहते हैं। मैदानशाह में गये। यहाँ एक अच्छा तालाब और बाग है। सारे मैदान के गिर्द इमारतें बनी हुई हैं, और खाली हिस्से को नई इमारतों से घेरा जा रहा है। हारून-वलायत की कब्र बहुत पूजी जाती है। यही बात सर आगाखून की कब्र की भी है। यहाँ भक्तों की बड़ी भीड़ लगी थी। इमामज़ादा इस्माइल की कब्र के सामने एक नौजवान अपने हैट को उतारकर सिर झुका रहा था; जान पड़ता है, हैटकोट से इस्लाम को कोई खतरा नहीं, फिर मुल्ले हाय-तोबा क्यों मचाते हैं ?

मैंने पुराने अस्फ़हान की बची-खुची चीजों को भी देखना चाहा, क्योंकि इस्लाम के आने से पहिले भी अस्फ़हान ईरान का एक मशहूर शहर रहा। शहर से बाहर कुह (कोह)—आतिशगाह वह पर्वत है, जिस पर कभी पुराने पारसियों का अग्नि-मन्दिर था। कहते हैं, हजारों वर्षों से वहाँ आग जलती आई थी, जिसे कि इस्लाम ने आकर बुझाया। अब अग्निशाला की कुछ दीवारें-भर खड़ी रह गई हैं। मध्याह्न होने को आया। मैंने असगर से कहा, भाई ! कहीं अच्छे बाग और नहर के किनारे चलो, वहीं खाना खाया जायगा। वह मुझे उपनगर के गाँव में ले गया। नीले पानी की चार-पाँच हाथ चौड़ी और तीन हाथ गहरी नहर बह रही थी। किनारे पर सायादार वृक्ष थे। मीठे सरदे—खरबूजे से भी सस्ते बिकते थे, अंगूर भी सस्ता था। मैंने काफी सरदे और अंगूर ले लिये। असगर ने वहाँ किसी घर से चाय का भी इंतिजाम कर दिया। जिस वक्त मैं नहर के किनारे बैठकर खाना खा रहा था, उस वक्त लड़कपन में पढ़े 'किस्सा हातिमताई' का कोई नजारा—देव और परियाँ याद आ रही थीं। हाँ, यह कोहकाफ नहीं, तेहरान था। खा-पीकर बाहर की ओर चले। शहर के बाहर उजड़े घर बहुत थे। दूर पहाड़ दिखाई पड़ते थे। शीराज की सड़क से नजदीक लेकिन सड़क से दूर कुहसपेद था, जिसमें ईसाई साधुओं का एक मठ था। असगर ने बतलाया कि बरसात में यह पहाड़ हरी घासों से ढँके बहुत सुन्दर मालूम होते हैं। जाड़ों में बर्फ पड़ जाती है। बाहर से देखने पर अस्फ़हान बागों का नगर मालूम होता था, जिसमें मस्जिदों के नीले-नीले गुम्बद जहाँ-तहाँ दिखाई देते थे। अस्फ़हान से पूरब में करमान्, दक्षिण में शीराज (पारस), पच्छिम में बख्तियारी और उत्तर में तेहरान के इलाके हैं। अस्फ़हान में कपड़े की मिलें और कितने ही दूसरे भी कारखाने हैं। शहर की ओर लौटे, रास्ते में चहारबाग का सुन्दर उद्यान मिला।

शीराज़ को—28 रियाल (4 रुपया 6 आना) देकर शीराज़ की बस पर बैठा। चार बजे खुलने की बात कही जा रही थी, लेकिन यहाँ बात का कोई ठिकाना नहीं, हमारी बस आठ बजे रवाना हुई। इसमें भी मुसाफिरों को खूब ठूँसा गया था। दो जने कल से ही टिकट कटाये बैठे थे। मैंने अपने भाग्य को सराहा। आबादी में 2 बजे रात को पहुँचे। एक चारपाई मिली, किन्तु ओढ़ना-बिछौना कुछ नहीं था। मैं कोट-पतलून पहिने ही सो गया। ड्राइवर बिल्कुल बेपरवाह, ऊपर से मदक-चंडू पीनेवाले—चंडू पीना तो यहाँ तम्बाकू पीने की तरह है। लॉरी इतनी तेज चलाई जाती थी, कि किसी वक्त भी दुर्घटना हो जाने का डर रहता। सरकार की ओर से अफीम पर कोई रुकावट नहीं है।

8 बजे बस रवाना हुई। रास्ता सारा पहाड़ी था। कई डाँड़े पार करने पड़े। गाँव बहुत दूर-दूर पर मिलते और वृक्ष गाँव ही में दिखलाई पड़ते। एक जगह मैंने अपने साथी के साथ भोजन किया। दोनों आदमियों ने खूब छककर गोश्त-रोटी, चाय-अंगूर खाया और दाम खर्च हुआ पाँच आने से भी कम। घंटा-भर आराम करके हम फिर चले। बस में एक पलटनिहाँ हवलदार थे, उनका मिजाज देखने से मालूम होता था कि शाह के उत्तराधिकारी हैं। हमारी बस में नौ बुर्कापोश औरतें थीं, जिनमें एक बारह साल की लड़की भी थी। अब हम दारयोश (दारा) की खास जन्मभूमि पारस के सूबे में चल रहे थे। चारों तरफ वही नंगी सूखी पहाड़ियाँ थीं। बस में धूल उड़ रही थी। ताज्जुब होता था कि प्राकृतिक सौन्दर्य से वंचित इस देश में हाफिज और शादी जैसे कवि कैसे पैदा हो गये। 4 बजे के करीब हम तख्तजंमशीद (परसेपुलीस=पारसपुरी) पहुँचे। सामने बहुत लम्बी-चौड़ी उपत्यका, लेकिन पहाड़ बिलकुल नंगे थे। उपत्यका भी सौन्दर्य-वंचित। क्या ईरान के महान शाहंशाहों के समय भी यह जगह ऐसी ही सूखी और नंगी थी। पारसपुरी उस समय सारी सभ्य दुनिया की राजधानी थी। दारा के राज्य में पूरब में सिन्ध, पच्छिम में यूनान और मिस्र तक शामिल थे। पहाड़ की जड़ में दारा के महल थे। अब भी उसके बड़े-बड़े खम्भे वहाँ खड़े थे।

चिराग जलते समय हम शीराज़ पहुँचे। पहिले ही पुलिस ने जावाज ले लिया। मेहमानखाना ईरान में भी 5 रियाल (साढ़े 12 आना) रोज पर एक अच्छा कमरा मिला। कुर्सी, मेज, पलँग, बिस्तरा, लिहाफ, बिजली की रोशनी सब मौजूद थी। आधा रियाल (5 पैसा) देने पर स्नान का भी इन्तिजाम हो गया। अब दो दिन (19, 20 सितम्बर) शीराज में ही रहना था। शीराज सूबा पारस का सदर है, यह समुद्र तल से 5200 फीट ऊपर है। इसकी आबादी 70 हजार है। करीमखाँ बाजार, आर्क (किला) को देखा। शाहरजा सिपाही से बादशाह

बने, इसलिए सिपाहियों की ओर उनका ध्यान ज्यादा रहता ह। पलटन, पुलिस उनके वफादार हैं। दस तुमान (15 रुपए) मासिक तनख्वाह बुरी नहीं है। वरदी भी अच्छी होती है। घोड़ागाड़ी की, और नज्मिया (कोतवाली) से एक आदमी ले शहर से बाहर हाफिज के मजार पर गया। हाफिज फारसी का महान कवि है। अपने पुराने कवियों और पुराने वीरों के सम्मान की ओर नए ईरान का खासतौर से ध्यान है। मजार (समाधि) की नए सिरे से मरम्मत हुई है, नई छतरी लगी है, लेकिन कोई कला नहीं, कोई सौन्दर्य नहीं। इससे अच्छा होता, यदि यहाँ एक सुन्दर बाग लगा दिया गया होता। एक मील और जाने पर शेख सादी की कब्र पर गए। यह थोड़ा-सा पहाड़ के भीतर घुसकर है। पास के गाँव का नाम है, करिया-सादी (सादी गाँव) और पास के चश्मे का नाम है, 'आबे-सादी' (सादी-आब)। एक दोमहले के ढंगे से मकान के भीतर महान कवि की समाधि है। समाधि के किनारे पत्थर का कटघरा है, सफाई और मरम्मत का ख्याल रखा गया है। लेकिन नवीन ईरान इतने ही से संतुष्ट नहीं है, वह लोगों की इस धारणा को भी हटाना चाहता है, कि चित्र या मूर्ति का सम्मान करना बुरा है; इसीलिए ब्रिटिश-म्युजियम से सादी के चित्र का फोटो उतरवाकर यहाँ रखा गया है। बाहर 6 चीड़ के वृक्ष हैं। चारों ओर नीरस पहाड़ी भूमि है, इसी के भीतर सरस कवि पैदा हुआ था।

रात को एक फिल्म देखने गए। स्त्री-पुरुषों की भीड़ बहुत थी। फिल्म अंग्रेजी भाषा का था, लेकिन उसमें फारसी में हेडिंग लगाया गया था और बीच-बीच में एक आदमी व्याख्या करता जाता था। सिनेमा खुली जगह में था, बाकू में भी एक सोवियत फिल्म खुली जगह में देखा था। आगा अस्र मेरे साथ ही अस्फ़हान से आए थे। कहाँ तो वह मुझे जोर दे रहे थे, कि आप मेरे घर आइए, मैं अपनी तरुणी बहन से आपकी शादी करूँगा, और कहाँ एक दिन झाँकने का भी नाम नहीं लिया। मैं भी घूमने-फिरने में इतना व्यस्त था, कि उनके घर को ढूँढ़ निकालने की कोशिश नहीं की।

तेहरान को–21 सितम्बर को 57 रियाल (प्रायः 9 रुपया) देकर मैंने सीधा तेहरान के लिए बस का टिकट लिया। कभी-कभी बसों के लिए इंतिजार करना पड़ता है, इसीलिए मैंने ऐसा किया। 9 बजे रात को गाड़ी रवाना हुई, और 2 बजे रास्ते में रुकी। अगले दिन (22 सितम्बर) 7 बजे रवाना हुई। यज्द-खस्त पुरानी आबादी है। मिट्टी के पहाड़ हैं, और किन्हीं-किन्हीं मकानों को मिट्टी खोदकर बनाया गया है। उस समय जौ-गेहूँ की खूब हरी फसल थी। यहाँ मकानों के खँडहर बहुत हैं। 7 बजे अस्फ़हान पहुँचे। मोटर यहाँ से आगे जाने वाली नहीं थी। मैंने फजूल ही समझा था कि अब तेहरान जाने के लिए निश्चित हो गया। ईरान में ठहरने और खाने का सस्ता और अच्छा इन्तिजाम हो जाता है; तकलीफ उठानी पड़ती है, तो सिर्फ इन्हीं बसों के कारण। अगले दिन (23 सितम्बर) को मुझे यहीं रहना पड़ा। नदी पार आरमेनियन लोगों का मुहल्ला जुल्फा है, पिछली बार मैं उसे देखने नहीं गया, अबकी उसे भी देख आया। अब तो ईरान के सभी शहरों में और ईरानियों में पुरानी पोशाक उठ गई है, रहन-सहन में भी भारी अन्तर हो गया है; इसलिए जुल्फा के आरमेनियन स्त्री-पुरुषों को देखने से अचरज करने की जरूरत नहीं; लेकिन दश-पन्द्रह साल पहिले यह जरूर आधुनिकता का केन्द्र समझा जाता रहा होगा। यहाँ आरमेनियन लोगों के कई गिरजे (कलीसियो) हैं, मैं घूम-घूमकर अपने मन से उन्हें देखता रहा। भोजन के लिए फिर शहर लौट आया। अस्फ़हान में तेहरान की तरह कुछ हिन्दुस्तानी दूकानें हैं, और ज्यादातर पंजाब के सिक्ख भाइयों की। लड़ाई के वक्त बहुत-से पंजाबी सिपाही ईरान में आ गये थे। उस वक्त कुछ पंजाबियों ने फौजी मोटरों को दौड़ाया था। लड़ाई के बाद उन्होंने अपनी मोटरें और लॉरियाँ खरीद लीं और मोटर का सारा काम उनके हाथ में आ गया। पीछे सरकार ने ईरानी व्यापारियों को भी इस क्षेत्र में आने के लिए सहायता की। अब मोटर के रोजगार पर हिन्दुस्तानियों की इजारादारी नहीं, लेकिन अब भी उनकी बहुत-सी लॉरियाँ हैं, बहुत से हिन्दी ड्राइवर भी हैं, और मोटर के पुरजों के बेचने का रोजगार तो प्रायः सारा हिन्दियों के हाथ में है। सरदार साहेबसिंह पहिले आदमी थे, जिन्होंने मोटर का काम शुरू किया, आज वह पचीस-तीस लाख के धनी हैं।

अगले दिन (24 सितम्बर को) तेहरान के लिए रवाना हुआ। बस बिल्कुल नई और साफ थी, तबियत बहुत खुश हुई। लेकिन बारह बजे रात को एक बयाबान में पुरजा टूट गया, बस वहीं खड़ी हो गई। आसमान

के नीचे रात में खुली जगह सोना पड़ा। सब लोग सर्दी से ठिठुर रहे थे। ड्राइवर अच्छा था। वह बतला रहा था कि पहिले का जमाना होता, तो यहाँ सब लुट जाते। यह भी मालूम हुआ कि ईरानी जंगली सूअर का शिकार करने लगे हैं। कोई कह रहा था कि टोप (हैट) लगाने के लिए सरकारी हुकुम निकला, बुशहर-बन्दरगाह के मुल्लों ने लोगों को भड़काया कि इसलाम खतम हो जायगा। बलवा हो गया। पल्टन ने मशीनगन लगा दी, और एक हजार आदमी वहीं ढेर हो गये; फिर टोप लगाने में किसी ने आनाकानी नहीं की। पहिले सामने छज्जेवाला गोल टोप चला। हमारा साथी बड़ी संजीदगी के साथ बतला रहा था–दरअसल शाह की मरजी थी कि लोग नमाज को छोड़ दें, लेकिन इस छज्जे वाली टोपी ने कोई रुकावट नहीं डाली। नमाज पढ़ना होता, तो लोग छज्जे को पीठ की ओर कर देते और नमाज पढ़ लेते, इस पर सरकारी हुकुम हुआ कि पूरे छज्जे के टोप को पहिनना होगा। खैर, मैंने तो कितनों को नमाज पढ़ते देखा था, कितनों ही को पीरों की कब्र के सामने हैट उतारते भी देखा था।

सबेरा होते ही ड्राइवर के साथ मैं पैदल ही कुम् के लिए रवाना हो गया। कुम् 7 ही मील था। ड्राइवर ने मुझे दूसरी बस पर बैठा दिया, और मैं तेहरान चला आया। मैं चाहता था कि अफगानिस्तान के रास्ते लौटूँ। अफगानिस्तान के कौन्सल से वीसा लेने गया, पहिले तो कहा गया कि जाने का रास्ता नहीं है। मैंने जब कहा कि मशहद से हिरात होते जाया जा सकता है, तो कहा–मशहद में ही आप वीसा ले लें। तेहरान में दो दिन (26, 27 सितम्बर) और रहा। एक दिन फोटोग्राफर के पास कुछ अपने फिल्म धुलवाने गया, वहाँ एक तुर्क नौजवान बैठा था। बातचीत में कहने लगा–अभी ईरानी बहुत पिछड़े हैं, अभी इनकी औरतों ने काली चादर नहीं छोड़ी और इन्होंने इस खूसट अरबी लिपि को भी कायम रखा है। वहाँ एक यहूदी दाँत-डाक्टर हमीदखाँ बैठे थे, वह मुझे अपने घर पर ले गये। यहूदी औरतों में बिल्कुल पर्दा नहीं होता। हमीदखाँ ने अपने पिता, सौतेली माँ और बीवी से परिचय कराया। यहाँ के यहूदी और मुसल्मान दोनों ही फारसी बोलते हैं, दोनों ही के नाम एक से होते हैं। हमीदखाँ के पिता पेरिस के पढ़े डाक्टर थे, बहुत खुशमिजाज थे। उन्होंने ईरानी भोजन खाने का निमन्त्रण दिया। चावल, गोश्त और मोठ एक साथ पकाया गया था। साथ में पोदीना और दौंना की हरी-हरी पत्तियों के साथ प्याज के टुकड़े भी थे। रोटी पतली-पतली थी। पीछे खाने के लिए अंगूर आए। जहाँ दो आना सेर अंगूर बिकता हो, वहाँ उसकी क्या कदर हो सकती है। शीराज में गदहों के ऊपर लम्बे-लम्बे सुनहरे अंगूर बिक रहे थे। दो आने के अंगूर को मैं दिन-भर में नहीं खा सका था। शाम को 'नुमाइश-मरकजी' में हम एक ईरानी नाटक 'मेहर-गयाह' (प्रेमबूटी) देखने गये। दर्शकों में आधी के करीब स्त्रियाँ थीं, और स्त्री-पुरुष साथ-साथ बैठे थे। नाटक में अंग्रेजी ढंग का नाच भी था। नायिका का पार्ट एक आरमेनियन तरुणी लोरिता ने बहुत अच्छा किया था।

अगले दिन (27 सितम्बर) भी शहर में इधर-उधर घूमता रहा। मैं हमीदखाँ के घर गया। उनके पिता ने अपने एक दोस्त से आगा रुहुल्लाखान कहकर मेरा परिचय कराया। मुझे कभी ख्याल भी नहीं आया था, कि राहुल का इतनी आसानी से रुहुल्ला बन जायगा।

मशहद को–28 सितम्बर को मैं सबेरे जाकर जावाज ले आया। 36 रियाल (5 रुपया 10 आना) देकर मशहद का टिकट भी ले लिया। बस रात को साढ़े आठ बजे चली। जगह बड़ी सासत की मिली। ड्राइवर के पास बैठना था। वहाँ एक पैर रखने की जगह नहीं थी, और पीठ की ओर कोई आलम्ब नहीं था। 3 दिन की यात्रा, सो भी रात-दिन। रात को 2 बजे सोने के लिए जाबुन में ठहरे, सोना धरती पर था। अगले दिन (29 सितम्बर) 6 बजे ही रवाना हो गये। एक बड़ी जोत पार करनी पड़ी। पहाड़ी दृश्य तिब्बत जैसा था। साढ़े आठ बजे फिरोजकुह कसबे में पहुँचे, यहाँ बहुत-सी दूकानें थीं। शराबखाने पर "मैकदऽ" लिखकर खूब अच्छी तरह सजाया गया था। पहिले लोग शराब छिपकर पीते थे, लेकिन अब कोई रुकावट नहीं थी। पास में एक नदी बह रही थी, जिसके किनारे को लोगों ने पाखाने से गन्दा कर दिया था। आगे एक जगह बहुत-से जंगली देवदार देखे। बसमूजोत बहुत ऊँची जोत है, यहाँ जाड़ों में बरफ के मारे कभी-कभी रास्ता रुक जाता है। सेमरान में बहुत भारी मैदान है, यहाँ मिट्टी के तेल के कुएँ खुद रहे हैं। रात को 2 बजे शाहरूद

पहुँचे। यहाँ से खुरासान शुरू होता है। रात को यहीं सोये। अगले दिन (30 सितम्बर) मियानूदश्त नामक शाह-अब्बास का बनवाया किला एक सुनसान बयाबान में मिला। खाने के लिए हर जगह रोटी-गोश्त-फल मिल जाते थे। ईरानी भी गोश्त में मिर्च-मसाला डालना नहीं जानते। जान पड़ता है, मसालेदार मांस हिन्दुस्तान की अपनी चीज है। मेरे एक हिन्दुस्तानी दोस्त कह रहे थे—खाना और गाना तो हिन्दुस्तान ही जानता है। यह दोस्त हिन्दू नहीं, मुसल्मान थे। रात को सवूजवार में रहना पड़ा। यहाँ रहने का बहुत अच्छा इन्तिजाम था। लेकिन दो ही तीन घंटा रहने के बाद बसवाले ने फिर लोगों को उठाया। साढ़े 4 बजे रात को ही नेशापोर पहुँच गये। यहीं विश्वकवि उमरखैयाम की समाधि है। नींद के मारे हिम्मत पस्त थी, बसवाले को कुछ और पैसे दे रहा था, पर वह समाधि पर जाने के लिए तैयार नहीं था। मशहद नगरी जहाँ से दिखाई पड़ी, वहाँ हमारे साथ के तीर्थयात्री पत्थरों का गुम्बद (स्तूप) बनाने लगे। मशहद इमामरजा—शिया लोगों के 12 इमामों में एक प्रसिद्ध इमाम—का समाधिस्थान है, इसलिए दुनिया-भर के शियों का यह प्रसिद्ध तीर्थ है। टोप के लिए यहाँ भी मुल्लों ने लोगों को उत्तेजित किया था। यद्यपि मारे गये थे पन्द्रह-बीस ही, लेकिन लोगों में मशहूर है कि हजारों आदमी मशीन से उड़ा दिये गये। काफी दिन था, जब हम मशहद पहुँचे। मशहद सुन्दर नगर है। आबादी एक लाख तीस हजार है। सड़कें खूब चौड़ी और साफ हैं। ईरान के शहरों की सड़कों का मुकाबिला तो हिन्दुस्तान में सिर्फ नई दिल्ली की सड़कें कर सकती हैं। सीधी सड़कें निकालने में न जाने कितनी हजार कब्रें और कितने सौ मसजिदें खतम कर दी गईं।

काबुल के रास्ते जाने का विचार मैंने अब भी छोड़ा नहीं था। 'मेहमानखाना-मिल्ली' (जातीय होटल) में 6 रियाल (साढ़े पन्द्रह आना) रोजाना पर एक अच्छा कमरा मिला। पता लगा कि यहाँ से हिरात (अफगानिस्तान) का रास्ता खुला हुआ है। अफगान-कौन्सल के पास गया। मालूम हुआ कि वीसा के लिए दस दिन ठहरने की जरूरत होगी। अब उधर की आशा छोड़नी पड़ी। शहर को सुन्दर बनाने की पूरी कोशिश की गई है, और नई इमारतें बनती जा रही हैं। यहाँ से 28 किलोमीटर (प्रायः 18 मील) एक तूस है। महाकवि फिर्दोसी की समाधि को देखने के लिए मैंने घोड़ा-गाड़ी की। दो घंटे बाद तूस पहुँचा। तूस अब कौशाम्बी की तरह एक उजाड़ ढेर है। इसी में एक तरफ नया बाग लगा है, जिसमें ईरान के इस महाकवि की समाधि है। समाधि की इमारत संगमरमर की ईरानी ढंग पर बनी है, खम्भों पर पारसपुरी के खम्भों की तरह बैल आदि की मूर्त्तियाँ हैं। दरवाजे में शाहनामा के पाँच दृश्य संगमरमर पर उत्कीर्ण हैं। शायद उनमें से एक में महमूद और फिर्दोसी की मूर्त्ति भी है—नवीन ईरान इस्लाम की मूर्त्ति-भंजननीति की कोई पर्वाह नहीं करता। पास ही में एक छोटा-सा बाग था, हमने वृक्ष की छाया में बैठकर मीठे सरदे खाये। पानी भी यहाँ का अच्छा था।

रात को मशहद नगर घूमने गया। न जाने किस वक्त मेरा मनीबेग चोरी चला गया। उसमें ईरानी और अमेरिकन सिक्के मिलाकर 90 रुपये थे। खैरियत थी कि मैं चेक को अपने बक्स में छोड़ गया था।

भारत की ओर—3 अक्तूबर को मैं बैंक से चैक भुना लाया। 9 बजे रात को हमारी बस रवाना हुई। इस बस की तकलीफ के बारे में मत पूछिये। शायद इतनी तकलीफ जिन्दगी-भर में किसी यात्रा में न हुई होगी। यह माल लादने की लारी थी। नीचे दो हिस्सा माल भरा हुआ था। पीछे की एक चौथाई जगह माल से पूरी पटी थी। छत भी बोझ से टूटी जा रही थी। लॉरी पर लिखा हुआ था 'मख्सूस हम्ल-बार' (सिर्फ बोझा ढोने के लिए), तो भी अठारह मुसाफिर इसमें ठूँस दिये गये थे। लॉरियों की कमी के कारण मुसाफिर मजबूर थे, लेकिन यहाँ 18 आदमियों के लिए बैठने की भी जगह नहीं थी, फिर हमको पाँच दिन-रात इसी बस में चलना था। बस में एक-दूसरे से परिचय हुआ। पंडित मस्तराम शर्मा पत्नी और बहन के साथ शायद तीन आदमी थे। वह गुरदासपुर (दीनानगर) के रहनेवाले थे। गुजरात के मुल्लाजी, उनके दामाद अहमद भाई और बीवी-बेटी चारों जने तीर्थ करके आ रहे थे। अम्बाला के तरुण अलमदाद हुसेन मशहद से तीर्थ और प्रेम करके लौट रहे थे। इस प्रकार हम 9 हिन्दुस्तानी थे, और 9 ही ईरानी। पहिली रात बैठने के बाद सोने का नाम आया। मैंने राय पेश की—हमें शिर को सिर्फ अपना समझना चाहिए, बाकी शरीर को बोरों का ढेर मान लेना चाहिए। वही हुआ। रास्ते में तुरबते-हैदरी, काईन, विरजन्द होते 7 अक्तूबर को हम जाहिदान पहुँचे। यह 8 हजार आबादी

का अच्छा कसबा है। आसपास के गाँवों में बलोची रहते हैं, लेकिन शहर में ईरानियों और उनसे भी ज्यादा भारतीयों की दूकानें हैं। यहाँ भी आसपास नंगे पहाड़ हैं। पिछली लड़ाई (1914-18) में कोयटावाली रेल यहाँ तक लाई गई थी। आज भी शहर की कुछ सड़कों पर रेल की पटरी बिछी हुई है, लेकिन रेल नोककुंडी से आगे नहीं आती। उस वक्त पल्टन के लिए अंग्रेजों ने बहुत से मकान बनवाये थे, जिनमें से अधिक आज खाली पड़े हैं। कुछ मकानों में अब ईरानी सिपाही रहते हैं। 1920 में अंग्रेजों को ईरान छोड़ जाना पड़ा। उन्होंने सोचा था कि वोलशेविकों के आने से रूस कमजोर हो गया और आधे की जगह सारा ईरान हमारा है। लेकिन वोलशेविकों ने जार के समय ईरानियों से छीने अधिकारों को छोड़कर अंग्रेजों को भी पीछे हटने के लिए मजबूर किया। गुम्रग् (कस्टम) के गोदाम में बादाम और पिस्ता के अलावा जीरे की हजारों बोरियाँ थीं, और हींग के बस्ते भी रखे थे। ईरानी न जीरे को बरतना जानते हैं, न हींग को। 9 अक्तूबर को एक बजे लॉरी नोककुंडी के लिए रवाना हो गई। इधर माल की लॉरियाँ ही ज्यादा चलती हैं, और ड्राइवर बगल में एक-दो मुसाफिरों को बैठा लेते हैं। साढ़े 4 घंटा चलने के बाद मीरजावा पहुँचे। किसी समय यह अच्छा स्टेशन था, अंग्रेजों की रखी पानी की टंकी अब भी काम दे रही थी। मीरजावा से एक-दो ही मील दूर ईरान और भारत की सीमा है। यदि मीरजावा भारत की सीमा में होता, तो यहाँ तक रेल आती, लेकिन उस पार तो सैकड़ों मील तक पानी है ही नहीं। नोककुंडी में भी दूर से रेल में पानी लाद के लाना पड़ता है। ढाई घंटे तक कस्टमवालों ने सामान और पासपोर्ट देखने में लगाये। आंठ बजे जब चलने लगे, तो लॉरी बिगड़ गई। ड्राइवर उसे सुधारने लगा। 1 बजे अंग्रेजी सीमा की फौजी चौकी पर पहुँचे। दोनों राज्यों की सीमा है एक सूखा छिछला नाला। खैर, चौकी में पासपोर्ट देखा गया। हम फिर चले और रास्ते में रेलवे मजूरों के एक खाली घर में पहुँचकर सो गये। यहाँ हवा अधिक थी, सर्दी भी अधिक थी, लेकिन विरजन्द के पास जैसी नहीं, जहाँ कि रात को मशक का पानी बरफ बन गया था। 10 तारीख को सबेरे ही रवाना हुए। हवा तेज थी, और छोटी-छोटी कंकड़ियाँ उड़ रही थीं, 3 जगह गाड़ी बालू में फँसी। कभी-कभी दो-दो दिन गाड़ियाँ इस सूखी दलदल में फँसी रहती हैं। शताब्दियों से यह निर्जल, निर्जन सैकड़ों मीलों का कान्तार हिन्दुस्तान की रक्षा करता था; शत्रु की हिम्मत नहीं होती थी, कि भारी सेना लेकर इधर से आये। लेकिन अब तो लॉरियों ने इस बयाबान को चन्द घंटों का रास्ता बना दिया। हम एक बजे नोककुंडी पहुँच गये।

20

मौत के मुँह में (1935-36 ई.)

नोककुंडी बलोचिस्तान में एक छोटा-सा रेलवे स्टेशन है। जैसा कि मैंने पहिले बताया, यहाँ से जाहिदान तक रेल की पटरी मौजूद है, किन्तु रेल अब यहीं तक जाती है। यहाँ तीस-चालीस दूकानें हैं। पंजाबी और सिन्धी दोनों ही तरह के दूकानदार हैं। पानी बिल्कुल नहीं है, उसे बहुत दूर से पानी की टंकियों में लाना पड़ता है, और नापकर मिलता है। मकान भी छोटे-छोटे हैं, वृक्ष-वनस्पति का नाम नहीं है। सप्ताह में सिर्फ एक गाड़ी बृहस्पति को जाती थी, आज बृहस्पति था। 16 रुपया 2 आने में लाहौर का टिकट लिया। पासपोर्ट दो-दो बार देखा गया। 8 बजे शाम को गाड़ी रवाना हुई। नंगे पहाड़ और रेतीली-सी भूमि दिखाई पड़ रही थी, जब कि मैंने गाड़ी से बाहर की ओर झाँका। स्टेशन कोई-कोई सौ मील पर था। पानी है ही नहीं, तो आदमियों की बस्ती कहाँ से होगी। दोपहर बाद ट्रेन बोलान-दर्रे में घुसी, उसे कई सुरंगों से पार होना पड़ा। इस तरफ से विदेशी शत्रुओं के आने में दो-दो प्राकृतिक बाधाएँ थीं। एक तो सैकड़ों मील का वह निर्जन निर्जल बयाबान, और फिर वह बोलान की पहाड़ियाँ। यह भारत के लिए कितने सहायक साबित हुए हैं, यह इसी से मालूम है, कि अंग्रेजों से पहिले के सभी आक्रमणकारी खैबर से आये, किसी को बोलान से आने की हिम्मत न हुई।

तीसरे पहर गाड़ी मस्तुंग-रोड स्टेशन पर पहुँची। सारे मकान गिर गये थे। मैंने जापान में क्वेटा के भूकम्प की खबर-भर सुनी थी, लेकिन यहाँ देख रहा था कि पानी की टंकियों के लोहे के खम्भों को किस तरह उसने तोड़-मरोड़ डाला था, किस तरह उसने बागों की दीवारों को सुला दिया था। स्पेजन्द जंकशन से एक लाइन क्वेटा जाती है, और दूसरी सक्खर-रोडी को। हम लोग लाहौरवाले डिब्बे में बैठे। अब हिन्दुस्तानी तीसरे दरजे की बहार मालूम हुई। रेलवे कम्पनियों के लिए हम आदमी नहीं जानवर हैं। मैंने इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी की रेलें देखीं, जापान की रेलें भी देखीं, कोरिया, मंचूरिया की रेलें देखीं। खैर, सोवियत की रेलों के तीसरे दर्जे के आराम से तुलना करने की जरूरत नहीं। हमारा तीसरा दर्जा नरक है। सक्कर-रोहड़ी होते हुए 12 तारीख को सवा 7 बजे शाम को लाहौर पहुँचा। डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप स्टेशन पर ही मिले। मैं उनके घर चला गया। अब 6 दिन लाहौर में बिताने थे। श्री विश्वबन्धु शास्त्री, और दूसरे मित्रों से मिला। मैंने कोशिश की थी कि पंजाब विश्वविद्यालय भी कलकत्ता विश्वविद्यालय की तरह तिब्बती भाषा को पाठ्यविषय में स्वीकार कर ले। डा. लक्ष्मणस्वरूप ने प्रस्ताव रखा था, लेकिन कश्मीर-शिक्षामन्त्री ने इसके खिलाफ लिखा। तिब्बती भाषाभाषी कश्मीर-राज्य में रहते हैं, फिर विश्वविद्यालय कैसे मंजूर करता ? मैं वाइस-चांसलर डाक्टर बुलनर से मिला, और यह भी बतलाया कि कश्मीर-राज्य ही में नहीं, काँगड़ा जिले की लाहुल तहसील में भी तिब्बती भाषा बोली जाती है। उन्होंने कहा—यदि वहाँ के लोग डिप्युटी-कमिश्नर की मारफत आवेदनपत्र भेजें, तो हमारा हाथ मजबूत होगा।

लाहौर में दो-तीन व्याख्यान देने पड़े। 18 को मैं दिल्ली के लिए रवाना हुआ, और अगले दिन साढ़े 8 बजे ही वहाँ पहुँच गया। प्रोफेसर सुधाकर के घर पर ठहरा। हरिजन सेवक संघ में श्री मलकानी और वियोगी हरिजी मिले। शाम को पहाड़ी पर टहलने गये। मेरठ से लाया अशोकस्तम्भ यहीं पर गड़ा है।

अगले दिन (21 अक्तूबर को) भी पुरानी जगहों को घूमकर देखना था। शाम को हिन्दी प्रचारिणी सभा की ओर से मानपत्र मिला। महामहोपाध्याय हरिनारायणजी सभापति थे। चतुरसेन शास्त्री, जैनेन्द्र जी, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पंडित इन्द्र जैसे दिल्ली के साहित्यधुरीणों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 22 को सबेरे कानपुर में उतर गया। स्वामी भगवान के साथ जाजामऊ देखने (23 अक्तूबर) गया। पुरानी जगह है, अधिक खंडित मूर्तियाँ नहीं हैं, यह बहुत पुरानी जगह नहीं मालूम होती।

प्रयाग में 4 दिन (24-27 अक्तूबर) के लिए डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद के यहाँ ठहरा। कुछ प्रूफ देखे। 26 तारीख को, टोन्सिल का दर्द उमड़ पड़ा, और बुखार भी एक-दो डिग्री का था। खैरियत यही हुई कि भारत से बाहर की यात्रा में यह बला सिर पर नहीं आई। थूक उगलने पर भी भारी दर्द हो रहा था। शायद लक्ष्मीदेवी ने कहा—कि गले में गमछा बाँधकर कोई टोन्सिलवाले गुनी इसे ठीक कर देंगे। मैंने कहा—अच्छी बात है, गुनी का भी हाथ लग जाय। आखिर वैद्यों का चूरन, होमियोपैथों की खाक-भभूत की परीक्षा तो हो ही चुकी है, अब इसी को क्यों बाकी रखा जाय ? लेकिन मैं जानता था कि इसकी दवा पटना में डाक्टर हसनैन ही कर सकते हैं। 29 अक्तूबर को साढ़े 6 बजे पटना पहुँचा। जायसवालजी का स्नेह और स्वागत प्राप्त हुआ, और 3 घंटे बाद डाक्टर हसनैन देखने आये। 10 बजे मैं मेडिकल कालेज के अस्पताल में दाखिल हो गया। डाक्टर पहले ही से कह रहे थे, कि टोन्सिल को काटकर निकलवा देने में ही कुशल है। मुझे भी कोई उज्र नहीं था, लेकिन अभी तो टोन्सिल पक रही थी, जब तक स्वस्थ न हो जाये, तब तक आपरेशन कैसे हो सकता था। पहिली नवम्बर को धूपनाथजी आ गये। दर्द तो अब भी था, लेकिन बातचीत में वह उतना मालूम नहीं होता था। 3 और 4 तारीख को टोन्सिल को चीर दिया गया। थोड़ा पीव और खून निकला। अब साल-भर के लिए फिर फुर्सत। 7 बजे मैं अस्पताल से जायसवालजी के घर पर चला आया।

सारनाथ में मूलगन्धकुटी विहार का वार्षिकोत्सव था, आनन्दजी और धूपनाथ के साथ मैं वहाँ के लिए रवाना हुआ। मेला अच्छा-खासा था। शायद मैं इस अवसर पर जरूर आऊँगा, यह बात श्यामलाल को मालूम हो गई थी, और 18 साल बाद श्यामलाल, रामधारी और श्रीनाथ—अपने तीनों ही सहोदरों को मैंने वहाँ देखा। 14 नवम्बर को हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्रों के सामने जापान पर व्याख्यान दिया। ध्रुवजी सभापति थे। कहाँ

मैं नाक तक नास्तिकवाद में डूबा और कहाँ ध्रुवजी जैसे आस्तिक वृद्ध ? मेरी कितनी ही बातें तो उन्हें पसन्द न आई होंगी, खासकर भक्ष्याभक्ष्य की बातें।

अबकी गर्मियों में मुझे फिर तिब्बत जाना था, क्योंकि शलू-विहार की सारी पुस्तकों को मैं देख न पाया था, और देखी हुई पुस्तकों में से भी कितनों को उतार के लाना था। दो दिन (15-17 नवम्बर) के लिए कलकत्ता हो आया। तेरगी के दुर्लभ कंजूर को बड़ी मुश्किल से मैंने प्राप्त किया था, लेकिन उसे मैंने छु-शिङ्शा से उधार रुपये लेकर खरीदा था। मैं चाहता था, कि कंजूर पटने ही में रहे, लेकिन वहाँ जायसवालजी को छोड़कर उसकी कदर जाननेवाला कौन था ? न बिहार-रिसर्च-सोसाइटी उसके महत्त्व को जानती थी, न पटना विश्वविद्यालय; लाचार होकर कलकत्ता विश्वविद्यालय को लिखना पड़ा।

पटना-बनारस हो के फिर मैं प्रयाग चला आया। और 20 नवम्बर से 15 दिसम्बर तक वहीं 'दीर्घनिकाय' (हिन्दी-अनुवाद), 'जापान', 'वाद न्याय' आदि के प्रूफ देखता रहा। 15 दिसम्बर को जायसवालजी की चिट्ठी मिली, कि कंजूर को कलकत्ता विश्वविद्यालय ले रहा है, चले आइए। मैं दूसरे दिन पटना पहुँच गया। अगले दिन (17) डा. प्रबोधचन्द बागची आ गए, और कंजूर को उन्होंने सम्हाल लिया। अब मैं पटने ही में था। सबेरे बड़े तड़के जायसवालजी के साथ गंगा नहाने जाता, जिसमें मैं थोड़ा तैर भी लेता था। जलपान के बाद जायसवालजी मुवक्किलों के कागज-पत्र देखते और फिर खाना खाकर हाईकोर्ट चले जाते। मैं जलपान के बाद चौड़ी पलंग पर कागज-पत्र फैलाकर प्रूफ देखने बैठता। मुझे यह भी पता नहीं होता, कि खाने का समय हुआ है। खाना तैयार होने पर वहीं छोटी मेज पर आ जाता। खाने के बाद फिर उसी तरह मैं काम में जुट जाता। कितने ही समय बाद मुझे यह कथानक सुनने में आया–राहुल जी लिखने-पढ़ने में इतने तन्मय रहते हैं, कि उनको यह भी पता नहीं लगता कि भोजन में नमक है या नहीं। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि न मैं ऐसा विदेह हूँ, न बनना चाहता हूँ। इस कथानक का स्रोत अंत में माँजी (जायसवाल-पत्नी) मालूम हुईं। ऐसा बहुत कम देखा जाता है, कि किसी विद्वान मित्र का जिस तरह स्नेह पाया जाय, उसी तरह उनकी पत्नी का भी वात्सल्य मिले।

जायसवालजी स्वयं विद्वान थे, अद्भुत गवेषक और विचारक थे, और इससे भी बढ़कर उनको यह लालसा रहती थी, कि दूसरे विद्वानों और सहकर्मियों को मदद पहुँचाई जाय। विज्ञानमार्त्तण्ड अजमेर के एक तरुण थे। पहिले लाहौर में और पीछे काशी में उन्होंने संस्कृत को पढ़ा था। वह बहुत व्युत्पन्न तरुण थे। हर छन्द में बड़ी सुन्दर कविता करते थे। उनका संस्कृत-भाषण अप्रयास चलता था। वह पटना पहुँचे। जायसवालजी ने पटना के दो नामी पंडितों को बुलाया। विज्ञानमार्त्तण्ड ने व्याकरण का पांडित्य तो दिखलाया ही, साथ ही वह यह कहकर खण्डन-खण्डखाद्य की पंक्तियाँ उद्धृत करने लगे, कि वस्तुतः यह ग्रंथ सारा का सारा नागार्जुन के माध्यामिक दर्शन पर अवलंबित हैं, और ग्रंथकार ने मंगलाचरण जोड़कर अपने को आस्तिक रखने की कोशिश की है। बेचारे पंडित विद्वान तो थे, लेकिन इसके लिए तैयार न थे। विज्ञानमार्त्तण्ड मुझे ढूँढ़ते यहाँ पहुँचे थे। अब वह बौद्ध धर्म का अध्ययन करना चाहते थे। मैंने उन्हें सिंहल या बर्मा जाने की सलाह दी। परिचयपत्र भी दे दिया। मेरी बड़ी इच्छा थी, कि उनका ज्ञान और भी विस्तृत हो जाय। जायसवालजी तो उस पर मुग्ध थे। एक दिन कचहरी से आने पर चुपके से सौ एक रुपये विज्ञानमार्त्तण्ड के लिए दे दिए। पत्नी कंजूस नहीं थीं, लेकिन पति की शाहखर्ची का कष्ट उन्हें ही भोगना पड़ता था। जायसवालजी का मैं यदि स्नेहपात्र था, तो उसका कारण उनकी गुणग्राहकता थी, लेकिन बेचारी माँजी तो बड़े मुश्किल से रामायण पढ़ पाती थीं; किंतु वह भी अपने पुत्रों-जैसा ही मुझ पर स्नेह रखती थीं। नमकवाली कथा का मूल ढूँढ़ते वक्त मुझे मालूम हुआ कि शायद किसी दिन खाने की चीज में नमक न रहा हो, या कम रहा हो। मैंने उसे जाना जरूर होगा, लेकिन नौकर को नमक के लिए दौड़ाना और तब तक हाथ को रोकना मुझे पसन्द नहीं था। आखिर, पास में प्रूफ भी तो इंतजार कर रहे थे। और मेरे पास रह गए थे उस समय जाड़े के कुछ इने-गिने दिन। मुंगेरवालों ने अपने जिला-साहित्य-सम्मेलन के सभापति बनने के लिए मुझसे बहुत आग्रह किया। मैंने स्वीकार कर लिया। अबकी बार ओरियन्टल कान्फ्रेन्स मैसूर में होनेवाली थी। जायसवालजी जा रहे थे, उन्होंने मुझे

भी चलने के लिए कहा, किन्तु मुझे अपने काम से छुट्टी नहीं थी। अब की शिवरात्रि में नेपाल के रास्ते तिब्बत भी जाना था।

टाईफाइड के चंगुल में—23 दिसम्बर को कुछ ज्वर आ गया। जायसवालजी ने देखा और पूछा "मैं रह जाऊँ ?" उस वक्त कोई वैसा बुखार नहीं था। मैंने कहा—नहीं, आप जाइए। होमियोपैथी पर जितना मेरा अविश्वास था, उतना ही उनका विश्वास। उन्होंने एक होमियोपैथ डाक्टर को दवा के लिए कह दिया। वह 23 दिसम्बर को ही मैसूर के लिए रवाना हो गए। 4 दिन तक होमियोपैथी की दवा होती रही, बुखार रात-दिन रहता था। हाय-तोबा मचाने की मेरी आदत नहीं है, इसलिए मैं चुपचाप लेटा रहता। 26 तारीख के दोपहर को थर्मामीटर लगाया गया, तो बुखार 103 डिग्री था, और रात को 105 डिग्री। मैंने समझा कि अब होमियोपैथी के भरोसे नहीं रहना चाहिए। दूसरे दिन 10 बजे मैंने श्यामबाबू (बैरिस्टर श्यामबहादुर) को बुलाया। रोगियों की चिकित्सा का स्थान मैं घर को नहीं, अस्पताल को मानता हूँ। वहाँ जितना दवाई और पथ्य का ख्याल किया जा सकता है, उतना घर पर नहीं, और घरवालों को नाहक तरद्दुद में रहना पड़ता है। उन्होंने डाक्टर बुलाने के लिए कहा, तो मैंने कहा—नहीं, अस्पताल ले चलिए। मैं वहाँ हथुवावार्ड को 11 नम्बर की चारपाई पर पहुँचा दिया गया। उस दिन बुखार 103 डिग्री से 105 डिग्री तक रहा। जब 103 से ऊपर होने लगता, तो सिर पर बरफ रखा जाता। आज (27 दिसम्बर) ही धूपनाथ आ गये, वह रात को भी मेरे पास रहना चाहते थे, लेकिन मैंने उन्हें होटल में सोने के लिए भेज दिया। दूसरे दिन भी रात को मैंने उन्हें होटल में भेजा। अस्पतालवालों को बड़ा आश्चर्य होता था, कि मैं अकबक क्यों नहीं बोलता। 29 तारीख को बुखार 103 से 104 डिग्री तक रहा। उस दिन बीच-बीच में बेहोशी आने लगी, लेकिन मुझे कोई घबराहट नहीं थी। अब धूपनाथ रात-दिन मेरी चारपाई के पास बैठे रहते, सिर्फ खाने के लिए बाहर जाते। आज देह में लाल-लाल दाग निकल आये, इसलिए सन्देह नहीं रहा कि यह टाईफाइड (मोतीझरा) ज्वर है।

30 दिसम्बर से 3 जनवरी—पाँच दिन तक मैं बेहोश रहा, उस वक्त की बातें मैंने धूपनाथ से सुनकर पीछे अपनी डायरी में लिखीं। बेहोशी के साथ पाखाना-पेशाब की भी संज्ञा जाती रही। नर्स और डाक्टर बड़ी तत्परता से देखते रहते, और धूपनाथ तो मुश्किल से एकाध घंटे इधर-उधर जाते, नहीं तो, बराबर वहीं रहते। पाखाने की बदबू बहुत खराब होती, धूपनाथ कपड़ों को बदलते और अतर छिड़कते रहते। 30 और 31 दिसम्बर को बुखार 105 डिग्री तक बढ़ता रहा। अखबारों में खबर छप गई थी, इसलिए बहुत-से दोस्त मिलने आते। बेहोशी में आयों को मैं क्या पहचानता, लेकिन जान पड़ता है, कभी-कभी स्वप्न की तरह मुझे होश भी आ जाता। पहिली जनवरी को नारायन बाबू (बाबू नारायणप्रसादसिंह, गोरयाकोठी, छपरा) आये थे। मैंने उन्हें पहचान लिया, और एकाध बात भी कही। दूसरी जनवरी को बुखार 101-103 डिग्री रहा और 3 जनवरी को 100-103 डिग्री तक। यद्यपि 4 जनवरी को भी 101-103 डिग्री बुखार रहा, पर आज बेहोशी नहीं थी। निमोनिया का डर था, इसलिए डाक्टर बहुत सावधानी कर रहे थे। डाक्टर सेन और घोषाल ने मेरी जान बचाने के लिए बहुत परिश्रम किया। 30 दिसम्बर से 3 जनवरी के 5 दिनों में मैं जिन्दगी और मौत के बीच में झूल रहा था। धूपनाथ बहुत खिन्न थे, मालूम होता था किसी वक्त भी मेरे प्राण निकल जायेंगे। उन्होंने तो यहाँ तक सोच लिया था कि शरीर को जलाकर हड्डियों को अपने गाँव ले जा उस पर स्तूप बनायेंगे। पीछे जब मैं खतरे से बाहर हो गया, तो मैंने खुद देखा कि 103 डिग्री टाईफाइडवाले बीमार को लोग धर-पकड़कर रखते थे, और वह उठ-उठकर भागना चाहता था। मैं सारी बीमारी में न चिल्लाता, न आह करता, न अकबक बोलता था। यह सुनकर बड़ी खुशी हुई, कि मैंने राम या भगवान का नाम बेहोशी में भी नहीं लिया—मेरे नास्तिक होने का यह एक पक्का सबूत था। धूपनाथ ने बतलाया—एक बार आप के मुँह से धर्मकीर्ति का नाम निकला था। यह निकलना स्वाभाविक था। मौत के लिए मुझे जरा भी हर्ष-विषाद नहीं था, लेकिन यह ख्याल जरूर आता था, कि धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्त्तिक' को पूरा संपादित करके मैं प्रकाशित नहीं कर सका। बेहोशी के वक्त मुझे ग्लूकोस का पानी और फिर फटे दूध का पानी मिलता रहा। 5 जनवरी को अनार का रस मिला। आज ज्वर 100 डिग्री रह गया था। बेहोशी भी नहीं थी। 6 जनवरी को ज्वर नहीं रहा। मैंने अपने कमरे में आँख फैलाई।

देखा वहाँ 22 रोगी हैं। मेरी बगल की 12 नम्बर की खाट पर रोगी 6 हफ्ते से टाईफाइड में पड़ा है। आज ही जायसवालजी मैसूर से लौटे। सुनते ही माँजी के साथ दौड़े आये। उनको बहुत अफसोस था, कि वह क्यों चले गये, लेकिन पहिले दिन किसको मालूम था; कि यह साधारण ज्वर नहीं है। अब ज्वर नहीं था। 7 तारीख को नारंगी, और अनार का रस और चार बार दूध भी पीने को मिला। 8 तारीख को केले की तरकारी से भात खाने को मिला। 9 को मांससूप दिया गया। 10 को भी वही भोजन रहा, लेकिन 10 बजे दिन से सर्दी मालूम होने लगी, और दोपहर बाद ज्वर आने लगा, जो रात को 101 डिग्री तक पहुँच गया। डाक्टर ने मित्रों को समझाया, कि घबड़ाने की कोई बात नहीं है, साधारण भोजन देने पर ऐसा हो जाता है। फिर बुखार नहीं आया, लेकिन बहुत कमजोर था, चारपाई पर भी बैठना मुश्किल था।

27 दिसम्बर को अस्पताल गया था। 15 जनवरी के 9 बजे से वहाँ से जायसवाल-भवन चला आया। पैर में शक्ति नहीं थी। चारपाई पर से धूपनाथ और दूसरे के सहारे मैं मोटर पर पहुँच सका। अब प्रातः दूध-रोटी और दो अंडा खाने को मिलता, दोपहर को मांस-सूप और भात, चार बजे टोस्ट और ओमलेट, फिर रात को मछली भात।

16 जनवरी को डंडा लेकर उठा, लेकिन दो-चार कदम ही में पैर जवाब देने लगा। दुर्गम पहाड़ों पर चलनेवाले अपने पैरों की इस अवस्था को देखकर मेरा दिल अफसोस करने लगा। लेकिन दिल को सिर्फ परमार्थ ही का ख्याल नहीं था, बल्कि वह 'प्रमाणवार्त्तिक' के लिए फिर तिब्बत जाना पक्का कर चुका था। डर होने लगा कि कहीं पैर जल्दी तैयार न हों। 17 तारीख से भोजन के साथ दो बार टानिक मिलता। 19 तारीख को तिब्बती कलाकार देबूजोर् पटना आये। मैंने उन्हें तिब्बत के प्रथम बौद्धमन्दिर (जोखङ्, ल्हासा) का लकड़ी का नमूना बनाने के लिए कहा था। वह उस नमूने को साथ लाये थे। बाद में उसे पटना म्युजियम में रख दिया गया। 20 तारीख को बिना डंडा लिये जब थोड़ा-सा चल पाया, तो बुड़ी खुशी हुई।

21 को इग्लैंड के बादशाह पाँचवें जार्ज के मरने की खबर आई। सारे आफिस बन्द हो गये। उस दिन मैंने 'जापान' का प्रूफ देखना चाहा, लेकिन थोड़ी ही देर में थकावट मालूम होने लगी। 23 को जायसवालजी के घर (बाँकीपुर-जेल के सामने) से स्टेशन तक घूमने गया, लेकिन लौट के आने पर बहुत थक गया। 'वादन्याय' के प्रूफ का काम खतम हो गया, लेकिन 'जापान' और 'दीर्घनिकाय' का प्रूफ देखना था। किंतु चन्द ही पन्नों को देखने पर थक जाता था। कुछ सेर मांस की कमी मनुष्य के शरीर को क्या से क्या बना देती है ! 26 जनवरी को मैंने लिखा था–"15 जनवरी को शरीर पर दो मन का बोझ मालूम हो रहा था, आज चलने पर बीस सेर का है। पाँच सेर का बोझ रोज घटता गया, इस हिसाब से चार दिन और लगेंगे प्रकृतिस्थ होने में।"

27 जनवरी को मुंगेर साहित्य-सम्मेलन के लिए भाषण लिख दिया। उस दिन पुराने राजा की मृत्यु और नये राजा के सम्बन्ध में पटना के मैदान में सार्वजनिक सभा हुई। हजार आदमी थे, जिनमें आधे स्कूल के लड़के थे। ड्राइवर कह रहा था–रायबहादुर, खानबहादुर पदवी पाने के लिए खुशामदी आये थे, हमारे लिए तो चाहे खानदान में दिया बालनेवाला भी न रहे, तो कोई बात नहीं।

बरियारपुर और मुंगेर–धूपनाथ अभी साथ थे। उनके साथ मैं (29 जनवरी) बरियारपुर गया। उनके छोटे भाई बर्म्हा आजकल यहीं बनैली के तहसीलदार थे। बड़े भाई देवनारायणसिंह भी आये हुए थे। यहाँ मेरा काम था, जल्दी से जल्दी और अधिक से अधिक मांस को शरीर पर जमा करना। उसके लिए यहाँ मांस, मछली, अंडा यहाँ चार-चार, पाँच-पाँच बार चलता था। सामने गंगा और उसकी कछार जिसमें गेहूँ, जौ की हरी फसल लहरा रही थी।

कई साल पहिले की बात है, गंगा ने कई गाँवों को बहा दिया। लोग भागकर सड़क के पास आ गये। जमीन बनैली राज की थी, यहीं लोग झोंपड़ी लगा के रह रहे थे। अंग्रेज-मैनेजर ने वहाँ से हट जाने के लिए कहा, मगर बेचारे जायें कहाँ। सारी जमीन तो डाकुओं ने बाँट ली है। मैंनेजर ने आग लगवा दी, और पाँच सौ झोंपड़ियाँ जल गईं। कहीं से कोई खोज-पूछ करने नहीं आया, और न कहीं सरकारी न्याय का पता लगा। वैयक्तिक सम्पत्ति आदमी को कितना क्रूर बना देती है !

पहिली फर्वरी को मोटर से मैं मुंगेर गया। दो साल पहिले भी इस सड़क से गुजर चुका था। आज सम्मेलन का अधिवेशन था। मैंने अपना भाषण मुश्किल से पढ़ा। देर तक कुर्सी पर बैठने की ताकत नहीं थी। अगले दिन कई भाषण और कविता-पाठ हुए। सिद्धहस्त वक्ता—पंडित जनार्दन झा 'द्विज' ने झाँसी की रानीवाली कविता पढ़ी।

3 से 9 फर्वरी तक पटना में रहा। कालेज के विद्यार्थियों के सामने दो-एक व्याख्यान दिये, बाकी समय प्रूफ देखने में लगाता रहा। 8 फर्वरी को शरीर तो देखने में पूर्ववत ही जान पड़ता था, किन्तु शक्ति उतनी नहीं आई थी—मांस तो बढ़ गया, लेकिन अभी वह गठा नहीं था। छपरा होते 12 फर्वरी को प्रयाग पहुँचा, और दो दिन प्रेस का काम देखा। 14 फर्वरी को बनारस। सिंहलवासी श्री अभयसिंह परेरा दस-बारह साल से भारत में संस्कृत पढ़ रहे थे, अबकी साल वह संस्कृत कालेज के न्यायाचार्य की अन्तिम परीक्षा दे रहे थे। मैंने उनसे कहा—"भोटभाषा में बौद्धन्याय के कितने ही महत्त्वपूर्ण और दुर्लभ ग्रंथ मौजूद हैं, भारतीय न्याय के विकास को अच्छी तरह समझने के लिए इन ग्रंथों को पढ़ना जरूरी है, क्योंकि उनके संस्कृत मूल लुप्त हो चुके हैं। यदि आप तिब्बत जाना चाहें, तो परीक्षा देकर नेपाल चले आयें। मैं अपने साथ ले चलूँगा, और टशील्हुम्पो में एक विद्वान के पास पढ़ने का इन्तिजाम कर दूँगा।"

बनारस से छपरा जानेवाली गाड़ी में चढ़े। अबकी धूपनाथ को भी नेपाल तक साथ चलना था। माँझी स्टेशन से उतरकर एकमा गये। असहयोग के समय एकमा में (1921-22 ई.) एक हिन्दी मिडिल स्कूल था, फिर लक्ष्मीनारायण, प्रभुनाथ गिरीश, हरिहर, रामबहादुर आदि तरुणों ने एक गाँधी-स्कूल खोल दिया, जो असहयोग के कई सालों बाद तक लस्टम-पस्टम चलता रहा। वही अब एक हाईस्कूल के रूप में परिणत हो गया है, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। विद्यार्थियों ने कुछ बोलने के लिए कहा। मैंने कुछ यात्रा की बातें बतलाईं और अंडे का माहात्म्य भी। कितनों को आश्चर्य हुआ होगा, तरुण विद्यार्थियों को नहीं, बूढ़े श्रोताओं को जरूर जो अब भी रामउदार बाबा कहने की जिद करते थे। उसी दिन दोपहर को धूपनाथ के साथ छपरा आया, और शाम की गाड़ी से नेपाल के लिए रवाना हुआ। 17 को 7 बजे रक्सौल और 9 बजे दूसरी गाड़ी पर चढ़कर हम अमलेखगंज पहुँच गये।

21

तिब्बत में तीसरी बार (1936 ई.)

शिवरात्री के यात्री खूब जा रहे थे, इस वक्त राहदारी का सवाल नहीं था। खुली लारियाँ एक-एक रुपये पर भीमफेरी पहुँचा रही थीं। ढाई घंटे में हम भीमफेरी पहुँच गये। अबकी बार यह अच्छा इन्तिजाम देखा, कि चीजों की तलाशी ऊपर सीसागढ़ी पर नहीं, बल्कि यहीं कर लेते थे। अभी मेरे शरीर में इतनी ताकत नहीं थी, कि दोनों डाँड़ों को लाँघ सकता। 14 रुपया सवा आठ आने में चार कुलियोंवाला एक खटोला किया गया। खटोले में इतना सिमिटकर बैठना पड़ता था, कि बड़ी तकलीफ होती थी। अँधेरा होते-होते हम सीसागढ़ी पहुँचे। कहीं और ठिकाना न मिलने के कारण मन्दिर के आँगन में सो गये। आधी रात को वर्षा होने लगी, फिर नीचे एक घर में चले गये। दूसरे दिन (18 फर्वरी) 5 बजे शाम को चन्द्रागढ़ी के ऊपर पहुँचे। उतराई में जमीन इतनी बिछली थी, कि लोग फिसलकर गिर रहे थे। शाम को साढ़े छै बजे थानकोट के नीचे मोटर के अड्डे पर पहुँचे। आठ-आठ आना लेकर मोटर ने इन्द्रचौक में पहुँचा दिया। ढूँढ़-ढाँढ़कर किसी तरह धर्ममानसाहु के घर पहुँच गये। उतराई में लोगों को फिसलकर गिरते देख मैं खटोले पर बैठना बेवकूफी समझ पैदल ही आया था, इसलिए कमर और पैरों में दर्द मालूम होता था।

1. नेपाल में

हेमिसलामा को दश साल बाद आज यहाँ देखा। उस वक्त उनसे लदाख में जब मिला था, तो उन्हें हिन्दी बोलने नहीं आती थी, और मुझे तिब्बती नहीं आती थी। अब वह हिन्दी भी बोलते थे। वह तीर्थ करने के लिए इधर आये थे। अब लदाख लौटनेवाले थे। ञेनम् के जोङ्पोन् भी यहीं ठहरे हुए थे। अभी वह एक मास तक यहाँ रहनेवाले थे। लेकिन तब तक मेरा काम खतम हो जायगा, इसमें सन्देह था और ठीक वैसा ही हुआ भी। मुझे 18 फर्वरी से 14 अप्रेल तक प्रायः दो मास काठमांडो में ठहरना पड़ा। धूपनाथ को यहाँ से भारत लौट जाना था। यद्यपि उनके मन में भी साथ चलने की इच्छा थी, किन्तु उन्होंने प्रकट नहीं किया। उनको नेपाल के कितने ही स्थानों को दिखला देना जरूरी था। हम थापाथली गये, अब भी वहाँ साधू उसी तरह डटे हुए थे, जैसा कि हमने 13 साल पहिले देखा था। पशुपति और गुह्येश्वरी को दिखाया, किन्तु धूपनाथ को श्रद्धा नहीं थी। महाबौधा गये। चीनी लामा ने चाय पिलाई, तीन घंटे तक बात होती रही। आजकल तिब्बत के बहुत से यात्री यहाँ ठहरे हुए थे। मैं अबकी चौथी बार महाबौधा आया था। मैंने धूपनाथ को कोठरियाँ दिखलाकर बतलाया, कि कैसे मैंने वहाँ स्वेच्छापूर्वक कैद-तनहाई काटी थी। अब मैं प्रगट था। लोगों को पता चल ही जाता, इसलिए कि यहाँ दो-चार जिज्ञासु आते ही रहते थे। एक दिन कालेज के प्रोफेसर पंडित गोकुलचन्द्र शास्त्री मिले, उनसे मालूम हुआ कि स्वमी प्रणवानन्द आये हुए हैं–लाहौर के छात्रावस्था के मित्र सोमयाजुलु, जिन्हें हम लोग प्यार से मिस्टर कहा करते थे। 17 वर्ष बाद आज इतना पास आ गये हैं, फिर मिलने की इच्छा क्यों न होती ? यद्यपि उनका शरीर अब भी वैसा ही पतला था, रंग वैसा ही साँवला था, किन्तु सिर पर लम्बे-लम्बे बाल और मुँह पर लम्बी दाढ़ी–ऐसे भेष को देखकर आदमी जल्दी भ्रम में पड़ सकता है, लेकिन मुझे पहिचानने में कठिनाई नहीं हुई। 17 वर्ष पहिले हम दोनों एक चौरस्ते पर खड़े थे। फिर हमने अपने-अपने पैरों को आगे बढ़ाया, और अब कितना अन्तर है। वह घर-बार छोड़कर योगी हुए। 1926 ई. तक वह भी कांग्रेस के काम में लगे हुए थे। फिर ब्रह्म और योग ने उन्हें अपनी ओर खींचा। उन्हें एक अच्छा गुरु मिला और दस-दस घंटे की समाधि लगने लगी। बतला रहे थे, बीमारी के कारण आपरेशन कराना पड़ा, इसलिए अब चार-पाँच घंटे ही समाधि रहती है। प्रणवानन्द रमण-महर्षि और स्वामी सियाराम (स्वर्गीय) के बड़े प्रशंसक हैं। मैं उनके मुँह से योग की बातों को सुन रहा था, लेकिन इन सबके सुनने की मेरे दिल में कभी स्पृहा नहीं हुई। ज्यादा से ज्यादा मैं यही मान सकता था, कि शायद हमारे योगियों ने क्लोरोफारम के बिना भी बेहोशी की कोई युक्ति निकाल ली है। ऐसी युक्ति को समझना कोई बुरी बात नहीं है। लेकिन, मेरे पास उसका समय कहाँ था ? साथ ही मुझे यह भी विश्वास है, कि योग मनुष्य की प्रकृति में अन्तर नहीं डाल सकता। अब भी प्रणवानन्द 'मिस्टर' की तरह ही निस्संकोच भाषण कर सकते थे। जब मैं पहिली बार सीलोन में था, (1927-29) तो वह लदाख होकर मानसरोवर गये थे, तब से वह कई बार मानसरोवर हो आये हैं। एक बार तो साल-भर से ज्यादा वहीं रहे। कच्चे योगी होने से, मैं समझता हूँ, उन्होंने कभी याक् के कच्चे मांस का स्वाद नहीं लिया होगा। हाँ, कैलाश के हवा-पानी में आध्यात्मिकता की विद्युत्-तरंगें प्रवाहित हैं, यह उनको विश्वास है। हम एक-दूसरे को एक मत का बनाने के लिए उत्सुक नहीं थे, इसलिए बातचीत का ही आनन्द रहा। दो-चार दिन हम दोनों एक ही मकान में रहे। हमने अपने पुराने जीवन की स्मृतियाँ दौड़ाईं। एक बात में जरूर हम दोनों एक थे, उनको भी तिब्बत के कष्टों का आह्वान करने में आनन्द आता था, और मुझे भी।

एक दिन मैं नेपाल और जापान की तुलना कर रहा था–(1) दोनों ही हरे-भरे सर्द देश हैं, (2) दोनों ही के मनुष्य मंगोल-किरात (मलाई)-श्वेतांग (अयिनू या हिन्दी-आर्य) मिश्रित जाति के हैं। (3) दोनों ही बड़े मेहनती और साहसी हैं, (4) और यह बात यद्यपि आज कोई महत्त्व नहीं रखती, किन्तु 68 वर्ष पूर्व दोनों का शासन भी एक जैसा था–वहाँ मिकादो को पर्दे में रखकर शोगुन राज करता था, यहाँ धिराज को पर्दे में रखकर अब भी तीन सरकार राज करते हैं। जापान की खेती-बारी, बिजली, फल आदि की विद्या सारी की सारी नेपाल भी अपने व्यवहार में ला सकता है।

धूपनाथ फर्वरी 10 से 15 के 6 दिनों को छोड़कर 27 दिसम्बर से 28 फर्वरी तक बराबर मेरे साथ रहे। आज यह विदा होने लगे तो मुझे जरूर कुछ खेद मालूम हो रहा था। ऐसे मित्र का वियोग खेदरहित कैसे हो सकता है ? मैं नेपाल में था। जायसवालजी की इच्छा हुई कि नेपाल देख लिया जाय, मैंने भी लिख दिया कि जरूर आइए। फिर नेपाल सरकार से आज्ञा लेने के लिए मैंने राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा से कहा। उन्होंने उसके बारे में कोशिश करने की जिम्मेवारी ली। इधर ज्योतिषियों ने फिर भविष्यद्वाणी की थी, कि 3 मार्च को भूकम्प होनेवाला है। 1934 के भूकम्प से लोग पूरे भयभीत थे। नेपाल में बहुत नुकसान हुआ था। मैंने दो मार्च को लिखा था—"यहाँ कल के भूकम्प आने का इतना हल्ला है, कि बहुत से लोग घर छोड़कर बाहर रह रहे हैं। इस मूर्खता का क्या ठिकाना ? ऐसे ज्योतिषियों को तो सजा देनी चाहिए। ख्याति और प्राप्ति के लिए वह तो लिख डालते हैं, और प्रेस से भी फायदा उठाते हैं, इधर करोड़ों आदमी हैरान होते हैं। कितनों के घर चोरी हो जाती है।" 3 तारीख को भूकम्प नहीं आया, तो ज्योतिषियों ने 20 मार्च को भूकम्प आने की बात कही।।

6 मार्च को मालूम हुआ कि जायसवालजी के आने की इजाजत मिलने में एक कठिनाई है—उनकी धर्मपत्नी भी आयेंगी, शायद वह पशुपति का दर्शन करना चाहें, लेकिन, उनके पति विलायत हो आये हैं, इसलिए पशुपति का दर्शन नहीं हो सकता। खैर, रास्ते की कठिनाई को देखकर वह खुद नहीं आईं और पशुपति के दर्शन करने की जरूरत नहीं पड़ी। 17 मार्च को अभयसिंह आ गये। अब उन्हें तिब्बत के लिए तैयार करना था। मैंने उन्हें तिब्बती अक्षर सिखलाना शुरू किया। पहिली अप्रेल को जायसवालजी, श्याम बाबू और अपने सबसे छोटे लड़के दीपक के साथ नेपाल पहुँच गये। अगले दिन हम पशुपति गये। साथ में 'साहेब लोग' थे, इसलिए मन्दिर के भीतर नहीं जा सके, बाहर-बाहर से देखा। पहिली अप्रेल से 11 अप्रेल तक जायसवालजी नेपाल में रहे। उस वक्त मेरा अधिक समय उनके साथ भिन्न-भिन्न स्थानों के देखने में लगा। 5 तारीख को हम म्युजियम में गये, यहाँ नये-पुराने हथियारों का अच्छा संग्रह है। चित्र भी अच्छे हैं। मूर्त्तियाँ उतनी सुन्दर नहीं हैं, लेकिन कुछ मल्ल-दानपतियों की पीतल की मूर्त्तियाँ सुन्दर हैं।

तीन बजे हम कमांडर-इन्-चीफ सर पद्मशमशेर से मिलने गये। मधुर स्वभाव, स्पष्टवादी और व्यवहार में अत्यन्त सुजन प्रतीत हुए। मेरे 'तिब्बत में सवा बरस' को उन्होंने ध्यान से पढ़ा था। कह रहे थे—"सत्य बहुधा अप्रिय होता है"। मैंने उसमें कुछ कटु सत्य जरूर कहे हैं। गोरा रंग, लम्बा कद, प्रायः सारा बाल सफेद। उनके चेहरे ही से हृदय की मृदुता झलकती थी। पोशाक बिल्कुल सादी थी। नेवार लोग अपने चीफ साहेब की बड़ी प्रशंसा करते थे। कह रहे थे, वह भूकम्प के समय लोगों के पास अकेले ही घूमा करते थे। उनका महल भी भूकम्प में गिर गया था। दो वर्ष हो गये; लेकिन अभी भी उन्होंने उसे नहीं बनवाया। वह एक मामूली अस्थायी घर में रहते थे। इसमें शक नहीं कि वह अपनी प्रजा और नेपाल का हित चाहते हैं। लेकिन चाहने से क्या होता है, वह जिस तरह की राजनीतिक व्यवस्था के पुर्जे हैं, उससे उनके लिए कुछ कर सकना सम्भव नहीं है।

7 अप्रेल को हम चांगूनारायण गये। इस मन्दिर की स्थापना छठी सदी के आसपास हुई। मन्दिर के बाहर चारों ओर अत्यन्त सुन्दर काष्ठप्रतिमाएँ हैं, जहाँ-तहाँ कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हुई हैं। उसी दिन हम स्वयंभू चैत्य देखने गये। एक कोने में जयार्जुनदेव का शिलालेख है। मैं इधर कई दिनों से नेपाल की राजवंशावली का अध्ययन कर रहा था। उससे मालूम हुआ, कि 770 नेपालसंवत् (1350 ई.) में बंगाल का 'सुरत्राण शमसदीन भाँगरा' (सुल्तान शमसुद्दीन बागरा) नेपाल आया, उसने बहुत-से देवालयों को तोड़ा। मैंने नेपाल में जहाँ-तहाँ नाक-कटी मूर्तियों को देखा था, इसलिए वंशावली को ध्यान से देखा। यह लेख उसी बात की पुष्टि करता था। मैंने राजगुरु से एक दिन इसकी चर्चा की, तो उन्होंने कहा—नेपाल में किसी मुसल्मान विजेता ने पैर नहीं रखा। लेकिन इन तीन-तीन प्रमाणों का उतने से कैसे खंडन हो सकता था ? मैंने जायसवालजी को सारी बातें बतलाईं, फिर उस शिलालेख को दिखाया। बात बिल्कुल साफ थी। भारत लौटने पर जायसवालजी ने इसके बारे में एक वक्तव्य दिया, जिसमें नेपाल की राजवंशावली पर कुछ लिखने का भी विचार प्रकट किया।

नेपाल-दरबार की ओर से उनसे कहलाया गया, कि प्रकाशन से पहिले पुस्तक को उनसे दिखवा लें। निश्चय ही यह धृष्टता थी। जायसवाजी को जो कुछ लिखना था, अपनी ऐतिहासिक जिम्मेवारी के साथ लिखना था। भला वह कैसे इस बात को मान लेते ? उन्होंने पीछे अपनी खोजों को प्रकाशित किया। 12 अप्रेल को जायसवालजी चले गये। मुझे भी अब ज्यादा दिन रहने की जरूरत नहीं थी।

मैंने अपने दो महीने के निवास में जहाँ 'दीर्घनिकाय' और 'जापान' के प्रूफ का काम खतम किया, वहाँ नेपाल की वंशावली, सिक्कों, तालपत्रों का भी अध्ययन करता रहा। बहुत काफी सिक्के पटना म्युजियम के लिए जमा करवाये। पता लगा कि, एक आदमी के पास 500 वर्ष के तालपत्र पर लिखे खरीद-बेच के दस्तावेज़ हैं। मैंने उनमें से कुछ देखे। यह पत्र उत्तरी भारत के ताड़ के हैं, इसलिए उतने मजबूत नहीं हैं। इन तालपत्रों के एक कोने में राजा की मुहर रहती है। चित्तहर्ष के पास ऐसे 300 तालपत्र जमा हैं। उनसे नेपाल के राजनीतिक इतिहास ही नहीं, आर्थिक इतिहास पर भी प्रकाश पड़ सकता है।

राजगुरु ने एक दिन कहा—'तिब्बत में सवा बरस' में आपने जो यहाँ के शासक वर्ग पर टिप्पणी की है, उससे वह बड़े असन्तुष्ट हैं। इसकी वजह से आपकी दूसरी किताबों को यहाँ आने में बड़ी रुकावट हो रही है, इसलिए उसे आप हटा दें, तो अच्छा है। असन्तोष का एक और पता 24 मार्च को लगा। 'जापान' और 'खुद्दकनिकाय' (पाली) के प्रूफों को डाक से भेजने के पहिले अभयसिंह जी कस्टम (भनसार) वालों को दिखाने के लिए ले गये। उन्होंने कहा—हम इसे तब तक नहीं भेज सकते, जब तक आप 'तिब्बत में सवा बरस' की एक काफी नहीं दे देते। वहाँ भला कापी कहाँ थी। फिर यह पुस्तक तो सरकार द्वारा जब्त है। उन्होंने इन्कार कर दिया, पीछे गुरुजी ने कोशिश करके उन्हें भिजवाया। मैंने भी देखा कि मेरी एक पुस्तक के लिए दूसरी पुस्तकों के पढ़ने से लोग क्यों वंचित रहें, इसलिए 'तिब्बत में सवा बरस' के 33 से 36 पृष्ठ को फिर से लिखकर नरम कर दिया।

30 मार्च को महादशमी थी। आज पुराने राजमहल में खूब बलिदान हुए। डेढ़ सौ तो भैंसे ही काटे गये। नेपाल में उज्जैन की देवी हरिसिद्धि का मन्दिर है, पहिले बारह-बारह साल पर वहाँ नरबलि हुआ करती थी। 3 साल हुए जब कि 12 वर्ष पूरे हुए थे। कहते हैं, उस वक्त पुजारियों ने चोरी-चोरी एक बलि चढ़ाई थी।

सीमा की ओर—15 अप्रेल को हमने काठमांडो से विदाई ली। राजगुरु पंडित हेमराज शर्मा में विद्वत्ता, विद्याप्रेम, सहृदयता, कालज्ञता, राजनीतिज्ञता सभी का सुन्दर सम्मिश्रण है। उन्होंने, जब-जब मैं इधर आया, मेरे कामों में सहायता की। धर्ममान साहु और उनके पुत्र प्रथम यात्रा ही से सहायक रहे। मुझे यह देखकर अफसोस हो रहा था, कि धर्ममान साहु अब बहुत कमजोर हो गये हैं। 74 वर्ष की आयु और उस पर से दमा का रोग, बहुत ही कम उम्मेद थी, कि उन्हें देखने का फिर मौका मिलेगा। सामान ढोने के हमने चार भरिया (कुली) ठीक किये थे। यद्यपि अब शरीर में बल पूर्ववत् मालूम होता था, किन्तु तो भी गुरुजी ने दो घोड़ों को तातपानी तक के लिए दे दिया, तातपानी के आगे तो घोड़ा जाता ही नहीं। ज्ञानमान साहु के साथ साखू तक हम मोटर में गये। आज रात-भर यहीं रहना हुआ। अगले दिन (16 अप्रेल) हम पाँच ही बजे रवाना हुए। अबकी बार देवपुर-डाँडा से न जाकर नङ्ला से पार हुए। भरिया बहुत धीरे-धीरे चल रहे थे। उस दिन नवलपुर बाजार में ठहर जाना पड़ा। भरियों के लिए इंतिजार करते रहे, लेकिन वे रातभर नहीं आये। बाजार था, लेकिन वहाँ खाने का इन्तिजाम न हो सका। सामान सब भरियों के पास था, मेरे चीवर काफी मजबूत थे। हाँ, खटमलों ओर पिस्सुओं ने बहुत तकलीफ दी। दूसरे दिन (17 अप्रेल) भरिया 7 बजे आये। बोझ के मारे दो लड़के नहीं चल सके, इसीलिए पीछे ठहरना पड़ा। यहाँ से हम 12 बजे रवाना हुए। सारा रास्ता चढ़ाई-उतराई का था। हमारे घोड़े साढ़े तीन बजे चौतारा पहुँच गये। लेकिन भरिया 6 बजे पहुँचे। यहाँ एक साईस ने पेट की बीमारी का बहाना कर दिया, हमें उसे लौटाना पड़ा। एक भरिया भी बीमार पड़ा, फिर एक दूसरे आदमी को तातपानी तक के लिए लेना पड़ा। दूसरे दिन (18 अप्रेल को) हम जलवीर पहुँचे। अबके वह बाजार सूनी थी, और भुनी मछलियों का भी कहीं पता नहीं था। मालूम होता है, फसल कटने के वक्त ही जलवीर का बाजार जमता है। आगे चढ़ाई थी, और कुछ दूर तक तो इतनी कठिन थी, कि घोड़ा छोड़कर

पैदल चलना पड़ा। पइरे गाँव में एक तितल्ला मकान रहने के लिए मिला, लेकिन घोड़े के लिए खोजने पर भी पुवाल न मिल सका; उसे सिर्फ दाने पर रहना पड़ा। 19 अप्रेल को हम देवराली के डाँड़े पर पहुँचे। यह सबसे ऊँचा डाँड़ा है, और चढ़ाई बहुत सख्त है। सारी चढ़ाई पैदल पार करनी पड़ी। यनूलाकोट होते 4 बजे ठागम पहुँचे। यह अच्छा बड़ा गाँव है। रहनेवाले नेवार हैं। आए थे बेचारे दूकान करने के लिए, लेकिन व्यापार का स्रोत बहुत बरस हुए सूख गया, अब खेती करके गुजारा करते हैं। बड़ी मुश्किल से एक घर में चावल मिला। अगले दिन (20 अप्रेल) भी रास्ता खराब रहा। खिल्ती गाँव में माईथान देवी का थान है। मंदिर के सामने एक पाषाण-स्तंभ पर पीतल का सिंह है, जिसे कर्नल गंगाबहादुर ने बनवाया था। यहाँ भी नेवारों के चार-पाँच घर हैं, किन्तु यह लोग व्यापारी नहीं, आलू आदि की खेती करते हैं। कितनी ही चढ़ाई के बाद शरबा लोगों का गाँव मिला। यहाँ एक गुम्बा भी है। नीचे के गाँवों में जौ कट गया था, और यहाँ शरबा लोगों के गाँवों में अभी जौ बिल्कुल हरा था। उस दिन हम दुग्ना गए और अगले दिन (21 को) 10 बजे तातपानी पहुँच गए। स्नान गरमकुंड में हुआ। गुरुजी का घोड़ा और साईस सिर्फ यात्रा के लिए ही सहायक नहीं साबित हुए, बल्कि उनकी वजह से अधिकारियों पर भी प्रभाव पड़ा। हमारे पास एक भरिया की कमी थी, भनसार के अधिकारी ने अपना आदमी दे दिया। कुदारी की फौजी चौकी पर भारदार ने गुरुजी के साईस को देखा। वह हमें आगे जाने से रोक तो नहीं सकता था, किंतु नम्रता से बोला—आगे से आएँ, तो एक सरकारी चिट्ठी लाएँ, यह हमारे लिए भी अच्छा होगा; इस वक्त रोकें, तो आपको कष्ट होगा। अब हम 5 आदमी थे, तीन भरिया, अभयसिंह और मैं। भोट की सीमा में पहुँचकर चढ़ाई आई, और थोड़ी ही दूर जाने पर पैरों ने जवाब दे दिया। हम तेजीगङ (रमइत) में रात को ठहर गए।

2. तिब्बत में

डाम के सामने ही आकर हम शाम को ठहर गए थे। सुबह 6 ही बजे चले। जंजीरवाले पुल पर अभयसिंह को बहुत उत्साह देकर पार कराना पड़ा। डाम में हम नीचे से जा रहे थे, देखा, हमारी एल्मो की परिचिता भुट्टी और डुक्पालामा के एक चेला बैठे हुए हैं। मिले, कुशल प्रश्न हुआ। फिर वहाँ से रवाना हुए। आज के आधे रास्ते पर जाकर चाय पी। एक जगह गुनास (पहाड़ी अशोक) के लाल-गुलाबी फूलों की अद्भुत शोभा थी, पत्तियाँ बिल्कुल नहीं, सिर्फ फूल ही फूल दिखाई देते थे। रास्ता कठिन था, कहीं-कहीं इतना संकीर्ण था, कि दिल दहल उठता था। उसी दिन 6 बजे के करीब हम छोक्सुम के गरमपानी के चश्मे पर पहुँच गए। कल नेपाल-सीमा पार करने के बाद से अब तक नौ पुल पार करने पड़े थे। अब हम नौ, दस हजार फीट ऊँची जगह पर थे। सर्दी इतनी थी कि अभयसिंह ने तप्तकुंड में नहाने का ख्याल छोड़ दिया। 23 अप्रेल के ढाई बजे हम ञेनम् पहुँच गए। रास्ते में बरफ बहुत कम मिली थी। इस वक्त पहाड़ी लोग नमक की ढोवाई में लगे हुए थे। यह तीसरी बार मैं ञेनम् आया था। अबकी चार दिन यहाँ रहना पड़ा, पहिले तो कुछ सन्देह मालूम होने लगा, क्योंकि एक जोङ्पोन् (जोङ्नुब) ने दूसरे जोङ्पोन् (जोङ्शर्) के ऊपर टालना चाहा। नेपाल में हमारा परिचय पहिले जोङ्पोन् से हुआ था, दूसरे जोङ्पोन् का मिजाज लोग कड़ा बतला रहे थे। मेरे पास अपनी लिखी तिब्बती पुस्तकें, और ल्हासा और साक्या के बहुत से फोटो थे, उसको देखकर उसने कहा—वैसे तो आचारा (साधू) आदि को हम ऊपर नहीं जाने देते, किन्तु आप धर्मकार्य के लिए जा रहे हैं, इसे हम दोनों जोङ्पोन् बातचीत करके ठीक कर लेंगे। यह सुनके जी में जी आया। शाम को जोङ्नुब की ओर से चावल और मांस की सौगात आई। हम भी सौगात लेकर दोनों जोङ्पोनों के पास पहुँचे। जोङ्नुब ने भाड़े पर खच्चर भी कर देने का वचन दिया।

मैं अपने साथ रुपया नहीं लाया था। रुपया साहु धनमान के यहाँ जमा कर दिया था। उन्होंने ञेनम् के जिस व्यापारी को रुपया देने के लिए चिट्ठी लिखी थी, वह हिचकिचाने लगा। मैं अपनी गलती के लिए पछताने लगा। दो-तीन सौ रुपये के नोट कोई बहुत भारी थोड़े ही होते हैं। खैर, उन्होंने भी कुछ पीछे सोचा और मुझे सौ रुपये के तिब्बती सिक्के दिये। शिगर्चे के फोटोग्राफर तेजरत्न अपनी भोटिया पत्नी के साथ लौट

रहे थे, इसलिए रास्ते के साथी भी मिल गये। अगले दिन (27 अप्रेल) मैं जोङ्नुब् के यहाँ गया। वहाँ उनके परिवार के कई फोटो लिये। तिब्बत की स्त्रियाँ कितनी निर्भय हैं, यह इसी से मालूम होगा, कि जोङ्पोन की चाम् (पत्नी) ने मर्दाना पोशाक पहनकर फोटो खिंचवाया। इधर की यात्रा, यहाँ की सर्दी और नये शिष्टाचार के सीखने में उपेक्षा और निर्बलता देखकर मैंने अभयसिंह से कहा–अभी तो हम तिब्बत के अंचल पर पहुँचे हैं, आगे और भी ज्यादा तकलीफें हैं; यहाँ से नेपाल जाना आसान है। उन्होंने आगे चलने का आग्रह किया।

28 अप्रेल को 9 बजे हम ञेनम् से रवाना हुए। हम 6 आदमी घोड़ों या खच्चरों पर सवार थे–मैं, अभयसिंह, तेजरत्न, उनकी स्त्री तथा दो और नेपाली। जोङ् का नौकर भी घोड़े पर चलता था, साथ में एक खच्चरवाला पैदल चल रहा था। हमारे बहुत-से सामान तो ताडू (घोड़े की पीठ पर रखे जानेवाले चमड़े के थैले) में भरे थे। कपड़ा-लत्ता भी घोड़े की पीठ पर आ गया था। और सामान के लिए दो बेगार थे। मुझे चढ़ने के लिए एक खच्चर और अभयसिंह को दुबला घोड़ा मिला था। पहिला मुकाम चाङ्दोओमा में रहा। जोङ्शर् भी सदलबल वहाँ पहुँचा। सारे गाँव ने बढ़कर उसकी अगवानी की। हमें जो घोड़े मिले थे, उनका किराया जोङ्नुब् को दिया था, लेकिन घोड़े जोङ् का आदमी हमें बेगार में पकड़-पकड़कर देता था। अगले दिन नये घोड़ों के आने में देर हो गई, और 10 बजे बाद रवाना हुए। घोड़ा कुछ अच्छा था।

अभयसिंह को दौड़ाने का शौक हुआ और वह आगे बढ़ गये। घोड़ेवाला बहुत नाराज हुआ, लेकिन उनको समझावे कौन ? ञेनम् तक ही यह पता लगा गया था कि वह सीखेंगे तो अपने मन से ही, किसी को गुरुगड़रिया मान के नहीं। उस रात हम थुलुङ में ठहरे। यह जगह 15 हजार फीट से कम ऊँची नहीं होगी। अभयसिंह को सारी रात नींद नहीं आई, मैं घबड़ा गया। मैंने लदाख में दूसरी यात्रा के वक्त देखा था–एक सिपाही को वहाँ पहुँचते ही साँस लेने में तकलीफ होने लगी थी, जब तक पीछे लौटाने का इन्तिजाम किया जाय, तब तक वह चल बसा। अभयसिंह को यदि ऊँचाई के कारण फेफड़े के कष्ट से यह हो रहा है, तो यह जरूर खतरे की बात थी। खैर, सबेरे तक ठीक हो गया।

अगले दिन (30 अप्रेल) हम थोङ्ला पार करके 5 बजे लङ्कोर पहुँचे। अभयसिंह वैद्य प्रसिद्ध हो गये, लोग उनसे दवाई लेने के लिए आये। घर के मालिक को आतशक (उपदंश) की बीमारी थी, उनको दवा दी गई। साथियों में से दो के सिर में दर्द था। यद्यपि लङ्कोर भी 13 हजार फीट से कम ऊँची जगह नहीं है, लेकिन हम तो बड़ी ठंडी जगह से होकर आये थे, इसलिए गर्मी मालूम होती थी। लङ्कोर से फिर रवाना हुए और साढ़े तीन घंटे में तिङ्री पहुँच गये। जोङ्पोन को यहीं ठहरना था, इसलिए हमें भी यहीं ठहर जाना पड़ा। आजकल तिङ्री मैदान की घास पीली पड़ गई थी। क्याङ् (जंगली गदहों) का भी कहीं पता नहीं था। जहाँ-तहाँ भूमि से अपने ही पानी निकल रहा था। दो मई को हम चा-कोर् पहुँचे। जोङ्पोन् यहाँ भी आया, और महापंडित, न्यायाचार्य, खच्चरवाले और खच्चर सभी एक घर में रख दिये गये।

फक (3 मई) अगला पड़ाव था। गुस्सा, बात न मानना तथा वहाँ के ढंगों के सीखने में अवहेलना यह अभयसिंह में बराबर चल रही थी, कोई उपाय नहीं था। मैंने सोचा कि साक्या में रखने से बेहतर है, उन्हें शिगर्चे भेज दिया जाय। और लोग जा ही रहे हैं, इसलिए तकलीफ न होगी। रघुवीर को पत्र दे देंगे, वह उनका इन्तिजाम कर देंगे। अगले दिन हमें शाम को छोन्दू पहुँचना था। पिछली बार नेपाल जाते वक्त हमने एक डाँड़ा (जोत) पार किया था, अबकी हम पहाड़ की परिक्रमा करते-करते नीचे से जा रहे थे। कई जगह धरती से सोडा निकला हुआ था, जिसके कारण घोड़ों को भी खाँसी आ रही थी। आगे आताबू के बनाये बालुका-पर्वत मिले। कहते हैं, यह पिशाच घंटे-भर में लाखों मन बालू उठाकर एक जगह से दूसरी जगह रख देते हैं। लाखों मन बालू के टीलों को हमने जरूर देखा, लेकिन आताबू नहीं दीख पड़े। आज बवंडर नहीं था, नहीं तो क्या जाने हम भी आताबू के फेर में पड़ते और लाखों मन बालू हमारे भी ऊपर आ जाती। रात को छोनदू में ठहरे।

सबेरे (5 मई) घोड़े को बढ़ाकर हम मब्जा पहुँचे। मालूम हुआ, कुशो डोनिर्ला साक्या गये हुए हैं। उनकी माँ ने चाय पीने का बहुत आग्रह किया, लेकिन साथियों के आगे चले जाने के डर से हम नहीं ठहर सके।

3 बजे डोङ्ला की जोत पर पहुँचे, और शाम तक लुगूरा में। एक बड़े महल के पास 6 आदमियों के लेटने के लिए एक बिल्कुल छोटी-सी कोठरी मिली। मैं जाहिदान की यात्रा में 4 दिन तक इससे भी भयंकर सासत को सह चुका था, इसलिए यहाँ की सासत की परवाह क्या ? अब साक्या घंटा-डेढ़ घंटा का रास्ता था। तेजरत्न और दूसरों को शिगर्चे जाना था। मैंने अभयसिंह को समझाकर कहा—"न मेरा दोष है, न आपका दोष है। आदमी का दिल यदि कुछ हफ्ते-दो-हफ्ते के निरन्तर सहवास से प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सका, तो समझना चाहिए, कि दोनों की प्रकृति में भेद है। अब अधिक साथ रहना निरी कटुता का कारण होगा। वैसे तो मुझे कुछ महीने रहकर तिब्बत से चला जाना है, और आपको दो-तीन साल रहना है। मैं रघुवीर को चिट्ठी लिख देता हूँ, वहाँ आपके रहने का इन्तिजाम कर देता हूँ, आप चले जाइए।" मेरी बात में कहीं कटुता या क्रोध का चिह्न नहीं था। मैंने रघुबीर को चिट्ठी लिख दी। भारत भेजने के लिए कितनी ही चिट्ठियाँ लिख दीं। जिस वक्त खाने-पीने की चीजों को सुपुर्द करते वक्त मैंने उनके हाथ में नोट रखा, तो वह यकायक रो पड़े। अभी तक मैं उनके जीवन के एक ही रूप को देखता था, मैंने फिर उन्हें शिगर्चे जाने के लिए नहीं कहा। तिब्बत में जब-जब दोनों को निरन्तर बहुत दिनों तक रहना पड़ा, तब-तब फिर वही कठिनाइयाँ आईं। मैं अभयसिंह को दोष नहीं दे सकता। आदमी का हृदय वीणा के तार की तरह कुछ ऐसे सूक्ष्म भेद रखता है, कि मिल जाये तो फिर कभी मिठास हट ही नहीं सकती, और न मिले तो ठोंक-पीटकर उसे नहीं मिलाया जा सकता। आखिर दिन-रात में बे जाने आदमी परिहास में, क्रोध में, खेद में, बुद्धिमान की तरह, बेवकूफ की तरह, पागल की तरह, न जाने कितनी तरह की बातें करता है, काम करता है। किंतु, दूसरे आदमी के दिल में यदि जरा भी गलतफहमी बैठ गई, सहृदयता नहीं दिखी तो हर जगह उसे सन्देह होने लगता है।

6 मई को हम दोनों तड़के सबसे आगे निकल गये और डेढ़ घंटे में (साढ़े सात बजे) साक्या पहुँच गये। रास्ते में पानी अब भी बर्फ बना था। वृक्षों में पत्तियाँ हरी कलियों जैसी आ रही थीं। खेतों में जुताई अभी शुरू ही हुई थी। डोनिरछेनूपो ने दिल खोलकर स्वागत किया। अचा दिकिला ने सबसे ऊपरी तल के एक कमरे में हमारा आसन लगवाया।

(क) साक्या में—चामूकुशो छेरिङ् पलमो उस वक्त एक विहार में पूजा और ध्यान करने गई थीं। घर में डोनिर् छेनूपो, उनकी दूसरी स्त्री दिकीला, साले डोनिरूला, और उनकी पत्नी मौजूद थीं। डोनिरूला की छोटी-सी बच्ची मर गई थी, और आगे की पीढ़ी के लिए घर फिर सूना था। रसोई बनानेवाली पुरानी अनी अब भी मौजूद थी। यह मालूम हुआ कि जापान से भेजी चित्रावली उनके पास नहीं पहुँची, किन्तु मेरी चिट्ठी पहुँच गई थी, जिसमें चित्रावली का जिक्र था।

साक्या के महन्तराज दगूछेन् रिनूपोछे का पिछले साल देहान्त हो गया था, और अब फुनूछोग प्रासाद के लामा गद्दी पर बैठनेवाले थे। अभी इन्तिजाम तारा (डोलूमा) प्रासाद के हाथस ही में था। शाम को 4 बजे तारा प्रासाद में गये। कुछ भेंट और तिब्बत में संस्कृत पुस्तकों की सूची भेंट की। चाय पी, थोड़ी दोनों बेटों से बात की, और फिर वृद्धा दामो (महन्तरानी) और तरुणी दामो से भी कुशल-प्रश्न हुआ। फुनछोग् प्रासाद के लामा इस वक्त ल्हाखङ्छेनूमो के महाविहार में गये थे। वहाँ पहुँचे। लामा उसी तरह हँसते हुए प्रेम से मिले।

6 मई से 22 जुलाई तक प्रायः ढाई महीना साक्या ही में रहना पड़ा। अगले दिन दोनों प्रासादों से चाय-सत्तू और मांस की सौगात आई। जैसा कि दरबारी सौगातों में अकसर होता है—उपयोग की चीजें बहुत कम आईं। सत्तू पुराना सड़ा, कड़वा, गोश्त सूखा कीड़े पड़ा, मक्खन भी खराब। शायद दुनिया-भर के दर्बारों का यही हाल है। भेजनेवाले स्वयं तो इन चीजों को देखते नहीं। नौकर-चाकर समझते हैं, कि इन छोटी-छोटी बातों की शिकायत एक बड़ा आदमी महाराज के सामने कैसे करेगा ? फिर अच्छी चीजों को अपने लिए रखकर सड़ी-गली चीजें क्यों न भेजी जायँ ? खैर, मुझे तो सौगातों की जरूरत नहीं थी, मुझे तो चाहिए थी उनकी प्रसन्नता। और दोनों प्रासाद (फोटाङ्) मेरे काम में सहायता देने के लिए तैयार थे। मैं दोपहर का भोजन करके फुनछोग लामा के पास गया। उनको बाहरी दुनिया की बातें सुनने की बड़ी शौक थी, राजनीतिक ज्ञान के लिए नहीं, केवल

मनोरंजन के लिए। जापान के बारे में बात हुई, चीन के बारे में, फिर भारत के बारे में। रूस की बातें मैंने नहीं कहीं, वहाँ की बातों को जानने के लिए वह बहुत उत्सुक भी न होते। उस वक्त कनजूर के पारायण में भिक्षु लगे हुए थे, और देवताओं के लाये विशाल खम्भोंवाला हॉल कथा बाँचनेवाले भिक्षुओं से भरा था। लामा दो बार मुझे लेकर पाठ करनेवालों के बीच घूमे। बार-बार पूछते थे–किसी चीज की आवश्यकता है। हमारी आवश्यकताओं का जिम्मा डोनिर्‌छेन्पो ने ले लिया था। पुस्तकों को छोड़कर और क्या आवश्यकता हो सकती थी। ङोरगुम्बा के खेनूपो भी आजकल यहीं थे, उनसे भी मिलने गया। यह खुशी की बात थी, कि भारत से भेजे फोटो उनको मिल गये थे। गेशे धर्मवर्धन के बारे में सभी बहुत पूछ रहे थे।

8 मई को दोपहर बाद 'वार्त्तिकालंकार' (प्रज्ञाकरगुप्तकृत 'प्रमाणवार्तिक-भाष्य') की पुस्तक आ गई। विभूतिचन्द्र ने 13 वीं सदी के आरम्भ में कागज पर इसके डेढ़ परिच्छेदों को लिखा था। पहिली बार साक्या में जब मैं आया था, तभी आधे परिच्छेद को लिख ले गया था। अब बाकी एक (चौथे) परिच्छेद को लिखना था। यद्यपि सारा ग्रंथ (तीनों परिच्छेद) मौजूद नहीं था, लेकिन सर्वनाश में आधे का मिलना भी गनीमत है। अभयसिंह को अभी अक्षर से परिचय नहीं था, क्योंकि पुस्तक 12 वीं तेरहवीं सदी की लिपि में लिखी गई थी। पन्ने बड़े और अक्षर छोटे थे। इसलिए रोज दो पन्ने से ज्यादा लिखने की आशा नहीं थी। उसी दिन जोकाम आ गया। और तीन-चार दिन तक चलता रहा। लेकिन वैद्यराज घर ही में थे, दूध-पानी गरम करके पिलाया गया। 11 मई को थोड़ा-सा ज्वर भी आया। लेकिन वह जोकाम ही के कारण। ऋतु भी प्रतिकूल थी; आकाश मेघाच्छन्न और आसपास के पहाड़ों पर बरफ पड़ गई थी। हमारी छत पर तो बरफ के कुछ कण ही गिर पाये थे। शिर में हल्का सुई-सी जब-तब चुभ जाती थी। लेकिन मैंने अपनी कलम ढीली नहीं की–काम असल चीज है, जीवन तो चलायमान है ही।

13 मई को सर्दी के कारण हमारे हाथ कुछ फट-से रहे थे। टोन्सिल भी दुखने लगी। अभी भी वृक्षों पर हरे पत्ते निकले नहीं थे। शिर का दर्द तो बराबर ही थोड़ा-बहुत होता रहता था। 19 को 'वार्त्तिकालंकार' के उपलब्ध अंश को लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे पन्नों को फिर से मिलाने का काम शुरू किया। ङोर्‌खेनूपो अभी अपने गुम्बा में जानेवाला नहीं था, इसलिए वहाँ जाने से अभी कोई फायदा नहीं था।

मेरे मित्र कुशो डोनिर्‌छेन्पो और फुन्‌छोग-प्रासाद के नये महन्तराज में बहुत अनबन थी। मेरे ऊपर दोनों का घनिष्ठ स्नेह था। दामो (महन्तरानी) एकाध बार डोनिर्‌छेन्पो और उनकी दोनों चाम् के बारे में पूछ देती थी, लेकिन लामा कभी कुछ नहीं पूछते थे। मैं जब जाता तो 4, 5 घंटे से पहिले कहाँ लौट पाता ! जाते ही खबर होती, प्रतिहारी श्रीगर्भ में ले जाती, जहाँ कि लामा और दामो बैठती थीं। मेरे लिए एक कुर्सी आ जाती थी। मैं बतला चुका हूँ, कि तिब्बत में साक्यालामा का सम्मान दलाईलामा और टशीलामा की तरह किया जाता है। उनके सामने सभी बहुत नीचे आसन पर बैठते हैं–चाहे भिक्षु हों या गृहस्थ, लेकिन मेरे लिए कुर्सी जरूर आती थी। और लामा की दोनों जेचुनूमा (=भट्टारिकाएँ) भी चाय मँगवाने या किसी दूसरे खाने-पीने की चीजों के लाने में तत्पर रहतीं। साक्या के दोनों प्रासादों की कन्याओं को सम्मान के लिए जेचुनूमा कहा जाता है। यह कुल इतना पवित्र समझा जाता है, कि कोई इसकी लड़कियों से शादी नहीं करता। प्रारम्भिक मुगल सम्राटों की तरह शताब्दियों से इस कुल की लड़कियों को आजन्म कुमारी रहना पड़ता है। बचपन ही से उनके केश काट दिये जाते हैं, वह भिक्षुणी बना दी जाती हैं। माँ-बाप के समय तक तो वह उनके साथ रहती हैं; फिर किसी छोटे महल में अलग रहने लगती हैं। ऐसे छोटे महल साक्या में कई हैं। उन्हें नौकर-चाकर भी मिलते हैं। जहाँ तक खाने-कपड़े का सम्बन्ध है, उनका जीवन आराम का होता है, लेकिन पुरुष-संसर्ग उनके लिए मुश्किल है। हमारे लामा की दोनों लड़कियाँ भी दस-दस, बारह-बारह साल की थीं। डोनिर्‌छेन्पो के लामा से अनबन का कारण लामा का छोटा भाई था। तिब्बत के रवाज के मुताबिक राजा हो चाहे रंक, सभी भाइयों की एक पत्नी होती है। दामो (महन्तरानी) अपने देवर को सँभाल नहीं सकीं। उसने अपना अलग ब्याह किया–इस कुल को अपनी लड़की देने में तिब्बत के सभी सामन्त अपना अहोभाग्य समझते हैं। ब्याह करके वह अलग रहने लगा। खर्च-वर्च की दिक्कत थी। उस वक्त गद्दी पर ताराप्रासाद के लामा थे। उन्होंने छोटे भाई को थोड़ी

जागीर दे दी। बड़ा भाई और भाभी इसे पसन्द नहीं करते थे। गद्दीघर से भी बिगाड़ हुआ, छोटे भाई का पक्ष डोनिर्छेनूपो ने भी लिया था, इसलिए उनसे भी बिगाड़ हो गया। छोटा भाई कई साल हुए, मर गया। उसकी दामो अब भी मौजूद है, घर में कोई सन्तान नहीं है। डोनिर्छेनूपो को नये महन्तराज का केवल क्रोध-भर प्राप्त हुआ। उनको डर है, कि गद्दी सँभालते ही उनका दर्जा चला जायगा।

उस दिन (21 मई) महन्तराज ने कहा, कि ङोर् ले जाने के लिए मैं घोड़े दूँगा, तिब्बत के सभी साक्या सम्प्रदायवाले मठों के लिए मैं परिचयपत्र दूँगा। उन्होंने यह भी कहा, कि साक्या में बहुत-सी तालपोथियाँ हैं, उन्हें अच्छी तरह ढूँढ़ना चाहिए। मैंने देखे हुए पुस्तकालयों के नाम बतलाए। महन्तराज ने कहा, कि एक बार ल्हाखङ् छेनूमो के कोठे पर छगूपे-ल्हाखङ् नामक छोटा-सा पुस्तकालय भी खुलवाकर देखो। अभी प्रबन्ध ताराप्रासाद की ओर से हो रहा था। मैंने उस दिन लौटकर डोनिर्छेनूपो से कहा। उन्होंने कहा–मैं इसके लिए प्रासाद में निवेदन करूँगा।

25 मई का स्मरणीय दिवस आया। ताराप्रासाद से खबर आई, कि छगूपे-ल्हाखङ् की कुंजी मिल गई है, हमारा अफसर वहाँ जाने के लिए तैयार है। मैं छगूपे-ल्हाखङ् में दोपहर को गया, उन सीधी, लम्बी, डरावनी सीढ़ियों पर चढ़ते वक्त मुझे बहुत कम आशा थी, कि वहाँ कोई संस्कृत की पुस्तक होगी। कोठे पर पहुँचकर दाहिनी ओर घूमा। पहिली कोठरी थी। बाहर देखने से बिल्कुल मामूली-सी मालूम होती थी। सैकड़ों वर्ष पुराना किवाड़ और चौखट विद्रूप-सा दिखाई देता था। भिक्षु अफसर ने मुहर को तोड़ा, ताले पर लिपटे कपड़ों को अलग किया, कुंजी घुमाई, ताला खुल गया। किवाड़ों को पीछे की ओर ढकेला। न जाने कितने वर्षों की धूल जमी हुई थी। एक बार इतनी धूल उड़ी, कि कोठरी में धुआँ-सा भर गया। जरा-सा ठहरकर हम भीतर घुसे। फर्श पर भी पैरों की छाप लगाने के लिए धूल मौजूद थी। घर में दीवारों के सहारे चारों ओर लकड़ी के तितल्ले-चौतल्ले ढाँचे खड़े थे। इनके ऊपर कपड़े में लिपटी या खुली-बँधी हजारों पुस्तकें थीं। इनमें सात-सात सौ, आठ-आठ सौ वर्ष की पुरानी पुस्तकें थीं। यह वह पुस्तकें थीं, जिन्हें तिब्बत के ऐतिहासिक विद्वानों ने अपने हाथ से लिखा या पढ़ा था। तिब्बती साहित्य और इतिहास के लिए ये अनमोल रत्न हैं। लेकिन मैं तो अपने समय और शक्ति के ही अनुसार काम कर सकता था। मुझे जरूरत थी, संस्कृत की तालपोथियों की। इधर-उधर हाथ मारने के बाद तालपोथियों पर हाथ पड़ा। इन पर कपड़ा नहीं लिपटा था, दो लकड़ी की तख्तियों के बीच में मोटे डोरे से आरपार छेद करके बँधी ये पुस्तकें एक जगह मिलीं–एक, दो, तीन, चार··· बीस पोथियाँ निकल आईं। कुछ तो तिब्बती पोथियों के बीच में थीं। मैंने खोलकर देखना शुरू किया। मेरे आनन्द की सीमा न रही, जब देखा कि 'वार्त्तिकालंकार' (प्रमाणवार्त्तिकभाष्य) सम्पूर्ण वहाँ मौजूद है। कर्णक गोमि-कृत 'स्ववृत्तिटीका' भी है।–अर्थात् 'प्रमाणवार्त्तिक' की टीका और भाष्य ! महान् दार्शनिक असंग की महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'योगाचारभूमि' भी यहाँ मौजूद थी। 'चांद्रव्याकरण' की टीका भी देखी। एक पोथी तमिल अक्षरों में लिखी थी, और दूसरी सिंहल में। मैं 'वार्त्तिकालंकार' और 'स्ववृत्तिटीका' को साथ लेकर चला आया। अब साक्या को तुरन्त छोड़ने का सवाल कहाँ से हो सकता था। यद्यपि मेरे पास फोटो का केमरा और फिल्म था, लेकिन वहाँ धोने का कोई इन्तिजाम नहीं था, इसलिए मैं फोटो पर विश्वास नहीं कर सकता था। अब सिर्फ लिखने ही की धुन थी। अभयसिंह को अभी अक्षरों से थोड़ा परिचय था, दूसरे यह भी ठिकाना नहीं था, कि कब वह दुर्वासा बन जायँ। मैंने 26 तारीख से 'स्ववृत्ति' और अभय ने 'वार्त्तिकालंकार' को लिखना शुरू किया। दो-चार दिन बाद अभयसिंह ने भी लिखने में हाथ बढ़ाया। 15 जून तक अभय ने 'वार्त्तिकालंकार' का आधा लिख डाला। अभयसिंह से पटती न देखकर मैंने यही समझा, कि उनको टशील्हुनूपो भेज दिया जाय। अगले दिन (16 जून) घोड़े का इन्तिजाम हो गया, और वह साक्या से रवाना हो गये। मैंने रघुवीर और दूसरे मित्रों को चिट्ठी लिख दी। वहाँ रहने के लिए कुछ महीनों का खर्च भी दे दिया। यह भी कह दिया कि ङोर् और शलू होते टशील्हनूपो मुझे आना ही है, उस वक्त मैं कुछ और इन्तिजाम करूँगा। अभयसिंह ने रात को बहुत-सी चिट्ठियाँ लिखी थीं, मैं जानता था कि उनमें मेरी काफी शिकायत लिखी होगी। विदाई के वक्त मेरे बर्ताव से उन्होंने देख लिया, कि उसमें कड़ुवाहट का लेश भी नहीं है। मुझे डर था, कि वह इन चिट्ठियों को नहीं भेजेंगे। मैंने कहा–इन

चिट्ठियों को मुझे दे दो, मैं इन्हें अपने पास नहीं रखूँगा, जैसे ही कोई शिगर्चे या ग्यानची जानेवाला आदमी मिलेगा, मैं उसके हाथ से डाक में छुड़वा दूँगा। अभयसिंह ने समझा–यह विचित्र आदमी है, यह चिट्ठियों को जरूर भेज देगा। उन्होंने वहीं सारी चिट्ठियों को फाड़ डाला। मैंने तो समझा था कि, चिट्ठियों से लोगों को तसवीर का दूसरा रुख भी देखने को मिलेगा, इसीलिए मैं उन्हें भिजवाना चाहता था। मैं समझता हूँ, लोगों को व्यक्ति का सफेद-काला दोनों रुख देखने को मिलें, तो अच्छा है। मुझे नाम और सम्मान कोई ऐसी ठोस चीज नहीं मालूम होती, ठोस चीज है, वह काम, जो स्वयं तो नष्ट हो जाता है, लेकिन आगे काम करनेवालों को धक्का देकर एक कदम आगे बढ़ा देता है।

17 जून को 'स्ववृत्तिटीका' मैंने लिख डाली। अब 'वार्त्तिकालंकार' के बाकी बचे आधे को लिखना था। 20 जून से 28 जून तक उसे भी लिखकर समाप्त कर दिया। फिर लिखे हुए अंशों की आवृत्ति करता रहा। महंतराज का बहुत आग्रह था, कि मैं कुछ दिनों उनके प्रासाद में आकर रहूँ, इसलिए मैं 2 जुलाई को वहाँ चला गया और 22 जुलाई तक वहीं रहा। अब सबसे मुख्य काम था, पुस्तकों की सूची बनाना। ताराप्रासाद के बगीचे में एक बँगला था। पुस्तकें वहाँ मँगा दी गईं और मैं दिन-भर वहाँ रहकर पुस्तकों को सिलसिले से लगाता, उनकी सूची बनाता। 10 तारीख को सूची का काम समाप्त हुआ। कुल 27 पोथियाँ थीं। एक बार फिर मैं छग्पे-ल्हाखङ् को ढूँढ़ने गया, किन्तु वहाँ और कोई तालपोथी नहीं मिली। 'कालचक्रतंत्र' की टीका कागज पर लिखी पहले दिन देखी थी, लेकिन, वह हजारों तरह की दूसरी पुस्तकों में मिल गई थी। दुबारा ढूँढ़ने पर वह नहीं मिली। सभी वेष्टनों को खोल-खोलकर देखना आसान काम न था।

ताराप्रासाद के बड़े लामा बेचारे बहुत सीधे-सादे थे, वह भी बड़े प्रेम से मिलते थे, लेकिन अपने भावों के प्रकट करने की उनमें क्षमता नहीं थी। उनके छोटे भाई घंटों मेरे पास आकर बैठते, बातें होतीं, वह बहुत समझाने की कोशिश करते कि तिब्बत की खतरनाक जोतों में हर जगह खूनी डाकू रहते हैं। आप इस तरह दो-एक आदमियों के साथ घूमते हैं, यह अच्छी बात नहीं है। मैं कहता–"अभी तक तो कोई ऐसा डाकू मिला नहीं, और अगर इस डर का ख्याल करता तो, मैं तिब्बत में आ नहीं सकता था। मैंने खतरे को उठाकर जो काम कर पाया है, उससे मुझे पूरा सन्तोष है। रहा मरना, सो तो मैं इस साल अभी मर के बचा हूँ। मुझे उस वक्त अफसोस सिर्फ इसी बात का होता था, कि मैं धर्मकीर्ति के महान ग्रंथ 'प्रमाणवार्त्तिक' को दुनिया के सामने रख नहीं पाया।"

ताराप्रासाद की वृद्धा दामो हर वक्त पूजा-पाठ में रहा करती थीं, लेकिन उनका भी स्नेह इतना था, कि वह अक्सर मुझे बुलातीं, फिर तिब्बत के अच्छे से अच्छे भोजन तैयार करातीं। खम्, अम्दो, लदाख, और नेपाल तक के सूखे ताजे फलों और मेवों को सामने रखतीं, मक्खन में पके गुड़ की पट्टी को मैं बड़ी रुचि से खाता था, उसे वह जरूर ताजा बनवातीं। उनका ज्ञान बहुत परिमित था, इसलिए मेरी बातें भी ज्यादा दूर तक नहीं फैल सकती थीं। छोटी दामो (महंतरानी) ल्हासा के एक बड़े सामन्त की पुत्री थीं, वह ज्यादा जानकार थीं, बोलने-चालने में भी बहुत चतुर। मैं केमरा लेकर जाता, तो वह उसे बड़े गौर से देखतीं, उसके एक-एक पुरजे के बारे में पूछतीं। तिब्बत में उतना संकोच नहीं है, और मेरे साथ तो उनका और भी संकोच नहीं था। जान पड़ता है, छोटे पति से उनका अधिक प्रेम था, क्योंकि मैं उन्हें अक्सर उनके ही साथ देखता। दामो को अभी कोई सन्तान नहीं थी। तिब्बत की धारणा के अनुसार सन्तान से निराशा होती जा रही थी। लेकिन तिब्बत में निःसन्तान होने से दूसरा ब्याह कर लेना उतना आसान नहीं। उसके लिए स्त्री जब तक स्वयं आग्रह न करे, तब तक चुप ही रहना पड़ता है। लेकिन वहाँ घर के लिए किसी पुत्र या पुत्री का होना बहुत जरूरी था, क्योंकि न होने पर सैकड़ों वर्षों से चला आया अविभाज्य घर सर्वदा के लिए लुप्त हो जाता।

'योगाचार भूमि' भी करीब-करीब सम्पूर्ण थी, और आठ हजार श्लोकों के बराबर इस महाग्रंथ को लिखने के लिए अब समय नहीं था। इसलिए मैंने उसके फोटे पर ही सन्तोष किया। साक्या छोड़ने से पहिले मैं फिर डोनिर्छेन्पो के मकान पर चार दिन (16-19 जुलाई) के लिए गया। गूरिम्-ल्हाखङ् को फिर देखा, किन्तु वहाँ कोई नई पुस्तक नहीं मिली। अगले दिन चाम्कुशो भी आ गई। तीन महीने से अधिक एक विहार में यह ध्यान-पूजा

में रत थीं। ध्यान-पूजा का अर्थ शायद घर के लिए एक सन्तान की प्राप्ति रहा हो। सचमुच ही उनके पति और पितृ-कुल दोनों ही निःसन्तानी थे। वह पहिले ही की तरह मेरी आवभगत के लिए तैयार थीं। मुझे प्रसन्नता हुई, कि साक्या छोड़ने से पहिले चामूकुशो से भी भेंट हो गई।

20 जुलाई को मैं फिर फुनूछोगू-प्रासाद में चला आया। अब ङोर् जाने की तैयारी थी।

अब की साक्या का आना बहुत सफल रहा। टाईफाइड के जमाने में ही मेरी जबान पर धर्मकीर्ति का नाम नहीं था, बल्कि ञेनम् से चलने के बाद मैंने स्वप्न में देखा था, कि किसी ने तालपत्र की पुस्तकें मेरे हाथ में दीं, खोलने पर उनमें दिग्नाग का 'प्रमाणसमुच्चय' और धर्मकीर्ति के ग्रंथ निकले। दिग्नाग के ग्रंथों–'प्रमाणसमुच्चय' और 'न्यायमुख'–को तो मैं नहीं पा सका, किन्तु धर्मकीर्ति के ग्रंथों के पाने में आशातीत सफलता हुई। सारा 'प्रमाणवार्त्तिक' ही नहीं मिल गया, बल्कि एक परिच्छेद पर ग्रंथकर्ता की अपनी वृत्ति (स्ववृत्ति) और उस पर कर्णकगोमी की विस्तृत टीका मिली, जिन्हें मैंने यहाँ बैठकर उतार डाला। पीछे 'स्ववृत्ति' के खंडित अंश को तिब्बती अनुवाद और टीका के सहारे फिर से संस्कृत में कर डाला और अब (सितम्बर 1944) यह दोनों पुस्तकाकार छप चुके हैं। 'प्रमाणवार्त्तिक' के बाकी तीन परिच्छेदों पर प्रज्ञाकरगुप्त का 'वार्त्तिकालंकार'–वृहद्भाष्य–बहुत अनमोल पुस्तक है, इसको भी मैंने साक्या में पाया। सबकी कापी भी तैयार हो गई। शलू में जाने पर 'प्रमाणवार्त्तिक' की एक बहुत ही सुन्दर वृत्ति मनोरथनन्दीकृत मिली, उसकी भी मैंने कापी की। और पीछे सम्पादित करके छाप दिया। 'वादन्याय' को मैं पहिले ही सम्पादित कर चुका था, इस प्रकार 'प्रमाणवार्त्तिक' और 'वादन्याय' यह दो धर्मकीर्ति के ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। 'न्यायविन्दु' पहिले ही से मिल चुका था। 'हेतुविन्दु' को भी मैं तिब्बती अनुवाद और अर्चट (धर्माकरदत्त) की टीका के सहारे संस्कृत में कर चुका हूँ। अर्चट की टीका और न्यायविन्दु-पंजिका (धर्मोत्तर) के ऊपर दुर्वेक मिश्र की टीकाएँ ङोर् गुम्बा में मिलीं। धर्मकीर्ति की संबंध-परीक्षा को भी संस्कृत में तैयार कर चुका हूँ। अब धर्मकीर्ति के न्याय के सात ग्रंथों में ('सन्तानान्तरसिद्ध', और 'प्रमाणविनिश्चय' दो ग्रंथ सिर्फ तिब्बती अनुवाद में मिलते हैं, जिन्हें मूल या तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में करके किसी वक्त प्रकाशित करना होगा।

(ख) ङोर् और शलू में–23 जुलाई को मैंने साक्या से बिदाई ली। फुनूछोग-प्रासाद ने तीन खच्चर और अपने एक बड़े मजबूत रसोइये को साथ जाने के लिए दिया। ताराप्रासाद ने पाथेय के लिए कितनी ही चीजें भेजीं। महंतराज और दामो ने बड़े प्रेम के साथ विदाई दी। 11 बजे हम साक्या से चले। एक खचरी बहुत मजबूत थी। उसने दो बार रसोइए को पटका। रास्ते में साक्या के कुछ खच्चरवाले मिले, उससे उसने खचरी को बदल लिया। जब मैं आया था, उस समय खेतों की जुताई शुरू हुई थी। अब खेतों में हरे-हरे जौ-गेहूँ खड़े थे। सरसों फूली हुई थी। यह बरसात के दिन थे। नंगे रूखे पहाड़ों पर चारों ओर हरी-हरी घास दिखलाई देती थी। आटोला, फिर शोङ्ला दोनों जोतों को पार करके हम डोक्पा लोगों के गाँव–शोङ्-चिक्यप् में रात को ठहरे, और पिछले सालवाली कोठरी में आसन पड़ा। यद्यपि पैदल नहीं चलना पड़ा था, लेकिन कमर में दर्द बहुत रहा, आखिर ढाई महीने बैठे-बैठे कलम भी तो चलानी पड़ी थी। अगले दिन (24 जुलाई) सत्तू-चाय खाकर 7 बजे चलने लगे, तो बूँदें हल्की-हल्की पड़ रही थीं। कितनी ही दूर उतरकर नदी के किनारे-किनारे चलने लगे। उस वक्त नदी में बहुत पानी बह रहा था, और कहीं-कहीं हमें पानी में से होकर चलना था। एक जगह खचरी बक्सों को लिये-दिये बैठ गई। जल्दी से उसे उठाया गया। मुझे डर लगा, कि पानी बक्स के भीतर चला गया होगा, पीछे देखा कि सभी चीजें सुरक्षित हैं। फिर बड़ी नदी के किनारे आये। दोपहर के खाने के लिए एक जगह थोड़ी देर ठहरे। अब नदी को पार करने की समस्या थी। पिछली बार गेशे और मैं बरसात के बाद आये थे, उस वक्त भी नदी को बहुत ढूँढ़-ढाँढ़कर पार हुए थे। अबकी बार तो बरसाती नदी थी। बहुत ढूँढ़ने-ढाँढ़ने पर यही मालूम हुआ, कि नीचे शव् में पुल से पार हुआ जा सकता है। तिब्बत की प्रथम यात्रा में मैं उसी पुल से गुजरा था। हम चाङ्शो में पहुँचे। अभी काफी दिन था, लेकिन खच्चर लादकर चलते वक्त पानी बरसने लगा, इसलिए रात को यहीं रहना पड़ा।

25 तारीख को भी साढ़े सात बजे रवाना होते समय बूँदें पड़ रही थीं। छारोङ्-छू (नदी) में पानी और

बढ़ आया था। दो घंटे बाद क्यिदोत्‌ग्पा में पहुँचे। आशा थी कि यहाँ चमड़े की नाव (क्वा) मिल जायगी, लेकिन उसका कोई पता न था। फिर दो आदमी खच्चर पर चढ़कर नदी में थाह ढूँढ़ने के लिए गये और किसी तरह डरते-डरते हम सही-सलामत नदी पार पहुँचे। एक बक्स में थोड़ा-सा पानी चला गया था, मगर कोई नुकसान नहीं हुआ। आज रात को शव्‌ में रहे। अगले दिन (26 जुलाई) चलते वक्त जरा-जरा बूँदें पड़ रही थीं। डेढ़ घंटे में छाचा-ला को पार गए। उसी दिन ताचोला भी पार होकर साढ़े 5 बजे ङोर्‌-गुम्बा में पहुँच गए। खङ्सर में रहने के लिए अच्छी जगह मिली। ङोर्‌ की किताबें अभी नहीं मिल सकती थीं, क्योंकि अधिकारी वहाँ मौजूद न था, इसलिए पहिले शलू जाने का निश्चय किया गया। कुछेन्‌ और कुडिङ्‌ दोनों लामाओं से मुलाकात की। अगले दिन भोजन करके 10 बजे हम शलू के लिए रवाना हुए। घूमकर जाने पर हम बिना पहाड़ चढ़े भी पहुँच सकते थे, लेकिन हमने सीधा रास्ता लिया। चढ़ाई कठिन और रास्ता भी पगडंडी का था। पहिले ङोला पार किया। उतराई में तो कुछ दूर इतना खराब रास्ता था, कि खच्चर का बोझ आदमियों को देना पड़ा। नीचे नदी की कछार में आने पर वर्षा होने लगी और वहाँ पचीसों धारें बहने लगीं। किनारे के खेतों को नदी काट न ले जाय, इसके लिए पत्थर के बाँधों पर सफेद रंग के बहुत-से शिलापुत्रक रखे हुए थे। लोगों को विश्वास है, कि ये शिलापुत्रक जलदेवता को आगे नहीं बढ़ने देंगे। श्वाला का डाँड़ा भी अच्छा-खासा है, लेकिन चढ़ाई ज्यादा नहीं; फिर कगोङ्ला नामक, एक छोटा-सा डाँड़ा मिला। इस प्रकार तीन डाँड़ों को पारकर 6 घंटे की यात्रा के बाद हम शलूविहार में पहुँचे। रिसुरलामा बड़े प्रेम से मिले। एक अच्छी जगह रहने के लिए मिली। भारत और जापान से मैंने जो चित्र इनके पास भेजे थे, वह मिल गए थे। अगले दिन (28 जुलाई) 9 बजे हम एक मील चलकर रिफुग्‌ में पहुँचे। शलूगुम्बा की यह एक शाखा ही नहीं, बल्कि अभिन्न अंग है। महाविद्वान्‌ बुतोन्‌ (1290-1364 ई.) पहिले बहुत साल साक्या में रहे थे, किन्तु उन्होंने अपने अंतिम समय को यहीं बिताया था। यहाँ उनका चैत्य है। लालमन्दिर उन्हीं का बनवाया हुआ है, जिसके भीतर उनकी मूर्त्ति भी है। हम पुस्तकालय में गए। एक छोटी-सी बहुत अँधेरी कोठरी थी। बगल में एक और कोठरी थी, जिसके दरवाजे पर ताला बन्द था, और उस पर भोट सर्कार की मुहर लगी थी। बिना सर्कारी आज्ञा के उसे खोला नहीं जा सकता था। लेकिन रिसुरलामा ने बतलाया कि उसमें तालपोथी नहीं है। फिर सारे पुस्तकालय को ढूँढ़ने लगे। लकड़ी के ढाँचे (रैक) पर हाथ की लिखी बहुत-सी पोथियाँ थीं, लेकिन वह सभी तिब्बती भाषा की थीं। एक बक्स खोला गया, उसमें 39 बंडल (मुट्ठे) तालपोथियों के मिले। इनमें मनोरथनन्दी की 'प्रमाणवार्त्तिक-वृत्ति' तथा 'प्रमाणवार्त्तिक-मूल' के भी तीन परिच्छेद मौजूद थे। और भी कितने ही काम की पुस्तकें थीं।

नेपाल से आते वक्त तेजरत्न से बातचीत हुई थी, और उन्होंने फोटो खींच देने के लिए कहा था, इसलिए मैंने सोचा, कि उनको यहाँ ले आकर कुछ पुस्तकों के फोटो खिंचवा लूँ।

अगले दिन (29 जुलाई) मैं शिगर्चे चला गया। भारत से आई बहुत-सी चिट्ठियाँ मिलीं। सबसे अफसोस की खबर यह थी, कि पटना-म्युजियम के क्यूरेटर मनोरंजन घोष का देहान्त हो गया। मुझे याद आता था, उनका सौहार्द और सरलता, तिब्बती वस्तुओं के संग्रह के लिए वह कितना आग्रह किया करते थे और चीजों के पहुँचने पर कितना खुश होते थे।

मैंने साक्या में जितने चित्र लिये थे, तेजरत्न से उन्हें धोया। 'योगाचार-भूमि' के तीन फिल्म ठीक नहीं आए। 'योगाचार-भूमि' को छोड़कर जा नहीं सकता, इसलिए साक्या ही के रास्ते भारत लौटना होगा, यह निश्चय करना पड़ा। पता लगा, कि नेरीकाछा में कुछ तालपोथियाँ हैं। तीन-चार दिन इन्तिजार करने पर एक घोड़ा मिला, उस गुम्बा का एक ढावा भी आया था। साढ़े तीन घंटा कुछ पैदल और कुछ घोड़े पर चलकर मैं गुम्बा पहुँचा। यह बहुत पुराना विहार नहीं है। 25, 30 वर्ष पहिले वर्तमान ट्शीलामा के शिक्षक योङ्‌-जिनलामा ने इसे बनवाया था। यहाँ भला संस्कृत पुस्तक होने की क्या आशा हो सकती थी ? हाँ, वहाँ एक तालपोथी जरूर थी और सिंहलाक्षर में 'पाराजिका' (पाली) थी, जिसे 40, 45 साल पहिले लिखा गया था। मैं 3 बजे उसी घोड़े पर लौटा। वर्षा आगे-पीछे दोनों ओर हो रही थी, लेकिन मैं भीगने से बच गया। डोसुम्‌ ब्रह्मपुत्र के किनारे एक घाट है, जहाँ ल्हर्‌चे से चमड़े की नावें आया करती हैं। वहाँ पहुँचते ही घोड़े का मालिक आ गया। उसने

कहा—मैं तो घोड़े को नहीं जाने दूँगा। घोड़ा वहीं छोड़ दिया। साढ़े पाँच बज गया था। रास्ते में अँधेरा होने का डर था। मैं अकेला था और तिब्बत में बस्ती से बाहर सभी जगह जान का खतरा रहता है। मैं जल्दी-जल्दी चला। यदि तिब्बती भिक्षुओं का वेष होता, तो कोई मेरी ओर ताकने की हिम्मत न करता, किन्तु मेरे शरीर पर तो पीले चीवर हैं। आगे दो आदमी—जो शायद पास में भेड़ चरा रहे थे—मेरे नजदीक आये और कहने लगे "सौदा ! छङ्‌रिन्‌ (शराब का दाम) दे।" उनके स्वर से ही मालूम होता था कि वह भिखमंगी नहीं कर रहे हैं। मैं पैसा देकर उन्हें क्यों बतलाता, कि मेरे पास पैसा है। मैंने कहा, मेरे पास पैसा नहीं है। फिर उन्होंने धमकाने के स्वर में उसी वाक्य को दुहराया। मैंने चीवर को जरा-सा खिसका दिया, और केमरे का चमड़ेवाला फीता साफ दिखलाई देने लगा। दाहिने हाथ को भी मैंने बगल में डाला। उनका रुख बदल गया और रास्ता छोड़कर चले गये। उनको क्या मालूम था कि यह पिस्तौल नहीं, फोटो का केमरा है। इसमें कोई सन्देह नहीं, कि रोलैफैक्स ने उस दिन जबर्दस्त तावीज का काम किया। मेरे पास कोई हथियार नहीं था, और उन दोनों के पास तिब्बती छुरे थे। मैं जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते अँधेरे से पहिले ही शिगर्चे पहुँच गया।

यहाँ आते ही अभयसिंह और रघुबीर से भेंट हो गई। अगले दिन (3 अगस्त) मैं टशील्हुनूपो विहार में सम्लो गेशे से मिलने गया। न्याय के बड़े विद्वान, लेकिन थे पुराने युग के पंडित। उस दिन या पहिले किसी दिन बात चल रही थी, मेरे मुँह से निकल आया कि पृथ्वी गोल है। उन्होंने झट मेरी बात को पकड़ लिया, और कहने लगे—तब तो आप 'अभिधर्मकोष' (वसुबंधु) और बुद्धवचन (त्रिपिटक) को नहीं मानते। "नहीं मानता" कहकर मैं नास्तिक कैसे बनता ? मेरे दिमाग पर बहुत जोर पड़ा, लेकिन मैंने जवाब खूब अच्छा सोच निकाला। मैंने पूछा—"जिस वक्त कुशीनारा में भगवान शाक्य मुनि का परिनिर्वाण हुआ था, उस वक्त भूकम्प आया था कि नहीं ?"

"आया था।"

"उस भूकम्प से पृथ्वी दस-पाँच अंगुल या दस-बीस योजन हिली थी ?"

"योजन नहीं, सारी पृथ्वी भी नहीं, बल्कि दशसाहस्री लोकधातु (ब्रह्माण्ड) जड़मूल से हिल गई थी।"

फिर मैंने हँसते हुए कहा—"गेशे रिनूपोछे ! मामूली भूकम्प आता है, तो जल का थल और थल का जल हो जाता है, कितने पहाड़ दब जाते हैं, कितने द्वीप समुन्दर में घुस जाते हैं, फिर उस असाधारण भूकम्प ने दुनिया में असाधारण परिवर्तन किया होगा या नहीं ?"

"परिवर्तन क्यों नहीं किया होगा।"

फिर मैंने दोनों हथेलियों की पीठ को कछुए की पीठ का रूप देते हुए कहा—"पहिले पृथ्वी इस तरह की अर्ध-गोलाकार थी, उस महाभूकम्प के बाद वह इस तरह गोल हो गई", कहते हुए मैंने दोनों हाथों को गोल की शकल में बदल दिया। बेचारे गेशे क्या बोलते ? मैंने कहा—"बुद्ध का वचन गलत नहीं है, क्योंकि वह परिनिर्वाण के उस महाभूकम्प के पहिले कहा गया था। आचार्य वसुबंधु का भी कथन गलत नहीं, क्योंकि उन्होंने बुद्ध-वचन में जैसा देखा, वैसा ही लिख दिया।"

गेशे ने कुछ सोच करके कहा—"उस पृथ्वी के बीचोंबीच में सैकड़ों योजन ऊँचा सुमेरू पर्वत खड़ा था, वह क्या हुआ ?"

मैंने कहा—"पृथ्वी जब कच्छपपीठ से गोल बन गई, तो बेचारे सुमेरू पर्वत का क्या ठिकाना ? वह उसी के पेट में चला गया। आजकल जो पृथ्वी है, उसकी नाप-तोल हो चुकी है, उसका नक्शा बन चुका है। उसी नक्शे को देखकर जिस दिशा को उड़ते हैं, हवाई जहाजवाले वहाँ पहुँच जाते हैं, इसलिए वह नक्शा गलत नहीं है, वह अर्थक्रिया-समर्थ है।" कहते मैंने धर्मकीर्ति का वाक्य भी दुहरा दिया। गेशे ने कुछ सोचकर कहा—"सुमेरू नहीं रहा तो, देवेन्द्र शक्र, और त्रायस्त्रिंश देवता कहाँ गये ?"

मैंने चेहरे से कुछ खेद प्रकट करते हुए कहा—"गेशे रिनूपोछे ! यह बड़े दुख की बात है। लेकिन ऐसे भूकम्पों में ऐसा हुआ ही करता है। दो साल पहिले के भूकम्प में हमारे एक शहर (मुंगेर) के 20 हजार आदमी मर गये, पिछले साल के भूकम्प में एक दूसरे शहर (क्वेटा) के 50 हजार आदमी मरे। देवलोक को उससे भी

अधिक क्षति उठानी पड़ी। भूकम्प रात के पिछले पहर आया था न ?"

"हाँ, पिछले पहर आया था।"

मैंने कहा—"बेचारे शक्र, उसकी अप्सराएँ और सारे देवता दो-पहर रात तक नाचते और शराब पीते रहे। वह अभी-अभी सोये थे। पहिली नींद बहुत गाढ़ी होती है, इसी वक्त भूकम्प आ गया। कोई जागने भी न पाया, और सुमेरू सबको लिये-दिये पृथ्वी के गर्भ में समा गया। नींद खुली होती, तो वह हवा में उड़ सकते थे, उनमें बहुतेरे अपनी जान बचा सकते थे। अफसोस देवलोक, देवता सभी दुनिया से गायब से हो गये !"

रघुवीर बहुत खुश था, समलो गेशे भी मुस्कुराकर रह गये।

उस वक्त अमृदो की ओर से बहुत उल्टी-सीधी खबरें आ रही थीं। कोई कहता था—सारे कनसू और अमदों को लाल (वोलशेविक) ने ले लिया, अब वह तिब्बत की ओर आ रहे हैं। फुनूछोग-प्रासाद के महंतराज ने सुना था कि खम् में 'लाल' आ गये हैं। उनका सेनापति एक स्त्री है, जिनके मुँह के कोने में तीन-तीन अंगुल के दाँत बाहर निकले हुए हैं। उस पर गोली-गोला किसी का असर नहीं होता, वह बच्चों को चबा जाती है। किसी ने यह भी बतलाया कि वह पलदून ल्हामो (श्रीदेवी)—तिब्बत की सबसे बड़ी देवी माँ काली—का अवतार है। लामा लोग यह भी खबर फैला रहे थे, कि लोबोन् रिन्पोछे (पद्मसम्भव) ने भविष्यवाणी की है, कि एक बार दुनिया में लाल का राज हो जायगा, और वही अब हो रहा है। ट्शील्हुन्पो में, रघुवीर कह रहे थे कि, भिक्षु लोग बंदूक चलाना सीख रहे हैं। मैंने पूछा—"क्यों ?"

रघुवीर—"लाल आयेंगे, तो वह हमारे गुम्बा को तोड़ डालेंगे, ढावा लोग इसे कैसे बरदाश्त करेंगे ?"

मैंने कहा—"दो-चार के बन्दूक सीखने से कुछ नहीं बनता, तुम बाकायदा लोगों को भरती करो, खूब कवायद-परेड सिखाओ, उनसे निशाना लगवाओ, शिगर्चे और आसपास के लोगों की भी सेना बनाओ।"

रघुवीर ने हँसते हुए कहा—"जिसमें कि मेरे ही गले में पहिले फाँसी लगे, क्योंकि ढावा और पल्टन तो सब धूप में मक्खन की तरह बिला जायगी और मेरा ही नाम पहिले से मशहूर रहेगा !"

फिर शलू में (15 अगस्त)—शमूलो गेशे ने अपने दो घोड़े दिये और मानबहादुर साहु ने अपना एक घोड़ा। एक घोड़े पर फोटो का सामान रखा गया। रघुवीर, तेजरत्न, अभयसिंह और मैं चारों 10 बजे शलू के लिए रवाना हुए। एक नदी को हम जब पार हो रहे थे, तो फोटो के केमरेवाला घोड़ा बीच धार में बैठ गया। शायद अभयसिंह उस पर सवार भी थे। उनका पाजामा तो भीग ही गया। लेकिन हम लोगों को डर लगा कि कहीं फोटो के बकस के भीतर पानी न चला गया हो। खैर, वह बाल-बाल बच गया। शलू पहुँचे। सभी पुस्तकें रिफुग् से यहाँ नहीं आ सकती थीं, इसलिए निश्चय हुआ कि हम लोग रिफुग् में ही चले चलें। अगले दिन (6 अगस्त) हम रिफुग् में चले गये, और 8 दिन तक रहकर यहीं तसवीरें खिंचवाते रहे। तसवीरें तेजरत्न खींचते थे, मैं पुस्तकों की सूची बनाता और बीच-बीच में पत्रों को लगाकर फोटो के लिए उन्हें सजाता था। कलकत्ते से आई कितने ही प्लेटें पुरानी निकलीं, इसलिए फोटो नहीं आया। तेजरत्न की पुरानी प्लेटें अच्छी थीं। बीच-बीच में वर्षा भी जोर मारती थी इसलिए फोटो लेने में विघ्न होता था। मैंने सूची तैयार की। पिछले साल 'सद्धर्मपुंडरीक' और 'काशिकापंजिका' की तालपोथियाँ देखी थीं, लेकिन अबकी वह नजर नहीं आईं। कलकत्ते से आई सारी प्लेटें बेकार गईं। तेजरत्न की प्लेटों से कुछ फोटो मिले। अबकी बार भी फोटो का काम ठीक नहीं हुआ। मैं पछता रहा था, कि क्यों नहीं एक-दो महीने किताबों के फोटो लेने और धोने में लगा दिये। 13 अगस्त को तेजरत्न शिगर्चे लौट गये और हम शलू विहार में चले आये। यहाँ की पुस्तकों में से 'मध्यमकहृदय' (भाव्य) 'विग्रहव्यावर्तनी' (नागार्जुन), 'प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति' (मनोरथनंदी) और 'क्षणभंगाध्याय' (ज्ञानश्री) को तीन महीने साथ रखने के लिए गुम्बा के पाँचों पंचों ने इजाजत दी। गुम्बा के लोग समझ रहे थे कि यह कोई बड़ी धनी लामा है, इसलिए आशा रखते थे कि गुम्बा के भीतर चित्रकारी के लिए रंग, छत के लिए कपड़ा, मूर्ति पर चढ़ाने के लिए सोना आदि चीजों की माँग कर रहे थे। मैं अगर चार-छै हजार रुपये खर्च कर सकता, तो उन्हें बहुत खुशी होती, और मैं सभी महत्त्वपूर्ण तालपोथियों को ले आता; लेकिन रुपये कहाँ थे ? मैं तो जबर्दस्ती घूमने की हिम्मत करता था। रुपये उधार देने के लिए छु-शिङ्शावाले तैयार थे, लेकिन मैं उतने ही रुपये ले सकता

था, जिनके कि लौटाने में दिक्कत न होती।

(ग) ग्यानूची में (17 अगस्त–7 सितंबर)–16 अगस्त को हम तीनों ग्यानूची की ओर रवाना हुए। दूसरे दिन हम चार बजे ग्यानूची पहुँचे। रास्ते में नेसा में चाय पीने के लिए ठहरना पड़ा। पता लगा कि यहाँ एक पुराना मंदिर यूम्-ल्हाखङ् (मातृमंदिर) है, जिसे सम्राट् रल्पाचन् (877-901 ई.) ने बनवाया था–ऐसी कहावत है। मैदान में यह छोटा-सा मंदिर है जरूर पुराने ढंग का। बीच में चतुमूर्त्ति वैरोचन–शायद यह पीछे की मूर्त्ति हो। पीछे की ओर युम् (माता) प्रज्ञापारमिता और दश बुद्ध की मूर्तियाँ हैं। कारीगरी सुन्दर है, कला उस काल के अनुरूप है। सामने सम्राट् ठीस्रोङ (823 ई.) का बनवाया मंदिर है, जिसमें वैरोचन, आठ बोधिसत्व आदि मूर्त्तियाँ हैं। यह उतनी सुन्दर नहीं हैं, तो भी काफी पुरानी हैं। यह मन्दिर चाहे सम्राटों के बनवाये न हों, लेकिन पुराने जरूर हैं। मुमकिन है, वे उसी काल में बने हों।

ग्यानूची में रहते वक्त मैं और अभयसिंह पुस्तकों की कापी करने में व्यस्त रहे। 'प्रमाणवार्त्तिक' सम्बन्धी साहित्य की प्राप्ति के बारे में मैंने जायसवालजी और डाक्टर श्चेर्वात्स्की (सोवियत) के पास पहिले ही अभयसिंह के साथ चिट्ठियाँ भेज दी थीं। जायसवालजी ने इसकी सूचना ऐसोसिएटेड् प्रेस को दे दी, और वह भारत के पत्रों में छप गई। कुछ फोटो के सामान की जरूरत थी, मैंने उनके लिए ग्यानूची से तार और चिट्ठियाँ भेजीं।

2 सितम्बर को चीज़ों के तीन पार्सल आये, इनमें फोटो के सामान तथा लामाओं को भेंट देने की चीजें थीं। 4 सितम्बर को डाक्टर श्चेर्वात्स्की का पत्र आया। नई पुस्तकों की खोज सुनकर उन्हें अत्यन्त आनन्द हुआ और लिखा कि मैं डाक्टर वोस्त्रीकोफ के साथ भारत आना चाहता हूँ। इन पुस्तकों का कितना महत्त्व था, वह इसे अच्छी तरह जानते थे। जैसे प्लेटो और अरस्तू के मूलग्रंथ लुप्त हो गये हों, सदियों से अनुवादों और उनकी टीकाओं के सहारे यूनानी दार्शनिकों के विचार का अध्ययन हो रहा हो, फिर यकायक मूलग्रंथ अपनी मूलभाषा में मिल जायें। 22 तारीख को मैंने पुस्तकों के हस्तलेखों और दूसरे चीजों को डाक से डा. जायसवाल के पास भेज दिया। इन बहुमूल्य वस्तुओं को साथ लेते फिरना मैंने अच्छा नहीं समझा। इसमें सन्देह नहीं कि तिब्बत में जैसे अकेले-दुकेले मैं घूम रहा था, उससे किसी वक्त भी भारी खतरे में पड़ सकता था।

(घ) ङोर् में–8 सितम्बर को हम ग्यानूची से शिगर्चे के लिए रवाना हुए। अब खेत कट रहे थे। पहिली रात दोङ्ले और दूसरी रात पेनाङ् में ठहरे। पेनाङ् में खच्चरों के लिए घास नहीं मिली, और हम लोगों को पिस्सुओं ने रात में तबाह कर डाला। 10 सितम्बर को रघुवीर और मैं आगे बढ़कर शलू विहार में गये। एक को छोड़कर बाकी पुस्तकें लौटा दीं। उसी दिन तीन बजे के करीब शिगर्चे पहुँच गये। अभी पोइखङ्, तानक् और ङोर् की पुस्तकों को देखना था, लेकिन तिब्बत में आदमी और घोड़ों का मिलना आसान काम नहीं है।

12 सितम्बर को ङोर् आने-जाने के लिए घोड़े मिले। हम लोग उसी दिन शाम तक ङोर् पहुँच गये। लेकिन मालूम हुआ कि किताब देनेवाला अधिकारी अभी नहीं आया है। अगले दिन हम नये अधिकारी के पास गये। वह किताबों को दिखलाने के लिए तैयार थे, लेकिन चाभी अभी पुराने अधिकारी के हाथ में थी। वह चाभी को लामा गेनूदेनु के पास दे गया था, तो भी उससे कहा–पुराने अधिकारी के बिना द्वार नहीं खोला जा सकता। खङ्सर के दोनों बड़े लामाओं ने भी कोशिश की, लेकिन वह दुष्ट राजी नहीं हुआ। अन्त में यही निश्चय हुआ कि कुडिङ् रिन्पोछे (खङ्सर के बड़े लामा) पुराने अधिकारी (छनूजो) के पास आदमी भेजेंगे, जब पुस्तकों के मिलने की सम्भावना होगी, तो सन्देश भेजेंगे, फिर हम आयेंगे।

ङोर् से नरथङ गये। वहाँ 'बोधगयामंदिर' और दो भारतीय चित्रपटों के फोटो लिये। रात को वहीं रह गये और अगले दिन (14 सितम्बर) 3 घंटे में शिगर्चे पहुँचे। मैं अब 'क्षणभंगाध्याय' की कापी करने में लग गया, और रघुवीर तथा अभयसिंह अगले दिन (15 सितम्बर) तानक गये। 17 तारीख को ङोर् का आदमी बुलाने के लिए आया और 18 सितम्बर को हम फिर ङोर् पहुँच गये। उसी दिन मुहर तोड़ी गई और पुस्तकालय की तालपोथियों को देखा गया। वसुबंधु का 'अभिधर्मकोषभाष्य' सम्पूर्ण मिल गया। 'तर्करहस्य' और 'वादरहस्य' नामक खंडित न्यायग्रंथ मिले। मैंने पुस्तकों के बहुत-से फोटो खींचे। पिछले साल मैंने 'सुभाषित', 'प्रातिमोक्ष', "वादन्याय" की पोथियाँ देखी थीं, अब की वह नहीं दिखाई पड़ीं। ढूँढ़ने पर वह पहिलेवाले अधिकारी के घर

में मिलीं। तिब्बत में पुस्तकें कितनी अरक्षित हैं, यह इससे मालूम हो सकता है। चार दिन ङोर् में रहकर फिर हम शिगर्चे चले आये। तेजरत्न ने फोटो लिया, उसे वहीं धोकर देख लिया गया था, इसलिए फोटो पर विश्वास तो हो सकता था, किन्तु फोकस उतना अच्छा नहीं था। रघुवीर और अभयसिंह तानक से लौट आये, वहाँ दो-तीन तालपत्र की पोथियाँ थीं, किन्तु उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं थीं। कलकत्ता से और भी पारसल आये थे। बाबू ब्रजमोहन वर्मा चलने-फिरने और शरीर से लाचार थे, लेकिन यदि उन्होंने तन्देही न की होती, तो कलकत्ता से समय पर चीजों के आने में बड़ी दिक्कत होती। वर्माजी कष्ट की कोई पर्वाह नहीं करके दर्जनों जगहों से ढूँढ़कर चीजों को भिजवाते थे।

पोइखङ् जाने की बड़ी इच्छा थी। लेकिन, एक तो वहाँ के लिए घोड़े नहीं मिल रहे थे, दूसरे तेजरत्न वहाँ जाना नहीं चाहते थे, इसलिए अब फोटो लेना सम्भव नहीं था। तेजरत्न से फोटो की दर मुकर्रर हो गई थी, लेकिन अब उन्होंने मनमाना दाम लगाना शुरू किया। इस तरह की दिक्कतें आया ही करती हैं।

28 सितम्बर में रघुवीर के साथ ट्शील्हुन्पो विहार में चला आया और चार दिन यहीं रहा। पहिले दिन शमलो गेशे के साथ सुमेरू और भूकम्पवाली बात हुई। पिस्सुओं के मारे आफत थी। अब मैं साक्या जाने के लिए तैयार था, लेकिन घोड़े का कोई इंतिजाम नहीं हो रहा था।

बहुत मुश्किल से 2 अक्तूबर को शव् तक के लिए दो घोड़े मिले। जान्स्कर का एक भिक्षु शव् तक चलने के लिए तैयार हुआ। साढ़े तीन बजे हम रवाना हुए, और रात को नरथङ् में रह गये। अगले दिन चार बजे रात ही को चल पड़े। 7 बजते-बजते तालाजोत पर पहुँचे। यह बुत छोटा-सा डाँड़ा है, पर है खतरे से भरा। पहिली तिब्बत-यात्रा में मैं इस डाँड़े से गुजरा था। दो बजे हम एक गाँव में पहुँचे। घोड़ेवाले का पैर दुखने लगा, और वह वहीं ठहर गया। लेकिन हम दोनों आगे चल दिये। छारोङ्छू नदी को पुल से पार किया, फिर थोड़ा-सा ऊपर की ओर से चलने पर चाङ्गुवा गाँव आया। यहाँ साक्या के कुशो डोनिर-छेनपो का घर है। यद्यपि मैं यहाँ कभी नहीं आया था, और न यहाँ के नौकर-चाकरों ने मुझे देखा था, लेकिन वह मेरे बारे में सुन चुके थे, इसलिए जान-पहचान होने में देर न लगी। इस वक्त फसल कट रही थी, लोग उसी में लगे हुए थे, इसलिए आदमी मिलना आसान नहीं था, लेकिन हम कुशो डोनिर्छेनपो के घर में थे। चोला हर तरह से मदद करने को तैयार थे। मकान बहुत अच्छा और बड़ा था, लेकिन मालिक, मालकिन यहाँ बहुत कम आते थे, इसलिए मरम्मत आदि के ऊपर उतना ध्यान नहीं दिया गया था। एक तरफ मालिक थे, कि सन्तान बिना उनका घर सूना था, दूसरी ओर उनका चोला था, जिसकी बीवी अभी जवान थी, तो भी 5 लड़के और 2 लड़कियाँ मौजूद थे। लड़के-लड़कियाँ गोरे थे, सुन्दर थे, स्वस्थ थे, यद्यपि उनके चेहरे पर मैल की मोटी तह जमी रहती थी। उसी शाम को बगल की किसी स्त्री के पेट में दर्द हुआ। मेरे पास दवा के लिए आये। तिब्बत ऐसे मुल्कों की यात्राओं में चार-पाँच प्रकार की दवाएँ रखना आवश्यक है, जिनमें टिनचर-आयोडिन्, जुलाब, पाचक लवण, कुनैन मुख्य हैं। मैंने 'ऐनोसाल्ट' एक चिम्मच दिया, कुछ फायदा हुआ।

4 अक्तूबर को आचो ल्हग्पा दो गधे और एक घोड़े के साथ चले। घोड़ा मेरी सवारी के लिए था, गधे सामान ढोने के लिए। हम लोग 6 बजे सबेरे ही रवाना हुए। पुल के सामने आकर बाईं ओर की उपत्यका में मुड़ पड़े। ल्हासा-नेपाल-भारत का पुराना रास्ता यही है। आगे उपत्यका में जमीन से अपने आप पानी निकल रहा था। कई जगह भूमि दलदल बन गई थी। ताज्जुब है कि जो खेत चन्द दिन पहिले सूखे थे, उनमें गेहूँ लहरा रहे थे, और पानीवाली क्यारी-से बन गये थे। साढ़े दस बजे जिलुङ् गाँव में पहुँच गये। यह बड़ा गाँव है, और शायद पहिले और बड़ा रहा होगा। पुराने घरों की मिट्टी की दीवारें अब भी खड़ी थीं। चीन का जब तिब्बत में प्रभुत्व था, उस वक्त चीनी अफसरों को ठहराने के लिए घर (ग्य खङ्) बने थे, इस गाँव में वैसा घर था। आगे ज्यादातर निर्जन, सुनसान, चौड़ी उपत्यका से चलना पड़ा। 5 बजे हम ल्हाऊ की भिक्षुणियों के मठ में पहुँचे और बाहर यात्रीगृह में ठहरे। तिब्बत में भिक्षुणियों के मठ कहीं-कहीं बड़े ही दुर्गम और निर्जन स्थानों में मिलते हैं, यह वैसा ही स्थान था। भिक्षुणियों का भिक्षुओं जैसा मान नहीं, इसलिए उनका जीवन ज्यादा कष्ट का है। उनके विहारों में जागीरें भी नहीं होतीं, प्रसिद्ध मंदिर भी उनके पास नहीं हैं। लेकिन तब

भी उन्हें जीवित रहना है। जब घर-भर के लिए एक ही बहू आ सकती है—पाँच-सात भाइयों पर एक ही पत्नी रहती है—और लड़कियों की संख्या लड़कों से कम नहीं होती, फिर भिक्षुणियों की संख्या ज्यादा होना जरूरी ठहरा। यद्यपि पुरुष भिक्षुणियों का सम्मान और सहायता करने के लिए उतने उदार नहीं होते, लेकिन स्त्रियाँ जरूर उनका ख्याल करती हैं। कोई घर नहीं है, जिसकी कोई लड़की भिक्षुणी न हो; चाहे वह घर ही में रहती हो, लेकिन उसका कोई गुरुस्थान (भिक्षुणीविहार) जरूर होता है।

सबेरे ढाई बजे रात को ही रवाना हुए, सिर्फ दो जने और एक ही दिन में तीन खतरनाक जोतोंवाले निर्जन रास्ते से ! अचो ल्हक्पा (भाई बुध) को जब पर्वाह नहीं थी, तो मुझे क्यों पर्वाह हो; जो एक आदमी कर सकता है, वह मैं भी क्यों नहीं कर सकता। चढ़ाई कठिन थी। ऊपर-नीचे होते चार बजे ठिमोला जोत पर पहुँचे। फिर उतरने पर पाँच बजे एक डोक्पा-(पशुपालकों) का गाँव मिला। अभी भी सूर्योदय नहीं हुआ था। जगह-जगह काली चमरियाँ चर रही थीं। वहाँ के लोग सिर्फ सत्तू-भर के लिए कुछ खेती कर लेते हैं, नहीं तो उनकी प्रधान जीविका है, भेड़ और चमरी। एक नाले के मुँह पर बसे डोक्पा घर में हमने चाय पी, फिर आगे चढ़ाई चढ़ते दोपहर से पहिले ही पोछेनला पर पहुँचे। ऊपर बहुत दूर तक घास का मैदान-सा मालूम होता था, अब घासें पीली पड़ गई थीं। यहाँ खुले डाँड़े और खुले आसमान के नीचे हजारों भेड़ें चर रही थीं। एक ओर काले तम्बू से धुवाँ निकल रहा था। पुरानी इच्छा फिर जागृत हो आई—कभी मैं भी साल दो साल ऐसे बिता पाता ? लेकिन अब वह जीवन बहुत दूर था। फिर उतराई उतरते पहिलेवाले रास्ते पर आ गये। आटोला पार किया, और साढ़े तीन बजे साक्या पहुँच गए।

(ङ) फिर साक्या में—कुशो ड़ोनिरूछेनपो के घर में ल्हासा-सर्कार के दो अफसर ठहरे हुए थे। वह जमीन का हिसाब कर रहे थे। शायद सर्कार मालगुजारी बढ़ाना चाहती थी। दो-एक दिन बाद अफसर चले गए और मुझे फिर उसी पुराने कमरे में जाना पड़ा। अबकी बार सबसे जरूरी काम था 'योगाचार-भूमि' को उतारना। दोनों प्रासादों के लामा उसी तरह से स्नेह-प्रदर्शन कर रहे थे। अच्छा हुआ, मैं ठीक वक्त पर आ गया, क्योंकि अब वह दो हफ्ते के लिए यहाँ से कुछ दूर तप्तकुण्ड में जा रहे थे। मैं 'योगाचार-भूमि' ला के उसे कापी करने के काम में जुट पड़ा। आठ-दस हजार श्लोक के बराबर का ग्रन्थ है। मैं 500 श्लोक के बराबर रोज लिख लिया करता था। कभी-कभी कुशो डोनिरूछेनपो, चामूकुशो और दिकीला से कुछ बात करने में समय लगता, नहीं तो सारा समय मेरा पुस्तक लिखने में जाता।

15 अक्तूबर को सर्दी काफी बढ़ गई थी, रात के वक्त पाला मार जाने के डर से फूलों के गमले भी घर के भीतर रखे जाने लगे। 18 तारीख से तो दिन में और घर के भीतर भी सर्दी से हाथ ठिठुरने लगता। बादल और हवा दोनों का जोर बढ़ा। 20 अक्तूबर को पास के पहाड़ों पर बर्फ पड़ गई। अब जरूर जल्दी करनी थी, क्योंकि रास्ते में बहुत-से बर्फवाले डाँड़े पार करने थे, जो ज्यादा बर्फ पड़ जाने पर हफ्तों दुर्लंघ्य हो जाते। 21 अक्तूबर को योगाचार-भूमि खतम हुई। वैसे पुस्तक सम्पूर्ण है, किन्तु पुस्तक में दो भूमियाँ—'श्रावक-भूमि' और 'बोधिसत्व-भूमि' नहीं हैं। 'बोधिसत्व-भूमि' तो खैर जापान से छप चुकी है। अब मुझे कितने ही फोटो लेने थे। दोनों प्रासादों के लामों और उनके परिवार के फोटो तो लिये ही, साथ ही भारतीय मूर्त्तियों के कई फोटो लिये और उन्हें वहीं धोया। फोटो धोने और डेवलप करने का गुर कुछ-कुछ मालूम हो चला था। मेरे काम में चामूकुशो या दिकीला मदद करती थीं। मैं मजाक में चामूकुशो से कहता था—अब आपको चार-चार महीना योग-तपस्या करने की जरूरत नहीं, मैं जब भारतीय पुस्तकों, और मूर्त्तियों का फोटो खींचूँ, तो आप उसमें मदद करें। उनको पहिले जादू-सा मालूम होता था, कि कैसे उस पीले लेप पर आदमी की शकल उतर आती है; लेकिन तस्वीर उतरती उन्होंने देखी। मैंने बतलाया—तसवीर तो हर दरपन पर उतर आती है, वहाँ सिर्फ पकड़नेवाले मसाले की कमी रहती है। मैंने चामूकुशो का नौकरानी के साथ एक फोटो खींचा, फिर उनके सामने ही डेवलप करके दिखाया। संयोग से वह तसवीर अच्छी आई। उन्होंने तीस हजारवाला मोतियों का धनुषाकार शिरोभूषण धारण किया था। वह बोल उठीं—"अखखा छीलिङ्, (विदेशी, यूरोपियन) बड़े होशियार हैं।" मैंने कहा—होशियार न होते तो आकाश में देवताओं की तरह उड़ते। इधर कई सालों से गर्मियों में अँगरेजों

का दल चामोलुङ्मा (एवरेस्ट) पर चढ़ने के लिए जाया करता था। उनके साथ पचासों कुली खाने-पीने के सामान और दवाइयों के बक्स को ढोने के लिए जाते थे। कभी-कभी कोई-कोई कुली सामान ले के गायब हो जाता था। दो चीजें चाम्‌कुशो के पास भी पहुँची थीं–एक शीशे के बड़े मर्तबान में खीरा आदि का सिरके में पड़ा अँचार था और दूसरे छोटे-से खूबसूरत बक्स में इंजेक्शन देने की दवा थी। सिरके के अँचार को मैंने खा के दिखलाया, लेकिन किसी को खाने की हिम्मत न हुई। चाम्‌कुशो शीशे के बरतन को चाहती थी; अँचार से उनको कोई मतलब नहीं था। कुशो डोनिर्‌छेन्पो को जब मालूम हुआ, कि इंजेक्शन दिल की बीमारी और ताकत की दवा है, तो उन्होंने अपने रोगियों पर उसका प्रयोग करने की इच्छा प्रकट की, लेकिन वहाँ इंजेक्शन देने की सुई नहीं थी, और मैंने यह भी बतला दिया कि सुई देने का ठीक तरीका जाने बिना इंजेक्शन देने में खतरा है।

शितोग्‌प्रासाद के ग्यगरल्हाखङ् (भारतीय मंदिर) में 500 से ऊपर धातु की मूर्त्तियाँ हैं, जिनमें 150 भारत से गई हैं, और दो दर्जन तो बहुत ही सुन्दर हैं–कुछ तो छठी-सातवीं सदी तक की पुरानी हैं। यहाँ भी बोधगया मंदिर के पत्थर के दो नमूने हैं। मैंने बहुत-सी मूर्त्तियों के फोटो लिये, और उन्हें वहीं धोया। कुछ साफ आये।

अक्तूबर के अंत तक सर्दी बहुत बढ़ गई थी। फुन्‌छोग-प्रासाद की महंतरानी ने रास्ते के लिए एक ऊनी गुलूबन्द और खाने की बहुत-सी चीजें दीं। ताराप्रासाद के छोटे भाई, पहिले ही से खतरनाक जोतों में इस तरह घूमने के लिए मुझे बहुत समझाया करते थे। उन्होंने चलते वक्त अपना चमड़े का पायजामा दिया। मैंने शिगर्चे में एक पोस्तीन का सलूका (जाकट) बनवा लिया था, इसलिए सर्दी से तो अब निश्चिन्त था। कुशो डोनिर्‌छेनपो ने भी रास्ते की उपयोगी कितनी ही चीजें दीं। वह अब बहुत खुश रहते थे, क्योंकि उनकी छोटी चाम् दिकीला में वंश चलाने के चिह्न प्रकट हो गये थे।

3. भारत की ओर

30 अक्तूबर को मैंने साक्या छोड़ी। चङ्मा (वीरी) के वृक्षों पर कोई ही कोई सूखी पत्तियाँ रह गई थीं। पहाड़ों की हरियाली लुप्त हो चुकी थी, और उन्होंने फिर अपना वही नंगा सूखा रूप धारण कर लिया था। अबकी बार ताराप्रासाद ने मेरे लिए 3 खच्चर और अपना एक आदमी–जयङ्–दिया था। मबूजातक चाम्‌कुशो के मौसेरे भाई लामा गयंजे भी साथ चल रहे थे। उसी दिन हम मबूजा पहुँच गये। जयङ् को रास्ता नहीं मालूम था, इसलिए कुशो डोनिर्‌ला ने एक और आदमी साथ कर दिया। पहिली नवम्बर को मबूजा से रवाना हुए। पाचा के रास्ते शोङ्पाला पार हो चिबूलुङ्-उपत्यका में चले गये, और उस दिन रात को शादोङ् गाँव में ठहरे। अगले दिन (2 नवम्बर) तोबूडाला पारकर छिका गाँव में जलपान किया। हमारी बाईं ओर झील थी, जिसके किनारे तोबूडा गाँव था। यह तिब्बत के भीतर है, लेकिन जागीर है, शिकम के राजा की। छिका के सामने तिङ्री जैसा विशाल मैदान है। वैसे ही यहाँ भी घास है, कहीं-कहीं बालू के टीले हैं। सवा 5 घंटे चलने के बाद हम इस मैदान को पार कर सके। रास्ते में कोई बस्ती नहीं थी, सूर्यास्त को हम ऊँचेशमा गाँव में पहुँचे–इस प्रदेश का नाम शमा है।

यद्यपि अब मैदान नहीं था, लेकिन रास्ता बराबर था। डेढ़ घंटा चलने के बाद हम खमूवाजोङ् के मैदान में पहुँचे। रात को पौने दो घंटा चलकर हम 8 बजे खम्वा गाँव में पहुँचे। अब पूरा जाड़ा था, फिर सर्दी के लिए क्या पूछना ? चाय-सत्तू हुआ, घोड़ों को घास-दाना दिया गया। 3 घंटे के विश्राम के बाद हम फिर चले। रास्ते में कहीं-कहीं क्याङों (जंगली गदहों) के झुंड दिखाई पड़े। कीरूला की चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं है। डाँड़े से कुछ उतराई के बाद डोक्‌पा लोगों का गाँव कीरु मिला। यहाँ 10, 12 घर हैं, लेकिन चँवरियों पर परले पार से लकड़ी ढोने का सुभीता है, इसलिए मकान अच्छे बने हैं। एवरेस्ट जानेवाले इसी रास्ते से गुजरते हैं। हम लोग दो ही बजे पहुँच गये थे, लेकिन आगे लाछेन् की बड़ी जोत थी, और अगली बस्ती बहुत दूर पड़ती, इसलिए आज यहीं ठहर गए। बर्फ के कारण कई दिनों से रास्ता बन्द हो गया था। आज लाछेन् से आदमी आया, मालूम हुआ, बर्फ कम है, जो है वह सख्त हो गई है, इसलिए रास्ता खुल गया है।

4. भारत में (1936-37 ई.)

हमने साक्या से लाई पिस्तौलों को कीरु में छोड़ दिया, क्योंकि, डाँड़ा पार करते ही हम उस देश में पहुँच जाते हैं, जहाँ आत्मरक्षा के साधन पिस्तौल या बन्दूक को हाथ में रखने के लिए आदमियों को जेल की हवा खानी पड़ती है। 4 नवम्बर को साढ़े 5 बजे जब हम गाँव से बाहर हुए, तो हिमालय की बर्फीली चोटियों को सूर्य की किरणें स्वर्णिम बना रही थीं। सर्दी खूब थी, लेकिन ऊन और चमड़े में लिपटे शरीर का वह क्या बिगाड़ सकतीं ? दो फर्लाङ् चलने के बाद रास्ते में बर्फ आ गई। चारों ओर विस्तृत हिमक्षेत्र था। दाहिनी ओर दूर सामने हिमालय की शिखर-पंक्तियाँ थीं। पौने दो घंटे चलने के बाद हम लाछेन्-जोत पर पहुँचे। चढ़ाई से उतराई कुछ अधिक जोरदार थी, किन्तु मुश्किल नहीं थी। जोत से थोड़ा नीचे आने पर तिब्बत और शिकम्राज्य–तिब्बत और अँगरेजी राज या तिब्बत और भारत–की सीमा मिली। डेढ़ घंटा चलने के बाद हमें एक छोटी-सी झील मिली। झील के बाद से रास्ते में अब बरफ कम थी। गाँव छोड़े 4 घंटे हो गए थे, पौने 10 बज रहा था; इसलिए चाय पीने का कोई इंतजाम करना जरूरी था। रास्ते से दाहिने थोड़ा ऊपर याक के काले बालों का तम्बू दिखाई पड़ा। हम वहाँ चले गये। तम्बू में आग के पास बैठे। पता लगा कि वह लाछेन् के चीपोन् वङ्ग्यल् के डोकपा (पशुपालक) हैं। जाड़े के सिर्फ दो महीने ये लोग किसी एक जगह रहते हैं, नहीं तो अपनी भेड़ों और याकों चमरियों को लिये दस महीने नई-नई चरागाहों में घूमते रहते हैं।

दो घंटे के विश्राम के बाद हम फिर चले। आगे नदी की धार मिली। 3 बजे तक रास्ते में बरफ पड़ी हुई मिली। आगे एक छोटा-सा अकेला घर आया और उसके बाद से सड़क आ गई। इस वक्त बादलों की भारी पलटन जोत की ओर जा रही थी। हमने अपने भाग्य को सराहा, न जाने वहाँ कितनी बरफ पड़ती, और हम मुश्किल में पड़ जाते। चार बजे से नंगे पहाड़ों की जगह झाड़ीवाले पहाड़ आने लगे, फिर देवदार आ गये, और बीस मील तक पहाड़ों पर देवदार ही छाये हुए थे। पहाड़ के ऊपरी भाग पर भोजपत्र के भी वृक्ष थे। अँधेरा हो रहा था, जबकि पौने 6 बजे हम थङ्गू के डाकबँगले पर पहुँचे। मेरे पास डाकबँगले में ठहरने का आज्ञापत्र नहीं था, लेकिन चौकीदार ने अपने पास की कोठरी में रहने को जगह दे दी। अब हम गनतोक् (मोटर) से 62 वें मील पर थे। हमारे बक्स बाहर पड़े थे। मैंने उन्हें भीतर रखने के लिए कहा, तो चौकीदार ने कहा–"यहाँ कोई पर्वाह नहीं है।" "पर्वाह" नहीं थी, यह बात ठीक थी, तिब्बत में यात्रा करते वक्त जैसे रोएँ-रोएँ को हर वक्त सजग रहने की जरूरत पड़ती थी, अब उसकी जरूरत नहीं थी, सर्दी भी अब हमें उतनी नहीं मालूम पड़ रही थी।

सिकम में–साढ़े-पाँच महीने बाद तरसती आँखों को फिर वृक्षों से आच्छादित पर्वत देखने को मिले और यह थे देवदार के सुन्दरतम वृक्ष। पौने 6 बजे सबेरे ही हम रवाना हुए। हमने पोस्तीन उतार दी थी, तो भी गर्मी मालूम होती थी। 4 मील चलने पर यातुङ गाँव मिला। लाछेन गाँववाले गर्मियों में आकर यहाँ रहते हैं, और आलू-फाफड़ की खेती करते हैं। अब सारा गाँव निर्जन था। एक घर में धुआँ निकलता देख हम वहाँ गये। वहाँ चीपोन पेग्यल् (पद्मराज) का लड़का था। उसने चाय, भात और मांस तैयार किया। भोजन करके सवा दो घंटे के विश्राम के बाद हम फिर चले। 1 मील जाने पर मालूम हुआ कि केमरा घर में छोड़ आये। लौटकर आये, तो देखा ताला बन्द था। जयङ् को ऊपर भेजा। मालूम हुआ कि केमरा घर में है, और तरुण कल अपने साथ लायेगा। दो-तीन मील चलने के बाद देवदार-वृक्ष बड़े-बड़े दिखलाई देने लगे, फिर बाँसी (पतला बाँस) भी आने लगी। आज 14 मील चलने के बाद लाछेन् आया। एसो में एक प्रौढ़ पुरुष मिल गये। उनके साथ बात करते चले। मैंने बतलाया कि साक्यालामा ने चीपोन वङ्ग्यल् के लिए परिचयपत्र दिया। डाकबँगले के पास जाने के बाद उन्होंने कहा–मेरा ही नाम वङ्ग्यल है। उन्होंने बँगले के सामने के एक तिब्बती वृद्ध को बुलाया, और उसे एक कोठरी रहने के लिए देने को कहा। कोठरी बुरी नहीं थी। अब आलू-भात का मुलुक आ गया था, यद्यपि चावल यहाँ नहीं पैदा होता। चीपोन ने डलिया-भर के सेब भेजा।

लाछेन में अब सेब के बहुत बगीचे लग गये हैं। फिनलैंड की एक महिला पचीसों वर्षों से यहाँ ईसाई

धर्म का प्रचार कर रही हैं, उनके सेब के बगीचे को देखकर यहाँ के लोगों ने भी सेब लगाने शुरू किये। यह सेबों की फसल का समय था। लाछेनवाले कल खच्चरों और घोड़ों पर सेब लादकर नीचे ले जाते, और चावल खरीदकर ले आते थे। गाँव में कोई घोड़ा या खच्चर नहीं था। तीसरे दिन (7 नवम्बर) साक्यावाले लौट गये। मैंने उस दिन गरम पानी से साबुन लगाकर सबेरे और शाम को दो बार स्नान किया। नहीं कह सकता, महीनों की जमी मैल शरीर से उसी दिन छूट गई। कपड़ों को धुलवाया, लेकिन जुएँ अब भी बाकी थीं।

घोड़ों की आशा रखे बैठे रहना अच्छा नहीं था, वह न जाने कितने दिनों में आएँ। फिर सेब की जगह मेरा सामान ले जाने को तैयार होंगे, इसमें भी सन्देह था। चीपोन भी उदास-से थे, इसलिए मैंने खुद कोशिश करनी शुरू की। गृहपति स्वयं भोटिया था, मगर उसने लाछेन की औरत से शादी की थी। उसने खाने-पीने, नहाने-धोने में किसी तरह की मुझे तकलीफ नहीं होने दी। वह बेचारा इधर-उधर पूछताछ करता रहा, लेकिन कहीं से कोई आशा नहीं थी। उसने कहा—मेरे पास दो गधे हैं, चाहें तो मैं उन्हें भेज सकता हूँ। बक्स बहुत भारी नहीं थे, उसने उठाकर देखा, और कहा कि गधे ले जा सकते हैं। फिर सवाल आया एक आदमी का, लेकिन वहाँ कोई आदमी भी नहीं मिल रहा था। बूढ़ा स्वयं घर का काम छोड़कर जा नहीं सकता था। अन्त में उसने कहा, मेरी लड़की मेतोक् (फूल) गदहों के साथ जा सकती है, लेकिन सामान लादने-उतारने में आप को मदद देनी पड़ेगी। वहाँ बैठकर इंतिजार करने की जगह मैंने चलना ही पसन्द किया।

8 नवम्बर को चाय पीकर साढ़े सात बजे हम चार जीव लाछेन से रवाना हुए। चार जीव थे—मैं, मेतोक् (20 साल की स्वस्थ तरुणी), नोर्बू (मणि), और छेरिङ् (दीर्घायु)—नोर्बू और छेरिङ् हमारे गधों के नाम थे। मैं सोच रहा था—कई साल से एक साध थी, कि गधे-खच्चर या भेड़ों पर अपना थोड़ा-सा सामान लादे तिब्बत में स्वच्छन्द विचरा जाय। समय बीतने के साथ काम इतने बढ़ गये, कि उस साध के पूरने की आशा जाती रही; लेकिन अब दो-चार दिन के लिए तो मेरा गधोंवाला परिवार बन ही गया था। मैं था सिद्ध गदहपा—84 सिद्धों के जमाने में मैं यदि इसी तरह कुछ साल स्वच्छन्द विचरता, तो मुझे लोग उसी नाम से पुकारते। यदि ऊपर की तरफ पैदल जाना होता, तो दिमाग इस तरह स्वच्छन्द कल्पना न करता। मैं खाली हाथ था। एकाध जगह थोड़ी-सी चढ़ाई आती, नहीं तो बराबर उतराई ही उतराई थी। देवदारों में से मन्द-सुगन्ध बयार आती थी, और उन्हीं की छाया में चलना पड़ता था। हिमालय ने अपने सुन्दरतम दृश्य को सामने रखा था। मैं शायद कविता करने लगता, लेकिन बहुत साल पहिले ही मैंने हाथ-पैर मार के देख लिया था, कि कविता-सुन्दरी को मेरी सेवाएँ पसन्द नहीं हैं। एक समझदार आदमी की तरह मैंने फिर उस रास्ते में पैर बढ़ाने का ख्याल नहीं किया। लाछेन् से 3 मील नीचे उतरते-उतरते देवदार रास्ते पर से गायब हो गये थे। आगे बढ़ने के साथ-साथ गर्मी ज्यादा मालूम होती थी। पानी के झरनों का दुख इधर नहीं है, और न लकड़ियों का ही। 2 बजे के करीब हम एक झरने पर पहुँचे। दोनों ने मिलकर सामान गधों की पीठ पर से उतारा। गधे हरी घास चरने लगे। मैं सूखी लकड़ी जमा करके आग तैयार करने लगा। मेतोक् अलमोनियम के भगोने को लेकर झरने पर मलने और पानी भरने के लिए गई। हाँ, अब हम तिब्बत में नहीं थे। अब यहाँ जूठ-मीठ का विचार था, सफाई का ख्याल था। मेतोक् यद्यपि भोटिया बाप की बेटी थी, लेकिन उसका सारा 20 साल का जीवन लाछेन् में ही बीता था। नीचे जितनी सफाई तो क्या होती, लेकिन भोटिया ढंग अब नहीं था। लाछेन् के लोगों की आँखों पर कुछ तिब्बती छाप जरूर होती है, लेकिन वह ज्यादातर एल्मोवालों की तरह मालूम होते हैं—रंग ज्यादा साफ और चेहरा हल्का। खैर, चाय बनी। अभी मीठी चाय का देश थोड़ा और नीचे उतरकर आनेवाला था। हमने नमकीन चाय तैयार की, और प्याले में ही मक्खन डालकर उसे पिया। सत्तू भी छूट चुका था, उसकी जगह च्यूरा ने ले ली थी।

फिर हम लोगों ने गधों को लादा, और नीचे की ओर चले। गधे बड़े मेहनती जानवर हैं, और करीब-करीब उतना ही बोझ ले चलते हैं, जितना कि खच्चर; हाँ, उनकी चाल धीमी होती है। चढ़ाई होने पर वह जहाँ-तहाँ बैठ भी जाते हैं। लेकिन हमें तो नीचे की ओर जाना था। अभी घंटा-भर दिन था, जब हम चुङ्थङ् में पहुँचे। यहाँ डाकखाना भी है, और डाकबँगला भी। शिगर्चे के बाद मुझे अखबार नहीं मिला था और सभ्यता के भीतर

पैर रखते ही आदमी अखबार देखने के लिए बेकरार हो जाता है। मैं डाकखाने गया। पोस्टमास्टर बड़े सहृदय थे। मैंने चिट्ठियाँ लिखकर वहाँ डाल दीं। डाकबँगले के साथ कुछ कोठरियाँ थीं, उन्हीं में से एक में खाना बनाने का इंतिजाम हो गया। पोस्टमास्टर शाम को वहाँ स्वयं आये और पूछा—कोई तकलीफ तो नहीं है। मेतोक् ने भात और आलू का साग बनाया। तिब्बत की सीमा के नजदीक जाने पर चाहे नेपाल हो या सिकम या गंगोत्री—सभी जगह भात और आलू की तरकारी बहुत अच्छा भोजन समझा जाता है। वहाँ के लोग जिमूबू (जंगली प्याज) को मसाले के तौर पर इस्तेमाल करते हैं, और भोजन बहुत ही स्वादिष्ट मालूम होता है। रात को ज्यादा गर्म मालूम होता था। जान पड़ता था कि अप्रेल-मई की रात में बनारस में हैं, हालाँकि यह नवम्बर का महीना था। वस्तुतः यहाँ उतनी गर्मी नहीं थी, लेकिन मैं बहुत ठंडी जगह से आ रहा था, यदि नीचे से ऊपर की ओर गया होता, तो यहाँ काफी ठंडक मालूम होती।

अगले दिन (9 नवम्बर) साढ़े 5 बजे कुछ अँधेरा रहते ही हम चल पड़े। थोड़े ही नीचे झूलेवाला लोहे का पुल मिला, उसे पार करके हम सिकम-पेटरोल पुलिस की चौकी के सामने से गुजरे। यहाँ एक हवलदार और दो सिपाही रहते हैं। यदि मैं नीचे से आया होता, तो सिकम के अँगरेज अफसर के आज्ञापत्र के बिना यह मुझे ऊपर नहीं जाने देते। लाछेन् और लाछुङ् दोनों जोतों को पार कर तिब्बत के आने वाले रास्ते यहीं मिलते हैं और नीचे से आनेवालों को इसी पुल को पार करना पड़ता है। चौकी में फूल खूब अच्छे लगे हुए थे। अब भी पहाड़ नीचे से ऊपर तक जंगल से ढका हुआ था, लेकिन देवदार का पता नहीं था। इधर के वृक्षों पर भारी लताएँ लिपटी हुई थीं। इनके पत्ते केलों के पत्तों जैसे बड़े-बड़े थे, और भार इतना था कि कितने ही वृक्ष तो बोझ के मारे टेढ़े पड़ गये थे। मैंने पाली ग्रंथों में पढ़ा था कि मालुवा नाम की एक लता होती है, जो बरसात के पानी को इतना सोख लेती है, कि जिस वृक्ष पर वह चढ़ी रहती है, वह बोझ के मारे फट जाता है। ऐसी ही लता को देखकर मालुवा की कल्पना तो नहीं की गई। इधर लिपचा (सिकमी) लोगों की बस्तियाँ थीं। इनकी पोशाक तिब्बती लोगों से अलग, रंग भी ज्यादा पीला लिये हुए था। एक जगह मैंने चाय पी, फिर आगे चले। एक झूलेवाला पुल पार करके नदी की बाईं ओर चले आये। रास्ता अधिकतर चढ़ाई का था, लेकिन बड़े-बड़े वृक्षों और हरियाली के भीतर से था। एक डाकबँगले को छोड़ा। इधर बड़ी इलायची के बहुत-से बगीचे थे। किसी वक्त हिन्दुस्तान के लिए बड़ी इलायची नेपाल दिया करता था, लेकिन पिछली (1929-32 ई.) मन्दी में इलायची का दाम बहुत गिर गया। नेपाल ने इलायची की खेती से उपेक्षा की। आजकल के सिकम की आबादी में सबसे अधिक संख्या गोरखा लोगों की है, जो नेपाल से आकर यहाँ बस गये हैं। उन्होंने यहाँ भी इलायची की खेती तैयार कर दी। इलायची के पत्ते हल्दी या कचूर के पत्ते जैसे होते हैं, और फलियाँ जड़ के पास छोटे-छोटे धागों में लगती हैं। गधे बहुत धीमे-धीमे चल रहे थे, यह इसी से मालूम होगा, कि हम दो दिन में लाछेन से सिर्फ 22 मील आ सके थे। आज पुल पार करते वक्त 3 कोड़ी 7 (67) वर्ष की एक भोटिया भिक्षुणी आ मिली। वह भी बेचारी धीरे ही धीरे चल सकती थी, हमने भी सोचा कि 4 की जगह 5 अच्छे होते हैं, इसलिए अनी (भिक्षुणी) को भी साथ कर लिया। सुनूतम् ढाई मील रह गया था, तभी गधों ने हिम्मत हार दी। अभी साढ़े तीन ही बजे थे, लेकिन आज चढ़ाई काफी पड़ी थी, इसलिए यदि नोर्बू और छेरिङ् विश्राम लेना चाहते थे, तो अपराध नहीं करते थे। यहाँ हरियाली भी थी, चरने के लिए घास थी, पास में पानी का झरना था, सूखी लकड़ी ऐसे ही जंगल में पड़ी हुई थी, खाने-पीने का सामान हमारे पास मौजूद था। इसलिए रात को यहीं ठहरने का निश्चय किया गया। हाँ, उस वक्त हमें किसी ने बतलाया नहीं था, कि यहाँ चीते या तेंदुए हैं और नोर्बू तथा छेरिङ उनके लिए रसगुल्ले से भी ज्यादा मीठे हैं। यदि यह मालूम हुआ होता, तो हम जरूर नोर्बू और छेरिङ् को मनाकर अगले गाँव तक ले जाते। खैर, उनका भाग्य अच्छा था। हमने रात-भर ऐसे ही छोड़ दिया और कोई चीता-तेंदुआ उनके पास नहीं आया। अब चाय रसोई तैयार करने के लिए हम 3 आदमी थे। 3 कोड़ी 7 वर्षवाली—पूछने पर बुढ़िया ने यही कहा था—अनी अभी हाथ-पैर चला सकती थी। उसकी पीठ पर तो इतना सामान था कि उसे लेकर दो मील चलने ही में मैं थौस करके बैठ जाता। इस जगह आने से थोड़ा पहिले मीठी चाय और छङ् की दूकान मिली, हमने वहाँ मीठी चाय

पी, और पैसे की तीन-तीन नारंगियाँ खरीद ली थीं। अनी से दलाईलामा और भोट के दूसरे लामाओं के बारे में बात होती रहीं। वह शायद ल्होखा प्रदेश की थी, उधर भी कोई लड़का था, जिसे दलाईलामा का अवतार कहा जाने लगा था। अनी ने कहा—"मैं भी दर्शन करने गई थी। अभी छोटे-छोटे हाथ हैं, तीन बरस के तो रिनूपोछे (रत्न-महाराज, महागुरु) हैं ही। मेरे शिर पर अपना हाथ रखकर उन्होंने आशीर्वाद दिया।" जब तक दलाईलामा का अन्तिम स्वीकार नहीं हो जाता, तब तक न जाने कितने छोटे-छोटे हाथ इस तरह आशीर्वाद देते रहेंगे। रात को मेतोक् का दाँत दुखा, मैंने गरम पानी में नमक डालकर कुल्ली करने के लिए कहा।

अगले दिन (10) हम 5 बजे रवाना हुए। 4 मील का रास्ता साढ़े तीन घंटे में पूरा किया और मंगन पहुँच गए। मंगन बाजार सड़क की बगल में है। 9, 10 दूकानें हैं, जिनमें दो पान की हैं, जिसका अर्थ है, भारतीय सभ्यता यहाँ पूरे जोर-शोर के साथ पहुँच गई है। छाता (बलिया) के बाबू रमाशंकर की दूकान पर लसकरीपुर (एकमा) के छब्बूराम गुमाश्ता थे। छपरा की बोली बोलते ही पीले कपड़ों का भेद-भाव जाता रहा, अब वह बिना भात खिलाए यहाँ से कैसे जाने देते ? भात बनने लगा। मैं मेतोक् और अनी को खाना बनाकर खा लेने के लिए कह आया। साप्ताहिक 'विश्वमित्र' मिल गया। देश-विदेश की खबरें पढ़ीं। दोपहर के करीब, फिर पाँचों का काफला रवाना हुआ। हमें तो गर्मी सता रही थी, और छेरिङ्, नोरबू अशर्फी की चाल से चल रहे थे। एक बड़ा झूलेवाला पुल आया, उसे पारकर थोड़ा आगे जाने पर लाछेन् के खच्चरवाले मिले। एक नौजवान ने तंबाकू की 2, 3 सूखी पत्तियाँ और कागज से सिगरेट बना के मेतोक् को पीने के लिए दिया। इससे भी बड़ा काम उसने किया—उसने हमें सूचित कर दिया कि इस जंगल में चीते, तेंदुए (जिक्) लगते हैं, गदहों से खबरदार रहना। हम कुछ ही मील और आगे बढ़ सके, कि नोर्बू और छेरिङ् को आगे ले चलना मुश्किल होने लगा। आस-पास बहुत से सूखे वृक्ष गिरे पड़े थे, पानी भी पास में था, और सामने जंगली बाँस का ठट लगा था। जंगल तो इतना घना था, कि शाम से पहिले ही अँधेरे ने वहाँ बसेरा कर लिया था। मेतोक् को बुखार भी आ गया था। यहीं हमने गदहों की पीठ पर से सामान उतारा, मेतोक् कोई काम करने में असमर्थ थी। वह टाट बिछाकर लेट गई। अनी को मैंने भोजन बनाने के लिए कहा और स्वयं बाँस की पत्तियाँ तोड़ने लगा। हाथ कई जगह छिल गए, लेकिन अपने दोनों साथियों के खाने-भर के लिए मैंने पत्तियाँ तोड़ लीं। चीतों से भी बचने का इन्तिजाम करना था। मैंने दो जगह बड़े-बड़े लक्कड़ लगाकर खूब आग तैयार कर दी। आग के पास जंगली जानवर नहीं आते, यह मालूम था। हमने अपना सामान तो थोड़ा हट करके रखा, लेकिन नोर्बू और छेरिङ को दोनों आगों के बीच में बाँध दिया। अनी और मैंने कुछ खाना खाया, मेतोक् को 104 डिग्री से कम बुखार न रहा होगा। कल ही से मैंने देखा था कि वह चश्मे के ठंडे पानी को पीती रहती है। गर्मी लग रही हो, तो बर्फ जैसे ठंडे और अति मधुर जल को कौन नहीं पीना चाहेगा। मैंने मेतोक् को कई बार मना किया था, लेकिन उसने माना नहीं। उस रात को तो वह बुखार में बेसुध थी, लेकिन मुझे गदहों की फिक्र थी। अँधेरा हो गया, ऐसा अँधेरा कि दहकती आग और उसके हाथ-डेढ़ हाथ आस-पास को छोड़कर कुछ नहीं दिखाई पड़ता था। कितनी ही देर तक कीड़ों और पतंगों की झनकार सुनाई देती रही, फिर रात साँय-साँय करने लगी। 9 या 10 बज गए, जब "क्यू" "क्यू" की आवाज कान में आई। अनी ने कहा—"जिक्" (चीता या तेंदुआ)। अब नींद किसको आती, मेरा ख्याल कभी जिक् की आवाज की ओर जाता, और कभी नोर्बू-छेरिङ् की ओर, लकड़ी जैसे ही जल जाती, उसे ढकेलकर आग पर कर देता। मेरे हृदय में भय नहीं, बल्कि उत्साह ज्यादा था। आदमी खतरे के जीवन का जब दिल लगाकर सामना करता है, तो उसके दिल में एक तरह का उत्साह, एक तरह का आनन्द आता है। वह मात्रा में और भी बढ़ जाता है, जब उसको अकेले ही कई साथियों की रक्षा का भार अपने ऊपर लेना पड़ता है। रात को थोड़ी बूँदा-बाँदी हुई, खैरियत यही हुई कि ज्यादा पानी नहीं बरसा, नहीं तो आग को जलाए रखना मुश्किल होता।

11 नवंबर को चाय पीकर रवाना हुए। आसमान में बादल अब भी थे। मेतोक् को अब बुखार नहीं था, नोर्बू और छेरिङ् भी ताजे हो गए थे। सड़क अच्छी थी। चश्मे जगह-जगह बह रहे थे। चारों ओर से पक्षियों का कलरव सुनाई देता था। दो घंटा चलने के बाद हम दिक्छू पहुँच गए। यह 9, 10 दूकानों का अच्छा

बाजार है। दूकानदारों में कुछ मारवाड़ी और कुछ बिहारी भी थे। मीठी चाय की दूकान थी। गदहों को शङ्‌दम् तक के लिए लिया था, किन्तु दोपहर बाद मेतोक् को फिर बुखार आ गया। आगे कैसे चला जाय ? गर्मी भी बहुत बढ़ रही थी, और लाछेन जैसी ठंडी जगह के व्यक्ति को और गर्म जगह ले जाना अच्छा नहीं था। मैंने इधर-उधर पूछा, तो मालूम हुआ कि गनतोक् के बाबू तोब्‌दन् यहाँ आए हुए हैं। वह शिक्षित व्यक्ति थे। उनसे परिचय हुआ। उन्होंने कहा कि यहाँ से गनतोक् तक घोड़े का इंतिजाम हो जायगा, आप मेरे साथ चलें। लेकिन मेतोक् बीमार थी, उसे छोड़कर मैं कैसे जाता। मेतोक् का परिचित लाछेन् का एक आदमी आ गया। उसने कहा कि कल मैं सबेरे लौट आऊँगा, फिर मैं मेतोक् को ऊपर ले जाऊँगा। मेतोक् का बुखार भी सबेरे उतर गया था। अनी को खाने-पीने के लिए मैंने पैसा दे दिया। मेतोक् ने विश्वास दिलाया कि कोई चिन्ता नहीं, आदमी आता ही होगा।

गनतोक् यहाँ से 13 मील था। एक-एक रुपये पर दो कुली सामान ले जाने के लिए मिले और तीन रुपये पर सवारी का घोड़ा। सवा 10 बजे बाबू तोब्‌दन् के साथ मैं गनतोक् के लिए रवाना हुआ। पहिले साढ़े आठ मील की चढ़ाई थी—पेलुङ्ला जोत को पार किया। आध मील पर चाय की दूकानें थीं, चाय पी। फिर थोड़ा आगे जाने पर गनतोक् दिखाई देने लगा। दाहिनी ओर के पहाड़ पर सिकम की महारानी का महल था। पिछली (1934 ई.) तिब्बत-यात्रा में जब गनतोक् आया था, तो महाराज और महारानी अपने महल में ही मिले थे। दोनों ने कितनी ही देर तक तिब्बत में मेरे काम और बौद्धधर्म के बारे में बातचीत की थी। मैंने अपनी लिखी तिब्बती भाषा की पहिली पुस्तक भेंट की थी, जिसे महारानी उस वक्त अपने गुम्बा में उतरे एक लामा को दिखलाने गई थीं। उस साल भी मैंने महारानी को उनके भाई रकसाकुशो के महल में देखा था और देर तक बातचीत हुई थी। अब मालूम हुआ, कि महाराज और महारानी का सम्बन्ध-विच्छेद हो गया है और महारानी अब इस महल में रहती हैं। यह भी बतलाया गया कि महारानी को कोई लड़की है, जिसे महाराज स्वीकार नहीं करते; उनकी चलती, तो दूसरे हिन्दू महाराजाओं की तरह अपनी रानी के साथ पेश आते, लेकिन महारानी भोट-देश की स्त्री हैं, एक बड़े सामन्त की लड़की हैं, काफी अकल रखती हैं; वह अँगरेजी सरकार के राजनीतिक-विभाग तक पहुँच गईं और अब डटकर गनतोक् में रहती हैं।

मैं बाबू तोबूदन के घर पर ठहरा। डाकखाने में कुछ चिट्ठियाँ मिलीं, लेकिन कितनी ही चिट्ठियों को उन्होंने लौटा दिया था। हाईस्कूल के अध्यापक दो बिहारी मित्रों—श्री ब्रजनन्दन सिंह और संस्कृताध्यापक मिश्रजी से भेंट हुई। गेशे धर्मवर्धन दार्जिलिंग में थे, उन्होंने सिलीगोड़ी में आने के लिए तार दे दिया। 14 नवम्बर को 11 बजे की मोटर से रवाना हुए। 1 घंटा में शिङ्‌ताम् पहुँच गये। मेतोक् बीमार न हुई होती, तो गधों को लेकर यहाँ आना था। 7 बजे सिलीगोड़ी पहुँच गये। घंटे-भर बाद गेशे भी आ गये, और 9 बजे हम कलकत्ता मेल में बैठ गये।

(क) पटना और प्रयाग में—15 नवम्बर को 7 बजे सबेरे हम स्यालदा पहुँच गये। धावले, पं. बनारसीदास चतुर्वेदी और विगलानन्द स्टेशन पर मिले। हम वहाँ से महाबोधिसभा में गये। अबकी बार की खोजों का अखबारों में ज्यादा प्रचार हुआ था, वैसे तो पहिली तिब्बत-यात्रा से लौटने के बाद ही मेरे कार्य के महत्त्व को माना जाने लगा था। वक्तव्य के लिए अखबारवाले दौड़ने लगे। मैं अपनी खोजों के महत्त्व को समझता था, और यह भी समझता था कि लोगों को जब उसका पता लगेगा, तो जरूर मुझे बाजार में लाने की कोशिश की जायगी, लेकिन मैं अब उस अवस्था में था, जब कि मुझे उसकी प्यास नहीं रह गई थी। साथ ही मैं यह भी जानता था, कि जिन हृदयोद्‌गारों को मैं 'बाईसवीं सदी', और 'साम्यवाद ही क्यों ?' में प्रकट कर चुका हूँ, वह दिल अब भी मौजूद है। अभी मैंने बहुत जोर देकर अपने को गरीबों के लिए लड़ने के क्षेत्र से अलग रखा था, शायद ज्यादा दिनों तक मैं वैसा न कर सकता था। 1921-22 में जब असहयोग का खूब जोर था, तब भी मैं अपने मित्र नारायन बाबू से कहा करता था, कि आप (कांग्रेस) के राज्य में भी न जाने कितनी बार मुझे जेल जाना पड़ेगा। मैं भी भली-भाँति जानता था कि जो आज मेरे सम्मान के लिए होड़ लगा रहे हैं, मानपत्र पर मानपत्र दे रहे हैं, वही कार्यक्षेत्र में आने पर अपमानित करने में कुछ भी उठा न रखेंगे। मेरा यह मतलब

नहीं, कि मेरे प्रशंसकों में सभी ऐसे निकले, कुछ तो सिर्फ इतना ही अफसोस प्रकट करते रहे, कि मैंने अपने उसी काम को क्यों नहीं जारी रखा। शायद उनको मालूम नहीं था, अब तक जितने हस्तलिखित महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का फोटो या कापी करके मैं ला चुका, वह छापने पर 800 सौ फार्म से कम न होंगे। छपाई की बात तो अलग, अच्छी धुलाई न होने के कारण उस समय बहुत-से फोटो खराब हो रहे थे, लेकिन उनकी पर्वाह ऐसे ही लोगों को थी, जो विद्वान् और विद्याप्रेमी थे, किन्तु पैसा उनके पास नहीं था।

कलकत्ता में 5 दिन (15-19 नवम्बर) रहा। महामहोपाध्याय विधुशेखर शास्त्री, महामहोपाध्याय फणिभूषण, डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी आदि-आदि विद्वानों से विचार-विमर्श हुआ। हिन्दी साहित्यिकों ने स्वागत किया। क्षीरोद बाबू (क्षीरोदकुमार राय) मिले और अपने साथ एक दिन बेहाला ले गये। यह उनका आखिरी दर्शन था। एक सहृदय मित्र के नाते ही मुझे उनके वियोग पर अफसोस नहीं होता, बल्कि सबसे अधिक अफसोस इसलिए होता है, कि क्षीरोद बाबू की प्रतिभा को अपना जौहर दिखाने का मौका नहीं मिला। जब जायसवालजी ने उन्हें पटना म्युजियम के क्यूरेटर होने के लिए जोर दिया, तो झट बंगाली, बिहारी का सवाल उठ गया, यदि वह बिहारी होते, तो फिर कायथ-भूमिहार का सवाल उठ जाता। एक तो हम ऐसे ही गुलाम हैं, दूसरे हमारा महासड़ा समाज ऐसा है, कि यहाँ ताजी हवा में साँस लेने का अवसर ही नहीं मिल सकता। 20 नवम्बर को सबेरे ही मैं पटना पहुँच गया और 21 अप्रेल तक 5 महीने पटना में रहा। बीच में कुछ दिनों के लिए प्रयाग, बनारस, बलिया, छपरा गया था। इतने दिनों तक एक बार कभी पटना में नहीं रहा। जायसवालजी के साथ रहने का जैसे यह सबसे लम्बा समय था, वैसे ही आखिरी समय भी था। 22 नवम्बर को टोनहाल में काशीवासियों ने मानपत्र प्रदान किया। 24 नवम्बर को वहीं पर प्रोफेसर पुणताम्बेकर के सभापतित्व में मुझे तिब्बत-यात्रा पर व्याख्यान देना पड़ा। यात्रा के सिलसिले में खान-पान का जिक्र आना जरूरी था। मैंने वहाँ याक् का मांस खाया था। याक् और गाय एक ही जाति हैं। यात्रा के वर्णन में इसका भी जिक्र आ गया। खैर, श्रोताओं में किसी ने इस पर आपत्ति नहीं की। आपत्ति करने का सवाल क्या था, मैं तो आप बीती सुना रहा था, लेकिन पीछे कितने ही धर्मधुरन्धरों ने इसके विरुद्ध कलम उठाई। कुछ तो कहते थे—खाया सो खाया, लेकिन इसका यहाँ जिक्र क्यों करते हैं ? मुझे यह कोई ठीक तर्क नहीं जँचा। हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने व्याख्यान देना पड़ा, वहाँ भी किसी की निन्दा का ख्याल किये बिना मैंने अपने अनुभवों और विचारों को नवयुवकों के सामने रखा। 28-30 नवंबर को सारनाथ में बौद्धों का वार्षिकोत्सव था, मैं भी उसमें शामिल हुआ। हिन्दू विश्वविद्यालय में पंडित सुखलालजी और पंडित बालकृष्ण मिश्र से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, दोनों ही ने संस्कृत के दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया था, दोनों ही भली-भाँति अनुभव करते थे, कि संस्कृत का दर्शन ब्राह्मण हो या जैन, तब तक नहीं लग सकता, जब तक कि उसकी सबसे महत्त्वपूर्ण कड़ी बौद्धदर्शन को नहीं समझा जायगा। बौद्धदर्शन के अधिकांश ग्रन्थ बौद्धधर्म के साथ-साथ भारत से लुप्त हो गए और अब वह फिर से मिले हैं, यह उनके लिए बड़ी खुशी की बात थी। पंडित सुखलालजी तो दर्शन ही नहीं, दूसरे विषयों में भी बहुत उदारता रखते हैं।

पहिली दिसंबर को मैं पटना आ गया था। जायसवालजी इधर अब अपने बचे समय का अधिक से अधिक उपयोग ऐतिहासिक अनुसंधान में करना चाहते थे। उन्होंने बड़ी गंभीरता के साथ सलाह करनी शुरू की थी, कि चलकर बनारस में रहूँ, बिलकुल साधारण तौर से और सरल से सरल जीवन में। उन्होंने हिन्दू विश्वविद्यालय को भी लिखा था, लेकिन आदमी का मूल्य जीवन में समाज बहुत कम लगा पाता है।

15-17 दिसंबर को बलिया में जिला साहित्य-सम्मेलन का सभापति होकर मुझे जाना पड़ा। मैंने भाषा और साहित्य के बारे में अपने विचार प्रकट किए। संस्कृत-कालेज में मैंने तिब्बत में प्राप्त संस्कृत ग्रंथों के महत्त्व पर संस्कृत में व्याख्यान दिया। आनंदजी भी बोले और इन पुस्तकों के छपाने में आर्थिक कठिनाइयों का जिक्र किया। मुझे यह कुछ बुरा-सा लगा। मेरी उपस्थिति में ऐसा कहना चन्दा माँगने-जैसा मालूम पड़ रहा था। बलिया में मल्ली (भोजपुरी) भाषा के मौखिक साहित्य के संग्रह के लिए एक उपसमिति बनाई गई। मैंने 1932 में ही मातृभाषाओं के मौखिक साहित्य की रक्षा की ओर पाठकों का ध्यान दिलाया था, लेकिन अभी

उनके इस महत्त्व को नहीं समझ सका था, कि मातृभाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाना चाहिए।

20 दिसंबर को मैं पटना आया और तब से लगातार 4 महीने वहीं रहा। इसी बार 26 दिसंबर को ब्रह्मचारी विज्ञानमार्त्तण्ड पटना आए। जायसवालजी उनकी विद्वत्ता को देखकर कितने प्रभावित हुए और सहायता के लिए कितने तत्पर हुए थे, इसे मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ। इस साल के हिंदी साहित्य-सम्मेलन के सभापतित्व के लिए मेरा भी नाम रखा गया था। बिहार में तो मैंने अपने दोस्तों से कह दिया था कि मैं सम्मेलन के वक्त भारत में नहीं रहूँगा, इसलिए मेरे लिए सम्मति न दें, और उन्होंने सम्मति नहीं दी। लेकिन, दूसरे प्रान्तों ने मेरे नाम पर वोट दिया। यद्यपि श्री जमुनालाल बजाज गाँधीजी का वरदान लेकर सभापति होने के लिए खड़े थे, और उनके चेलों ने जी लड़ाकर कोशिश की थी, तो भी उन्हें मुश्किल से सफलता मिली। मुझे पता नहीं था, नहीं तो मैं अपने नाम को वापिस ले लिये होता। पटना में ज्यादा रहने का कारण मेरा टोन्सिल का फिर से उभड़ आने, फिर उसे आपरेशन करके निकलवा देने के कारण हुआ। 1934 से ही मैंने साल-साल के लिए यह बीमारी पाल ली थी। 11 जनवरी से 31 जनवरी तक तो पिछले सालों जैसी चिकित्सा होती रही, और बीच में कई दिन मैं अस्पताल में रहा। डाक्टर हसनैन की राय हुई कि इसको निकलवा देना चाहिए; लेकिन आपरेशन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि टोन्सिल़ की जगह नीरोग न हो जाये। नीरोग करने के लिए मुझे पटना में रहना पड़ा।

जनवरी (1937) के अन्त में एसेम्बली के चुनावों का परिणाम निकलने लगा। 3 फर्वरी को मालूम हुआ कि बिहार के एसेम्बली में कांग्रेस के 95 आदमी गए। यद्यपि पिछले 10 सालों से मैं सक्रिय राजनीति से अलग था, तो भी मेरी सहानुभूति कांग्रेस के साथ थी—1931 में कुछ दिनों के लिए मैंने जरूर कुछ सक्रिय भाग लिया था। जायसवालजी से भारतीय राजनीति और साम्यवाद पर अक्सर बात होती रहती थी। चुनाव के दिनों में भोजपुरी और मगही में बहुत-सी कविताएँ और गाने निकले थे, जिनमें किसानों को सम्हलकर अपने हित को देखते हुए वोट देने की बात कही गई थी। मैंने ऐसी बहुत-सी नोटिसों को इकट्ठा किया था। मैं जायसवालजी को उन्हें सुनाता रहता था। जायसवालजी के जन्म के समय उनके पिता बहुत गरीब थे। चाची की नादिरशाही के कारण उनकी माँ को कई साल उपेक्षित रह नैहर में दिन काटना पड़ा था। जायसवालजी का ननिहाल भी बहुत गरीब था। दूसरे लड़कों की देखादेखी वह भी मिठाई माँगते, तो उन्हें चने के सत्तू में गुड़ मिलाकर छोटी-छोटी गोलियाँ बना के लड्डू के नाम से दी जाती थीं। जायसवालजी जब पक्के साहबी ठाट से रहते थे, जब उनके यहाँ बैरा-खानसामा खाना बनाकर मेज को सजाते थे, तब भी उन्हें गुड़ मिला चने का सत्तू का लड्डू भूलता नहीं था, और वह उसे बड़ी रुचि से खाते थे। एक नई महत्त्वाकांक्षा, और उसी के लिए स्वीकार किया गया नया जीवन, बचपन के उस जीवन को भुलवा देना चाहता था, लेकिन जायसवालजी उसे भूलने को तैयार नहीं थे। उनका मिजाज कड़ा था। वह बड़े हठीले थे, यद्यपि मेरे सम्बन्ध में उनके मन का यह रूप कभी प्रकट नहीं हुआ। मैंने देखा था, उनका नेपाली रसोइया लछिमन खाना पकाने में कोई गलती कर बैठा। जायसवालजी बहुत गुस्से हुए, और उसे फटकारने लगे। सब लोग जानते थे कि आज लछिमन की साहेब खुशामद करेंगे। उन्होंने सिर्फ आँखों से आँसू-भर नहीं बहाया, नहीं तो उन्हें अपने आचरण पर बहुत दुःख हुआ। उन्होंने लछिमन को बुलाकर कहा—देखो लछिमन ! मैंने बहुत बुरा किया, तुम मुझे माफ कर दो। फिर उसे क्या क्या इनाम-उनाम दिया। जाड़े के दिनों में रात के वक्त वह चौबन्दी पहन लेते और जमीन पर आसन बिछा पलथी मारकर बैठ जाते, फिर उनकी कथा शुरू होती, जिसमें जुमई मेहतर से लेकर घर-भर के नौकर शामिल हो जाते। कभी भूतों की कथा शुरू होती थी। वह किसी वृक्ष पर एक बड़े भूत को बतलाते। नौकरों में किसी ने पहिले भी इस कथा को सुना होता और अँधेरे-धुँधेरे में कभी भय लगा होता, इसलिए उनमें से कोई अपनी आँखदेखी बात कहने लगता, फिर उस रात को कितनों को आँख खोलनी मुश्किल हो जाती। जुमई से एक दिन वह आसमान में एक सफेद दाढ़ीवाले पुरुष की बात बतला रहे थे। जुमई ने कहा—हाँ भइया ! मैंने देखा था, चाँदी जैसी सफेद, लम्बी-लम्बी दाढ़ी, फिर आग सा चमकता चेहरा··· ! जायसवाजी ने बड़ी गम्भीरता से कहा— बस-बस जुमई ! वही अल्ला मियाँ थे। भूतों के बारे में वह लड़कपन से ही बड़े निर्भीक थे। मिर्जापुर में उनके घर

के पास लोग जोग-टोन करके मिठाई, बकरा छोड़ आते। बालक काशीप्रसाद मिठाई हाथ में ले लेते और बकरे पर चढ़कर उसी रात को लड़कों की पलटन बटोरते और मिठाई बाँटकर खाते।

एसेम्बली के चुनाव का परिणाम निकला। हर जगह कांग्रेस ने सरकार को करारी हार दी थी। जायसवालजी और मैं राजनीतिक वार्तालाप में एक दूसरे के पूरक हुआ करते। उन्हें आक्सफोर्ड में पढ़ते वक्त साम्यवाद की हवा लगी थी। वह इतने खतरनाक समझे गये थे, कि विश्वास नहीं था, वह हिन्दुस्तान में रहने पायेंगे। लेकिन धीरे-धीरे वह आग राख के नीचे दब गई। कुछ विद्या-व्यसन और कुछ आराम के जीवन ने उन्हें ऐसा करने के लिए मजबूर किया। तो भी अपने को दबा रखना उनके लिए बड़ा मुश्किल था। 10 दिन तक गौरांग प्रभुओं के सामने वह नम्रता और शिष्टाचार दिखाते, फिर अनुचित कोई बात आती, तो उबल पड़ते। ऐसे आदमी पर भला अँगरेज प्रभु क्यों विश्वास करने लगे ? कांग्रेस के चुनाव और उस वक्त की सर्वप्रिय गीतों को देखकर उनको विश्वास हो चला कि अब वह शक्ति मैदान में आ रही हैं, जिसमें क्रांति करने की क्षमता है। उन्होंने 'मार्डर्न रिव्यू' और दूसरे पत्रों में उस वक्त कुछ लेख लिखे, जिसमें बतलाया कि अब पुरानी दुनिया नहीं रहेगी, शोषित-पीड़ित मूक श्रमिक जनता ने अँगड़ाई ली है। उन्होंने जमींदारी के खिलाफ लिखा था, इसलिए बिहार के बड़े-बड़े जमींदार बहुत रुष्ट हो गये। एक बड़े जमींदार-नेता ने उनको धमकी दी, कि हम लोग आपका बायकाट करेंगे और मुकदमा नहीं देंगे। जायसवालजी ने इसका बड़ा कड़ा जवाब दिया था। तरुणाई के बोये बीज अब फिर ऊपर उठते आ रहे थे।

डाक्टर श्चेर्‌वात्सकी के पास मैंने कुछ पुस्तकों के और विवरण भेजे थे। 8 फर्वरी को उनका पत्र मिला। उन्होंने मुझे रूस आने के लिए लिखा और यह भी कहा कि मैंने सोवियत सरकार से बीसा भेजने के लिए लिखा-पढ़ी की है। दो दिन बाद डाक्टर वोगीहारा (जापान) का पत्र आया, उन्होंने पुस्तकों की प्राप्ति पर बहुत सन्तोष प्रकट किया था और योगाचार-भूमि को सम्पादित करने के लिए उत्सुकता दिखलाई। फर्वरी में रात के 3-4 बजे तक जागते रहना मेरे लिए मामूली बात हो गई। इस समय 'प्रमाणवार्त्तिकवृत्ति' (कर्णकगोमी) और दूसरे ग्रन्थ प्रेस में थे। उनके प्रूफों को देखना पड़ता था। उधर 'ईरान' पर एक पुस्तक लिख रहा था। तिब्बत में प्राप्त पुस्तकों का एक सविवरण सूचीपत्र भी बना रहा था। पटना के विद्यार्थियों के सामने भी कभी-कभी लेक्चर देने के लिए जाना पड़ता था।

अब टोन्सिल ठीक हो गई थी। 20 मार्च को मैं अस्पताल चला गया। 22 को टोन्सिल काटकर निकाली गई। डाक्टर हसनैन एक सिद्धहस्त शल्य-चिकित्सक थे, यद्यपि टोन्सिल इतनी खराब हो गई थी, कि जहाँ से पकड़ते वहीं से फुस-फुस निकल आती, लेकिन उन्होंने बड़ी सफलता से आपरेशन किया। क्लोरोफार्म सूँघने पर मेरे मन की जो हालत हुई, उसने प्रत्यक्ष दिखला दिया, कि यह शरीर आत्मा से बिल्कुल शून्य है, यहाँ जीवात्मा जैसी कोई चीज नहीं। 1 बजकर 5 मिनट पर क्लोरोफार्म की टोपी मेरे मुँह पर रखी गई। मालूम हुआ, पेट के भीतर कोई चीज भर रही है। फिर कलेजा हिलने लगा, पहिले धीरे-धीरे वेग, तीव्र, तीव्रतर और तीव्रतम हो गया। जान पड़ा, अब वह शून्य हो रहा है। हाथ पहिले बेकाबू हो गये, कान कुछ देर तक जागता रहा, फिर कानों में आनेवाले शब्द विकृत होने लगे। अन्त में शिर में सिर्फ चेतना रह गई, और थोड़ी देर में वह भी बुझ गई। मुझे समझ में आ गया, कि शरीर भी एक बहुत ही सूक्ष्म यन्त्र-सा है। आपरेशन एक घंटे तक होता रहा, और ढाई बजे (क्लोरोफार्म देने से 1 घंटा 25 मिनट बाद) मुझे होश आया। 29 मार्च को मैं अस्पताल से चला आया।

10 अप्रेल को मैं और जायसवाल डाक्टर बीरबल साहनी का व्याख्यान सुनने साइंस-कालेज में गये। डाक्टर साहनी ने पुराकल्प के वनस्पतियों के बारे में जादू की लालटेन के साथ एक लेक्चर दिया। उसमें उन्होंने बतलाया कि कश्मीर-उपत्यका में पुराने पत्थर के हथियार मिले हैं, और हिमालय के पार भी। उस वक्त हिमालय इतना ऊँचा नहीं था, बहुत सम्भव है, पुराण पाषाणधारी मानव हिमालय के इस पार से उस पार जाता रहा हो। व्याख्यान समाप्त हुआ। जायसवालजी ने किसी पुराण का नाम लेकर कहा, यह बात वहाँ भी आई है। मैंने कहा—मनुष्य की भाषा उस समय शायद इतनी विकसित नहीं थी कि उसकी अपनी इन यात्राओं का वर्णन

अगली पीढ़ियों द्वारा हमारे पास पहुँचता। डाक्टर साहनी भी हमारे साथ जायसवालजी के घर भोजन करने के लिए जा रहे थे। उनसे पूछा गया, तो उन्होंने मेरी बात का समर्थन किया। जायसवालजी को कितने ही विद्वान जिद्दी कहते थे। लेकिन वह जिद्द वहीं करते थे, जहाँ बहुत विचार करने के बाद उनके निर्धारित मत को कोई हल्के दिल से उड़ा देना चाहता था। ब्राह्मी लेखों के पढ़ने, मूर्त्तियों की विशेष-कालिकता आदि कितनी ही बातों में न जाने कितनी बार मैंने अपना मतभेद प्रकट किया होगा। वह तुरन्त स्वीकार तो नहीं करते थे, लेकिन तुरन्त विचार करने लगते थे और जान जाने पर अपनी गलती को साफ प्रकट करते थे। उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, और विचार करते वक्त चित्त में एकाग्रता गजब की आ जाती थी। एक दिन वह चित्त की एकाग्रता की बड़ी तारीफ कर रहे थे। मैंने कहा–चित्त की एकाग्रता बड़ी अच्छी है–लेकिन बाज वक्त बड़े खतरे की चीज है; मान लीजिये आप किसी पुराने शिलालेख को पढ़ रहे हैं, वहाँ कोई अक्षर बिल्कुल मिट गया है। चित्त पर आप बहुत जोर देते हैं, और फिर मन में बना हुआ अक्षर वहाँ पत्थर पर दीखने लगता है। उन्होंने कहा–ठीक है।

पहिली यात्रा में तिब्बत से कनजुर और तनजुर खरीदकर लाया था, जो पटना में रखे थे। रंगून यूनीवर्सिटी ने अपने लिए एक कनजुर-तनजुर मँगा देने के लिए मेरे पास लिखा। मैंने लिखा के नरथङ के कनजुर-तनजुर यहाँ हैं, आप चाहें तो ले सकते हैं; लेकिन यदि सुपाठ्य कनजुर-तनजुर चाहते हैं, तो तेरगी से मँगवाने होंगे, लेकिन उसमें समय लगेगा। उनको जल्दी थी, उन्होंने हमारे ही कनजुर-तनजुर को मँगा लिया। मुझे अब पटना के लिए सुपाठ्य कनजुर-तनजुर की जरूरत थी। पिछली यात्रा में एक बहुत अच्छा कनजुर लाया था, मगर पैसा न होने के कारण उसे कलकत्ता भेज देना पड़ा। अब की मालूम हुआ, कि ल्हासा में नया कनजुर बना है। मैंने उसे भेजने के लिए लिख दिया। वह उसी साल आ गया। पीछे (1940) तेरगी का कनजुर भी पहुँच गया। अब तिब्बत से बाहर तिब्बती साहित्य का इतना अच्छा संग्रह और कहीं नहीं है, जितना कि बिहार रिसर्च सोसाइटी में रखा मेरा संग्रह।

डाक्टर श्चेर्वात्सकी मुझे सोवियत में बुलाने के लिए प्रयत्न कर रहे थे। यदि जुलाई से पहिले मुझे भारत छोड़ना रहता, तो यूरोप-यात्रा के वक्त लिया गया मेरा पासपोर्ट काफी था। किन्तु यह कोई ठीक नहीं था, कि तब तक सोवियत बीसा की खबर आ जाय, इसलिए जरूरी था, पासपोर्ट की मियाद 5 साल और बढ़वा दी जाय। मैंने 17 अप्रेल को बिहार-सरकार के पास इसके लिए दरख्वास्त दे दी। पीछे जायसवालजी ने भी सरकार के पूछने पर लिख दिया कि वह केवल अनुसन्धान कार्य के लिए जा रहे हैं। वोलशेविकों का रूस खतरनाक मुल्क है, 1940 में मैत्री के जमाने में भी पासपोर्ट देने का अधिकार भारत-सरकार ने अपने हाथ में रखा है, तो उस वक्त की तो बात ही क्या ? बिहार-सरकार ने मेरी दरख्वास्त भारत-सरकार के पास भेज दी। अपने प्रूफ के काम के लिए मैं 22 अप्रेल को प्रयाग गया। डाक्टर बद्रीनाथप्रसाद और पंडित उदयनारायण त्रिपाठी के घर, यही दोनों मेरे ठहरने के अड्डे थे। मैं डाक्टर बद्रीनाथ के यहाँ ठहरा था। 23 को पंडित मोहनलाल नेहरू ने मुझे एक व्याख्यान देने के लिए कहा। पंडित जवाहरलाल जी ने मिलने के लिए बुलाया। बड़े आदमियों से अलग रहना–मेरा कुछ स्वभाव-सा हो गया है। पिछले वर्ष की बात है, ब्रह्मचारी गोविन्द (जर्मन) आनन्दभवन में ठहरे थे। एक दिन मैं उनसे मिलने गया। मेरे साथ चित्रकार पंडित शम्भूनाथ मिश्र भी गये थे। उन्होंने श्री विजयलक्ष्मी पंडित से मिलना चाहा, और मुझसे पूछे बिना ही मेरा भी नाम लिखकर पुर्जी भेज दी। उन्होंने मिलने से इनकार कर दिया। मुझे मालूम हुआ, तो शम्भूनाथजी से नाराजी तो जाहिर की, साथ ही विजयलक्ष्मी जी के इस आचरण पर मुझे बहुत खेद हुआ। जवाहरलाल से मिलने का मुझे कोई काम नहीं था, इसलिए मैंने पत्रवाहक से जवाहरलालजी के यहाँ जाने में अपनी असमर्थता प्रकट की। मैंने उस दिन (23 अप्रेल) की डायरी में लिखा था–"शाम को पंडित जवाहरलालजी की ओर से श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने कल 10 बजे दिन का निमंत्रण भेजा। विजयलक्ष्मी जी का नाम सुनते अनिच्छा हो आई। पिछले वर्ष शम्भूनाथ मिश्र ने गलती से मेरा नाम अपने साथ रखकर भेंट के लिए पुर्जा भेजा। मैं तो ब्रह्मचारी गोविन्द से मिलने गया (था)। उसका इनकार में उत्तर पाकर मुझे अफसोस हुआ। आज वही भाव जाग्रत हो आये। मैंने कल आने की अस्वीकृति

ही नहीं दे दी, बल्कि जवाहरलालजी का ख्याल करके भी उधर जाने के प्रति विरोधी इच्छा हो रही है। नाम की निस्सारता मुझे खूब मालूम है। काल–अनन्त संवत्सरों का समूह–दो हजार वर्षों तक भी हमारे नाम को ढो नहीं सकता।"

अगले दिन शाम के वक्त पं. जवाहरलालजी का फिर पत्र आया कि (आपको) अवकाश न मिलने पर हम खुद आयेंगे। बीमारी से अभी वह हाल ही में उठे थे, इसलिए उनको कष्ट देना मैंने उचित नहीं समझा। दूसरे दिन मैं आनन्दभवन गया। अधिकतर तिब्बत-यात्रा के सम्बन्ध में बातें होती रहीं। उन्होंने पूछा–तिब्बत में कोई साइंस सम्बन्धी पुस्तकें भी मिली हैं ? मैं समझता हूँ कि आयुर्वेद और आयुर्वेदिक-रसायन भी आरम्भिक साइंस की चीजें हैं, इसलिए मैं उनका नाम ले रहा था; इसी समय कृपलानीजी टपक पड़े। उन्होंने समझा कि पीले कपड़ेवाला साधु अनापशनाप बक रहा है। उन्होंने मुझे समझाना चाहा कि साइंस किसे कहते हैं। मन तो आया, कि कोई उसी तरह का जवाब दूँ, किन्तु कृपलानी से यह पहिली ही बार साम्मुख्य हुआ था, इसलिए मैं चुप रहा।

(ख) लाहुल में दूसरी बार–अभी सोवियत के बीसा का पता नहीं लगा। गर्मी आ गई थी। गर्मी में इधर कई वर्षों से मैं अपने काम के सिलसिले में ठंडे मुल्कों में चला जाया करता था, इसलिए सोचा अबकी लाहुल क्यों न चले चलें। ठाकुर मंगलचन्द और कलाकार रोइरिक के निमंत्रण भी आ गये थे। रूस के बारे में जब तक कोई निश्चय नहीं हो जाता, तब तक मैं दूर जाना पसन्द नहीं करता था। मैं और आनंदजी लाहुल के लिए चल पड़े। दिल्ली होते लाहौर पहुँचे। लाहौर में 7 मई को लाजपतराय-हाल में 'तिब्बत में तीन बार' पर एक व्याख्यान देना पड़ा। यहाँ एक सज्जन आगा मुहम्मदअली शाह से मुलाकात हुई। उन्होंने कहा, मेरे पास कुछ बहुत पुरानी भोजपत्र पर लिखी बौद्धपुस्तकें हैं, आप उन्हें देखिये। अगले दिन मैं उनके घर पर गया। उनके पास दो भोजपत्र और कागज पर तीन पुस्तकें और कुछ मिट्टी की मुद्राएँ थीं–25 इंच लम्बे 5 इंच चौड़े दो सौ पत्रे (भोजपत्र) महावस्तु के थे, लिपि शारदा थी। यह 'महावस्तु' (विनय) की खंडित पुस्तक थी, बाकी दो पुस्तकें भी 7वीं सदी के आसपास की थीं। उन्होंने बतलाया कि यह चीजें उन्हें किसी पेशावरी से मिलीं। वह आदमी इन्हें लाल काफिरों के प्रदेश (चितराल और अफगानिस्तान के बीच) से लाया था। उस जगह पत्थर की बड़ी बुद्धमूर्त्ति (ध्यानावस्थित) है। खोदने पर वहाँ से एक मिट्टी का कुसूल (कोठिला) निकला। उसी में तीनों पुस्तकें और कुछ मिट्टी की मूर्त्तियाँ मिलीं। गुणाढ्य, अश्वघोष आदि कितने ही बड़े-बड़े विचारकों के ग्रंथ आज हमें प्राप्य नहीं हैं। उनमें से बहुत-से सदा के लिए लुप्त हो गये होंगे, लेकिन गिलगित, काफिरिस्तान, गोबी मरुभूमि, और तिब्बत के भंडारों तथा स्तूपों में हमारे साहित्य के न जाने कितने अनमोल रत्न अभी भी छिपे पड़े हैं। आगा मुहम्मदअली कुछ सौ रुपयों में पुस्तकें देने के लिए तैंयार थे, मैंने दो-चार जगह चिट्ठी भी लिख दी, लेकिन मालूम नहीं किसी ने उन पुस्तकों को लिया या नहीं।

लाहौर से हम दोनों अमृतसर-पठानकोट होते जोगिंदर नगर पहुँचे, फिर मण्डी की लारी मिली। रास्ते में पहाड़ की घूमघुमौआ चढ़ाई में आनन्दजी तथा दो-एक सहयात्रियों को कै हुई। इस रात को हमें मंडी में रहना पड़ा। अगले दिन कुल्लू (अखाड़ा बाजार) पहुँच गये। ठाकुर मंगलचंद वहाँ मौजूद थे। मैंने रूस की यात्रा के लिए जहाँ-तहाँ से 700 रुपये जमा किये थे। 600 रुपये मैंने यहीं कुल्लू के सेविंग बैंक में जमा कर दिये। 12 मई को आनन्दजी और मैं नगर गये। कटराई तक लॉरी से जाकर नदी पार हुए। दो मील की चढ़ाई के बाद नगर मिला। यहाँ शाङ्री के राजा का महल है, जो अब डाकबँगले के रूप में परिणत हो गया है। गर्मियों में असिस्टेन्ट कमिश्नर यहीं रहते हैं–मिस्टर शटलबर्थ ने न जाने कितनी गर्मियाँ यहाँ बिताई होंगी। कुछ दूर और ऊपर चढ़कर हम उरुस्वती पहुँचे। प्रोफेसर रोइरिक और उनके दोनों पुत्र जार्ज, और स्वेतस्लाव मिले। जार्ज भोटभाषा के अच्छे पंडित हैं, और उनके छोटे भाई अच्छे चित्रकार। यहाँ पुस्तकों का भी अच्छा संग्रह है। रहने का आग्रह था, किन्तु अभी तो हमें लाहुल जाना था, इसलिए दो दिन रहकर हम कुल्लू चले आए।

नारायण (जायसवाल-पुत्र) के पत्र से मालूम हुआ, कि जायसवालजी को फोड़ा हो गया है और उसका

आपरेशन हुआ है। 21 अप्रेल को जब मैं पटना से चला, तो उस वक्त जायसवालजी के गर्दन पर जरा-सी फुंसी हुई थी, और उस पर वह पानी की पट्टी बाँध रहे थे। मुझे यह ख्याल नहीं हो सकता था, कि उसी फुंसी ने इस फोड़े का रूप धारण किया है। पत्र में कोई भय की बात नहीं थी। हम लोग 17 तक कुल्लू ही में रहे। शाम को नदी पार हो ऊपर की ओर कुछ दूर तक हम दोनों टहलने जाया करते थे। उस वक्त बगूगोशे (चेरी) के फल पके हुए थे। एक दिन हम एक बाग में गये, वहाँ से कुछ फल खरीदकर खाना चाहते थे, किन्तु बाग के मालिक ब्राह्मण ने अपने घर में ले जा ताजे बगूगोशे तोड़कर खिलाये। बड़े संकोच के साथ हम दाम देने लगे, लेकिन वहाँ लेने के लिए कौन तैयार था ?

18 मई को ठाकुर मंगलचंद के साथ हम उनके बँगले हरिपुर में गये। मनाली यहाँ से डेढ़ मील रह जाता है। जमीन बहुत है। लेकिन उन्होंने थोड़े ही हिस्सो में बाग लगाया है। मकान पुराना है, लेकिन ठाकुर साहब ने उसमें थोड़ा परिवर्तन करके कुछ नये ढंग का बना लिया है। चारों तरफ बड़ा सुन्दर प्राकृतिक दृश्य है। मालूम हुआ, पास के गाँव में कोई पुराना मन्दिर है। शाम को हम उधर गये। पहाड़ की जड़ में कार्त्तिकेय की मूर्त्ति है। कई पुरानी मूर्त्तियाँ हैं, लेकिन कला की दृष्टि से अच्छी नहीं। गुप्तकाल में भी ऐसा थोड़ा ही रहा होगा, कि देश में सभी जगह सभी कलापूर्ण मूर्त्तियाँ ही बनती हों। यहाँ के देवता के अपने खेत हैं, जिससे काफी आमदनी होती है।देवता एक बूढ़े आदमी के सिर पर आता है—उसे ओझा कह लीजिए, किन्तु यहाँ गुर कहा जाता है। गुर भूत-भविष्य सब जानता है। मैंने कहा—अच्छी बात है, हम भी गुर से कुछ पूछते हैं। बूढ़ा गुर बैठ गया। थोड़ी देर में देवता भी आ गया। मैंने पूछा—कि रटङ्जोत कब खुला, देवता लोग कब आये ? उसने जवाब दिया—सतयुग में। और क्या-क्या बातें पूछीं, जिनमें एक यह भी थी, कि व्यास का पानी जो नीचे की ओर जा रहा है, ऊपर रटङ्जोत की तरफ कब जायगा ? उसने इसका भी कुछ जवाब दिया था।

अगले दिन (19 मई) हम दोपहर बाद लाहुल की ओर रवाना हुए। मनाली (मनुवाली ; मनु ऋषि का स्थान) में तीन घंटा ठहरना पड़ा। थोड़ी बूँदा-बाँदी होती रही, एक जगह खेत बोया जा रहा था। उस दिन र्वाड़ गाँव में रहे। यह गाँव कनेत (=खश) लोगों के हैं। इनकी मुखमुद्रा में मंगोल-छाप नहीं है। कोई-कोई तो लुंगनास होते हैं। यह जगह 8 हजार फीट ऊँची होगी। जिस घर में हम ठहरे थे, उसका मालिक तीन मास पहिले पहाड़ में लकड़ी काटते वक्त गिरकर मर गया। 20 मई को साढ़े 7 बजे ही रवाना हुए। 2 मील आगे डाकबँगला है। फिर राला का मुंशीखाना और सराय मिली। यहीं से चढ़ाई शुरू हुई। सीधी चढ़ाई थी। 1933 में तो हम ऊपर से नीचे की ओर आये थे, इसलिए कुछ मालूम नहीं हुआ था, पर आज की थकावट के बारे में कुछ मत पूछिये। सवा दो घंटे की चढ़ाई के बाद हम पगडंडी से सड़क पर पहुँच गये। यहीं भोजन हुआ। आगे बर्फ थी। 1 मील जाने पर चढ़ाई आसान हो गई। किन्तु पतली हवा के कारण थकाक्ट बहुत बढ़ी। इधर कई महीनों से बैठे-बैठे जो प्रूफ देखता रहा, उसके कारण शरीर तुरन्त परिश्रम करने लायक नहीं था। आनन्दजी अच्छी तरह चलते थे, और मैं पिछड़ने लगा। खड़ी उतराई में मैंने कहीं-कहीं फिसलकर पचास-पचास साठ-साठ फीट की दूरी तै की। 6 मील तक लगातार बर्फ रही। फिर कम होने लगी। खूब अँधेरा होने पर पौने नौ बजे रात को मैं खोकसर (10 हजार 512 फीट) पहुँचा। सारा बदन चूर-चूर था, रात को खूब नींद आई। सीसू (10 हजार 1 सौ फीट), और गूँदला (10 हजार 314 फीट) में एक-एक रात रहते 23 मई को हम केलङ् (10 हजार 383 फीट) पहुँच गये। 25 तारीख तक यहीं रहे। फिर 26 को ठाकुर मंगलचंद के घर पर कोलङ् पहुँच गये। ठाकुर साहब का पुराना और पास के गाँव का अब कहीं पता नहीं है। कुछ साल पहिले 18 मील ऊपर से आनेवाला नाला प्रलय का वाहन बन गया, एक भारी हिम-राशि फट गई, और बड़े-बड़े पत्थरों और लाखों मन मिट्टी ढकेले आगे बढ़ने लगी। खैरियत यही हुई कि यह सब दिन में हुआ, और चंद घंटे पहिले ही इस प्रलय के हहास को सुन के गाँववालों को खबर लग गई, और वह जान लेकर भाग गए। मकान उसी मिट्टी के नीचे दब गये।

मैं 25 मई से 6 जून तक कोलङ् में रहा। पाँचवें दिन (29 मई) की चिट्ठी से मालूम हुआ कि जायसवालजी

की हालत सुधर नहीं रही है। 31 के पत्र से पता लगा कि वैसे अच्छे हैं, किन्तु जब तक बुखार नहीं छोड़ता, तब तक खतरे से खाली नहीं। 2 जून को हम लोग दार्चे की ओर गए। जसपा का बँगला देवदारों के वन में हैं। यहाँ एक बहुत जागता देवता है, जिसके डर के मारे लोग सूखे वृक्षों को भी काटने की हिम्मत नहीं करते। जिस देवदार के नीचे देवता का थान है, वह हजार साल का पुराना होगा। वहाँ से और आगे चलकर हम उस जगह पहुँचे, जहाँ 4 सौ वर्ष पहिले एक बड़ा गाँव था, और जैसा कि मैंने पहिली यात्रा में लिखा है, एक बूढ़े के अपमान के कारण बगल के पहाड़ के लाखों पत्थर टूटे और गाँव बरबाद हो गया। हमने जाकर वहाँ कुछ पत्थर हटाये, और उनके नीचे भोजपत्र पर तिब्बती अक्षर में लिखे कुछ मंत्र पाये। आगे बड़े-बड़े पत्थर थे, जिनको हाथ से हटा नहीं सकते। यह तो पता लग गया, कि यहाँ कोई गाँव जरूर था। यदि कभी हमारे देश में पुरातत्व का ज्यादा शौक हुआ तो यहाँ की खुदाई में बहुत-सी चीजें मिलेंगी।

5 जून को हम लोग खङ्सर गये। ठाकुर मंगलचंद का पैतृक घर यहीं हैं, जिसमें कि उनके बड़े भाई के लड़के ठाकुर प्रतापसिंह और पृथ्वीचंद रहते हैं। उस युग में इन पहाड़ों में दस-दस पाँच-पाच गाँवों के राजा हुआ करते थे। यहाँ भी वर्तमान ठाकुरों के पूर्वज राजा रहते थे। मकान पुराने ढंग का है, उसकी चारों ओर किला था, दूर तक देखने के लिए एक मीनार अब भी खड़ा है। मकान के भीतर एक मंदिर है, जिसमें दो-एक पीतल की भारतीय मूर्त्तियाँ हैं। कितनी ही हस्तलिखित पोथियाँ भी हैं, किन्तु घर के मालिक और पुजारी न थे, इसलिए हम देख नहीं सके।

6 जून को दिल घबड़ा देनेवाली धूपनाथ की चिट्ठी आई। उन्होंने लिखा था, "शायद अब साहेब की अमृतबानी सुनने को न मिलेगी। जीवनशक्ति धीरे-धीरे नष्ट होती जा रही हैं। मैं तो निराश होकर आज घर लौटा जा रहा हूँ। शायद एक-दो दिन के बाद अशुभ सूचना आपको मिल जाय, तो कोई आश्चर्य नहीं।" धूपनाथ ने 13 दिन पहिले की अवस्था देखकर वह पंक्तियाँ लिखी थीं, जल्दी करने पर भी मैं 12 दिन से पहिले पटना नहीं पहुँच सकता था, तो भी चित्त चलने को आकुल हो गया–शायद अंतिम दर्शन हो जाय। पटना छोड़ते वक्त ऐसी कोई बात नहीं थी। अशुभ की कल्पना से ही चित्त शून्य-सा मालूम होता था। दूसरे ही दिन (7 जून) मैंने ठाकुर मंगलचंद और आनंदजी से बिदाई ली। केलङ् से तार भेज दिया। 8 जून को हम घोड़े पर जा रहे थे–ठाकुर मंगलचंद भी साथ थे। रास्ते में बूँदें पड़ने लगीं। हमारे निकलते-निकलते पहाड़ से कितने ही पत्थर आ गिरे। संयोग था जो हम आगे निकल गये थे। मैदान से भी अधिक खतरा इन पहाड़ों में है–मानवजाति खतरों में ही पलकर तो बड़ी हुई है। गूँदला से मैं अकेला था। साढ़े तीन बजे खोकसर पहुँचा। अगले दिन (10 जून) खोकसर ही में रहना पड़ा। रात-भर और दिन के 9 बजे तक वर्षा होती रही। यहाँ वर्षा होने का मतलब था, रटङ्जोत पर बर्फ का पड़ना। जब तक रास्ते के बारे में ठीक पता न लग जाय, तब तक आगे बढ़ना अच्छा नहीं था।

(ग) नगर में (11-25 जून)–अगले दिन सवा पाँच बजे रवाना हुए। चढ़ाई में बर्फ 1 मील से भी कम रह गई थी। सवा दो घंटे में जोत पर पहुँच गये। आँगन में बर्फ काफी थी। 3 बजे तक मनाली पहुँच गये। नारायण की चिट्ठी मिली–घाव भर रहा है, लेकिन बुखार अब भी है। उरुस्वती की मोटर पहुँची हुई थी। आधे घंटे में कटराई पहुँच गये और 5 बजे उरुस्वती। दो हफ्ते रोइरिक-परिवार के साथ रहने का मौका मिला। क्रान्ति के पहिले रोइरिक-परिवार रूस का एक धनी जमींदार परिवार था। क्रान्ति के कारण दूसरे जमींदारों और पूँजीपतियों की तरह इनकी भी जायदाद जब्त हो गई और कलाकार रोइरिक रूस से बाहर निकल गये। आजकल उनका परिवार अमेरिकन प्रजा है। आज भी उनके पास लाखों की सम्पत्ति है। मैं समझता था सफेद-रूसियों की भाँति यह लोग भी सोवियत-विरोधी होंगे, लेकिन मेरी धारणा गलत निकली। सोवियत-रूस से उनको उतना ही प्रेम है। उस वक्त कुछ रूसी उड़ाकों ने उत्तरी ध्रुव के रास्ते अमेरिका की यात्रा की थी। सारी दुनिया ने उनकी यात्रा का स्वागत किया था। रोइरिक-परिवार के आनन्द की कोई सीमा नहीं थी। वृद्धा रोइरिक तो और भी मृदुस्वभाव की हैं, वह अधिकतर योगध्यान में रहती हैं। योगध्यान के प्रति मेरी तो कोई श्रद्धा नहीं है, किन्तु मैं उनके मधुर बर्ताव से अवश्य प्रभावित हुआ। प्रोफेसर रोइरिक डाक्टर श्चेरवात्सकी के

घनिष्ट मित्र थे। लेनिनग्राद् में बौद्ध-विहार स्थापित करने में दोनों ने बड़ा काम किया था। उन्हें मालूम हो गया था कि मैं रूस जानेवाला हूँ, इसलिए उनकी पुरानी स्मृतियाँ ताजा हो गईं।

यहाँ रहते हुए मैं जार्ज से रूसी पढ़ता, वह इन्दो-यूरोपीय भाषातत्त्व के पंडित हैं, इसलिए उनके साथ रूसी पढ़ने में बड़ा आनन्द आता था। जार्ज ने एक बड़ा तिब्बती-कोष तैयार किया था। मेरे अपने भोट-संस्कृतकोष में कितने ही नये शब्द थे, इसलिए हम दोनों कोषों को मिलाते जाते थे, और वह अधिक शब्दों को नोट कर लेते थे। मैं लाइब्रेरीवाले घर के कोठे पर रहता था, जो कि परिवार के बँगले से कुछ सौ गज ऊपर था। इसकी चारों तरफ बड़े-बड़े देवदारों का घना जंगल था। दुतल्ला मकान भी देवदार की लकड़ी का ही बना था, जिधर देखें, उधर देवदार की सुई जैसी हरी-हरी पत्तियाँ दिखलाई पड़तीं और साँस में हर वक्त देवदार की सुगन्धि आती थी। मैं देवदार की भूमि में नहीं पैदा हुआ, लेकिन न जाने क्यों वह मुझे इतना प्रिय मालूम होता है। मैं उसे प्राकृतिक सौन्दर्य का मानदंड समझता हूँ। यहाँ मैं देवदार-वन का एक अंग बन गया था। दोपहर को खाने तथा बाद में रूसी-पाठ, कोष-मिलान और चाय-पान के लिए नीचे जाता था, बाकी 20 घंटे यहाँ, इस कोठे पर। पुस्तकालय में फ्रेंच और इंगलिश की बहुत-सी पुस्तकें और अनुसन्धान-पत्रिकाएँ थीं। वहाँ पढ़ने में बड़ा आनन्द आता था। चारों तरफ के जंगल में चीते आते रहते थे। यद्यपि इस ऋतु में वह नीचे की ओर नहीं दिखाई पड़ते थे। पहिले चीता मारने का इनाम मिलता था, अब वह बंद हो गया था, जिससे चीतों की संख्या बढ़ गई थी। बागों में फल खाने के लिए रात को रीछ भी आते थे।

(घ) जायसवाल की मृत्यु–25 जून को डाक्टर श्चेर्वात्स्की के दो पत्र आए, जिनमें लिखा था कि वीसा की कोई बात नहीं, आने का समय लिखने पर प्रबन्ध हो जायगा। उसी दिन चेतसिंह का तार मिला–"Condition unchanged your presence required" (अवस्था नहीं बदली, आपका रहना जरूरी है।)

अगले दिन 26 (जून) साढ़े 4 बजे सबेरे मैं नगर से रवाना हुआ। पुल पार हो मोटर पकड़ी। साढ़े 5 बजे कुल्लू पहुँचा, वहाँ से लारी मिली। 4 बजे जोगिन्दर नगर पहुँचा और लाहौर होते 29 जून को सबेरे 5 बजे पटना पहुँच गया। 30 जुलाई तक यहीं रहना पड़ा। इस समय होमियापेथी की दवा हो रही थी, किन्तु साथ ही इनूसोलिन और ग्लूकोस भी दी जाती थी। पहिले की अवस्था को तो मैंने देखा नहीं था, बतला रहे थे कि सारा शरीर और मुँह फूल गया था। घाव अब भी बहुत बड़ा था, सूजन हट गई थी। घाव थोड़ा भरा था और ज्वर 100 डिग्री था। लेकिन अब मुझे जायसवालजी को स्वस्थ-मस्तिष्क रूप में देखने का मौका नहीं मिल रहा था। उनकी मानसिक वृत्तियाँ विश्रृंखलित थीं। बीच-बीच में समरणशक्ति बिखर जाती थी। पासपोर्ट 5 वर्ष के लिए फिर से नया होकर चला आया था। अगले दिन (30 जून) इनूसोलिन् का इंजेक्शन बड़ी मुश्किल से दिया जा सका। घाव में पीव ज्यादा थी। दिमाग अर्धप्रमत्त अवस्था में था। बोलते अधिक थे। निर्बलता बढ़ गई थी।

7 जुलाई को समाचार मिला, कि कांग्रेस ने मंत्रिपद स्वीकार कर लिया। जायसवालजी ने कई बार इसके बारे में पूछा और खबर सुनकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। 8 जुलाई को लदाख से पत्र आया, कि गर्मियों में यारकंद (चीनी तुर्किस्तान) का काफला जायगा। अगले दिन (9 जुलाई) ब्योदोसान (जापान) का पत्र आया, उन्होंने जापान आने के लिए निमंत्रण दिया था। अब रूस, यारकन्द, जापान और तिब्बत चार जगहें थीं, जहाँ मैं जा सकता था। लेकिन अभी तो जायसवालजी की बीमारी को देखना था। उसमें कोई सुधार नहीं हुआ। उन्होंने उस दिन न घाव धुलवाया न इंजेक्शन लिया। दिन-भर यही धुन रही, कि मुझे कांग्रेस के जुलूस में ले चलो। खादी का अचकन और पाजामा पहिना, और जबर्दस्ती अपनी चारपाई को उठवाकर बरसाती में ले गये। दिन-भर वहीं पड़े रहे। एक ओर कमजोरी बढ़ती जा रही थी, दूसरी ओर वह बोलते बहुत थे। वह मस्तिष्क जो गम्भीरता और सूक्ष्मता में लासानी था, अब 5 बरस के बच्चों की तरह का हो गया था। दवा लेने से भी इनकार करते थे, घाव भी नहीं धुलवाना चाहते थे। मैंने उनके जीवन पर एक दृष्टि डालते हुए 12 जुलाई को लिखा था–"जायसवाल विद्या में, लिखने-बोलने में प्रवीण रहे। वह राजनीति से अलग रहे। इतना होते हुए भी वह हाईकोर्ट-जज या किसी दूसरे पद पर क्यों नहीं गये ? किसी समय वह अधिकारियों को भले ही प्रसन्न करना

चाहते हों, किन्तु खुशामद उनके स्वभाव में नहीं थी ? स्वाभिमान की मात्रा बहुत अधिक है। गर्म मिजाज हैं। अच्छी प्रेक्टिस होने पर भी रुपया नहीं जमा कर पाये, क्योंकि मितव्ययिता जानते ही नहीं। घर पर, घर के सामान पर, लड़कों पर, यार-दोस्तों पर आँख मूँदकर खर्च करते रहे।"

इन्हीं दिनों में कालेज के विद्यार्थी अली अशरफ से भेंट हुई। पीछे तो वर्षों हमें जेल में साथ रहना पड़ा। बाहर साथ-साथ काम करना पड़ता था। अशरफ ने 'साम्यवाद ही क्यों ?' का उर्दू में अनुवाद करना शुरू किया था।

पंडित रामावतार शर्मा का दर्शन विद्यार्थी-अवस्था में बनारस में हुआ था। उसके बाद भी दो-एक बार भेंट हुई थी। जब मैं बिहार में राजनीतिक काम करने लगा, उस वक्त तो कई बार मुलाकात होती। वह कितनी ही बार मुझे राजनीति छोड़ अनुसन्धान-क्षेत्र में आने के लिए कहते थे। अनुसन्धान-क्षेत्र में आया और फिर पटना में भी जाड़ों में रहने लगा; लेकिन जब मैं तिब्बत में पहिली बार गया था, उसी वक्त (3 अप्रेल 1929) उनका देहान्त हो गया–उनका जन्म 1877 ई. में हुआ था। वह जब जीवित थे, तब मैंने उनके 'संस्कृतकोष' को जहाँ-तहाँ सुना था। 21 जुलाई को मैं उनके घर पर गया। कोष को देखा, 301 पृष्ठ में प्रायः 6 हजार श्लोकों में अकारादि-क्रम से उन्होंने इस कोष को बद्ध किया है। श्लोक में आये शब्दों का विस्तार उन्होंने कई जिल्दों में लिखा था। मुखबन्ध के श्लोक हैं–

श्रीदेवनारायणशर्मणः श्रीगोविन्ददेव्याश्च महामहिम्नोः,
प्रणम्य पित्रोश्चरणाम्बुजाते आचार्य गंगाधरशास्त्रिणश्च।
रामेण सारंगभवीद् भवेन काश्यां यदारम्भिमहाभिधानम्,
समापतिं तत् किल विश्वविद्यासर्वस्वमेतत् कुसुमाख्यपुर्याम्।।

पंडित रामावतार शर्मा में अप्रतिम प्रतिभा थी, लेकिन उनका मन कभी स्थिर होकर एक काम में नहीं लग सकता था; नहीं तो न जाने उन्होंने कितने ग्रंथ रचे होते। यही एक ग्रंथ है, जिसके श्लोक-भाग को उन्होंने समाप्त किया था, लेकिन वह अब भी अप्रकाशित है।

25 जुलाई को मालूम हुआ कि जायसवालजी की पीठ पर दो जगह और फोड़े हो गए हैं। अभी तो एक फोड़े ने ही प्राणों को संकट में डाल दिया था, अब क्या आशा हो सकती थी ?

काश्यपजी का तार आया था, इसलिए 30 जुलाई को मैं सारनाथ गया। इस वक्त सारनाथ में एक हाईस्कूल की बातचीत हो रही थी। बनारस संस्कृतकालेज के पाठ्यविधान में भी परिवर्तन करने की जरूरत थी। युक्तप्रान्त में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल सँभाल लिया था। मुझे प्रयाग होते हुए लखनऊ जाना पड़ा। वहाँ शिक्षामंत्री पंडित प्यारेलाल से बातचीत हुई। उनसे दोनों संस्थाओं के बारे में बातें कीं। प्रान्त के कितने ही परिचित उस समय लखनऊ में थे, लेकिन मुझे तो पटना जाने की फिक्र पड़ी थी। 4 अगस्त को साढ़े 5 बजे शाम की गाड़ी से मैं रवाना हुआ, और अगले दिन (5 अगस्त) को पौने 5 बजे सबेरे पटना उतरा। पटना जंक्शन से जायसवालजी का घर बिल्कुल नजदीक है। कुली के साथ वहाँ पहुँचा। कुली ने बरसाती के बाहर बाँस की अर्थी पड़ी देखकर कहा "यहाँ तो अर्थी है।" देखते ही दिल सन्न हो गया। आखिर वह अत्याहित होकर ही रहा। मालूम हुआ, कल (4 अगस्त) सवा 6 बजे शाम को जायसवालजी ने प्रयाण कर दिया। 3 जहरबादों ने जीवन को समाप्त कर दिया। बतला रहे थे, स्मृति अन्त तक कायम रही। लेकिन वह स्मृति वही रही होगी, जिसे मैं देखकर गया था। मैंने अपने हृदयोद्गारों को 5 अगस्त की डायरी में लिखा था–"हा मित्र ! हा बंधु ! हा गुरो ! अब तुम मना करनेवाले नहीं हो, इसलिए हमें ऐसा-वैसा कहने से कौन रोक सकता है। हो सकता है तुम कहते–हमने भी तो आपसे सीखा है, किन्तु तुम नहीं जानते (कि) मैंने कितना तुमसे सीखा है। इतनी जल्दी प्रयाण ! अभी तो अवसर आया था, अभी तो तुम्हारी सेवाओं की इस अभागे देश को बहुत जरूरत थी। आह ! सभी आशाएँ खाक में (मिल गईं) !! जायसवाल ! ओः ऐसा !! दुनिया के लिए (कुछ) करना ही होगा, तुम्हारे बहुत-से स्नेहभाजन थे, मैं भी उनमें एक था। समय दूसरों के दिल से वियोग के दुःख को क्षीण भले ही करता जायगा, किन्तु स्मृति उसे दिन पर दिन ताजी करती जायगी, तुम्हारा वह सांगोपांग भारत का इतिहास तैयार करने और साम्यवाद

के लिए मैदान में कूदने का ख्याल !! हा ! वंचित श्रमिक वर्ग !! सहृदय मानव ! निर्भीक अप्रतिम मनीषी ! दुनिया ने तुम्हारी कदर न की !!"

साढ़े 8 बजे श्मशान-यात्रा आरंभ हुई, मैंने भी अर्थी में कंधा लगाया। राजेन्द्र बाबू, कांग्रेस-मंत्री डाक्टर महमूद और अनुग्रह बाबू, हाईकोर्ट के जज और कितने ही मंत्री श्मशान तक गए। गंगा के किनारे चिता चिनी गई, और साढ़े 11 बजे तक शरीर जलकर राख हो गया, राख गंगा में बहा दी गई, अब मेरा हृदय खाली था।

2, 3 दिन तक मैं जायसवालजी की चिट्ठियों में से कितने ही महत्त्वपूर्ण पत्रों को छाँटने में लगा था। मैं उनकी एक जीवनी लिखना चाहता था, लेकिन उस वक्त वह काम नहीं हो सकता था।

3 सितम्बर तक पटना ही में रहा। 16 अगस्त को डाक्टर श्चेर्बात्स्की का पत्र आया। उसमें लिखा था कि तेहरान में मेरा वीसा तैयार है। अब रूस जाना निश्चित था। कुल्लू से सेविंग बैंक का रुपया मँगवाया। 30 अगस्त को यह भी मालूम हुआ, कि बिहार सरकार ने तिब्बत जाने के लिए 6 हजार रुपया मंजूर किया है। लेकिन अभी तो पहिले रूस हो आना जरूरी था। पटना में रहते हुए मैंने 'गांधीवाद और साम्यवाद', 'दिमागी गुलामी', 'जमींदारी प्रथा' आदि कई लेख लिखे।

बनारस होते हुए 4 सितम्बर को प्रयाग पहुँचा। यहाँ कालेज के छात्रों ने व्याख्यान देने के लिए जोर दिया। पहिला व्याख्यान 6 सितम्बर को विश्वविद्यालय के छात्रों के सामने पंडित जवाहरलाल के सभापतित्व में 'हमारी कमजोरियों' पर हुआ। दो और व्याख्यान हुए।

मेरे पास अभी सात-आठ सौ ही रुपये थे, प्रयाग में कुछ और रुपयों का इंतिजाम हुआ, जिसमें 100 रुपए पंडित जवाहरलाल जी ने दिये। उनसे रुपया लेना मुझे ठीक नहीं जँचता था, लेकिन इनकार भी नहीं कर सकता था। 11 बजे दिल्ली पहुँचा। पास के रुपयों को देकर टामस कूक से 60 पौंड के ट्रेवलर्स-चेक लिये। मुझे ईरान के रास्ते जाना था, और ईरान-कौंसल उस समय शिमला में था। मैं उसी रात शिमला के लिए रवाना हो गया। 12 सितंबर को शिमला पहुँचा। रायबहादुर काशीनाथ दीक्षित और मिस्टर एन्. सी. मेहता के यहाँ ठहरा। विपिन बाबू एसेम्बली की बैठक के लिए शिमला आये हुए थे, उन्होंने भी कोशिश की और 14 सितम्बर को ईरान का वीसा मिल गया। दूसरे दिन मैं दिल्ली पहुँचा। अभी तक मेरे पास सिर्फ 60 पौंड थे, जो पहलवी पहुँचकर 40 पौंड ही रह जाते। इसके बारे में मैंने अपने विचार को लिखा था—"अच्छा, अँधेरे में कूदने की तो अपनी आदत ही है।" प्रयाग से कुछ और रुपया आ गया और मैंने 40 पौंड के और चैक ले लिये। अब मेरे पास सौ पौंड और एक सौ अस्सी रुपये थे।

17 तारीख को मैंने दिल्ली से प्रस्थान किया। 19 सितम्बर को ट्रेन साढ़े 1 बजे क्वेटा पहुँची। होटल की तजवीज ही कर रहा था, कि उसी समय दो आर्यसमाजी सज्जन आ गये। उन्हें पंडित इन्द्र ने दिल्ली से लिख दिया था। आर्यसमाज में गया। भूकम्प से उजड़ा क्वेटा बस रहा था। दूकानें बहुत-सी बन गई थीं, किन्तु शहर अभी आबाद नहीं हुआ था। यहाँ आसपास बाग बहुत हैं, पानी मीठा और बहुत अच्छा है। ईरानी ढंग की जमींदोज नहरें भी निकाली गई हैं।

उस वक्त क्वेटा से नोक्कुण्डी को हफ्ते में सिर्फ एक ट्रेन जाती थी और सो भी सोमवार को।

20 सितम्बर को हमारी ट्रेन साढ़े 11 बजे दिन को रवाना हुई। साढ़े 11 रुपये में नोककुण्डी का ड्योढ़े का टिकट मिला। हमारे डिब्बे में सरदार रामसिंह, एक दूसरे सज्जन भी ईरान की सैर के लिए जा रहे थे। यह गाड़ी सिर्फ मुसाफिरों ही के लिए नहीं थी, बल्कि रास्ते में रेलवे नौकरों को वह रसद, तनख्वाह और पानी भी देती चलती थी। हर लांडी (कुलियों की बैरक) में उसे ठहरना पड़ता था। दालबन्दी से पहिलेवाला स्टेशन एक सौ मील से ऊपर है और दालबन्दी से अगला नोककुण्डी का स्टेशन भी 100 मील से ऊपर है। गाड़ी भी धीरे-धीरे चलती है। 21 तारीख को ढाई बजे दिन को हम नोककुण्डी पहुँचे। पासपोर्ट देखा गया। पचीस रुपये देकर पचीस तुमान भुनाये। कुछ चीजें खरीदीं। 6 रुपया जाहिदान का किराया देकर लारी पर बैठे। दो बजे रात को एक खाली लांडी में सो गये। सबेरे 7 बजे फिर रवाना हुए। अँगरेजी सीमान्त-चौकी, किला-सफेद

3 मील रह गया, तो पेट्रोल खतम हो गया, लारी वहीं खड़ी हो गई। टहलते हुए चौकी पर पहुँचे। पासपोर्ट दर्ज किया गया।

22
ईरान में दूसरी बार

किला-सफेद से मीरजावा बहुत दूर नहीं है। सभी लॉरियाँ वहाँ जाकर खड़ी हो गईं। गुमरग (कस्टम्) के सामने अब चीजों की देखभाल शुरू हुई। मेरी पुस्तकों का ट्रंक पहिले खुला। किताबों को देखते ही अफसर के ऊपर प्रभाव पड़ा। पूछने पर मैंने बतलाया कि मैं लेखक और अध्यापक हूँ। फिर मेरे सामान को उसने मामूली तौर से देखा, पासपोर्ट को भी जल्दी लौटा दिया। एक हिन्दुस्तानी मुसल्मान तीर्थ-यात्रा के लिए गये थे। उनके सामान में सेरों रोटी, मांस और दूसरी खाने की चीजें थीं। बेचारों ने सुन रखा था, कि ईरान में हराम-हलाल का कोई भेद नहीं है, इसलिए खाने की इतनी चीजें लेकर चले थे, जिसमें उन्हीं को खाकर देश को पार कर जायँ। अफसर ने मुस्कुराते हुए कहा—आगा ! तो फिर मिट्टी और पानी भी क्यों साथ नहीं लाये। तीर्थयात्रियों की चीजों के देखने में उसने बहुत पूछ-ताछ की। ईरानी अफसर जानते हैं कि हिन्दुस्तानी तीर्थयात्री अपने देश में जाकर हमारी निन्दा ही निन्दा करेंगे, इसलिए वह उनके साथ कोई मुरव्वत नहीं दिखाना चाहते थे। मीरजावा में अब एक भोजनालय भी खुल गया था। मालकिन ईरानी महिला बिल्कुल यूरोपियन पोशाक में थी। दो साल पहिले मैं जिन काली चदरों को देखा गया था, अब स्त्रियों ने उन्हें उतार फेंका था। 5 रियाल (प्रायः आठ आना) देकर भोजन किया। 3 बजे शाम को रवाना हुए। सड़क पहिले से अच्छी और काफी चौड़ी थी। 10 बजे रात को हम जाहिदान के गुमरग् में पहुँचे। सिपाही ने खामखाह तंग करना शुरू किया। वह बक्स हमें साथ नहीं ले जाने देना चाहता था। सरदार रामसिंह ने 5 रियाल उसके हाथ में थमाया, और हमें छुट्टी मिल गई। रेस्तोराँ में भोजन किया, और सरदार रामसिंह के दोस्त सरदार मानसिंह के यहाँ ठहरे।

पिछले दो सालों में जाहिदान में बहुत परिवर्तन हो गया था। कसबे के भीतर की रेल की पटरियाँ उखाड़ दी गई थीं। कितने ही नये मकान बन गये थे। सड़कें चौड़ी कर दी गई थीं। एक अच्छा रेस्तोराँ था, जिसमें खिलाड़ियों के लिए दो विलियर्ड की मेजें रखी थीं। औरतें पूरी यूरोपियन पोशाक में थीं, और सड़कों पर स्वच्छन्द घूम रही थीं। मदरसा का नाम अब दबीरस्तान हो गया था, क्योंकि मदरसा अरबी शब्द था। ईरानी अपनी भाषा का शब्द रखना चाहते हैं। नज्मियाँ (कोतवाली) भी शहरबानी बन गई थी। सरदार रणवीरसिंह यहीं मिल गये, माल के लिए तेहरान से यहाँ आए हुए थे। पता लगा कि चाहेबहार का एक नया बन्दर होने जा रहा है, और सेमनान का मिट्टी का तेल अमेरिकन लोग पाइप के द्वारा इसी बन्दर पर ले जाना चाहते हैं।

अगले दिन (24 सितम्बर) 16 तुमान देकर हम मशहद की बस पर बैठे। रामसिंह दूसरे रास्ते से जानेवाले थे, लेकिन हमारी बस पर लखनऊ के हादीहुसेन और उनका परिवार चल रहा था। 4 बजे शाम को बस रवाना हुई। रास्ते में एकाध जगह खाने-पीने के लिए थोड़ी देर ठहरे, नहीं तो लगातार दौड़ते ही रहे। भला ऐसी आफत में छोटे बच्चों की तन्दुरुस्ती कैसे ठीक रह सकती थी। हादीहुसेन की दूध पीनेवाली बच्ची बहुत बीमार हो गई। अगले दिन (25 सितम्बर) के एक बजे हम विरजन्द में पहुँचे। बच्ची की बीमारी बहुत बढ़ गई थी। ड्राइवर भलामानुस था, नहीं तो कौन वहाँ बस लेकर ठहरता ? मैं ब्रिटिश वाइस-कौंसल के पास गया। वह पेशावरी पठान और डाक्टर भी थे। उन्होंने आकर देखा और दवाई दी। उस दिन हम वहीं रह गये।

अगले दिन (26 सितम्बर) 7 बजे रवाना हुए। रास्ते में एक जगह दो टायर उड़ गये, मोटर रुक गई। कोई दूसरा टायर नहीं था। अंत में पीछे की चार पहियों में से दो के टायरों को हटा लिया गया, और उन्हीं

को आगे लगाकर हम किसी तरह खिदरी गाँव में पहुँचे। आज यहीं रहना था। सरदे बहुत मीठे मिल रहे थे, और मुर्ग का मांस भी बहुत सस्ता था।

27 सितम्बर को सबेरे साढ़े 6 बजे बस फिर रवाना हुई। दो पहियों के लिए टायर नहीं मिल सके, इसलिए चार ही पहिये पर बस चलाई गई। बोझ हल्का करने के लिए तीन सवारियाँ उतार दी गईं और आगे कोई सवारी नहीं ली गई। मेहना एक अच्छा-सा गाँव है, बस वहाँ थोड़ी देर के लिए ठहरी। पास में दबीरस्तान (पाठशाला) थी, जहाँ सौ के करीब लड़के-लड़कियाँ पढ़ती थीं। हम जरा देर के लिए वहाँ ठहरे। हादीहुसेन की 10 बरस की लड़की बुरका पहने वहाँ आके खड़ी हो गई। थोड़ी देर में सारे लड़के और लड़कियाँ जमा हो गये। पहिले वह बुरके की ओर देखते रहे, फिर उन्होंने दोनों हाथों से बुरके की ओर इशारा करके चिढ़ाना शुरू किया। बेचारी शाहजादी भाग आई। मैंने हादीहुसेन से कहा–भैया ! लड़कियों का यह बुरका लखनऊ में ही छोड़ आते, कम से कम यहाँ तो इसे हटवाओ, नहीं तो बेचारी कहीं घूम-फिर नहीं सकेगी।

उसी दिन 8 बजे रात को हम मशहद पहुँच गये। गुमरग् में चीजें उलटी-पुलटी गईं। यहीं तेहरान जानेवाली बस खड़ी थी। मैंने आठ तुमान किराया भरा और सामान को उस पर रखवा लिया। 11 बजे रात को बस खाने के लिए एक जगह जरा-सी ठहरी, नहीं तो सारी रात चलती रही। अगर पीठ के लिए ओठँगनी होती, तो उतना कष्ट नहीं होता। शब्जवार, शाहरूद होते दम्गान में रात को ठहरना पड़ा। आज रात-भर सोने का मौका मिला।

अगले दिन (29 सितम्बर) रास्ता ऊँचा-नीचा था। सेमनान् आया। दो बरस में उसकी कायापलट हो गई। यहाँ मिट्टी का तेल निकलता है, अमेरिकन कम्पनी का कारबार है, अमेरिकन ढंग के आलीशान मकान बन रहे हैं, सड़कें बहुत अच्छी बन गई हैं, बिजली की रोशनी लग गई है।

शहर से दो-तीन मील आगे बढ़ने पर मोटर का दाहिनी ओर का अगला पहिया गड़ारी की तरह लुढ़कता हुआ सन्न से निकल गया। खैरियत यही हुई कि यह घटना पहाड़ी पर नहीं हुई, नहीं तो मुसाफिरों में से बहुत कम की जान बचती। 3 बजे दिन को हमने रेलवे लाइन पार की। यह रेल तेहरान से बन्दरशाह (कास्पियन) जाती है। आगे फीरोजकुह मिला। इसकी भी कायापलट हो गई है–बाजार नया है, सड़कें चौड़ी हैं। साढ़े 6 बजे मोटर खराब हो गई, और एक बजे रात तक उसकी मरम्मत होती रही।

तेहरान में (30 सितम्बर–8 नवम्बर)–अगले दिन पह फटते-फटते हम तेहरान में दाखिल हुए। मेरे पास ईरानी सिक्का नहीं रह गया था। ढाई तुमान किराये का बाकी रहता था, मैं अपना बिस्तरा छोड़ गया, और पीछे चेक भुनाकर पैसा देकर उसे ले गया। सरदार रणवीरसिंह ने अपने आदमी को चिट्ठी लिखी थी; उन्होंने 'मुसाफिरखाना-वतन' में 6 रियाल रोजाना पर एक कमरा दिलवा दिया। जगह अच्छी थी, होटल के मालिक 5, 6 बरस पहिले बाकू से भाग आये थे। सारा परिवार बूढ़े को कोस रहा था। वह बाकू में अच्छी तरह थे, किंतु बूढ़े को शराब और अफीम का उतना सुभीता नहीं था। उस वक्त प्रथम पंचवार्षिक योजना के कारण सारे देश को थोड़ी तकलीफ हो रही थी। बूढ़ा पत्नी और पाँच बच्चों–जिनमें एक पिंगलकेशी लड़की भी थी–को लेकर ईरान भाग आया। यद्यपि यह लोग तुर्क हैं, लेकिन सफेद खून इतना अधिक है, कि देखने में रूसी मालूम होते थे, और तुर्की की भाँति ही वह रूसी भी बोलते थे। मैं रूस जानेवाला था, इसलिए मेरे आराम का वह लोग और ज्यादा ख्याल करते थे। अब सोवियत वीसा की खोज-खबर लेनी थी। मैंने समझा था, वीसा वहाँ तैयार होगा. लेकिन करीब एक महीने की दौड़-धूप और तार खटखटाने के बाद 6 नवम्बर को वीसा आने की खबर मुझे मिली। कागज उलटने-पुलटने में पता लगा, कि जून महीने में ही मुझे वीसा दे देने का तार आया था। इसी तार को देखकर मेरे पासपोर्ट पर वीसा दर्ज भी कर दिया गया। मैं जब वीसा लेने गया, तो देखा, कि वीसा लिखकर कटा हुआ है। सेक्रेटरी ने बतलाया, पीछे के तार में हमें हुकुम दिया गया है कि, बिना मास्को से आज्ञा मँगाये किसी को वीसा मत दो, इसीलिए इसे काटना पड़ा। फिर तार और लिखा-पढ़ी शुरू हुई। अन्त में 6 नवम्बर को कौंसल-जनरल ने खबर दी, कि वीसा आ गया। मैं बहुत परेशान था। मैं सिर्फ अपनी ही तरद्दुद को देखता था, मुझे क्या मालूम था कि सोवियत-सरकार कितनी तरद्दुद के भीतर

से पार हो रही है। साम्यवादी सरकार को उलट देने, लाल क्रान्ति को खतम कर देने के लिए त्रोत्स्की ने जर्मनी और जापान की फासिस्ट-सरकारों के साथ मिलकर षड्यन्त्र किया था, सोवियत के भीतर के कुछ देशद्रोही सेनापतियों और राजनीतिज्ञों ने उसका साथ दिया था। षड्यन्त्र का भंडा-फोड़ हो गया था, और सोवियत-सरकार क्रान्ति के इन दुश्मनों को चुनने में लगी हुई थी। इस वक्त बाहर से आनेवालों के लिए वह उतनी सहूलियत नहीं दे सकती थी। अगले दिन लाल-क्रान्ति का बीसवाँ वार्षिकोत्सव सोवियत-दूतावास में मनाया जानेवाला था। मेरे पास भी निमंत्रण आया था। मैं शाम को दूतावास में गया। कौंसल के सेक्रेटरी ने सोवियत-दूत से परिचय कराया। एक जगह एक लम्बी मेज़ पर बहुत रंग के खाने चुने हुए थे। उत्सव के उपलक्ष्य में नृत्य होनेवाला था। नृत्य के खाने को कुर्सी पर बैठकर नहीं, खड़े ही खड़े खाना होता है, मुझे यह शिष्टाचार कहाँ मालूम था। सेक्रेटरी के साथ खड़े होकर मैंने चार-पाँच नवाले खाये। कितने ही तरुण और सुन्दरियाँ नाचने के लिए तैयार थीं। सेक्रेटरी ने मुझे भी किसी सुन्दरी के साथ नाचने के लिए कहा, लेकिन मैंने जिन्दगी में कब नाचना सीखा था कि अखाड़े में उतरता। मैंने किसी तरह कह-सुन के पिंड छुड़ाया। थोड़ी देर तक बैठकर नाच देखता रहा। 8 जोड़ियाँ अखाड़े में उतरी थीं, और बाजे के ऊपर थिरक रही थीं। उनमें हमारे परिचित सेक्रेटरी भी थे। सभी यूरोपीय दूतावासों से नर-नारी आकर नाच में भाग ले रहे थे। कुछ देर बाद मैं वहाँ से उठकर चला आया। बाहर आने पर मालूम हुआ, कि किसी दूसरे का हैट (टोप) मुझे दे दिया गया है। लौटकर गया, तो बहुत ढूँढ़ने पर भी आदमी मेरे हैट को नहीं पा सका। मुझे जो हैट मिला था, वह मेरे सिर से बड़ा था। 9 नवम्बर को मुझे वीसा मिल गया। इनतूरिस्त ने लेनिनग्राद तक का जहाज और रेलवे का टिकट भी दे दिया।

मैं तेहरान में सवा महीने से ज्यादा रह गया था। बेकारी का समय काटना बहुत मुश्किल होता है, मैं कभी होटल के मालिक दोनों बड़े लड़कों से बात करता, कभी शहर में घंटों घूमा करता। तेहरान में 20 से ऊपर सिनेमाघर हैं, जिनमें जर्मन, फ्रैंच, अमेरिकन, मिश्री और रूसी फिल्म दिखलाये जाते थे। प्रायः मैं रोज ही किसी न किसी फिल्म में चला जाता था। रूसी फिल्म मुझे बहुत पसन्द आते थे। एक दिन 'वोल्गा के मजदूर' फिल्म देखने को मिला। यह सभी दृष्टि से अच्छा था। वोल्गा नदी, पास के पर्वत और जंगल के विस्तृत प्राकृतिक दृश्य बड़े सुन्दर तौर से दिखलाये गये थे। मछुवों के भोजनालय और उनके नाच को बहुत ही स्वाभाविक रूप में चित्रित किया गया था। यह क्रान्ति के पहिले के समाज का चित्रण था। जेनर और जारशाही अफसर अपनी भड़कीली वरदियों में हैकड़ी दिखा रहे थे, दूसरी ओर मजूरों का कठोर जीवन था। ईरानी वीसा की मियाद बीत रही थी, इसलिए मियाद बढ़वाने के लिए मुझे कई दिन भटकना पड़ा। अफसर दूसरों की तकलीफ का जरा भी ख्याल नहीं करते थे। किसी को 13 रियाल देने हैं, वह दस और पाँच के दो नोट दे रहा है। अफसर कहता है–"जाओ, भुनाकर लाओ।" कोई अपने दो-तीन दोस्तों के पासपोर्टों का वीसा कराने लाया। हुकुम हुआ–"जाओ, उनके हाथ से पासपोर्ट भिजवाओ।" कोई देश से बाहर जाने की आज्ञा (जावाज-खरुज) माँग रहा है। हुकुम होता है–"जाओ, दो दिन बाद आना।" मुझे एक मास की मियाद बढ़वानी थी, हुकुम हुआ–"जाओ, अर्जी लिखवाकर लाओ।"

हमारे ही होटल में मक्खड़ (केम्बलपुर) के एक सौदागर हाफिज साहब ठहरे हुए थे। हम लोगों की खूब दोस्ती हो गई। मैं तो बाहर रेस्तोराँ में जाकर खाना खा आता था, लेकिन हाफिज साहेब अक्सर मांस का तेवन अपने ही स्टोव पर बना लिया करते थे। हाफिज साहेब ने बहुत आग्रह करके मुझे भी शामिल करना शुरू किया। 5 नवम्बर को रमजान का पहिला दिन था। सारे होटल में हाफिज ही अकेले थे, जिन्होंने रोजा रखा था। कुछ लोग बैठे बात कर रहे थे। एक ने कहा–"भाई, रमजान आ गया है।" दूसरे ने जवाब दिया–"किरमानशाह जा रहे हो, उधर ही छोड़ आना।" हमारे होटल की मालकिन कह रही थीं–"अजी मरद रोजा रखें तो रखें, क्योंकि उन्हें 70 हूरें (अप्सराएँ) मिलेंगी, लेकिन औरतें क्यों रखें ? क्या 69 सौतों के पाने के लिए !" एक सज्जन कह रहे थे–"खुदा को चाहिए था, तीस रोजों को 12 महीनों में बाँट देता और दिन की बजाय रात को रोजा रखने के लिए कहता।" मैंने कहा–"भाई ! बूढ़ा उस वक्त कब्र के पास पहुँच गया

था, उसकी अक्ल मारी गई थी।" 10 ही साल पहिले रमजान के दिनों में सारे भोजनालय बन्द हो जाते थे ! दिन में यदि किसी के घर धुआँ निकलता दिखाई देता, तो सिपाही उसे पकड़ ले जाते और पीटते ! लेकिन आज सारे रेस्तोराँ खुले थे। पहिले ही जैसी चहल-पहल थी। बेचारे हाफिज की मुश्किल थी। बारी-बारी करके सब उनके पास पूछने आए—"हाफिज ! शुमा रोजा दारी। (हाफिज ! तुम रोजा धारे हो) ?" शाम को हाफिज ने मुझसे कहा—"भाई ! मैं कल से रोजा नहीं रखूँगा।"

लेकिन अगले दिन मालकिन का दूसरा लड़का पहुँचा। उसने हाफिज साहब से कहा—"हाफिज ! आज बड़े तड़के एक सफ़ेद दाढ़ीवाला पुरुष हमारे होटल में आया था, उसके चेहरे से नूर बरस रहा था, उसके कंधों पर दो बड़े-बड़े पंख थे। वह रोजे का हिसाब रखनेवाला फरिश्ता था। उसने पहिले कमरे के दरवाजे पर दस्तक दी। दरवाजा खोलने पर पूछा—तुम रोजा धारे हो। जवाब नहीं में मिला। दूसरे दरवाजे को भी खटखटाया, वहाँ भी जवाब नहीं में मिला। 7, 8 दरवाजों के खटखटाने के बाद वह अपना रजिस्टर बगल में दाबे लौट गया। "हाफिज ! तुम्हारा तो रोजा दर्ज ही नहीं हुआ, क्या खाक 70 हूरें तुम्हें मिलेंगी ? रोजा रखना था तो पहिले कमरे में ठहरना चाहिए था !"

इधर-उधर घूमते-घामते एक दिन फारसी के प्रोफेसर आगा हुमाई से परिचय हो गया। अफसोस, यह परिचय पहले होता, तो और भी दिन अच्छी तरह कटते। वह असफहान के रहनेवाले थे, और कई पीढ़ियों से उनके घर में विद्वान् मौलवी होते आए थे। हुमाई अंग्रेजी या फ्रांसीसी नहीं जानते थे, इसलिए मुझे फारसी ही में सब कुछ कहना पड़ता था। 18 तारीख को साढ़े चार बजे शाम से सवा 9 बजे रात तक हम साथ रहे। इस वक्त वह अलबेरुनी की पुस्तक 'तफ़्हीम्' का सम्पादन कर रहे थे। कभी फारसी भाषा, कभी ईरान के इतिहास और कभी हिन्दी-ईरानी जातियों के सम्बन्ध में बात होती रही। 20 अक्तूबर को भी 5 बजे तक मजलिस जमी रही। उन्होंने बतलाया कि असफहान के किसी पुल के पत्थर पर ब्राह्मी अक्षर खुदे हुए हैं। एक दिन कह रहे थे—हम लोगों ने तो मजहब को उठाकर ताक पर रख दिया, हिन्दुस्तान की हालत क्या है ? मैंने कहा—"आगा ! बेचारा मजहब सारी दुनिया से निकाला जा रहा है, उसके लिए भी तो कहीं शरण मिलनी चाहिए।" वह 'दानिशकदा' (कॉलिज) में पुरानी फारसी भाषा के अध्यापक थे। उन्हें भाषातत्व की शिक्षा नहीं मिला था, लेकिन शौक बहुत था। उनके पास शमसुल-उलमा आजाद की तत्सम्बन्धी उर्दू की एक किताब थी। उसमें आए अरबी-फारसी शब्दों के बल पर समझने की कोशिश करते थे। वह कह रहे थे—उसे हमारी भाषा का व्याकरण अभी तक अरबी व्याकरण के ढाँचे पर लिखा जाता रहा है। अरबी भाषा का हमारी भाषा से कोई संबंध नहीं है, इसलिए यह सारे व्याकरण अधूरे हैं। मैंने कहा, यदि आप अपने व्याकरण को संस्कृत से मदद लेकर लिखें, तो वह ज्यादा अच्छा होगा। कई दिनों तक हमारी बैठक में व्याकरण के ढाँचे पर बहस होती रही। कभी सुबन्त की चर्चा छिड़ती, कभी तिङन्त की, कभी कारक आता, तो कभी स्त्री-प्रत्यय। कृदंत और तद्धित के प्रत्यय फारसी में भी मिलते हैं। टावंत स्त्री-प्रत्यय तो बहुत ज्यादा हैं—जैसे हम-शीरा। मैंने कहा—यह संस्कृत में सम-क्षीरा होगा। मैंने एक दिन कहा—हिन्दी-यूरोपीय जातियों का पहिला विभाजन जो हुआ था, उसे विद्वान लोग सौ के पर्याय शब्द को लेकर शतम् और केन्टम् के नाम से पुकारते हैं। शतम् परिवार आगे दो टुकड़ों में बँटा—एक आर्य, दूसरा स्लाव; स्लाव रूसी लोग हैं, और आर्य नाम हिन्दियों और ईरानियों ने अपने लिए सुरक्षित रखा। संस्कृत और स्लाव भाषाओं में जो समान शब्द या धातु मिलते हैं, उनको जरूर ईरानी भाषा में होना चाहिए। एक दिन हम 'पीना' धातु पर विचार कर रहे थे। साहित्यिक फारसी में 'पीना' का बिल्कुल उपयोग नहीं होता, फिर हममें से किसी ने प्याला का नाम लिया और अंत में हुमाई ने लोरी या किसी दूसरी प्रान्तीय भाषा में 'पीना' का प्रयोग भी ढूँढ़ निकाला।

9 नवम्बर को साढ़े तेईस तुमान में पहलवी तक के लिए मोटरकार में एक सीट मिली। 5 मील चले जाने पर मालूम हुआ, कि चेक को मैं सरदार रघुवीरसिंह के यहाँ छोड़ आया हूँ। फिर कार पीछे लौटाई गई और चेक लेकर साढ़े छै बजे हमने तेहरान छोड़ा। पौने तीन घंटे में कजवीन पहुँचे। भोजन करने में एक घंटा लगा। फिर पहाड़ियों और घाटियों को चढ़ते-उतरते ढाई बजे रात को रश्त पहुँचे। पहाड़ से उतरकर जैसे ही

गेलान में पहुँचे, तैसे ही सर्दी कम हो गई। वैसे सर्दी से मैं निश्चिन्त था, क्योंकि मैंने चमड़े के पतलून, कोट और ओवरकोट बनवा लिए थे, जिन पर 35 तुमान खर्च हुए थे। चमड़े का मोजा और कनटोप भी साथ में था। रात को रश्त में सोए। पिछले दो सालों में रश्त में भी काफ़ी परिवर्तन हुआ था। सड़कें चौड़ी, कितने ही बड़े-बड़े मकान बन गये थे, मेहमानखाने (होटल) अच्छे थे।

आज (10 नवंबर) जब साढ़े आठ बजे हम रश्त से चले, तो आसमान में बादल घिरा था। गढ़हों में पानी भरा था, चारों ओर हरियाली, घास और जंगल था। नदियों में पानी बह रहा था। धान के खेत कट चुके थे। वर्षा की अधिकता के कारण यहाँ की छतें कच्ची मिट्टी की नहीं हैं। गेलान-प्रान्त की सारी भूमि उपजाऊ है, लेकिन अभी वह सब आबाद नहीं है। यहाँ का चावल बहुत मशहूर है। 1 घंटे में हम पहलवी पहुँच गये, और 15 रियाल रोजाना का एक कमरा लेकर ग्रांद-होटल में ठहरे। दिल्ली से पहलवी तक रेल और मोटर का खर्च एक सौ तीन रुपये आया था। मालूम हुआ, कि जहाज अगले दिन जायगा। उसी दिन मैं इनतूरिस्त के पास जाकर टिकट बनाने के लिए कह आया।

23

सोवियत-भूमि में दूसरी बार (1937-38 ई.)

मैंने जहाज के तीसरे दर्जे का टिकट लिया था। इसमें सोने के लिए लकड़ी के तख्ते थे। मेरे सिवा दो इतालियन-दम्पती भी इसी दर्जे में चल रहे थे। अँधेरा होने पर जहाज रवाना हुआ। सोवियत का जहाज था। समुद्र शान्त था।

अगले दिन 12 नवम्बर कास्पियन-सागर के पच्छिमी तट के नंगे पहाड़ दिखाई दे रहे थे। समुद्र इतना निस्तरंग था, कि देखने में शांत झील-सा मालूम होता था। हम एक पहाड़ी टापू के पास से गुजरे। वहाँ मछुओं के कुछ घर थे। 11 बजे जहाज बाकू बन्दर के तट से जाकर लगा। कस्टमवाले अफसर ने चीजों को देखा, तालपोथी के पत्रों को गिनकर उसने पासपोर्ट पर लिख दिया, जिसमें कि देश के बाहर जाने पर उसके लिए कोई रुकावट न हो। उसे शायद कुछ पता लग गया था। उसने पूछा—"हिन्दुस्तान से जो विद्वान आनेवाले थे, आप वही तो नहीं हैं ?" मैंने कहा—"शायद, क्योंकि मैं सोवियत एकदमी के निमंत्रण पर जा रहा हूँ।" मोटरकार मुझे इनतूरिस्त होटल में ले गई। मैं समझता था, उसी पुराने सतमहले मकान में जाना होगा, लेकिन देखा यह एक बिल्कुल नया चौमहला प्रासाद है। यह एक ही साल पहिले तैयार हुआ था। इसमें 76 कमरे थे। हरेक कमरे के भीतर दो मेज, तीन कुर्सियाँ, एक आलमारी, एक चारपाई और एक टेलीफोन था। स्नानघर भी पास में था, सफाई और आराम दोनों ही का अच्छा प्रबन्ध था। भोजनशाला बहुत सुन्दर थी और भोजन तो इतना सुन्दर कि आदमी अपने को सँभाले नहीं, तो अपच होने का डर था। शाम को 5 बजे मोटर से घूमने निकले। 2 वर्ष पहिले मैंने जिस बाकू को देखा था, उससे अब बहुत परिवर्त्तन हो गया था। अनेकों बड़े-बड़े मकान बन गये थे। पार्क (उद्यान) भी अब ज्यादा मनोरम मालूम होता था। अब बाकू में ऊनी कपड़े की भी मिलें खुल रही थीं।

1. मास्को को

अगले दिन (13 नवम्बर) मैं स्टेशन पर गया। पथप्रदर्शक ने 7वीं गाड़ी की 19वीं सीट पर मुझे पहुँचा दिया। मेरे डब्बे में मुझे छोड़ और कोई परदेशी नहीं था। पिछली बार मैं रात के वक्त इधर से गुजरा था, इसलिए समझ रखा था कि वह सारी भूमि और पहाड़ रूखे-सूखे होंगे, लेकिन यहाँ तो खूब जंगल और हरियाली थी। पहाड़ों पर कितने ही गाँव बसे थे। हाँ, जाड़े के कारण पत्तियाँ पीली पड़ने लगीं थीं। एक कलखोज (पंचायती

खेतीवाले गाँव) की अंगूर-लताएँ पीली पड़ गई थीं। शाम को दरबन्द (द्वारबंध) पहुँचा। दरबन्द **सैनिक दृष्टि** से उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, जितना कि हिन्दुस्तान के लिए खैबर। (वर्तमान लड़ाई में जब जर्मन फासिस्त काकेशस् की ओर बढ़े थे, तो उन्हें मालूम था कि बाकू पहुँचने से पहले उन्हें दरबन्द के मोर्चे को तोड़ना होगा।) अँधेरा होते-होते हम इजवरिवश् के पास से गुजर रहे थे। उस वक्त देखा कि जमीन से 5, 6 अग्निशिखाएँ निकल रही हैं। मैं सोचने लगा—न हुआ कोई यहाँ हिन्दू, नहीं तो वोलशेविकों से कहता—"तुमने बाकूवाली ज्वालामाई को बुझा दिया। लो, यहाँ माई फिर एक नहीं सात मुँह से निकल आई।"

हमारे खाने में चार सीटें लम्बाई में ऊपर-नीचे और दो सीटें बगल में ऊपर-नीचे थीं। मुसाफिर कफकाशी (काकेशियन) थे। मेरे सामने की सीट पर तवारिश अली थे। खाने का वक्त आया, तो उन्होंने सूअर का मांस और शराब की बोतल निकाली। मैं सोचने लगा, शराब की तो खैर कोई बात नहीं, यह सुअर कैसे खाने लगे। उन्होंने मुझे भी खाने का निमन्त्रण दिया। यद्यपि मेरे रूसी भाषा के ज्ञान में पहिली यात्रा से कुछ वृद्धि जरूर हुई थी, लेकिन पुस्तक से शब्दों को ढूँढ़ना पड़ता था। खाने के लिए तो साथ में गाड़ी थी, और मेरा खाने का खर्च भी रेल के किराये में शामिल था, इसलिए मैंने नम्रतापूर्वक खाने से इनकार कर दिया।

मास्को बाकू से तीन दिन का रास्ता है। दूसरे दिन (14 नवम्बर) हमारी ट्रेन रोस्तोफ के पास पहुँच रही थी। इधर पतझड़ का मौसम था। इस वक्त वर्षा ज्यादा हो रही थी। आसमान में बादल घिरे हुए थे, सोवियत-खेती और पंचायती खेतीवाले विशाल खेत बराबर दिखाई पड़ते थे। स्टेशनों पर मिट्टी के तेल की कीचड़ उछल रही थी। हर जगह नई-नई इमारतें उठ रही थीं। हमारी गाड़ी में अँगरेजी जाननेवाला कोई नहीं था, इसलिए रूसी में ही दिन-रात लगे रहना पड़ता। लेनिनग्राद जानेवाली एक प्रौढ़ा गायिका और नटी थीं, नोरा ईबानोब्ना कु द् रे स् चे वा। उनका पिता रोमनी और माँ रूसी थी। रोमनी लोग आज से छै-सात सौ वर्ष पहिले हिन्दुस्तान से पच्छिम की ओर गये थे। हिन्दुस्तान में वह बनजारों की तरह खानाबदोशी जीवन बिताते थे। रोमनी यूरोप के भिन्न-भिन्न मुल्कों में होते हुए इंगलैंड तक पहुँच गये। नाच-गान में बहुत कुशल होते थे और सदियों के रक्तसम्मिश्रण तथा ठंडे मुल्क में रहने के कारण उनका रंग अब ज्यादा साफ है। विद्वानों का कहना है कि रोमनी शब्द डोमनी या डोम से निकला है। नोरा की आयु 43, 44 की थी, अब वसन्त का सौन्दर्य नहीं था, लेकिन शिशिर के चेहरे से उसका अनुमान हो सकता था। मैं समझता था, उनको पैतृक भाषा के कुछ शब्द मालूम होंगे, परन्तु मालूम हुआ, पिता की नहीं, माँ की भाषा उन्होंने ही बचपन से सीखी। नोरा बोलने में मेरी बड़ी सहायता करती थीं। शाम को खरकोफ् आया। अपनी विशाल इमारतों और बड़े-बड़े कारखानों के लिए यह सोवियत का एक प्रसिद्ध नगर है। कुछ साल पहिले यह उकरइन प्रजातन्त्र की राजधानी था, लेकिन अब वह कियेफ में है। खरकोफ् की आबादी 10 लाख है।

15 नवम्बर को सबेरे जब मैंने खिड़की से झाँका, तो देखा देवदार और भोजपत्र के जंगल चारों ओर थे। जहाँ-तहाँ कल्खोजी गाँव और उनके साफ-सुथरे मकान थे। अब बरफ भी दिखाई पड़ने लगी। भूमि समतल नहीं थी। 10 बजे रात को गाड़ी मास्को पहुँची। इनतूरिस्त का आदमी लेने के लिए आया हुआ था। लोग मनमाना सामान यात्रा में ले चलने लगे थे, इसलिए रेलवेवाले अब कड़ाई कर रहे थे। मेरे पास भी डेढ़ मन से अधिक सामान था। मुझे भी रोका गया, लेकिन इनतूरिस्त के आदमी ने मेरा परिचय दिया और मुझे छुट्टी मिल गई। मोटर पर बैठकर इनतूरिस्त होटल गये।

अगले दिन रात को गाड़ी मिलनेवाली थी, इसलिए सारा दिन अपना था। मैंने पोलीतेकनिक म्युजियम देखा। खेती, बागवानी, पशुपालन, कारखाने और खानों के उपयोग में आनेवाले सभी यंत्रों और दोनों पंचवार्षिक योजनाओं की सफलता के नक्शे वहाँ रखे थे। पथप्रदर्शक ने एक-एक चीज को घुमाकर दिखलाया। गोपालन का दृश्य बिल्कुल वास्तविक था। देखने से मालूम होता था, कि हजारों गायें गोचर-भूमि में चर रही हैं। वह सच्ची-सी मालूम होती थीं। आपके पासवाले हिस्से में एक सच्ची जिन्दा गाय चारा खा रही थी, और कान-पूँछ हिला रही थी। उसके बाद तसवीरवाली गायें थीं, लेकिन उनके फासले को इतना सोचकर रखा गया था, कि सामने की गाय की तरह वह भी सच्ची गायें मालूम पड़ती थीं। बागों और पौदों के बारे में भी यही किया

गया था। दो घंटे से ज्यादा मैं म्युजियम को देखता रहा। ढाई बजे फिर शहर देखने के लिए निकला। क्रेमलिन को बाहर से देखा। लेनिन की समाधि 5 बजे दर्शकों के लिए खुलती थी। वहाँ दर्शकों की एक लम्बी पाँती खड़ी थी, मैंने सोचा कभी और देख लूँगा। विश्वविद्यालय और लेनिन पुस्तकालय देखते सांस्कृतिक-उद्यान में गया। कई नये मकान बने थे। भूगर्भी रेल में थोड़ा सफर किया। कई रंग के संगमरमर इन स्टेशनों के बनाने में लगे थे।

2. लेनिनग्राद् में (17 नवंबर–13 जनवरी 1938 ई.)

16 नवम्बर को 10 बजे हमारी गाड़ी मास्को से लेनिनग्राद् के लिए रवाना हुई। मेरे खाने में सिबेरिया (ब्रेखनेऊदिन्स्क्) की एक छात्रा थी। वह मास्को में डाक्टरी पढ़ रही थी, और अपने किसी दोस्त से मिलने लेनिनग्राद् जा रही थी। सबेरे 9 बजकर 10 मिनट पर गाड़ी लेनिनग्राद् पहुँची। रास्ते में हमने खूब बर्फ देखी, देवदार को छोड़कर सारे वृक्ष निष्पत्र–नंगे हो गये थे। स्टेशन पर इनतूरिस्त की मोटर आई थी। 10 बजे 'होतेल-युरोपा' में पहुँचे। 49 नम्बर की कोठरी पहिले ही से तैयार रखी गई थी। यह होटल लेनिनग्राद् के बड़े होटलों में था। कमरे के भीतर ही टेलीफोन लगा था। डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की से फोन से बात की। मालूम हुआ, पैर में चोट आ जाने के कारण वह आजकल चारपाई पर पड़े हुए हैं। शाम को 7 बजे उनसे मिलने के लिए निकला। पता लगा, 7 नम्बर की ट्राम उनके घर के पास जाती है। रास्ते में गली के बारे में कुछ पूछ-ताछ की। एक वृद्धा मिल गई, जो डाक्टर से परिचित थी और मैं वहाँ पहुँच गया। दस्तक लगाने पर एक वृद्धा ने दरवाजा खोला। मैंने नाम बतलाया। वह मुझे आचार्य श्चेर्‌वात्स्की के कमरे में ले गई। डाक्टरों ने उनके पैर पर प्लास्तर कर दिया था, इसलिए उठ-बैठ नहीं सकते थे। मेरे पहुँचते ही उन्होंने संस्कृत में "आइए यह आसन है", कहकर मेरा स्वागत किया। दो घंटे तक बात होती रही। उन्होंने बतलाया कि कल से आपके पास मेरे विद्यार्थी रविनोविच जाया करेंगे, वह संस्कृत पढ़ते हैं और अंग्रेजी जानते हैं। इन्स्टीट्यूट, (ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट) के मोटरखाने (गराज) को कह दिया गया है, जब जरूरत हो वहाँ से मोटरकार मँगवा लिया करें। यह भी पता लगा कि जून के महीने में सारा इन्तिजाम करके यहाँ से तार दिया गया था, लेकिन अब एकदमी को फिर इसके बारे में तै करना होगा।

उस समय सोवियत में अतवार लोगों को भूल गया था, क्योंकि अब दिनों की जरूरत नहीं थी, लोगों को तारीख से काम करना पड़ता है, हर छठाँ दिन छुट्टी का होता था। महीने की छठीं, बारहवीं, अठारहवीं, चौबीसवीं और अन्तिम तारीख छुट्टी की थी। अगला दिन (18 नवम्बर) छुट्टी का था, इसलिए इन्स्टीट्यूट बन्द था। रविनोविच मुझे हरमीताज म्युजियम दिखलाने के लिए ले गये। यह म्युजियम जार के शरद् प्रासाद के पास था। कला और दूसरी वस्तुओं का यहाँ इतना बड़ा संग्रह था, कि कोई उसे एक दिन में नहीं देख सकता था। हमने सिर्फ पूर्वीय विभाग देखने का निश्चय किया। तुङ्‌ह्‌आन् (मध्यएसिया) से प्राप्त मूर्त्तियों, भित्तिचित्रों, काष्ठफलकों, वस्त्रों, और बर्तनों को बहुत अच्छे ढंग से सजाकर रखा गया था। एक जगह तुङ्‌गुत और मंगोल साम्राज्य की ऐतिहासिक चीजें एकत्र की गई थीं। यहाँ के चित्रपट 13वीं 14वीं सदी के तिब्बती चित्रपटों से बहुत मिलते-जुलते थे। एक जगह सोवियत-तुर्किस्तान की खुदाई से निकली चीजें रखी थीं, जिनमें यवन-वाह्लीक कला की चीजें बहुत महत्वपूर्ण थीं। ईरान की प्राचीन कला के जितने अच्छे नमूने इस म्युजियम में हैं, उतने दुनिया में कहीं भी न मिलेंगे। ईसापूर्व 5वीं सदी से लेकर ईसा की 7वीं सदी तक की बहुत चीजें यहाँ जमा थीं। ईसवी प्रथम शताब्दी के हूणों की कितनी ही चीजें यहाँ रखी थीं। मिश्र और असुर-सभ्यता के परिचय के लिए भी यहाँ काफी चीजें थीं। जारवंश के आभूषण, घड़ी, छड़ी तथा दूसरी चीजें अलग रखी थीं। हमने वह कमरा भी देखा, जिसमें करेन्स्की का मंत्रिमण्डल लाल-क्रान्ति के वक्त पकड़ा गया। फिर पंडित-भोजनालय में जाकर भोजन किया। यह भोजनालय पहिले किसी राजकुमार का महल था, आजकल इसे विद्वान लोगों के भोजन करने का स्थान बना दिया गया है। हम शाम को एक बड़े गिरजे–कजान्स्की सवोर् को देखने गये। पहिले यहाँ हजारों आदमी ईसामसीह की प्रार्थना करने आते थे, फिर लोगों की श्रद्धा कम होने लगी, लोग एक-एक

करके हटने लगे। करोड़ों की इस इमारत की यदि उपेक्षा की जाती, तो वह कुछ दिनों में गिर जाती। लेकिन, यह गिरजा वास्तुशिल्प, मूर्त्तिकला और चित्रकला का एक अच्छा नमूना है, इसलिए इसे एक म्युजियम का रूप दे दिया गया है। इसके मकानों में यहूदी, ईसाई, बौद्ध, मुसल्मान धर्मों के ही नहीं भूत, प्रेत, ओझा-सोखा माननेवाली आदिम जातियों के धार्मिक क्रम-विकास को समझने के लिए यहाँ बहुत-सी सामग्री एकत्रित की गई है। मैंने रवीनोविच से कहा—किसी ऐसे गिरजे में ले चलो, जहाँ अब भी भगत लोग आते हों। इस पर वह पोल्स्की सवोर (पौलैण्डवालों के गिरजे) में ले गये। हजार से ऊपर आदमी इस गिरजे की बड़ी शाला में बैठ सकते हैं। वह प्रार्थना का समय था। मैंने देखा कि इतनी बड़ी शाला में एक कोने पर 10, 12 बूढ़ियाँ घुटना टेककर ईसामसीह की प्रार्थना कर रही थीं। शायद यह भी परिहास के डर से अपने जवान बेटे-बेटियों से आँख बचाकर आई होंगी। मैंने गिरजे के पादरी से पूछा, तो उसने बतलाया कि अब भगत कम रह गये हैं, इतना भी चन्दा मिलना मुश्किल हो गया है, कि कोयला खरीदकर इस मकान को गरम रखा जा सके। जिस दिन मकान गरम करना छूटा, उसी दिन यह बुढ़िया भी नहीं आयेगी।

19 नवम्बर को रवीन मुझे इन्स्टीट्यूट में ले गये। इन्स्टीट्यूट के अध्यक्ष स्त्रूव से उस दिन देखा-देखी हुई। आधुनिक भारतीय भाषाओं के प्रकांड पंडित डाक्टर बरान्निकोफ मिले। उनसे बातचीत होती रही। रोमनी भाषा के वह विश्वविख्यात पंडित हैं। उन्होंने 'प्रेमसागर' को रूसी में करके प्रकाशित किया है। आजकल (1944) वह तुलसीकृत रामायण के रूसी अनुवाद को पूरा कर रहे थे। 5 बजे सूरीकोफ (मृत्यु 1912) के चित्रों की प्रदर्शनी देखने गये। एक चित्र बड़ा ही हृदयद्रावक था। दो घुड़सवार मित्र किसी मुहिम पर अलग-अलग निकले थे। एक मित्र और उसका घोड़ा किसी बयावान में जाकर मर गया। कुछ वर्ष बाद वहाँ आदमी और घोड़े की कुछ हड्डियाँ रह गई थीं। दूसरा मित्र वहाँ पहुँचा, और अपने मित्र की हड्डियों को देखकर उसका हृदय शोक से भर गया। इस भाव को चित्रकार सूरीकोफ ने बड़ी सफलता से अंकित किया था।

7 बजे हम एक ऐतिहासिक फिल्म पुगाचेफ् देखने गये। यह दो-ढाई सौ वर्ष पहिले की घटना है। उस वक्त जारशाही हुकूमत के अत्याचारों के मारे किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हजारों किसानों की तरह पुगाचेफ् भी एक जेल में बन्द था। उसने कुछ सोचा, फिर जेल से भागकर धीरे-धीरे लड़ाकों का एक दल कायम किया, और अपने इलाके से जारशाही हुकूमत को मार भगाया। कितने ही सालों बाद पुगाचेफ् पकड़ा गया, और कुल्हाड़े से उसका सिर काट दिया गया। वह बड़ा ही सुन्दर फिल्म था। सिनेमाघरों में जहाँ पर हमारे यहाँ निचले दो दर्जों के दर्शक आँख फोड़ने के लिए बैठाये जाते हैं, सोवियत सिनेमाघरों में वह जगह खाली रहती है। हर महल्ले में सिनेमाघर रहने पर भी दर्शकों की भीड़ लगी रहती है।

20 नवम्बर को मैं आचार्य श्चेर्बात्स्की के मकान पर गया। मालूम हुआ कि मास्को में एकदमी का अधिवेशन होने जा रहा है, डाक्टर स्त्रूवे वहाँ जा रहे हैं। आचार्य ने कहा—साथी स्तालिन और दूसरे नेता भी वहाँ मिलेंगे, जाना चाहें तो जायँ; लेकिन मैंने सोचा, अभी तो मुझे न जाने कितने दिन यहाँ रहने हैं, फिर कभी चला जा सकता हूँ; इसलिए नहीं गया। इक्कीस नवम्बर से मैं रोज नियमपूर्वक इन्स्टीट्यूट जाने लगा, और वहाँ इन्दो-तिब्बती विभाग में मुझे मेज-कुर्सी दे दी गई। मैं भोट अनुवाद से 'वार्त्तिकालंकार' की संस्कृत प्रति को मिलाने लगा। होटल में रहना पसन्द नहीं था, मैं चाहता था किसी घर में रहूँ, जहाँ निरन्तर रहनेवाले पड़ोसी हों, और मुझे भाषा सीखने का सुभीता हो। लेकिन, अभी वह इन्तिजाम नहीं हो सकता था। हमारे विभाग की सेक्रेटरी लोला (एलेना) नारवेर्तोवूना कोजेरोबसकाया की तबियत ठीक नहीं थी, इसलिए अभी वह इन्स्टीट्यूट में नहीं आ रही थी। रवीन ने बतलाया, कि वह एक भोट-रूसी-कोष बना रही हैं।

24 नवंबर को मैं श्री दाऊदअली दत्त के पास गया। दाऊदअली दत्त का भारतीय नाम था प्रमथनाथ दत्त। वह कलकत्ता के रहनेवाले थे। बंगभंग के बाद जो जबर्दस्त आन्दोलन हुआ था, और सैकड़ों देशभक्त जेल में पकड़कर डाल दिए गये थे, उसी वक्त वह भारत से निकल भागे। पश्चिमी देशों में कितने ही सालों तक घूमते रहे। तुर्की में बहुत दिन रहे, फिर ईरान में रहे, मुसल्मानी देशों में उन्होंने अपना नाम दाऊदअली रख लिया। जब ईरान में थे, उस वक्त मुरादाबाद के सूफी अम्बाप्रासाद और पंजाब के सरदार अजीतसिंह

भी वहीं रहते थे। सूफी ने शीराज में एक मदरसा खोल रखा था। पिछली लड़ाई के समय शीराज के हिन्दुस्तानियों को पकड़ लिया गया, सूफी को मालूम हुआ कि अँगरेज शीराज आनेवाले हैं। अँगरेजों के हाथ में पड़ जाने के भय से उन्होंने जहर खाकर जान दे दी। 10 वर्ष हुए जब कि दत्त महाशय की दाहिनी टाँग में चोट आ गई और अब वह बेकार हो गई थी। दत्त की बीवी नोरा एक रूसी महिला थीं, वह अँगरेजी अच्छी बोल लेती थीं, दत्त महाशय हिन्दी, उर्दू, बँगला तीनों भाषाओं को अच्छी तरह जानते, और लेनिनग्राद् में वह इन्हीं को पढ़ाते थे।

मैं जब तेहरान में था, उस वक्त आगे खर्च के लिए कुछ ईरानी पैसों की जरूरत थी। यद्यपि प्राइवेट तौर से पौंड का मोल ज्यादा था, लेकिन बैंक में लेने पर वह डेवढ़ा कम मिलता था। मैं 20, 25 पौंड भुनाने जा रहा था। इस पर हाफिज इलाहीबख्श मुहम्मद हाशिम—मेरे मक्खड़ी दोस्त ने कहा—"आप पैसा न भुनाटे जितने पैसों की जरूरत हो, मैं दूँगा। हिन्दुस्तान जाकर मेरे घर पर पैसों को भेज देंगे।" मैंने कहा—"पैसे ह लिए किसी पर ऐसा विश्वास नहीं करना चाहिए।"

हाफिज—"मेरा मन विश्वास करने को कहता है।"

मैं—"कहता है, तो गलती करता है, आप जानते ही हैं कि मैं धरम, ईश्वर को नहीं मानता, फिर ऐ आदमी पर आप क्यों विश्वास करते हैं ?"

हाफिज—"इसके लिए मैं तुम पर और भी विश्वास करता हूँ।"

खैर, हाफिज साहेब ने मुझे रुपये दे दिये। मैंने 26 नवम्बर को 20 पौंड उनके कहे अनुसार हाजी फतेहमुहम्मद पराचा सावल मक्खड़-शरीफ (जिला केम्बलपुर) के पास भेज दिया।

मैं अकसर पैदल ही इन्स्टीट्यूट चला जाता था। सर्दी बहुत बढ़ गई थी और सूर्य ने तो जान पः है, सारे जाड़े के लिए अपने मुँह को बादल में छिपा लिया था।

28 नवम्बर को मैं इन्स्टीट्यूट गया। रास्ते में चारों तरफ बरफ ही बरफ थी। बड़ी सड़कों से तो कार बरफ को हटाया जाता था, लेकिन छोटी सड़कों और बागों में वह वैसे ही पड़ी रहती थी। नरम बर्फ में धँसता, और ज्यादा कड़ी हो जाने पर पैर खूब फिसलता था। मैं उस दिन आते वक्त एक जगह फिसल गिर पड़ा था। उस दिन जरा-जरा हिमवर्षा भी हो रही थी। इन्स्टीट्यूट में आज मैंने अपने विभाग के सेक्र लोला को देखा। वह फ्रेंच, अंग्रेजी, रूसी और मंगोल बोल सकती थीं, इसलिए संभाषण में कोई दिक्क थी। उन्होंने कहा, मेरी अंग्रेजी बहुत कमजोर है, नहीं तो मैं रूसी पढ़ाती। मैंने कहा, "नहीं तबारिश मुझे रूसी अच्छी तरह पढ़ा सकती हो, क्योंकि तुम्हें ज्यादातर रूसी को अपना माध्यम बनाना पड़ेगा। मैं संस्कृत पढ़ाऊँगा और तुम मुझे रूसी पढ़ाया करो।" दोनों ने 'एवमस्तु' कहा।

दिसम्बर शुरू होते सर्दी बहुत बढ़ गई थी। मैं अपने तिब्बती पट्टू के सफेद सूट को पहिन के जात किन्तु अब ऊपर से चमड़े के ओवरकोट को भी ले जाने लगा। हाथों में चमड़े का दस्ताना था, इसलिए मालूम नहीं होती थी।

दो दिसम्बर को मैंने देखा, आज नेवा नदी का पानी जहाँ-तहाँ बर्फ बन गया था। आज से मैंने को संस्कृत पढ़ाना शुरू किया। लोला ने मंगोल और तिब्बती भाषा को पढ़ा था, आचार्य श्चेर्बात्स्की एक योग्य शिष्या थी, किन्तु संस्कृत पढ़ने की ओर ध्यान नहीं दिया था। वह नागरी अक्षर जानती थ उसे संस्कृत पढ़ाने के लिए खुद पाठ बनाये। इन पाठों में मैं ज्यादातर उन्हीं धातुओं और शब्दों को था, जो रूसी और संस्कृत में समान हैं। आज उसने पहिला पाठ पढ़ा।

6 को दत्त महाशय के यहाँ गया, तो वहाँ उनकी साली और सालीपुत्र अरकाशा—साढ़े 6 वर्ष स्वस्थ लड़का—भी मिला। नोरा का तो मैं देवर बन ही चुका था, अब अरकाशा का द्या-द्या (चाचा) गया।

जब मैं दत्त महाशय के पास जाता, तो अरकाशा मुझे छोड़ता नहीं था। मैंने तिब्बती भाषा पर इसी तरह के एक छोटे बच्चे की मदद से प्राप्त किया था, इसलिए मैं अरकाशा को गुरु बनाना च

लेकिन उसकी माँ एक महीने के ही लिए अपनी बहिन के पास मास्को से आई थी।

7 दिसम्बर को देखा, नेवा (नदी) बिल्कुल जम गई है। लेनिनग्राद नेवा के दोनों किनारों पर बसा है। मुझे होटल से इन्स्टीट्यूट जाते वक्त रोज इसे पार करना होता था।

इस वक्त महासोवियत के चुनाव की धूम थी। घरों के सामने सोवियत के महानेताओं और कितने ही स्थानीय उम्मीदवारों के बड़े-बड़े फोटो लगे थे। ट्रामों पर लाल-पीली बत्तियों द्वारा विज्ञापन दिए जा रहे थे। 12 दिसम्बर को छुट्टी का दिन था, आज दुनिया के छटे भाग के लोग अपने देश की सबसे बड़ी शासनसभा महासोवियत के लिए वोट दे रहे थे। वोट-केन्द्रों में बड़ी भीड़ थी। कहीं-कहीं सड़कों के किनारे चुनाव के संबंध में नेताओं के फिल्म दिखाए जा रहे थे। रेडियो के ब्राडकास्ट को सारे नगरवासियों के सुनाने के लिए कुछ-कुछ गज पर शब्दप्रसारक-यंत्र (लाउडस्पीकर) लगे हुए थे। नगर में सड़क से 10 मील चले जाइए, और आपके कानों में भाषण आते रहेंगे। उस दिन लौटकर जब होटल में आया, तो कान और कनपटी में दर्द होने लगा—अभी तक मैंने चमड़े के कनटोप को इस्तेमाल नहीं किया था। हैट रख दिया और दूसरे दिन से कनटोप लगाने लगा।

15 दिसंबर को चुनाव के उपलक्ष्य में शाम को नगर के लोगों ने जुलूस निकाले। 3 बजे ही से ट्राम बन्द हो गई। नौसेना, स्थलसेना, वायुसेना के सैनिक कहीं झंडा-पताका और नेताओं के चित्र लेकर चल रहे थे, कहीं यूनिवर्सिटी और इन्स्टीट्यूट के विद्यार्थियों का जुलूस था, कहीं साधारण नागरिक जा रहे थे। लाल सैनिकों का जुलूस जहाँ थोड़ी देर के लिए रुकता, वहाँ ही वह नाच शुरू कर देते और आस-पास में खड़ी जिस किसी गोरी को साथ नाचने के लिए निवेदन करते, वह जरूर अखाड़े में कूद पड़ती। दुनिया के और मुल्कों में सिपाहियों से बड़े घर की औरतें भय खाती हैं, किन्तु सोवियत का लाल सैनिक उस तरह का सिपाही नहीं है। लाल सैनिक का जीवन कालेज के विद्यार्थी के जीवन जैसा है, उसे वहाँ पढ़ना पड़ता है। साथ ही साम्यवाद ने सोवियत नागरिकों के दिल में यह भाव पैदा कर दिया है, कि वह अपने देश के सारे तरुणों को घर का आदमी समझते हैं।

19 दिसंबर को मैंने लोला के लिए सातवाँ पाठ लिखा। वह बड़े मन से पढ़ रही थी। 28 नवंबर को जब मैंने पहिले-पहिल लोला को देखा, तो मुझे यह ख्याल भी नहीं आया था, कि हम दोनों किसी स्थायी सम्बन्ध में बँधने जा रहे हैं; लेकिन धीरे-धीरे हम एक दूसरे के नजदीक आते गये। एक बार लोला रास्ते में कहीं बर्फ में गिर गई, उसने आकर इस बात को कहा। मैंने एक श्लोकार्ध में पढ़ा—"काले पयोधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।"

लोला ने विभाग के दो संस्कृतज्ञों—शिवायेफ् और कलियानोफ् से अर्थ पूछा। मैंने उन्हें अर्थ-विवरण करके बतलाया। सुनकर उसने मुस्कुरा दिया। अंत में 22 दिसंबर आया, जिस दिन कि हम दोनों एक दूसरे के हो गये। मैं लोला के घर पर जाता, वह इन्स्टीट्यूट से बहुत दूर एक घंटे का रास्ता था। उधर कारखानों के कमकर रहते थे और चारों ओर उन्हीं के नए-नए महल खड़े थे। लेकिन अब भी मैं रहता था, होटल ही में, क्योंकि अकदमी ने मेरे बारे में अभी कोई पक्का निश्चय नहीं किया था।

25 दिसंबर—बड़े दिन को लेनिनग्राद में कोई चहल-पहल नहीं थी, लेकिन 31 दिसंबर बच्चों का दिन था। उस दिन हर घर में देवदार की शाखाएँ गाड़ी गई थीं, उन्हें रंग-बिरंगी बत्तियों, मिठाइयों और खिलौनों से सजाया गया था। मैं उस दिन दत्त भाई के घर गया था। अरकाशा ने खूब तैयारी कर रखी थी। आस-पास के कुछ लोग आए थे, जिनमें अरकाशा के उमर की एक छोटी लड़की थी। वह बहुत कम बोलती थी। अरकाशा ने उस दिन एक लेक्चर सुनाया, और शायद पुशकिन की किसी कविता को स्वर के साथ पढ़ा। अगले दिन (1 जनवरी 1938) तो सारे सोवियत का महोत्सव दिन था। उस दिन आचार्य की छात्रा जेन्या विकोवा ने मेरे पथप्रदर्शन का काम हाथ में लिया। जेन्या संस्कृत पढ़ती थी, और शायद विश्वविद्यालय के तीसरे वर्ष की छात्रा थी। वह अंग्रेजी भी बोल लेती थी। मैंने लेनिनग्राद के बौद्धविहार के देखने की इच्छा प्रकट की। विहार, नगर के एक छोर पर है। ट्राम पर दो घंटे चलने के बाद हम वहाँ पहुँचे। विहार तिब्बती ढंग का है, दीवारें पत्थर की हैं, और सामने की ओर सुनहले दो मृगों के बीच धर्म-चक्र बना हुआ है। सामने सड़क की दूसरे तरफ

एक नदी बहती है, जिसके दूसरी ओर लेनिनग्राद का सांस्कृतिक उद्यान है। विहार लड़ाई से कुछ पहिले तैयार हुआ था। विहार-कमेटी के प्रधान थे आचार्य श्चेर्‌वात्स्की और मंगोलिया से रुपया जमा करके लानेवाले थे लामा ङ्वङ् दोर्जे। लामा दोर्जे कई बरस ल्हासा में रहे थे; और 13वें दलाईलामा के वह बहुत दिनों तक अध्यापक थे। उन्होंने रूस और तिब्बत के बीच घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करने की बड़ी कोशिश की थी, जिससे डरकर कर्जन ने तिब्बत से लड़ाई छेड़ दी, और अंग्रेजी फौजें ल्हासा तक गईं। उस समय दुर्जेयेफ के नाम से इंगलैंड का विदेश-विभाग चौंक पड़ता था। लाल क्रान्ति आई, तो दूसरी जगहों की तरह उनके प्रदेश—बुरयत्—में भी क्रांति-विरोधियों ने मंगोलों को उभाड़ना चाहा। लेकिन दुर्जेयेफ ने उन्हें समझा दिया। आज बुरयत् मंगोल प्रजातंत्र सोवयित के स्वच्छन्द वायुमंडल में बहुत उन्नति कर चुका है। मैं चाहता था उनसे मिलना, किन्तु वह उस समय बुरयत् गये हुए थे। विहार आजकल बन्द था। पूजा करनेवाले भगत जब ईसाई गिरजों में दुर्लभ हो गये, तो यहाँ के लिए क्या पूछना ? विहार अब एक म्युजियम बन गया था, लेकिन जाड़ों में वह नहीं खुलता था, इसलिए हम उसे भीतर से नहीं देख सके। वहाँ से हम उद्यान गये। सैकड़ों युवक-युवतियाँ दो लंबी लकड़ियों पर पैर रखकर हाथ में डंडे लिये फिसलती हुई दौड़ लगा रही थीं।

वहाँ से हम लौटकर रूस के सबसे बड़े गिरजे ईसाइकी-सवोर देखने गये। यह भी आजकल म्युजियम है। भीतर बड़े-बड़े सुन्दर चित्र और ईसामसीह तथा सन्तों की मूर्त्तियाँ हैं। शीशे के विशाल दरवाजे पर एक सुन्दर चित्र देखकर मैंने जेनिया से पूछा—यह किसका चित्र है। उसने दूसरे आदमी से पूछकर बताया—यह ईसा की तसवीर है। मैं कुछ ताज्जुब में पड़ गया—जिसका खान्दान छै-छै सात-सात सौ बरसों से ईसा का अनुयायी रहा, वह ईसा की तसवीर भी न पहिचान सके ! उस दिन शाम को आचार्य श्चेर्‌वात्स्की (जन्म 19 सितंबर 1862) के घर पर भोजन हुआ। लोला और मैं भोजन करने गये। शराब भी रखी थी, लेकिन मैं तो शराब पीता नहीं था, जिस पर एक लाल रंग का पेय लाया गया। आचार्य ने कहा—यह शराब नहीं है, सिर्फ रंग इसमें अच्छी शराब का है। मैंने मुँह में लगाया तो कड़ुवा-सा मालूम हुआ, और उसे वहीं छोड़ दिया। आचार्य ने कहा—पियो, न इसमें नशा है, और न यह शराब है। मैंने कहा—"यह गुनाह बेलज्जत है। नशा का लोभ होता, तो शायद कड़ुवाहट को बर्दाश्त कर लेता, इस कड़ुवे पानी को पीना मुझे तो फिजूल मालूम होता है।" वहाँ से लोला हमें अपने घर पर ले गई।

दो जनवरी को हम शरद्‌प्रासाद में क्रांति-संग्रहालय देखने गये। इसमें 1905 की प्रथम क्रांति के संबंध की बहुत-सी चीजें हैं। उस वक्त क्रांतिकारियों के साथ कितनी पाशविकता दिखाई गई, इसे जंगलों, कैदखानों और कैदियों की मूर्त्तियों द्वारा दिखलाया गया था। लेनिन और दूसरे नेताओं की जीवन-घटनाओं का भी प्रदर्शन था।

लेनिनग्राद में फिल्म देखने अक्सर जाता था। कुछ पद्यमय नाटक (ओपेरा) और मूकनाटक (बैले) भी देखे।

मैं लिख चुका हूँ कि जिस वक्त मैं हिन्दुस्तान को छोड़ रहा था, उस वक्त बिहार-सरकार ने तिब्बती अभियान के लिए छै हजार रुपये मंजूर किए थे। यहाँ मैं इस अभिप्राय से आया था कि डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की के साथ रहकर बौद्ध-न्याय के कुछ ग्रंथों का उद्धार किया जाय, कुछ का यूरोपीय भाषाओं में भी अनुवाद किया जाय। यह भी बतला चुका हूँ कि मैं ऐसे साल में वहाँ पहुँचा, जब कि क्रान्ति के विरुद्ध एक बड़े षड्‌यंत्र का आयोजन किया गया था। सरकार का ध्यान उस तरफ लगा हुआ था। मेरे बारे में कुछ ठहर के निर्णय करना चाहते थे, क्योंकि हरेक विदेशी के संबंध में उन्हें फूँक-फूँककर पैर रखना था। यह भी हो सकता था कि राजनीति विभाग के जिन लोगों ने पूछताछ करके मेरे बुलाने की सिफारिश की थी, उनमें से कोई षड्‌यंत्रियों के सम्पर्क में रहा हो ? और तब उसकी सिफारिश मेरे पक्ष नहीं, विपक्ष की चीज हो सकती थी। मैंने अब सोवियत के जीवन को नजदीक से देखा। कितने संघर्षों, कितनी कुर्बानियों के बाद उन्हें यह जीवन प्राप्त हुआ है। स्पेन में उस वक्त फासिस्तों के साथ संघर्ष चल रहा था। चीनी कम्यूनिस्त भी पीसे जा रहे थे। अपने देश में हम भारतीय भी गुलाम थे। इन बातों को ख्याल करके मेरे मन में होता था, मुझे युद्धक्षेत्र में कूदना चाहिए। स्पेन या चीन में भी चला जाता, लेकिन जानता था, मैं वहाँ उतना उपयोगी नहीं हो सकूँगा। मेरे

लिए सबसे अच्छा क्षेत्र अपना ही देश है। मैंने तै किया कि भारत जा के स्वराज्य-संघर्ष में सक्रिय भाग लेना चाहिये।

प्रतिष्ठान (इन्स्टीट्यूट) में छठे दिन को छोड़कर रोज चार-पाँच घंटे काम करता था। नाटक, सिनेमा और दूसरी दर्शनीय चीजों को देखने जाता था, तब भी मेरा काफी समय राजनीतिक और सोवियत संबंधी पुस्तकों के पढ़ने में जाता। सोवियत के संबंध में एक पुस्तक लिखनी होगी, यह ख्याल शुरू ही में आ गया था, इसीलिए मैंने अपनी पुस्तक "सोवियत-भूमि' के लिए सामग्री जमा करनी शुरू कर दी थी।

अकदमीवाले बड़ी मन्थरगति से कोई निर्णय करना चाहते थे, लेकिन मैं सोच रहा था, अगर भारत लौटना है, तो जल्दी लौटना चाहिए, जिसमें कि मैं इस साल पूरी तैयारी के साथ तिब्बत जा सकूँ। इसीलिए जल्दी निर्णय करने के लिए मैंने जोर देना शुरू किया, और अकदमी के अधिकारी फिर से अच्छी तरह राजनीतिक जीवन के बारे में जाँच किए बिना रहने के पक्ष में निर्णय नहीं दे सकते थे। अन्त में मैंने भारत लौटने के लिए कहा। इस बात का सबसे अधिक कष्ट लोला को होना स्वाभाविक था, हम डेढ़ ही महीना साथ रह सके थे। अभी भारत लौटते ही मुझे तिब्बत जाना था, इसलिए लोला को साथ ले जाने का ख्याल कैसे कर सकता था, लेकिन मेरा हृदय उसके पास था। इस बात का अनुभव मैंने लेनिनग्राद् में रहते जितना नहीं किया, उतना वहाँ से दूर हटते-हटते अनुभव करने लगा।

आखिर विदाई का दिन–13 जनवरी आया। डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की को लोला के बाद सबसे ज्यादा दुःख हुआ। उनका मेरे प्रति बहुत स्नेह हो गया था। पत्र-व्यवहार हमारा कई वर्षों से था, लेकिन इस दो महीने के सहवास ने एक दूसरे को बहुत नजदीक कर दिया था। 13 जनवरी को लेनिनग्राद् छोड़ते वक्त मुझे कभी ख्याल नहीं आया था, कि आचार्य के दर्शन अब न हो सकेंगे। मुझे वह जायसवाल ही की तरह एक बड़े सहृदय मित्र मिले थे, और अपनी शिष्या लोला तथा मेरे पुत्र इगोर् के प्रति उनके प्रगाढ़ स्नेह ने मुझे और भी उनका आत्मीय बना दिया था।

सभी मित्रों से विदाई ले आए। नोरा भाभी ने रास्ते के पाथेय के जमा करने में सहायता की। अन्त में रवीन और लोला के साथ मैं स्टेशन पर पहुँचा। 12 बजकर 40 मिनट पर हमारी गाड़ी खुलनेवाली थी। अभी देर थी, रवीन को मैंने विदाई दे दी। लोला और मैं देर तक टहलते रहे। बाहरी दुनिया और सोवियत का जो संबंध है, उससे यह आशा तो नहीं की जा सकती थी, कि हम जल्दी और आसानी से मिल सकेंगे। लेकिन प्रेम इन बाधाओं की पर्वाह नहीं करता। आधीरात बीती, गाड़ी का इंजन सन-सन करने लगा, हमारे हृदयों में काँटा-सा चुभने लगा; विदा होने का समय आया। आँखों से करुणा बरसाते लोला ने विदाई ली। गाड़ी रवाना हुई। देर तक वह प्लेटफार्म पर खड़ी देखती रही।

अगले दिन (14 जनवरी) साढ़े 11 बजे दिन को हमारी गाड़ी मास्को पहुँची। इन्तूरिस्त का कोई आदमी स्टेशन पर नहीं मिला। भारवाहक से कहने पर नवमास्को होटल तक जाने के लिए तैयार तो हुआ, किन्तु उसे वह होटल नहीं मालूम था। मैंने कहा–यदि क्रेमूलिन् तक तुम जानते हो, तो आगे का पता मुझे मालूम है। क्रेमूलिन् भला किस मास्को-निवासी को न मालूम होगा। हम भूगर्भी रेलवे से कितनी ही दूर गए, फिर क्रेमूलिन् के सामने लाल-मैदान से होते पुल को नदी पार कर गये। 5, 7 मिनट तक मैं इधर-उधर चक्कर काटता रहा, लेकिन वहाँ किसी होटल का पता नहीं लगा। आस-पास पूछने से उन्होंने सड़क बता दी, जो इस सड़क के समानान्तर पीछे की ओर थी। हम होटल में पहुँचे। मुझे अच्छी तरह याद था, कि दो महीने पहिले जब मैं इधर से गुजरा था, तो पुलवाली सड़क पर ही थोड़ा हटकर नवमास्को-होटल मिला था। मेरे पूछने पर होटल परिचारिका ने कहा–वह पुल टूट गया, और आज जिससे आए हैं, वह नया पुल है। मैंने देखा, उस वक्त भी पुल के किनारे की बाढ़ों में काम हो रहा था। सर्दी जनवरी की थी, गीला सीमेन्ट बर्फ हो जाता, इसलिए लोग भाप से वायुमंडल को गर्म रखते हुए, जुड़ाई कर रहे थे।

उस वक्त महासोवियत (पार्लियामेन्ट) का अधिवेशन हो रहा था। चुनाव के बाद यह पहिला अधिवेशन था। सदस्य ही नहीं आए हुए थे, बल्कि भारत से 7 गुनी इस भूमि के कोने-कोने से कितने दर्शक भी आए

थे। मास्को के सारे होटल भरे हुए थे। मैं सामान एक जगह रखवा के कुर्सी पर बैठा था। अब मैं अफगानिस्तान के रास्ते जाना चाहता था, पहले समझा था, ताशकन्द या मध्यएसिया के किसी दूसरे शहर में अफगानिस्तानी कौन्सल होगा; लेकिन पता लगा, कि वहाँ कोई कौन्सल नहीं है। 3 बजे कौन्सल के पास गये, तो आफिस बन्द हो चुका था। अगले दिन जाने पर उसने परसों पर टरकाना चाहा, किन्तु मैंने और कुछ कहा-सुना और वीसा उसी दिन मिल गया।

पहिले दिन के खाली वक्त को मैंने लालमैदान और दूसरे स्थानों में घूमकर बिताया। रात को सोने का सवाल आया, सचमुच ही कोई कोठरी खाली नहीं थी। बेचारे करते क्या ? इसकी अपेक्षा यदि अकदमी की अतिथिशाला में गया होता तो अच्छा रहता। लेकिन मुझे इस दिक्कत का पता क्या था ? पता होता तो किसी दोस्त का पत्र लाया होता। खैर, साढ़े 8 बजे 717 नंबर की एक छोटी-सी कोठरी खाली हुई, और वहीं रात को सोने की जगह मिल गई। अगले दिन (15) स्तालिनाबाद की डाक पौने ग्यारह बजे जानेवाली थी। दिन में भी इधर-उधर घूमता रहा। मास्को की सड़कें चौड़ी की जा रही थीं। सोवियत प्रासाद–दुनिया की सबसे ऊँची इमारत–के निर्माण का काम हो रहा था।

रात को पौने ग्यारह बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। यह गाड़ी मास्को से तेरमिज ही नहीं, एक दिन और आगे ताजिकिस्तान प्रजातंत्र की राजधानी स्तालिनाबाद तक जाती थी। गाड़ियाँ आजकल भरी रहती थीं–इन दूर जानेवाली गाड़ियों के भरी रहने का मतलब इतना ही था, कि सीट खाली नहीं थीं, नहीं तो टिकट मिलने पर आदमी को पूरी सीट मिल जाती थी। हमारा डिब्बा गद्देवाला था।

दूसरे दिन (16 जनवरी) जमीन ऊँची-नीची आई, पहाड़ों की चारों ओर सफेद बर्फ ही बर्फ दिखाई देती थी। कितने ही गाँव मिले। घरों की छतों पर बर्फ पड़ी हुई थी। जहाँ-तहाँ देवदार और भोजपत्र के वृक्ष दिखाई पड़ते थे। गाँवों के मकान छोटे, लेकिन साफ थे। उनकी चिमनियों से धूँआ निकल रहा था–वे जाड़े के लिए गरम किए हुए थे। हमारी ट्रेन के साथ रसोईगाड़ी भी चल रही थी। उस दिन मैं वहाँ खाना खाने गया। मेरी मेज ही पर सामने दो कजाक किसान खाने के लिए बैठे। परोसिका ने एक प्लेट में गोश्त और चम्मच-काँटा रख दिया। कजाक बेचारे सदा से हाथ से खाते आए थे, चम्मच से मांस उठाना चाहते तो वह प्लेट से बाहर गिरना चाहता। दो-तीन बार के प्रयत्न में असफल होकर सोच रहे थे, किस तरह से खायँ। दोनों अपने यहाँ के किसी पार्लामेंट-सदस्य (देपूतात्) के साथ प्रथम अधिवेशन देखने और साथ ही तबारिश (साथी) स्तालिन के दर्शन के लिए आए हुए थे और अब मास्को से घर लौट रहे थे। परोसिका ने उनकी दिक्कत को समझा। वह उनके कंधे से सटकर खड़ी हो गई। वह अपनी मातृभाषा रूसी छोड़ दूसरी भाषा नहीं जानती थी, इसलिए बात से समझा नहीं सकती थी। छोटे-से बच्चे को जैसे कलम पकड़कर लिखना सिखाया जाता है, उसी तरह वह कजाक यात्री के हाथ को पकड़कर चम्मच से मांस उठाना सिखलाने लगी। यद्यपि शिक्षक और विद्यार्थी की उमर एक ही थी, लेकिन परोसिका की आँखों में मातृत्व की झलक थी। मुझे उस वक्त ग्यारह साल पहिले-पहिल छुरी-काँटा हाथ में लेने की बात याद आई। मैं पहिली बार सीलोन जा रहा था। मदरास मेल की रसोई गाड़ी में खाना खाने गया। चम्मच-काँटे को पकड़ना नहीं जानता था। जब खाना प्लेट से बाहर निकलने लगा, तो परोसनेवाले ने बड़े घृणापूर्ण स्वर में कहा–"रहने दो, हाथ से खाओ।" शरम के मारे मैं उस वक्त गड़ गया था, और यहाँ मैं इसी तरुणी को ही नहीं, आस-पास के बैठे हुए लोगों को देख रहा था, जो चम्मच के उपयोग की अनभिज्ञता को घृणाप्रदर्शन करने का कारण नहीं बना रहे। मानों सोवियत नागरिक अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि अपने अनभिज्ञ भाई को अभिज्ञ बनाएँ। फिर परोसिका श्वेतांगजाति की थी, जब कि खानेवाला काला आदमी था। 20 ही साल पहिले रंग का सवाल रूस में भी वैसा ही था, जैसे हिन्दुस्तान में आज भी था। रसोईगाड़ी में दो वक्त भोजन करने के लिए मुझे जाना पड़ता था, और परोसिकाओं से मेरा इतना परिचय हो गया था कि जब 7 वें दिन में तेरमिज में ट्रेन छोड़ने लगा, तो चिरपरिचित मित्र की तरह उन्होंने मुझे विदाई दी। तीसरे दिन तेरमिज स्टेशन पर मैं सामान लेने गया था। ट्रेन भी उसी वक्त स्तालिनाबाद से लौटकर आई थी। परोसिकाओं ने मुझे स्टेशन पर देखा, तो दौड़ी-दौड़ी आईं, और खूब हाथ मिलाया। वस्तुतः सोवियत के 20 करोड़ आदमियों

का एक दूसरे के साथ वही संबंध नहीं है, जो बहार की दुनिया में देखा जाता है। मैं यह नहीं कहता कि उनका आपस में सगे परिवार-जैसा संबंध पूरा हो गया है, लेकिन काफी दूर तक वह हो चुका है, इसमें संदेह नहीं।

17 जनवरी के सबेरे हमारी ट्रेन पहाड़ी मैदान से गुजर रही थी। यहाँ भी चारों ओर बर्फ ही बर्फ दिखाई पड़ती थी, लेकिन वह कम मोटी थी। कहीं-कहीं गोबर के उपले छल्ली करके रखे हुए दिखाई पड़े। गेहूँ के डंठल और सूखी घास के गंज गाँवों में रखे हुए थे। कुछ गंजों पर फूस की छान भी थी। अधिकतर मकानों की छतें फूस की थीं। गाँवों के पास वृक्ष थे, लेकिन आजकल पत्तियाँ झड़ गई थीं। जंगल कम थे। नदी-नाले सब जमे हुए थे। कुओं से पानी निकालने के लिए वैसी ही गड़ारियाँ थीं, जैसे हमारे कुओं पर हुआ करती हैं। दोपहर बाद ओरेनबुर्ग शहर आया। उतरकर स्टेशन के बाहर गये। कई लाख की आबादी का यह एक बड़ा शहर है। यहाँ रूसियों के अतिरिक्त मंगोल मुख-मुद्रावाले बहुत तातार स्त्री-पुरुष भी दिखाई दिए। तातार स्त्रियों में अब भी कितनी ही पाजामा पहिने थीं।

18 जनवरी के सबेरे मैं मध्यएसिया के मैदान में पहुँच गया था। 9 बजे (मास्को-समय) हमारी गाड़ी पहाड़ पर चल रही थी। कजाकों के मकान छोटे-छोटे और उनकी छतें मिट्टी की थीं, वैसी ही जैसी कि लखनऊ के गाँवों में मिलती हैं। मिट्टी की छतें ओरनेबुर्ग से शुरू होती हैं। सारे मध्यएसिया, और अफगानिस्तान होते उत्तरी भारत में वह लखनऊ तक चली आती हैं। वहाँ छोटी-छोटी घासें उगीं थीं, जिनमें दो-कोहानी ऊँट और भेड़ें चर रही थीं। खेत बहुत कम मिलते थे। 12 बजे (मास्को-समय) हम चेल्कर पहुँचे। यह बड़ा स्टेशन है। मिट्टी के तेल की यहाँ बहुत-सी टंकियाँ हैं। शहर रेलवे सड़क की दोनों ओर बसा है। रूसी और कजाक बच्चे साथ खेल रहे थे। इधर रेलवे लाईन के किनारे तार की जगह लकड़ी के चाचरों की बाढ़ लगी हुई थी। पतली बरफ अब भी जमीन पर पड़ी थी। भूमि अब समतल मैदान-जैसी थी, संदेह होता था, शायद यह रेगिस्तान है। आगे एक जगह पीली मिट्टीवाली जमीन दिखाई पड़ी। इधर स्टेशन-मास्टर कजाक थे, लाल सैनिक भी बहुत-से कजाक जाति के थे। ताशकन्द से मास्को जानेवाला हवाईजहाज आसमान में उड़ा जा रहा था।

19 जनवरी के सबेरे हम सिर (सैहूँ) नदी की उपत्यका में चल रहे थे, यह मध्यएसिया के दो बड़े दरियाओं—आमू और सिर—में से एक है, उपत्यका पर्वत रहित है। कज्लओर्द स्टेशन के पास बरफ की चित्तियाँ कहीं-कहीं दिखाई पड़ती थीं। यह बड़ा कस्बा था। मकान अधिकतर एकतल्ले थे। गाड़ियों में ऊँट और घोड़े दोनों जुते थे। आगे मीलों दो-दो हाथ ऊँचे सरकंडों का जंगल चला गया था। स्टेशनों पर कजाकतरुणियाँ बाल कटाए यूरोपीय पोशाक में घूम रही थीं। उनको देखने से क्या पता लगता था, कि यह उस देश की लड़कियाँ हैं, जहाँ वे 20 साल पहिले पूरी बोराबंदी के साथ घर से निकलती थीं। इधर सैकड़ों मील तक समतल पीली मिट्टीवाली जमीन है, सरकंडों को देखने ही से पता लग जाता था, कि इस भूमि को खेतों के रूप में परिणत किया जा सकता है, जरूरत है, सिर्फ नहरों की; जिसके लिए गंगा जैसी बड़ी सिर नदी वहाँ मौजूद ही है। मध्यएसिया की हजारों मील विस्तृत उस उजाड़ पड़ी धरती को देख मुझे कभी ख्याल आता था, यदि यहाँ 5, 10 लाख हिन्दुस्तानी ला के बसा दिए जाते, तो कितना अच्छा होता। कभी ख्याल आता, हमारे पच्चीसों लाख आदमी जो गुलामी की जिन्दगी बिताने के लिए दक्षिणी अफ्रिका, मारिशस, फीजी, गायना आदि गए, यदि वह मध्यएसिया में गए होते, तो आज वहाँ एक भारत-सोवियत-समाजवादी प्रजातंत्र रहता। फिर ख्याल आता, पकी-पकाई खाने का लोभ निकम्मा आदमी किया करता है।

रात को (2 बजे मास्को) दूर से ताशकन्द की बिजली दिखाई पड़ने लगी। ताशकन्द बहुत बड़ा शहर है, और बड़ी तेजी से बढ़ता जा रहा है। सोवियत में सूती कपड़े की मिलों का यह प्रधान केन्द्र है। स्टेशन बड़ा था, किन्तु देखने में उतना अच्छा नहीं जितना कि सोवियत के पच्छिमी भागों में मैंने देखा था।

20 के सबेरे हम पहाड़ी में चल रहे थे। यह पहाड़ छोटे-छोटे और नंगे थे। पूरब तरफ हिमालय की पच्छिमी शृंखला पामीर के हिमाच्छादित पहाड़ दिखाई दे रहे थे। जीजक् एक कल्खोजी गाँव है। यहाँ पचासों ट्रेक्टर और खुली लारियाँ देखीं। आजकल उनकी मरम्मत हो रही थी। मकान साफ-सुथरे थे। स्त्रियों में कोई

पर्दा नहीं था। पाजामा भी कुछ बुढ़ियों के ही शरीर पर दिखाई देता था। तरुण उजबकों की कलाइयों पर घड़ी भी बँधी दिखाई देती थी। कुछ बच्चे नंगे पैर घूम रहे थे। हमारा एक सहयात्री उनसे कह रहा था—अता (बाप) से कहो कि गलोस (जूता) खरीद दें। शायद अभी इधर के अता गलोस को उतना जरूरी नहीं समझते। इधर बर्फ नहीं थी। नदी में पानी बह रहा था। बागों में फलदार वृक्ष थे। बीरी और सफेदा के दरख्त बहुत थे। खेतों की भूमि असमतल थी। दोपहर को हमारी गाड़ी उत्तर से दक्खिन को जा रही थी। (11 बजे मास्को-समय) क्रोपत्किन् कलूखोज का बड़ा गाँव आया। हम लोगों ने सुन रखा है, कि वोलशेविक सिर्फ अपने पार्टी के वीरों का ही सम्मान करते हैं, लेकिन यहाँ एक बड़ा गाँव प्रसिद्ध अराजकवादी क्रान्तिकारी प्रिन्स क्रोपत्किन् के नाम से बसा दीख रहा था—अराजकवादी वोलशेविकों के विरोधी थे। इस बस्ती के मकान बहुत साफ और सुन्दर थे। स्टेशन के पास मिट्टी के तेल का गोदाम था। पंचायत के बरामदे में कितने ही उजबक पंच मंत्रणा कर रहे थे। उनके भीतर दो-एक रूसी चेहरे भी दिखाई पड़ रहे थे। 1 बजे समरकन्द आया। शहर आने से बहुत पहिले बाग शुरू हो गए। यहाँ के सेब, अंगूर, इंजीर आदि मेवे काबुल से भी अच्छे होते हैं, लेकिन आजकल तो वृक्षों पर फल क्या पत्ते भी नहीं थे। यहाँ के मिट्टी की दीवार और छतवाले मकान कुछ-कुछ तिब्बत जैसे मालूम होते थे। ईरान में भी मिट्टी की छत होती है, लेकिन वहाँ कच्ची ईंटों को जोड़कर उन्हें गुम्बद की शकल में बनाया जाता है, यहाँ वह चौरस थी। गाड़ी से उतरकर मैं स्टेशन के बाहर गया। सामने ही अनगढ़ पाषाण की वेदी पर लेनिन की मूर्त्ति (बस्ट) थी। शहर खूब लंबा-चौड़ा है। दोतल्ली इमारतें कम दीखीं। पुराने मकान भी बहुत हैं। मैंने वहाँ खड़े 80 आदमियों में गिना, तो सिर्फ तीन ही के दाढ़ी थी, उनमें भी बाकायदा इस्लामी दाढ़ी सिर्फ एक के मुँह पर थी। वहाँ कोई पर्देवाली स्त्री नहीं थी। यद्यपि फलों का मौसम नहीं था, लेकिन अंगूर कुछ बिक रहे थे। वह बहुत मीठे थे।

21 जनवरी को बड़े सबेरे आस-पास नंगे पर्वत दिखाई दे रहे थे। अब हमारी गाड़ी उजबेकिस्तान प्रजातंत्र को पार करके तुर्कमानिस्तान में चली आई थी। पहाड़ों के बीच में तिब्बत-जैसी मैदानी जमीन भी थी। जगह-जगह घास उगी हुई थी, और कितनी ही जगह तुर्कमान लोगों के तंबू थे। तुर्कमान स्त्रियों के सिर पर सीधी खड़ी टोकरी की तरह 5 सेर की पगड़ी बँधी हुई थी। इनका चेहरा चिपटा, बड़ा और भद्दा था, मर्द खूब कद्दावर थे। दूर वक्षु (आमू) नदी की विस्तृत उपत्यका थी। एक लंबी सुरंग से रेल पार हुई। सुरंग के मुँह पर फौजी चौकी थी। आगे दाहिनी ओर वक्षु बह रही थी। इधर के गाँव में अभी दाढ़ी, पुरानी पोशाक, पुराना रिवाज काफी दिखाई पड़ता था। गाड़ी साढ़े 9 बजे (मास्को) तेरमिज स्टेशन पर पहुँची।

3. तेरमिज में (21-25 जनवरी)

स्टेशन शहर से 5 मील दूर है। गाड़ी को अभी और आगे स्तालिनाबाद (दुशाम्बे) तक जाना था। 7 दिन के परिचित मित्रों और परोसिकाओं को 'पुनर्दर्शनाय' कहकर बिदाई ली। पता लगाने पर मालूम हुआ, कि मेरे दोनों बक्स इस ट्रेन से नहीं आये। साथ में थोड़ा-सा सामान था, जिसे स्टेशन के रक्षागृह में रख दिया। स्टेशन पर उजबक लोगों के अलावा कुछ ताजिक भी थे। ताजिकों के चेहरे पर मंगोल मुद्रा नहीं होती, इसलिए पहचानना आसान था। मैंने महम्मदोफ (ताजिक) से परिचय कर लिया। उन्होंने कहा—चलिए हमारे कलूखोज-नमूना के चायखाने में चाय पीजिये। गाँववालों को जब-तब शहर में आना पड़ता है, इसलिए सुभीते के वास्ते वे गाँव की ओर से शहर में भी अपना चायखाना (रेस्तोराँ) खोल लें, यह उनके लिए कोई मुश्किल नहीं था; क्योंकि गाँवों में भी खेती की तरह चायखाना और दूकान सबका साझे का, पंचायती होता है। जब गाँववाले शहर में सिनेमा देखने या किसी और काम से आते हैं, तो अपने चायखाने में ठहरते हैं। उन्हें वह वैसा ही मालूम होता है, जैसे एक घर के सगे भाई के पास कोई दूसरा शहर में जाय। चायखाना बहुत सीधा-सादा था। मिट्टी की दीवार और मिट्टी की छत थी। मेज-कुर्सी नहीं थी। दीवारों के किनारे-किनारे ऊँचा चबूतरा बना हुआ था, जिस पर चटाइयाँ बिछी थीं। लोग वहीं बैठे, चाय पीते गप कर रहे थे। मध्यएसिया में न हमारे यहाँ दूध-चीनीवाली चाय पी जाती है, न रूस जैसी नीबू-चीनीवाली। इसी तरह की चाय जापान में पी जाती है, लेकिन वहाँ प्याले

छोटे-छोटे होते हैं। यहाँ एक-एक आदमी को पूरा चाइनेक (चाय का बर्तन) और प्याला नहीं, चीनी मिट्टी का कटोरा दिया जाता है। इस फीके-कड़वे पानी को लोटा-लोटा-भर लोग कैसे चढ़ा जाते हैं ? वहाँ तंदूरी रोटियाँ भी थीं। मैंने यहीं खाना खाया। मुहम्मद ने शहर की सड़क पर छोड़ते हुए कहा, आप किसी दिन आयें तो मैं अपने गाँव में ले चलूँगा; मैं पैदल ही शहर पहुँचा। पहिले पासपोर्ट देखनेवाले कार्यालय में गया। वहाँ एक अर्धरूसी (यूरेशियन) महिला के जिम्मे यह काम था। किसी जमाने में यह हमारे एंग्लो-इंडियन की तरह रही होगी, किन्तु अब वह अपने को ऐसा नहीं समझती। मध्यएसिया में कितने ही रूसी पादरी अपने धर्म का प्रचार करते थे, और वहाँ लाखों ईसाई रहे होंगे, जो कि क्रान्ति के बाद सबसे पहिले सोवियत के समर्थक बने। महिला ने बड़ी भद्रता के साथ बात की। पासपोर्ट रख लिया। ठहरने के लिए सामने एक गस्तिनित्सा (अतिथिगृह) बतलाया। पूछने पर मालूम हुआ कि यहाँ एक अफगानसराय है। मैंने सोचा अफगानसराय में चलना अच्छा है। वहाँ अफगानों से मुलाकात होगी। मुझे अफगानिस्तान होकर जाना है, वह अपने देश के बारे में कुछ बतायेंगे। मैं अफगानसराय में चला गया। यहाँ पहिले शाक-सब्जी की हाट का मैदान था, जिसमें जहाँ-तहाँ कुछ घर बने हुए थे। एक श्रीहीन मकान था, इसी को अफगानसराय कहते थे। क़िसी वक्त यह किसी अफगान की सम्पत्ति थी। चौकीदार उजबक उजबकी, तुर्की और ताजिक की (फारसी) बोलता था। उसने एक बड़ी कोठरी में चारपाई दे दी। मैं फिर शहर की ओर निकला। सड़कें ज्यादातर कच्ची थीं, और उनमें कीचड़ थी। मकान छोटे-छोटे थे, जिनमें कितने ही पक्के थे। रेलवे लाइन स्टेशन के पास से होते वक्षु के तट तक चली गई थी, लेकिन उससे सिर्फ माल ढोया जाता था। शहर में रूसियों की संख्या अधिक थी, उनके बाद उजबक, फिर तुर्कमान और ताजिक आते थे। एक मकान के ऊपर 1899 लिखा हुआ था, अर्थात् वह आज से 39 वर्ष पहिले बना था। स्टेशन की ओर कितने ही सेब के बाग थे। यहाँ की आबोहवा वैसी ही थी, जैसी जाड़ों में लाहौर की। बर्फ कहीं नहीं थी और पानी भी नहीं जमता।

अगले दिन (22 जनवरी) दोपहर बाद घूमने निकला। कितने ही नए मकान बनते देखे। एक स्कूल मिला। दोतल्ला पक्की इमारत थी। देखने के लिए भीतर गया। फर्श लकड़ी की ईंटों का बना था, किन्तु पालिश नहीं थी। दरवाजा खटखटाने पर एक रूसी बुड्ढी आई। देखने की इच्छा प्रकट करने पर उसने कमरों को खोल-खोलकर दिखलाना शुरू किया। आज लेनिन का मृत्यु-दिवस था, स्कूल की छुट्टी थी। मकान के ऊपर दूसरी जगहों की तरह काली हाशिया का लाल झंडा लगा हुआ था। वह मुझे एक उजबक भूगोल-अध्यापक के पास ले गई। अध्यापक छात्र-छात्राओं को फोटो खींचने का तरीका सिखला रहे थे। मुझसे वह बात करने लगे। इसी वक्त दो प्योनिर्काओं–स्काउट बालचरियों–का डेपुटेशन आया। उन्हें मालूम हो गया कि इंदुस् (हिन्दुस्तानी) आया हुआ है। उन्होंने कहा–हम कुछ प्योनीर् और प्योनीर् का यहाँ जलूस निकालने की तैयारी कर रहे हैं। आप के बारे में सुना, आप चलकर हिन्दुस्तान के बारे में एक व्याख्यान दें। मैंने कहा, मुझे व्याख्यान देने-भर की रूसी नहीं आती। उन्होंने कहा कि आप ताजिकी में बोलें, हमारा एक ताजिक सहपाठी रूसी में अनुवाद कर देगा। वह मुझे एक बड़े कमरे में ले गये। वहाँ बेन्चों पर कितने ही प्योनीर् प्योनिर्काएँ तथा अध्यापिकाएँ भी बैठी हुई थीं। एक मेज के पास दो कुर्सियाँ रख दी गई थीं और पीछे दीवार पर एसिया का नकशा टाँग दिया गया था। पास की कुर्सी पर 10 वर्ष का एक ताजिक बालक बैठा था, जो दुभाषिया का काम कर रहा था। पहिले उन्होंने मेरी यात्रा का रास्ता पूछा। मैंने नक्शे पर दिखला दिया। फिर हिन्दुस्तानी प्योनीर् के बारे में पूछा। मैंने कहा–हिन्दुस्तान में बहुत कम लड़के स्कूल में पढ़ने जाते हैं, और उनमें भी बहुत कम प्योनीर् (बालचर) बनते हैं। उन्होंने पूछा–बच्चे क्या करते हैं। मैंने कहा–काम करते हैं। एक 9 बरस के रूसी लड़के ने अपनी छाती पर हाथ रखकर कहा–मेरे जैसे लड़के क्या करते हैं ? मैंने कहा–तुम्हारे जैसे लड़के ढोर चराते हैं, दूसरों के बच्चों को खेलाते हैं, या कोई और काम करके पेट की रोजी कमाते हैं। उनके चेहरों को देखने से मालूम होता था, कि वह मेरी बात पर विश्वास नहीं कर रहे हैं। मैंने पूछा–तुममें से किसी ने कापितलिस्त (पूँजीपति) देखा है ? सबने 'नहीं' कहा, लेकिन एक लड़के ने खड़े होकर कहा–मैंने देखा है। सब बच्चे सन्देह की दृष्टि से उसकी ओर देखने लगे। मैंने पूछा–कहाँ देखा है ? उसने कहा–सिनेमा के फिल्म में। मैंने कहा–हमारे

देश में कापितलिस्तों का राज है, इसलिए अधिकांश बच्चे न स्कूल जाने पाते हैं और न प्योनीर् बन सकते हैं। उन बच्चों ने कापितलिस्त नहीं देखे थे, लेकिन कापितलिस्तों की बहुत-सी कहानियाँ सुनीं थीं। वह कापितलिस्त को वैसा ही समझते थे, जैसे हमारे बच्चे पिशाच और दानव को। मेरी बात पर उन्होंने विश्वास किया। अपने देश में सफेद (पूँजीवादियों) और लाल (साम्यवादियों) के युद्ध की कथाएँ वह सुन चुके थे। स्पेन में जो उस वक्त सफेद जनता पर जुल्म ढाह रहे थे, उसकी भी खबरें उन्होंने सुनी थीं। उन्होंने पूछा—सफेद और लाल की लड़ाई में आप किसकी ओर हैं। मेंने कहा—लाल सेना की ओर। उन्होंने हिन्दुस्तानी सिक्का दिखलाने के लिए कहा। मेरे पास अंग्रेजी सिक्के थे। मैंने उन्हें दे दिया। सबने एक-एक करके देखा। उनका धन्यवाद लेकर मैं स्कूल से बाहर निकला।

शहर से बाहर निकला। सड़क से थोड़ा हटकर एक गाँव दिखाई दिया। वहाँ गया। यह कल्खोजी गाँव था, जिसका नाम था, "कल्खोज-वैनुल्मलल्" (अन्तर्राष्ट्रीय पंचायती गाँव)। कल्खोज के आफिस में गया। वहाँ रेडियो और बिजली की रोशनी लगी हुई थी। कोई ताजिक नहीं था, इसलिए मैं अपनी बात को समझा नहीं सका। मैंने ट्रेक्टर और खेती की दूसरी मशीनों को देखा, गाँव के स्कूल को देखा। इस गाँव में 150 उजबक घर थे।

सारे मध्यएसिया में कपास की खेती होती है, गेहूँ और दूसरी खाने की चीजें आसपास के प्रजातंत्रों से आती हैं। खेत जुत गये थे। लोग कपास बोने की तैयारी कर रहे थे, और कितने ही नर-नारी नहर साफ करने में लगे हुए थे। यहाँ ईंधन के लिए कपास का डंठल इस्तेमाल किया जाता था। सभी मकान कच्चे थे, लेकिन खिड़कियों में शीशे लगे थे। किसी आदमी के शरीर पर फटा कपड़ा नहीं था और न चेहरा सूखा हुआ। मैं व्रिगादीर—कमकरों के सरदार—के कार्यालय में पहुँचा। आँगन में कितने ही लोग योजना बना रहे थे। द्वार पर कुत्ते बँधे थे। व्रिगादीर बाहर आया, और इतने जोर से हाथ मिलाया कि मेरा हाथ दुखने लगा। हम दोनों एक दूसरे की भाषा नहीं समझ सकते थे, इसलिए बातचीत नहीं कर सके।

23 जनवरी को मैं स्टेशन गया। मुहम्मदोफ़ मिल गये। वह मुझे लेकर अपने गाँव कल्खोज-नमूमा की ओर चल पड़े। हम पगडंडी के रास्ते गये। यह दो सौ घरों का गाँव है, जिनमें कुछ घर ताजिकों के भी हैं। इस गाँव को बसे 10 साल हुए थे, जब कि वक्षु की नहर इधर से निकली। इनके पास दो हजार एकड़ खेत हैं। एक ट्रेक्टर और दो खुली लारियाँ गाँव की हैं। काम पड़ने पर मशीन-ट्रेक्टर-स्टेशन से और भी ट्रेक्टर आ जाते हैं। उस वक्त एक ट्रेक्टर खेत में चल रहा था जिसे एक रूसी चला रहा था। महम्मद ने मेरा परिचय दिया, और ड्राइवर ने आकर हाथ मिलाया। स्कूल में गये। वहाँ 35 बालिकाएँ और 53 बालक पढ़ रहे थे, दो अध्यापक थे, पढ़ाई का माध्यम उजबकी भाषा थी। अक्षर उन्होंने रोमन कर दिए हैं। हमारे यहाँ की तरह वहाँ 10 बजे से 4 बजे तक पढ़ाई नहीं होती। सबेरे 8 बजे से 12 बजे तक और शाम को 2 बजे से 6 बजे तक पढ़ाई का समय है। लेकिन सभी लड़कों को 8 घंटा नहीं पढ़ना पड़ता। मुख्याध्यापक ने चाय पीने का निमंत्रण दिया। उनका मकान स्कूल से पीछे की ओर था। मकान कच्चा था, लेकिन साफ-सुथरा था। भीतर एक मेज और दो-तीन कुर्सियाँ थीं। दीवारों पर नेताओं की तसवीरें थीं। हम कुर्सियों पर बैठ गये। अध्यापक ने प्लेट में कुल्चे लाकर रख दिए। थोड़ी देर में लाल मुँह और पीले बालवाली एक स्वस्थ तरुणी चाय का बर्तन लेकर आई। अध्यापक ने "यह मेरी बीवी है" कहकर परिचय कराया। बीवी रूसी थी, इसलिए बात करना अधिक आसान था। सोवियत में इस तरह के एसियाई-यूरोपीय ब्याह बहुत हो रहे हैं, इतने ज्यादा हो रहे हैं कि इस शताब्दी के अंत तक सभी जातियाँ मिश्रित हो जायँगी। चाय पीकर फिर बाहर निकले। मकतब (स्कूल) से सटा ही गाँव का चायखाना है। बैठने के लिए यहाँ भी दीवार के किनारे चबूतरे थे। वहाँ कई इकतारे रखे हुए थे। रात के नाच-गान की तैयारी हो रही थी। फिर हम क्लुब (क्लब) में गये। क्लब गाँव के जीवन का बड़ा केन्द्र है। क्लब के हाल में पाँच सौ आदमी बैठ सकते हैं। उसके साथ ही पाँच और कमरे थे, जो पुस्तकालय आदि के काम में आते थे। गाँवों में हर हफ्ते चलते-फिरते सिनेमा आया करते हैं। उस वक्त यह बड़ा हाल सिनेमाहाल बन जाता है। यहीं सभाएँ होती हैं, लेक्चर और नाटक होते हैं। अभी क्लब

का मकान पूरी तौर से तैयार नहीं हो पाया था। पक्की ईंटों की दीवारें तैयार थीं, लेकिन हाल की छत अभी नहीं पटी थी। बढ़ई दरवाजे तैयार कर रहे थे। अस्तबल में गये। वहाँ 60 घोड़े थे, जो इस वक्त चरने के लिए गये थे। लेकिन अस्तबल बहुत साफ था। हर घोड़े का साज उसकी पीठवाली दीवार पर कायदे के साथ टँगा हुआ था, गौशाला में 100 गाएँ थीं। इनके अतिरिक्त लोगों के पास कुछ वैयक्तिक गाएँ, भेड़ें और मुर्गियाँ थीं। हर घर को अपने पिछवाड़े थोड़ा-थोड़ा खेत साग-सब्जी के लिए मिला था, बाकी सारी खेती साझे में होती थी। स्त्री-पुरुषों की टोली से बिग्रेड बना हुआ था। हरेक आदमी का काम हाजिरी बही में लिखा जाता था। अभी तो खेती का काम नहीं था, खेती के काम के वक्त बच्चाखाना (शिशुशाला) संगठित किया जाता है, जिसमें कुछ औरतें बच्चों की देखभाल को सँभाल लेती हैं। इस गाँव में सिर्फ मिश्री कपास की खेती होती है। पिछले साल 8 लाख रूबल (करीब 4 लाख रुपये) का कपास बेचा गया था, और हर घर की तीन से पाँच हजार रूबल तक की आमदनी हुई थी। इस गाँव में खरबूजे, तरबूजे और तरकारी आदि के लिए भी अलग खेत हैं।

हम जब पुस्तकालय (वहाँ कई अखबार थे) आदि देखकर स्कूल के पास पहुँचे, तो तेरमिज से पाँच साइकिलवाले सैलानी आ गये। उनमें चार अध्यापक थे, एक डाक्टर—चार उजबक और एक रूसी। रंगभेद, जातिभेद का तो ख्याल तक भी इनके भीतर नहीं रह गया था। महम्मद के साथ जब हम लौटने लगे, तो पूरब ओर एक नीले गुम्बदवाली ऊँची इमारत देखी। मेरे कहने पर महम्मद मुझे वहाँ ले गये। देखा, गुम्बद की नीली ईंटें कहीं-कहीं निकल गई हैं, लकड़ी का ढाँचा बाँधकर उस वक्त मरम्मत हो रही थी। महम्मद ने बतलाया कि यह गाँव की ओर से नहीं, पुरातत्वविभाग की ओर से हो रही है। मैंने भीतर जाकर देखा। वहाँ हाते में हजारों कब्रें थीं। गुम्बद के भीतर कुछ पक्की और अच्छी कब्रें थीं। महम्मद ने बतलाया, यह सुल्तानुस्सादात् की जियारत है। क्रान्ति से पहिले यह सारे मध्यएसिया के लिए एक बड़ा तीर्थ था, दूर तक गिरे हुए कच्चे घरों को दिखलाकर उसने कहा—पहले यहाँ बहुत से मुजावर (पंडे) रहा करते थे। उसने बतलाया कि लोग दुख-सुख में हजरत सुल्तानुस्सादात् की मिन्नत माना करते हैं। मुजावरों को खूब आमदनी होती थी। यदि उस वक्त आप आये होते, तो गुम्बद के भीतरवाली कब्र पर ज़री और रेशम की चादरें देखते। यहाँ सुगन्धित धूप का धुआँ दिखाई पड़ता, दर्शन की भीड़ लगी रहती थी और अब देख रहे थे कि सिर्फ हम दो दर्शक हैं। कब्र वर्षों से बेमरम्मत हो गई थीं, जहाँ-तहाँ पत्थर-चूना निकलने लगता है। मैंने पूछा—वह मुल्ला मुजावर गये कहाँ ?

महम्मद ने कहा—हमने उन्हें रवाना कर दिया। मैंने पूछा—कहाँ ? महम्मद ने जवाब दिया—दोज़ख में और कहाँ ? जब हम अमीर (नवाब) और बेगों (जागीरदारों) से लड़ रहे थे, तो वह मुल्ले फतवा देते थे, कि तुम अल्ला से लड़ रहे हो। हमने उसे भी मान लिया, और सोचा जो अल्ला अमीर के ही साथ रहता है, तो चलो दोनों ही के साथ निबट लिया जाय। हम अपनी लड़ाई में कामयाब हो गये और अब अमीर, अल्ला, मुल्ला को आप आमू-दरिया के उस पार पायेंगे। मैंने पूछा—"रफ़ीक़ महम्मदोफ़ ! क्या तुम्हें मजहब की जरूरत नहीं मालूम होती ?" महम्मद ने इतमीनान से जवाब दिया—"हम काम करना, पढ़ना जानते हैं, सबकी भलाई में अपनी भलाई समझते हैं। खाना-पीना नाच-गाना जानते हैं, हमें और क्या चाहिए।" हम वहाँ से स्टेशन जा रहे थे, उस समय कुछ औरतें आ रही थीं। उनमें से कुछ पाजामा-कुर्ता और ओढ़नी में थीं। मैंने महम्मद से पूछा—तुम्हारे गाँव में कोई नमाज पढ़ता है कि नहीं ? महम्मद ने जवाब दिया—चार साल पहिले कुछ रोजादार थे, किन्तु अब कोई रोजा नहीं रखता। दो-चार नमाज पढ़नेवाले हैं, लेकिन वह घर के भीतर पढ़ते हैं। मैंने पूछा—घर से बाहर मस्जिद में क्यों नहीं पढ़ते। जवाब मिला—उठते-बैठते देखकर युवक-युवतियाँ मजाक उड़ाते हैं।

24 जनवरी को मैं फिर शहर में चक्कर काटने निकला। कारखानों की ओर गया, वहाँ बच्चाखाना (शिशुगृह) देखा। पक्का साफ मकान था। सर्दी से बचने के लिए उसे गरम किया गया था। सोने के लिए चारपाइयाँ पड़ी थीं। दाइयाँ, खिलौने सभी चीज़ें थीं। एक क्लब में गया। वहाँ कई कमरे थे, और दो सौ कुर्सियों का एक हाल था। आज 'पुगाचेफ फिल्म' दिखलाया जानेवाला था। दो नवजवान और एक युवती मोटे-मोटे अक्षर

में विज्ञापन लिखने में जुटे थे।

हाट देखने गया। वहाँ मूली, चुकन्दर, गाजर, गोभी, आलू आदि चीज़ें बिक रही थीं। यह सब चीजें खुली जगह में बिक रही थीं, बेचनेवाले आसपास के कोल्खोजों के किसान थे। कुछ दूकानें भी थीं, जिनमें बड़ी-बड़ी पावरोटी आरी से काट-काटकर बिकती थीं, रोटियाँ बहुत सस्ती थीं। एक शरतराशखाना (हजामघर) भी था। मैंने बाल बनवाये, जिसके तीन रूबल (प्रायः डेढ़ रुपया) देने पड़े। अफगानसराय में कुछ अफगान सौदागार मेरे ही कमरे में ठहरे हुए थे। वह अपने साथ गोश्त ले आये थे। दो-एक दिन में गोश्त खतम हो गया, तो चौकीदार से कहा—"हमारे लिए एक भेड़ का अच्छा गोश्त ले आओ।" चौकीदार ने कहा—"हाँ साहेब ! मैं कलूखोज का गोश्त लाऊँगा।" मैंने पीछे चौकीदार से कहा—"अच्छा गोश्त का मतलब समझा ?" उत्तर दिया—"हाँ, उनका मतलब है, हलाल किया हुआ गोश्त। जानवर को रेत-रेतकर मार करके तैयार किये गोश्त को अच्छा समझते हैं। यहाँ कौन रेतने के लिए तैयार है। गोश्त तो वही है, लेकिन मैंने कोल्खोज से कह दिया है, वह समझ रहे हैं कि गाँवों में भेड़ें हलाल की जाती हैं।"

एक दिन मैं बाहर से घूमकर सराय की ओर आ रहा था। देखा, सड़क पर से कितने ही स्त्री-पुरुष हँसते हुए सराय के फाटक के भीतर की ओर देख रहे हैं। सामने आकर देखा तो एक उजबक और एक रूसी दो जवान एक दूसरे के कन्धे पर हाथ रखे झूमते-झामते 'लड़खड़ाते' गीत गाते आ रहे हैं। उन्होंने शराब कुछ ज्यादा पी ली थी, इसलिए एक का अलाप पूरब जाता था, तो दूसरे का पच्छिम। सब लोग उसका आनन्द ले रहे थे। उनको देखकर मेरे दिल में दूसरा ख्याल हो आया—"इनमें एक काला है, और एक गोरा, किंतु आज काले-गोरों का फर्क यहाँ कुछ नहीं है।" वक्षु के किनारे अफगानिस्तान से आये बहुत-से रुई के गट्ठर पड़े थे, वहाँ भी मैंने देखा, कितनी ही काली-गोरी औरतें फटे बस्तों को सी रही थीं। जिस नाव से मैं आमू-दरिया पार हुआ, उसमें 12 खलासी थे, जिनमें 10 रूसी थे। सब साथ-साथ सामान ढोते रहे और जब नाव चली, तो साथ ही बैठकर चाय-रोटी खा रहे थे। सोवियत-भूमि में ऐसे दृश्य बिल्कुल साधारण हैं।

पासपोर्ट के इन्तिजाम में देरी देखकर मैं गस्तनित्सा में चला आया। यहाँ अलग कमरा नहीं पा सका, इसलिए एक रूसी इंजीनियर के कमरे में मुझे जगह मिली। 26 को चलने का सब इन्तिजाम हो गया। मेरे पास रूसी सिक्के खतम हो गये थे। 20 रूबल दुरुश्की (घोड़ागाड़ी) के नदी तट तक देने पड़ते। रुपयों के लिए बैंक के खुलने आदि का इन्तिजार करना पड़ता। मैंने अपनी घड़ी इंजीनियर को दे दी—उसकी बातों से मालूम हुआ था, कि उसे एक घड़ी की जरूरत है। वह पैसा देने लगा, मैंने सिर्फ उसमें से 20 रूबल लिये। उसे आश्चर्य हो रहा था। मैंने कहा—आमू पार तो मैं एक भी रूबल नहीं ले जा सकता, फिर अधिक की क्या जरूरत ?

26 जनवरी को 10 बजे अपना सामान लिये-दिये मैं एक घोड़ागाड़ी पर घाट की ओर चला। रास्ते में कुछ खाली जगह मिली, फिर गाँव और खेत आये, आगे सिपाही ने रोका। पासपोर्ट देखने पर वह हमें कनत्रोलर के यहाँ ले गया। कागज-पत्तर देख लेने पर फिर मैं नदी के किनारे पहुँचा। चीनी, लोहा, कपड़ा, चीनी बर्तन यह चीजें सोवियत से अफगानिस्तान को जाती हैं, जिनके बदले में अफगानिस्तान ऊन, चमड़ा, कपड़ा, और सूखे मेवे भेजता है। घाट पर मेरे बक्सों को खोलकर एक-एक चीज को गौर से देखा गया। कागजों की छानबीन हुई। कनत्रोलर बुलाया गया। वह अखबार की कतरन और आमतौर से बिकनेवाले फोटो देना नहीं चाहता था। मैंने समझाया कि हिन्दुस्तान में जाकर मुझे सोवियत-भूमि पर एक पुस्तक लिखनी है। खैर, आखिर में उसने सभी चीजें लौटा दीं। 2 बजे बाद मोटरबोट रवाना हुआ। वहाँ मैं अकेला यात्री था, बाकी माल, माल उतारनेवाले तथा खलासी नाविक थे। वक्षु जिसे ओक्सेस और आमू-दरिया भी कहते हैं, गंगा से कम चौड़ी और गहरी नहीं है। यही सोवियत और अफगानिस्तान की सीमा है। मोटरबोट को नदी आरपार करने में एक घंटा लगा। दूसरे किनारे पर पहुँचने पर अफगान-अफसर मुझे नाव पर ही रोके रहा।

24

अफगानिस्तान में (26 जनवरी–8 फर्वरी 1938 ई.)

सामान को नीचे उतारा गया। अफसर ने मामूली तौर से जाँच की। अफगान (पठान) होते हैं ज्यादा मेहमान-नेवाज। उसने चाय पिलाई और रहने के लिए कहा। यह लोग नदी के कछार में तम्बू डालकर पड़े हुए थे। मैंने उन्हें तकलीफ देना नहीं चाहा और कहा कि मैं जल्दी से जल्दी मजारशरीफ पहुँच जाना चाहता हूँ। उसने कहा–मैं मजार से ताँगा भेजने के लिए टेलीफोन कर देता हूँ, और यहाँ से साथ में सिपाही भेज दूँगा, अस्करखाना में आपको ताँगा मिल जायगा। 25 अफगानी (साढ़े 12 रुपये) में दो घोड़े किराये कर दिये। एक घोड़े पर सामान रखवा दूसरे घोड़े पर चढ़के सिपाही के साथ मैं चला। उस वक्त सूर्य डूब रहा था। वक्षु की कछारों में मूँज का जंगल लगा हुआ था। इसी जंगल में से रास्ता था। मँगाने पर मोटर किनारे तक आ सकती थी, किंतु वह खर्चीली थी। दो मील चलने के बाद एक फौजी चौकी मिली। साथ आए सिपाही ने वहाँ चिट्ठी दी। यहाँ भी रहने के लिए लोगों ने मूँज की झोंपड़ियाँ बना ली थीं। मुझे झोंपड़ी में बैठाया और बहुत आग्रह करके भोजन कराया गया। भोजन चाहे जितना सीधा-सादा हो, लेकिन जब उसके साथ प्रेम और सत्कार मिल जाता है, तो वह बहुत मधुर हो जाता है। वक्षुतट से खैबर तक पठानों का साथ रहा, हर जगह मैंने उन्हें अकृत्रिम स्नेह-सत्कार दिखलाते पाया। सोवियत-भूमि में भी स्नेह-सत्कार है, लेकिन वह बिल्कुल दूसरी दुनिया है। भोजन के बाद दो सशस्त्र घुड़सवार मेरे साथ कर दिए गये और डेढ़-दो घंटा रात गये मैं फिर रवाना हुआ। इस रात को भी ऊँटों का काफला वक्षु-तट की ओर जा रहा था। सशस्त्र सवार इसलिए जरूरी समझे गये थे, कि रास्ते में कोई खतरा न आए। 5 मील चलने के बाद अस्करखाना आया। यह एक छोटा-सा किला था। ताँगा आकर वहाँ खड़ा था। अफसर ने दो नए सवार दिए, और हमारा ताँगा आगे के लिए रवाना हुआ। आधी रात गये हम शागिर्द की फौजी चौकी पर पहुँचे। यहाँ फोन नहीं आया था, इसलिए आगे जाने का इंतिजाम नहीं हो सका और रात को हम वहीं एक घर में सो गये। सबेरे (27 जनवरी) शागिर्द से चले। शागिर्द किसी वक्त बड़ी बस्ती थी, लेकिन अब उजड़ गई है। यहाँ पास में न पहाड़ है न जंगल, लेकिन पशु-चारण के लिए अच्छी जगह है।

यही पुराना वाह्लीक देश है। सड़क कच्ची थी, लेकिन खराब नहीं थी। दूर से मजार की जियारत के नीले गुम्बद दिखलाई पड़ने लगे। पहिले हवाई अड्डा आया, लेकिन आजकल यह परित्यक्त है, क्योंकि अमानुल्ला के शासन के खतम होने के बाद काबुल से ताशकन्द हवाई जहाजों का जाना बन्द हो गया। फिर एक कच्चा किला आया, जिसके पास जानवरों का बाजार लगा था। गुमरग् में गये, सामान वहाँ रखवा लिया गया, और सरकारी होटल में हमारे रहने का इन्तिजाम करके भेज दिया गया। बलख, मजारशरीफ और आगे ऐबक तक उजबक लोगों का प्रदेश है–वही उजबक जो वक्षु पार सोवियत उजबकिस्तान में बसते हैं, अर्थात् ताशकन्द से ऐबक तक सारा प्रदेश उजबक-जाति का है। सोवियत की तुर्कमान और ताजिक जातियों के भी लाखों भाई-बन्द इसी तरह अपने भाइयों से अलग करके काबुल के राज में डाल लिये गये हैं। अफगानिस्तान के भीतर रहनेवाले ये लोग जानते हैं, कि नदी पार उनके भाई एक नया स्वर्ग बनाने में लगे हुए हैं, और बहुत दूर तक उनका जीवन एक बहिश्ती जिन्दगी-सा हो गया है। यद्यपि दूसरी सरकारों की तरह अफगान-सरकार भी कोशिश करती है कि उसके यहाँ के ताजिक-उजबक-तुर्कमान अपने सोवियत-निवासी भाइयों से कोई सम्पर्क स्थापित न कर सकें; लेकिन उन्हें आमू के किनारे तो जाना ही पड़ता है, जहाँ से वह मीलों तक बलती तेरमिज की बिजली-बत्तियों को देख सकते हैं। कभी-कभी छिपकर आने-जानेवालों से और भी बातें उन्हें मालूम होती रहती हैं। सोवियत-कौन्सल और दूतावास में भी उनके भाई अफसर होकर आते हैं, उनसे भी कभी-कभी बातचीत का मौका मिलता है। इस लड़ाई के बीच में तो सोवियत के इन प्रजातन्त्रों को अपनी सेना ही रखने का अधिकार नहीं मिला है, बल्कि वह दूसरे देशों में अपने रातदूत भी रख सकते हैं। जिस वक्त उजबक, तुर्कमान और

ताजिक प्रजातन्त्र अफगान सरकार से दूत-सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कहेंगे, उस वक्त इनकार करना आसान नहीं होगा। सोवियत-सीमा का हिन्दुकुश तक पहुँचना उतना ही स्वाभाविक है, जितना कि उसका पोलैंड की ओर कर्जन-रेखा तक था। यद्यपि अफगानिस्तान के ताजिकों, उजबकों, तुर्कमानों को "वोलशेविक लामजहब हैं" कहकर बहुत भड़काया जाता है, लेकिन मैंने स्वयं कुछ ताजिकों और उजबकों को कहते देखा—यह सब बातें झूठी हैं, एक दिन अपने भाइयों से मिलने में ही हमारा कल्याण है।

मजार एक अच्छा-खासा कसबा है। वह अफगानी तुर्किस्तान का व्यापार केन्द्र है। पहिले यहाँ काफी हिन्दुस्तानी दूकानें थीं, लेकिन अब अफगान-सरकार विदेशी सौदागरों को प्रोत्साहन नहीं देती। बहुत-से रोजगार सरकार ने अपने हाथ में ले लिये, जिससे व्यापारियों के लिए मुकाबिला करना मुश्किल हो गया। दोपहर बाद ताँगे से बलख देखने गया। बलख यहाँ से 6 क्रोर (कोस) है। 15 अफगानी (प्रायः 4 रुपये में) आने-जाने का ताँगा किया था। घोड़ों के बारे में क्या पूछना। वाह्लीक के घोड़े ठहरे। वाह्लीक घोड़े पुराने समय में भी मशहूर थे। इधर ताँगे में जुतता तो एक ही घोड़ा है, लेकिन उसके साथ-साथ एक और भी घोड़ा चलता है। सड़क कच्ची थी। रास्ते में तख्ता पुल नामक एक कच्चा किला मिला। आजकल यह खाली पड़ा है। फिर दूर तक फैला बलख-नगर का ध्वंसावशेष है। हजार साल पहिले यह दुनिया के सबसे बड़े शहरों में गिना जाता था, आज भी इसे मादरे-शहर कहते हैं, किन्तु अब जहाँ-तहाँ छोटे-छोटे गाँव रह गये हैं। हजरत अकसा का मजार बहुत पवित्र माना जाता है, इसके आसपास हजारों कब्रें बनी हैं। साथ चलनेवाला ताजिक बतला रहा था, कि हजरत अकसा की छाया में जिसकी कब्र बन जाय, उसको दोजख की आग नहीं जला सकती। अफगान-सरकार बलख में एक शहर नहीं, छोटा-मोटा कसबा बसाना चाहती है। बड़ी मस्जिद के थोड़े हिस्से की मरम्मत की गई है, उसके सामने गोल बाग बनाया गया है। एक ओर बहुत-सी नई दूकानें बस गई हैं। यह दूकानें मजार से लाकर बसाये गये यहूदियों की हैं, लेकिन मँगनी की चीजों को बेंचने से थोड़े बड़े-बड़े शहर बसा करते हैं। बलख का भाग्य तभी खुलेगा, जब कि यहाँ के उजबक भी अपने वक्षुपार के भाइयों से मिल जायेंगे।

मकानों के बनाने के लिए यहाँ ईंटों के पकाने की जरूरत नहीं पड़ती। जमीन के नीचे पुराने घरों की इतनी ईंटें पड़ी हैं, कि हजारों घर तैयार किये जा सकते हैं। एक जगह ईंटें निकाली जा रही थीं। मैंने जाकर देखा, वहाँ साढ़े तीन हाथ मोटी दीवार थी और एक-एक ईंट 15 इंच लम्बी और 15 इंच चौड़ी, 3 इंच मोटी थी। आज ही मेरे पैर में मोच आ गई थी, इसलिए ज्यादा नहीं घूम सकता था। ताँगा छोटी-सी नदी के पुल से पार हो रहा था, पुल पर कुछ लकड़ियाँ रखी थीं, घोड़े का पैर उसमें फँस गया और चर्र की आवाज के साथ वह वहीं गिर गया। मैंने तो समझा कि हड्डी टूट गई। लेकिन ताँगावाला घोड़ा खोलकर टहलाने लगा। दूसरा घोड़ा लगा के कुछ मील दौड़ने के बाद उसका लँगड़ाना छूट गया।

अगले दिन (28 जनवरी) मैंने पूछ-ताछ की, तो मालूम हुआ कि हुबल्ली (कर्नाटक) के कप्तान प्रभाकर यहाँ चिकित्सक हैं। उनके पास गया। बड़े प्रेम से मिले। वह 20 महीने से यहाँ पर हैं। पहिले आई. एम. एस. डाक्टर थे, पेन्शन लेने के बाद उन्होंने दो साल के लिए अफगान-सरकार की नौकरी कर ली थी। धर्म से वह ईसाई थे, लेकिन हिन्दुस्तान से बाहर जाने पर हिन्दुस्तानियों को हिन्दू-मुसल्मान-ईसाई का ख्याल भूल जाता है, और वह अपने को हिन्दुस्तानी समझने लगते हैं। यदि किसी अभागे ने नहीं समझा, तो वहाँ वाले ठोकर मार-मारकर समझा देते हैं।

29 जनवरी को मैं बल्दिया (म्युनिसिपैल्टी) का म्युजियम देखने गया। यहाँ पुराने सिक्कों का अच्छा संग्रह है। यूनानी और कुषाण काल के चाँदी, सोने, ताँबे के हजार से ऊपर सिक्के हैं। ज्यादातर सिक्के यहाँ से 3 कोस दक्खिन शहरवान में मिले थे। गन्धारकला की कितनी ही चूने की मूर्तियाँ भी हैं। कुछ पुरानी हस्तलिखित पुस्तकें थीं, जिनमें से एक हजार वर्ष से ज्यादा पुरानी थी।

गुमरग ने मेरे दोनों बकसों पर मुहर लगा दी और उनके बारे में काबुल तार भी दे दिया। मजारशरीफ से काबुल को लारियाँ बराबर जाया करती हैं। 60 अफगानी (15 रुपया) में काबुल जानेवाली लारी पर ड्राइवर के पास सीट मिली। रुपयों के हिसाब में पेशावर से 20 रुपये में आदमी मजारशरीफ पहुँच सकता है, और

25 रुपये में सोवियत की सीमा के भीतर दाखिल हो सकता है। हमारी लॉरी के मालिक जरीफखान बड़े ही भलेमानुस निकले। काबुल तक उन्होंने अपने ही साथ खाने के लिए मुझे मजबूर किया। मुझे वह एक भी पैसा खर्च नहीं करने देते थे। दोपहर बाद हम मजार से रवाना हुए। पहिले खुला मैदान था, फिर पहाड़ के भीतर घुसे। कोतल-ऐबक (ऐबकजोत) एक छोटा-सा डाँड़ा है, उसे पार कर उस दिन रात को ऐबक की सराय में ठहरे। अब हम हजारा लोगों के प्रदेश में आ गये थे। हजारा मंगोल–चंगेजखाँवाले मंगोल–हैं। अफगानिस्तान में सिर्फ यही शिया धर्म के माननेवाले हैं, बाकी सभी सुन्नी हैं।

अगले दिन (30 जनवरी) 10 बजे रवाना हुए। कोतल-रोबा तक काफी ऊँची जोत है। यहाँ ऊपर बर्फ थी। मैंने लॉरी में कई तावीजें बँधी देखीं। ड्राइवर से पूछा, तो उसने कहा–"अभी आगे आप देखेंगे, रास्ता बहुत खतरनाक है। मैंने बड़े-बड़े पीरों की तावीजें ली हैं, यह न होतीं, तो गाड़ी न जाने कितनी बार उलटी होती।" उस वक्त मुझे महम्मदोफ़ की बात याद आई। उसने कहा था, कि सुल्तानुस्सादात की जियारत में गदहों के लिए भी ताबीज मिलती थी। आगे उतराई के बाद मैदानी जमीन आई, यह था गोरी का प्रदेश, जिसने हिन्दुस्तान के विजेता सुल्तान शहाबुद्दीन को पैदा किया था। यहाँ शाली (धान) के खेत बहुत ज्यादा थे। काफी रात जाने पर हम दोशी पहुँचे, और रात को यहीं ठहर गये। 31 जनवरी को चाय पीकर चले। भूमि सारी पहाड़ी है। कुछ चढ़ाई आई, इधर खेत और बाग बहुत थे, पहाड़ नंगे थे और उन पर बर्फ नहीं थी। उस दिन रात को हम वलूवला में ठहरे। अगले दिन (1 फर्वरी) तड़के ही रवाना हुए। थोड़ा आगे जाने पर वलूवला का किला मिला। किले से थोड़ा पहिले ही वामियान की सड़क अलग हुई। वामियान देखने की इच्छा थी, लेकिन इस वक्त तो सामान के साथ पहिले काबुल जाना जरूरी था। काबुल से आने का विचार कर रहे थे, इसी बीच बर्फ पड़ गई, और फिर आने का रास्ता नहीं रह गया। किले से आगे चढ़ाई थी, और बरफ के ऊपर लारी के पहिए फिसल रहे थे। सब लोग उतर गये। बड़ी मुश्किल से लारी आगे बढ़ी। एक छोटा-सा कोतल पार हो फिर कुछ दूर पर हिन्दुकुश का सबसे बड़ा डाँड़ा कोतल-शक्कर आया। यहाँ चारों ओर बरफ ही बरफ थी। आगे उतराई और बरफ मिलती गई। शाम से बहुत पहिले हम चारदी-गुर्बन पहुँचे। गुर्बन नदी के किनारे चारदी बड़ी बस्ती है, यहाँ दूकानें भी काफी हैं। एक देशी होटल में ठहरे। पता लगा, मिट्टी की पिटारियों में बन्द किए ताजे अंगूर यहाँ मिलते हैं। ज़रीफ़ ख़ान को मालूम होने नहीं दिया, और मैंने 2, 3 सेर अंगूर खरीद मँगवाया। खाने के लिए मैं यहीं अपना पैसा खर्च कर सका।

रात से ही बरफ पड़ने लगी थी। दूसरे दिन (2 फर्वरी) जब हम चले, तब भी बरफ पड़ रही थी। गुर्बन नदी की धार बह रही थी, किन्तु उसके किनारे पर सफेद बरफ की मगजी लगी हुई थी। एक जगह गदहे वाला लारी से बिल्कुल चार अंगुल पर खड़ा था। ड्राइवर ने ज़ब हटने के लिए कहा तो उसने कहा–बरौ, खुदा खैर कुनी" (जाओ, खुदा खैर करेगा)। आगे शागिर्द की बड़ी बस्ती आई। यहाँ बड़ा किला है। गुर्बन नदी का किनारा छोड़कर हम दाहिनी ओर मुड़े, फिर मतक का कस्बा आया। 'मतकता अतक' (मतक से अटक) पठानों का देश कहा जाता है। अब कोहदामन–कपिशा–की विस्तृत उपत्यका थी। ढाई हजार बरस से अपने अंगूरों के लिए कपिशा मशहूर है। चहारेकार यहाँ का बड़ा कस्बा है। सारी कपिशा बरफ से ढँकी हुई थी। छतों के ऊपर लंबे-लंबे छेदोंवाली दीवारें खड़ी देखकर, मैं पहिले समझने लगा कि यह बंदूक का निशाना लगाने के लिए हैं; लेकिन एक ओर थोड़ी-सी इकहरी दीवार इसके लिए उपयुक्त नहीं थी। जरीफ़ ख़ान ने बतलाया कि इन पर अंगूर के गुच्छे सुखाए जाते हैं। चहारेकार में पचासों सुनारों के घर हैं, जिनको देखकर पता लगता था कि पठानियों को जेवर का बहुत शौक है। सड़क से बाएँ हटकर एक जला हुआ घर मिला। मेरे साथी ने बतलाया, यही बच्चा-सक्का का घर है। बच्चा-सक्का ताजिक था। कोहदामन सारा ताजिकों का है। यहाँ से बदख़्शाँ होते ताजिकिस्तान तक सारा प्रदेश ताजिक लोगों का है। ताजिक पढ़ने-लिखने में ज्यादा होशियार और लड़ने में बहादुर होते हैं। मध्यएसिया में जब 7वीं सदी में अरब पहुँचे, तो ताजिकों ने उनके दाँत खट्टे कर दिए थे। आज 14 लाख ताजिकों का अपना एक सोवियत प्रजातंत्र है। शिक्षा, उद्योग-धंधा, सेना सभी में वह बहुत तेजी से उन्नति कर रहे हैं, और उनकी प्रगति को कोहदामन के ताजिक बड़ी लालसा से देखते हैं। दो

बजे कपिशा पार कर हम एक छोटे-से कोतल पर पहुँचे, इसकी एक ओर कपिशा थी, और दूसरी ओर कुभा (काबुल)। वस्तुतः यही कोतल (जोत) पठान और ताजिक देशों की सीमा काबुल-उपत्यका में भी चारों ओर बरफ दिखाई पड़ती थी। वृक्षों पर पत्ते नहीं थे, बालाबाग पहिले मिला, फिर हम काबुल शहर में प्रविष्ट हुए। बस हमें होटल काबुल के सामने ले गई। यह सरकारी होटल था। ठहरने के लिए एक कमरा मिल गया।

काबुल में (3-7 फर्वरी)–गुमरग में गये, बकसों को खोलकर दिखलाया। इस काम से छुट्टी पाकर अकदमी-अफगान (अफगान-परिषद्) में पहुँचे। यहाँ एक भारतीय भाई याकूब हसन खाँ से मुलाकात हुई। 23 साल पहिले की बात है। उस वक्त जर्मनी के साथ भीषण युद्ध चल रहा था, उसी वक्त लाहौर के कालेज के कुछ विद्यार्थी देश से यह ख्याल लेकर भाग निकले, कि बाहर जाकर अपने देश को आजाद करने की तदबीर करेंगे। याकूब हसन उन्हीं तरुणों में थे। अब भी उनके हृदय में देश-भक्ति की आग जल रही थी। लेकिन अब अधिकतर उनका समय साहित्यिक कामों में लगता है। उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 5 घंटे मैं वहीं रहा। अकदमी पश्तो साहित्य के लिए बहुत काम कर रही है। उसमें एक नया व्याकरण और कोष तैयार किया जा रहा था, कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। काबुल के पठान सदियों से फारसी भाषा को अपनाए हुए हैं। काबुल की सड़कों पर फारसी उसी तरह बोली जाती है, जैसे पश्तो। पहिले पठान अपनी मातृभाषा को गँवारू समझकर उपेक्षा करते थे, लेकिन अब राष्ट्रीयता का भाव उनमें जग गया है, इसलिए वह पश्तो को ही सर्वोपरि रखना चाहते हैं। मेरे काबुल रहते वक्त याकूब हसन बराबर चार-चार पाँच-पाँच घंटा मेरे साथ रहते। पश्तो भाषा और संस्कृत भाषा का क्या सम्बन्ध है, इस पर बहुत विचार होता रहा। उन्होंने हजारों शब्द जमा किए थे, और मुझसे संस्कृत प्रतिशब्द पूछा करते थे। यद्यपि पश्तो पर ईरानी का भी प्रभाव है, लेकिन संस्कृत से उसका सम्बन्ध ज्यादा घनिष्ठ है। वारि को बाल, आप को ओबा, तोय को तोय ही कहा जाता है, इसी तरह गिरिशा को गरसै, अपूशा को ओसै कहकर वैदिक शब्दों से भी वह अपनी घनिष्ठता बतलाती है। सरवन्त पश्तो में सड़वन है।

4 फर्वरी को बरफ गिरनी शुरू हो गई, इसलिए अब एक-दो दिन पेशावर जाने की आशा नहीं थी, क्योंकि आगे की जोतों में बरफ के ज्यादा हो जाने से जाना सम्भव नहीं था। 5 फर्वरी को फ्रेंच-दूतावास के मोशिये मोनिये से मुलाकात हुई। कपिशा अपनी उपत्यका में किसी वक्त बड़ी नगरी थी, इसके ध्वंसावशेष को बगराम कहते हैं। कुछ ही समय पहिले फ्रेंच विद्वानों ने इसकी खुदाई की थी, जिसमें बहुत-सी ऐतिहासिक सामग्री मिली थी। मोनिये इस खुदाई में रहे थे। उन्होंने खुदाई के कुछ फोटो दिखाये। फिर हमारे साथ वह काबुल-म्युजियम गये। म्युजियम दारुलअमान में है–अमानुल्ला यहाँ नया नगर बसाना चाहते थे, लेकिन बसने से पहिले ही धर्मान्धों ने उन्हें काबुल का तख्त छोड़ने के लिए मजबूर किया। म्युजियम नया है। बच्चा-सक्का के जमाने में कुछ मूर्त्तियाँ खराब हो गईं; तो भी यहाँ का संग्रह बहुत सुन्दर है। हड्डा से प्राप्त एक मैत्रेय-मूर्त्ति की दोनों तरफ अफगान और शक परिधान का सुन्दर चित्रण था। मैंने जब इतिहास-विभाग के विद्वान् अहमदअली खाँ से उस मूर्त्ति को दिखलाते हुए कहा–देखिये, पठानियाँ दूसरी, तीसरी सदी में भी सलवार पहनती थीं। सलवार आज भी हम देखते हैं, लेकिन जैसी गोल, चढ़ा-उतार, और खूबसूरत शिकन पड़ी यह सलवार थी, वैसी अहमदअली ने भी नहीं देखी थी, वह उछल पड़े।

स्याहगिर्द-शागिर्द (कपिशा) से मिली मिट्टी की सुन्दर रंगीन मूर्त्तियाँ देखीं, उनके रंग अब भी ताजा मालूम होते थे। स्त्रियों के केशों को पचासों तरह से सजाया गया था। मोनिये कह रहे थे, कि इन केशविन्यासों को पेरिस की सुन्दरियाँ पायें, तो निहाल हो जायें। बेग्राम से हाथी-दाँत के ऊपर साँची और भरहुत की तरह के किसी स्तूप का बहुत सुन्दर चित्र उत्कीर्ण है। वहीं से गंगा-जमुना की काष्ठ की सुन्दर मूर्त्तियाँ मिली हैं। पाणिनि के वक्त (ईसापूर्व चौथी सदी में) कपिशा की सुरा और अंगूर बहुत मशहूर थे, वहाँ से काँच की बहुत सुन्दर सुराधानी और चषक मिले हैं। यहाँ के पुराने हिन्दुओं और बौद्धों की कितनी ही चीजें म्युजियम में मैंने देखीं। काबुल में 400 घर हिन्दू रहते हैं, उनके 22 मन्दिर हैं।

हिन्दू अपने घरों में पंजाबी बोलते हैं। काबुल के अलावा चारिकार, बेग्राम, कन्धार, गजनी और जलालाबाद

में भी हिन्दू बसते हैं। इनमें ब्राह्मण (सारस्वत, मोहियाल) खत्री, अरोड़ा, वैश्य, (उत्तरार्धी, दक्षिणी, सुनार आदि) जातियाँ हैं। हिन्दू अधिकतर दूकानदारी करते हैं। वह अपने को महमूद गजनी के समय आया बतलाते हैं। उन्होंने अपने कई तीर्थ बना लिये हैं। दर्राशक्कर, शंकर बन गया, और वहाँ उनका मानसरोवर झील है। सरायखोजा के पास कलायगग्गर में जटाशंकर हैं, लोगर के पास वाणगंगा है। ताश कुर्गान् और ऐबक के पास कबलानी गाँव का चेक-आब शिवजी का चश्मा है। आज वसन्तपंचमी थी, हम लोग आसामयी के मन्दिर में गये, दो हारमोनियम, सितार और तबला पर 'विनयपत्रिका' (तुलसीदास) के पद गा रहे थे।

6 फर्वरी को धूप निकल आई थी, बरफ पिघलने लगी। सड़कों पर कीचड़ उछल रही थी। रास्ते से चलना आसान नहीं था। हम शहर के भीतर चौक और बाजार देखने गये। वहाँ की टेढ़ी-मेढ़ी गलियों को देखकर बनारस याद आ रहा था। यद्यपि अब लाल पगड़ी का निर्वन्ध नहीं है, तो भी बहुत-से हिन्दू लाल पगड़ी बाँधते हैं। कितनी ही हिन्दू स्त्रियाँ पीला बुरका भी ओढ़ती हैं। बागवान-कूचा में 'जोगियाँदाथावँ' या 'बड्डाथावँ' काबुल में सबसे बड़ा हिन्दूमठ है। कहते हैं, यहाँ गोरखनाथ के शिष्य वीररतननाथ आये थे, उन्होंने आँगन के सूखे वृक्ष को हरा कर दिया था। इसके महन्त पेशावर में रहते हैं, आसामयी के महन्त राघवदास भी पेशावर में रहते हैं। पहिले साधू लोग यहाँ आया-जाया करते थे, लेकिन जबसे पासपोर्ट लेना जरूरी हो गया, तब से साधुओं का आना बन्द हो गया। मैंने काबुल में दो फिल्म देखे, जो दोनों ही अमेरिकन फिल्म थे। उनमें फैशन और नई रोशनी की भरमार थी। दर्शक बहुत कम थे। मैंने अपने साथी से पूछा तो उन्होंने वतलाया कि हिन्दुस्तानी फिल्म जब आता है, तो दर्शकों की भीड़ लग जाती है, लेकिन हमारे मालिक अमानुल्ला के पतन के बाद खुलकर तो नहीं कुछ करते, लेकिन भीतर ही भीतर युरोपियन भेस और भाव का प्रचार करना चाहते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि यद्यपि अमानुल्ला के समय की तरह अब मुँह खोले स्त्रियाँ बाहर नहीं घूमतीं, लेकिन घर के भीतर पर्दा नहीं रखतीं और यूरोपियन पोशाक पहनती हैं।

कावुल से प्रस्थान–8 फर्वरी को 5 रुपए पर पेशावर की लारी में ड्राइवर के पास बैठने की जगह मिली। काबुल से पेशावर 191 मील है। 1 बजे हमारी गाड़ी रवाना हुई। दर्रा-काबुलखुर्द (7500 फीट) एक छोटी-सी जोत है। काबुल-उपत्यका पार की, बरफ बराबर मिल रही थी। बरफ पर ऊँटों का चलना मुश्किल था, उनका पाँव फिसलता था। आगे का दर्रा-जगदलक (8200 फीट) बहुत भारी जोत है। चढ़ाई दूर तक थी, इसलिए उतनी कठिन नहीं थी। एक बार इसी दर्रे में अंग्रेजी फौज को बड़ी हानि उठानी पड़ी। जगदलक से नीचे उतराई बहुत मुश्किल है। बहुत दूर तक हमें बरफ ही बरफ मिली। फिर वरफ खतम हो गई। पहाड़ों पर जहाँ-तहाँ मूँज दिखलाई पड़ती थी, यही मूँजवान पर्वत तो नहीं है ? आठ बजे एक जगह खाने के लिए ठहरे। ग्यारह बजे रात को जलालाबाद (दो हजार नौ सौ बासठ फीट) पहुँचे। इधर वृक्षों के पत्ते हरे थे। गर्मी मालूम होती थी। 22 मील और चलकर 2 बजे रात को हम दक्का पहुँचे और रात को यहीं सो गये। दक्का में फिर लारियों के सामान की जाँच हुई, काफी देर ठहरना पड़ा, फिर पासपोर्ट-अफसर के पास गये। पासपोर्ट का काम तो उन्होंने जल्दी खतम कर दिया। लेकिन जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं इतिहास और पुरातत्व का विद्यार्थी हूँ, तो उनके प्रश्न खतम ही नहीं होते थे, और उधर लारीवाले को देर हो रही थी।

9 बजे हमने वहाँ से छुट्टी पाई और 9 मील चलकर तोरखम पहुँचे। यहाँ कुछ अफगानी सिपाही थे। अफसर ने पासपोर्ट के बारे में रजिस्टर पर लिखा, मुहर और दस्तखत की। चन्द ही कदम पर एक फाटक था, यही अंग्रेजी भारत और अफगानिस्तान की सीमा थी। फाटक खुला और हमारी लारी अब टूटी-फूटी सड़क से कोलतार पड़ी सड़क पर चलकर अंग्रेजी तोरखम के आफिस के सामने खड़ी हो गई। क्लर्क ने पासपोर्ट को रजिस्टर पर चढ़ाया, फिर हम नौजवान अफसर सादुल्लाखाँ के सामने गये। उन्होंने भी यात्रा के बारे में कुछ पूछा। उनकी जिज्ञासा और बढ़ गई, जब उन्हें मालूम हुआ कि मैं बौद्धकला और साहित्य से काफी परिचय रखता हूँ। उन्होंने कहा, हमारे मर्दान में बहुत-सी बौद्धमूर्त्तियाँ निकलती हैं, आप एक बार वहाँ जरूर आइए।

डेढ़ घंटे बाद हमारी लारी फिर चली। पेशावर वहाँ से सिर्फ 49 मील है। 4 मील की हल्की चढ़ाई के बाद लण्डीखाना पहुँचे। रेल यहाँ तक आई है। फिर हम खैबर के दर्रे में घुसे, और चढ़ाई चढ़ते-चढ़ते लण्डी

कोतल की जोत पर पहुँचे। 1926 में एक बार मैं यहाँ तक आया था। सड़क सभी जगह अच्छी है, और जगह-जगह सैनिक मोर्चाबन्दी है। रास्ते में कितने ही पठानों के गाँव मिले, वह लाठी की तरह बन्दूकों को लिए घूम रहे थे। जमरूद में फिर ड्राइवर का कागज-पत्र देखा गया। अब आगे पेशावर की हरी-भरी उपत्यका थी। शिकारपुरियों की धर्मशाला का पता लगा, हम अपना सामान लेकर वहाँ पहुँच गये।

25

भारत में (1938 ई.)

मैं बतला चुका हूँ, कि सोवियत से इतनी जल्दी लौटने का एक मुख्य कारण था पुस्तकों की खोज और फोटो के लिए तिब्बत जाना। अब भिक्षु के वेष में मैं नहीं रहना चाहता था, लेकिन तिब्बत जाने के लिए वह बहुत जरूरी था, नहीं तो वहाँ की गुम्बाओं के अँधेरे पुस्तकालयों का खुलना आसान न होता; इसलिए पेशावर में आकर कोट-पतलून हटाकर मुझे फिर पीले कपड़ों को पहनना पड़ा। दूसरे दिन (10 फर्वरी) को मैंने रेल पकड़ी। यह ट्रेन सहारनपुर तक जाती थी। दूसरे दिन (11 फर्वरी) दोपहर को मैं सहारनपुर उतरा। स्टेशन के पास ही एक होटल में ठहरा। शहर में घूमते-घामते पंडित कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' से भेंट हुई। उसी दिन की गाड़ी से इलाहाबाद के लिए रवाना हो गया और 13 के दोपहर को प्रयाग में डाक्टर बदरीनाथ प्रसाद के यहाँ पहुँच गया। प्रूफ अब भी ला जर्नल प्रेस में कुछ थे, इसलिए तीन-चार दिन ठहरना भी जरूरी था। 16 को सारनाथ गया। गेशे मिले। इधर वह कई महीने नगर में डाक्टर रोइरिक के साथ रहे थे, और उन्होंने काफी तरक्की कर ली थी। उन्हें भी तिब्बत जाना है, यह बतला दिया। अब पटना में जाकर पता लगाना था कि जाने के बारे में क्या-क्या काम हुआ है। 23 फर्वरी को पटना पहुँचा, तो मालूम हुआ कि सिकम के पोलिटिकल एजेन्ट के पास लिखा गया था, उसने दरख्वास्त को भारत सरकार के पास भेज दिया है। भारत सरकार ने उन स्थानों को पूछा था, जहाँ-जहाँ मुझे जाने की जरूरत थी।

पटना से नाम भेज दिए गए और भारत सरकार ने तिब्बत सरकार को लिखा। यहाँ वालों को नहीं मालूम था, लेकिन मैं तो जानता था, कि तिब्बत सरकार को किसी बात के निर्णय करने में कितनी देर लगती है। मैं इसकी प्रतीक्षा के लिए तैयार नहीं था, उसका प्रबन्ध तो मुझे अपनी बुद्धि और साहस के बल पर करना था। लेकिन तिब्बत जाने से पहिले सोवियत-भूमि पर अपनी पुस्तक को लिख डालना जरूरी था। इसके लिए मैंने सबसे एकांत और सुन्दर स्थान सारनाथ को चुना। पटना में यह भी मालूम हुआ है कि मोटर-दुर्घटना से अनुग्रह बाबू को बहुत चोट आई। यह सुनकर बहुत खेद हुआ कि हजारीबाग जेल के मेरे साथी पंडित पारसनाथ त्रिपाठी का उसी मोटर-दुर्घटना में देहांत हो गया। 28 फर्वरी को मैं नालन्दा और राजगृह गया। फिर दो मार्च को बनारस पहुँच गया और बर्मी-धर्मशाला में पुस्तक लिखने का अनुष्ठान होने लगा। प्रेमचन्द जी के गाँव के श्री गुरुप्रसाद विश्वकर्मा साहित्यरत्न लिखने के लिए मिल गए थे। उनके अक्षर भी अच्छे थे, और कलम भी तेज चलती थी। 3 मार्च को लिखाई शुरू हुई। बीच में 3 दिन (7-9 मार्च) लखनऊ जाना पड़ा, उसके बाद 13, 14 दो दिन और चिरौडा (पटना) के पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव में जाना पड़ा, नहीं तो बराबर 8 अप्रेल तक लिखना जारी रहा। सारी पुस्तक एक महीने में समाप्त हो गई। रायकृष्णदास ने उसे नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित करने के लिए माँगा, मैंने स्वीकार कर लिया।

वैसे असहयोग के जमाने (1921-22) में ही मैं अनुभव करने लगा था, कि हमारा राजनीतिक आन्दोलन और राजनीतिक प्रगति तब तक अच्छी तरह नहीं हो सकती, जब तक कि जनता समझ-बूझकर इसके भीतर न आए। इसीलिए मैं छपरा जिले में सदा वहाँ की बोली में ही भाषण दिया करता था। पिछले एसेम्बली के चुनाव में जनभाषा के गीतों के महत्व को मैंने देखा था और मैं उसकी उपयोगिता को समझता था। सोवियत

में मैंने जननृत्य देखे और वहाँ के महान् नर्तकों की कला देखकर मुझे अपना बचपन का देखा अहीरनृत्य याद आया। सारनाथ में पूछने पर मालूम हुआ, कि अभी यहाँ अहीरनृत्य जाननेवाले कुछ आदमी हैं। मैंने इसके लिए तैयारी की। लेकिन, 18 मार्च को बनारस में हिन्दू-मुस्लिम झगड़ा हो गया, अब उस वक्त नृत्य की किसको सूझती। 23 मार्च को बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीरायकृष्णदास, पं. रामनारायण मिश्र और बाबू शिवप्रसाद गुप्त आए। देर तक बातचीत होती रही। बाबू मैथिलीशरण को शिकायत थी, कि मैं अपने लेखों में कभी-कभी ऐसे निष्ठुर प्रहार कर जाता हूँ, कि कितने ही श्रद्धालू हिन्दू-हृदय बहुत पीड़ा अनुभव करते हैं। बाबू शिवप्रसाद जब अपनी मोटर से बनारस लौट रहे थे, उसी वक्त चौखण्डी-स्तूप के पास कुछ हिन्दू तीन मुसल्मानों को मार रहे थे। वह एक की जान तो नहीं बचा सके, लेकिन दो की जान बच गई। पुलिस ने धर-पकड़ शुरू की, गंजगाँव में इतना आतंक छा गया कि लोगों को किसी चीज की सुध न रही। वहाँ के सभी मरद पकड़ लिए गए। 24 मार्च को कोई औरत घर से बाहर नहीं निकली। खेतों में कटे अनाज पड़े हुए थे, उन्हें कोई उठा के खलिहान में रखनेवाला नहीं था। थानों पर गायें-भैंसे बिना भूसा-पानी के बँधी हुई थीं। अगले दिन काश्यपजी को मालूम हुआ, उन्होंने पशुओं को पानी और भूसा डलवाया। स्कूल के विद्यार्थियों को ले जाकर अनाज खलिहान में रखवाया। गाँव की सफाई कराई। औरतों को हिम्मत दिलाया। रात-भर गाँव में पहरा देते रहे।

पुस्तक खतम हो गई। 11 अप्रेल को मैंने प्रयाग जाकर पुस्तक लॉ जर्नल प्रेस में कम्पोज करने के लिए दे दी। फिर पटना गया। वहाँ मेरे तिब्बत जाने का निश्चय हो गया। सनाठी गाँव में मुजफ्फरपुर जिला साहित्य सम्मेलन हो रहा था, जिसका कि मैं सभापति बनाया गया था। 17 अप्रेल को वहाँ पहुँचा। फिर मुजफ्फरपुर पहुँचकर गेशे के साथ सिलीगोड़ी के लिए रवाना हुआ। सिलीगोड़ी में साढ़े 6 बजे मोटर पकड़ी और ढाई घंटे में कलिम्पोङ् पहुँच गया। सोवियत से लौटने के बाद अब सरकार मेरे बारे में बहुत सतर्क हो गई थी, कांग्रेस मंत्रिमंडल वाले प्रान्तों में वह खूब पीछा करती थी। कलिम्पोङ् में मेरे जाने के एक घंटा बाद ही पुलिस का आदमी पहुँचा और पूछा कि मुजफ्फरपुर से आनेवाले आदमी आये कि नहीं। मैंने कहला दिया, आ गये हैं। सारनाथ में भी मैं देखा करता था कि खुफिया का एक आदमी धरना दिये हुए था। यह लच्छन अच्छे तो नहीं थे, क्योंकि पुलीस ही सरकार की आँख-कान है, और मुझे पोलिटिकल एजेन्ट से तिब्बत जाने के लिए आज्ञापत्र (परमिट) लेना था।

26

तिब्बत में चौथी बार (1938 ई.)

गन्तोक् में–23 अप्रेल को मैं गन्तोक् पहुँचा। महाराजा के प्राइवेट-सेक्रेटरी रायसाहब बर्म्मक काजी के साथ पहिली यात्रा में परिचय हो गया था। अपना थोड़ा-सा जो सामान था, मैंने उसे उनके घर पर रख दिया, काजी साहब अभी घर पर मौजूद नहीं थे, लेकिन उनके पास मैंने सूचना भिजवा दी। फिर ब्रजनन्दन बाबू से मिलकर पोलिटिकल एजेन्ट के सहायक सोनम् काजी के पास गया। उनसे बात की। उन्होंने कहा कि कल साहेब से पूछकर आप को खबर दूँगा। मैं लौटकर बर्म्मक काजी के घर गया। मालूम हुआ, उन्होंने मेरा सामान ब्रजनन्दन बाबू के पास भेजवा दिया। मुझे इसके लिए दुख करने की जरूरत नहीं थी, पुलीस जिस तरह तत्परता दिखला रही थी, उससे उन्हें मालूम हो गया, कि यह कोई खतरनाक आदमी है। बाल-बच्चेवाले आदमी को खतरा मोल लेना अच्छा नहीं है। इस सबके ऊपर वह एक देशी रियासत के नमकख्वार थे, जहाँ कानून-कायदा का कोई काम नहीं। अंग्रेज शासक कहने के लिए तो कह देते हैं, कि यहाँ तो सब काम राजा के हाथ में है, लेकिन राजा की निरंकुशता की आड़ में वह खुद अपनी निरंकुशता चलाते हैं। देशी रियासत के राजा की तो और भी मुसीबत है, वह तो अंग्रेज रेजीडेन्ट के हाथ की कठपुतली है। व्यभिचार-दुराचार वह चाहे कितना ही करता

रहे, इस बारे में चाहे वह आदमी से पशु हो जाय, कोई पूछ नहीं होती; लेकिन जहाँ उसने अपने श्वेतांग स्वामियों की मर्जी के ख़िलाफ जरा भी कोई बात की, तो अदालत-कचहरी, गवाही-साखी की भी जरूरत नहीं, राजा साहेब 24 घंटे के भीतर राज्य से निकाल दिये जायेंगे। फिर बेचारे बर्म्मक काजी को दोषी ठहराना उचित नहीं। मैं ब्रजनन्दन बाबू के पास गया, और चाहता था कि सामान लेकर किसी मन्दिर या धर्मशाला में ठहरूँ। ब्रजनन्दन बाबू ने कहा—मैं दूसरी जगह जाने नहीं दूँगा। मैंने कहा कि यह बड़े खतरे की चीज है, आप राज के स्कूल में नौकर हैं। उन्होंने कहा—आपका जाना मेरे लिए भारी अपमान की चीज होगी। मैंने और कोई यश का काम तो नहीं किया, किसी तरह पेट पालता रहा हूँ। आप मेरे दिल और आत्मसम्मान का ख्याल कर खतरे में पड़ने दीजिए। लाचार।

उनके घर के सामने ही थाना था, थाने का एक आदमी बराबर मेरी ओर देखता रहता था। मुझे अपने लिए तो कोई चिन्ता नहीं थी, लेकिन मित्रों का ख्याल करके जरूर कुछ बुरा लगता था।

अगले दिन (24 अप्रेल) बाबू सोनम काजी का खत आया, और मैं साढ़े 3 बजे ही पोलिटिकल एजेन्ट के पास चला गया। मिस्टर गोर्ड ऐसे मिलनसार आदमी तो नहीं हैं, लेकिन मैंने अपने कामों के बारे में बतलाया। उनको यह भी मालूम था, कि बिहार सरकार और भारत सरकार इसके बारे में लिखा-पढ़ी कर रही है, तत्कालीन बिहार गर्वनर ने मेरे तिब्बत-संबंधी खोजों की बड़ी प्रशंसा की थी, वह सोसाइटी के जर्नल में छपी थी। मैंने उसे भी उनके हाथ में दे दिया। 10, 15 मिनट ही में मेरा काम हो गया। उन्होंने परमिट देने के लिए हुकुम दे दिया। लौट के आने पर देखा कि पुलिस का रुख बिल्कुल बदल गया। दूसरे दिन (25 अप्रेल) परमिट आ गया, और उसी दिन शाम को मैं कलिम्पोङ् चला आया।

कलकत्ता से फोटो का सामान लाना था, इसलिए 27, 29 अप्रेल वहीं बीता। पहिली मई को सिलीगोड़ी से हम कलिम्पोङ् के लिए रवाना हुए। 8 मील जाने पर मोटर का एक पहिया उसी तरह साफ निकल गया, जैसा कि ईरान में हुआ था। यहाँ भी खैरियत हुई कि पहाड़ पर पहुँचने से पहिले ही यह दुर्घटना घटी।

कलिम्पोङ् से गेशे और दूसरे साथियों के साथ मैं 4 मई को रवाना हुआ था, और 6 महीने बाद 3 अक्तूबर को गन्तोक् लौटा था। यह मेरी चौथी तिब्बत-यात्रा थी, इसमें मैं बहुत-से साधनों से सज्जित होकर गया था। तिब्बत सरकार ने सभी पुराने पुस्तकालयों में लगी अपनी मुहरों को तोड़कर चीजों के दिखलाने की आज्ञा दे दी थी; साथ ही मुझे हर जगह 3 घोड़े और 3 गदहे सवारी-बारबरदारी के लिए देने का हुकुम दे दिया गया था और काम भी काफी हुआ। लेकिन उतना काम नहीं हो सका, जितने के लिए मेरे पास साधन थे। इस सारी यात्रा में जितना तरद्दुद और मानसिक कष्ट उठाना पड़ा, उसको लिखकर पुस्तक को और बढ़ाने की जरूरत नहीं, लेकिन ऐसी यात्रा का मेरा पहिला अनुभव था, और मैंने देखा, कि उसके लिए व्यक्ति को अलग-अलग दोष देना बेकार है। दोष था, ठीक साधनों के एकत्रित न होने का। मैं अगर चार-पाँच बातों का ख्याल रख सका होता, तो यात्रा और सफल रहती। सबसे पहिली बात यह, कि तिब्बत में सुकुमार आदमी ले जाने की जरूरत नहीं। जो आदमी शहरी ऐश-आराम की जिन्दगी में पला है, वह चाहे साहसी-सा भी मालूम होता हो, तो भी वह डट नहीं सकता, क्योंकि शहर के साहस और गाँव के साहस में काफी अन्तर है, और तिब्बत की यात्रा में तो उससे भी सौगुने साहस की जरूरत होती है। जो आदमी हिमालय के पार के इन दुरूह स्थानों में भी अपने पहिले के जीवन के सारे वातावरण को ले जाना चाहता है, उसको जरूर असन्तुष्ट होना पड़ेगा। दूसरी बात जरूरी है कि जानेवाला या तो पहिले से किसी ऐसी स्थायी जीविका में लगा हुआ हो, कि अपने को अयोग्य बनाने में उसे स्थायी हानि का डर हो अथवा वह भी उसी पथ का फकीर हो, और काम के महत्व को उतना ही अनुभव करता हो, जितना कि आप। तीसरी बात यह है, कि जमात के अनुशासन को मानता हो, जहाँ एक आदमी ने अनुशासन की अवहेलना शुरू की और उसके सुधारने की कोशिश नहीं की गई, तो वह रोग दूसरों में भी फैले बिना नहीं रहता। चौथी बात—तिब्बत में एक जगह से दूसरी जगह जाने में सवारी और सामान ढोने के लिए खच्चर-घोड़ों का मिलना उतना आसान नहीं है। मैंने सिर्फ पहिली यात्रा में दो खच्चर खरीदे थे और उस वक्त कोई दिक्कत नहीं आई थी, क्योंकि धर्मकीर्त्ति खच्चर को सँभाल लेते थे, मैं भी देख-भाल

करता था। वह इसीलिए सम्भव था कि तब इतना लिखने या फोटो लेने का काम नहीं था और मैं डोर् जैसी जगहों में नहीं गया था, जहाँ दाम देने पर भी घास-भुस नहीं मिल सकता। यदि आपने चरने के लिए छोड़ दिया और जानवर किसी के खेत के पास पहुँच गया, तो उसके पैर टूटे बिना नहीं रहेंगे। नीचे का साइस वहाँ काम नहीं दे सकता, क्योंकि न उसे भाषा मालूम होगी और न वह लोगों से मेल-मुहब्बत करके काम ले सकेगा। अपना खच्चर न लेने पर भाड़े के खच्चरों के लिए कभी-कभी हफ्तों एक जगह रुक रहना पड़ेगा। इसके तरद्दुद से बचने का एक ही उपाय है, कि आप वहाँ के बड़े आदमियों को काफी रकम भेंट-पूजा में दे सकें, जिसके लिए आपके पास पाँच-सात हजार नहीं, ज्यादा रुपये होने चाहिएँ। पाँचवीं बात–साथी की रुचि दूसरी बातों में उतना ही होनी चाहिए, जितनी कि इस काम में आपकी है, नहीं तो वह अपनी रुचि के काम में भी समय देने लगेगा, और असली काम में कमी होगी।

खैर, कलकत्ता से सामान लेकर हम कलिम्पोङ् पहुँचे, और 4 मई को 10 बजे तिब्बत के लिए रवाना हुए। सवारी और बोझ के लिए किराये पर खच्चर मिल गये थे। 7 तारीख को हम लिङ्तम् से आगे बड़े। कठिन चढ़ाई आई। रास्ता अधिकतर खड़े पत्थरों को जोड़कर बना था, और खच्चर के पैर फिसलने पर बचने की उम्मेद नहीं हो सकती थी। हमारे खच्चरवालों का एक खच्चर लुढ़का, और उसको इतनी चोट लग चुकी थी, कि जब हम वहाँ से आगे बढ़े, तो बचने की उम्मीद नहीं थी। खच्चरवाले उसे वहीं छोड़कर चल पड़े। 9 मई को हम नथङ् से सबेरे ही चले। थोड़ी देर उतराई के बाद चढ़ाई शुरू हुई। ऊपर चारों ओर बरफ थी, एक ओर एक सरोवर था। लोग बतला रहे थे, कि इसमें भूत, भविष्य, वर्तमान सब दिखाई देता है। आगे 14 हजार 300 फीट ऊँचा जालेपूला का डाँड़ा आया। बादल आसमान में दौड़ रहे थे, लेकिन उस दिन बरफ वर्षा नहीं हुई। उतराई उतरते उस दिन हम रिनछेनगङ में पहुँचे। जालेपूला ही तिब्बत की सीमा है, यह हम बतला चुके हैं। 11 मई को हम फरी में पहुँच गये। दूसरे दिन मुझे बुखार आया। अगले दिन भी वह 103 डिग्री तक रहा। बुखार हटने का इन्तिजार यहाँ नहीं कर सकते थे, क्योंकि यहाँ रहते उसके जल्दी दूर होने की उतनी आशा नहीं थी, जितनी कि कहीं नीची और गर्म जगह में। 15 मई को डंडी की गई और मैं अपने साथियों के साथ ग्यानूची के लिए रवाना हुआ। डंडी में शरीर बहुत हिलता-डोलता था, जिससे थकावट भी होती थी, और भूख तो बिल्कुल नहीं लगती थी। 21 मई को हम ग्यानूची पहुँचे। तीन-चार दिन यहीं विश्राम करना पड़ा, फिर तबियत ठीक हो गई। ल्हासा से हमारे लिए खरीदे तीन खच्चर भी आ गये, और तिब्बती सरकार की चिट्ठी भी, जिसके अनुसार हम 3 गधे, 3 घोड़े निश्चित किराये पर ले सकते थे। इस प्रथा को तऊ कहते हैं। यह एक तरह की बेगार है। एक गाँव का तऊ आग किस गाँव में बदला जायगा, यह सदियों पहिले से निश्चित है–बदलने के गाँव को सची सकते हैं। सची छोटी भी होती है, लम्बी भी होती है। नये घोड़ों-गदहों को जमा करने में कुछ देरी लगती है, यदि सची बहुत नजदीक हुई, तो एक-एक दिन के रास्ते में दो-दो तीन-तीन दिन लग जाते हैं।

शलू (27 मई–28 जून)–27 को हम शलू पहुँच गये। 28 को पुस्तकालय खोला गया। पहिले साल जो पुस्तकें मिली थीं, उनमें दो-तीन गायब थीं। लेकिन एक नई पोथी बड़े महत्व की मिली। इसमें प्रसिद्ध नैयायिक ज्ञानश्री के लिखे 12 ग्रन्थ हैं। योगाचार भूमि के खंडित अध्याय भी यहाँ मिले। तिब्बती हस्तलिखित ग्रन्थों में छग-लोचवा की जीवनी मिली। यह विद्वान् 1220 ई. के आसपास भारत गया था, और नालन्दा में राहुलश्रीभद्र के पास रहा। वह लिखता है, कि गरलोक (तुर्क) ने नालन्दा को नष्ट कर दिया था, तो भी कुछ मकान बाकी थे। गरलोक का हाकिम उड़न्तपुरी (बिहार-शरीफ) में रहता था। तिरहुत को उसने 'तीर्थकों का देश' कहा है। जान पड़ता है, वहाँ ब्राह्मणों का प्रभाव बहुत ज्यादा था। शलू के प्रधान विहार की भीतों में नेपाली कलम के सुन्दर चित्र हैं। कुछ चित्र अत्यन्त सुन्दर हैं। चित्रकार ने अपना नाम छिमूपा सोनम् बुम लिखा है।

19 जून को हम शिगर्चे चले गये। आगे जाने के लिए सरकार की चिट्ठी के पास रहने पर भी शिगर्चे के जोङ्पोन् की चिट्ठी लेनी थी, जिसका मतलब था, दो-तीन दिन और ठहरना। खैर, वहाँ से हम 27 तारीख को पोइखङ् पहुँचे और 2 जुलाई तक वहीं रहे। वहाँ की पुस्तकों और चित्रपटों के बहुत-से फोटो लिये। फिर

शिगर्चे लौट आये। 5 जुलाई से 30 जुलाई तक बेकार बैठा रहना पड़ा, क्योंकि जिनको ग्यानूची सामान लेने के लिए भेजा था, वह वहीं बैठे रहे। 14 जुलाई को मैंने मध्य-तिब्बत के अधिकांश लोगों के स्वभाव के बारे में लिखा था–"तिब्बत के लोग न जंगली हैं न सभ्य। पानी पीने की भाँति झूठ बोलने में अभ्यस्त हैं। बड़े से छोटे तक यही बात है, किन्तु यही बात तिब्बत-जातिक–अमृदो खमूबा और लदाखियों के बारे में नहीं कही जा सकती। कृतज्ञता और मरौवत का इनमें अभाव है। सच्चा मित्र मिलना असम्भव-सा है, बहादुर नहीं हैं, हाँ, धोखे से वार कर सकते हैं–और तो भी सामने से नहीं। काम में सुस्त (होते हैं।) उद्योग और साहस के काम में इनका मन कम लगता है। विहारीय विश्वविद्यालयों में पढ़ने में भी वह पिछड़े हुए हैं। सिफारिश, सम्बन्ध तथा और कारणों से ये मठ तथा सरकारी उच्च पदों पर पहुँच ही सकते हैं, फिर प्रयत्न और परिश्रम की क्या आवश्यकता ? यह सारे दुर्गुण इनमें कहाँ से आए ? इसकी जिम्मेवारी यहाँ के लामों और धर्म पर है। लामा, मठों और अमीरों की जागीरें उठ जायँ, शिक्षा का सार्वजनिक प्रचार हो, तो वे लोग बहुत जल्द ऊपर उठ सकते हैं। किन्तु, यह सब तो साम्यवाद ही कर सकता है। तिब्बत में राजनीतिक यन्त्र के बदलने ही में देर होगी, नहीं तो बाकी सामाजिक, आर्थिक ढाँचे को बदलने में उनको दिक्कत नहीं पड़ेगी। तिब्बत में जाति-पाँति का न झगड़ा है, और न मजहबों का पारस्परिक संघर्ष। वहाँ जो कुछ भेदभाव है, वह है धनी और निर्धन का।

ङोर् (31 जुलाई-15 अगस्त)–खच्चरों के चारे और ईंधन की अबकी बार ङोर् में तकलीफ हुई। हमारे दो खच्चरों को पत्थर मार-मारकर किसी ने लँगड़ा कर दिया था। खैरियत यह हुई, कि चोट बहुत ज्यादा नहीं आई। हमने चारे की दिक्कत से उन्हें शिगर्चे भेज दिया।

नरथङ् (16-28 अगस्त)–16 अगस्त को हम नरथङ् चले गए, और एक गृहस्थ के घर में ठहरे। अगले दिन बहुत ओले पड़े। तंत्र-मंत्रवाले लामा भगाने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन ओले के देवताओं पर कोई असर नहीं हुआ। ऊपर के पहाड़ से ओले और पानी की एक जबर्दस्त बाढ़ चली। हमारे घर से डेढ़-दो फर्लांग के ऊपर नाला दो धाराओं में विभक्त हो जाता था, जिनमें दाहिनी धारा के बाएँ तट पर हमारा घर मौजूद था। घर-भर के लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे, और देवताओं को मना रहे थे! यदि बाढ़ हमारे ओर के नाले में आती, तो वह उस मकान को सूखे कागज की तरह गलाती-बहाती चली जाती। हम वहीं डटे रहे, इससे घरवालों को बड़ी हिम्मत हुई। मैंने कहा–हमारे पास यह भारत की धर्मपुस्तकें हैं, कभी हो नहीं सकता, कि देवता इस घर को नष्ट कर दें। और सचमुच बाढ़ ने दाहिने नाला का रास्ता नहीं लिया। नरथङ् में तालपोथी कोई नहीं थी, किन्तु यहाँ कई बड़े-बड़े भारतीय चित्रपट थे, जिनका फोटो लिया गया। स्लेटी पत्थरों पर 84 सिद्धों की मूर्त्तियाँ उत्कीर्ण थीं, उनका भी फोटो लिया गया। बोधगया मन्दिर के नमूने का पैरिसप्लास्तर पर साँचा उतारा गया। इस सबसे छुट्टी पाने के बाद साक्या के लिए रवाना हुए और शोङ्ला होते एक सितम्बर को साक्या पहुँचे।

साक्या में (1-15 सितंबर)–पहिली सितम्बर के दोपहर को हम साक्या में फुनछोगूप्रासाद में पहुँचे। कुशो डोनि छेनपो के यहाँ रहने का ज्यादा आराम होता, लेकिन फोटो खींचने के लिए हमें यहाँ आना पड़ता, इसीलिए हम वहाँ नहीं गये। फुनछोगूप्रासाद के लामा अब साक्या के महन्तराज थे। बहुत वर्षों बाद इस प्रासाद के हाथ में प्रभुता आई थी, इसलिए पुराने घरों की नई तरह से मरम्मत, नये घरों का निर्माण, नये सामान का तैयार कराना आदि बहुत-से कामों में लामा का ध्यान बँटा हुआ था। कितने ही बढ़ई, सोनार और चित्रकार काम में लगे हुए थे। सभी घर उनसे भरे हुए थे। लामा ने बड़े स्नेह के साथ स्वागत किया, लेकिन किस घर में ठहराया जाय, इसके लिए उन्हें दिक्कत मालूम होने लगी। एक साधारण-सा घर खाली किया गया, और उसमें हम लोगों को जगह मिली। दो हफ्ता हम यहाँ पुस्तकों के फोटो खींचने में लगे रहे, काम में बड़ी ढिलाई होती थी। कुशो डोनिरूछेनूपो मबूजा गये हुए थे। चामूकुशो यहीं थीं और 13 सितम्बर को जब मैं वहाँ गया, तो उन्होंने इस पर क्षोभ प्रकट किया, कि मैं उनके यहाँ क्यों नहीं ठहरा। मैंने अपनी दिक्कत उन्हें बतलाई। 15 तारीख को ड़ोनिरूछेनूपो आ गए थे, इसलिए मैं उनसे मिलने गया। उनकी द्वितीय पत्नी दिकीला और

पौने दो बरस की अनामिका लड़की भी आ गई थी। चलते-चलाते अपरिचित आदमी के पास छोटा बच्चा क्यों आए ? यद्यपि चामूकुशो ने उसे मेरे पास लाने की बहुत कोशिश की, किन्तु वह रोने लगी। लड़की बहुत ही सुन्दर थी, और कुशो डोनिरूछेनूपो कह रहे थे–बड़ी समझदार है। बुढ़ापे में अपनी एकलौती सन्तान के लिए पक्षपात स्वाभाविक था। मैंने कहा–यदि आप इसे पढ़ायेंगे, तो विदुषी होगी। उन्होंने कहा–हमारे घर में तो यही एक बच्चा है, इसे हम जरूर पढ़ायेंगे। मैं पिछली यात्रा के वक्त लिख चुका हूँ, कि डोनिरूछेनूपो और नये महन्तराज में पहिले ही से अनबन थी। डोनिरूछेनूपो बहुत दुःखी थे। चाङ्गुआ में उनके पास बहुत अच्छी जायदाद थी, मब्जा में भी काफी सम्पत्ति थी। अब वह 60 बरस से ऊपर के बूढ़े थे। वह चाहते थे, कि रियासत का काम छोड़कर विश्राम लें, लेकिन नये महन्तराज उन्हें वैसा करने दें तब न। कह रहे थे–न मुझे जाने की स्वतन्त्रता मिलती है, न कोई काम ही मिलता है। मैंने भारत आने के लिए कहा, तो उन्होंने बड़े करुण स्वर में कहा–"मुझे भारत के तीर्थों के दर्शन करने की बड़ी लालसा है, लेकिन छुट्टी कहाँ मिले।"

16 सितम्बर को मुझे साक्या से विदाई लेनी थी, पहिले महन्तराज से विदाई ली, फिर ताराप्रासाद के दोनों भाइयों के पास गया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि ताराप्रासाद में भी उजाला होनेवाला है। पहिली दामो को कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने खुद ही अपनी बहिन को सौत बनाया, और अब नववधू आसन्नप्रसवा थी। फिर कुशो डोनिरूछेनूपो के घर गया। तिब्बत फिर आने की मुझे बहुत कम आशा रह गई थी, क्योंकि एक तो अब मैं लौटकर राजनीति में प्रवेश करनेवाला था, जिसके कारण भारत में अंग्रेजी शासन के रहते मुझे इधर आने की कौन अनुमति देता ? दूसरे मैं अपने साथ इतनी पुस्तकों के फोटो ले जा रहा था, जिनके सम्पादन और प्रकाशन के लिए दस-पन्द्रह वर्षों की जरूरत थी। यदि तिब्बत में फिर आना हुआ तो भी इसकी सम्भावना बहुत कम थी, कि डोनिरूछेनूपो तब तक जिन्दा रहेंगे। इसलिए उनसे विदा होते वक्त मुझे बहुत अफसोस हो रहा था। चामूकुशो और दिकीला अभी स्वस्थ थीं। उनकी लड़की भी तो पौने दो ही वर्ष की थी। फिर कभी आना हुआ तो इन्हीं से मिलने की आशा थी। मिलते-मिलाते 3 बजे हम साक्या से रवाना हुए।

भारी खतरे में-दूसरे दिन हम मब्जा पहुँचे। तऊ का रास्ता डोङ्ला से होकर एक दूसरे ला (जोत) से बहुत घूमकर के था। कुशो डोनिला ने एक दिन अपने घर पर रक्खा–और हम, 19 सितम्बर को वहाँ से रवाना हुए। 22 तारीख को जब हम डोबूथा ला पार होकर नीचे जा रहे थे, तो रास्ते में कुछ तम्बू लगे देखे, पास में कुछ घोड़े चर रहे थे। हम तो पहिले ही छेगा गाँव में पहुँच गए, किन्तु हमारे साथी कुछ पीछे आ रहे थे। उनसे तम्बूवाले एक आदमी ने कुछ पूछ-ताछ की। हमने इसे मामूली बात समझी। गदहे और बैल पर सामान को पहिले ही रवाना कर दिया गया और हम लोग चाय पी साढ़े सात बजे रवाना हुए। आगे बहुत विस्तृत निर्जन मैदान मिला। 16, 17 मील तक कोई गाँव नहीं था। 3 मील चलने के बाद कुछ गदहेवाले मिले। उन्होंने कहा–"आगे खाल में डाकू ठहरे हुए हैं, बहुत सजग होकर जाइये, उन्होंने हमारे सत्तू, मांस, छङ्, और गदहों के पीठ पर की गद्दी छीन ली।" हमारे तीन साथी मील-भर पीछे बड़े ही इतमिनान से आ रहे थे। मेरे साथ साक्या से आया आदमी घोड़े पर चल रहा था। हम दोनों में एक ही पिस्तौल थी, और साथी पिस्तौल चलाना नहीं जानता था। मैंने लकड़ी के पिस्तौलदान से निकालकर पिस्तौल अपने हाथ में ले ली। पिस्तौलदान उसी के कन्धे से लटकते छोड़ दिया, जिसमें डाकुओं को मालूम हो कि हम दोनों के पास पिस्तौल है, साथी के पास लम्बी तिब्बती तलवार भी थी। मुझे डर लग रहा था, कि हमारे सामान को डाकुओं ने कहीं छीन न लिया हो–इसी सामान में महीनों के लिये फोटो थे। हम जल्दी-जल्दी आगे बढ़े। कुछ दूर आगे जाने पर एक घसियारा मिला। उसने कहा–आगे डाकू हैं, सजग होके जाना। एक छोटी-सी धार पार करने पर बालू का भीटा-सा आया। उसके आगे जाने पर डाकुओं का तम्बू रास्ते के पास ही मिला। उनके आठ घोड़े वहाँ चर रहे थे। मैं पिस्तौल हाथ में सँभाले चल रहा था। डाकुओं में से एक हमारे पास आया : उसने साथी के कमर में लम्बी तलवार देखी और मेरे हाथ में पिस्तौल। कहाँ से आये हो, पूछने पर साथी ने कहा–साक्या से आए हैं। हमें वह वहीं छोड़कर चला गया। दो और बालू के भीटे मिले और गधेवाले दूर जाते दिखाई पड़े। मैं घोड़ा दौड़ाकर उनके पास पहुँचा। उन्होंने बतलाया कि हमसे भी एक आदमी पूछने आया था। हमने कह दिया कि साक्या के महन्त

का सामान है, हम आगे जा रहे हैं। यह अच्छा हुआ, जो हमने भी साक्या का ही नाम लिया। डाकुओं ने सामान को हाथ नहीं लगाया। पीछेवाले तीन साथियों के पास दो पिस्तौल थे, लेकिन क्या मालूम उन्हें डाकुओं की खबर लगी है। मैंने अपने साथी को गदहों के साथ जाने के लिए कह दिया और पिस्तौल हाथ में पकड़े खच्चर को पीछे की ओर मोड़ा। भीटे के पास आकर उसकी आड़ में मैं पिस्तौल सँभाले बड़ी उत्सुकता से यह सोचते खड़ा रहा, कि जैसे ही कोई आवाज आई, मैं डाकुओं पर झपट पड़ूँगा। लेकिन मैं गलती में था। मैं जिस भीटे की आड़ में खड़ा था, उससे सौ गज आगे एक और भीटा था, जिसके बाद डाकुओं का डेरा था। अगर वहाँ कुछ होता भी, तो मेरे पास तक आवाज नहीं आ सकती थी। मैं यह नहीं जान रहा था, मैं तो समझता था कि आज मृत्यु से मुकाबिला करना है। जितना ही ज्यादा खतरा था, उतना ही ज्यादा मेरे हृदय में निर्भयता और उत्साह था। सारे शरीर में बड़े जोर से ख़ून दौड़ रहा था। कुछ देर बाद साथी आए। गेशे ने बतलाया कि पूछने पर मैंने बतला दिया–साक्यालामा के आदमी अभी और पीछे से आ रहे हैं।

हम आगे चलकर तङ्गरा गाँव में साढ़े बारह बजे पहुँचे। छेगा से आए गधेवाले अपने गाँव को लौट गए, लेकिन घंटा-भर के भीतर ही देखा, कि वह फिर वहीं आ गए। उन्होंने बतलाया, कि डाकू गाँव से एक मील पर नदी के किनारे ठहरे हुए हैं। हमें डर लगा कि कहीं वह हमारे घोड़ों या दूसरे सामान को छीन न लें, इसीलिए हम लौट आए। गोवा (मुखिया) ने भी बात सुनी। बन्दूकधारी घुड़सवार डाकुओं का आतंक होना स्वाभाविक था। रात को सारा गाँव सजग होकर जागता रहा। जंजीरों में बँधे गाँव-भर के बड़े-बड़े कुत्ते छोड़ दिए गए। हम लोग अपने पिस्तौलों को सम्हालकर छत पर लेटे–हमने आपस में पहरा बाँट लिया था। उस रात को नींद क्या आती ?

अगले दिन (24 सितम्बर) को सुना कि डाकुओं के घोड़े तङ्गरावालों के खेतों में चर रहे हैं। डर के मारे कोई बोलने नहीं गया। हम लोगों ने गाँव से कुछ और आदमियों को लिया और साढ़े 10 बजे खम्बा जोङ् गए। हमारे सामने भारत लौटने के दो रास्ते थे, एक तो घूम-घुमौवे रास्ते से फरी होते कलिम्पोङ् पहुँचना और दूसरा था लाछेन् का रास्ता, जिससे एक ही दिन में हम तिब्बती सीमा के पार हो जाते। डाकू अब भी पीछा कर रहे थे, इसलिए हमने फरी के रास्ते का ख्याल छोड़ दिया। खम्बा के दोनों जोङ् पोनों से मिले। सरकारी चिट्ठी को उन्होंने रख लिया, रेडिङ्लामा की चिट्ठी मेरे नाम थी, उसे देखकर उन पर बहुत प्रभाव पड़ा। अपने ही यहाँ भोजन कराया और कितनी ही देर तक गपशप होती रही। उन्होंने किरुवालों को लिख दिया कि हम लोगों को याथङ् तक का तऊ दे दें, दो घंटा चलने के बाद हम किरु पहुँच गए। वहाँ लाछेन् के भी कुछ घोड़ेवाले आए थे। उनसे मालूम हुआ कि डाकू ऊपर के पहाड़ों की ओर आए हैं। गेशे का कहना था, कि वह अब भी हमारा पीछा कर रहे हैं। यह भी मालूम हुआ कि उनके पास तलवारों के अतिरिक्त सिर्फ तीन पलीतेवाली बंदूकें हैं। पलीतेवाली बन्दूकें दूर तक की मार भले ही करें, लेकिन आठ-गोली के पिस्तौलों के सामने उनकी हिम्मत नहीं हो सकती थी। 25 सितम्बर को सामान ढोनेवाले याकों के आने में देर हुई, इसलिए हम दो बजे बाद रवाना हुए। लाछेन् जोत पार करते वक्त वर्षा-बरफ का मुकाबिला नहीं करना पड़ा, लेकिन हवा बड़ी तेज थी और सबको सर्दी लग रही थी। कई मील नीचे उतरकर हम रात को डोङ्गूके में रह गए, लेकिन सामान यहाँ तक नहीं पहुँच सका। 26 तारीख को चाय पीकर जब तक तैयार हुए, तब तक सामान भी आ गया, और उसी दिन हम याथङ् पहुँच गए। चीपोन् वङ्ग्यल् के लड़के के घर में ठहरे। गृहपति ने खच्चरों को खरीदने के लिए कहा। तीनों खच्चरों का साढ़े तीन सौ रुपया दाम कम था। लेकिन मुझे पहिली यात्रा के दोनों खच्चरों का तजरबा था। उन्हें मैं फरी में जितने दाम में बेच सकता था, कलिम्पोङ् में उससे बहुत कम दाम मिला और हैरानी अलग हुई। गृहपति ने दाम तीन सौ पचास रुपए के अतिरिक्त हमारे तीन और अपने चार खच्चरों को गन्तोक् तक भेज देने की बात कही। हमने उसे मान लिया।

28 को हम लाछेन् पहुँच गए। मालूम हुआ कि फिनलैण्डवाली वृद्धा धर्मोपदेशिका अपने बँगले पर मौजूद है। हम भी उसके पास गए। बेचारी बुढ़िया तीस साल पहिले बड़े उत्साह और श्रद्धा के साथ इन पहाड़ों में ईसामसीह के धर्म को फैलाने के लिए आई थी। उतनी सफलता तो उसे नहीं प्राप्त हुई, किन्तु लाछेन्वालों

की उसने कुछ सेवा जरूर की। आज वह बहुत बूढ़ी थी। कान से भी कम सुनती थी। किसी वक्त भी मर गई तो आगे काम कौन चलायेगा, इस बात का ख्याल कर वह अपने देश से एक तरुणी को लाई थी। पहिले तो वह ईसामसीह के धर्म पर लम्बा लेक्चर देती रही, फिर तरुणी का परिचय देते हुए कहा—यह संगीत जानती है। हमारे कहने पर तरुणी ने बाजा हाथ में ले लिया और पूछा, क्या सुनाएँ ? मैंने कहा—फिनलैण्ड का कोई अपना गीत सुनाइए। उसने दो-तीन गीत सुनाए। फिर मैंने फिनलैण्ड के बारे में कुछ पूछा—बुढ़िया और तरुणी दोनों ही प्रशंसा करते नहीं थकती थीं। बुढ़िया ने कहा—पहिले हमारा देश रूसियों का गुलाम था, लेकिन अब आजाद है, और उसे आजाद और सुखी देखकर मुझे जो आनन्द हुआ, मैं कह नहीं सकती। मैंने कहा—"हम हिन्दुस्तानी उसे अच्छी तरह समझ सकते हैं, क्योंकि गुलामी कितनी कड़वी होती है, इसे हम जानते हैं।" रूस के बारे में तरुणी कह रही थी—वहाँ लोग बहुत गरीब हैं, लाखों आदमी भूखे मर रहे हैं। मैंने कहा—"आप यह दूसरे की सुनी-सुनाई बात कह रही हैं, आज से आठ महीने पहिले मैं वहीं पर था, और मैंने वहाँ किसी को गरीब-भूखा नहीं देखा।" चलते वक्त मैंने वृद्धा को धन्यवाद देते हुए कहा—"आपको कष्ट देने के लिए हम हम क्षमा माँगते हैं। लेकिन अफसोस है, कि हम ईश्वर को नहीं मानते।" वृद्धा को बहुत धक्का लगा। उसने कहा—"मैं कितना अफसोस करती हूँ ! मुझे भगवान का प्रकाश मिला था, इसलिए मैं फिनलैण्ड से यहाँ आई, आपको भी भगवान प्रकाश दें।" तरुणी ने मेरे शब्दों को आश्चर्य से नहीं सुना, उसे नई दुनिया की हवा लगी थी। उसने कहा—"बूढ़े लोगों को आज की बात का पता नहीं है।"

19 सितम्बर को हम लाछेन् से रवाना हो गए।

2 अक्तूबर को गन्तोक् चले आए। हम फरी गए होते, तो पिस्तौल वहाँ छोड़ देते। खमूवाजोङ् में पिस्तौल किसी को दे नहीं सकते थे, इसलिए गन्तोक् तक अपने साथ ले आए, और यह हथियार के कानून के खिलाफ था। मैंने पुलिस सब-इंसपेक्टर को एक चिट्ठी लिखी और एक पोलिटिकल अफसर को, यह कहकर पिस्तौलें पुलिस के हाथ में दे दीं, कि उन्हें ग्यान्ची में छुशिङ्शा के श्री धर्ममानसाहु की दूकान में दे दिया जाय। 4 अक्तूबर को मोटर से सिलीगोड़ी आए, फिर अगले दिन रेल से कलकत्ता पहुँच गए।

किसानों-मजूरों के लिए

1
परिस्थितियों का अध्ययन

कलकत्ता में मुझे 10 दिन रहना पड़ा। पहिले ही दिन (5 अक्तूबर) पत्रसंवाददाता से कह दिया था, कि मैं अब क्रियात्मक राजनीति में भाग लेने जा रहा हूँ। मैंने ग्यारह वर्षों से राजनीतिक क्षेत्र को छोड़ रखा था। यह अच्छा ही हुआ, जो कि मैंने अध्ययन, अनुसंधान और पर्यटन में इतना समय देकर अपनी एक बड़ी लालसा की पूर्ति कर ली। मैं पहिले भी राजनीति में अपने हृदय की पीड़ा दूर करने आया था—गरीबी और अपमान को मैंने भारी अभिशाप समझता था। असहयोग के समय भी मैं जिस स्वराज्य की कल्पना करता था, वह काले सेठों और बाबुओं का राज नहीं था, वह राज था किसानों और मजदूरों का, क्योंकि तभी गरीबी और अपमान से जनता मुक्त हो सकती थी। अब तो देश-विदेश देखने के बाद और भी पीड़ा को अनुभव करता था। मैंने भारत जैसी गरीबी कहीं नहीं देखी। मार्क्सवाद के अध्ययन ने मुझे बतला दिया, कि क्रान्ति करनेवाले हाथ हैं, यही मजदूर-किसान; क्योंकि उन्हीं को सारी यातनाएँ सहनी पड़ती हैं, और उन्हीं के पास लड़ाई में हारने के लिए सम्पत्ति नहीं है। लेकिन यह सब रहते हुए जब तक वह अपना मजबूत संगठन तैयार नहीं करते, तब तक क्रान्ति करने की शक्ति उनमें नहीं आ सकती। उनका संगठन भी तभी मजबूत हो सकता है, जब कि अपने रोज-ब-रोज के कष्टों को हटाने के लिए वह संघर्ष करें। उनके इस संघर्ष के संचालन के लिए कोई सेना-संचालक मंडली होनी चाहिए, और मंडली ऐसी होनी चाहिए, जिसके सदस्य दूरदर्शी हों, अन्तिम त्याग के लिए तैयार हों, और जिनको कोई प्रलोभन अपनी ओर खींच न सके। रूस में मजदूरों-किसानों की क्रान्ति इसीलिए सफल हुई कि यहाँ वोलशेविक पार्टी—कम्युनिस्ट पार्टी मजदूरों-किसानों के संघर्ष का संचालन कर रही थी। मुझे मालूम हुआ था कि हिन्दुस्तान में भी साम्यवादी हैं, लेकिन अभी तक मुझे उनके सम्पर्क में आने का मौका नहीं मिला था। इस बात का निर्णय 21 साल पहिले ही हो गया था, कि कौन-सा पथ मेरा अपना पथ होगा। सोवियत क्रान्ति की खबरों ने मुझे एक नई दृष्टि दी थी। उसने ही मुझे आगे मार्क्सवादी बनाया, और मैं साम्यवाद का प्रशंसक बना। कलकत्ता में मैं किसी कम्युनिस्ट से मिलना चाहता था। कम्युनिस्टपार्टी उस वक्त गैरकानूनी थी, तो भी मुझे सोमनाथ लाहिड़ी का पता लगा। मैंने उनसे बात की। उन्होंने बतलाया कि बिहार में अभी हमारी पार्टी नहीं बनी है, वहाँ हमारे साथी कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी के साथ काम करते हैं, आप भी उन्हीं के साथ काम करें। कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी से में कुछ भड़क-सा गया था। जिस वक्त मैं शिगर्चे में था, उस वक्त मुझे 'जनता' का कोई अंक मिला था, जिसमें मसानी का एक लेख था। लेख में सोवियत को बहुत बुरा-भला कहा गया था। सोवियत मेरे लिए साम्यवाद का साकार रूप था, सोवियत की बुराई करके

जो अपने को साम्यवादी या समाजवादी कहे, उसे मैं वंचक या बेवकूफ छोड़कर और कुछ नहीं समझ सकता था। लाहिड़ी ने बतलाया कि कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी में सभी मसानी की तरह के नहीं हैं।

मैं 16 अक्तूबर को पटना चला आया। तिब्बत से आई चीजों की देख-भाल की, और आमदनी-खर्च का हिसाब सोसाइटी के हाथ में दे दिया। यहीं मालूम हुआ, कि छपरा में राजेन्द्र कालेज स्थापित हो गया है। 23 तारीख को मैं छपरा पहुँचा। पं. गोरखनाथ त्रिवेदी का घर सदा से मेरा अपना घर रहा है, अब की बार भी वहीं ठहरा। अगले दिन राजेन्द्र कालेज देखने गया, उसकी स्थिति और भविष्य को देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पण्डित महेन्द्रनाथ शास्त्री सत्याग्रह के समय से ही मेरे परिचित थे, उनसे मालूम हुआ कि बाबू नारायण प्रसाद ने गोरया कोठी में अपने परिवार के कई घरों के खेतों को मिलाकर पंचायती खेती शुरू की है। वर्तमान शासन-व्यवस्था में पंचायती खेती संभव नहीं है, यह मैं समझता था, किन्तु मैं यह भी जानता था कि इस तरह के प्रबन्ध में ही साइंस के कितने ही आविष्कारों का इस्तेमाल हो सकता है। 27 तारीख को मैं छपरा से गोरया कोठी के लिए रवाना हुआ। रास्ते में जामो में डाक्टर सियावरशरणजी के घर पर उतरना हुआ, फिर गोरया कोठी पहुँच गया। नारायण बाबू घर पर ही थे। उन्होंने अपने खेतों को दिखलाया, अपनी योजना बतलाई। इस पंचायती खेती में चार परिवार (29 व्यक्ति) शामिल हुए थे, और उनके पास 97 बीघे (प्रायः 65 एकड़) जमीन थी। खेती अभी दस ही महीने पहिले शुरू हुई थी, लेकिन इतने ही में लोगों को फायदा मालूम हो गया था। मैंने 'पंचायती खेती का एक प्रयास' के नाम से एक विस्तृत लेख लिखा। 2 नवम्बर तक महाराजगंज, अतरसन, एकमा, बरेजा, माँझी, आदि गाँवों में घूमा, और वहाँ की राजनीतिक अवस्था का अध्ययन करता रहा। बनारस, प्रयाग भी गया, और वहाँ कालेज के छात्रों के सामने व्याख्यान दिए। जायसवाल जी के देहांत के बाद मेरी बड़ी इच्छा थी, कि उनका एक जीवन लिख डालूँ, उनके कागज-पत्रों से मैंने कितनी बातें नोट भी की थीं। अबकी बार पटना में भी कुछ मसाला जमा किया था। उसी सिलसिले में मैं 24 नवम्बर को मिर्जापुर गया, वहाँ जायसवाल-परिवार, जायसवाल के बाल शिक्षक नाऊ गुरु तथा दूसरे परिचितों से पूछकर बहुत-सी बातें जमा कीं। लेकिन 29 तारीख को गया से पटना जाते वक्त सारी सामग्री चमड़े के बैग में रखी रेल पर ही छूट गई, फिर मुझे उत्साह नहीं रह गया, कि उतनी मेहनत करूँ।

25 नवम्बर को डालमिया नगर वहाँ के मजदूरों की अवस्था देखने गया। सड़क के पास मेहतरों की झोंपड़ियाँ थीं। झोंपड़ियाँ भी कहना मुश्किल था, क्योंकि 4 हाथ लम्बी 3 हाथ चौड़ी इन टट्टियों पर टीन, छप्पर या टाट की छोटी-छोटी छतें थीं, बरसात का पानी शायद ही वह रोक सकतीं। फर्श भी बहुत नीचा था। मैंने एक स्त्री से पूछा—"बरसात में कहाँ रहती हो ?" स्त्री ने कुछ अभिमान के साथ कहा—"खटिया पर बाबू !" शायद उसकी पड़ोसिनों के पास खटिया भी न हो, इसलिए उसे खटिया का अभिमान था। बरसात में सचमुच ही वहाँ पानी भर जाता था, इसलिए खटिया बिना बैठने का ठाँव कहाँ था ? यह धर्ममूर्त्ति देशभक्त सेठ के नगर के भंगी थे। जिन गरीबों की कमाई से करोड़ों का लाभ हो, उनकी यह हालत ! डालमिया नगर के बाबू लोगों का एक क्लब है। साहित्यिक रचनाओं और अनुसन्धानों के कारण मेरा नाम क्लबवालों को मालूम था। उन्होंने शाम को मानपत्र देने का आयोजन किया। वह इसके लिए किसी दूसरी जगह सभा करना चाहते थे, लेकिन सेठजी ने बड़ी उदारता दिखाते हुए कहा—यहाँ अपने ही हाते में मानपत्र दो, मैं भी शामिल होऊँगा। मानपत्र दिया गया। मैंने ईरान और तिब्बत के बारे में भी कुछ-कुछ कहा। लोगों ने कहा कि रूस के बारे में भी कुछ बतलाइए। मैं चुप था, और दो-तीन बार वह आग्रह जब दुहराया गया, तो सेठजी ने कहा—यहाँ रूस के बारे में कुछ न कहें। मैंने वहाँ कुछ नहीं कहा। हाँ, पीछे फैक्टरी के मजदूरों की सभा हुई, उसमें मैंने रूस की बातें बतलाईं। गया जिले के किसान तरुणों का देव में शिक्षण-शिविर चल रहा था, वहाँ मुझे भी कुछ व्याख्यान देने थे। मैं डालमियाँ नगर से वहाँ चला गया।

किसान सम्मेलन—उस साल बिहार प्रान्तीय किसान सम्मेलन ओइनी (दरभंगा) में हो रहा था। मैं भी वहाँ गया। श्री कार्यानन्द शर्मा सभापति थे। असहयोग के जमाने से हम दोनों एक दूसरे को जानते थे। कार्यानन्दजी ने बड़ी गरीबी से पढ़ा था। कालेज में पढ़ रहे थे, उसी वक्त स्वतन्त्रता के आन्दोलन ने जोर पकड़ा, और

कालेज की पढ़ाई छोड़कर वह रणक्षेत्र में कूद पड़े। वह 18 वर्षों से बराबर उसी लगन से काम करते रहे। स्वराज का अर्थ वह गरीबी और अपमान का दूर होना समझते थे, धीरे-धीरे उनके तजर्बों ने बतला दिया, कि निराकार स्वराज से काम नहीं चलेगा, किसानों की साकार तकलीफों को दूर करना पड़ेगा। वह किसानों की कई लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। आज 30 हजार किसान अपने वीर सभापति के भाषण को बड़ी श्रद्धा और उत्साह के साथ सुन रहे थे। मैंने अपना व्याख्यान छपरा की भाषा (मल्लिका) में दिया था। यद्यपि यहाँ के किसानों की भाषा मैथिली है, लेकिन वह हिन्दी की अपेक्षा मल्लिका को ज्यादा समझते हैं। ओइनी से पूसा 6 मील दूर है। 4 दिसम्बर को कई साथियों के साथ मैं वहाँ के फार्म (कृषि) को देखने गया। भूकंप के बाद यहाँ की बहुत-सी संस्थाएँ दिल्ली चली गईं, लेकिन जो कुछ देखा, उससे यही मालूम हुआ कि यहाँ के सारे साइंस-संबंधी अनुसन्धान किसानों के लिए नहीं, बल्कि कागजों पर छाप-छापकर सरकार की वाहवाही लेने के लिए हैं।

मुझे यह भी पता लगा कि 'किसानों की जय' का नारा जिन लोगों ने लगाकर किसानों से वोट लिये, वही कांग्रेसी मंत्रिमंडल में पहुँचकर अब कोई बात करने से जमींदारों की तकलीफों पर लेक्चर देने लगते हैं। ओइनी से मैं जीरादेई (5-6 दिसंबर) गया। राजेन्द्र बाबू आजकल घर ही पर थे, उनके साथ देश-विदेश की राजनीति और खास करके किसानों की समस्या पर बात होती रही। मैंने यह भी कहा कि सरकारी फार्मों से नए ढंग की खेती का उतना प्रचार नहीं हो सकता, जितना कि पंचायती खेती में उन तरीकों के बरतने से होगा। वहाँ से लखनऊ, गोरखपुर, प्रयाग आदि घूमते-घामते 29 दिसम्बर को मुजफ्फरपुर पहुँचा। उस वक्त प्रान्तीय कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी का वार्षिक अधिवेशन हो रहा था। बिहार के सभी जिलों के कार्यकर्ता आए थे। इस वक्त यह भी देखा कि मेरे व्याख्यानों को नोट करने के लिए एक डिप्टी मजिस्ट्रेट खास तौर से आए हुए हैं। राजनीतिक कार्यकर्ताओं के लिए यह भय की नहीं, सम्मान की चीज है। जयप्रकाश बाबू और दूसरे साथियों ने मुझे पार्टी का सदस्य होने के लिए कहा। मैंने मसानी के लेख का जिक्र करके कहा कि आपकी पार्टी यदि सोवियत विरोधी नीति रखती है, तो मैं कैसे उसमें शामिल हो सकता हूँ ? उन्होंने बतलाया कि यह मसानी का अपना विचार है, पार्टी उसके लिए जिम्मेवार नहीं है। मैं मेम्बर बन गया। उस वक्त हरिनगर (चम्पारन) की चीनी मिलों में हड़ताल जारी थी। मैं 22 तारीख को वहाँ पहुँचा। हरिनगर मिल कांग्रेसी पूँजीपति की मिल है, किन्तु वहाँ के हड़ताल के देखने से मालूम हुआ, कि देश की आजादी के लिए लड़नेवाले ये लोग किसानों को पीस डालने के लिए किसी से कम नहीं हैं। मिल-मालिक और बड़े नौकर मजदूरों को दास से बढ़कर नहीं समझते। जरा-जरा सी बात के लिए जुर्माना कर देना, नौकरी से निकाल देना मामूली बात थी। ऊपर से मजदूरी भी बहुत कम थी। शायद दुनिया के किसी मुल्क में पूँजीपति इतना ज्यादा नफा नहीं कमाते। हिन्दुस्तान की चीनी मिलों ने तीन-तीन चार-चार वर्ष के भीतर इतना नफा कमाया, कि कारखाने में लगी सारी पूँजी नफे से निकल आई। यह पूँजीवादी प्रथा में भी रोजगार नहीं, सीधी लूट है।

जिन मजदूरों के पसीने की कमाई से पूँजीपति इतना नफा कमाते हैं, उनकी ओर उनका कुछ भी ध्यान नहीं जाता। हरिनगर मिल के मजदूरों की बहुत-सी शिकायतें थीं, जब 6 महीना बंद रहने के बाद पेरने का मौसिम नजदीक आया और मिल की मशीन और पुर्जे साफ किए जाने लगे, उस वक्त मिलवालों ने खूब नादिरशाही की। 7 अक्तूबर (1938) को 300 सौ मजदूरों में 20 को छोड़कर बाकी सबने हड़ताल कर दी। उनकी माँग थी–(1) मजूरी में 25 सैकड़ा वृद्धि। यानी साढ़े तीन आने की जगह छै आना रोजाना मजूरी हो; (2) मजूरों के घरों में चिराग और सफाई का इन्तिजाम किया जाय; (3) विवाहित मजदूरों के लिए जनाना क्वाटर मिले; (4) मिल-मालिक मजदूर-सभा को स्वीकार करें; (5) किसी मजदूर को बहाल-बरखास्त करना हो तो उसे अपने मन से न करें, बल्कि फैसला करने का अधिकार मजदूरों और मालिकों की एक सम्मिलित सभा को हो। हड़ताल 20 अक्तूबर तक जारी रही। मिलवालों के लिए यह बड़े नुकसान की चीज थी, क्योंकि यदि मशीन साफ होकर लग नहीं जाती, तो ऊख पेरने का काम काम कैसे होता ? 18 से 20 तारीख तक मिल के भीतर ही जिलाकांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक होती रही–मिल में बैठक होने के लिए कोई आश्चर्य करने की जरूरत नहीं, आखिर

मिल-मालिक भी तो कांग्रेसी थे। कार्यकारिणी ने मजदूरों को आश्वासन दिया, और मजदूरों ने सप्ताह-भर के लिए हड़ताल रोक दी। पेरने का मौसिम आ गया, और मिल में 1200 मजदूर काम करने लगे। मजदूरों ने कांग्रेसी नेताओं को चिट्ठी और तार दिये, लेकिन जवाब देने की जरूरत नहीं समझी गई। 15 दिन इंतिजार करने के बाद 5 नवम्बर को फिर हड़ताल करने के लिए मजदूरों ने अल्टिमेटम दे दिया। उसी दिन जिला के बड़े कांग्रेसी नेता आए, उन्होंने मजदूरों को धमकी दी, कि यदि हड़ताल किया, तो सबको बाहर निकाल दिया जायगा और नए मजदूर रखे जाएँगे। 9 नवम्बर को मजदूरों ने फिर हड़ताल शुरू कर दी। 14 नवम्बर को नेता ने आकर फैसला सुनाया कि मजूरी साढ़े तीन आने की जगह चार आना मिलेगी। बाकी किसी बात पर विचार नहीं किया गया। लेकिन मजदूर इतने से सन्तुष्ट कैसे हो सकते थे ! हड़ताल जारी रही। मजदूरों ने धरना देना शुरू किया। पुलिस पकड़ नहीं रही थी, इस पर कांग्रेसी नेताओं ने उन्हें हिजड़ा कहा और धमकी दी। पुलिस ने लोगों को गिरफ्तार करना शुरू किया। मिल के सिपाही और पुलिस-घुड़सवार मजदूरों को खूब मारते-पीटते, उनके ऊपर घोड़े दौड़ाते, ठंडा पानी डालते। जनार्दन प्रसाद को तो इतना पीटा था कि दस दिन तक वह बोल न सका। आज (22 दिसम्बर) तक 168 मजदूर जेल में भेजे जा चुके थे। सब-डिविजनल मजिस्ट्रेट ने कई लड़कों के हाथों पर बेत लगवाए।

मुझे यह सब सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ। यह सब कांग्रेसी सरकार के राज्य में उस जनता पर हो रहा था, जिसने कांग्रेस को इतना बड़ा किया ! क्या वह कांग्रेस मंत्रिमंडल से यही आशा रखती थी ? सबसे बड़ी बात तो यह कि अभी हमारा देश अंग्रेजों का गुलाम था। क्या कांग्रेसवाले नहीं जानते थे कि जिस गरीब जनता के ऊपर इतना अत्याचार किया जा रहा है, उसी के बल पर उसे विदेशियों से लड़ना है। मुझे कांग्रेसी नेताओं से कभी ऐसी आशा नहीं थी।

राँची साहित्य सम्मेलन (27-30 दिसंबर)–उस साल प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन राँची में हो रहा था, मैं ही उसका सभापति चुना गया था। 26 दिसम्बर को मैं राँची पहुँचा। राँची की यह पहिली यात्रा थी। हरी-भरी पहाड़ी जगह थी, गर्मी में कैसी लगती होगी ? मैंने अपने भाषण में जनभाषा और जनगीत पर जोर दिया था, हिन्दी-उर्दू को मिलाकर एक कृत्रिम भाषा (हिन्दुस्तानी) के विपक्ष में कहा था। मैं बिलकुल समझ नहीं सकता था कि इकबाल और पन्त की कविताओं के साहित्य को कैसे एक कहा जा सकता है ? मैं समझता था, कि हिन्दी और उर्दू को अपने-अपने स्थान पर रहने देना चाहिए। 30 तारीख को हम कांके देखने गए। मुर्गी पालने को मैं बहुत फायदे की चीज समझता था, इसलिए वहाँ के मुर्गीखाने को बड़े ध्यान से देखता रहा। हम पागलखाना देखने गये। एक पागल कह रहा था–"देखिये हम काम करते हैं, किन्तु मजदूरी नहीं मिलती। हम कैदी थोड़े ही हैं; हम को शादी-ब्याह नहीं करने दिया जाता।" वह पागल ज्यादा खतरनाक नहीं था।

2

किसान-संघर्ष (1939 ई.)

पहिली जनवरी (1939) को सबेरे नागार्जुनजी के साथ मैं पटना पहुँचा, और दूसरे दिन छपरा के लिए रवाना हो गया। जिला-भर के किसान-कार्यकर्ता आए हुए थे, वहाँ किसानों की परिस्थिति जानने का मौका मिला। अमवारी के किसानों ने बतलाया–"हमारे खेत छीन लिए गए हैं, हमने इधर-उधर बहुत दौड़धूप की, कांग्रेस नेताओं के पास भी गए, मगर कोई नहीं सुनता।" 5 जनवरी को मैं सीवान में रेल से उतरकर अमवारी पहुँचा। मालूम हुआ, सचमुच बहुत-से किसानों के खेत निकाल लिए गए है। यह भी पता लगा कि झगड़ा हरी-बेगारी से शुरू हुआ। सतयुग से व्यवस्था चली आई थी, कि किसान अपने हल-बैल से मालिक के खेत को पहिले जोत-बो दें, फिर वह उसे अपने खेत में ले जा सकता है। रामधनी मेहतो अपना खेत जोत रहे थे, जमींदार

(गु. बाबू) ने कहा–हल हमारे खेत में ले चलो। रामधनी ने कहा–इस खेत को जोतकर बाबू हम आपके खेत में चलेंगे। बाबू ने तीन लाठी मारी। पुलिस ने भी रैय्यत के खिलाफ ही रिपोर्ट दी। दूसरे किसानों को यह बात बुरी लगी। पुलिस की रिपोर्ट पढ़कर मजिस्ट्रेट ने किसानों के ऊपर दफा 144 लगा दी। सारा मामला एकतरफा था, और यह सब कांग्रेसी मंत्रियों के राज में हो रहा था।

मैं अगले दिन (6 जनवरी) पास के गाँव जयजोरी की ओर चला। अमवारी प्राइमरी स्कूल के लड़कों ने मुझे खूब गालियाँ दीं। उनके अध्यापक जमींदार के यहाँ नौकरी भी करते थे, इसलिए नमक-हलाली दिखलानी ही चाहिए थी। रात को हम जयजोरी में रहे। यहाँ के किसानों पर भी जमींदार का वर्षों तक जुल्म होता रहा। खेत में चाहे एक अच्छत पैदा न हो, लेकिन मालगुजारी-जुर्माना सब मालिक के पास पहुँचना चाहिए। किसान कितने दिनों तक मालगुजारी कर्ज लेकर देते ? जब देने में असमर्थ हुए तो जमींदार ने खेत नीलाम करवा लिया। खेत को छोड़कर किसान जी कैसे सकते ! अन्त में उन्होंने निश्चिय किया, कि चाहे कुछ भी हो, हम अपने खेत को नहीं छोड़ेंगे। जमींदार ने सब कुछ करके देख लिया, लेकिन गाँव के एक दो को छोड़कर सारे ही किसान एक राय थे। वह उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। वर्षों तक लड़ते रहने के कारण, मैंने देखा जयजोरी के किसानों में जान है–मोहन भगत और कई दूसरे किसान सिर्फ अपना स्वार्थ नहीं देखते थे।

दूसरे दिन (7 जनवरी) हम सीवान के लिए रवाना हुए। थोड़ी ही दूर जाने पर सुल्तानपुर गाँव मिला। यहाँ हिन्दू-मुसल्मान दोनों ही धर्मों के किसान हैं। मैंने एक मुसल्मान किसान से बातचीत शुरू की–"तुम्हारे गाँव में कितने खेत और कितने घर असामी हैं ?"

किसान–"5 सौ बीघा (300 एकड़ से कुछ ऊपर) खेत और पाँच सौ परिवार हैं–हिन्दू-मुसल्मान दोनों।"

मैंने पूछा–"तुम्हारे मालिक कौन हैं ?"

किसान–"हमारे मालिक डाक्टर म. साहब हैं।"

मैं–"तब तो तुम्हारा अहोभाग्य है। कांग्रेस के इतने बड़े नेता तुम्हारे मालिक हैं।"

किसान–"अहोभाग्य ! सारे रैय्यत परेशान-परेशान हैं। एक किस्त मालगुजारी जो बाकी रह जाय, तो मारकर खाल उधेड़ लेते हैं। हरी-बेगारी, जुर्माना के मारे नाक में दम है। मालिक के 75 बीघे की बकाश्त (अपनी खेती) है, और उसका सारा जोतना-बोना हम लोगों को अपने हल-बैल से करना पड़ता है।"

यह थे कांग्रेसी सरकार के एक मंत्री और शायद दूसरे मंत्रियों से काफी अच्छे !

उसी दिन हम सीवान पहुँच गए। दूसरे दिन सीवान के अंग्रेज एस. डी. ओ. के पास जाकर मैंने अमवारी के किसानों की तकलीफें बतलाईं। उसने कहा–"मैं अभी-अभी नया आया हूँ, मैं वहाँ जाकर जाँच करूँगा।" लेकिन वह कभी जाँच करने नहीं गया। जाँच करने की जरूरत भी नहीं थी, क्योंकि जमींदार (च) बाबू से झगड़ा था, वह सरकार के बहुत खैरख्वाह थे, कई सालों से अवैतनिक सी. आई. डी. (खुफिया) का काम कर रहे थे, सरकार ने उन्हें उपाधि भी दी थी। उनके पास कई बड़े अंग्रेज हाकिमों के प्रशंसापत्र थे। उनकी एक-एक बात अंग्रेज मजिस्ट्रेट के लिए ब्रह्मवाक्य था।

छपरा में सबसे बड़ी जमींदारी हथुवा के महाराज बहादुर की है। सारा कुआड़ी परगना उनका है। जब मैं असहयोग और बाद में भी कांग्रेस का काम करता था, तो कुआड़ी में मुझे बहुत जाना पड़ता था। मैंने यहाँ के किसानों की बहुत-सी तकलीफें सुनी थीं। मैं कुआड़ी में जाने का ख्याल रखता था, लेकिन अबकी बार सिर्फ मीरगंज को दूर से देखकर ही संतोष करना पड़ा। मीरगंज बाजार अब बहुत बढ़ गया था। वहाँ एक चीनी की मिल कायम हो गई थी। थावे से सिधवलिया की रेल पर पहिले-पहिल चढ़ा। रतनसराय स्टेशन से उतरकर बरौली गया, वहाँ एक सभा में भाषण दिया, फिर रास्ते में रात को एक जगह ठहरकर गोरया कोठी पहुँचा और चार दिन वहीं रहा। वहाँ हाईस्कूल के विद्यार्थियों के सामने व्याख्यान दिया, और पंचायती खेती देखी। छितौली के किसानों ने अपनी तकलीफें बताईं। 31 जनवरी को छितौली पहुँचा। वहाँ के जमींदार अशर्फी साहु से मिला। उन्होंने कहा कि मैंने किसी असामी को खेत नहीं दिया है, मैं अपना खेत आप जोतता हूँ। अशर्फी

साहु धर्मात्मा समझे जाते थे, उन्होंने एक मन्दिर बनाकर संस्कृत पाठशाला भी खोल रखी थी। पूजा-पाठ, व्रत-उपवास में भी आगे रहते थे, लेकिन वह बोल रहे थे सरासर झूठ। 489 बीघा खेत के लिए वहाँ उनके पास हल-बैल कहाँ थे ? जब अशर्फी साहु ने एक निलहे साहब से यह जमीन और कोठी खरीदी, उस वक्त कितने ही असामी खेतों को जोता करते थे। उनसे साहु ने खेत निकाल लिया। गाँव के असामियों को जोतने के लिए देने पर निकालना मुश्किल होता, इसलिए 14 घर असामियों को दूसरे गाँव से बुलाकर बसाया। पैमायश (सर्वे) में इन असामियों के नाम दर्ज हो गए, फिर उन्हें इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया। बेचारे गरीब किसान लखपति जमींदार से कैसे लड़ते ? पुलिस उनकी बात करती थी। अदालत की आँख में धूल झोंकने के लिए वह पानी की तरह रुपये को खर्च कर सकते थे। खैर, अब तक वह किसानों को मनमाना मालगुजारी पर खेत जोतने को देते थे, लेकिन अब वह इसके लिए भी तैयार नहीं थे।

उसी दिन छपरा पहुँचा। अगले दिन कलक्टर से मिला। उनसे मैंने किसानों के कष्ट बताए। कलक्टर ने कहा कि हम तो कानून के बन्दे हैं, यदि किसानों के लिए कुछ करना है, तो कांग्रेस सरकार को करना चाहिए, तो भी मैं अमवारी के बारे में जानने की कोशिश करूँगा।

17 जनवरी को मैं पटना में था। मैं चाहता था कि पंचायती खेती को सरकार प्रोत्साहन दे, जिसमें नये ढंग की खेती को देखकर दूसरे किसान भी इसे अपनाएँ। डाक्टर महमूद से पहिले ही बातचीत हुई थी। पार्लामेन्ट्री सेक्रेटरी बाबू शारङ्धर से बातचीत हुई। फिर उनके परामर्शानुसार कृषि-विभाग के डाइरेक्टर मिस्टर सेठी के पास पहुँचा। उन्होंने पहिले इस तरह बात शुरू की, मानो विशेषज्ञों के लिए जो काम है, उसमें साधारण आदमी को हाथ डालने का हक नहीं है। वह कह रहे थे कि हजार-दो हजार एकड़वाले किसान इकट्ठा करें, तो हम अपना ज्ञान और साधन खर्च करेंगे। मैंने कहा–"तब तो न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी। आपको सौ-पचास एकड़वाले पंचायती खेतिहरों को मदद देना चाहिए, उनकी सफलता देखकर दूसरे भी अनुकरण करेंगे।" खैर, उन्होंने हाँ-हाँ किया और खर्च की योजना बना देने के लिए कहा। मैंने कुआँ, रहट और कुछ और चीजों के लिए रुपये का हिसाब दे दिया।

उस वक्त मुँगेर और गया जिला में किसानों का जमींदारों के साथ संघर्ष चल रहा था। कांग्रेस मंत्रिमंडल के कायम होने पर जमींदारों को डर हो गया था कि जिन खेतों को उन्होंने जबर्दस्ती किसानों से छीन लिया है, और जिन्हें अब भी किसान ही जोत रहे हैं, उन पर किसानों का अब हक हो जायगा, क्योंकि कांग्रेसी सरकार उनकी धाँधली चलने नहीं देगी। इसीलिए सारे बिहार में वर्षों से किसानों के जोत में रहते खेतों को जमींदारों ने निकालना शुरू किया। किसान विरोध करते थे और अपने खेतों को छोड़ना नहीं चाहते थे, यही संघर्ष का कारण था। श्रीकार्यानन्द जी से मैंने बढ़ैयाटाल के किसानों की दुर्दशा सुन ली थी, और अब मैं उसे खुद देखना चाहता था।

1. बढ़ैयाटाल में

20 जनवरी को मैं लक्खीसराय चितरंजन आश्रम में गया। वहाँ उस वक्त किसान कार्यकर्ताओं का शिक्षण-शिविर चल रहा था और एक तरुण कर्मी अनिल मित्र बड़ी तत्परता से काम कर रहे थे। अगले दिन (21 जनवरी) कार्यानन्द जी के साथ हम पैदल रवाना हुए। रास्ते में रजौना में पालवंशी राजा सूरपाल के समय (1075-77 ई.) की एक बौद्धमूर्त्ति देखी। एक दूसरी मूर्त्ति की चौकी पर किसी पालवंशी राजा के 13वें वर्ष का शिलालेख था। हरोहर नदी में नाव तैयार थी। हम नाव से रेपुरा गए। नदी से थोड़ा हटकर गाँव था। एक बगीचे में सभा का इन्तिजाम किया गया। 5 हजार से अधिक लोग जमा थे, जिनमें तीन-चार सौ औरतें थीं। सदियों से इन किसानों पर अत्याचार होता आया था। वह इसे भाग्य का फेर समझते थे, लेकिन अब वह अपने भाग्य को अपने हाथ से बनाने के लिए तैयार थे। बढ़ैयाटाल चालिस गाँवों का एक विस्तृत मैदान है। यहाँ की जमीन नीची है, इसलिए बरसात-भर वह एक छोटे-मोटे समुद्र का रूप ले लेता है, जिसके भीतर छोटे-छोटे गाँव द्वीप-से मालूम पड़ते हैं। बरसात खतम होते ही पानी निकल जाता है। लेकिन हजारों गाँवों की गन्दी-सड़ी चीजों

को अपने भीतर घोलकर वहाँ मोटी काली मिट्टी की तह के रूप में छोड़ भी जाता है, जिसके कारण रब्बी की फसल के लिए जमीन अधिक उपजाऊ हो जाती है। पानी निकलते ही किसान हल ले जाकर बीज बो देते हैं, और फिर लाखों एकड़ भूमि में हरी फसल लहराने लगती है। टाल को बराबर इन गाँवों के किसान जोता करते थे। जमींदार उनसे मनमाना अनाज और भूसा लिया करते थे, और किसानों को इतना अन्न उपजाकर भी भूखे मरना पड़ता था। अब जब किसान जाग गए, तो जमींदार हर तरह के अत्याचार पर उतर आए थे। उनके लठधर किसानों का शिर फोड़ते, औरतों को बेइज्जत करते थे। पुलिस ने सैकड़ों आदमियों को जेल भेजा। लेकिन अब जेल का डर इनके दिल से निकल गया था। उस दिन औरतें अपनी मगही भाषा में गाना गा रही थीं–"चलु चलु माता ! जेहल के जवैयारे।" औरतें भी जेल जाने से नहीं डरती थीं।

अगले दिन (22 जनवरी) रेंपुरा से हम रवाना हो मेहरामचक गाँव में पहुँचे। गाँव वालों का जिधर निकास था, उधर ही पुलिस ने डेरा डाला था। शांति-व्यवस्था तथा जमींदारों की लूट की रक्षा करने के लिए पुलिस का भारी दल टाल में पहुँचा हुआ था। लेकिन उन्हें डेरा डालने में इतना तो ख्याल रखना चाहिए था, कि जिधर औरतें रात-विरात निकलती हैं, उस जगह को छोड़ देते–साफ था कि कांग्रेसी सरकार ने जमींदारों का पल्ला पकड़ा था। यह बहुत गरीब गाँव था। 5 व्यक्ति के एक परिवार के घर को मैं देखने गया। तीन हाथ की दीवार पर फूस की झोंपड़ी रखी थी। घर भीतर से 8 फीट लम्बा और 5 फीट चौड़ा था। बाहर एक फूस का बरांडा था। इसी में वह गुजारा करते थे। एक 21 व्यक्ति के परिवार के पास वैसे ही तीन घर थे। क्या इसे मनुष्यजीवन कह सकते हैं ? एक घर में देखा कि जमींदार ने घरवालों को निकाल दिया है और उसमें भूसा भर रखा है। हद दरजे की गरीबी और असहायता। भूखे थे तो भी अब उनके अन्दर से डर निकल गया था। उनके उत्साह को देखकर मेरी तबियत बहुत खुश हुई। मैंने कहा–क्रांति तुम्हारा स्वागत है।

2. रयोड़ा में

23 जनवरी को कार्यानन्दजी के साथ रयोड़ा देखने जा रहा था। गया के किसान-नेता पंडित यदुनन्दन शर्मा पर किसानों के संघर्ष में सहायता देने के अपराध में मुकदमा चल रहा था। पचासों हजार किसान अपने वीरनेता के दर्शन के लिए गया जाने को तैयार थे। उस भीड़ में भला टिकट कौन माँगता और जेल से डरनेवाला कौन था ? रेलवालों ने ढाई घंटा बाद रेल छोड़ी, इस पर भी उन्हें हिम्मत नहीं थी। फिर उन्होंने हम दोनों को भी साथ चलने के लिए कहा। काशीचक स्टेशन पर अब भी पचास आदमी थे, बहुत-से कचहरी का समय बीत गया समझकर लौट गए थे। हम लोग लारी से रयोड़ा गए। सशस्त्र पुलिस गाँव से बाहर पड़ी थी। गाँव में दरिद्रता हद दर्जे की थी। कितनी ही छानों पर वर्षों से खर नहीं पड़ा था। इस गाँव में बड़ी जातिवाले किसान ज्यादा रहते थे और जमींदार भी उसी बड़ी जाति के थे। एक-एक करके उन्होंने किसानों के सभी खेत नीलाम करवा लिये। अब किसानों के लिए दो ही रोजगार था, बैल-गाड़ी लादना या लड़कियों को पैदाकर उन्हें अपने जाति में बेंचना। इतनी गरीबी थी, किन्तु मैंने वहाँ के स्त्री-पुरुषों के रंग और शरीर को देखा तो उनसे सौन्दर्य की झलक आ रही थी। जमींदार पर पुलिस और सरकारी अफसरों का वरदहस्त था, क्योंकि उन्होंने अपने को पक्का अंग्रेजभक्त साबित किया था। कांग्रेस-मंत्रियों में चार में से तीन स्वयं जमींदार थे और चौथे बनने की तैयारी में थे, फिर उनकी सहानुभूति किसानों के प्रति क्यों होती ? लेकिन किसानों में अब गजब का एका हो गया था। वह अपने हक पर एक साथ लड़ने, एक साथ जेल जाने, मार खाने के लए तैयार थे। औरतें हमें देखकर "चलु चलु सखिया जेल के जवैया गे" गा रही थीं। मैंने वहाँ एक व्याख्यान दिया।

24 जनवरी को सबेरे मैं पटना में था। वहाँ खबर मिली कि करनौती (हाजीपुर) की घरू नौकरानियों ने हड़ताल कर दी है। हमारे देश में एक ही कोढ़ थोड़ा है। जिन गाँवों में बड़े-बड़े जमींदार रहते हैं, वहाँ की औरतों की इज्जत मुश्किल से बच पाती है। जमींदारों की अपनी इज्जत पर भी आबरवाँ जैसा ही पर्दा होता है। साधारण स्त्रियों पर तो वह भी नहीं रहने पाता। फिर सैकड़ों वर्षों से उन्होंने कुछ जातियों को अपना खवास–गृहसेवक बना रखा है। इन घरों के पुरुष और स्त्रियाँ बाबुओं के घर में जिन्दगी-भर सेवा करने के

लिए बने हैं। इनकी अवस्था दास-दासी से बेहतर नहीं है। मालिक के जूठे भात से वह पेट पालते हैं, उतारे कपड़े से शरीर ढाँकते हैं। महीने में 8 आना और 12 आना उन्हें तनख्वाह मिलती है, और काम के लिए पहर-भर रात से आधी रात तक हाथ बाँधे खड़ा रहना पड़ता है। लड़की का ब्याह होने पर जैसे मोटर, हाथी, सोने-रूपे का दहेज दिया जाता है, उसी तरह खवासिनें भी दहेज में जाती हैं। क्या दास-प्रथा में कोई कसर है ? करनौती में घरू नौकरानियों की हड़ताल ने बतलाया कि, राजर्षियों और ब्रह्मर्षियों का हिन्दुस्तान हिलने लगा है।

उसी दिन रात को मैं छपरा गया। मढ़ौरा में चीनी, शराब और लोहे की एक बड़ी फैक्टरी है, एक अंग्रेजी मिठाइयों का भी कारखाना है। कारखाने के मालिक अंग्रेज हैं। यद्यपि वह इंगलैण्ड में अपने मजदूरों को चार-चार रुपया रोज मजूरी देने के लिए तैयार हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के मजूरों को वह चार आने में टरकाना चाहते हैं। मजूरों ने बहुत शिकायतें कीं, उन्होंने मालिकों के पास बार-बार दरखास्तें दीं, लेकिन कौन सुनता है ? कांग्रेसवाले अब मिल-मालिकों के सगे भाई थे, जैसा कि हमने हरिनगर में देखा था। लेकिन मढ़ौरा के मालिक हिन्दुस्तानी नहीं अंग्रेज सेठ थे, इसलिए उन्होंने मजूरों के साथ अपना छोह दिखाना चाहा। जिला कांग्रेस के तत्कालीन सभापति एक बड़े जमींदार थे। जिले में जगह-जगह किसानों पर जुल्म हो रहे थे। जमींदार उनके खेतों को जबर्दस्ती निकाल रहे थे। किसान दौड़े-दौड़े जिला कांग्रेस के पास जाते, किन्तु सभापति महाशय क्यों उधर ध्यान देने लगे ? उनकी जमींदारी में भी तो वही बातें दुहराई जाती थीं। खैर, अंग्रेज सेठ का कारखाना होने के कारण कांग्रेसी नेताओं ने यहाँ के मजदूरों की सभा स्थापित की। 1 दिसम्बर को जिला सभापति ने मजदूरों की सभा की और उनकी माँगें लिखकर मालिकों के पास भेज दीं। साथ ही यह भी लिख दिया कि 19 तारीख के 12 बजे तक माँगें पूरी कर दी जायँ। लेकिन मिलवाले इस तरह की चिट्ठियों से थोड़े ही माँगें पूरा किया करते हैं। 20 को चिट्ठी लिखी गई कि यदि चौबीस घंटे में समझौता नहीं हुआ, तो मजदूर हड़ताल कर देंगे। 21 जनवरी को मजदूरों की आम सभा करके 23 जनवरी से हड़ताल करने की चिट्ठी लिख दी गई। यह सब कांग्रेस के नेता कर रहे थे। मजदूर उनकी बात पर विश्वास करके लड़ने पर तैयार थे। कांग्रेसवाले कई बार हड़ताल को स्थगित कर चुके थे। 22 तारीख को फिर उन्होंने हड़ताल स्थगित करने के लिए लिखा। मजदूरों को मालूम हो गया, कि वह नहीं चाहते कि हम अपने हक के लिए लड़ें। उन्हें बड़ी निराशा हुई। वह हमारे साथियों के पास दौड़े। 23 को आकर साथी विश्वनाथ श्रमिक ने मजदूरों का पक्ष लिया, इस पर कांग्रेसी नेताओं ने धमकी दी, और 24 तारीख को उन्होंने फतवा दिया कि मजदूरों के नेता गुंडा हैं। अब पुलिस क्यों चूकने लगी ? उसने 31 आदमियों को गिरफ्तार किया। इसी काम के लिए मैं 25 जनवरी को मढ़ौरा पहुँचा था। मजदरू डटे हुए थे। बाजार के लोग थोड़ा-थोड़ा अन्न जमा करके हड़तालियों की मदद के लिए तैयार हो गए। मैंने मजदूरों की सभा में व्याख्यान भी दिया।

26 जनवरी को सोनपुर में स्वतन्त्रता-दिवस मनाया जानेवाला था। मुझे निमंत्रण दिया गया था। कई वर्षों बाद मैं वहाँ एक राजनीतिक कार्यकर्ता के रूप में गया। 2 बजे एक भारी जुलूस निकाला गया, और 5 बजे स्वराज-आश्रम में राष्ट्रीय झंडा फहराने के बाद मैंने व्याख्यान दिया। मैंने देखा कि लोगों में पहिले की अपेक्षा अधिक जागृति है। लोग सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों के खिलाफ भी बात सुनने के लिए तैयार हैं। मुझे एक अभिनन्दनपत्र दिया गया, लेकिन अभिनन्दनपत्रों को रखने के लिए न मेरा पास ठाँव था, न लालसा ही। बाराबंकी, लक्खीसराय आदि की तरह इस अभिनन्दनपत्र को भी मैंने वहीं छोड़ दिया।

उस वक्त मैं देख रहा था, कि सब जगह किसानों में उत्साह है। वह जमींदारों के जुल्म को बरदास्त करने के लिए तैयार नहीं थे, किन्तु उन्हें संगठित तथा सचेतन बनाने के लिए योग्य नेतृत्व नहीं मिल रहा था। मैं समझता था, कि किसान अपने भीतर से नेता पैदा कर सकते हैं। किन्तु कैसे ? इसका जवाब मैं अभी नहीं दे सकता था।

3. हथुवा राज में

अब मैं हथुआ राज के कुवाड़ी परगने में जाने का निश्चय कर चुका था। इसकी खबर राजवालों को मालूम हुई, तो वह बहुत घबड़ाए। उन्होंने मेरे पास एक सज्जन को भेजा। उन्होंने कहा कि सिर्फ एकतरफा बातें न सुनें, हमारी बातों को भी सुनने का कष्ट उठाएँ। मैं इसके लिए तैयार था। 29 तारीख को पता लगा कि मढ़ौरा में दो साथी शिवबचनसिंह और श्रमिक विश्वनाथ गिरफ्तार कर लिए गए। 31 को 15 आदमी और गिरफ्तार हुए—मढ़ौरा के 60 आदमी इस वक्त जेल में थे। उस दिन छपरा में मालूम हुआ कि कांग्रेस के दोनों नेताओं ने मजूरों से बिना पूछे मालिकों के साथ समझौता करके उस पर हस्ताक्षर कर दिया। इस पर मैंने लिखा—"क्या यह सोते पर आघात करना नहीं है ? लेकिन यह कोई असम्भव बात नहीं, जो श्रमजीवी श्रेणी के साथ आगे बढ़ने के लिए तैयार नहीं, वह अपने नेतृत्व के लिए सब कुछ कर सकता है।"

मैं देख रहा था कि हमारे किसान-मजूरों को हिन्दी समझना आसान नहीं है, यदि उनकी मातृभाषा में लिखा-बोला जाय, तो वह अच्छी तरह समझ सकते हैं। मैंने सोचा, छपरा की भाषा भोजपुरी (मल्लिका) में इसके लिए एक साप्ताहिक निकालना चाहिए, जिसका दाम सिर्फ एक पैसा रहे। मैंने कुछ रुपयों का प्रबन्ध भी किया, प्रेस भी ठीक हो गया। 1500 बिक जाने पर घाटा नहीं रहता, यह भी मालूम था। मैंने जिला मजिस्ट्रेट के पास 'किसान-मजूर' निकालने के लिए दरख्वास्त दे दी। लेकिन अंग्रेज मजिस्ट्रेट जानता था कि कमेरों की भाषा में अखबार निकालना बड़े खतरे की बात है, साथ ही वह यह भी जानता था कि कांग्रेस सरकार उसे पसन्द नहीं करेगी; इसलिए कई महीनों तक उसने इस पर कोई विचार ही नहीं किया। जब मैं जेल में पहुँच गया, तो 5 सौ रुपया जमानत देने की बात लिख भेजी।

पहिली से नवीं फरवरी तक 9 दिन मैंने कुआड़ी परगने में कई किसानों की सभाओं में भाषण दिया। पहिले दिन मीरगंज में सभा हुई। तीन हजार के करीब आदमी एकत्रित थे। नागार्जुनजी भी मेरे साथ थे। चीनी मिल के बाबू लोगों ने भी कुछ बोलने के लिए कहा और मैं उनके यहाँ भी गया। अगले दिन लारपुर में 5 हजार किसानों के बीच में बोलना पड़ा। मालूम हुआ कि राज ने अपने एक इंस्पेक्टर को हमारी हरेक सभा में जाने के लिए नियुक्त कर दिया है। उस दिन रात को हम दीवान परसा में रहे। यहाँ के कई तरुणों ने कांग्रेस के प्रथम आंदोलन में भाग लिया था। मैं भी अक्सर यहाँ आया करता था। लोगों ने गाँव-सुधार पंचायत कायम की थी, लेकिन बिना राजनीतिक अधिकार के क्या सुधार हो सकता है ? ऊपर से इन लोगों ने बड़े तड़क-भड़क के साथ वार्षिकोत्सव कर डाला और अब करज में फँसे हुए थे। अगले दिन (3 फर्वरी) भोरे में 8 हजार किसानों के सामने बोलना पड़ा। लोगों में जागृति देखी—वस्तुतः कमेरों को जब जरा भी पता लग जाता है, कि उनकी तकलीफें सुनने के लिए दुनियाँ तैयार है, तो असफलताएँ उन्हें निरुत्साह नहीं कर सकतीं। भूखी पीड़ित जनता को रोज तकलीफें सुई-सी चुभती रहती हैं, इसलिए वह संघर्ष से पीछे नहीं रह सकती। किसानों की तकलीफें मैंने नोट कीं, और उनकी शिकायतों को जमा करने के लिए पाँच आदमियों की कमेटी बना दी गई। दूसरे दिन 4 फर्वरी को माँडर घाट पर सभा हुई। कटया और भोरे के थाने गोरखपुर की सीमा पर हैं। पचासों वर्षों से यहाँ थानेदार का निरंकुश राज चला आया था। जिले का हरेक थानेदार चाहता था, कि उसकी बदली इन थानों में हो जाय; क्योंकि इन थानों में सोना बरसता था। अपनी आमदनी के लिए थानेदारों ने दफा 110 में सैकड़ों आदमियों के नाम लिख रखे थे, उनकी संख्या बढ़ती ही जाती थी। जिस किसी आदमी पर दफा 110 लगाने की धमकी दी, वह गहना-जमीन बेचकर थानेदार की पूजा करने के लिए तैयार हो जाता था। कांग्रेसी राज से कोई फर्क नहीं हुआ था। अब भी थानेदार लोगों को पीटता था। अब भी उनसे रुपए ऐंठता था। कटया में (5 फर्वरी) भी दो हजार की जनता में व्याख्यान दिया। अगले दिन (6 फर्वरी) राजापुर गए। महन्त जी—जो आनन्दजी को शिष्य बनाना चाहते थे—अब भी जिंदा थे। उन्होंने महाजन से 1300 रुपया कर्ज लिया था, उसने 3100 की डिग्री कराई थी। घबड़ा रहे थे। जब कर्ज लेना होता है, खर्च करना होता है, तो महंत लोग कहते हैं—मालिक हम हैं। जब जायदाद बिकने लगती है तो कहने लगते हैं—सम्पत्ति मठ

की, ठाकुरजी की है।

एकाध और सभाओं में व्याख्यान देते 7 फर्वरी को सासामूसा पहुँचे, वहाँ चीनी मिल के पास सभा हुई। यहाँ पर भी कांग्रेसी नेताओं ने सस्ते में मजूरों का नेता बनने के लिए हलके दिल से काम किया था। मिलवालों को जरा डराया, धमकाया लेकिन हड़ताल में पड़ने की इच्छा नहीं थी। मिलवाले ने 8 रुपया महीना मजूरी मान ली, और नेताओं ने अपना काम समाप्त समझा।

यहीं पर एक 60 वर्ष का बूढ़ा आया। वह जन्म-जात अभिनेता था। अपने पहिने हुए कपड़ों ही में वह सास-बहू और बेटे के जीवन की बिल्कुल वास्तविक नकल उतारता था। दूसरा समाज होता, तो वह एक ऊँचे दर्जे का कलाकार बना होता, किन्तु यहाँ जहाँ-तहाँ अपने अभिनय को दिखलाकर वह किसी तरह पेट पालता था–उसकी उम्र 60 की होगी। सासामूसा मिल में देखा, एक पक्की मसजिद बनी हुई। है। मौलवी धर्म सिखलाने के लिए रखे हुए हैं। दालमियाँ नगर में भी मैंने जैन और हिन्दू-मंदिर देखे थे और सेठ ने पचासों आदमियों को वेतन पर हरिकीर्तन करने के लिए रखे हुए थे। यह मिल-मालिक कितने धर्मात्मा हैं ? धर्म के लिए हजारों रुपया खर्च करते हैं, लेकिन फिर मजूरों को पेट के अन्न और तन के कपड़े-भर के लिए तनख्वाह क्यों नहीं देते ? शायद उस वक्त छपरा में सबसे कम मजूरी सासामूसा की मिल में दी जाती थी। यदि वह 8 से 12 रुपया मजूरी कर देते, तो महीने में चार-पाँच हजार रुपए देना पड़ता। इससे कहीं अच्छा था, कि सौ-दो सौ रुपए धर्म पर खर्च किये जायँ और महन्त-मौलवी सेठ का जयजयकार मनाएँ।

सेमराबाजार (कुचायकोट) की सभा में व्याख्यान दे 9 बजे गोपालगंज गया। यहाँ हथुआ राज के प्रधान मैंनेजर से बातचीत करने का निश्चय हुआ था। दो घंटे तक बात होती रही, मैंने राज के अमलों की घूस-रिश्वत और अत्याचार के बारे में कहा। बतलाया कि पानी के निकासी के रास्तों की मरम्मत वर्षों से बन्द हो चुकी है, जिससे किसानों की फसल तबाह हो जाती है। किसानों की जो जमीन निकाल ली गई, उसका न उन्हें दाम मिला और न मालगुजारी कम की गई। भोरे के पास इसी तरह की निकाली हुई जमीन थी, जिसमें कई मील लम्बी नहर निकाली गई थी, जो अब बेमरम्मत थी, लेकिन उसके किनारे शीशम के दरख्त लगे हुए थे। मैंने सोच रखा था, कि हथुआ राज में सत्याग्रह इन्हीं शीशम के वृक्षों पर करना होगा; घटनाएँ कुछ दूसरी घटीं, जिसके कारण सत्याग्रह यहाँ न हो अमवारी में करना पड़ा। मैं मानता था कि अमवारी के एक छोटे-से जमींदार से भिड़ने की जगह हथुआ के महाराज बहादुर से लोहा लेने में किसानों का ज्यादा हित होता। खैर, हथुआ बाल-बाल बच गया। मैनेजर साहब ने आमदनी-खर्च का लेखाजोखा देकर कहा, कि हमारे पास जो बच रहता है, उससे हम किसानों के लिए कुछ काम करने के लिए तैयार हैं। सिधौलिया में बिड़ला की चीनी मिल है। वहाँ पर मजदूरों की एक सभा हुई। फिर हम छितौली (12 फर्वरी) गए। अशर्फी साहू किसानों को उजाड़ने के लिए तैयार थे। 6 हजार किसान सभा में आए थे–हिन्दू-मुसल्मान सब। सत्याग्रह के सिवा कोई चारा नहीं था। मैं दो दिन वहीं रहा। 60 से ऊपर परिवारों ने सत्याग्रहियों में अपना नाम लिखाया। सत्याग्रह आश्रम कायम हुआ। साहु ने मामला बिगड़ते देखा। उन्होंने अपने आदमी को भेजकर कहलवाया–आधा खेत रैयतों को दिलवा दें, और आधा हमारे पास रहने दें। मैंने कहा–दिलवाना न दिलवाना इतना आसान नहीं है। एक जमींदार की ओर से और एक किसानों की ओर से प्रतिनिधि हों, दोनों मिलकर एक तीसरे आदमी को चुनें। इन्हीं तीनों आदमियों के फैसले को दोनों मंजूर करें, तो मामला निपट जायगा। भगवान के बड़े भगत अशर्फी साहु ने इसे मंजूर करके कागज पर दस्तखत भी कर दिया, लेकिन पीछे साबित हुआ, कि उन्होंने फैसला मानने के लिए यह काम नहीं किया था।

14 फर्वरी को मैं छपरा में था। मालूम हुआ कि मढौरा मिल के झगड़े का फैसला करने के लिए एक पंचायत मानी गई है, जिसमें मजदूरों ने अपना प्रतिनिधि मुझे चुना है, दूसरा मिल मालिक का आदमी था, और कलक्टर मिस्टर केम्प सरकार के प्रतिनिधि।

उस वक्त परसादी (परसा थाना) में भी जमींदार किसानों को खेत से निकालना चाहते थे। इसके लिए किसानों को सत्याग्रह की तैयारी करनी पड़ी। 16 फर्वरी को मुझे परसा ही पहुँचना था। 15 को मैं रामपुर

और मठिया में व्याख्यान देने गया। रास्ते में कदना में दो एकड़ का एक प्राचीन ध्वंसावशेष मिला। वह सड़क के किनारे था। वहाँ सैकड़ों वर्षों से ढेलहवा बाबा को ढेला मारते-मारते डेर जमा हो गया था। संभव है इस ढूहे (स्तूप) के भीतर बुद्ध की मूर्त्ति हो। ब्राह्मणों ने विहार में अक्सर बुद्ध को ढेलहवा बाबा बनाया है, और उन्हीं हाथों को ढेला फेंकने के लिए तैयार किया, जो कभी बुद्ध की पूजा करते थे। पास के शिवालय में पहिले कितनी ही काले पत्थर की खंडित मूर्त्तियाँ थीं, जिन्हें कुछ ही साल पहिले वहाँ के साधू ने उठाकर गंगा में फिंकवा दिया था। उनमें न जाने कितनी ऐतिहासिक सामग्री रही होगी। परसादी की सभा में दो हजार आदमी जमा हुए थे। जमींदार और अधिकांश किसान दोनों एक ही अहीर जाति के थे, लेकिन जाति एक होने से वर्गस्वार्थ एक थोड़े ही हो सकता है। जमींदार खेत निकाल लेना चाहते थे, और किसान भूखे मरने के लिए तैयार नहीं थे।

4. हिलसा में

अन्नपूर्णा-पुस्तकालय के वार्षिकोत्सव के लिए हिलसा के तरुणों ने मुझे बुलाया था। 18 फर्वरी की शाम को मैं वहाँ पहुँचा। हिलसा मगध (पटना जिला) का कोई पुराना स्थान मालूम होता है। दूसरे दिन सबेरे मैं उसके पुराने चिह्नों को देखने निकला। पहले जमन-जती की समाधि पर गया। यह एक मुसल्मान फकीर की दरगाह है। वर्तमान इमारत को शेरशाह ने बनवाया था, लेकिन स्थान उससे बहुत पुराना है—जमन-जती मालूम होता है, यवन (मुसल्मान) यती से बना है। जमन-जती के बारे में कहा जाता है, कि वह गौस पाक के भानजे और शाहमदार (मकनपुर) के शिष्य थे। उनका जन्म बगदाद में हुआ था। बहिन ने बेटे को गौस पाक को दे देने की मिन्नत माँगने पर पाया था, किन्तु बेटे के पैदा हो जाने पर उसे लोभ लगने लगा। बच्चे को खुदा ने छीन लिया। माँ हाय-तोबा मचाने लगी, फिर भाई (गौस पाक) ने मुर्दे बच्चे की ओर देखकर आवाज लगाई—"वया बाबा जानेमन !" (आ बाबा, मेरे प्राण) बच्चा जिन्दा होकर गौस पाक के पास चला आया। वक्ता ने बतलाया कि "जानेमन" से ही जमन शब्द निकला है। जमन-जती लँगोटबन्द साधू थे, उन्होंने ब्याह नहीं किया था, और (बौद्ध साधुओं की तरह) पीला कपड़ा पहनते थे। जब वह हिलसा में आए, तो यहाँ एक भिक्षु रहा करते थे। दोनों फकीर थे। बौद्ध विज्ञानवाद, और सूफी दर्शन एक ही विचार के दो रूप थे, इसलिए जमन-जती बौद्ध भिक्षु के साथ रहने लगे। भिक्षु के मरने के बाद जमन-जती ही उत्तराधिकारी हुए। आगे चलकर बौद्ध विहार मुसल्मान खानकाह कहे जाने लगे। बाद भी कितने ही गद्दीधर अविवाहित भिक्षु के रूप में रहते थे। पीछे विवाह करने लगे। अब वह एक श्रीहीन दरगाह है, जिसकी जियारत करने के लिए लोग कभी-कभी आया करते हैं। हिलसा पटना (पाटलीपुत्र) से बिहार शरीफ (उड़न्तपुरी), नालन्दा और राजगृह के पुराने रास्ते पर है। इसलिए न जाने वह अपने भीतर कितनी ऐतिहासिक सामग्री छिपाये होगा।

5. अमवारी सत्याग्रह (24 फर्वरी)

20 फर्वरी को छपरा आने पर मालूम हुआ, कि अमवारी में मेरे नाम दफा 144 लग गई है—अर्थात् मेरा वहाँ जाना निषिद्ध है। वहाँ जाने का मतलब था—जेल की सजा। मैं पहिले कह चुका हूँ, कि सत्याग्रह का स्थान मैंने अमवारी नहीं, हथुवाराज को चुना था, लेकिन अब 144 को मैं सरकार की चुनौती समझने लगा। साथियों से भी पूछने पर यही सलाह हुई, कि 144 को तोड़ा जाये, अमवारी में सत्याग्रह किया जाय। मैं सीवान उतरकर जैजोरी गया। चार दिन आसपास के गाँवों में सत्याग्रह का प्रचार करके पाँचवें दिन सत्याग्रह करने का निश्चय हुआ। मेरे साथ नागार्जुन जी और एक दूसरा तरुण जलील था। हिन्दुओं के घर पर मुसल्मानों के खाने-पीने का इन्तिजाम करने में बहुत बखेड़ा होता, इसलिए जलील का नाम मैंने प्रतापसिंह रख दिया। हम जैजोरी, नदियाँव, देवपुर-हरिनाथपुर में सभा करते निखती में पहुँचे। निखती भी कोई प्राचीन स्थान है। हरिनाथपुर में मैंने एक कुएँ पर चुनारी पत्थर की एक गुप्तकालीन मूर्त्ति का खंड देखा और निखती में काले पत्थर का मुखलिंग।

निखती से रघुनाथपुर गए। थानेदार ने बतलाया, कि दफा 144 नहीं लगी है, लेकिन सत्याग्रह की तैयारी बहुत आगे बढ़ गई थी, इसलिए गाड़ी रोकना सम्भव न था।

आँदर में 23 तारीख को सभा हुई। देशभक्त मजहरुल हक के पुत्र हुसेन मजहर सभापति थे। डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस और सीवान के मजिस्ट्रेट (एस. डी. ओ.) अपनी मोटर में बैठकर व्याख्यान सुनते रहे। उस रात को हम लोग जैजोरी में ठहरे। पता लगा कि जमींदार ने अपने दोनों हाथियों को मुझे कुचलवाने के लिए तैयार कर रखा है, और जहाँ-तहाँ से सैंकड़ों लठधर बुलाए हैं। मृत्यु से भय खाना मेरे लिए मरने से भी बदतर है।

अगले दिन (24 फर्वरी) 8 बजे सबेरे जल-पान के बाद हम अमवारी के लिए रवाना हुए। गाँव के पास दोनों हाथी तैयार खड़े थे, और उनके पीछे सैकड़ों लट्ठधारी आदमी भी। लालजी भगत के बथान में सैकड़ों किसान जमा हो गए थे। हमने निश्चय किया कि दस-दस आदमी और एक-एक नायक की पाँच टोलियाँ बारी-बारी से सत्याग्रह के लिए जायँ। सत्याग्रह था—एक किसान के खेत में ऊख काटना। जमींदार इस खेत को अपना कहता था। थानेदार बहुत चिन्तित थे। मैंने उनसे कहा कि ठीक 10 बजे हम ग्यारह आदमी अमुक खेत में ऊख काटने जायेंगे।

10 बजे हम ग्यारहों आदमी हँसुवा लेकर खेत में पहुँच गये। शराब पिलाकर मतवाला किये दोनों हाथी पास खड़े थे, उनके पास सैकड़ों लठधरों की पाँती खड़ी थी। लठधरों में से कुछ को तो जमींदार ने भाड़े पर बुलाया था, कुछ आदमी आसपास के दूसरे जमींदारों ने दिये थे, और कुछ को समझाया गया था कि कुर्मी एक राजपूत भाई की इज्जत बिगाड़ रहे हैं, जातिगुहार में शामिल होना चाहिए। लेकिन, पिछला प्रोपैगंडा जान पड़ता है सफल नहीं हुआ, क्योंकि सबेरे के चार-पाँच सौ लठधरों में बहुत-से खेत पर नहीं आए थे। यद्यपि अमवारी में पचासों सशस्त्र पुलिस आ गई थी, लेकिन इंस्पेक्टर ने उन्हें 3 फर्लांग दूर ही एक बाग में रोक रखा था। खेत पर सिर्फ दो थानेदार, एक सिपाही और दो चौकीदार आए थे। इंस्पेक्टर को अच्छी तरह मालूम था, कि जमींदार खून करने को उतारू हैं; फिर भी हाथियों और लठधरों को खेत पर जमा होने देना और सिपाहियों को न भेजना इसका क्या अभिप्राय था, यह बिल्कुल स्पष्ट था। हमारे खेत पर पहुँचते ही जमींदार-परिवार के दो व्यक्ति लठैतों को लाठी चलाने के लिए उकसा रहे थे, लेकिन कोई आगे बढ़ना नहीं चाहता था। शायद मेरे शरीर पर जो पीले कपड़े थे, उसकी वजह से उनको हाथ छोड़ने की हिम्मत नहीं पड़ती थी, अथवा वह समझते थे कि यहाँ लाठी चलानेवाला कोई नहीं है। ग्यारह निहत्थे आदमी, हाथ में हँसिया लेकर ऊख काटने आए। मैंने दो ऊख काटी, थानेदार ने मुझे गिरफ्तार कर लिया। इसी तरह बाकी को भी गिरफ्तार कर लिया गया। मैंने सिर पीछे की ओर किया, देखा—जमींदार का हाथीवान कुरबान हाथी से उतरा। मैंने दूसरी ओर मुँह घुमाया, उसी वक्त खोपड़ी के बाईं ओर जोर की लाठी लगी। मुझे कोई दर्द नहीं मालूम हुआ, हाँ, देखा कि सिर से खून बह रहा है। थानेदार ने दूसरी लाठी नहीं लगने दी। वहाँ से हमें डिप्टी मजिस्ट्रेट के कैम्प में लाया गया। थानेदार ने कुरबान को गिरफ्तार कर लिया था, किन्तु जमींदार के कहने पर इंस्पेक्टर ने उसे छोड़ दिया। उस दिन 52 आदमी गिरफ्तार हुए, लेकिन पुलिस ने 28 को छोड़ दिया। शाम के वक्त 15 आदमियों को मोटर से भरकर सीवान के लिए रवाना किया। रास्ते में पेशाब करने के लिए गाड़ी को ठहरने के लिए कहा गया, लेकिन पुलिस ने मना कर दिया। पता लग गया, कि डेढ़ साल के कांग्रेसी राज्य में हम कितने आगे बढ़े हैं।

6. जेल में (24 फर्वरी—10 मई)

रात को सीवान के जेल में हमें बंद कर दिया गया। जाड़े का दिन था, हमें गन्दे कम्बल ओढ़ने को मिले। पिस्सुओं ने रात को सोने नहीं दिया। लेकिन स्वेच्छापूर्वक इनसे भी गन्दे कम्बलों और इनसे सख्त पिस्सुओं को मैं कितनी ही बार भुगत चुका था।

अगले दिन (25 फर्वरी) सबेरे दरवाजा खुला। हमने हाथ-मुँह धोया। नमक के साथ पकाया पतला चावल खाने को मिला। फिर साढ़े तीन छटाँक आटे की रोटी खाने को मिली। किसानों को भला साढ़े तीन छटाँक से क्या बनता, लेकिन मंत्रियों को तो अब जेल भूल गया गया था, इसलिए इसकी ओर ख्याल करने की क्या जरूरत थी ? नागार्जुन, जलील, मजहर, वासुदेव नारायण, महाराज पांडे और कितने ही अमवारी के किसान अब जेल में थे।

तीसरे दिन (26 फर्वरी) हमें छपरा जेल में भेजा जाने लगा, क्योंकि सीवान का जेल बहुत छोटा है। पहिले अपनी टोली के नौ आदमियों के साथ मुझे भेजा गया। मेरे साथियों के हाथ में हथकड़ी डाल दी गई। मैंने सिपाहियों से कहा–या तो मेरे भी हाथ में हथकड़ी डालो, नहीं तो सबको बिना हथकड़ी चलने दो। सिपाही ने हथकड़ी खोल दी, और रस्सी से घेरकर हमें स्टेशन ले गए। रास्ते-भर हम नारा लगाते रहे–"इन्कलाब जिन्दाबाद", "किसान राज कायम हो", "मजूर राज कायम हो, जमींदारी प्रथा नाश हो", "कमानेवाला खायेगा, इसके चलते (लिए), जो कुछ हो।" सीवान के नागरिकों के लिए यह बिल्कुल नयी चीज थी। यही नहीं कि वह राहुल बाबा को सिर फूटे डोरी में बँधे सड़क पर से जाते देख रहे थे, बल्कि वह यह भी ख्याल करते थे कि यह सब कुछ गाँधीबाबा के राज में हो रहा है। रास्ते में मैंने रेल पर अखबारों के लिए एक वक्तव्य लिख दिया। 10 बजे छपरा पहुँचे और पैदल ही जेल में ले जाये गए। प्रोपैगंडा के लिए यह पैदल चलना बहुत अच्छा था। शायद हफ्ता भी न लगा होगा कि अमवारी के सत्याग्रह में मेरे सिर फूटने की खबर हरेक गाँव में पहुँच गई।

उस दिन अमवारी में मेरे बहुत जोर देने पर खोजवा से डाक्टर को बुलाया गया था और सिर में मामूली पट्टी बाँध दी गई। सीवान के डाक्टर ने घाव देखने की जरूरत नहीं समझी। आज तीसरे दिन यहाँ छपरा जेल के डाक्टर ने स्प्रिट से घाव को धोकर पट्टी बाँधी। डाक्टर ने अस्पताल में रखने और विशेष भोजन के लिए कहा, किन्तु मैंने इनकार कर दिया। 4 बजे कलक्टर आए। उन्होंने सुलह की बातचीत की। मैंने निष्पक्ष पंचायत के हाथ में झगड़े का फैसला दे देने के लिए कहा। उन्होंने चन्देश्वर बाबू से बात करके जवाब देने का वचन दिया।

अखबारों में खबर पहुँच गई थी। जिले के बाहर के भी नेता आने लगे थे। शिववचन सिंह और कितने ही दूसरे साथी अमवारी पहुँच गए थे और वह सत्याग्रह का संचालन कर रहे थे। जेल के बारे में मैंने 27 फर्वरी को लिखा था–"जेल का ठेकेदार खराब चीजें देता है, खाना कम दिया जाता है, तरकारी, दाल भी खराब। अस्पताल में न कोई जमीन साफ न कपड़ा साफ। सामान भी बेतरतीब। कोई कम्पाउंडर भी नहीं।"

28 फर्वरी को कलक्टर फिर आए। सुझाव रखा कि झगड़े के फैसले के लिए तीन आदमियों की पंचायत बनाई जाय–जिसमें एक किसान प्रतिनिधि, एक जमींदार प्रतिनिधि और एक सरकारी प्रतिनिधि हो। कलक्टर ने तीन डिपुटी कलक्टरों का नाम भी बतलाया, जिनमें से एक को लिया जाय। उसने यह भी कहा कि मैं एक कानूनगो को अमवारी भेज रहा हूँ। वह किसानों की खेतीबारी का लेखा तैयार करके लाएगा।

अमवारी के किसान दबे नहीं, और आसपास के सभी किसान उनकी मदद के लिए तैयार थे। वह हजारों की संख्या में जेल आए होते, यदि पुलिस ने गिरफ्तारी बन्द न कर दी होती। वहाँ सत्याग्रह-आश्रम में बहुत से स्वयंसवेक रहते थे, जिनके खाने-पीने का इन्तिजाम आस-पास के लोग करते थे। हाटों में स्वयंसेवक जाते, तो साग-भाजी बेचनेवाली औरतें उनको तरकारी देतीं। किसानों को यह समझाने की जरूरत नहीं थी, कि यह उनकी अपनी लड़ाई है। 6 मार्च की डायरी में मैंने लिखा था–"(आज) होली के उपलक्ष में पुआपूड़ी मिली, घी बरता गया हम लोगों की वजह से। कैदी चाहते हैं, स्वराजी लोग जेल में आते रहें। जेल के कैदी यहाँ के स्टाफ (अधिकारियों) से क्या सीखेंगे, जिन्हें कि वह खुद अपने से बदतर समझते हैं। जब तक मानव-संसार में जोंकों को चैन की बाँसुरी बजाने का मौका है, तब तक संसार से बेईमानी कैसे हट सकती है ?"

8 मार्च को कलक्टर ने बतलाया कि जमींदार सुलह करने के लिए तैयार नहीं है।

यह तो बहानाबाजी थी। वह भला कैसे कलक्टर की मर्जी के खिलाफ जा सकते थे ? 9 मार्च को मैंने

जेलखाने के इन्सपेक्टर-जनरल के पास निजी रेडियो मँगवाने की आज्ञा माँगी। 11 मार्च को किसान कैदियों की तकलीफें बताते हुए कुछ माँगें रखीं, जो खाने, कपड़े, बिस्तर, पढ़ने-लिखने के सामान और अखबार आदि की सुविधा के लिए थी। उसमें लिख दिया गया था, कि हम लोग एक हफ्ता इन्तिजार करेंगे, यदि 18 मार्च के 12 बजे तक हमारी माँगों के बारे में तै नहीं किया गया, तो हम 5 आदमी (मैं, वासुदेवनारायण, मजहर, जलील और नागार्जुन) आमरण अनशन करेंगे। दूसरे दिन सुपरिटेन्डेन्ट ने कहा—आपकी माँगों में से जिन बातों का संकेत है, उन्हें करने के लिए हम तैयार हैं।

14 मार्च को मैंने 'तुम्हारी क्षय' पुस्तिका लिखनी शुरू की। आचार्य श्चेर्वात्स्की का पत्र आया, जिसमें लिखा था कि लोला को एक स्वस्थ सुन्दर पुत्र हुआ है, पुत्र-जन्म की प्रसन्नता होनी ही चाहिए, क्योंकि पुत्र ही आदमी का पुनर्जन्म और परलोक है। पत्र के साथ फोटो भी था।

समझौते की बातचीत के लिए अमवारी का सत्याग्रह स्थगित हो गया था। वह 13 मार्च से फिर शुरू हुआ। लेकिन पुलिस लोगों को गिरफ्तार नहीं करना चाहती थी।

अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ बड़ी तेजी के साथ बदल रही थीं। मैं इसीलिए रेडियो चाहता था। और सो भी अखबारों में यह पढ़ने के बाद कि बिहार-सरकार जेलों में रेडियो लगवा रही है। लेकिन पीछे सरकार ने इस बात को लेकर प्रचार करवाया, कि वह तो जेल को आरामगाह बनवाना चाहते हैं। 17 मार्च को पता लगा कि हिटलर ने प्राग (चेकोस्लोवाकिया) को ले लिया। मैं सोचने लगा—देखें अगला कदम रूस की ओर होता है, या इंग्लैंड की ओर। उस दिन यह भी मालूम हुआ कि पुलिसवाले सत्याग्रह करनेवाले किसानों को नहीं, सिर्फ कार्यकर्ताओं को पकड़ते हैं। रोज 18, 20 आदमी सत्याग्रह करने जाते हैं। कार्यकर्ताओं को रखकर बाकी को पुलिस शाम को छोड़ देती है। प्रधानमंत्री से बात करके एक ऐसेम्बली मेम्बर उस दिन मेरे पास आए। उन्होंने कहा—प्रधानमंत्री माँगों पर विचार करने के लिए समय चाहते हैं, इसलिए, आप भूख-हड़ताल का इरादा छोड़ दें। मैंने कहा—मैंने अपने चार साथियों को उपवास न करने के लिए राजी कर लिया है। मैं भी हड़ताल कुछ दिनों के लिए स्थगित करने के लिए तैयार हूँ। लेकिन सरकार किसान-कैदियों को राजनीतिक बन्दी मान ले। कांग्रेस मन्त्रिमंडल ने अपने शासन के आखिरी दिन तक इस बात को नहीं माना। दुनिया आश्चर्य करेगी कि यह किसान चोर-डाकू नहीं थे, इन्होंने उसी तरह अपने हक के लिए लड़ाई की थी, और जेल आए थे, जैसे कि कांग्रेसी सत्याग्रही अँगरेजी सरकार से लड़ने के लिए जेल जाते थे। उस वक्त जिन्होंने राजनीतिक बन्दियों के लिए विशेष सुविधा पर जोर दिया था, अब वही किसान सत्याग्रहियों को राजनीतिक बन्दी नहीं, चोर-डाकू मानने के लिए तैयार थे। इसमें आश्चर्य करने की जरूरत नहीं, मन्त्री स्वयं जमींदार थे, किसान-आन्दोलन से स्वयं परेशान थे, वह भला अपने वर्ग-शत्रुओं के साथ कैसे न्याय कर सकते थे ?

7. पहिली भूख-हड़ताल (18-22 मार्च)

जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, मेरे दूसरे साथी मान गए, और 18 मार्च के दोपहर से मैंने अकेले भूख-हड़ताल (उपवास) शुरू कर दी। उस दिन भी कुछ काँग्रेसी नेता आए और उपवास न करने के लिए कहते रहे; अगले दिन (19 मार्च) एक एम. एल. ए. मित्र आए। उन्होंने भी उपवास स्थगित करने के लिए कहा। मैंने उनसे कह दिया, "अब इसके लिए इतना प्रयत्न करने की जगह अच्छा होगा, जिन बातों के लिए उपवास किया जा रहा है, उसी के मनवाने का प्रयत्न करें।"

20 तारीख को उपवास का तीसरा दिन था। वजन 184 पौंड की जगह 175 पौंड रह गया, अर्थात् 3 दिन में 9 पौंड घटा। मैं अब सेल में पहुँचाया गया। मेरी बगल के सेल में एक फाँसीवाला कैदी था। आज 'तुम्हारी क्षय' पुस्तिका लिखकर खतम कर डाली। चौथे दिन वजन सिर्फ आधा पौंड घटा था। 21 मार्च को शरीर कुछ कमजोर मालूम हो रहा था। सोडा मिला हुआ पानी मुझे दिया जाता था। भूख मर गई थी। पढ़ने में थकावट मालूम होती थी। 22 मार्च को उपवास का पाँचवा दिन था। इंसपेक्टर-जनरल का पत्र लेकर कोई

सज्जन आये। उसमें लिखा था कि तत्काल के लिए हम सभी माँगों को स्वीकार करते हैं। उन्होंने फोन द्वारा यह भी स्वीकृति दे दी कि हमारे सभी साथी स्पेशल क्लास 2 में रखे जायेंगे और हम रेडियो मँगा सकेंगे। उसी दिन दोपहर को मैंने उपवास तोड़ दिया। अमवारी के बारे में मालूम हुआ, कि वहाँ सभाओं में 15, 20 हजार किसान जमा होते हैं, लोग दिन में दो बार खेतों पर सत्याग्रह करने जाते हैं–सबेरे स्त्रियाँ और बालक, और 3 बजे पुरुष। 23 मार्च को मैं अपने साथियों में चला आया।

मुझे कुछ दिनों से ख्याल आ रहा था कि राजनीतिक प्रगति और भविष्य के कार्य के सम्बन्ध में एक उपन्यास लिखूँ। मैंने अब तक 'बाईसवीं सदी' को ही उपन्यास के ढंग पर लिखा था। 'सतमी के बच्चे' आदि कुछ कहानियाँ लिखी थीं, कुछ अंग्रेजी उपन्यासों का भारतीकरण के साथ हिन्दी अनुवाद भी किया था; मगर अब तक कोई वास्तविक उपन्यास नहीं लिखा था; 25 मार्च से मैं 'जीने के लिए' उपन्यास को लिखवाने लगा–मैं बोलता जाता था और नागार्जुन जी लिखते जाते थे।

28 मार्च को पता लगा कि अमवारी में सत्याग्रहियों पर मार पड़ रही है और कुछ लोगों को सख्त चोट आई है।

29 मार्च को शिक्षा-मंत्री डाक्टर महमूद आए। वह कहने लगे कि चलिए जेल से निकलकर पंचायती खेती का काम सँभालिए। मैंने कहा–अभी तो किसानों के पास खेत ही नहीं है। पहिले अपना खेत होना चाहिए न।

8. हाथों में हथकड़ी

मेरा मुकदमा सीवान के मजिस्ट्रेट की अदालत में था। मुझ पर और मेरे साथियों पर दफा 379 चोरी का अपराध लगाया गया। हम लोगों की तारीख 31 मार्च को थी। उस दिन दोपहर बाद जेल के द्वार पर दोनों फाटकों के बीच में हमें ले गए। पुलिस-सिपाही मेरे हाथ में हथकड़ी लगाने लगा। जेल के एक अफसर ने कहा–बिना हथकड़ी के ही ले जाइए। इस पर पुलिसवाले ने वारन्ट दिखाकर कहा कि हथकड़ी लगाने के लिए यहाँ लिखा हुआ है। मैंने उस दिन की डायरी में लिखा था–"आज आग्रहपूर्वक हथकड़ी लगाई गई, वारन्ट पर खास तौर से हथकड़ी लगाने के लिए लिखा गया था। अच्छा, यह भी साध बुझी।" रेल में धूपनाथ से मुलाकात हुई और भी कितने ही दोस्त मिले। मालूम हुआ कि सारे जिले के किसानों मे चेतना आ गई है, वह जमींदारों के सामने दबने के लिए तैयार नहीं हैं।

अगले दिन (1 अप्रेल) दो बजे हमें कचहरी ले जाया गया। चन्देश्वरसिंह के आदमियों ने गवाही दी कि बहुरिया (जमींदारिनी) का खेत काटने के लिए राहुलजी 10 आदमियों के साथ गए। कुरबान ने रोका, इस पर राहुल ने अपने हँसिए से उसके ऊपर वार किया और वह कट गया। उसने अपने बचाव के लिए बरगद की डाली घुमाई।

मुझसे मजिस्ट्रेट ने पूछा, तो मैंने कहा–बहुरिया का खेत है, और हमने गैरकानूनी मजमा बनाया, इसे मैं इनकार करता हूँ। लेकिन खेत काटने को मैं कबूल करता हूँ। दूसरे साथियों से पूछने पर उन्होंने कहा–हम नहीं जानते, बाबा जानते हैं। हमारी अगली तारीख 15 अप्रेल को पड़ी। अगले दिन (2 अप्रेल) दोपहर की गाड़ी से हम छपरा के लिए रवाना हुए। हथकड़ियाँ फिर लगाई गईं। वारन्ट को मैंने देखा, उसमें लिखा था–"Supplied 5 pairs of handcuffs" (5 जोड़े हथकड़ियाँ दी गई हैं)। यह साफ मालूम होता था कि अधिकारी जान-बूझकर अपमानित करने के लिए हथकड़ियाँ पहिनवा रहे हैं, लेकिन मुझे तो उसमें कोई अपमान नहीं मालूम होता था। जब मैं छपरा स्टेशन पर उतरा, तो किसी दोस्त ने हथकड़ियों के साथ मेरा फोटो ले लिया। वह अखबारों में छपा। बिहार के कांग्रेसी मंत्रिमंडल पर लोगों ने आक्षेप किया, फिर सरकार ने छपवाया कि मैंने माँगकर हथकड़ियों को पहना था, जो कि सरासर झूठी बात थी।

मढ़ौरा फैक्टरी के झगड़े का फैसला करने के लिए तीन पंचों की पंचायत थी, जिसमें गवर्नमेंट की तरफ

से पहिले मिस्टर पिल्ले नियुक्त हुए थे। 3 अप्रेल को तीनों पंच मढ़ौरा में इकट्ठा होनेवाले थे। पुलिस मुझे जेल से ले चली, लेकिन जाते-जाते रेल छूट गई। शाम को जाना था, लेकिन फिर तार आ गया कि मिस्टर पिल्ले कल नहीं आ रहे हैं।

6 अप्रेल को फाँसीवाले कुछ कैदी छूटे। सोनपुर के तगड़े जमींदार ने एक आदमी का खून करवाया था, जिसमें चार आदमियों को फाँसी की सजा हुई, लेकिन मालिक साफ बच गए। जेल के फाटक से निकलते वक्त उनके पिट्ठुओं ने खूब जयकार मनाई। मुझे यह बहुत बुरा लगा। मेरे ही कहने पर चार आदमी फाँसी पर चढ़ने जा रहे थे, इस बात का तो उसे ख्याल करना चाहिए था। यदि उनके पास भी मुकदमे लड़ने के लिए उतने रुपये होते, तो बहुत कम सम्भव है कि उन्हें फाँसी की सजा होती।

हमारे सत्याग्रही साथियों में अधिकतर अशिक्षित किसान, कुछ अल्पशिक्षित और कुछ अधिक शिक्षित तरह के लोग थे। सभी गाँवों में रहनेवाले थे, तो भी उनमें पटरी नहीं जमती थी। मैं सोचता था कि शिक्षित अशिक्षित के साथ क्यों नहीं चल सकते। आखिर ग्यारह आदमियों को सैंतीस आदमियों से अलग रहने की जरूरत क्या ? यह ठीक था कि जेल में बेकार रहना भी झगड़े का एक कारण है। मैंने 9 तारीख की डायरी में लिखा—"शिक्षित साथी मुझसे बहुत नाराज हैं। कारण यही है कि मैंने अशिक्षित साथियों को दबाया क्यों नहीं। लेकिन शिक्षितों का अशिक्षितों के साथ रहना क्या असम्भव है ? कुछ कठिनाइयाँ जरूर हैं। सबसे बढ़कर बात यह है, कि शिक्षित (स्वयं) एक अलग ही श्रेणी बन जाते हैं।" हमारे शिक्षितों का व्यवहार अधिक बुद्धिपूर्वक था, किन्तु वे गलतफहमियों को हटा नहीं सकते थे।

"गलतफहमी अधिकांश गलत बातों पर निर्भर थीं।" 18 अप्रेल की डायरी में लिखा था—"शिक्षित क्यों साधारण जनता के विश्वासपात्र नहीं होते, आखिर वह भी तो उसी में से हैं ? वह उनकी परवाह नहीं करते।" अगले दिन लिखा था—"नेतृत्व की ईर्ष्या ही झगड़े का प्रधान कारण होती रही है।" मैं यह नहीं कहता, कि अशिक्षित किसानों का कोई दोष नहीं था, लेकिन 24 घंटे साथ रहने पर, आदमी नंगा हो जाता है, इसलिए तोपताप के रोब गाँठने का प्रयत्न व्यर्थ है, इस बात को हमारे शिक्षित मानने के लिए तैयार नहीं थे।

मेरी भूख-हड़ताल कांग्रेसी सरकार को किसी निर्णय पर पहुँचने के वास्ते समय देने के लिए स्थगित थी। वह फिर शुरू होनेवाली थी। 13 अप्रेल को मैंने प्रधानमंत्री के पास भूख-हड़ताल की सूचना भेज दी। उस दिन पटना से आनेवाले एक दोस्त ने खबर दी, कि किसान कैदियों की माँगों को सरकार नहीं मानेगी और उपवास करने पर मुझे जेल से छोड़ देगी। मुझे समझ में नहीं आता था, कि कांग्रेस मंत्रियों के सामने मैंने कौन-सी ऐसी माँग पेश की, जिससे कि वह खुद राजनीतिक बन्दियों के लिए न माँगते, यदि वह मेरी तरह जेल में होते।

14 अप्रेल को श्री वासुदेवनारायण और दूसरे सात साथी सीवान से आए। उनको एक-एक साल की कड़ी सजा हुई। उसी दिन हमें भी सीवान ले गए, फिर हमारे हाथों में हथकड़ी लगी थी, और साधारण नहीं, सशस्त्र पुलिस हमारे साथ चली। सीवान स्टेशन पर उतरे, तो लोगों की भीड़ बढ़ने लगी, और हजारों आदमी पीछे-पीछे जेल तक गए।

9. सजा और भूख-हड़ताल

15 अप्रेल को जेल के भीतर ही हमारा मुकदमा हुआ। मि. ब्राइसन थे तो नए आई. सी. एस. अंग्रेज, लेकिन जान पड़ता है, तानाशाही काफी सीख गये थे। उन्होंने इजलास इस तरह लगवाया था, कि जिसमें हमें बराबर खड़ा रहना पड़े। समझते होंगे कि इस अपमान से वह मुझे हताश कर सकेंगे। मान-अपमान को मैं बहुत पीछे छोड़ आया था; हाँ, ब्राइसन के दिल को शान्ति जरूर मिली होगी। वह एक परम अंग्रेज-भक्त अवैतनिक खुफिया अफसर की सेवाओं के लिए पुरस्कार भी तो दे रहा था। हमने विरोध के तौर पर अदालत की कार्रवाई में कोई भाग नहीं लिया। हमारे खिलाफ 5 गवाह गुजरे, जिनमें एक थे रघुनाथपुर के दारोगा, जंगबहादुरसिंह।

जंगबहादुरसिंह ने दो बातें सरासर झूठ कही थीं, एक यह कि मेरे सिर में चोट गिरफ्तारी से पहिले लगी थी और दूसरी यह कि कुरबान को भी चोट लगी। पहिला झूठ तो उन्होंने इसलिए कहा कि सरकारी हिरासत में कोई आदमी हो, तो उसकी रक्षा का सारा भार सरकारी अफसर पर है। शिर फटने का मतलब था, कि अफसर ने असावधानी की। इस प्रकार पहिला झूठ तो वह बोले थे, अपने को बचाने के लिए; लेकिन, दूसरे झूठ को बोलने की जरूरत नहीं थी। सिवाय इसके इसका कोई और मतलब नहीं हो सकता था कि वह खुफिया जमींदार की सहायता करना चाहते थे। उनका कहने का अर्थ यह हुआ, कि मैंने शान्तिमय सत्याग्रह नहीं किया, बल्कि हँसुआ को मैंने हथियार के तौर पर इस्तेमाल किया। मैंने पहिले दिन की पेशी में देखा, कि कुरबान के हाथ में पट्टी बँधी हुई है। जमींदार ने जरूर उसके हाथ में घाव बनवाया था। तो क्या पुलिस भी पूरी तौर से मेरे मामले में दिलचस्पी ले रही थी ? पुलिस ही क्यों, जिला-मजिस्ट्रेट और सीवान के मजिस्ट्रेट भी खास तौर से दिलचस्पी ले रहे थे। शायद वह समझते थे, कि रूप से लौटा यह वोलशेविक ब्रिटिश साम्राज्य में गड़बड़ी मचा रहा है, इसलिए उसको दबाना और अंग्रेज-भक्त जमींदार को मदद करना उनका फर्ज है। मुझे दफा 143 (गैर कानूनी मजमे का मेम्बर होने) और दफा 379 (ऊख की चोरी करने) में छै-छै मास की कड़ी सजा हुई, और बीस रुपया जुर्माना, न देने पर तीन मास की और सजा। यह मुझे तीसरी बार जेल की सजा हुई थी, और सो भी चोरी के अपराध में ! और सख्त सजा ! खूब !!

अगले दिन (16 अप्रेल) हमें सिपाही छपरा की ओर ले चले। वह मेरे हाथ में हथकड़ी देने से हिचकिचा रहे थे, मैंने अपना हाथ बढ़ा दिया और दोनों हाथों में हथकड़ी पड़ गई। उसी दिन हम छपरा जेल में चले आए। जेल में अबकी बार जब गिरफ्तार करके आया, तभी से मैंने अधबहियाँ कुरता और जाँघिया पहनना शुरू किया था। लेकिन अब भी पीले कपड़े मेरे पास थे। 17 अप्रेल को मुझे कैदियों का कपड़ा पहनने को मिला। उस दिन "चलो, धर्म से अब नाममात्र का भी सम्बन्ध नहीं रहा" यह वाक्य लिखा था, और वह भी—"मिस्टर केम्प कलक्टर अपनी सारी शक्ति लगाए हुए हैं। सारी पुलिस और खुफिया-विभाग लगा हुआ है। जिले की सभी जमींदारियों के साथ यहीं मुकाबिला हो रहा है।" अब हमें रोज दस-दस सेर गेहूँ पीसने के लिए मिलनेवाला था, हम चक्की आदि भी देख आए।

10. पुलिस की जाँच

कांग्रेस मंत्री भी उसी तरह कुचलने के लिए तैयार थे, जैसे सारन (छपरा) के अंग्रेज-अफसर। यह आश्चर्य की बात नहीं थी, इसके लिए उन्हें वर्गस्वार्थ प्रेरित कर रहा था, लेकिन, अभी हिन्दुस्तान को आजादी नहीं मिली थी, अभी किसानों की शक्ति को कुचलने के लिए तैयार हो जाना राजनीतिक दूरदर्शिता नहीं कही जा सकती थी। लेकिन अखबारों में मेरे सिर फटने, हाथ में हथकड़ी लगाने तथा दूसरी अपमानजनक बातों की खबरें छप चुकी थीं। अखबारवाले बिहार की कांग्रेस मिनिस्ट्री को धिक्कार रहे थे, इसलिए सरकार को कुछ लीपापोती करने की जरूरत थी। उसने पुलिस के इंसपेक्टर-जनरल अलखकुमार सिंह के जिम्मे जाँच करने का काम दिया। एक साधारण रायटर कांस्टेबुल तरक्की करते-करते सारे सूबे की पुलिस का इंस्पैक्टर-जनरल हो जाय, यह जरूर असाधारण-सी बात थी। अलखबाबू में विशेष योग्यता थी, इसे इन्कार करने की जरूरत नहीं, किन्तु साधारण तौर की योग्यता उनको इतने ऊँचे पद पर नहीं पहुँचा सकती थी। उनमें सबसे बड़ी योग्यता यह थी कि उन्होंने अपने शरीर और आत्मा को अंग्रेजों के हाथ में बेच डाला था, फिर ऐसा आदमी जाँच करने आए, तो उससे क्या आशा हो सक़ती है ? उन्होंने मुझसे चोट लगने के बारे में पूछा—मैंने सारी बातें बता दीं।

उसी दिन सात बजे मुझे जेल से सीवान की ओर ले चले। मेरे साथ दो सिपाही और एक थानेदार था।

अगले दिन (21 अप्रेल) इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस, कलक्टर सारे अमवारी पहुँचे। रामयश सिंह के बथान के द्वार पर गए। वहाँ मैंने बतलाया कि यहीं मैंने थानेदार को दो घंटा

पहिले सत्याग्रह करने का समय बतलाया था। हम यहाँ से 10 बजे रोशन भगत के खेत में गए। रोशन भगत के खेत पर जाकर घटना-स्थान को बतलाया। दारोगा जंगबहादुर ने मुझ पर जिरह करना शुरू किया। वह कितनी ही बातें कह जाते, जिनको इंसपेक्टर-जनरल नोट नहीं करते और सिर्फ मेरी बातों को काट-छाँट के लिखवाते। थानेदार जंगबहादुर सिंह और पुलिस इंसपेक्टर विक्रमाजीत सिंह चार घंटे तक जिरह करते रहे। सारी कार्रवाई से मालूम हो रहा था, कि यह जाँच सिर्फ लीपापोती के लिए हो रही है। आसपास के गाँवों में खबर पहुँच गई थी, और झुण्ड-के-झुण्ड आदमी वहाँ जमा हो रहे थे। हम लोग उसी दिन सीवान लौट गए।

साढ़े चार बजे शाम को फिर जाँच शुरू हुई। यहाँ इंसपेक्टर-जनरल, सुपरिन्टेन्डेन्ट पुलिस (अंग्रेज), कलक्टर (अंग्रेज), विक्रमाजीत सिंह (इंसपेक्टर), द्रुत लेखक और मैं कुल 6 आदमी थे। यहाँ भी मैं देख रहा था, इंस्पेक्टर जनरल हमारी बातों को पूरा नहीं लिखवाते, और जो लिखवाते, उसे भी तोड़-मरोड़कर। मैंने इसका विरोध किया, तो इंस्पेक्टर-जनरल (अलख बाबू) उबल पड़े। मैंने साफ कह दिया—"मैं तुम्हें अपना खुदा नहीं समझता, तुम भूल कर रहे हो, जो अपने को मेरा भाग्यविधाता समझते हो। तुम किस लायक हो, इसे तुम खुद अपने मन से पूछो।" इंस्पेक्टर-जनरल का दिमाग कुछ ठंडा हुआ। उन्होंने कहा—"कुछ मेरी उमर का भी ख्याल करें। मैंने कहा मैं भी छियालीस साल का हूँ। हम दोनों की उमर में बहुत अन्तर न होगा।"

थोड़ी देर और कुछ लिखते-पढ़ते रहे, इसके बाद मुझे छुट्टी मिल गई, और मैं उसी रात छपरा चला आया।

जेल बन्द हो चुका था, इसलिए थानेदार मुझे शहर के थाने पर ले गए। थानेदार भले मानुष थे। मैं खाकी हाफपैन्ट, हाफशर्ट में कुर्सी पर बैठा था। लोग क्या जानते थे, कि यह चोर-कैदी बैठा हुआ है, वह मुझे ही दारोगा समझकर सलाम कर रहे थे। जलपान के बाद मुझे थानेदार जेल में छोड़ आए।

अबकी बार अमवारी सत्याग्रह के लिए जब मैं पटना से आया था, तो अपने साथ सफेद (लेघोर्न) मुर्गी के अंडे इस मतलब से लाया था कि इनको सेयाकर बच्चे पैदा करें, फिर एक मुर्गीखाना तैयार किया जाय। मुर्गीखाने की जगह भी ठीक कर ली गई थी और नगर के सर्वमान्य देवता के नाम पर उसका नाम 'धर्मनाथ मुर्गीभवन' रखा जानेवाला था। सत्याग्रह के बाद मुर्गीभवन की बात तो बीच ही में रह गई। 22 अप्रेल को मालूम हुआ कि 12 अंडों में सिर्फ 4 ही बच्चे पैदा हुए—अंडे कुछ दिनों तक बिना सेए ही रख दिए गये, इसी से यह हुआ था। दो पालनेवाले ने रख लिए थे, और दो मेरे लिए छोड़े थे। आन्दोलनकारी ऐसे कामों को कैसे कर सकता ? 22 अप्रेल को मैंने प्रधानमंत्री को तार दे दिया, कि यदि हमारी माँगें नहीं मानी गईं, तो पहिली मई से मुझे भूख हड़ताल करनी होगी।

अगले दिन (23 अप्रेल) बाबू मथुराप्रसाद आए। उनसे किसान-कैदियों की माँगों के बारे में बातचीत हुई। इसी बीच में ही पुलिस का जमादार अँगूठे का निशान लेने आया—चोर कैदियों के अँगूठे का निशान लिया जाता है। मैं चोर कैदी था ही। मैंने कहा—मुझे कोई उजुर नहीं, एक नहीं पाँचों उँगुलियों का निशान लीजिए। मथुरा बाबू ने मना कर दिया, और निशान लेना बन्द हो गया। पुलिस सुपरिन्टेन्डेन्ट इंस्पेक्टर-जनरल के जिरहवाले कागज को लेकर दस्तखत कराने आए। मैंने "Distorted and many points left out" (तोड़ा-मरोड़ा और बहुत से महत्त्वपूर्ण अंशों को छोड़ दिया गया) लिखकर हस्ताक्षर कर दिया। पार्लामेंट्री सेक्रेटरी बाबू कृष्णबल्लभ सहाय ने भी हमारी माँगों के बारे में बातचीत की। कलक्टर ने चिट्ठी भेजी कि सरकार कुरबान के ऊपर मुकदमा चलाना चाहती है। शाम के वक्त फिर हमारी माँगों के बारे में कृष्णबल्लभ बाबू और मथुरा बाबू ने बातचीत की, जिससे पता लगा कि काँग्रेस-सरकार किसान कैदियों को राजनीतिक बन्दी बनाने के लिए तैयार नहीं है। शायद भविष्य के लोगों को यह पढ़कर आश्चर्य होगा, कि किसान बन्दी भी उसी तरह अपने अधिकारों के लिए लड़ रहे थे, जैसे किसी समय कांग्रेसी बन्दियों ने लड़ाई की थी, फिर किसानों के चुने हुए कांग्रेसी मंत्री उचित माँगों को माँगने के लिए क्यों तैयार नहीं हुए ? लेकिन यह मामूली-सी बात है—कोई प्रतिद्वन्दी अपने विरोधी के साथ रियायत करने के लिए तैयार नहीं होता। जमींदार-मंत्री इसे अपने हाथ से अपने पैर में कुल्हाड़ा मारना समझते थे।

27 अप्रेल को डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की का पत्र आया, यह 17 मार्च को लिखा गया था, साथ में बच्चे का चित्र और लोला का भी चित्र था।

हमारे साथियों में से वासुदेव नारायण, मजहर, जलील और नागार्जुन को द्वितीय श्रेणी का कैदी बना दिया गया था। 30 अप्रेल को उन्हें हजारीबाग भेजनेवाले थे, लेकिन अगले ही दिन मैं भूख-हड़ताल शुरू करनेवाला था, इसलिए उन्होंने जाने से इनकार कर दिया, और उन्हें यहीं रहने दिया गया।

11. दस दिन (1-10 मई) का उपवास

अपनी उचित माँगों को मनवाने का कोई रास्ता न देखकर कैदी को भूख-हड़ताल करनी पड़ती है। मैंने अपनी भूख-हड़ताल को हल्के दिल से नहीं शुरू किया था, मैं उसे अन्त तक ले जाने के लिए तैयार था। सरकार को मौका देने के लिए एक बार कुछ दिन तक भूख-हड़ताल कर उसको छोड़ दिया था, लेकिन सरकार टस से मस नहीं हुई। कांग्रेसी जमींदार कितने पानी में हैं, यह बात मुझे ही नहीं, दूसरों को भी स्पष्ट होती जा रही थी। मैंने पहिली मई से भूख-हड़ताल शुरू कर दी, जो दस दिन तक जारी रही, और उसी समय टूटी जब कि मुझे जेल से बाहर कर दिया गया। उस वक्त मेरे स्वास्थ्य की अवस्था निम्न प्रकार थी–

दिन	वजन (पौंड)	नाड़ी-गति	ह्रदय-गति	तापमान	विशेष
1.	174	..	..	..	
2.	..	..	..	..	कमजोरी
3.	..	..	..		कमजोरी नहीं, भूख मर गई
4.	..	64	18		कमजोरी, झुनझुनी 102° ज्वर
5.	168	66	16	..	फुर्ती
6.	164	..	..	..	कमजोरी नहीं
7.	160	..			उठने पर बैठने की ताकत है
8.	158	72	18	95.4	अँतड़ी में तिलमिली
9.	159	..	..	..	
10.	156	74	20	..	

मैंने उपवास करते वक्त साथियों से कह दिया था कि 7 दिन तक कोई उपवास शुरू न करे। दूसरे दिन पटना से टेलीफोन आया कि मुझे हजारीबाग भेज दिया जाय। मैंने जाने से इन्कार कर दिया। चौथे दिन जेलवालों ने जबर्दस्ती नाक के रास्ते दूध पिलाना चाहा, लेकिन वह सफल नहीं हुए। मुझे बहुत पीड़ा हुई, और दोपहर बाद 102 डिग्री बुखार आ गया। सिर और शरीर में दर्द होने लगा। जेल में कलक्टर आये थे। पता लगा कि मेरे हाथों में हथकड़ी डालने के बारे में जाँच हो रही है। पाँचवें दिन जेल विभाग के पार्लामेन्टरी-सिक्रेटरी कृष्णबल्लभ बाबू आए। माँगों पर बातचीत हुई। उन्होंने कहा कि अनशन छोड़ दें, सरकार माँगों पर विचार कर रही है। मैंने कहा–"मैं इतनी जल्दी नहीं मरूँगा, आप माँगों को मानकर उपवास तुड़वाने की कोशिश करें।" आज से लिखना-पढ़ना बन्द हो गया। तीसरे दिन तक तो मैं 'जीने के लिए' बाकायदा लिखवाता रहा। 7 बजे दिन तक मैंने पुस्तक थोड़ी-सी लिखाई। उठने-बैठने-चलने में किसी की सहायता की जरूरत थी, आँखों के सामने अँधेरा आता था। पेट में अँतड़ियाँ कुछ तिलमिलाती मालूम होती थीं, लेकिन भूख न थी। उसी दिन जेलों के इंस्पेक्टर-जनरल मिस्टर अंगर आए। उन्होंने दूधबार्ली लेने को कहा और बहुत आग्रह किया कि जान मत दें। मैंने कहा–मैं जान देने के लिए तैयार हूँ, जुए पर जान की बाजी लगा चुका हूँ।

12. जेल से बाहर

8 मई को मालूम हुआ कि कालेज और स्कूलों के लड़के मेरे बारे में शाम-सुबह रोज जलूस निकाल रहे हैं, और कांग्रेसी-सरकार की भद्द उड़ रही है। 10 वें दिन (10 मई) रात को फाटक पर चलने के लिए बुलवाया गया, मैंने किसी का सहारा नहीं लिया और अपने पैरों ही से चल पड़ा। कलक्टर आये हुए थे। उन्होंने कहा—बिहार सरकार ने आपको जेल से छोड़ा दिया है। फिर अपने साथ ही मोटर पर अस्पताल में छोड़ गए। 242 घंटे के बाद मैंने उपवास तोड़ा। हमारी माँगों को पूरा नहीं किया गया, लेकिन मैं जानता था मुझे न जाने कितनी बार किसानों के लिए जेल में आना होगा और जब तक इन माँगों का निपटारा नहीं होता, तब तक जेल में मुझे कुछ खाना नहीं है।

दूसरे दिन मैं पंडित गोरखनाथ त्रिवेदी के घर पर चला गया। डाक्टर सियावरशरण अपने घर आए हुए थे, वह मिलने आए और मुझे साथ ले चलने के लिए बोले। 16 मई को उनकी मोटर पर मैं जामो-बाजार चला गया—गाँव और एकान्त स्थान था। डाक्टर सियावर एक सफल डाक्टर हैं, सफल ही नहीं सहृदय डाक्टर हैं, मेरे ही लिए नहीं, सारे दीहात के लोगों के लिए भी। दूसरे दिन (17 मई) स्वामी सहजानन्द और पं. यदुनन्दन शर्मा सीवान आनेवाले थे। बिरजा (ब्रजबिहारी मिश्र) ने अमवारी में बड़ी तत्परता और निर्भयता से काम किया था। एक बार किसानों के खोदे हुए कुएँ को पुलिसवाले मिट्टी डालकर बन्द करना चाहते थे, बिरजा कुएँ में कूद पड़ा और उन्हें मिट्टी डालना बन्द करना पड़ा। पं. लक्ष्मीनारायण मिश्र अपने सबसे छोटे पुत्र को बहुत पढ़ाने की कोशिश करते रहे, लेकिन बिरजा ने पढ़ा नहीं, तो भी उसके पास हृदय था, हिम्मत थी, और निर्भयता थी। बिरजा मुझे सीवान चलने के लिए कहने आया था। डाक्टर सियावरशरण अपनी मोटर को वहाँ ले गए। बहुत भारी सभा थी, जिसमें अमवारी से 14 मील चलकर 300 मर्द और 100 से ऊपर किसान औरतें आई थीं। सीवानवालों ने उनके खाने-पीने का अच्छा इंतिजाम किया था। यहीं मुझे पहिले-पहिल यदुनन्दन शर्मा का व्याख्यान सुनने को मिला। उनका भेस किसानों जैसा था, वैसी ही उनकी भाषा थी। वह ऐसा एक भी वाक्य नहीं कहते थे, जिसे किसान न समझ पाए। उनके भेस, भाषा को देखकर कोई कह नहीं सकता था कि यह हिन्दू यूनीवर्सिटी का ग्रेजुएट क्या चार दर्जे भी अंग्रेजी पढ़ा होगा। उसी दिन मैं जामो लौट आया। डाक्टर सियावर ने ज्यादातर निरन्न भोजन का इन्तिजाम किया था। सिर्फ दोपहर को चावल या रोटी खाने को मिलती थी, नहीं तो अंडा, मछली, कबूतर, मुर्गी, बकरे का मांस—यही प्रधान खाद्य थे। साथ में हरे खीरे जैसी कुछ चीजें भी थीं। बड़ी तेजी से मेरा स्वास्थ्य सुधर रहा था।

21 मई को 'जीने के लिए' के अवशिष्ट अंश को लिखकर मैंने खतम कर दिया। लोग बराबर आया करते थे। और पुलिस भी पूछती रहती थी। जामो में मैं 9 दिन से ज्यादा नहीं रह सका, इसके लिए डाक्टर सियावर को बड़ा अफसोस रहा। लेकिन जब शरीर में ताकत आ गई, तब फिर विश्राम कैसे किया जा सकता था। 24 तारीख से फिर मैंने काम शुरू किया। 25 को अमवारी में 8,10 हजार जनता की एक बड़ी सभा हुई, जिसमें पाँच-छै सौ स्त्रियाँ थीं। उसके देखने से मालूम होता था, कि किसानों के पास अटूट हिम्मत है, वह अपराजेय हैं। स्त्रियाँ नए तरह की गीत गाती थीं, जिसमें किसानों के दुःख और अत्याचार की बात होती थी।

26 मई को मैरवा गया। हरीराम ब्रह्म किसी राजा के जुल्म के कारण पेट में छूरी भोंककर मर गये थे। आज उस राजा का गढ़ ढह गया है, लेकिन हरीराम ब्रह्म का मृत्युस्थान एक तीर्थ के रूप में परिणत है, जहाँ हर साल लाखों आदमी दर्शन के लिए आते हैं। बारह-चौदह वर्ष हुए, जमुना भगत एक अनपढ़ किन्तु साधुहृदय कुम्हार ने यहाँ धूनी रमाई। यात्रियों को टिकने और नहाने-धोने की बड़ी तकलीफ होती थी। यमुना भगत ने प्रण किया, कि यहाँ एक तालाब और धर्मशाला बनवाई जायगी। न उनके पास विद्या थी, न धन था। असहयोग आन्दोलन के समय बिहार में जो देशभक्ति की बाढ़ आई थी, उससे यमुना भगत भी प्रभावित हुए थे—वह कांग्रेस के स्वयंसवेक थे। उनकी लगन को देख लोगों ने पैसा-दो पैसा देना शुरू किया। आज वहाँ

पक्का तालाब बन गया है, एक धर्मशाला भी है। यमुना भगत का गाँव गंगपलिया वहाँ से कई मील दूर है। वह खुद तो साधु की तरह रहते थे, लेकिन घर में बड़ा परिवार था। घरवाले बर्तन बनाते थे, और कई पीढ़ियों से जमींदारों से कई बीघा खेत लेकर ज़ोतते आए थे। जैसा कि आमतौर से बिहार में देखा जाता है, सर्वे (पैमाइश) के वक्त जमींदारों ने मीठी-मीठी बातें कहकर समझा दिया—क्या करोगे अपने नाम कास्तकारी लिखवाकर, रहने दो। जैसे आज तक तुम जोतते रहे, वैसे ही जोतते रहना। वह मालगुजारी की रसीद भी नहीं देते थे, पिछले साल उन्होंने खेत छीन लिया। यमुना भगत के परिवार के लोग भूखे मरने लगे। यमुना भगत बहुत पुराने और सच्चे कांग्रेसी हैं। राजेन्द्र बाबू के घर (जीरादेइ) के पास के रहनेवाले ही नहीं हैं, बल्कि उनसे अच्छा परिचय रखते हैं। कांग्रेस का जब भी कोई काम आता तो यमुना भगत हरीरामधाम को छोड़कर वहाँ पहुँच जाते। दुर्भाग्य से जमींदार कायस्थ थे, बिरादरी का मामला था, इसलिए न्याय करना आसान काम नहीं था। वह जिले के, प्रान्त तक के कांग्रेसी नेताओं के पास दौड़ते ही रह गए, किन्तु किसी ने उनकी अरज नहीं सुनी। एक दिन लालकुर्ती वाले 10 किसान स्वयंसवेक गंगपलिया पहुँच गए। जमींदार बाबू घबड़ा गए, और उन्होंने समझौता करने की बात शुरू की। समझौता हुआ या नहीं, यह दूसरी बात है।

राजेन्द्र कालेज में विद्यार्थियों और प्रिंसिपल का झगड़ा हो गया था। प्रिंसिपल हजारी योग्य और सज्जन पुरुष थे, लेकिन वह नहीं जानते थे कि आज के नए तरुण के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिए। उन्होंने बहुत से विद्यार्थियों को नाराज कर दिया। राजेन्द्र कालेज अब जम चुका था, कितने ही लोग सोचने लगे, कि दूसरे प्रान्त से एक सिन्धी को लाकर इतनी बड़ी नौकरी देना ठीक नहीं। इसे हमें किसी अपने जाति-बिरादरी के आदमी को देना चाहिए। उन्होंने विद्यार्थियों को और भड़काया। मैं 29 मई को छपरा में था। कालेज के विद्यार्थियों ने बातचीत की। मैंने समझाने की कोशिश की लेकिन मालूम हुआ कि कालेज की रक्षा के लिए प्रिंसिपल हजारी को हटाए बिना कोई रास्ता नहीं।

10 जून को प्रिंसिपल हजारी ने राजेन्द्र कालेज को छोड़ा। मैं बीच में न पड़ा होता, तो वह इतनी आसानी से अपनी जगह न छोड़ते। लेकिन उनके जाते वक्त अच्छी तरह अनुभव करता था कि प्रिंसिपल हजारी के साथ अन्याय हुआ है, यद्यपि उनमें उनकी अपनी भी कुछ भूलें कारण हुई थीं। जहाँ भी पैसे और अधिकार का सवाल आता है, वहाँ सभी पूँजीवादी देशों में ईमानदारी और न्याय को ताक पर रख दिया जाता है। हिन्दुस्तान में वह और भी वीभत्स रूप धारण करता है। यदि किसी ऊँचे स्थान या ऊँची संस्था पर ब्राह्मण पहुँच जाता है, तो वह वहाँ ब्राह्मणों के भरने की कोशिश करता है, यदि राजपूत तो राजपूतों को, यदि कायस्थ तो कायस्थ को, यदि भूमिहार तो भूमिहार को। किसी कालेज या सरकारी विभाग में कायस्थों को भरा देख कितने ही लोग गाली देते हैं—देखो यह कायस्थ बड़े बेईमान हैं, यह सिर्फ अपने भाई-भतीजों का ख्याल करते हैं। वह कभी यह नहीं ख्याल करते, कि वैसी परिस्थिति में वह खुद क्या करते। जब तक जात-पाँत है, तब तक ऐसा होना स्वाभाविक है। यह भी स्वाभाविक है, कि आदमी अपने रक्त-संबंधियों के कष्ट को पहिले अनुभव करे और उसे दूर करने की कोशिश करे। मेरे छपरा के कुछ दोस्त कहते थे—राजेन्द्र कालेज को कायस्थ बिल्कुल अपनी चीज बना लेना चाहते हैं, वह आपको अपने फायदे के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। मैं भी कालेज कमेटी का मेम्बर था। जब नये प्रिंसिपल की नियुक्ति का अवसर आया, तो मैंने मनोरंजन बाबू का नाम पेश किया। मनोरंजन बाबू पहिले आने में नाहीं कर रहे थे, लेकिन मैंने जब उन्हें जोर देकर कहा, तो उन्होंने आवेदन पत्र भेज दिया। नियुक्ति के समय जब मैंने मनोरंजन बाबू के लिए प्रस्ताव किया, तो विरोधियों का बल बहुत कमजोर हो गया। मनोरंजन बाबू प्रिंसिपल नियुक्त हुए। मेरे कितने ही दोस्त उलाहना देते ही रहे। लेकिन मेरे बारे में वह यह तो कह नहीं सकते थे, कि मैंने किसी जात का पक्ष लिया। मेरे दोस्त जब फिर कहते हैं कि कायस्थ कायस्थ का पक्ष कर रहे हैं, तो मैं कहता हूँ—पहिले कायस्थ की बेटी लो या बेटा दो, तब इस बात को कहो। जब तक यह जात-पाँत है, तब तक अवसर और अधिकार न मिलने तक ही आदमी ईमानदार रह सकता है।

छब्बीस-छब्बीस वर्ष से मैं इस जिले में पहिले रामउदार बाबा, पीछे राहुल बाबा के तौर पर प्रसिद्ध रहा

हूँ। अब मैंने कपड़ा छोड़ दिया था, अधिकतर जाँघियाँ-कुरता पहिनता था। मंत्री और कांग्रेस नेता मुझे फूटी आँखों देखना नहीं चाहते थे, क्योंकि मेरी वजह से जनता में बदनाम हो रहे थे। यद्यपि यह बात गलत थी। बदनाम वह इसलिए हो रहे थे, कि अपने जन्म (वोट) दाताओं का नहीं, अपने जमींदार बन्धुओं का पक्ष ले रहे थे। रूस में मेरी बीवी है, यह बात भी उन्हें मालूम थी। वह लोग फूले न समाते थे। उन्होंने चिट्ठियों के फोटो लिये। बीवी-बच्चे के फोटुओं की कापियाँ कराईं। अखबारों में मेरे विरुद्ध छपवा रहे थे, कि इस तरह हम राहुल को जनता के सामने पतित साबित कर देंगे। मेरे घनिष्ट दोस्त पहिले ही से इस बात को जान गए थे। मैं मंत्रिमंडल के इस उल्लास-भरे प्रयास को सिर्फ कौतुहल की दृष्टि से देखता था। मुझे उनके इस लड़कपन पर हँसी आती थी—वह समझते थे कि कमेरे राहुलजी के कपड़े और साधुताई पर मुग्ध हैं। वह यही नहीं जानते थे, कि उनकी जीविका के लिए जो भी ईमानदारी से लड़ेगा, उसके साथ वह स्नेह प्रकट करेंगे। जब मैं सत्याग्रह के लिए अमवारी गया, तो जलील को प्रतापसिंह बना के रखना पड़ा था। हम साठ-सत्तर सत्याग्रही छपरा जेल में थे, जिसमें अधिकांश किसान थे। मैं और मेरे शिक्षित दोस्त तथा किसान-मजदूर और जलील एक साथ खाते थे। हिन्दू-मुसल्मान की एक रोटी होनी चाहिए, हमने इस पर एक दिन भी लेक्चर नहीं दिया। लेकिन कुछ ही दिनों में किसान एक दूसरे के हाथ से रोटी छीनकर खाने के लिए तैयार हो गये। दूसरी बार जब छितौली-सत्याग्रह के लिए जाना पड़ा, उस वक्त इब्राहिम और दूसरे कर्मियों का मैंने नाम नहीं बदला। पाँच-पाँच सात-सात आदमियों के लिए थाली जमा करवाने कौन जाय। हम लोग एक थाली में दाल रख लेते थे, और एक में रोटी और उसी में बैठकर सब खाना खा लेते। इससे किसानों को कोई तरद्दुद नहीं करना पड़ता था। एक घर में नहीं होता, तो वह दस घरों से थोड़ा-थोड़ा खाना जमा करके ले आते। जमींदार ने इस बात को ले बेधर्मी आदि कह-कहकर बदनाम करना चाहा, लेकिन किसानों का एक ही जवाब था—हम उनसे धर्म नहीं ले रहे हैं, हम तो खेत के लिए उनकी सहायता चाहते हैं, और राहुल बाबा जी-जान देने के लिए तैयार हैं। कांग्रेसी सरकार के विरोधी प्रोपेगंडे का थोड़ा-बहुत असर जमींदारों के बाद शिक्षित मध्यमवर्ग पर हो सकता था, लेकिन वह तो खुद नपुंसक हैं।

पुराने कांग्रेसी कार्यकर्ताओं पर बुढ़ापे का पूरा असर दिखलाई पड़ता था, लेकिन नौजवानों में तत्परता थी। मैंने 7 जून को लिखा था—नई पीढ़ी से ही आशा रखनी चाहिए। जब (हम) भूमि की विषमता को देखते हैं, तो निराशा-सी होती है, जब सैलाब के जोर को देखते हैं, तो निराशा का कोई कारण नहीं मालूम होता।

सरजू (घाघरा) की बाढ़ के कारण इधर कई सालों से कई थानों के लोग फसल मारे जाने से तबाह हो रहे थे। सरकार का ध्यान इस तरफ नहीं था। कांग्रेसी सरकार कान में तेल डाले बैठी थी। जब हल्ला होता, तो दो-चार हजार रुपये की माटी कहीं-कहीं रखवा दी जाती और कहा जाता कि सरकार का ध्यान इस ओर है। इसके लिए 18 जून को एक बड़ा प्रदर्शन किया गया। गुठनी और रघुनाथपुर जैसे दूर-दूर के थानों के किसान पैदल चलकर आए थे। 13 थानों के लोग छपरा पहुँचे थे। पानी बरस गया था, इसलिए लोग खेत बोने में लग गए, नहीं तो उनकी संख्या पचासों हजार तक पहुँचती। शहरवालों तक को जलूस देखकर इतना उत्साह हुआ, कि रायबहादुर वीरेन्द्र चक्रवर्ती जैसे राजभक्त ने सैकड़ों आदमियों को आम और चिउड़ा खाने को दिया। कलक्टर डर के मारे बँगला छोड़कर भाग गया, और वहाँ पचास फौजी पुलिस पहरा दे रहे थे।

13. छितौली का सत्याग्रह (जून 1939)

प्रदर्शन से छुट्टी मिली तो दूसरे दिन छितौली के किसान दौड़े-दौड़े आए। मालूम हुआ कि जमींदार खेत नहीं जोतने दे रहा है। जो किसान आसाढ़ में खेत नहीं जोतने पायेगा, उसे जीने की क्या आशा हो सकती है। उसी दिन (19 जून) इब्राहिम, रामभवन, अखिलानन्द के साथ छितौली के लिए रवाना हो गया। दूसरे दिन 9 बजे हम सत्याग्रही झोंपड़ी में पहुँच गए। यहाँ के किसान बहुत गरीब थे, तो भी वह खाने के लिए विशेष तरद्दुद करने लगे। मैंने कहा—हम कोई ऐसी चीज नहीं खाएँगे, जिसे तुम रोज नहीं खाते। जाओ, जिसके घर में जो बना हुआ हो, उसी को थोड़ा-थोड़ा जमा करके लाओ। उस दिन उनके घरों से जो खाना आया

था, वह था चीना का भात, महुआ का लाटा—खाली भी और भुनी मक्की के साथ भी, कुटा हुआ भी। साथ में ताल की घास कर्मी का साग था। मैंने उसे बड़ी रुचि से खाया, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि वह मनुष्य के 30 दिन खाने की चीजें थीं। वह ऐसा भोजन था, जिसे भारत का ही गरीब खाकर धैर्य रख सकता है।

3 बजे बाद हम लोग सभा की जगह गए। अशर्फी साहु के लठियल जगह छेंककर खड़े थे। मैंने कहा, क्या अशर्फी साहु इतने तक उतर आए और फिर एक लठियल को पकड़कर साहु के घर की ओर ले चला। जरूर यह खतरे की चीज थी, लेकिन ऐसे वक्त मुझे खतरे की बिल्कुल पर्वाह नहीं रहती। अशर्फी साहु से पूछा—आप धर्मात्मा बनते हैं, आपने मन्दिर खड़ा किया है, बहुत पूजा-पाठ करते हैं, क्या आप लड़ाई-झगड़ा भी करना चाहते हैं ? वह मीठी-मीठी बातें करके अपनी माया पसारने लगे। उसी वक्त कुछ हल्ला हुआ। आकर देखता हूँ कि अशर्फी साहु के पुत्र जगन्नाथ बन्दूक लेकर पहुँचे हुए हैं। बहुत-से लोग भाला-तलवार लेकर खड़े हैं। मैं उनके भीतर घुस गया। मैंने उन्हें ललकारकर कहा—हिजड़ो ! क्यों खड़े हो, यदि कुछ भी तुममें ताकत है, तो अपनी तलवार और भाले को मेरे ऊपर चलाओ, मैं तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। सब वहाँ से चले गए। मैं इधर-उधर अपने दोनों गुम साथियों के विषय में पूछता रहा, मालूम हुआ कि मार खाकर वह गिर पड़े, और उन्हें हमारे आदमी झोंपड़ी में ले गए। रामभवन पर चार और अखिलानन्द (18 साल के नौजवान) पर आठ लाठी पड़ी थी। अखिला की बाईं हथेली की हड्डी टूट गई थी। रात को डाक्टर सियावर आए, उन्होंने पट्टी बाँधी। उसी रात बैलगाड़ी से दोनों घायलों को सीवान रवाना कर दिया। अगले दो दिन (21-22 जून) किसान खेत जोतते-बोते रहे। बसन्तपुर के छोटे-बड़े दोनों दारोगा आये, लेकिन अशर्फी साहु ने उनकी खूब पूजा कर दी थी। जमींदार की फिर हिम्मत नहीं हुई, कि किसानों से छेड़-छाड़ शुरू करे।

14. दो साल की सजा

तीसरे दिन भी खेतों में हल चल रहे थे। 9 बजे बड़े थानेदार गणेशनारायण आए। उन्होंने दिखलाने के लिए अशर्फी साहु के कुछ आदमियों से पूछ-ताछ की। उनके कुछ आदमियों को मोटर पर बैठाया और मुझे भी यह कह साथ कर लिया, कि इन लोगों ने बहुत जुलुम किया है। साढ़े दस बजे हम सीवान थाने में पहुँचे। वहाँ के एक मुसल्मान थानेदार ने मेरे लिए खाना बनवाया। उनके घर में मैंने नहाकर खाना खाया। मुझे यह नहीं मालूम था, कि मैं गिरफ्तार करके यहाँ लाया गया हूँ। एक बजे मैं एक अपने दोस्त से मिलने गया, तो देखा, छोटे थानेदार मेरे साथ हैं। डेढ़ बजे मि. ब्राइसन की अदालत में मुझे खड़ा कर दिया गया। अब क्या सन्देह रह गया। गैरकानूनी मजमा बनाकर दूसरे की जमीन दखल करने का अपराध (दफा 117) के लिए मुकदमा चलाया गया। मैंने किसी गवाह पर जिरह नहीं की। और किसानों को खेत की जुताई-बुआई में मदद देने के कसूर को स्वीकार किया। साढ़े तीन बजे सजा सुनाई गई—9 मास सख्त कैद, तीस रुपया जुर्माना या तीन मास की सख्त कैद। छूटने पर साल-भर के लिए हजार रुपये की दो जमानतें। 6 बजे सीवान स्टेशन पर पहुँचे और रात को भटनी की गाड़ी पर सवार कर दो सिपाही मुझे ले चले। पिछली बार हथकड़ी देने से जो बदनामी हुई थी, उसके कारण पुलिस ने मेरे हाथ में हथकड़ी नहीं डाली। छपरा-पटना के रास्ते ले जाने से लोगों में उत्तेजना फैलती, इसलिए सरकार ने (युक्तप्रान्त—भटनी, मऊ, बनारस, मुगलसराय) के रास्ते मुझे सीधे हजारीबाग भेजने का इंतिजाम किया। मैंने 50 साल की उम्र तक आजमगढ़ जिले में न जाने की प्रतिज्ञा की थी। मैं रेल से उतरा नहीं, न मैंने बाहर झाँककर देखा ही, तो भी 23 जून को मऊ (आजमगढ़) के रास्ते जाना पड़ा। सबेरे बनारस छावनी में उतरे। यदि मालूम हुआ होता, कि इस गाड़ी से जाने पर गया में कई घंटे पड़ा रहने पड़ेगा, तो हम 6 बजे सबेरे की गाड़ी को बनारस में न पकड़ते। दोनों सिपाही भलेमानुस थे। वह गंगास्नान करना चाहते थे, लेकिन नहीं कर सके। जलपान के वक्त वह कुछ ले आना चाहते थे। मैंने कह दिया कि अदालत के कमरे में घुसते ही मेरी भूख-हड़ताल शुरू हो गई है, मैं नहीं खाऊँगा। वह कह रहे थे—आप नहीं

खाएँगे तो हम कैसे खाएँगे। मैंने बहुत कह-सुनकर उन्हें राजी किया। सोन-ईस्टबेंक पर हम लोग उतर गए, और दो घंटे से अधिक की प्रतीक्षा करने पर तूफान-एक्सप्रेस मिला। 5 बजे शाम को हजारीबाग रोड (सरिया) पहुँचे।

15. सत्रह दिन की भूख-हड़ताल

एक टैक्सी पर हम लोग बैठे। टैक्सीवाला थोड़ी दूर जाकर लौट आया, वह बदमाशी करने लगा। सिपाहियों के लिए मैं कैदी नहीं, गोया एक अफसर था। मैं टैक्सीवाले को थाने पर ले गया, वहाँ उसका नाम-ग्राम लिखा गया। फिर दूसरी बस से हम लोग हजारीबाग रवाना हुए। 10 बजे रात को जेल पहुँचे। वहाँ पहिले ही खबर आ चुकी थी। रात को आफिस में ही चारपाई बिछा दी गई, खाना तो मुझे खाना नहीं था। इस बार मुझे 17 दिन तक भूख-हड़ताल करनी पड़ी थी, उस वक्त की स्वास्थ्य-व्यवस्था इस प्रकार थी–

दिन	वजन	नब्ज	हृदयगति	तापमान	विशेष
1.	..	..	..	..	...
2.	..	..	..	..	
3.	174	..	..	..	भूख मर गई
4.	172	..	..	..	
5.	168	..	..	..	थोड़ी कमजोरी, रुधिर-दबाव कम
6.	166	..	..	..	
7.	165	..	..	..	
8.	164	..	..	..	कंठ में दर्द
9.	..	66	17		..
10.	161	..	..	..	कमजोरी, झुनझुनी, छाती में दर्द, खुजली
11.	160 ।।।	..	..	..	निरुत्साह, निन्द्रालुता
12.	160 ।।	64	20	96°.2	दम घुटना, दाहिनी छाती में दर्द, उन्निद्रता, मुँह कड़वा
13.	160	64	22	96°.2	शिर-दर्द, निद्रालुता, गम्भीर निद्रा नहीं, पेशाब में ऐसीटोन, कमजोरी, शिर में झुनझुनी, दमघुटना
14.	159	68	18	96°.8	शिर में अधिक झुनझुनी, छाती में दर्द, खुजली, एसीटोन, पेट में बेकली, उन्निद्रता
15.	158	62	18	96°.4	दमघुटना, छाती दर्द, शिर में झुनझुनी, एसीटोन
16.	157	62	21	96	..
17.	156	67	18	..	8 बजे उपवास तोड़ा

अगले दिन (25 जून) सबेरे भीतर एक नम्बर के वार्ड (हाते) में साथियों के पास गया। नागार्जुन, जलील, मजहर सब यहीं थे। सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब आये, उपवास तोड़ देने के लिए बहुत लेक्चर देते रहे। शायद उनको

नहीं मालूम था, कि मैं उनसे अच्छा लेक्चर दे सकता हूँ। चौदह वर्ष बाद मुझे हजारीबाग जेल में आने का मौका मिला। उस बार भी दो-साल की सजा लेकर आया था, और अबकी बार भी दो साल की–मैं जमानत नहीं देने जा रहा था। उस बार मैंने अपने जेल का सारा समय गम्भीर अध्ययन में बिताया था। यहीं मैंने 'बाईसवीं सदी' और 16 और पुस्तक लिखीं, जिनमें बहुत-सी प्रेस में जाने से पहिले ही लुप्त हो गईं। अगले दिन (26 जून) फिर सुपरिन्टेन्डेन्ट ने अपना सरमन सुनाया। डाक्टरों की इस हिदायत को मैं मानने के लिए तैयार था, कि पेट के भीतर ज्यादा से ज्यादा पानी जाना चाहिए, ताकि अँतड़ियाँ खराब ना हों। पाँचवें दिन (27 जून) मैंने सोडा और पानी के सिवा किसी तरह की दवाई को लेने से इनकार कर दिया। फिर जबरदस्ती नाक से दूध देने की तैयारी होने लगी। इसलिए छठे दिन (28 जून) मैंने प्रधानमन्त्री को तार दिया, कि जबर्दस्ती खिलाने को रोकें, क्योंकि मुझे असह्य पीड़ा होती है, मैं शांति से मरना चाहता हूँ। किताबों का पढ़ना तो 12 वें दिन तक जारी रहा और मैं आठ-आठ दस-दस घंटे पढ़ता रहता था। 7 वें दिन तक बैठने, खड़े होने में अवलम्ब की जरूरत नहीं थी। हाँ, मैं ज्यादा चल नहीं सकता था। आठवें दिन (30 जून) कार्यानन्द जी और अनिल मित्र साल-साल भर की सजा लेकर आ गए। उस दिन कंठ में कुछ दर्द रहा। मैं अब अस्पताल में था। अगले दिन इन दोनों साथियों ने भी उपवास शुरू कर दिया। मुझे मालूम हो गया था, कि दवा के बहाने डाक्टर कोई शक्तिवर्धक चीज दे देते हैं, इसलिए मैं सिर्फ शुद्ध पानी लेता था, जिसमें सोडा अपने हाथ से डालता था।

11वें दिन मैंने डायरी में लिखा था–"वजन 160।।, पौंड कमजोरी मालूम हो रही है, उत्साह कम। निद्रालुता अधिक। दोपहर को भी सोए। बदन में कहीं दर्द नहीं। खुजली अधिक। मालूम होता है, गवर्नमेंट ने तै किया है–माँगों की उपेक्षा करो, हालत अवतर हो तो छोड़ दो···। रात को 9 बजे तक पढ़ते रहे। अबकी बार बल का ह्रास बहुत धीरे-धीरे हो रहा है। पिछली बार आठ दिन से पढ़ना बन्द रहा। अबकी बार आज भी पढ़ने में दस-दस घंटा लगाने में दिक्कत नहीं। बदन थोड़ा सिहरता है।" पन्द्रहवें दिन (7 जुलाई) मैं 22 पौंड कम हो गया। साँस लेने में दम घुटता-सा मालूम होता था। छाती में दर्द अधिक, सिर में झुनझुनी थी और पेशाब में एसीटोन अधिक। उस दिन 10 बजे मिस्टर अंगर (इंस्पेक्टर-जनरल) आए। मैंने कहा–हम दोनों पुराने दोस्त हैं, विशेष कहने-सुनने की जरूरत नहीं। सुपरिन्टेंडेन्ट साहब ने कहा, कि उपवास तोड़ दें, तो सरकार आपकी बात सुनेगी। मैंने कहा–यदि मैं बच्चा होता तो, बगलवाले (लड़कों के) जेल में भेजा गया होता। 8 जुलाई से कार्यानन्दजी और अनिल को जबर्दस्ती दूध पिलाया जाने लगा। जबर्दस्ती मुझे नहीं पिलाया गया, इसके लिए मुझे कांग्रेसी सरकार का कृतज्ञ होना चाहिए। 16वें दिन भी मैं बराँडे में दो घंटा कुर्सी पर बैठा रहा। उपवास का 17वाँ दिन था। सबेरे ही सुपरिन्टेन्डेन्ट साहब ने आकर खबर दी, कि सरकार ने आपको जेल से छोड़ दिया है। मैंने कहा–अच्छी बात, ले चलिए मुझे बाहर, देखें कब तक सरकार इस तरह खेल खेलती रहती है।

380 घंटे के उपवास के बाद सुपरिन्टेंडेन्ट के बँगले पर उस दिन अनार के रस से उपवास तोड़ा। दोपहर के बाद वह हजारीबाग के अस्पताल में पहुचा आए और मैं चार दिन वहीं रहा। 12 जुलाई को मुझे साधारण भोजन मिला। पहिली बार उपवास के बाद ज्यादा भूख लगी थी, लेकिन अबकी भूख नहीं मालूम होती थी। 14 जुलाई को पटना पहुँचा। किसान सभा के आफिस में मालूम हुआ कि बिहार के हर जिले में किसानों ने अपने खेतों को हाथ से न जाने देने का निश्चय कर लिया है, सिर्फ गया जिले में 50 से अधिक ग्रामों में सत्याग्रह छिड़ा हुआ है।

16. वम्बई को

मैं चाहता था कि फिर पाँच-सात दिन डाक्टर सियावरशरण के यहाँ जाकर रहूँ, लेकिन इसी वक्त बम्बई से खबर आई, कि 'वार्त्तिकालंकार' को वहाँ का भारतीय विद्या भवन छपवाना चाहता है। अभी मेरा स्वास्थ्य इतना अच्छा नहीं था, कि गाँवों में घूमूँ फिरूँ; इसलिए सोचा कि इस समय को इसी काम में लगा दिया जाय।

बनारस-प्रयाग होते 21 की रात को बम्बई पहुँचा। किसी परिचित का पता नहीं लगा सका, इसलिए मैं एक होटल में ठहर गया। अगले दिन पता लगाकर अँधेरी गया। पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार मिले, उन्होंने ही प्रकाशन के लिए बातचीत शुरू की थी। बीच में तीन दिन बुखार आ गया। भवनवालों ने ढाई रुपया प्रतिपृष्ठ पारिश्रमिक देने के लिए लिखवाया था। अब वह मोल-तोल करने लगे। मैंने कहा—मैं मुफ्त भले ही दे सकता हूँ, लेकिन मोल-भाव करने के लिए नहीं आया हूँ। प्रकाशन का इंतिजाम नहीं हो सका, और मैं 30 जुलाई को बम्बई से रवाना हो गया। प्रयाग, सारनाथ होते 2 को बनारस गया। रायकृष्ण दास जी छाती से लगाकर मिले—पतित का स्वागत। अगले दिन (3 अगस्त) को मैं छपरा पहुँच गया।

9 अगस्त को प्रान्तीय किसान कौंसिल की बैठक पटना में हुई। मैं भी वहाँ गया था। मेरे पहिली बार जेल में जाने के बाद पंडित बाँकेबिहारी मिश्र ने अध्यापकी छोड़कर किसानों में काम करना शुरू किया था। वह बड़ी लगन से काम में जुट गए थे। छितौली के किसानों के झगड़े के फैसले के लिए जो कमेटी बनी थी, उसमें वह किसानों के प्रतिनिधि थे। मालूम हुआ कि पंचायत ने दो सौ बीघे से अधिक खेत किसानों को दिया। छितौली और यमुना भगत के सम्बन्ध में दो लेख 'जनता' के लिए लिखे।

15 अगस्त को अमलोरी (सीवान) गाँव में किसानों की एक सभा थी। यहाँ के जमींदार विद्यासिंह के जुलुम और माया के मारे आस-पास के दस गाँवों में किसी के पास खेत नहीं रह गया था। उनकी इतनी तपी हुई थी, कि राह चलते मुसाफिर को भी जुर्माना लिए बिना छुट्टी नहीं देते। रुपए का 5 सेर रयैतों से घी ही नहीं लिया जाता, बल्कि किसानों से रुपया लेकर हाथी कीना गया था। हरी-बेगारी और दूसरे कितने ही नाजायज कर सतयुग की तरह आज भी चल रहे थे। अमवारी और छितौली के सत्याग्रहों ने बहुत जगह के दबे हुए किसानों को उभार दिया था। यहाँ की सभा में 8 हजार से अधिक किसान एकत्र हुए थे। विद्यासिंह के अत्याचारों के विरुद्ध प्रस्ताव पास किया गया। सभा में गड़बड़ी डालने के लिए एक निर्लज्ज औरत को भेजा गया था, किन्तु वह अकेली क्या कर सकती थी। सभा बहुत अच्छी तरह हुई। सभा खतम होने के बाद हम लोग स्टेशन की ओर जा रहे थे, गाँव के सामने से जरा-सा आगे निकलते ही एक ढेला आकर मेरी बगल में गिरा। घूमकर देखा तो एक नौजवान (पीछे पता लगा कि वह विद्यासिंह का साला है) पकड़ा गया और एकाध थप्पड़ लगाकर छोड़ दिया गया। हम स्टेशन पर चले गये। वहाँ विद्यासिंह के बहुत से आदमी लाठी लेकर आये, लेकिन किसान भी अपनी लाठी लिये खड़े थे। कहने पर भी वह सब तब तक जाने के लिए तैयार नहीं हुए, जब तक कि हमारी गाड़ी वहाँ से रवाना नहीं हुई। मैं मारकाट पसन्द नहीं करता था, लेकिन हिंसक जमींदारों को कौन रोक सकता था। फिर किसानों को लाठी रख देने के लिए कहना अहिंसा नहीं, कायरता का प्रचार करना था। मैं ऐसी कायरता को पसन्द नहीं करता। जमींदार के आदमी फिर अपने गाँव के किसानों पर टूट पड़े और उन्हें खूब पीटा। गरीबों का हित करने के लिए गए हुए कांग्रेसी मंत्री चुप रहे। विद्यासिंह बड़े धर्मात्मा थे, उन्होंने एक सिद्ध—कच्चा बाबा—के लिए बँगला बनवा दिया था, घोड़ा ले दिया था।—इससे इतना धर्म होगा कि 12 गाँवों के लोगों पर अत्याचार करने से जो पाप हो रहा था, वह सब धुल जायगा। पाठकों को शायद ख्याल होगा, कि मैं इन अत्याचारियों को हजार वर्षों के लिए अमर कर रहा हूँ। मुझे विश्वास नहीं है कि यह पुस्तक हजारों वर्ष तक रहेगी, यदि रही तो भविष्य के हमारे उत्तराधिकारियों के लिए इससे बहुत-सी बातें मालूम होंगी। रही अत्याचारियों के अमर होने की बात, सो तो उन्हें कोई जानेगा भी नहीं। उनके अपने वंशज भी अपने पूर्वजों का नाम लेने में शरम महसूस करेंगे।

16 अगस्त को मैं छितौली गया। वर्षा हो रही थी, तो भी दो हजार किसान जमा हुए थे। लोगों में बहुत उत्साह था। अशर्फी साहु अब भी पंचायत के फैसले को मानने के लिए तैयार नहीं, और दीवानी मुकदमा लड़ना चाहते थे।

कुरबान के ऊपर सरकार ने मुकदमा चलाया था, मैं उसमें गवाही देने के लिए गया। मैं सोचता था—कुरबान का क्या कसूर; लाठी उसने नहीं चलाई, उसके मालिक ने चलवाई, फिर उसे जेल की यातना दिलवाने से क्या फायदा। 29 अगस्त को मुकदमे की तारीख थी। मैंने उस दिन अदालत में जाकर दरख्वास्त दे दी, कि कुरबान

को छोड़ दिया जाय, मैं नहीं चाहता कि उस पर मुकदमा चलाया जाय। लोगों को आश्चर्य तो हुआ, मुझको इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं मालूम हुई। आखिर में कुरबान को छोड़ देना पड़ा।

3

एक और नये जीवन का आरम्भ (1939-40 ई.)

पहिली सितम्बर को रेडियो से पता लगा, कि जर्मनी ने पोलैंड के ऊपर आक्रमण कर दिया। 3 सितम्बर को ग्यारह बजे दोपहर को इंगलैंड ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया। अब मुझे ज्यादा दिनों तक जेल से बाहर रहने की उम्मेद नहीं थी, इसलिए कोई स्थायी प्रोग्राम भी सामने नहीं रखा जा सकता था। 16, 17 सितम्बर को प्रान्तीय किसान कौंसिल की पटना में बैठक हुई। दो सौ कार्यकर्ता एकत्रित हुए थे। हम लोगों ने आगे के प्रोग्राम के लिए कुछ निश्चय किया, यह ख्याल करते हुए कि कांग्रेस इस साम्राज्यवादी युद्ध से फायदा उठायेगी। 17 को ही रेडियो से पता लगा कि आज सबेरे 6 बजे लाल सेना ने उक्रइन और बेलोरसिया की अपनी खोई धरती को लेने के लिए आगे कदम बढ़ाया। दूसरे दिन यह भी पता लगा, कि लाल सेना 90 मील आगे बढ़ गई और तीसरे दिन उसने अपनी सारी धरती वापिस कर ली।

अक्तूबर के दूसरे हफ्ते में वर्धा में कांग्रेस कमेटी और कार्यकारिणी की बैठक थी। वहाँ हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट भी इकट्ठा होनेवाले थे। कम्युनिस्ट पार्टी गैरकानूनी थी, लेकिन कांग्रेसी सरकारों के जमाने में कड़ाई कम हो गई थी। मैं भी उसमें सम्मिलित होने के लिए वर्धा पहुँचा। सुनील मुकर्जी और मैं दोनों ही पट्ना से एक साथ गये। गोपीचन्द की धर्मशाला में ठहरे। एक भोजनालय में जब हम भोजन करने के लिए जाने लगे, तो आदमी ने कहा—यह ढेढ़ (चमार) का होटल है। मैंने कहा, हम भी तुम्हारी बिरादरी के हैं, और वहाँ जाकर भोजन किया। कांग्रेस का दक्षिण-पक्ष अंग्रेजों के साथ समझौता करने के लिए तुला था और वामपक्ष जनसंघर्ष चाहता था। आखिर अंग्रेज साम्राज्यवादियों ने वह थोड़ी बातें भी नहीं स्वीकार कीं, जिनको पाकर दक्षिणपक्ष सुलह के लिए तैयार था। 1938 में तिब्बत से लौटने पर कलकत्ते में श्री महादेव साहा के प्रयत्न से मुजफ्फर् अहमद, बंकिम मुकर्जी, भवानी सेन, सोमनाथ लाहिड़ी, रणेनसेन, अब्दुल हलीम जैसे भारत के प्रमुख कम्युनिस्टों से मुझे मिलने का मौका मिला। बरसों से जिस पार्टी को मैं अच्छा समझता था, और जिसके बारे में बहुत-सी किताबें पढ़ी थीं, उसे वर्धा में अपनी आँखों के सामने देखा। लोगों की संख्या 30 से अधिक नहीं थी। उनमें पंजाबी, मराठी, मदरासी, बंगाली, युक्तप्रान्तीय सभी प्रमुख कम्युनिस्ट एकत्रित थे। हमारे प्रान्त (बिहार) में पार्टी कायम नहीं हुई थी, लेकिन हम दोनों पार्टी के थे। हिन्दुस्तान और बाहर भी व्यक्तिगत तौर से कुछ कम्युनिस्टों से मैं मिला था, लेकिन वहाँ अब्दुल मोमिन आदि प्रमुख कम्युनिस्ट नेताओं से व्यक्ति के तौर पर मिलाया था, और यहाँ मिल रहा था पार्टी के तौर पर। मैंने उन्हें देखा। मैं गुण-दोष को आदर्श के तौर पर नहीं, व्यवहार के तौर पर देखता हूँ। मुझे यहाँ एकत्रित हुए कम्युनिस्टों को देखकर बहुत प्रसन्नता और उत्साह प्राप्त हुआ। न वहाँ प्रान्त-भेद था, न धर्म-भेद। वह सभी सगे भाई की तरह थे, बिना संकोच के अपने भावों को एक दूसरे के सामने रख सकते थे। रात-रात-भर राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार होता रहा। वह पहिला दिन था। हो सकता है, नई चीज का दर्शन बहुत मधुर होता है; लेकिन मैंने पीछे भी उसे वैसा ही पाया। जीवन के बहुत लम्बे समय को मैंने साधु, महात्मा तथा विद्वानों में बिताया था, जो कि जबर्दस्त व्यक्तिवादी होते हैं। अपनी वैयक्तिक रुचि और पक्षपात के लिए वह सारे समाज और भविष्य को भाड़ में झोंकने के लिए तैयार हो जाते हैं। उनके संसर्ग का मुझ पर क्या प्रभाव पड़ा, इसे मैं ठीक से खुद नहीं कह सकता; लेकिन एक बात निश्चित है—मुझे व्यक्ति के अलग-थलग जीवन की अपेक्षा समष्टि का सामूहिक जीवन सदा ही अधिक पसन्द रहा। राजनीतिक कामों में पड़ने के बाद तो मुझे और पता लगने लगा कि एक चना

भाड़ नहीं फोड़ सकता। क्रांति के संचालन के लिए जबर्दस्त सुसंगठित सेना होनी चाहिए। मैंने कम्युनिस्ट पार्टी को उसी रूप में पाया। मुझे स्तालिन के ये वाक्य बहुत सच्चे मालूम होने लगे—"इससे बढ़कर कोई सम्मान नहीं हो सकता कि आदमी इस सेना (पार्टी) का सदस्य हो। इससे बढ़कर कोई पदवी नहीं हो सकती, कि कोई पार्टी का आदमी बनाया जाय, (नेत् निचेवो ब्वीशे, काक् चेस्त प्रिनाद्लेज्हात् के एतोइ आर्मिइ। नेत् निचेवो ब्वीशे, काक् ज्वानिये च्लेन पार्तिइ)। यहाँ वह जीवन था, जिसको देखकर आदमी अपने पार्टी के लिए, अपने पार्टी-बन्धु के लिए खुशी-खुशी जान दे सकता है। यहाँ वह ऐसे संगठन को देखता है, जिससे वह विश्वास कर सकता है कि जिस आदर्श के लिए मैं अपने जीवन को दे रहा हूँ, उसके पूरा करने के लिए सदा तरुण रहनेवाली एक सेना मौजूद है।

वर्धा से लौटते हुए 16 को बनारस पहुँचा। उस वक्त वहाँ हिन्दी साहित्यसम्मेलन का अधिवेशन हो रहा था। हिन्दी-हिन्दुस्तानी का झगड़ा खड़ा था। लोग हिन्दुस्तानी का विरोध कर रहे थे, मैं भी विरोधी था, लेकिन हिन्दू संस्कृति और हिन्दू नाम के धर्म पर नहीं, बल्कि दो विस्तृत और सुविकसित साहित्यों की एक नकली भाषा के द्वारा एक करने का प्रयत्न मुझे बिल्कुल लड़कपन मालूम होता था। मैं पहिले लिख चुका हूँ कि हिन्दुस्तानी के पक्षपाती यदि एक बार पन्त और इकबाल की कविताओं को साथ-साथ रखकर जरा उन्हें समझने की तकलीफ करें, तो मालूम होगा कि दोनों के समझने के लिए इस अधकचरी हिन्दुस्तानी से काम न बनेगा। मैं समझता हूँ, भाषाओं का सवाल दाढ़ी-चोटियों के मिलाने से नहीं हल होगा, उसे जड़ से मिलाकर ही हम हल कर सकते हैं। और जड़ है हमारी मातृभाषाएँ, गँवारूँ, असाहित्यिक कहकर जिनकी अवहेलना की जाती है। हिन्दी-उर्दूवाले एक दूसरे से बातचीत कर सकें, साधारण भावों को समझा सकें, इसके लिए मैं जरूर चाहता था कि हिन्दी पढ़नेवाले विद्यार्थियों को अपने ही अक्षरों में दो-चार पाठ उर्दू के भी दे दिये जायँ, वही बात उर्दू के लिए भी की जाय। मैंने भी वहाँ 4, 5 मिनट कहा। मेरे कितने ही साहित्यिक मित्रों ने मुझे कुर्ते-धोती में देखा।

18 अक्तूबर को छपरा पहुँचा। वहाँ लोला का पत्र मिला। मैंने लड़के का नाम 'अग्नि' (रूसी—ओगोन) लिखकर भेजा था। लोला ने पत्र में अफसोस किया कि नाम ईगर रखा जा चुका है, लेकिन मैं इस नाम को आगे के लिए सुरक्षित रख रही हूँ। यह भी पता लगा कि ईगर 5 सितम्बर (1938) को लेनिनग्राद में पैदा हुआ, बह अठमासा शिशु था। पहिले बहुत कमजोर लेकिन 11 महीने का फोटो जो मेरे पास आया था, उसमें बहुत हट्टा-कट्टा था। लोला ने हरेक माता की तरह अपने बच्चे के गुणों की तारीफ के पुल बाँधे थे—बहुत सुन्दर है, बहुत स्वस्थ है, बहुत गम्भीर है, रोता नहीं, इत्यादि। मैंने एक बार इस पर कुछ मजाक किया था, तो उसने लिखा कि अपनी आँख से देखते, तब मालूम होता।

1. पार्टी-मेम्बर

कई बातों का ख्याल कर बिहार में अभी कम्युनिस्ट पार्टी नहीं कायम हुई थी। इसका एक प्रधान कारण यह था, कि पार्टी-केन्द्र जयप्रकाश बाबू से बिगाड़ नहीं करना चाहता था, उसकी नीति थी, कि सभी वामपक्षी समाजवादियों की एकता कायम रहे। लेकिन जैसे-जैसे पार्टी-मेम्बरों और उनका प्रभाव अधिक बढ़ता गया, वैसे-वैसे कांग्रेस-समाजवादी नेताओं को भय मालूम होने लगा—अन्त में बिहार में भी पार्टी की स्थापना का निश्चय करना पड़ा। 19 अकूतबर वह स्मरणीय दिवस है, जबकि मुंगेर में बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। मैं एक और साथी के साथ वहाँ पहुँचा। दूसरे जिलों के भी कितने ही साथी आए थे। सब मिलाकर 16, 17 तरुण थे। कामरेड भरद्वाज पार्टी-केन्द्र से इस काम के लिए आये थे। उन्होंने दो दिन (19, 20 अकूतबर) पार्टी की कार्यव्यवस्था और नीति के बारे में समझाया। वर्धा में भी मैंने अच्छी वक्तृताएँ सुनीं, लेकिन यहाँ उन्हें और समीपता के साथ सुनने का मौका मिला। सभी तरुणों में उत्साह था। अनुशासन-रहित भीड़ का सेनापति होने की जगह अनुशासनबद्ध सेना का एक साधारण सैनिक होना ज्यादा अच्छा है, क्योंकि वहाँ अधिक सफलता की सम्भावना है। खुफिया-पुलिस पूरी तौर से सजग थी। 20 तारीख को हम लोग मुंगेर से अपनी-अपनी जगहों को लौटे। 24 वीं अक्तूबर को पता लगा, कि 30 तारीख को कांग्रेस मंत्रिमण्डल इस्तीफा देने जा रहा है, क्योंकि

युद्ध के कारण केन्द्रीय सरकार और गवर्नर मंत्रिमंडल से पूछे बिना ही जो चाहते हैं, कर डालते हैं। कांग्रेस इस अपमानजनक स्थिति में नहीं रहना चाहती।

कम्युनिस्टों के लिए किसी वक्त भी वारन्ट निकल सकता था। यद्यपि सरकार को यह प्रमाण देना सम्भव नहीं था, कि अमुक गैरकानूनी भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का मेम्बर है। लेकिन उसके पास बहुत बड़ा हथियार 'भारत रक्षा कानून' था, वह बिना मुकदमा के ही जिसे चाहती उसे अनिश्चित काल तक के लिए जेल में नजरबन्द कर सकती थी। साथियों की राय हुई कि मैं कुछ दिनों के लिए अन्तर्धान हो जाऊँ।

2. अन्तर्धान के दो मास

चौबीसों घंटे मेरे पीछे खुफिया-पुलिस लगी रहती थी। कांग्रेस सरकार के वक्त भी खुफिया-विभाग केन्द्रीय सरकार की मातहत था। उस वक्त भी सरकारी गुप्तचर मेरे साथ घूमा करते थे, अब तो कुछ कहना ही नहीं। नवम्बर के प्रथम सप्ताह में मैं छपरा में था। स्टेशन से सीधे जाने पर तो खुफिया पीछे लग जाती। गोरखपुर जाने वाली ट्रेन रात को छपरा कचहरी स्टेशन पर खड़ी थी। एक साथी ने तहसील देवरिया का टिकट ला दिया और मैं रात के वक्त भेष बदलकर प्लेटफार्म के दूसरी ओर से गाड़ी पर बैठ गया। देवरिया में एक अदृश्ट मित्र के पास गया। वहाँ दो हफ्ते के करीब रहा। मैं छिप के रह रहा था, लेकिन तब भी धीरे-धीरे कितने आदमियों को पता लगा और मेरे पास पहुँचने लगे। अब मैं बहुत दिनों तक वहाँ नहीं रह सकता था।

3. मलाँव में

कुछ शताब्दियों पूर्व हमारे प्रथम पूर्वज (गयाधर) मलाँव से चलकर चकर पानपुर आए। और कुछ पीढ़ियों बाद उनमें से एक (इच्छा पाँडे) कनैला में बस गये। मलाँव के बारे में जब-तब मैं कुछ सुनता रहता था। इतिहास-प्रेम के कारण मेरी इच्छा होती थी कि किसी दिन मलाँव चलकर देखूँ। मैं एक मित्र को लेकर मलाँव के लिए रवाना हुआ। गोरखपुर तक रेल से गया, फिर वहाँ से इक्का और मोटर से जाकर मलाँव के सामने उतरा। एक छोटी-सी धार पार करने के पहिले सामान को पास के गाँव में रख दिया। मैं इस वक्त सिर्फ एक बार मलाँव को देखकर तुरन्त लौट आना चाहता था, इसी ख्याल से सामान अपने साथ नहीं ले गया। बरेजा (सारन) के मेरे एक परिचित मलाँव में बहुत दिनों तक पोस्टमास्टर रहे। वह पंडित शिवपूजन पाँडे के यहाँ रहा करते थे। मेरे बारे में बहुत पहिले मलाँव के बन्धुओं को कुछ पता था। मैं वहाँ शैलेशकुमार के घर पर गया। यह मलाँव के एक बहुत संपन्न जमींदार हैं, लेकिन मैं जमींदार नहीं, बन्धु के नाते वहाँ गया था। घर पर मालिक कोई नहीं था, लेकिन नाम मालूम होते ही नौकर-चाकरों ने बड़े सम्मान से बैठकखाने में बैठाया। शैलेश और उनके भाई किसी दूसरे गाँव में गये थे, उनके पास आदमी भेज दिया गया। भोजन का वक्त था। मैंने वहीं भोजन ला देने के लिए कहा। शैलेश की दादी—जिनके बारे में तब तक मुझे नहीं मालूम था कि मेरी भाभी लगेंगी—ने आग्रह किया, कि हमारे बन्धु होकर बाहर खाना कैसे खायेंगे। शायद उन्हें पता नहीं था कि मैं जाति, धर्म सब छोड़ चुका हूँ, हाँ, अपने पूर्वजों के रक्त से इन्कारी नहीं हूँ। खैर, घर में जाकर भोजन किया। थोड़ी देर बाद शैलेश भी आ गये। अब तुरन्त लौटने का सवाल नहीं था। मेरा सामान भी मँगवा लिया गया।

गाँव-भर के लोगों को मालूम होने लगा कि उनके कुल का अपने रक्त-मांस का सम्बन्धी एक आदमी आया हुआ है, जिसकी काफी प्रसिद्धि है। मैंने सोचा, इस समय का पूरा फायदा उठाना चाहिए और मलाँव के इतिहास की सामग्री जमा करने लगा। कोठे पर रहने का इन्तिजाम था। मलाँव ने अपने पूर्वजों के 'धर्म' को बहुत बातों में कायम रखा है, बहुत कम ऐसे पथभ्रष्ट हैं, जो मछली-मांस नहीं खाते और शैलेश के यहाँ तो रोज ही मछली, मांस बना करता था। यह जाड़ों के दिन थे। इस वक्त साइबेरिया तक की चिड़ियाँ मलाँव के तालों में आती थीं, और रोज उनका शिकार होता था। खाने में मुझे यदि शिकायत हो सकती थी, तो सिर्फ घी और मसाले की; जिससे कि सुपच मांस दुष्पच बन जाता है; किन्तु यह तो सारे हिन्दुस्तान का रोग है।

मेरा खाना अब कोठे ही पर आता था; मेज पर खाते वक्त देखा कि शैलेश और दूसरे भी शामिल हो जाते हैं। मैं मना कैसे करता ? वह जानते थे लोला के बारे में, वह देखते थे कि मेरे पास न चुटिया है न जनेऊ, तब भी यदि उन्हें उज्र नहीं था, तो मेरा कुछ कहना अभद्रता होती। उनकी बूढ़ी दादी क्या सोचती होंगी, इसे मैं नहीं कह सकता। शायद उन्हें मेरे बारे में सारी बातें मालूम न थीं। यह भी हो सकता है कि बन्धुस्नेह का पल्ला भारी हो। हाँ, मैंने जब उनसे मलाँव के रीति-रिवाज के बारे में पूछा, तो वह बड़े स्नेह से बतलाने लगीं कि किस तरह मलकबीर बाबा के लिए हर पुत्र के जन्म के उपलक्ष्य में एक छौना (सुअर का बच्चा) चढ़ाना पड़ता, ब्याह-शादी में कौन-कौन से रिवाज बरते जाते हैं। वह उस वक्त 60 वर्ष से ऊपर की होने पर भी थोड़ा-सा घूँघट बढ़ाये रखती थीं। शैलेश ने कहा भी कि यहाँ घूँघट का क्या काम है। घूँघट कुछ कम हुआ, शायद वह बिल्कुल ही खतम हो जाता, यदि मालूम हो गया होता कि मैं उनका छोटा-सा देवर हूँ। मैंने मलाँव के इन चंद दिनों के निवास में बन्धुत्व का पूरा स्नेह पाया।

बचपन में मैंने अहीरनृत्य देखा था। लेकिन उसके महत्त्व को तब तक नहीं समझ सका था, जब तक कि लेनिनग्राद में वहाँ के श्रेष्ठ कलाकारों के नृत्य को मैंने नहीं देखा। उसे देखने के बाद एकाएक बाल्यस्मृति जाग उठी और मेरा दिल बोल उठा—हमारे यहाँ भी एक श्रेष्ठ नृत्य है। भारत आने पर छपरा में मैंने इस नृत्य के देखने की कोशिश की, लेकिन मालूम हुआ कि हमारे लोगों ने इसको 'सभ्यता' का कलंक समझा और पिछले पच्चीस सालों में वह वहाँ से खतम हो चुका है। किसी चतुर मूर्त्तिकार की अद्‌भुत मूर्त्ति को तोड़े जाते देखकर जिस तरह एक कलाप्रेमी के दिल में दुख होता है, उससे कम मेरे दिल में नहीं हुआ। सारनाथ में मैंने इंतिजाम किया था और चाहता था कि बनारस के कुछ शिक्षित भद्र पुरुष भी उसे देखें। लेकिन साम्प्रदायिक मार-काट ने उसे होने नहीं दिया। यह नृत्य अधिकतर सिर्फ अहीर जाति में था, मैंने बचपन में देखा था, कि किस तरह नर-नारी दोनों उसमें भाग लेते हैं। कनैला में जगमोहन मेरा रिश्ते में भाई लगता है। जगमोहन की शादी होनेवाली थी, दरवाजे पर चमार नगाड़ा बजा रहा था और गाँव के कितने ही तरुण अहीर—शायद भर तरुण भी—नाच रहे थे। जगमोहन की माँ किसी काम से दरवाजे से बाहर निकली। देवरों ने ललकारा कि यह बुढ़िया क्या नाचेगी—अभी वह बुढ़िया नहीं, स्वस्थ प्रौढ़ा थी। वह देवरों की ललकारों को कैसे चुपचाप सह लेती, अखाड़े में कूदकर उसने देवरों को ललकारा—जिसकी हिम्मत हो वह आकर मेरे साथ नाचे। आये दो एक देवर। लेकिन वह अँगुली, आँख और पैर को आराम से हल्के-हल्के हिलाने का नाच नहीं था, वह था अहीरों का वीरनृत्य, जिसमें शरीर के एक-एक अंग पर बल पड़ता है। एक-एक अंग की चर्बी मसली जाती है और आध घंटे में ही पसीना छूटने लगता है। चाची के सामने कई आये लेकिन सब आकर हारकर बैठ रहे। उसने गर्वपूर्ण दृष्टिपात के साथ अखाड़ा छोड़ा। मैंने 30 वर्ष पहिले की उस स्मृति से लेनिनग्राद के नृत्य की तुलना की थी। लेकिन स्मृति पर पूरी तौर से विश्वास नहीं किया जा सकता। मैंने शैलेश से अहीर नृत्य देखने की इच्छा प्रकट की। अभी नृत्य यहाँ से बिल्कुल लुप्त नहीं हुआ था, लेकिन स्त्रियों ने उसमें भाग लेना छोड़ दिया था। इस पाप के दोषी थे, ब्राह्मण, राजपूत, कायस्थ, बनिए, जो स्त्री-पुरुष के साथ नाचने को अभद्र और अपमान की दृष्टि से देखते थे। जो कला 19वीं सदी तक सुरक्षित चली आई थी, जिस कला को 20वीं सदी में दुनिया के सामने अभिमान के साथ पेश किया जा सकता था, जो कला 21वीं सदी में भारत के सभी नर-नारियों की प्रिय कला, प्रिय व्यायाम होगी, उसे हमारी अधकचरी सभ्यता ने 20वीं सदी में गला घोंटकर खतम कर देना चाहा। शैलेश ने पहिले एक गाँव के ही एक नौजवान भर को बुलाया। माघ-पूस का जाड़ा पड़ रहा था, उस पर भी आधीरात बीत रही थी। तरुण कोई उतना सिद्धहस्त नर्तक नहीं था, लेकिन जब उसने नाचना शुरू किया, तो घंटे-भर ही में सारे शरीर में पसीना आने लगा। मैंने सोचा, मेरी बाल-स्मृति ने धोखा नहीं दिया। शैलेश ने कहा—मैं पेलमेन की प्रक्रिया के अनुसार व्यायाम करता हूँ, लेकिन उसमें भी कमर के पास की चर्बी के गलाने का ऐसा अच्छा तरीका नहीं है, जैसा कि इस नृत्य में।

कई दिन के बाद शैलेश अहीर-नृत्य के लिए कुछ जवानों को एकत्र करने में स[illegible] हुए। उसे देखकर मैंने पूरी तौर से समझा लिया कि मेरी स्मृति गलत नहीं है।

मलाँव राप्ती (अचिरवती) नदी के किनारे उसी प्रदेश में है, जहाँ बुद्ध के समय मल्लों का प्रजातन्त्र था। उस समय भी वहाँ मल्लग्राम (मलाँव) रहा होगा। मल्लों की तरह ही यहाँ के लोग भी सदा लड़ते-भिड़ते रहने वाले आदमी थे। महाभारत में इन्हें (सांकृत्यायनों को) ब्रह्मक्षत्र कहा गया है। मलाँव में ही नहीं, कनैला में भी लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति देखी जाती है। बुद्ध के वक्त 'मल्लग्राम' कहाँ रहा होगा, इसके बारे में नहीं कहा जा सकता। अब भी आस-पास में उसके तीन ध्वंसावशेष हैं, इन्हीं में से कहीं रहा होगा, लेकिन इन ध्वंसावशेषों की कभी खुदाई नहीं हुई।

हफ्ते या अधिक दिन मेरे मलाँव में बीते। मेरे वहाँ से रवाना होने के पहिले ही शैलेश के चचा श्री द्वीपनारायण पांडेय भी आ गये। मलाँव से मुझे जौनपुर जिले में किसी वार्षिक अधिवेशन में जाना था। मैंने पहिले ही उसे स्वीकार कर लिया था, इसलिए अब इन्कार करना मुश्किल था। कम्युनिस्टों की ज्यादा गिरफ्तारी नहीं हो रही थी, इसलिए भी प्रकट होने में हानि नहीं मालूम हो रही थी। गाँव का नाम मुझे याद नहीं, लेकिन वह स्टेशन से कुछ दूर था। मैं वहाँ अकेले ही पैदल चला गया। शायद प्रबन्धक और दूसरों को भी बड़े नामवाले सभापति को इस तरह आए देखकर कुछ बुरा लगा। बुरा लगना ही चाहिए, क्योंकि उत्सव प्रदर्शन के लिए ही किये जाते हैं।

वहाँ से मैं जौनपुर गया और किसी तरह छिपकर रात को इलाहाबाद पहुँच गया। मैं वहाँ दो-तीन जगहों में बिल्कुल गुप्त रहा। इस समय को मैंने 'सोवियत् संघ-साम्यवादी पार्टी-इतिहास' का हिन्दी अनुवाद करने में लगाया। अनुवाद बहुत जल्दी-जल्दी हुआ, उसे मैं दुहरा नहीं सका, और इसका जो भाग प्रकाशकों ने छपवाया, उसमें कम्पोजीटरों की गलतियों को भी अधिक से अधिक रहने दिया, इस तरह सारा काम चौपट हो गया।

4. किसान-सम्मेलन का सभापति

पहिली जनवरी को मैं मढ़ौरा में था। अभी मढ़ौरा के मजदूरों की पंचायत ने झगड़े का कोई फैसला नहीं किया था।

4 जनवरी को साथी पूरनचन्द्र जोशी और भारद्वाज छपरा आये। उस वक्त स्वामी सहजानन्द जी छपरा ही में थे। जोशी और भारद्वाज ने वर्तमान परिस्थिति पर स्वामीजी से बातचीत शुरू की। वैसे स्वामीजी सदा ही से वेदान्त, वैराग्य अतएव व्यक्तिवाद के फेर में रहे, किन्तु, जब उनका जनता के कष्टमय जीवन से सम्पर्क होता है, तो वह आसमान से धरती पर उतर आते हैं और सारी शक्ति लगाकार पीड़ित किसानों के लिए काम करते हैं, किन्तु जैसे ही उनकी वृत्ति बाहर से हटकर अन्तःकरण की ओर लगती है, तो भूल जाते हैं और एक व्यक्तिवादी के रूप में प्रकट होते हैं। धूप-छाँह की तरह उनका जीवन इन दोनों रूपों में बराबर प्रगट होता रहता है। यह होते हुए भी उनकी निर्भयता, निरलसता और ईमानदारी के बारे में कौन संदेह कर सकता है ? जोशी-भारद्वाज ने दो दिन तक उनके साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति पर विचार किया। वह किसी सभा के लिए नहीं आये थे, और न लोगों से मिलना-जुलना ही चाहते थे। यद्यपि मैंने गोरखनाथ त्रिवेदी से कह दिया था, कि आप के घर में कौन-से ये दो व्यक्ति आए हुए हैं। किन्तु मुझे संदेह है, उन्होंने उनके व्यक्तित्त्व को समझ पाया। भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के प्रधानमंत्री जोशी और भारतीय कम्युनिस्टों के चार प्रधान नेताओं में एक भारद्वाज यहाँ सामने मौजूद थे, लेकिन उनके चहरे के चारों ओर कोई प्रभामंडल नहीं था, कि जिससे लोग उन्हें पहिचानते। जनता यद्यपि प्रभामंडलों के फेर में पड़ जाती है, लेकिन जनता की लड़ाई को वही बढ़ा सकते हैं, जो प्रभामंडल के बिना हैं, और युद्ध की खाइयों में जनता के साथ कंधे से कंधा मिलाकर लड़ सकते हैं।

वसंतपुर थाने में बाला एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ भी जमींदारों ने किसानों के खेत को निकालना चाहा, जिसमें वह कामयाब नहीं हुए; फिर उन्होंने गुंडों को जमा कर तलवार-भाला से प्रहार किये, जिनमें तीन किसान मारे गये। 9 जनवरी को मैं बाला गया। मैंने वहाँ देखा कि तीन-तीन आदमियों के मरने पर भी न वे भयभीत थे, न उनका उत्साह कम हुआ था। वह समझने लगे थे कि रक्तबीज की तरह हमारा कोई उच्छेद्य नहीं कर

सकता। उन्होंने अपनी सांघिक शक्ति की थोड़ी-थोड़ी झलक देखी थी, और उससे आत्मविश्वास बढ़ा था। शाम को एक बड़ी सभा हुई थी, जिसमें आसपास के कई गाँवों के किसान आए हुए थे। 14 जनवरी को कांग्रेस-सोशलिस्टपार्टी की पटना में बैठक थी। उस वक्त सभापति मैं ही बनाया गया था, और हमारे कुछ दोस्तों ने फिनलैंड के साथ सोवियत युद्ध को बुरा कहा था। 21 जनवरी को फिर दूसरी बैठक हुई, उस वक्त भी कितने ही लोग सोवियत की निंदा उसी तरह कर रहे थे, जिस तरह इंगलैंड के टोरी और उनके अखबार। मुझे आश्चर्य हो रहा था, कि यह किस तरह के सोशिलिस्ट (समाजवादी) हैं, जो इतना भी नहीं समझते कि सोवियत की निन्दा करना अंग्रेज टोरियों और फिनिश् किसान-मजूरों के जानी दुश्मन मैनरहाइम के हाथ में खेलना है। खैर, पार्टी ने सोवियत की नीति के समर्थन का प्रस्ताव किया।

25 जनवरी को वाकरपुर (मुजफ्फरपुर) में सुलोचना-पुस्तकालय के उद्घाटन के लिए मुझे बुलाया गया था। दो हजार लोग सभा में आये। मेरे व्याख्यान का नोट लेने के लिए सरकारी शीघ्रलेखक और डिपुटी-मजिस्ट्रेट पहुँचे थे। दूसरे दिन (26 जनवरी) स्वतन्त्रता-दिवस सोनपुर में बड़े धूम-धाम से मनाया गया। वहाँ भी शीघ्रलेखक सरकारी अफसर मौजूद थे। 28 को पानापुर-दियरा के किसानों में व्याख्यान दिया। 28 को बाढ़ के छात्र सम्मेलन के सभापति के तौर पर भाषण किया। यहाँ भी शीघ्रलेखक मौजूद थे। बाढ़ में दो मानपत्र मिले, जिन्हें कि मैंने वहीं दे दिया। भाषण और उत्साह देखकर चार किसान आपस में राय दे रहे थे—कांग्रेस-फांग्रेस कुछ नहीं, असल काम करनेवाले किसानसभा और आर्यसमाज हैं—लाठी लिये प्रबन्ध करनेवाले विद्यार्थियों को उन्होंने आर्यसमाजी समझा था। 30, 31 जनवरी को मढ़ौरा मजदूरों के झगड़े के फैसले के लिए पंचायत बैठी। छपरा के कलक्टर मिस्टर कैम्प सभापति थे। मैं और कम्पनी के एक प्रतिनिधि उसके सदस्य थे। पहिले दिन कम्पनी के प्रतिनिधि ने मंजूर किया, कि वह 12 नए मकान बना देंगे और पुराने मकानों में भी सुधार करेंगे। दूसरे दिन की बैठक में 4 आना नहीं, साढ़े 6 आना रोज कम से कम मजूरी स्वीकार की और यह भी कि अधिक नफा होने पर मजूरों को बोनस दिया जाय। दूसरे मजूरों की मजूरी में वृद्धि की गई। पर्व-त्यौहार के दिनों में छुट्टियाँ मंजूर की गईं। रजिस्ट्री करा लेने पर मजूर-सभा को भी मान लेने की बात तय हुई। मजूरों के दवाई-दरपन के इंतिजाम करने की भी कुछ बातें मानी गईं। मढ़ौरा की मिठाई-मिल के मालिकों ने भी बहुत-सी बातें मानीं, और कम से कम साढ़े पाँच आना वेतन स्वीकार किया। मुझे इस तरह के समझौते में भाग लेने का पहला तजरबा था। मुझे दूसरे दिन मालूम हो गया था, कि चीनी मिलवाले मजदूर हमारे समझौते से सहमत नहीं हैं, इसलिए मिठाई मिलवाले समझौते की शर्तों के मानने के पहिले मैंने यह जरूरी समझा कि पहिले मजूरों को बुलाकर उनके सामने समझौते की शर्तें रख दी जायँ। चीनी मिलवालों से स्वीकृति लेने में कुछ देर हुई। यह एक बड़ा बोझ था जो कि साल-भर से लटका चला आता था। यद्यपि बोझ हल्का हो गया, लेकिन मैंने देखा कि मजूरों का संगठन मजबूत नहीं, और जब तक संगठन मजबूत नहीं होता, तब तक विजय का फल स्थायी नहीं रह सकता। संगठन करने का मुझे समय मिलेगा, इसकी बहुत कम आशा रह गई थी। 4 फर्वरी को मैं रहीमपुर (खगड़िया) मुंगेर किसान सम्मेलन में गया। वहाँ से जाकर बेगूसराय में रात को रहा। वहाँ बड़े जोर की अफवाह उड़ रही थी, कि राहुलजी को गिरफ्तार करने के लिए 15 फौजी पुलिस आई है, लेकिन अशान्ति के डर से उसने गिरफ्तार नहीं किया।

मैं अबकी बार प्रान्तीय किसान सभा का सभापति चुना गया था, उसके लिए एक भाषण लिखना था। एकान्त का ख्याल करके मैं राजगिर चला गया। 1919 में मैंने जिस राजगिर को देखा था, उससे अब बहुत अन्तर हो गया था। यहाँ कई घर बन गये थे, और लोग भी ज्यादा आते थे। वैसे राजगिर तो एक अच्छा-खासा सेनीटोरियम बनने के लायक है। 10, 15 लाख रुपया लगाकर यहाँ दो हजार कमरे बनवाये जा सकते हैं। नलों के जरिये से गरम चश्मों का पानी स्नानागारों में पहुँचाया जा सकता है। फिर स्वास्थ्य या ऋतु-परिवर्त्तन के लिए आनेवाले आदमी, आराम से रह सकते हैं, लेकिन वह दिन अभी दूर है। वहाँ से मैं सहसराम (13 मार्च) गया। तालाब के भीतर पत्थर की वह विशाल इमारत है, जिसमें शेरशाह सो रहा है। अकबर ने जिस उदार राजनीति और विशाल व्यवस्था का अपने शासन में उपयोग किया, उसका सूत्रपात शेरशाह ने किया था।

कहते हैं, शेरशाह के सारे शरीर को नहीं सिर्फ एक अँगुली को समाधिस्थ किया गया है। शहर के बाहर चन्दन शहीद की पहाड़ी पर गये। यहाँ ही एक प्राकृतिक गुफा के भीतर चट्टान पर अशोक का शिलालेख खुदा है। वहाँ से हम दरियागाँव गये। गाँव के जमींदार रंगबहादुर सिंह सामन्तयुग के सामन्तों की तरह किसानों पर शासन करते थे। गरीब किसान त्राहि-त्राहि कर रहे थे। यहाँ भी मेरे व्याख्यान का नोट लेने के लिए शीघ्रलेखक और डिप्टी साहब पहुँचे। डिप्टी साहब को बड़ी तकलीफ हुई, क्योंकि उन्हें धान के खेतों में दौड़ना पड़ा। 14 फरवरी को पटना में कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी की बैठक हुई। कम्युनिस्टों को बिहार में बढ़ते देख नेता बहुत घबराए थे और पार्टी से कम्युनिस्टों को निकाल बाहर करने के लिए तुले हुए थे। उन्होंने मंजर रिजवी को सफाई देने का भी मौका नहीं दिया, और पार्टी से निकाल दिया। मुझे अभी निकालने से हिचकिचा रहे थे।

अगले दिन (15 फरवरी) प्रान्तीय कांग्रेस के पदाधिकारियों का चुनाव था। मैंने आश्चर्य से सुना, कि मैं भी रामगढ़ कांग्रेस के लिए प्रतिनिधि अतएव प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी का सदस्य चुना गया हूँ। मैं छपरा में साथियों के कहने पर प्रतिनिधि बनने का उम्मीदवार खड़ा हुआ था। लेकिन उसके साथ यह शर्त कर दी थी, कि यदि कोई प्रतिद्वन्दी खड़ा होगा तो मैं अपना नाम वापिस ले लूँगा। प्रतिद्वन्दी खड़े हुए और मैंने अपना नाम लौटा लिया। लेकिन आज सुना कि मैं प्रतिनिधि चुना गया हूँ। पता लगा, कांग्रेस-नेता डाक्टर महमूद को प्रतिनिधि बनाना चाहते थे। उनके विरुद्ध पंडित माणिकचन्द खड़े हो गए थे और उन्होंने इस शर्त पर अपने नाम को हटाना स्वीकार किया, कि मुझे एक स्थान से निर्विरोध जाने दिया जाय। इस प्रकार आवेदनपत्र हस्ताक्षर तक भी न होने के बावजूद मैं प्रतिनिधि चुन लिया गया। प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की राजनीति बहुत नीचे उतर आई थी। वहाँ कायस्थ और भूमिहार गुटबन्दी चल रही थी। बेईमानी, ईमानदारी चाहे जैसे भी हो, अपनी-अपनी गुट के ज्यादा प्रतिनिधियों को भेजने की कोशिश थी। श्रीकृष्ण बाबू का पलड़ा भारी रहा और मथुरा बाबू, कृष्णबल्लभ सहाय, वृंदा बाबू जैसे कर्मठ कांग्रेसी भी कार्यकारिणी में नहीं आए—यह हार राजेन्द्र बाबू की थी।

छपरा में मैं जब रहता, तो अक्सर शाम के वक्त कचहरी, स्टेशन पर एक मुसल्मान चायखाने में चाय पीने जाता था। यद्यपि मेरी मंशा नहीं थी, लेकिन यह एक प्रदर्शन-सा बन गया, क्योंकि कचहरी के अधिकांश वकील मुख्तार शहर के इसी भाग में रहते हैं, और शाम को टहलने के लिए इस प्लेटफार्म को छोड़ कोई जगह नहीं है। कभी-कभी कोई दूसरे दोस्त भी शामिल हो जाते, खासकर बाबू बच्चू बिहारी वकील। बाकी लोगों में कुछ समझते थे, कि इस आदमी को शरम-हया नहीं है, अर्थात् छिपकर यदि मैं मुसल्मान की चाय पीता, तो मैं अच्छा आदमी कहा जाता; लेकिन कुछ मेरी निर्भीकता की तारीफ भी करते। एक दिन मैं वहाँ चाय पी रहा था। कोई मुसाफिर वहाँ खाने खाना के लिए आया। उसने पूछा कि किस चीज का मांस है। होटलवाले ने कहा बकरे का। बकरे का मांस ज्यादा महँगा होता है, बेचारे गरीब किसान के पास उतने पैसे कहाँ ? उसने कहा—"बड़का (गोमांस) नहीं है।" होटलवाले ने कहा—"नहीं भैया, हमारे यहाँ सब तरह के बाबू चाय पीने आते हैं, दो पैसा कम ही नफा कमायेंगे, काहे को यहाँ बड़का पकायें।" मैंने सोचा हिन्दू कितने बेकूफ हैं, यदि वह मुसल्मानों के यहाँ खाना खाते रहते, तो बिना दबाव ही के मुसल्मानों के दिल में उनकी भावनाओं का ख्याल आता। लेकिन वह तो चले हैं लाठी के बल पर गोरक्षा कराने। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध था, मुझे कोई ख्याल नहीं था। बकरीद के दिन यदि छपरा रहता, तो अशरफ के चचा अलीसाहब के यहाँ उसका तबर्रुक जरूर तनावल फरमाना पड़ता।

24, 25 फर्वरी को मोतीहारी में प्रान्तीय किसान सम्मेलन था। मैं सभापति था। स्वामी सहजानन्द जी, जयप्रकाश, नरेन्द्रदेव, और डाक्टर अहमद के भाषण हुए। यू. पी. में तो पहिले ही से कांग्रेस-सोशलिस्ट कम्युनिस्टों के साथ झगड़ रहे थे, बिहार बचा हुआ था। कम्युनिस्ट थोड़े थे, लेकिन उनकी समझदारी, ईमानदारी और कड़े अनुशासन में रहने की बात को वह जानते थे। वह यह भी जानते थे कि समाजवादी क्रान्ति चाहनेवाले इन्हीं की तरफ झुकेंगे। नेतृत्व खतरे में समझकर वह प्रान्त-भर से आए किसान कार्यकर्ताओं को समझाने में लगे थे। छपरा पास का जिला है, वहाँ से 50, 60 किसान कार्यकर्ता आए हुए थे। अपने कार्यकर्ताओं में बैठना

उनकी बातों को सुनना और उनका बनकर रहना मुझे ज्यादा पसन्द था। मुझे देर तक वहीं बैठे देखकर कांग्रेस-सोशलिस्ट नेताओं के पेट में पानी नहीं पचा। उन्होंने समझा कि मैं उन्हें कांग्रेस-सोशलिस्ट पार्टी के खिलाफ भड़का रहा हूँ। मैंने वहाँ किसी पार्टी का नाम भी नहीं लिया था। मुझे जब भनक मालूम हुई, तो उनके लिए मैदान खाली कर दिया, फिर नेताओं ने जाकर जो मगजपच्ची की, उससे फायदे की जगह नुकसान ही ज्यादा हुआ। तरुण बहुत असन्तुष्ट थे, वह समझ नहीं सकते थे कि कांग्रेस-सोशलिस्ट एक ओर तो कम्युनिस्टों से मेल करने की बात भी करने के लिए तैयार नहीं हैं, और दूसरी ओर गाँधीवाद का पल्ला पकड़कर हिन्दुस्तान में किसान-मजूर राज कायम करना चाहते हैं।

27 फर्वरी को मैं अमरपुर (जिला भागलपुर) के किसान-सम्मेलन में गया। 15 हजार की जनता थी। जनता में जोश था और उससे भी अधिक प्रसन्नता मुझे इस बात से हुई, कि तरुण कार्यकर्ता बहुत काफी हैं। बीच में खाने की चीजों को इकट्ठा रख दस-दस बारह-बारह आदमियों का साथ खाना शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भले ही अच्छा न हो, लेकिन मानसिक स्वास्थ्य का वह जबर्दस्त परिचायक था। ग्रामीण किसान भी उसे देखकर नाराज नहीं, प्रसन्न होते थे। वह समझते थे, कि कमुनिस्तों में न हिन्दू-मुसल्मान का फरक है, न छूत-अछूत का। भागलपुर में अगले दिन सभा रही। यद्यपि उसी दिन दोपहर को हम पहुँचे थे, लेकिन मैदान में 3 हजार से अधिक लोग जमा थे। कलकत्ता में बंगाल कांग्रेसकर्मियों का सम्मेलन था, मुझे उसका सभापति होने के लिए कहा गया, लेकिन मैंने तो उन्नाव किसान-सम्मेलन का सभापति होना स्वीकार कर लिया था, इसलिए वहाँ के लिए अस्वीकृति लिख भेजी।

2 मार्च को पचरुखी (छपरा) की चीनी मिल के मजदूरों की तकलीफों को देखने गया। यह गाँधीभक्त साराभाई (अहमदाबादवालों) की मिल थी, किन्तु यहाँ के मजूरों को उतना भी सुभीता नहीं था, जितना कि मढ़ौरा के अंग्रेज मिल के मजदूरों को। मजूरों को ढाई आना और तीन आना मजूरी मिलती। मढ़ौरा में पंचायत करते वक्त मिलवालों ने कहा था, कि हिन्दुस्तानी मिलों में ज्यादा से ज्यादा जितनी मजदूरी दी जाती है, उतना ही हमें भी देने को कहिए, लेकिन मैंने इसे मंजूर नहीं किया। मैं समझता था, कि बिड़ला और साराभाई की मिलों में मजदूरों का खून और भी चूसा जाता है। मजूरों के हाल-चाल जानकर छोटी-सी सभा में व्याख्यान दे मैं वहाँ से प्रयाग होते उन्नाव के लिए रवाना हुआ। पौने दो बजे उन्नाव पहुँच गया था। लेकिन कार्यकर्ताओं ने व्यर्थ ही वहाँ पौने तीन घंटे रोक रखा। सभा वहाँ से 17 मील दूर शफीपुर में थी। 6 बजे जब तक हम वहाँ पहुँचे तब तक बहुत-से लोग उकताकर चले गए थे। तो भी मैंने व्याख्यान दिया। सरकारी शीघ्रलेखक मौजूद था और संयोग से वह तरुण वछवल (आजमगढ़) का रहनेवाला था। दो दिन रहने के बाद 7 मार्च को मैं प्रयाग आ गया।

मैं इस साल के लिए अखिल भारतीय किसान सम्मेलन और सभा का सभापति चुना गया था। आन्ध्र-देश के पलाशा गाँव में सम्मेलन होनेवाला था। मैंने सोचा, प्रयाग में रहकर भाषण तैयार कर लूँ। वहाँ डाक्टर अहमद के यहाँ ठहरा। मुझ पर पुलिस की बड़ी कड़ी निगाह थी, इसलिए अपने पुराने अ-राजनीतिक दोस्तों के पास ठहरकर उन्हें तकलीफ में डालना नहीं चाहता था और अहमद और हाजरा तो अपने साथी थे। उनके यहाँ भी हर 10वें 15वें पुलिस तलाशी कर जाती थी। अहमद और हाजरा का आदर्श और त्याग बहुत ऊँचा था। वह हर तरह से आराम में पले थे, और आराम की जिन्दगी बिताने के सारे सामान रहते भी उन्होंने इस काँटेवाले रास्ते को अपनाया, इसके बारे में मैं दूसरी जगह[1] लिख चुका हूँ। एक विचार, एक आदर्शवाले साथियों के साथ रहकर आदमी नरक का भी दुख भूल जाता है, उसकी मृत्यु की घड़ियाँ भी सुख की घड़ियों में परिणत हो जाती हैं। भाषण के तैयार करने में कामरेड अहमद ने भी बड़ी मदद की। उसी दिन श्री सज्जाद जहीर अपनी नववधू रजिया के साथ आये। नववधू ने संकोच की बात तो अलग, पहिले ही बाण-वर्षा शुरू कर दी—"मैंने सुना है, कि आप उर्दू के विरोधी हैं।" मैंने कहा—"आपने कहाँ सुना है ?" उन्होंने बतलाया कि पटना में लोगों

1. देखो 'नये भारत के नये नेता'।

ने बतलाया। मैंने कहा—"मैं उर्दू का विरोधी नहीं हूँ। मैं तो जिसकी जो मातृभाषा है, उसको अपनी मातृभाषा को पढ़ने-लिखने, पूरी उन्नति करने का पक्षपाती हूँ। हाँ, मैं इसका विरोधी जरूर हूँ कि लोग हिन्दुस्तानी के नाम से एक तीसरी भाषा के गढ़ने का प्रयत्न करते हैं। मैं तो यह भी कहता हूँ कि उर्दूवालों को स्वेच्छापूर्वक कुछ हिन्दी भी सीखना चाहिये। रजिया कुछ शान्त हुई। मुझे यह खुशी हुई कि सज्जाद जहीर ने एक समझदार और शिक्षित साथी को बीवी के रूप में प्राप्त किया।

11 तारीख को 3 घरों में तलाशी ली गई और साथ ही हर्षदेव मालवीय पकड़ लिये गये। यह भी पता लगा कि सज्जाद के नाम भी वारंट निकला है। यह इस बात की सूचना थी, कि मुझे भी अब तैयार रहना चाहिए। अगले दिन मैंने भाषण करीब-करीब समाप्त कर दिया। 15 तारीख को अपने प्रयाग के दोस्तों से मिलने गया। डाक्टर बदरीनाथप्रसाद ने पूछा—"फिर कब तक मुलाकात होगी ?" मैंने कहा—"लड़ाई बाद।" शाम को लौटकर अहमद के साथ बातचीत कर रहा था। अँधेरा हो चला था। उसी वक्त पाँच-सात सादे कपड़ेवालों के साथ थानेदार साहब पहुँच गये और मुझे गिरफ्तारी की सूचना दे मकान की तलाशी लेने लगे। साढ़े 7 बजे करनलगंज थाने में ले गये। वहाँ कागज-पत्र दिखलाया गया। मैं भारत रक्षा कानून, दफा 26 उपनियम 1 के 6वें वाक्य के अनुसार गिरफ्तार किया गया था। 9 बजे बाद मुझे मलाका जेल में पहुँचा दिया गया।

4

जेल में 29 मास (1940—जुलाई 1942 ई.)

1. हजारीबाग जेल में (1940 ई.)

मेरा वारंट भारत-सरकार ने बिहार भेजा था। यदि मैं बिहार में रहा होता, तो चार दिन पहिले ही गिरफ्तार हो गया होता। खैर, अब कम्युनिस्टों पर सीधा प्रहार हो रहा था और बड़े-बड़े कम्युनिस्टों को पकड़कर जेल में बन्द करने का काम भारत-सरकार ने अपने हाथ में लिया था। प्रान्तीय सरकार नहीं, भारत सरकार का कैदी होना कुछ गौरव की बात थी। कहाँ चोरी में कैद होकर आना, और कहाँ अब शाही कैदी—इसे जरूर सम्मान की चीज मानना था। जेल में हर्षदेव और मैं दो ही राजनीतिक बन्दी थे। अभी तक मुझे बिहार के जेलों का ही अनुभव था। अब अपने जन्म-प्रान्त के जेल का भी अनुभव प्राप्त करना था, लेकिन मैं मलाका जेल में 12 दिन से ज्यादा नहीं रह सका। बिहार में छोटे से बड़े जेलों में—सभी कोठरियों के फर्श पक्के हैं, किन्तु यहाँ कच्चा फर्श था। मकान भी मालूम होता था, अकबर बादशाह के किले के ही जमाने का था। जिन सेलों (तनहाई कोठरियों) में दिन में भी अँधेरा रहे, वहाँ मच्छर क्यों न बसेरा करें। रात को मच्छरों ने खूब काटा। अगले दिन तौला गया। वजन 188 पौंड, अर्थात् दो सौ पौंड में 12 ही कम था। दफ्तर में बाप का नाम और अँगूठे का निशान लगाने के लिए कहा गया। मैंने साफ इनकार कर दिया। जेलर साहब बहुत भलेमानुस थे। उनको इस बात का अफसोस था, कि मुझे तीसरे दर्जे का कैदी बनाया गया है। लेकिन बाप और नाना दोनों की हैसियत देखने से तो मुझे तीसरे दर्जे से भी नीचे रखना चाहिए था। मैंने स्वयं भी कोई सम्पत्ति नहीं जमा की थी, आखिर जेलों में पहिला, दूसरा दर्जा सम्पत्ति देखकर आदमी को दिया जाता है। यह मैं मानता हूँ कि सम्पत्तिवाले सारे जोंक, डाकू और कामचोर हैं, लेकिन सरकार तो इस बात को नहीं मानती—डाकुओं के राज्य में डकैती शाही पेशा मानी जाती है। जेलर साहब ने कहा—आप इसके लिए सरकार में दरख्वास्त दें। मैंने कहा—"मैं इसी श्रेणी में ही रहूँ, तो अच्छा। हाँ, पढ़ने-लिखने का सुभीता जरूर होना चाहिये। यदि मुझे कहना-सुनना होगा, तो सिर्फ उसी के लिए।" खाने के लिए हमें जौ-चने की काली रोटी मिलती थी, जिसमें तिनके भी काफी रहते थे। दाल में कराई और तिनका भरा होता था और साग के नाम पर घास उबाली जाती

थी। मैंने देखा, युक्तप्रान्त इस बात में बिहार से बहुत पिछड़ा हुआ है, हमने तो वहाँ 1921-22 में ही ऐसा खाना देखा था। हाँ, कांग्रेस मिनिस्टरी ने यहाँ के जेलों में बीड़ी और तम्बाकू देने का हुक्म दे दिया था, वह अब भी मिल रहा था—लेकिन बीड़ी की जगह लपेटी पत्तियाँ, और सुरती (तम्बाकू) की जगह डंठल। हम दो थे, इसलिए आपस में भिन्न-भिन्न विषयों पर वार्तालाप करते थे, और जो किताबें मिल जाती थीं, उन्हें पढ़ते भी थे। मैंने हिन्दू-मुसलिम समस्या पर 25 मार्च (1940) की डायरी में लिखा था—"यदि बहुमत की राय (है) तो बहुमतवाले मुसलिम प्रान्तों को अलग मुसलिमिस्तान के रूप में स्वतन्त्र होने की क्यों न इजाजत दी जावे। भाषा में 90 फीसदी, जिस भाषा को बोलते हैं, उसी को शिक्षा और व्यवहार का माध्यम बनाना चाहिए।"

27 के साढ़े 4 बजे शाम को पता लगा कि मुझे हजारीबाग जेल ले जाने के लिए बिहार से पुलिस आई है। पर्दानशीन बहुओं को नइहर, सासुर ले जाने के लिए आदमियों के आने की बात सुनकर वैसे ही ख्याल होता होगा, जैसा कि इस वक्त मुझे आ रहा था। घंटे-भर में मुझे तैयार हो जाने के लिए कहा गया, लेकिन वहाँ तैयारी क्या करनी थी। मैंने हर्षदेव से विदाई ली, रेलवे पुलिस की लारी पर बैठा, बड़े स्टेशन पर गया और साढ़े 6 बजे पंजाब-मेल से रवाना हो गया। पुलिस में दो साधारण सिपाही और एक जमादार या सहायक थानेदार था। किसान-सत्याग्रहों और भूख-हड़तालों के कारण भला कैसे हो सकता था, कि बिहार का कोई पुलिस-सिपाही मुझे न जानता हो। सिपाही चूँकि स्वयं किसानों के बेटे होते हैं, इसलिए पेट के कारण चाहे उनको कुछ भी करना पड़े, किन्तु उनकी सहानुभूति सदा हमारे साथ रहती। उनके घरवाले भी जमींदारों से सताये हुए थे, हमारे आन्दोलन से उनको भी हिम्मत मिली थी। किसानों-मजदूरों का आन्दोलन सचमुच ही शासकवर्ग के लिए बड़े खतरे की चीज है। आखिर किसान-मजूर-बच्चों के भुजबल पर ही उन्होंने दुनिया को गुलाम कर रखा है, किसान-संघर्ष जितना ही बढ़ेगा उतना ही शासक-वर्ग को अपने हाथ-पैरों—सिपाहियों—से शंकित होना पड़ेगा। हमारे साथ जानेवाले तीनों पुलिसमैन, भद्र, भलेमानुस थे। मुझे डेवढ़ा दर्जे में ले गये, लेकिन रात को सोने का मौका दो-तीन घंटे से ज्यादा नहीं मिला। सवा आठ घंटे के सफर के बाद पौने तीन बजे हमारी गाड़ी हजारीबाग-रोड़ पहुँची। वहाँ पहिले ही से मोटर लिये पुलीस के आदमी तैयार थे। कितना अन्तर था ? पिछली यात्रा में कितनी मुश्किल के बाद हमें जेल के लिए मोटर मिली थी और आज सब चीज घड़ी की सुई की तरह चल रही थी। सबेरे 5 बजे हम जेल पर पहुँचे। फाटक के भीतर घुसते वक्त अँधेरा था। फिर मुझे एक नम्बर के वार्ड की उसी बैरक में रखा गया। अली अश्रफ भी नजरबन्द थे। वह भी कम्युनिस्ट थे। लेकिन हम दोनों को एक जगह नहीं रखा गया। मंजर और अनिल तो सजा पाये हुए कैदी थे, इसलिए उन्हें तो अलग रखना ही था।

5 अप्रेल को लोला की चिट्ठी आई। उसने उसे 9 जनवरी को लिखा था। डाक्टर श्चेर्वात्स्की का पत्र कुछ और देर से मिला। उन्होंने लिखा था—"क्या हमें फिर देखने के लिए तुम यहाँ आने की सोचते हो ?" लोला की चिट्ठी से मालूम हुआ—"आचार्य श्चेर्वात्स्की चाहते हैं कि तुम यहाँ आ जाओ और तुम्हारी मदद से तिब्बती भाषा का एक व्याकरण और तिब्बती-रूसी-कोष लिखा जाय। मेरी सारी इच्छाएँ तुम्हारे साथ हैं। मैं तुम्हें अपने ईगर को दिखाना चाहती हूँ। क्या तुम्हारा लेनिनग्राद आना सम्भव है ? ईगर स्वस्थ है, इस साल की सर्दियों में वह बीमार नहीं पड़ा। वह बड़ा हो गया है, बिना सहायता के दौड़ने लगा है, और बोलता है। अब उसके 6 दाँत हैं। उसका पहिला शब्द था "पापा" (पिता), मेरे लिखने की मेज पर तुम्हारा फोटो है। ईगर जानता है, कि यह मेरा पापा है।"

अपनी 4 मार्च की चिट्ठी में उसने लिखा था, "आजकल वह बड़ा अजब-सा और दिलचस्प लड़का है। नर्स ने उसे मुर्गी और चूजों की तसवीर दिखलाकर कहा था, कि यह 'मामा' है, और यह बच्चे हैं। शाम को (घर आने पर) मैंने यह कहते हुए पुकारा—'मामा के पास आ, मामा कहाँ है।' वह तसवीर उठा लाया और उसमें मुर्गी को दिखलाकर कहने लगा, 'यह मामा है।' जब तुम ईगर को देखोगे और वह अपने छोटे-छोटे हाथों से तुम्हारी गरदन को लपेटेगा, तब तुम समझोगे, कि पुत्र पाने का कितना महान् आनन्द होता है, फिर तुम नहीं कहोगे, कि मैं उसकी तारीफ के पुल बाँधती हूँ।

"ईगर बहुत गम्भीर स्वभाव का है, लेकिन किसी-किसी वक्त वह खुशी में पागल हो जाता है, फिर उसे रोकना मुश्किल होता है। तब उसके साथ बर्त्ताव करना कठिन मालूम होता है। कभी-कभी सबेरे मुझे काम पर नहीं जाने देता। वह मेरे लहँगे (स्कर्ट) के किनारे को पकड़कर रोने लगता है। शाम को तब तक मेरी गोद में बैठा रहता है, जब तक मैं उसे चारपाई पर सुला नहीं देती हूँ। पिछले दो सालों में मैं कोई सिनेमा या नाटक देखने नहीं गई। ईगर बहुत थोड़ा बोलता है। वह सिर्फ पापा मामा नर्स बाबा (दादी) दे, खोल, एक दो, बस इतना ही बोलता है। उसे संगीत का बड़ा शौक है। रेडियो की आवाज कान में पड़ते ही वह चिल्लाना छोड़कर सुनने लगता है।"

हमारे वार्ड पर बड़ी कड़ाई थी। पहिले पहरेवाला अस्पताल, आफिस या गोदाम में चला जाता था, लेकिन अब उसे सिपाही के साथ जाना पड़ता। मेरे और अशरफ दोनों के वार्डों पर एक सिपाही खास तौर से रख दिया गया था। हम दोनों को बिल्कुल अलग इसीलिए रखा गया था, कि एक दूसरे से सम्पर्क न होने पाये, लेकिन सम्मिलित सिपाही इस काम को अच्छी तरह कर सकता था। सिपाही मुझे अच्छी तरह जानते थे। वह किसानों के बेटे थे। वह मेरे लिए किसी काम को करने में अहोभाग्य समझते थे।

यहाँ न पढ़ने के लिए पुस्तकें थीं, न बात करने के लिए कोई आदमी। सारा समय बेकार जाते देखकर मैंने सोचा, अपनी 'जीवन-यात्रा' ही लिख डालूँ। 16 अप्रेल को मैंने उसे लिखना शुरू कर दिया और 14 जून तक बीच में दो-चार दिन छोड़ बराबर लिखता रहा। 1926-27 तक तो कोई अड़चन नहीं पड़ी, लेकिन आगे मैं डायरियाँ लिखता गया था, इसलिए लिखने में मन नहीं लगा। कुछ ही दिनों बाद लिखना छोड़ना पड़ा।

अब कम्युनिस्ट ज्यादा आनेवाले थे। सबको अलग-अलग वार्ड में रखना सम्भव नहीं था, इसलिए 3 मई को अशरफ भी मेरे पास आ गये। अब बोलने-चालने का आराम हो गया।

12 मई को खबर मिली, कि चेम्बरलेन की जगह चर्चिल इंग्लैंड के महामंत्री हुए। 15 मई को पढ़ा, एमरी भारत-मन्त्री बने। मैंने कहा—"खूब मिली जोड़ी, एक अन्धा एक कोढ़ी।" अब भारत के बारे में वे क्या करेंगे, इसे समझने के लिए ज्यादा मत्थापच्ची की जरूरत नहीं थी।

धीरे-धीरे विनोद, विश्वनाथ माथुर, सुनील आदि दूसरे कितने तरुण आ गये। हमारी जमात बढ़ी, और जमात के जीवन का हमें आनन्द मालूम होने लगा। गर्मी बहुत थी। रात को घर के भीतर सोने में बड़ी तकलीफ होती, यद्यपि हम लोगों को मसहरी मिली थी, इसलिए मच्छरों का भय नहीं था। बहुत लिखा-पढ़ी के बाद 4 जून से बाहर आसमान के नीचे सोने की इजाजत मिली। हम लोगों के खाना पकाने और दूसरे कामों के लिए साधारण कैदी थे। हम रोज-रोज तो उन्हें अपना खाना नहीं खिला सकते थे, लेकिन हर हफ्ते एक दावत हो जाती। दावत में मालपुआ, पुलाव या गोश्त और कितनी दूसरी चीजें बनतीं और उस दिन राजनीतिक बन्दी और वार्ड के साधारण बन्दी सभी एक साथ बैठकर खाना खाते। भंगियों के साथ खाना खाने में कुछ एतराज होता, किंतु हम लोगों में से कुछ उनके साथ बैठ जाते थे।

14 जून को सुनील ने बंगाल में पुलीस किस तरह राजनीतिक तरुणों की यातना करती थी, इसकी बात सुनाई। सुनने से ही रोंगटे खड़े हो जाते। उँगलियों में सुई चुभाई जाती। तीस-तीस वोल्ट ताकत की बिजली बदन में लगा दी जाती। हाथों पर चारपाई के पावे रखकर आदमी उस पर बैठ जाते। लात-घूसा-थप्पड़ तो कोई ठिकाना नहीं और गालियाँ गन्दी से गन्दी। आश्चर्य होता था, कि क्या यह किसी सभ्य राज की बात हो रही है।

इधर सुपरिन्टेन्डेन्ट के बर्ताव से तंग आकर हमने उनका बायकाट कर दिया था। जब वह आते तो कोई उनसे न बोलता न चारपाई से उठता। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने डिप्टी-कमिश्नर से शिकायत की। हम लोगों ने भी उनके अभद्र बर्ताव के बारे में लिखकर भेज दिया। जाँच करने के लिए डिप्टी-कमिश्नर आये। उन्होंने मुझे पहचान लिया। जब वह आई. सी. एस. के लिए लन्दन गये हुए थे, तब मैं वहीं था। और उन्होंने गावर-स्ट्रीट में मुलाकात का स्मरण दिलाया। मुझे आश्चर्य हुआ कि आठ ही वर्ष में उनके सारे बाल सफेद कैसे हो गए। खैर, जाँच से हमें क्या आशा हो सकती थी ? जो हमें दुश्मन समझता हो, वही न्यायाधीश बन जाय, तो न्याय की क्या

आशा हो सकती है ?

24 जून को पता लगा, कि फ्रांस ने हिटलर के सामने हथियार रख दिया। यद्यपि हम ब्रिटिश- साम्राज्यवाद के सख्त विरोधी थे, लेकिन जर्मनी की अन्तिम विजय को कभी वांछनीय नहीं समझते थे।

मैंने 1923-25 के हजारीबाग जेल को देखा था। उस वक्त जेल में चीजों की लूट मची हुई थी। अब भी वहीं देख रहा था। बड़े जमादार थे फौज के आदमी सीधे-सादे, लेकिन समय पड़ने पर कड़े भी। एक दिन देखा कि सारे कटहल टूटकर चले गये। मैंने कहा—"जमादार साहेब ! कुछ फलों को रखा होता।" जवाब मिला—"क्या रखता, सब तो तोड़कर बँगले पर चले जाते हैं, और कहाँ-कहाँ सौगात भेजी जाती है। मैंने सोचा था कि एक दिन कैदियों को खूब तरकारी खिला दें।" आम, कटहल, साग, भाजी, मांस, दूध, दही सभी चीजों के लिए यही बात थी। नीचे से ऊपर तक सारा जेल-विभाग एक ही रंग में रँगा हुआ था। मैंने 'जीवन-यात्रा' के काम को तो एक हद तक पहुँचाकर छोड़ दिया। साथी आ गये थे, इसलिए कभी बेडमिंटन भी खेलता, कैरमं में माथुर और रतन की तरह जादू की अँगुली तो नहीं रखता था, लेकिन मध्यम दर्जे का खिलाड़ी था। शाम के खाने के बाद ताश में भी शामिल हो जाता, लेकिन ब्रिज से सख्त घृणा थी। वैसे जितने ज्यादा से ज्यादा ताश के खेल हो सकते थे, मैं उनको सीखता था।

सोवियत ने फिनलैंड की तरफ अपने को मजबूत कर लिया था। बाल्तिक-तट के तीनों राज्य—एस्तोनियाँ, लत्विया, लिथुवानियाँ— सोवियत संघ में शामिल हो चुके थे। पोलैंड और रूमानियाँ के दबाये हुए अपने हिस्से को भी सोवियत ने लौटा लिया था। इस तरह पच्छिम में सोवियत ने अपनी स्थिति को काफी मजबूत कर लिया था। लेकिन जापान अपने को तीसमार खाँ समझता था। 11 जुलाई के अखबार में पढ़ा था, कि मंचूरिया की सीमा पर जापानियों ने सोयियत से छेड़-छाड़ शुरू की। अगले दिन खबर मिली, कि निर्बल की बहू समझकर जापान वाह्य-मंगोलिया के भीतर घुस गया। नोमनहान में मंगोलों ने तीर नहीं, मोटर और टैंक की मदद से जापान का मुकाबिला किया। जापान बुरी तरह पिटा और उसे सुलह करने के लिए नाक रगड़नी पड़ी।

19 जुलाई को पता लगा, कि इंग्लैंड पर हवाई हमले की प्रचंडता के कारण धनी लोग अपने बच्चों को देश से बाहर भेज रहे हैं। एक मजदूर सदस्य ने पार्लमिंट में कहा—"सरकार को रोकना चाहिए, जिसमें कि धनी लोग अपने बच्चों को बाहर न भेजें।" उसका यह कहना गलत था—इंग्लैंड धनियों के लिए है, मजूर भी धनियों के लिए है, यही भगवान की व्यवस्था है। उसके खिलाफ जाना अच्छा नहीं !

मैं अब सोच रहा था, हिन्दी में एक ऐसी पुस्तक लिखूँ, जिससे साम्यवाद के समझने में आसानी हो। उसके समझने के लिए साइंस, दर्शन, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि बहुत से विषयों का काम-चलाऊ ज्ञान होना चाहिए। मैंने इसके लिए पुस्तकों को पढ़ना और नोट लेना शुरू किया।

27 जुलाई को बिहार-गवर्नर के परामर्शमन्त्री मिस्टर रसल जेल देखने के लिए आये। मैं महीनों पहिले ही बैरक छोड़कर सेल (तनहाई कोठरी) में चला आया था। यहाँ एकान्त में पढ़ने-लिखने का ज्यादा सुभीता था। और साथियों से मिलकर वह मेरे पास भी आये और पूछा कि कुछ कहना है। मैंने कहा—"साथियों ने माँगें पेश की होंगी।" उन्होंने कहा—"हाँ बहुत-सी।" मैंने कह दिया—"उनसे अधिक मैं खास तौर से कुछ नहीं कहना चाहता।"

जेल में काफी समय था। इसलिए मैं चाहता था, कि तिब्बत से लाये फोटो-चित्रों की सहायता से कुछ पुस्तकों का सम्पादन करूँ। मैंने इसके लिए बिहार रिसर्च सोसाइटी को लिखा। लेकिन उन्होंने भेजने से इनकार कर दिया। मैं अपने इस अनुसन्धान के कार्य को नहीं कर सका, इसके लिए मुझे अफसोस नहीं है, क्योंकि मैंने इस 29 महीने के समय में जिन छै पुस्तकों और आठ नाटकों को लिखा, उनके कारण मैं उनके समय को निरर्थक गया नहीं मानता; लेकिन इसका जरूर अफसोस हुआ, कि सरकार ने मेरे शुद्ध अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों के लिए भी सुभीता नहीं दिया। अक्तूबर में लोला का पहिली जुलाई का लिखा पत्र मिला। इलाहाबाद में गिरफ्तारी के बाद मैंने जो पत्र भेजा था, वह उसे मिल गया था। उसने लिखा—"यह बहुत चिन्ताजनक बात है, तुम फिर जेल में चले गये। मैं डर रही हूँ, कि यह तुम्हारे स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाएगा।" उसने किसी

तरह ढूँढ़-ढाँढ़कर 'अति प्राणप्रिय' कहकर मुझे संस्कृत में सम्बोधित किया था। डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की ने अपने ग्यारह जुलाई के पत्र में लिखा था—"मेरे अति प्रिय राहुल (My dearest Rahul'), आखिर मैंने तुम्हारी 'सोवियत् भूमि' देखी। मुझे बड़ी खुशी हुई। मैंने निहायत दिलचस्पी से उसे पढ़ा। तुम्हारी किताब बहुत योग्यता के साथ लिखी गई है। बहुत अच्छा होगा, यदि रूसी में अनुवाद कर दिया जाय।"

19 नवम्बर को पता लगा कि बिहार के भूतपूर्व मन्त्री लोग सत्याग्रह करने जा रहे हैं। जेल में नये तरह से इन्तिजाम होने लगा। सरदार अर्जुनसिंह जेलर बनकर आये। सरदार अर्जुनसिंह छपरा से ही मेरे परिचित थे। कुछ दिनों बाद कांग्रेसी नेता जेल में आने लगे, लेकिन उन्हें हमसे अलग रखा गया। दिसम्बर में मुझे मलेरिया बुखार ने पकड़ा, जो कभी छोड़ देता, और फिर आ जाता था। कुछ-कुछ सुनगुन होने लगी थी, कि हम लोगों को देवली में भेजा जायेगा। 23 दिसम्बर को जेल से हमें खबर दी गई कि 27 राजबन्दियों में ग्यारह मोतिहारी में भेजे जायेंगे। हम देवली कैम्प की तैयारी के बारे में अखबारों में पढ़ चुके थे और यह भी कि वहाँ कुछ लोग जा चुके हैं; इसलिए विश्वास नहीं था कि हमें मोतिहारी ले जाया जायगा। पहिले यद्यपि ग्यारह ही आदमियों के जाने की खबर दी गई, लेकिन चलते वक्त धनराज बाबू को और समेट लिया गया—जेलवाले उनसे बहुत परेशान रहा करते थे।

2. देवली कैम्प में (1941 ई.)

24 दिसम्बर के 1 बजे के बाद हम लागों ने अपने साथियों से विदाई ली। 12 आदमियों में कुछ के नाम थे—सुनील मुकर्जी, अली अशरफ, किशोरी प्रसन्नसिंह, विश्वनाथ माथुर। हमारे साथ एक थानेदार, एक हवलदार और आठ हथियारबन्द सिपाही थे। 9 महीने बाद हम जेल की चहारदीवारी से बाहर निकले थे, इसलिए लारी पर चलते वक्त विस्तृत भूमि, नगर और गाँवों के घर, स्त्री-बच्चे देखने में नई चीज-से मालूम होते थे। हजारीबाग रोड आकर 8 बजे रात को हमें तूफान-एक्सप्रेस मिला। आसनसोल से ड्यौढ़े का एक खाली डिब्बा हमारे लिए रिजर्व होकर आया था। चढ़ने की तो बात ही अलग, कोई मुसाफिर हमारे डिब्बे के पास आने नहीं पाता था। सोने के लिए काफी जगह थी। कानपुर में 8 बजे सबेरे पहुँचे। यहीं हमने जलपान किया और 3 बजे के बाद देहली पहुँचे। वहाँ स्टेशन पर खुफिया के कितने ही आदमी पहुँचे हुए थे। कोटा की गाड़ी 7 बजे बाद मिलने वाली थी। वहाँ अँधेरा रहते ही हम पहुँच गये थे, और इंस्पेक्टर नेत्रपालसिंह हमारे लिए लॉरी लेकर खड़े थे। चाय पीकर 9 बजे हम रवाना हुए। कोटा शहर से बाहर ही बाहर निकाला गया। किला बगल में छूट गया। फिर बूँदी शहर आया। पहाड़ों पर उसके पुराने महल देखे। सड़क पहाड़ों के बीच से थी। आगे गाँव बहुत दूर-दूर मिलने लगे। कहीं-कहीं पथरीली जमीन थी। भूमि के देखने से मालूम होता था, कि बरसात के पानी को बड़ी आसानी से बड़े-बड़े सरोवरों में जमा किया जा सकता है। फिर इस उजाड़ भूमि को लहलहाते खेतों और हरे-भरे बागों के रूप में परिणत किया जा सकता है। जहाँ-तहाँ ऊख पेलने के पत्थर के कोल्हू पड़े हुए थे, वैसे ही जैसे मैंने पन्दहा, कनैला में देखे थे। देवली कसबे से निकलकर 12 बजे हम कैम्प में पहुँचे। कैम्प काँटेदार तारों से दूर तक घिरा हुआ था। पहिले तलाशीखाने में ले गये। हम लोगों के पास काफी सामान था, और सबको अपने ही मोटर से उतारकर रखना पड़ा। तलाशी ली गई। सारी किताबें और कापियाँ उन्होंने रख लीं। मेरे पास कोकटी और खादी के कुछ हाफपेंट, हाफशर्ट थे, साथियों में से किसी-किसी के पास हैट भी थे, सबको रखवा लिया गया। फिर सामान हमें खुद लॉरी पर लादना पड़ा और लॉरी 2 नम्बर कैम्प के फाटक पर पहुँची। कैम्प के बाहर के काँटोंवाली बाढ़ को टाटों से ढाँक दिया गया था, जिसमें कि लोग बाहर न दीख पड़ें। पहरा सारा गढ़वाली पलटन का था। कैम्प के बाहर थोड़ी-थोड़ी दूर पर कितने ही मचान बँधे हुए थे, जिन पर सिपाही बंदूक लिये पहरा देते थे। फाटक खुला, हम लोगों ने अपना सामान उतारकर भीतर किया। पहिले से ही मौजूद साथियों ने सामान ले चलने में मदद की। इस कैम्प में दो बैरकें थीं। हरेक बैरक में चार कमरे और कोनों पर चार कोठरियाँ थीं। बैरक साफ-सुथरी थीं। नीचे पत्थर का फर्श, बाहर बरांडा, दीवारें पत्थर की, किन्तु छत टीन की थी। गर्मी में कितनी तकलीफ होगी, इसका थोड़ा-थोड़ा अनुमान होने

लगा। हम कई कमरे में बँट गए। मुझे उस कमरे में जगह मिली, जिसमें घाटे, अय्यंगर, धन्वंतरि और बाबा करमसिंह धूत थे। हम नई जगह आए थे, किन्तु जहाँ अपने जैसे विचारोंवाले क्रांतिकारी बंधु मौजूद हों, वहाँ आदमी अजनबी नहीं बनता। हाँ, यह मालूम हुआ कि जहाँ बिहार में हम लोग पहिले दर्जे के कैदी थे, वहाँ अब दूसरे दर्जे के हैं, अब हमें सिर्फ 6 आना रोज खाने को मिलेगा, सप्ताह में सिर्फ एक चिट्ठी पा सकेंगे और दो लिख सकेंगे।

हमारे कैम्प (नंबर 2) में दो बैरकें थीं, जिनमें एक सौ के करीब नजरबन्द रहते थे। दो दर्जन के सिवा बाकी सभी पंजाबी और उनमें भी ज्यादा सिक्ख थे। बाबा करमसिंह धूत की तरह के दो दर्जन तो ऐसे थे, जिन्होंने बहुत वर्ष अमेरिका या रूस में बिताए थे। भोजन के लिए रसोईघर और भोजनशाला थी। टीन से छाया एक गुसुलखाना भी था। कैम्प में बिजली-बत्ती और पानी के नल का इन्तिजाम था। पाखाना भी बुरा नहीं था। कैम्प के भीतर ही वोली-बाल खेलने के दो क्षेत्र थे। पठानलोगों का भोजनालय अलग था, बाकी 90 के करीब आदमी एक भोजनालय में खाते थे। रसोई बनाने के लिए कितने ही पंजाबी कैदी रखे गये थे। पंजाबी खाना हिन्दुस्तान के भोजनों में सबसे अधिक पुष्टिदायक है और मेरे लिए तो स्वादिष्ट भी। शाम के वक्त रोज मांस बनता था, और धन्वन्तरि, घाटे जैसे कुछ ही अभागे थे, जो मांस नहीं खाते थे। दो वक्त चाय और दो वक्त भोजन मिलता था। खाने के इन्तिजाम के लिए हर हफ्ते हम लोग एक कमेटी चुनते थे। देवली कैम्प में पहरा देने का काम तो पलटन के सिपाहियों के हाथ में था, बाकी सारा इन्तिजाम खुफिया पुलिस करती थी–अस्पताल के कम्पाऊंडर तक खुफिया पुलिस के आदमी थे। इस पर भी यहाँ ज्यादातर पंजाब पुलिसवाले थे। पंजाब में ओडायर के जमाने (1919) से आज तक कोई परिवर्तन नहीं हुआ था। वहाँ अंग्रेज अफसरों की वैसी ही तानाशाही थी, और उनकी लाड़ली पुलिस जुल्म करने में सबका कान काटती थी। सबेरे 10 बजे इन्स्पेक्टर बन्तासिंह हम लोगों की हाजिरी लेने आते, और भीतरी काँटेदार घेरे के बन्द होते ही 9 बजे रात को दुबारा हाजिरी लेते। हाजिरी के वक्त हमें अपनी चारपाइयों के पास खड़ा होना पड़ता। देवली कैम्प का बादशाह था एक बूढ़ा फौजी मेजर, जो हमारे सामने ही कर्नल बन गया। उसके नीचे का एक अधगोरा मेकार्डी, बाकी सभी हिन्दुस्तानी थे।

हमारे कमरे में दस चारपाइयाँ थीं। मेरी बगल में बाबा करमसिंह की चारपाई थी। रात को हम अपनी बैरक में एक दूसरे के कमरे में जा सकते थे। लेकिन बैरक के चारों तरफ कँटीला तार घिरा हुआ था, जिसका फाटक सबेरे खुलता था, फिर अपने कैम्प की दोनों बैरकों के आदमी मिलने-जुलने के लिए स्वतन्त्र हो जाते थे। देवली कैम्प का बड़ा डाक्टर पूरा गधा था। उससे मेडिकल साइंस से क्या वास्ता ? हाँ, वह खुफिया का काम अच्छा कर सकता था और लोगों की तलाशी लेने में भी अपनी बेइज्जती नहीं समझता था। छोटा डाक्टर बड़ा भलामानुष था। मैं तो हजारीबाग में ही मलेरिया के चंगुल में फँस गया था और वह मेरे साथ यहाँ तक आया था। बल्कि कहना चाहिए वहाँ से यहाँ कुछ ज्यादा ही था। यहाँ आकर मुझे फिर बुखार आने लगा। 3 जनवरी को मुझे अस्पताल ले गये। अस्पताल काफी दूर था। चाहे आपको 104 डिग्री का बुखार हो, यदि बेहोश न हों, तो अपनी रजाई, अपना सामान सिर पर लादकर जाना पड़ता था। बीमार अस्पताल में पहुँच जाता, लेकिन पथ्य का प्रबन्ध तीन दिन बाद होता–तीन दिन तक उसे अपने कैम्प के रसोईखाने से खाना मँगाना पड़ता। रोगी के प्राण से ज्यादा हिसाब-किताब का ख्याल जरूरी समझा जाता था। हवलदार आफिस को खबर देता। आफिस आगे से कैम्प में खर्च न भेजने की बात को दर्ज करता। फिर अस्पताल के हिसाब में लिखता, ठेकेदार को सूचित करता, और इसके साथ-साथ कितने अफसरों के दस्तखत होते, तब कहीं जाकर दूध या कोई चीज मिलती। सन्निपात या निमोनिया में खाने की कोई जरूरत नहीं, उससे थोड़ा कम की बीमारी हो, तो कैम्प की रोटी-दाल को खाना पड़ता, चाहे उससे दूसरे दिन सन्निपात ही हो जाय। डाक्टर को कोई पर्वाह नहीं। अस्पताल को लोग काला पानी कहते थे। बीमार बीमारी से भी पहिले वहाँ से भागना चाहता था। छोटा डाक्टर कभी-कभी आता था, लेकिन जान पड़ता था, कि उसे हिदायत है कि हम जानवरों पर कम से कम खर्च किया जाय। मैं मुश्किल से वहाँ दो रात रहा और तीसरी रात बैरक में लौट आया। देवली कैम्प

में चार-पाँच पार्टियों के राजबन्दी थे, लेकिन सबसे ज्यादा कम्युनिस्ट थे। वहाँ थे, मदरास के घाटे और अय्यंगर, बम्बई के डाँगे, रणदिवे, मिरजकर, बाटलीवाला, पंजाब के सोहनसिंह जोश, बाबा सोहन सिंह भकना, बाबा बसाखा सिंह बेदी, सागर, धन्वन्तरि, युक्तप्रान्त के डाक्अर अहमद, भारद्वाज, अजयघोष, डाक्टर अशरफ, हर्षदेव, युसुफ, महमूदुज्जफर, और बिहार के एक दर्जन हम लोग। इनके अलावा कुछ सीमाप्रान्त के पठान भी थे। लेकिन बेचारों को राजनीति से कोई मतलब नहीं था। पंजाब पुलिस ने एक पेशावरी डकैत तक को भी रिश्वत लेकर राजबन्दी बनाकर भेज दिया था।

जैसा कि मैंने पहिले कहा, हमारे कैम्प में सबसे अधिक संख्या पंजाबी भाइयों की थी। हम लोगों का दिन बहुत अच्छी तरह कटता था। जाते ही मुझे साथियों ने भारतीय दर्शन पर लेक्चर देने के लिए कहा। महीने भर से अधिक मैं रोज डेढ़ घंटे भारतीय दर्शन पर लेक्चर देता रहा। जहाँ श्रोताओं के ज्ञान का एक ही तल न हो और जहाँ सबकी दिलचस्पी उस विषय में न हो, वहाँ दर्शन जैसे रूखे विषय पर लेक्चर देना आसान काम नहीं है। लेकिन मैंने किसी तरह अपने काम को निभाया और श्रोताओं की संख्या को देखकर मालूम हुआ, कि मैं असफल नहीं रहा। इन लेक्चरों ने मुझे, 'दर्शन-दिग्दर्शन' लिखने में बड़ी सहायता की।

संघर्ष का सूत्रपात–बिहार ने अपने सभी राजबंदियों को दूसरे दर्जे का बना के भेजा था, और युक्तप्रान्त की सरकार ने सबको पहिले दर्जे का। पंजाब ने बहुत थोड़े-से ऐसेम्बली मेम्बरों और दूसरे लोगों को पहिले दर्जे में भेजा था, नहीं तो सभी बाकी दूसरे दर्जे के थे, पहिले दर्जे के राजबन्दी जिस कैम्प में रहते थे, उसे पहला नंबर कैम्प कहते थे। हम लोगों के देवली छोड़ने से थोड़ा पहिले एक तीसरा नंबर कैम्प भी खुल गया था। पहिले कैम्प में कुछ लोग पढ़-लिख रहे थे, सुपरिन्टेन्डेन्ट वहाँ गया, लोग खड़े नहीं हुए, इस पर साहब आग-बगूला हो गया। वैसे पहिले से भी राजबंदियों को अस्पताल, खाने की चीज इत्यादि की तकलीफें थीं, और झगड़े की पूरी संभावना थी। लेकिन अब तो मेजर साहब भी व्यक्तिगत तौर से रुष्ट हो गए। मेजर ने 17 ता. को हुक्म टाँग दिया, कि मीटिंग नहीं करनी होगी, कवायद बंद करना होगा। 25 जनवरी को अजमेर का चीफ कमिश्नर आया–हम लोगों का सबसे बड़ा अफसर वही था। लाइफ-ब्वाय साबुन के बारे में हमने कहा कि हमें चाहे मात्रा में कम हो, किन्तु नहाने के लिए कोई अच्छा साबुन दिया जाय। उसने जवाब दिया, हम भी यही साबुन लगाते हैं। बिहार से हुक्म आया कि हमारे कपड़ों को लौटा दो और यहाँ हमें अभी कपड़ा ही नहीं मिला था। कपड़ों को लौटाकर हम नंगे रहते !! अस्पताल के जुल्म और बेपरवाही का तो कोई ठिकाना ही नहीं। मुझे अक्सर बुखार आ जाया करता था और महीने में दो-तीन बार अस्पताल जाना पड़ता। 27 मार्च को गया तो डाक्टर ने कहा–इंजेक्शन देंगे। और दूध का इंजेक्शन दिया जाने लगा। 5 अप्रेल को बुखार बहुत तेज हुआ। डाक्टर को खबर दी गई, लेकिन किसको पर्वाह ? सूर्यास्त के समय बुखार 103 डिग्री से ज्यादा हो गया। सिपाही ने कितनी ही बार खबर दी, किन्तु डाक्टर नहीं आए। अब बेहोशी आने लगी। डाक्टर को खबर देना भी मुश्किल काम था, क्योंकि सिपाहियों को हमसे बात करने की सख्त मनाही थी, दो-चार सिपाहियों के कैद हो जाने पर वह और डर गये थे। साढ़े 9 बजे बन्तासिंह हाजिरी लेने आए, तो उन्हें साथियों ने खूब फटकारा। बन्तासिंह ने जाकर डाक्टर को भेजा। बड़ा डाक्टर तब भी नहीं आया, छोटा डाक्टर खुद बीमार था, किन्तु वह उठकर आया। दूसरे दिन (6 अप्रेल) मुझे अस्प्ताल ले गये। अस्पताल में पहिले ही से आदमी भरे हुए थे। उस दिन मैं वहाँ रहा। 7 अप्रेल को बड़ा डाक्टर सबेरे आया और उसने मुझे अस्पताल से जाने का हुकुम सुनाया। मैंने दोपहर को ही जाना चाहा, किन्तु साथ जानेवाला कोई सिपाही नहीं मिला। डेढ़ बजे से ज्वर चढ़ने लगा, शरीर में ठंडक और सिहरन होने लगी। बुखार 4 बजे तक 104 डिग्री पहुँचा। कम्पाउंडर को कहने पर वह आने को तैयार नहीं हुआ और कोई लाल-सा पानी भेज दिया। शिर फटा जा रहा था, उसने एक पुड़िया भेज दी। यह था एक सभ्य सरकार का अस्पताली प्रबन्ध। मध्यकालीन बर्बरता से यहाँ क्या कमी थी ? दिखलाने के लिए अस्पताल और डाक्टर जरूर थे, और खुफिया के आदमियों को कम्पाउंडर बनाकर रख दिया गया था। रोगियों को भोजन देते वक्त पूरा ख्याल रखा जाता, कि दूसरे दर्जे वाले बंदियों को 6 आने और पहिले दर्जेवालों को 12 आने से अधिक का खाना न दिया जाय। 4 बजे कम्पाउंडर आया। ज्वर

तेज था। आँखें मुँदी जा रही थीं, शिर फटा जा रहा था। अब अस्पतालवालों को होश आया। डाक्टर ने आकर कहा, इसका मुझे पता नहीं था। हाँ, ज्वर गिराने का उपाय किया जाने लगा। पहिले ठंडे पानी की पट्टियाँ शिर पर रखी गईं, फिर शिर भी भिगोया गया। बाल्टी में पाइप डालकर पानी ऊड़ेला जाने लगा। बहुत देर बाद बर्फ की थैली आई। तब तक अँधेरा हो चला था, और शायद ज्वर भी उतरने लगा था। उस दिन इतना जोर का बुखार आ चुका था, किंतु एक ही दिन अस्पताल में रखकर डाक्टर ने जाने की छुट्टी दे दी। यह हालत थी। हमारी जानों की सरकार को जब कोई पर्वाह नहीं थी, तो इन खुफियावालों को क्या होती ? अस्पताल का कैसा प्रबन्ध था, यह इस उदाहरण से मालूम हो जायगा।

अधिकारियों को मालूम हो गया था, कि हम ज्यादा दिनों तक इन अत्याचारों को बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। हमने अपनी माँगें भी लिख भेजी थीं। 14 अप्रेल को पता लगा कि मेजर हमारी माँगों के बारे में बातचीत करने के लिए दिल्ली गया हुआ है। यह भी अफवाह उड़ रही थी, कि हम लोग अपने प्रान्तों में भेज दिए जायेंगे, और इस कैम्प में इतालियन युद्ध-बंदी आएँगे। देवली ऐसी गरम और मलेरिया से भरी जगह में अंग्रेज शत्रुबन्दियों को कैसे ला सकते थे ? यदि लाते तो अंग्रेज बन्दियों के साथ क्या इताली में वैसा ही बर्ताव नहीं किया जाता ? लेकिन प्रान्त भेजने आदि की सब बात गलत निकली, जब कि 17 अप्रेल को डाँगे, रणदिवे, और बाटलीवाला को कैम्प से निकालकर किसी अज्ञात जगह में भेज दिया गया। 26 अप्रेल को राजेन्द्रसिंह और बाबा भगवानसिंह की हालत बड़ी खराब हो गई। राजेन्द्रसिंह को 105 डिग्री ज्वर था, पाखाने से खून आने लगा था, 20 कै हुईं। वह बेहोश हो गये और हालत अबतर थी। 12 बजे डाक्टर को खबर दी गई। बुलाने की कितनी कोशिश की गई, लेकिन वह तीन बजे से पहिले नहीं आया—राजबन्दियों की जान की उसे पर्वाह नहीं थी। वैसे तो दुनिया में सबसे नीच हृदय ये अंग्रेजी सरकार के खुफिया-अफसर कैम्प के प्रबन्धक थे, लेकिन बड़ा डाक्टर तो बिल्कुल ही पत्थर था। हम लोग कितने दिनों तक बर्दाश्त करते। जेलवालों को भी मालूम हो गया था। उन्होंने धमकी देनी शुरू की—जो भूख हड़ताल की, तो मुकदमा चलाया जायगा। कैसी बच्चों की-सी बात थी। बिना मुकदमे के ही हम लोग अनिश्चित काल के लिए बन्द थे—यदि उसमें दो एक साल निश्चित हो जाते, तो कौन-सी आफत आ जाती ? हमारे जेल की सीमा कहाँ थी, कि सजा देकर उसे दो कदम और आगे बढ़ाया जाता। हाँ, सजा होने पर एक फायदा तुरन्त होता, कि हमें देवली से निकालकर किसी दूसरी जगह रखना पड़ता। इस वक्त देवली का टेम्परेचर 119 डिग्री रहता था।

27 अप्रेल को हमारी माँगों के बारे में जाँच करने के लिए चीफ-कमिश्नर (अजमेर) आया। दोनों कैम्पों के प्रतिनिधि बुलाए गये। उसने कहा कि आपकी माँगों के बारे में सरकार विचार कर रही है, भूख-हड़ताल न करें। जूते के बारे में पूछने पर बतलाया, इसे तो मदरास हाईकोट के जज भी गैरजरूरी समझते हैं।

यद्यपि हमारी बैरकों की छतवाली टीन के ऊपर खपड़ैल भी पड़ी थी। लेकिन देवली में 119 और 120 डिग्री गर्मी थी। सबेरे के दो-तीन घंटे छोड़कर सारे दिन और कुछ रात तक भट्टे से निकलती हवा की तरह की लू चलती थी। 27 अप्रेल को इसकी रोक-थाम के लिए पैसे-पैसेवाले एक-एक पंखे दिए गए, जिनमें कुछ तो उसी दिन खराब हो गये। कैम्प के किनारेवाले मचानों के सन्तरी 9 बजे के बाद सारी रात जोर से बोला करते थे—"नम्बर तिरी आलिजहेल"—जिसका मतलब था "नम्बर थिरी आल् इज वेल।" "सब अच्छा है" की जगह "सब नरक है" कहना देवली-कैम्प की वस्तुस्थिति को बतलाता था, इसमें संदेह नहीं। मैंने डायरी में लिखा था—"कमरे के भीतर तो रात-दिन दोजख की आग धक-धक कर रही है।" घर क़े भीतर तो सबेरे भी आँच निकलती थी। अगले दिन मैंने स्वप्न देखा—चूने का भट्टा तपाकर खाली कर दिया गया, और हम उसी के भीतर बैठे हैं। फिर देखा कि मैं सेवारवाली नदी में तैर रहा हूँ।

30 अप्रेल को कैम्प के तख्ते पर नोटिस टँग गया, कि हमें दो की जगह चार कुर्ते, चार पाजामे या धोतियाँ, दो कच्छे, दो बनियान और एक जोड़ा देशी जूता साल में मिला करेगा। ओढ़ने के लिए दो-दो चादरें भी मिलेंगी। और माँगें तो करीब-करीब पूरी हो गईं, लेकिन भोजन तथा पहिला-दूसरा दर्जा हटाकर सिर्फ एक दर्जा रखने की माँग के बारे में कुछ नहीं हुआ। हम लोगों ने मिलकर तै किया कि अगले सप्ताह भूख-हड़ताल

की जाय।

जेल के राजनीतिक बन्दी कांग्रेस-सरकार या गोरी सरकार दोनों से राजबन्दियों में वर्गभेद—पहिला, दूसरा, तीसरा दर्जा—उठा देने की माँग बराबर करते रहे। और कितनी ही माँगे मंजूर हुईं, लेकिन वर्गभेद उठाने की बात सरकार ने कभी नहीं मानी। मैंने किसान राजबन्दियों में वर्गभेद हटाने की माँग पेश की थी, लेकिन कांग्रेसी सरकार उसमें टस से मस नहीं हुई। ऊपर से कहा जाता, यह खर्चे का सवाल है, या साधारण या गरीब घरों से आए बन्दियों को खाने-पीने के इतने आराम के साथ रखना उन्हें जेल आने के लिए निमन्त्रण देना है। लेकिन कोई भी मानवपुत्र अपनी स्वतन्त्रता को इतनी सस्ती कब बेच सकता है ? असल बात यह है, कि सरकारें स्वयं वर्गभेद पर आधारित हैं, वह अपने राज के किसी कोने में भी खान-पान की समानता स्थापित होने देना नहीं चाहती। 6 मई को नोटिस लगा कि दूसरे दर्जे के बन्दियों को 6 आने की जगह 9 आना खाने को मिला करेगा। अभी भी हमारी कितनी ही शिकायतें थीं, लेकिन हमने कुछ दिनों तक भूख-हड़ताल को स्थगित रखा। 13 तारीख को पता लगा, कि मेजर हमारी माँगों के बारे में बातचीत करने के लिए चीफ-कमिश्नर के पास आबू गया है। 16 मई को मालूम हुआ कि रविवार छोड़कर बाकी दिन दोनों कैम्पों के राजबन्दी सबेरे एक घंटे (6 से 7 बजे) और शाम को डेढ़ घंटे (साढ़े पाँच बजे से 7 बजे) तक मिल सकते हैं।

28 मई को अस्पताल में युक्तप्रान्त के राजबन्दी बेनीमाधव राय के साथ एक दूसरा राजबन्दी अस्पताल गया। अस्पताल में नर्स का काम करनेवाले आदमी ने बेनीमाधव के साथी को अपमानित किया। उसने भी इसका जवाब दिया, इसके लिए उसे एकान्तवास की सजा मिली। हमारे साथियों ने इसका विरोध किया। फिर पता लगा कि अधिकारी उसे पागल बनाकर अलग रखना चाहते हैं। अस्पताल के बीमार साथियों ने जब विरोध किया, तो पचास-साठ सैनिकों को लेकर मेकार्डी वहाँ पहुँचा। वह तरुण को जबर्दस्ती ले जाना चाहता था। इस पर अस्पताल के बीमार साथी राय को घेरकर बैठ गये। जबर्दस्ती की जाती, तो जरूर एकाध की जान जाती। खैर, मेकार्डी वहाँ से हट गया। सिविलसर्जन को अजमेर तार दिया गया, वह आया। वह राय को अजमेर ले गया। राजेन्द्र की नब्ज देखी। सुनील और एक दूसरा साथी सख्त बीमार थे, लेकिन उसने उनको देखा तक नहीं। हमारी कैम्प-कमेटी ने उससे बातचीत करनी चाही, किन्तु उसने बात भी नहीं की। अन्त में 30 मई को साढ़े 9 बजे रात हमने 40 घंटे की मियाद देकर अधिकारियों को अल्टीमेटम दे दिया—यदि बड़ा डाक्टर नहीं हटाया गया और खतरनाक बीमारीवालों को अजमेर अस्पताल नहीं भेजा गया, तो हम लोग भूख हड़ताल करेंगे 31 मई को पता लगा, कि बड़े डाक्टर को बदल देने के लिए तार से हुकुम आया है, यह भी मालूम हुआ, कि मेजर सिविलसर्जन को लेकर रोगियों को देखने आ रहा है। पहिली जून को 8 बजे रात को हमारे कैम्प के नेता घाटे और धन्वन्तरि को बन्तासिंह बुला ले गये। सिविलसर्जन आया हुआ था। सिविलसर्जन ने कहा कि सुनील, राजेन्द्रसिंह आदि खतरनाक बीमारीवालों को कल यहाँ से अजमेर ले जाया जायगा, इसके लिए अस्पताली मोटर भी आ गई है, बड़ा डाक्टर जा रहा है, भारत सरकार को तार दे दिया गया, कि किसी दूसरे डाक्टर को भेजें। जब तक वह नहीं आता, तब तक प्रति सप्ताह मैं (सिविलसर्जन) मरीजों को देखने यहाँ आऊँगा। यह भी पता लगा कि साथी बेनीमाधव राय को पागल नहीं करार दिया गया, वह अजमेर से लौट आए हैं। उन्होंने यह भी कहा कि हम इस शर्त पर बेनीमाधव राय को दिखला सकते हैं, कि आप लोग अपनी भूख-हड़ताल छोड़ दें। रात को हमने मिलकर आपस में विचार किया, और तै किया कि हमारी दोनों माँगें मान ली गई हैं, इसलिए भूख-हड़ताल करने की जरूरत नहीं, लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी के बाहरवाले राजबन्दियों ने कुछ माँगें और भी जोड़ दीं, और भूख-हड़ताल जारी रखी, किंतु कुछ दिनों बाद अपने ही मन से उसे छोड़ देना पड़ा। कम्युनिस्ट पार्टीवाले एक अनुशासनबद्ध सेना की तरह संगठित थे। कोई निर्णय करना होता, तो सब मिलकर उस पर पूरा विचार करते, गर्म-गर्म बहस होती, लेकिन जब एक मर्तबे कोई निर्णय हो जाता, तो कोई उस पर से टस से मस नहीं होता था। उनका आगे बढ़ना भी एक साथ होता था और पीछे लौटना भी एक साथ। देवली-कैम्प में कम्युनिस्टों की संख्या दो तिहाई थी, सिर्फ इसी कारण नहीं, बल्कि उनकी अनुशासनबद्धता के कारण भी अधिकारी कम्युनिस्टों की बातों की जल्दी अवहेलना नहीं कर सकते थे। उनमें

कोई नेतापन का भूखा नहीं था। जिसको कैम्प अधिकाररियों से बात करने का काम दे दिया जाता, वही उनसे बात करता। लेकिन दूसरी पार्टियों के बारे में यही बात नहीं थी, वहाँ हरेक आदमी नेता बनना चाहता था।

सामाजिक जीवन–जैसा कि मैंने पहिले कहा, रसोई-पानी का इन्तिजाम करने के लिए हर हफ्ते हमारी रसोई-कमेटी चुनी जाती थी। खाना-खाने की चीजें ठेकेदार से खरीदना, पैसों का हिसाब रखना, खाना बनवा के खिलाना, आदि काम कमेटी के जिम्मे था। उस वक्त देवली में दूध रुपये का 8 सेर और मांस 4 सेर बिकता था। आटा आदि भी हजारीबाग से सस्ता था, किन्तु साग-तरकारी महँगी और दुर्लभ थी, उसे अजमेर से मँगाना पड़ता था। हमने अपने कैम्प में सरसों का साग बो रखा था, और उससे काफी साग रोज निकल आता था। दूसरी जो चीजें अपने पैसे से मँगानी होती थीं, उनके लिए हफ्ते में एक दिन आर्डर देना पड़ता था, और ठेकेदार का आदमी सोमवार के सोमवार दे जाता था। हजारीबाग में हमें कपड़ा धुलाने की बड़ी तकलीफ थी, लेकिन यहाँ बाहर का धोबी कपड़े ले जाता था और उसमें कुछ दिक्कत नहीं होती थी। हजारीबाग में हमें रोज 12 सिगरेट मिलते थे। मैंने वहाँ थोड़ा-थोड़ा सिगरेट पीना सीखा था। यहाँ आकर देखा कि आय्यंगर ने एक फर्शी और शेरगुल ने एक पठानी हुक्का रखा है। मैं हुक्का-क्लब का भी मेम्बर बन गया था, किन्तु मेरी सरगरमी ज्यादा दिन तक नहीं रही। मैंने अपने दोस्तों से बनारस, कलकत्ता और कहाँ-कहाँ से अच्छा तम्बाकू मँगाए थे; लेकिन, तीन-चार महीने बाद हुक्के से भी तबियत ऊब गई, और मैंने उसे छोड़ दिया। आरम्भिक 5, 6 महीनों में उस बड़ी जमात के भीतर लिखने के लिए एकाग्रता नहीं मिलती थी, इसलिए गप-शप, हँसी-मजाक, नाटक-प्रहसन में बहुत-सा समय जाता था। हमारे साथी बराबर रोज 3, 4 घण्टा क्लास लेते थे, जिसमें राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद तथा पार्टी-संबंधी विषयों पर व्याख्यान होते थे। गर्मियों के बाद लोग पढ़ने में बहुत समय देने लगे।

कमेटियों के बारे में कितने ही कार्टून भी निकले। कार्टूनों के लिए विचार मैं देता, और खींचता था कोई और। रसोईघर की दीवार पर जब कार्टून लग जाता, तो लोग उसे बड़े चाव से देखते थे। एक कमेटी में बाबा शेरसिंह और ठाकुर बरियामसिंह जैसे तीन-तीन मनवाले मोटे-मोटे साथी आ गए, और उसी में दुबले-पतले अशरफ भी थे। कार्टून में दो मोटी तोंदवाले बैठा दिए गए, और उनके सामने थाल में खूब भर के खाना रख दिया गया। अशरफ को तीन वर्ष का बच्चा बनाकर नंगा ही सामने बैठा दिया गया। भाव यह दिखलाया गया था, कि बच्चे बेचारे को रोटी का टुकड़ा भी नहीं मिल रहा है, वह रो रहा है और दो भोजनभट्ट अपने काम में लगे हुए हैं। बाबा शेरसिंह मौजी जीव थे। उन्होंने 1914-15 वाले लाहौर राजविद्रोह में आजन्म कालापानी की सजा पाई थी, और जिन्दगी का बहुत हिस्सा उन्होंने कालापानी और दूसरी जगहों में काटा था। वह कार्टून देखकर बहुत हँसे। ठाकुर बरियामसिंह को वह मीठा-कड़वा लगा, लेकिन वह मेरे घनिष्ट मित्र थे। वह मुझसे शिकायत करने लगे। मैंने कहा–ठाकुर साहब, आप अभी नौजवान हैं, वजन कम कीजिये और कनस्तर का घी छोड़िए। ठाकुर साहब के पास हर महीने-दो महीने में एक पीपा कनस्तर घी घर से चला आता था। उन्होंने कहा–अच्छा मैं घी छोड़ देता हूँ। मैंने कैम्प-भर में सूचना दे दी, कि ठाकुर बरियामसिंह ने घी छोड़ दिया। ठाकुर साहब ने बचे घी को भी शायद पकवान बनाकर खिला दिया। लेकिन ठाकुर साहब की प्रतिज्ञा ज्यादा दिन तक नहीं चली। कहने लगे–लड़कपन से घी खाता आया हूँ, उसके बिना खाना फीका-फीका लगता है।

जब हम लोगों के लिए भोजन के 6 आने की जगह 9 आना मिलने लगा, तब सलाह होने लगी कि रसोई के लिए कितने पैसे दिये जायें और कितने दूध-दाध के लिए। पंजाबी के यहाँ दूध-दाध का ही पलड़ा हमेशा भारी होता है। निश्चय हुआ कि पाँच आना दूध-दाध के लिए दिया जाय, और तीन आना रसोईखाने के लिए। हमने बहुतेरा जोर लगाया कि रसोईखाने में एक-दो आने और बढ़ा दिये जायें, लेकिन वहाँ कौन सुननेवाला था ? था भी ठीक, हमारे पंजाबी साथी लोटे से दूध पीनेवाले नहीं थे, वह बाल्टियों से दूध पिया करते थे। पाँच आने में सिर्फ ढाई सेर दूध मिलता था, उससे उनका क्या बनता ? मैं कहा करता–पंजाबी के सामने बाल्टी में चूना घोलकर भी रख दिया जाय, तो वह एक बार मुँह लगाए बिना नहीं रहेगा। अपनी

बात यह थी, कि मुझे पाँच आना भी खर्च करना मुश्किल होता। खाली दूध का एक प्याला भी पीना मेरे लिए मुश्किल है। घी से भी मैं भरसक बचना चाहता, हाँ, मांस में मेरी दिलचस्पी जरूर रहती, और वह तो रसोईखाने में रोज मिलता ही था।

सब लोगों ने मिलकर अपनी-अपनी क्लब खोली थी। हरनामसिंह 'चमक', मैं और मक्खनसिंह तरसिक्का ने फल-क्लब बनाई। हम लोग खाने के लिए मौसमी फल मँगाया करते। तरसिक्का अक्सर बीमार हो जाया करता, और उसे अस्पताल जाना पड़ता। मैंने उसका नाम बीमार रख दिया था—पंजाबी उच्चारण बमार। धीरे-धीरे सारे कैम्प के लोगों ने उसे 'बमार' कहना शुरू किया। पहिले तो उसे बुरा नहीं लगा, लेकिन पीछे जब सब जगह लोग 'बमार-बमार' कहने लगे, तो उसे बुरा लगने लगा। उसने मुझसे कहा—अब मुझे बमार न कहा करें। मैंने कहा—एवमस्तु। मैंने दूसरे साथियों को भी कहा कि अब अपने लोग तरसिक्का को 'बमार' न कहें, लेकिन वहाँ कौन माननेवाला था ? वह कहने लगे—आप भले ही 'बमार' न कहें, लेकिन हम लोग तो 'बमार' कहेंगे। सबसे बड़ी क्लब थी, पंडित रामकिशन, सुनील, माथुर, अशरफ आदि की। पीछे मैंने इस क्लब का नाम रख दिया था 'कामचोर क्लब', जिस नाम से उसकी बड़ी ख्याति हुई। पंडित रामकिशन और शेहरगुल एक कोने की कोठरी में रहते। वहाँ हम लोग दूध जमा कर रखते थे। दरवाजा खोलकर भेड़ना तो हम हिन्दुस्तानियों की आदत नहीं है। 3 दिन तक बिल्ला आकर दूध पी जाता था। अब उन्होंने दूध रखना बन्द कर दिया। एक दिन मैंने रात को देखा कि बिल्ला कोठरी के दरवाजे पर चक्कर लगा रहा है। मैंने साथियों से कहा—पंडित रामकिशन ने पहरा देने के लिए एक बिल्ला रखा है। यार लोगों ने भी कहना शुरू किया—"पंडत ने पहरा देने के लिए बिल्ला पाला है।" पंडित रामकिशन की क्लब में चाय खूब चलती थी। लोग चाय पी-पीकर अपने बर्तनों को वहीं छोड़ देते, फिर जब 4 बजे चाय पीने का वक्त आता, तो बर्तनों के धोने की फिकर पड़ती। उसमें ज्यादा आदमी ऐसे थे, जो हाथ के काम को पसन्द नहीं करते थे। फिर 'कामचोर क्लब' नाम मुँह से निकलते ही क्लब क्यों न सारे कैम्प में मशहूर हो जाती ? बाबा करमसिंह धूत, कामरेड किशोरी प्रसन्नसिंह, और दयानन्द झा की एक क्लब थी, जिसका नाम मैंने 'छोला-बताऊँ-क्लब' रख दिया था। इस क्लब में शाम का भिगोया कच्चा छोला (चना) नियम से रोज़ सबेरे खाया जाता, बताऊँ (बैंगन) जोड़ मिलाने के लिए जोड़ दिया गया था, इस प्रकार इसका नाम था—'छोला-बताऊँ क्लब।" इस पर दयानन्द घी का पीपा (कनस्तर) दिखलाते फिरते, कि हमारे यहाँ घी भी खाया जाता है। मैंने कहा—"हाँ, इनके यहाँ घी भी खाया जाता है। एक चम्मच में तीन आदमी खाते हैं, उस पर भी पीपे में घी बढ़ता जाता है।" लोगों ने पूछा—"घी बढ़ता कैसे जाता है ?" मैंने कहा—"इनके पीपे में घी का चश्मा फूट निकला है।" साथियों ने हल्ला किया—"छोला-बताऊँ-क्लब में पीपे के भीतर घी का चश्मा फूट निकला है।"

बाबा करमसिंह धूत जवानी में ही मजदूरी करने के लिए अमेरिका चले गये थे, वहाँ बहुत सालों तक रहे। फिर सोवियत रूस गये, और वहाँ भी कितने साल बिताए। हिन्दुस्तान आने पर उन्हें कई साल तक जेल के भीतर रखा गया, अब फिर वह जेल के भीतर थे। उनकी खाट मेरी बगल में थी। हम दोनों पड़ोसी थे। उनकी उमर 70 वर्ष के करीब थी, केश, दाढ़ी सब सन की तरह सफेद, लेकिन इस अवस्था में भी वह 4 बजे रात ही को उठकर खूब दंड-कसरत करते। दूसरों को भी दंड-कसरत करने के लिए बहुत समझाया करते। व्यायाम का उनके शरीर पर साफ सुप्रभाव दिखाई पड़ता था, लेकिन हम लोग उतनी मेहनत के आदी नहीं थे। माथुर और रछिपालसिंह आदि ने कबूल तो कर लिया, लेकिन बाबा घड़ी की सुई की तरह 4 बजे उठ जाते और जवानों को कसरत करने के लिए उठाते थे। हफ्ते-दस दिन तक तो किसी तरह कसरत होती रही, फिर लोग बहाना करने लगे और बाबा अकेले के अकेले रह गये। बाबा धूत बहुत साफ-सुथरे रहते थे। धोबी कपड़े फाड़ देगा, इसके ख्याल से वह कपड़े भी खुद धो लिया करते। मुल्तान-जेल में जब वह राजबन्दी थे, उस वक्त उन्होंने एक बहुत ही सुन्दर रंगीन खेस (पलंग की चादर) बनवाई थी। आठ-नौ वर्ष पहिले वह खेस बनी थी, और आज भी देखने पर मालूम होता था, कि कल ही बनकर आई है। ऐसी सुन्दर खेस को रोज-रोज बिछाना तो कोई पसन्द नहीं करता। बाबा चीजों को बहुत जुगाकर रखा करते थे। मैंने कहा—

"बाबा ! बहुत-से लोगों की नजर इस खेस पर गड़ी हुई है।" बाबा ने उसे बिस्तरे के नीचे से निकालकर बक्स में बंद कर दिया। अब एक षड्यंत्र रचा गया। मैंने हलवा बनवाया, 'फल-क्लब की' ओर से एक दर्जन आदमियों की दावत हुई। दावत खानेवालों में कुछ को रहस्य मालूम था, और कुछ को नहीं। मैंने मेहमानों को कह दिया था—भाई आज चंगे-चंगे लीड़े (कपड़े) पहन के आना। नैनासिंह ने खूब बड़ा-सा सफेद पग्गड़ बाँधा था। योगिन्दर सिंह ने रेशमी साफा बाँधा था। 'चमक', मैं और 'बमार' तो खैर अपने क्लब के आदमी थे। चमक की कोठरी ही हमारा क्लब-घर था। कोठरी में गद्दा बिछाया गया। बाबा धूत की खेस को बक्स के भीतर से निकाला गया, और उसे गद्दे पर बिछा दिया गया। ऊपर से एक और चद्दर बिछा दी गई। मेहमान हलवा, खाने लगे, बाबा धूत पहिले तो मानते नहीं थे, लेकिन खैर, किसी तरह से मान गए। वह भी हलुवा खा रहे थे। इसी समय समय से पहिले ही किसी ने चद्दर को खेस पर से हटा दिया, बाबा धूत ने देख लिया। उनकी त्यौरी बदल गई, और उतने ही में दक्षयज्ञ-विध्वंस-लीला हो गई, नैनासिंह अलग भागे, जोगिन्दरसिंह अलग। बाबा मुझ पर बहुत नाराज हुए, लेकिन हम दोनों तो रात को अगल-बगल सोनेवाले थे। बाबा ने दो-तीन दिन गंभीर मुद्रा धारण की, फिर दिल तो उनका नरम था ही, नरम पड़ गये। यद्यपि खेस काण्ड का सरगना मैं था, लेकिन मैं बहुत मासूम बनकर बाबा को समझाया—"बाबा ! मेरा भी थोड़ा कसूर है, लेकिन उतना कसूर नहीं है जितना कि आप समझते हैं। देखा नहीं, नैनासिंह कितना बड़ा पग्गड़ बाँध के आया था, और जोगिन्दरसिंह को क्या कभी कैम्प में रेशम का साफा बाँधे देखा गया था ?" चमक ने मेरे हाथ-पैर जोड़ दिए थे, इसलिए मैंने उसका नाम नहीं लिया। बाबा ने समझ लिया कि नैनासिंह और जोगेन्दरसिंह इस षड्यंत्र के बानी थे।

माथुर और अशरफ कामचोर क्लब से अलग हो गए थे। उन्होंने तै किया था, कि दोनों वक्त दूध पी लिया करेंगे। दोनों ही बहुत पढ़नेवाले थे। बेचारे दूध को लाकर जँगले पर रख देते, कि जरा ठंडा हो जाय तो पियेंगे, लेकिन पढ़ने में इतने लग जाते, कि दूध ख्याल से उतर जाता, फिर ठंडा हो जाने पर उसे पिये कौन ? इसलिए वह आठ-आठ घंटे वैसा ही पड़ा रहता। मैंने दोस्तों को दिखलाकर कहा—हमारे कमरे में दूध का सिरका बनता है। लोग माथुर-अशरफ से कहने लगे—"भाई, सिरका तैयार हो जाय, तो हमें भी थोड़ा देना।" कैम्प में दूध से सिरका बनानेवालों की भी चर्चा काफी होने लगी।

चन्द्रमासिंह बिहार का एक वीर तरुण है, आतंकवादी होते वक्त उसने अपनी वीरता का अद्भुत परिचय दिया था, और फाँसी से बाल-बाल बचा था। चन्द्रमा की सादी अभी-अभी हाजीपुर के पास हुई थी, थोड़े ही दिनों बाद उन्हें पकड़कर हजारीबाग भेज दिया गया। जेल में विनोद का क्षेत्र बहुत परिमित होता है। ढूँढ़-ढाँढ़कर लोगों ने चन्द्रमा की बीवी से भाभी का नाता लगाया। नाम किसी को मालूम नहीं था। मैंने मुनियाँ कह दिया, और वह उसी नाम से मशहूर हो गई। हाजीपुर में नारंगी, केला, बहुत अच्छे और बहुत ज्यादा पैदा होते हैं। जब सब लोग एक ओर से मुनियाँ कहने लगे, तो चन्द्रमा विरोध क्यों न करते ? मुनियाँ के बाद हाजीपुर और हाजीपुर के बाद नारंगी कहने से ही चन्द्रमा भाई नाराज होने लगे—दूसरे बेवकूफों की तरह दिल से नहीं, कुछ ऊपर ही ऊपर से। एक बार चन्द्रमा का मंत्रिमंडल रसोईखाने के प्रबंध के लिए चुना गया। मंत्रिमंडल के कुछ लोग काम में ढिलाई कर रहे थे, चन्द्रमा के ऊपर काम शायद ज्यादा पड़ा था, इसलिए वह नाराज हो गए थे। कार्टून बनाकर दीवार पर चिपका दिया गया। मंत्रिमंडल के और आदमियों को किस तरह बनाया गया था, यह मुझे याद नहीं। चन्द्रमा को एक बैलगाड़ी पर बैठाया गया था, जिसके ऊपर कुम्हड़ा, लौकी आदि तरकारियाँ रखी हुई थीं। चन्द्रमा मानो गुस्से में रसोईघर छोड़कर चले जा रहे थे। उनके सामने एक नारंगी का वृक्ष था, जिस पर दो नारंगियाँ लटक रही थीं। चन्द्रमा बेचारे को बहुत बुरा लगा, लेकिन सारे कैम्प ने जा-जाकर कार्टून को देखा। और जब खबर पहिले नम्बरवाले कैम्प में पहुँची तो वहाँ से भी उसके देखने की माँग आई। हाजीपुर और नारंगी सारे कैम्प में मशहूर हो गए।

खेल के मैदान में जहाँ हम लोग शाम-सबेरे घूमने और खेल खेलने जाते थे, दोनों कैम्पों के साथ इकट्ठा होते। वहाँ कभी-कभी कवि-सम्मेलन भी होता। यह नारंगीवाले कार्टून से पहिली की बात है। उस दिन कविता-पाठ होनेवाला था। जब हम उधर जाने लगे, उसी वक्त हमारी फल-क्लब का केला आ गया। मैंने केला ले लिया।

रास्ते में खाने लगा, तो चन्द्रमा भाई ने माँगा। उनको भी एक या दो केले दे दिए। शायद खाने का वक्त नहीं रह गया था, उन्होंने केले को जेब में रख लिया। नरेन्द्र अपनी कविता पढ़ रहे थे, उसमें कोई उपमा दी, या ऐसे ही 'हाजीपुर की नारंगी' कह दिया। चन्द्रमा ने सोचा कि यहाँ चुप रहना बड़ी कायरता होगी, और जेब से केला निकालकर दिखाते हुए बोले—"हाजीपुर में केला भी होता है।" अभी तक सभी पहिले कैम्पवाले लोगों को नारंगी और हाजीपुर का रहस्य नहीं मालूम था। सबको भारी जिज्ञासा हो उठी, और हमारे कैम्पवालों ने उनकी जिज्ञासा को पूरा करने में पूरी सहायता की। चन्द्रमा भाई को लोगों ने समझाया—और उन्होंने खुद देखा कि अभी तो नारंगीवाला सलाम थोड़े ही लोग करते थे, लेकिन अब तो सारे कैम्प में लोग उसी की चर्चा कर रहे हैं। न जाने किसी ने समझाया, या चन्द्रमा ने खुद ही समझा मान बैठे—राहुलजी ने जान-बूझकर मुझे वह केला उस दिन दिया था, कि जिससे मैं उत्तेजित होकर भरी सभा में केला लेकर बोल उठूँ। यह बात बिल्कुल गलत थी। मैं इतना जरूर जानता था कि नरेन्द्र कविता पढ़ेंगे, और उसमें नारंगी का भी नाम आ सकता है। लेकिन उस दिन उस वक्त केला संयोग से आ गया था। मैंने चन्द्रमा के आग्रह करने पर केला दे दिया था। खाना न खाना उनका काम था। हम लोगों में मजाक होता था, लेकिन स्नेह और मर्यादा के साथ, इसलिए कटुता आने नहीं पाती थी।

हजारीबाग आने पर एक दिन और अच्छा मजाक रहा। चन्द्रशेखर का नया-नया ब्याह हुआ था। उसके जैसे क्रान्तिकारी तरुण के लिए जेल दूसरी ससुराल होती है। शकुन्तला (चन्द्रशेखर की बीवी) उस वक्त हिन्दू यूनिवर्सिटी में शायद बी. ए. में पढ़ रही थीं। तरुणों को चिट्ठियों द्वारा अपना प्रेम प्रकट करने का अधिकार है, लेकिन उस वक्त रजिया की तरह शकुन्तला को भी एम. ए. पास पति का कम्युनिस्ट पार्टी का कण्टकाकीर्ण रास्ता अपनाना पसन्द नहीं था। उसके पिता पुराने कांग्रेसी थे, और न जाने कितनी बार जेल गए आए थे, लेकिन गाँधीजी के रास्ते के अनुसार, कभी 6 महीना बरस दिन के लिए जेल हो आना उतना बुरा नहीं था, लेकिन कम्युनिस्टों के लिए तो कोई ठिकाना नहीं था, कि कब कौन-सी सजा हो जाय। उसने भी रजिया की तरह मनसूबा बाँधा था, कि मुझमें और कम्युनिस्ट पार्टी में से एक को चुनना होगा। चन्द्रशेखर मुस्कुरा देते थे और शायद कह देते हैं, कि कम्युनिस्ट-पार्टी तुम्हारी सौत नहीं है, मेरी माँ है। पीछे तो शकुन्तला भी पार्टी की बेटी हो गई। खैर, एक दिन चन्द्रशेखर ने एक लम्बा पत्र रात की चाँदनी और कौन-कौन सी उपमाएँ देकर काव्यमय लिखा था। यार लोगों ने लंबे खत को लिखते देख लिया था। चन्द्रशेखर खत को अपने हाथ से आफिस में दे आए। किसी ने यह कहकर उसे आफिस से झटक लिया कि चन्द्रशेखर इसमें कुछ जोड़ना चाहते हैं। रात को नाटक हुआ और उसके अन्त में माथुर ने घोषित किया, कि मैं एक मेस्मरेजिम् का खेल दिखाऊँगा, और आत्मा को बुलवाकर कितनी अजीब-सी बातें पूछूँगा। हम लोग बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगे। उसने ओझा-सोखा के मंतर पढ़कर हाथ फेरते हुए एक साथी को 'बेहोश किया'। फिर परदे की आड़ से आत्मा ने चन्द्रशेखर के सारे पत्र को पढ़ डाला। चन्द्रशेखर को बड़ा आश्चर्य हुआ, लेकिन लोगों का खूब मनोरंजन रहा। चन्द्रशेखर ने भी उसमें भाग लिया।

सोवियत के ऊपर हिटलर का आक्रमण—हफ्तों पहिले ही से अखबारों में अफवाह छपने लगी कि हिटलर सोवियत के ऊपर आक्रमण करना चाहता है। यद्यपि हम समझते थे, कि नात्सीवाद और साम्यवाद की आपस में मौलिक शत्रुता है और झगड़ा होना असम्भव नहीं है, लेकिन आरम्भ में विश्वास नहीं होता था, कि इंगलैण्ड और उसकी पीठ पर अमेरिका की शक्ति को तोड़े बिना हिटलर ऐसा करेगा। 20 जून के आनेवाले रेडियो की बात सुनी कि रूमानिया ने सोवियत से कोई बाहर शहर वापस माँगा है। उस दिन मैंने लिखा था—"यदि खबर सही है, तो इसमें जर्मनी का इशारा हो सकता है।" अखबारों ने यह भी लिखा कि दो दिन के भीतर सारी जर्मन सेना का संचालन होनेवाला है। इस पर लिखा था—"यह संचालन सोवियत के सिवा किसके लिए हो सकता है ? तो क्या जर्मनी ने एक ही साथ इंगलैण्ड और सोवियत दोनों से भिड़ने का तय कर लिया। चीटीं के पर-से निकल रहे हैं।" 21 जून की खबरों में पढ़ा कि जर्मनी ने फिनलैण्ड में अपनी सेनाएँ भेजीं, और सोवियत के पश्चिमी सरहद पर जर्मन सेनाएँ डटी हैं। 5 जगहों पर दोनों सेनाओं में मुठभेड़ भी हो गई—मुठभेड़

की खबर जरूर गलत है। 22 जून रविवार की रात को आकर बन्तासिंह ने रेडियो की खबर सुनाई। आज 3 बजे जर्मन-सेनाओं ने सोवियत पर हमला कर दिया। मैंने उसी वक्त समझ लिया कि फासिस्तवाद का साम्यवाद पर हमला हो गया। मुझे यह निर्णय करने में देर नहीं लगी कि दुनिया के साम्यवादियों और मजूर-किसानों का कर्तव्य है—साम्यवाद की रक्षा के लिए हथियार लेकर फासिस्तों से लड़ना। अब युद्ध दो पूँजीवादी देशों के बीच नहीं रहा। दुनिया के छठे अंश से साम्यवाद के खतम होने का मतलब है, सदियों के लिए किसान-मजूर-राज के स्वप्न को छोड़ देना। यह बहुत जबर्दस्त घटना थी। सब लोग इस पर गम्भीरता से विचार करने लगे। मैंने पार्टी-साथियों से उसी रात कहा, कि अब युद्ध के बारे में हमारे पुराने भाव नहीं रह सकते, हिटलर अब हमारे दुश्मन का दुश्मन नहीं है, बल्कि हमारा दुश्मन है। तीन-चार पार्टी-साथियों से ही यह बात हुई, लेकिन मैंने देखा कि उनका रुख मुझसे बिल्कुल उल्टा है। वह समझते हैं, कि लाल-सेना उधर हिटलर से भी लड़ती रहेगी और इधर हम भी अंग्रेजों के खिलाफ अपनी लड़ाई को पहिले ही रूप में जारी रखेंगे। अगले दो-एक दिन और यह चर्चा कुछ मित्रों से की, लेकिन कोई सुनने के लिए तैयार नहीं था। मैंने फिर उसकी चर्चा करनी छोड़ दी। अब जैसे-जैसे हिटलर की सेना आगे बढ़ती, वैसे ही वैसे मेरे हृदय में विकलता बढ़ रही थी, रात को बड़ी देर तक नींद नहीं आती थी। उस वक्त मेरी यही आकांक्षा रहती कि, दिन-रात का अधिक भाग नींद ही में बीत जाता। मेरी बुद्धि कभी यह नहीं कहती थी, कि हिटलर सोवियत को जीत सकेगा। मैंने सोवियत-सेना के बारे में पढ़ा था, सोवियत सैनिकों को देखा था, और साथ ही सोवियत की उस साधारण जनता को देखा था, जो जीते जी अपने स्वर्ग को नाजियों के हाथ में जाने नहीं देगी। पहिले-पहिल जब लालक्रान्ति की खबर मुझे मिली थी और आगे के युद्धों के बारे में थोड़ा-बहुत सुना था, उस वक्त दूसरे लोगों की तरह मैं भी समझने लगा था, कि वोलशेविकों की जीत में अपने पौरुष की अपेक्षा संयोग ने ज्यादा मदद की थी। लेकिन जब अक्तूबर क्रान्ति, 14 राज्यों के एक साथ बाल-सोवियत पर आक्रमण और सफेद जनरलों द्वारा दुनिया के पूँजीपतियों का सोवियत पर हमला—इन सबके बारे में विस्तृत अध्ययन किया, तो मालूम हुआ, कि सोवियत् राष्ट्र संयोग से नहीं जनता के पौरुष, पार्टी के संगठन, सूझ, आत्मत्याग, और हिम्मत के बल पर कायम हुआ है; इसलिए पूरी तौर से कभी मुझे निराश होना पड़ा हो, ऐसा समय मुझे याद नहीं। लेकिन नाजियों के बढ़ने की खबरें मुझे व्याकुल जरूर कर देती थीं। जिस वक्त लेनिनग्राद पर जबर्दस्त हवाई हमले हो रहे थे, उस वक्त मैं निराकार तौर से नहीं देख रहा था। वहाँ मुझे लोला और ईगर दिखाई पड़ते थे, और उसी तरह की लाखों माताएँ और शिशु आँखों के सामने आते थे। 26 जून को लोला का 23 अप्रेल और डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की का 22 अप्रेल का लिखा पत्र मिला। युद्ध से दो मास पूर्व यह पत्र लिखे गए थे। मेरे हृदय में आग धधक रही थी, मैं सोच रहा था, लेनिनग्राद की बमवर्षा के बारे में। 28 जून को पढ़ा—लेनिनग्राद जल रहा है। 7 जुलाई की डायरी में लिखा था—"मेरी चिन्ता दूर नहीं होती, रात को भी नींद खुलने पर जल्दी आँखें फिर नहीं झपतीं।"

5 जनवरी (1941) के पत्र में लोला ने लिखा था, "ईगर बहुत ही होशियार, उत्साही और सुन्दर बच्चा है, लेकिन जैसा कि मैंने पहिले लिखा था, वह बहुत कम बोलता है। पिछले दिनों में उसके शब्दकोष में थोड़े शब्दों की वृद्धि हुई है—बिल्ली, कुत्ता, पुस्तक, रोटी, मक्खन, दियासलाई और कुछ और। तुम इसे समझ सकते हो कि अभी उसकी भाषा में प्रवाह नहीं है। वह बहुत हठी-जिद्दी बच्चा है, शायद उसके लिए मैं भी जिम्मेवार हूँ। सबेरे साढ़े सात बजे मैं घर छोड़ती हूँ, और शाम के 8 बजे लौटती हूँ। ठीक 10 बजे रात को उसे सुला दिया जाता है, इसलिए वह सिर्फ दो घंटा मेरे साथ रहता है। दिन-भर वह अपनी नर्स के साथ रहता है। नर्स बड़ी भली-मानुष स्त्री है। वह अच्छी तरह देख-भाल करती है। मैं उस वक्त बहुत खुश होती हूँ, जब घर लौटती हूँ और जब ईगर अपने छोटे-छोटे हाथों को मेरे गले में डालकर चिल्लता है, "मा-मा मा-मा"। फिर वह मेरे स्लीपर को लाकर देता है। उस वक्त से हम अलग नहीं होते। अपनी जाँघ पर बैठाए ही मैं भोजन और चाय करती हूँ। मैं यह नहीं कह सकती कि यह सुविधा की बात है। लेकिन मेरा बेटा अलग होना नहीं चाहता, और मुझे उसकी इच्छाओं को मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है। मैं उसके साथ के बर्त्ताव और शिक्षा की देखभाल के लिए कड़ाई नहीं कर सकती। इन दिनों वह और ज्यादा बिगड़ गया है। वह अकेले

सोना नहीं चाहता है, और कहता है—जब तक तू नहीं सोएगी, तब तक मैं नहीं सोऊँगा। लेकिन जैसे ही मेरा शिर तकिया पर पड़ता है, मैं सो जाती हूँ, और घर का काम-धाम वैसा ही पड़ा रहता है, इसलिए मैं 10 बजे उसके सारे खिलौनों को दे देती हूँ। ईगर देर से करीब 12 बजे सोता है। यह बहुत बुरा है। इन सब बातों से तुम समझ सकते हो, कि तुम्हारा यहाँ होना कितना जरूरी है। तुम्हें अपने छोटे-से बच्चे को सँभालने का काम अपने हाथों मे लेना चाहिए।"

इन पंक्तियों को पढ़ते समय फिर मुझे खयाल आता था, लेनिनग्राद के ऊपर घोर बमवर्षा का।

24 मई के पत्र में लोला ने लिखा था—"राहुल मेरे प्यारे ! आज मैं अपने को खुशकिस्मत औरत समझती हूँ। 6 बजे सबेरे मुझे तुम्हारा तार मिला। मेरे नन्हें-से बच्चे का फोटो तुम्हें मिला। तुम उसे कैसा पसन्द करते हो ? तुम्हारे साथ कुछ सादृश्य है ? क्या वह हिन्दू-जैसा मालूम होता है। ईगर बहुत चतुर, बहुत मनस्वी बच्चा है। उसकी स्मृति तेज है। उसका स्वभाव बहुत कोमल और मधुर है। इस वक्त मेरा पेट का दर्द बहुत तेज हो गया है। गरम बोतल रखकर जब मैं लेट जाती हूँ, तो ईगर दौड़कर मेरे पास आ जाता है। वह मेरे गले से लिपट जाता है, वह मुझे चूमता है। फिर दर्द की बात मालूम होने पर उदास हो जाता है। लेकिन ईगर बड़ा हठी है, नर्स उसे 'बिगडू' कहती है। एक क्षण के लिए भी अकेला नहीं छोड़ा जा सकता। इस जाड़े में जो कोई भी चीज उसके हाथ लगी, उसे उसने तोड़े बिना नहीं छोड़ा। वह मेरे चूर्ण को गिरा देता है, गंध को उड़ेल देता है। कल उसने कॉफी के बरतन को तोड़ दिया। कॉफी और मुरब्बे को गिरा दिया। फिर बरतन को पैर से चूर्ण कर दिया। यह साफ है, कि इस तोड़ने-फोड़ने में उसे अद्भुत आनंद आता है।··· पिछले हफ्ते जब मैं घर लौटी, तो देखा कि ईगर को भोजनवाली मेज के साथ बाँध दिया गया है। उस दिन उसने एक प्लेट तोड़ डाली थी, और बिल्ली भी चारपाई से बाँध दी गई थी, क्योंकि उसने व्यंजन खा लिया, तथा एक प्याला तोड़ दिया था। पहिले मुझे नर्स पर क्रोध आया, लेकिन पीछे मैंने उसकी शिक्षा को स्वीकार किया। पिछले हफ्ते मैं और ईगर दत्त के पास गए। महाशय दत्त ने ईगर को बहुत पसन्द किया। वह कहते थे, 'ईगर पूरा हिन्दू (हिन्दुस्तानी) है।' " यह उस वक्त (2 अगस्त) मैं पढ़ रहा था, जब कि जर्मन मास्को और लेनिनग्राद के पास पहुँचकर आक्रमण कर रहे थे, कियेफ् पर भारी खतरा था। 7 अगस्त को मैंने लिखा था—"भारी परीक्षा का समय है। या तो संसार पर अपनी विजय की धाक जमाकर लालसेना साम्यवाद को सफल बनायेगी, नहीं तो मानवता फिर कुछ समय के लिए अँधेरे खड्ड में गिरेगी।" चिन्ता, उत्सुकता की यही अवस्था तब तक जारी रही, जब तक कि नवम्बर के आखिरी हफ्ते में पासा पलटते दिखाई नहीं दिया। रस्तोफ को लाल-सेना ने फिर से छीन लिया। दिसम्बर के दूसरे हफ्ते में मास्को के मोर्चे से जर्मन सेना को पीछे हटना पड़ा।

लिखना-पढ़ना—गर्मी-भर तो मलेरिया और गर्मी के कारण पढ़ाई बहुत कम हो सकती थी, लिखाई होना तो सम्भव ही नहीं था। फिर 'चमक' ने अपनी कोठरी मेरे हवाले कर दी। मैं सिर्फ सोने के लिए अपनी चारपाई पर जाता था, नहीं तो उसी कोठरी में बैठकर लिखता रहता। देवली में राजबन्दियों की संख्या दो सौ से अधिक थी, जिनमें अधिक तादाद सुशिक्षितों की थी। साइंस, दर्शन, समाज-शास्त्र आदि विषयों पर जितनी पुस्तकें मिल सकीं, मैं उन्हें पढ़ता और नोट लेता गया। कुछ पुस्तकें अजमेर की पब्लिक लायब्रेरी से भी आईं, और कुछ मैंने बाहर से खरीदकर मँगवाईं। पढ़-पढ़कर मैं नोट लेता गया, और बढ़ते-बढ़ते यह नोट करीब दो हजार पृष्ठ के हो गए। मैं साइंस-सम्मत भौतिकवाद या मार्क्सवाद पर हिन्दी में एक पुस्तक लिखना चाहता था। अंग्रेजी में हजारों पुस्तकें हैं, लेकिन केवल हिन्दी जाननेवालों के लिए मार्क्सवाद के मौलिक सिद्धान्त को समझने के वास्ते पुस्तकों का बहुत अभाव है, यह बहुत खटकता था। हजारीबाग में 9 महीने और देवली में 7 महीने—16 महीने के अध्ययन के बाद 30 जुलाई (1941) को मैंने पुस्तक लिखनी आरम्भ की। पहिले मैं यही ख्याल करके लिख रहा था कि एक ही पुस्तक होगी। नाम भी 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' रखा था। लेकिन, आगे बढ़ने पर मालूम हुआ, कि दो हजार पृष्ठों की एक पुस्तक लिखना अच्छा नहीं। विषय अलग-अलग होने से उन्हें अलग-अलग पुस्तक का नाम दिया जा सकता है। 27 अगस्त को (29 दिन में) 'विश्व की रूपरेखा' समाप्त हुई। 8 सितम्बर को मैंने 'मानवसमाज' (उस वक्त 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' का द्वितीय खंड) आरम्भ किया और 14 अक्तूबर को

वह भी समाप्त हो गया। 16 अक्तूबर को 'दर्शन-दिग्दर्शन में' हाथ लगाया, और 26 अक्तूबर तक सिर्फ यवन (यूनानी) और यूरोपीय दर्शन को ही समाप्त कर पाया था, कि भूख-हड़ताल का चौथा दिन होने पर उसे रोक देना पड़ा। भूख-हड़ताल के बाद नवम्बर-भर तो धर्मकीर्ति की स्ववृत्ति (प्रमाणवार्तिक) के खंडित अंश को तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में करता रहा, फिर 20 नवम्बर से 10 दिसम्बर तक 'दर्शन-दिग्दर्शन' के भारतीय दर्शनवाले भाग के कई अध्याय लिखे। इस प्रकार मैंने देवली-निवास के आखिरी 5 महीनों का लिखने में बहुत सदुपयोग किया। बीच-बीच में मुझे अपने साथियों के सामूहिक जीवन में भाग लेना पड़ता, और मैं उसमें किसी से पीछे नहीं रहता था। रसोईखाने में मंत्रिमंडल में भी रहा, लेकिन पीछे साथियों ने मुझे उससे मुक्त कर दिया। पहिले कैम्प में डाक्टर अशरफ, डाक्टर अहमद तथा कितने ही और तरुण साथी थे, जिनकी कलम में ताकत थी। मैंने उनसे कई बार कुछ लिखने, कुछ ग्रन्थों के अनुवाद करने के लिए कहा, लेकिन कुछ नहीं हुआ। हम लोगों के पास एकान्त कोठरियाँ नहीं थीं। एक-एक कमरे में दस-दस, बारह-बारह आदमी रहते थे। फिर समवयस्क और तरुण अधिक संख्या में थे। क्लास में जाने के लिए तो सभी बाध्य थे, इसलिए उस वक्त कोई खेल-कूद की बात नहीं कर सकता था, फिर वह अपने मन की कुछ पुस्तकें पढ़ते थे। फोनोग्राफ भी कभी-कभी बजाया जाता था। मैंने भी फोनोग्राफ मँगा लिया था, जिससे हमारे कैम्पवालों का बड़ा मनोरंजन होता था, और काम से छुट्टी पाकर मैं उसे खुद बजाता था। मेरे दूसरे साथियों की यह धारणा बँध गई थी, कि इस वातावरण में पुस्तकलेखन-जैसा कोई गम्भीर कार्य नहीं हो सकता। शुरू में मैं भी इस धारणा का शिकार रहा, किन्तु मुझे लिखना जरूरी था, इसलिए मैंने अपने मन को समझाया–"मनसाराम ! तुम्हारे हँसी-खेल-मजाक सबके लिए मैं पूरा समय देने के लिए तैयार हूँ। लेकिन कम से कम कुछ लिखने की बात तुम जरूर स्वीकार करो।" आम तौर से मैं 20 पृष्ठ (स्कूली कापी) रोज लिख लिया करता था। अतवार को सिर्फ 10 पृष्ठ लिखता था। जहाँ निश्चित पृष्ठ खतम हुए कि मैंने कलम रखी। फिर दोस्तों से मिलना, बाजा बजाना या दूसरा काम शुरू होता। मैंने यह कोशिश नहीं की कि एक-एक दिन में चालीस-चालीस, पचास-पचास पृष्ठ लिखूँ, इसलिए मनसाराम भी मुझे बात का पक्का समझते थे।

भूख-हड़ताल (23 अक्टूबर-7 नवम्बर)–हमने एक बार कुछ घण्टों की भूख-हड़ताल की थी, और बड़े डाक्टर के बदल जाने से वह छोड़ दी गई। हमारी माँगें भारत-सरकार के पास पहुँची थीं। कपड़े और खाने के बारे में कुछ सुभीता भी हो गया, लेकिन अभी भी हमारी बहुत-सी तकलीफें वैसी ही थीं। इसलिए संघर्ष करने बिना कोई चारा नहीं था। बंगाल के खुफियावाले तो यहाँ नहीं थे, लेकिन पंजाब की खुफिया बंगाल से पीछे नहीं थी। एक दिन (16 जनवरी) साथी मक्खन सिंह अफरीकन लाहौर-किले की यातनाओं का वर्णन कर रहा था। उसे सुनकर बदन में आग लग गई। उसे वहाँ किले के भीतर ले गए। पहिले मीठी-मीठी बोली बोली गई। खाने के लिए बढ़ियाँ से बढ़ियाँ इंतिजाम था। अफसर ने संतरी को गाली देते हुए कहा–"बदमाश ! एक इज्जतदार बाबू के साथ तू ऐसा व्यवहार करता है।" लेकिन, जब उससे कोई काम बनते नहीं दिखाई पड़ा, तो अफसर ने खुद माँ-बहिन की गंदी-गंदी गालियाँ निकालनी शुरू कीं। धमकाया गया, कि यदि बात नहीं बतलाओगे तो तुम्हारी बहिन को यहाँ सामने लाकर···। (एक के साथ ऐसा किया भी गया था। अभागी औरत अपने प्रिय जन की जान बचाने के लिए वहाँ गई थी)। फिर घुटनों और दूसरी जगहों पर–जहाँ पीड़ा ज्यादा होती है–चोट पहुँचाई जाती, बदन के रोम और बालों को एक-एक करके नोचा जाता, कई-कई रात तक सोने नहीं दिया जाता। हमारे साथी को हफ्ते-भर लेटने नहीं दिया गया। जैसे ही आदमी सोने लगता, वैसे ही ठोकर मारकर जगा दिया जाता–यह बड़ी असह्य यातना थी। और एक बात तो ऐसी की गई, जिसे लिखने में भी शरम आमी है। 20वीं सदी में इन बातों का सुनना भी आश्चर्य की चीज है। हम देवली में उसी पंजाबी पुलिस-अफसरों के हाथों में थे।

21 जुलाई को केन्द्रीय एसेम्बली के मेम्बर श्री एन्. एम्. जोशी हमारी तकलीफों की जाँच करने के लिए देवली कैम्प के भीतर आए। सरकार अच्छी तरह जानती थी, कि यह क्रांतिकारी वाक्‌शूर नहीं, कार्यशूर हैं, इनको जान पर खेलते देर नहीं लगेगी, इसलिए उसने मंजूर किया, कि जोशी साहब जाकर उनकी तकलीफें

मालूम करें। हमने अपनी तकलीफें बतलाईं। उन्होंने कैम्प को घूमकर देखा, मेरे बारे में किसी ने खासतौर से कहा था। मुझसे पूछने पर मैंने कहा—मुझे भी वही तकलीफें हैं, साथ ही मैं चाहता हूँ कि लिखने और अनुसन्धान के कार्य को जारी रखूँ, लेकिन मेरे अराजनीतिक काम के लिए भी सरकार कोई सुविधा देने के लिए तैयार नहीं। उसके बाद इतना हुआ कि हफ्ते में एक दिन मुझे तिब्बत से लाए तालपत्रों को वृहत्प्रदर्शक शीशे से पढ़ने के लिए आफिस में आने की इजाजत मिली। मैं जब वहाँ गया, तो देखा कि मेरा जोरदार वृहद्प्रदर्शक शीशा गायब है। चीजों की सूची बनाने का तो कोई कायदा नहीं था, इसलिए आफिसवाले जिस चीज को चाहते, उड़ा लेते थे।

भारत में जब (1929) कम्युनिस्ट पार्टी का संगठन नहीं हुआ था, उस समय कम्युनिस्ट विचारवाले लोगों ने बंगाल, मद्रास, बंबई, पंजाब, युक्तप्रांत में काम शुरू किया था। पार्टी-संगठन के बाद सभी प्रांत एक हो गए थे, लेकिन पंजाब के पुराने कम्युनिस्ट किरती (कमेरा) पार्टी के नाम से अभी अपना अलग संगठन कायम किए हुए थे। इसमें 1914 के बड़े-बड़े आत्मत्यागी बाबा सोहनसिंह भकना, बाबा केहरसिंह, बाबा शेरसिंह जैसे वृद्ध थे, जिन्होंने अपनी सारी जवानी देश के लिए न्यौछावर कर दी, और आज सत्तर-सत्तर वर्ष की उम्र में भी उनमें जवानों जैसा जोश था। बाबा सोहनसिंह की कमर झुक गई थी, लेकिन अब भी वह 18 वर्ष के तरुण की तरह उत्साह से क्लासों में जाते, नई बातों को बड़े उत्साह से सीखते थे। इससे पहले भी पार्टी ने किरतीवाले साथियों के मिलाने की कोशिश की थी, किन्तु उसमें सफलता नहीं हुई। लेकिन अब सरकार ने भारत-भर के प्रमुख-प्रमुख कम्युनिस्टों को एक जगह कर दिया था, इसलिए उनका काम सुगम हो गया था। 7 महीने के प्रयत्न के बाद हमें सफलता मिली, किरती दल कम्युनिस्ट पार्टी में मिल गया। 22 अगस्त को इसके उपलक्ष में एक भोज दिया गया, और लोगों ने बड़ी खुशी मनाई। तीनों कैम्पों—अब तक तीसरा कैम्प भी आबाद हो गया था—के साथी खेल के मैदान में जमा हुए। वहाँ भी आनन्द मनाया गया। व्याख्यान हुए। 6 फुट्टे बाबा केहरसिंह ने अपनी सीधी-सादी भाषा में अपने उद्‌गारों को प्रकट किया—जिस वक्त मैंने देश की आजादी के लिए पहिले-पहिल झंडा उठाया था, उस वक्त कम्युनिस्ट पार्टी नहीं थी, रही होती, तो हम असफल न हुए होते। अब हमारी पार्टी मौजूद है। अब हमें इसके लिए जीना, इसके हुक्म पर मरना है। पार्टी हुक्म दे, बूढ़े होने पर भी हम जवानों से पीछे नहीं रहेंगे।

23 सितम्बर को पंडित उदयनारायण तिवारी की चिट्ठी आई, जिससे मालूम हुआ कि डाक्टर अवध उपाध्याय का देहान्त हो गया। अफसोस के लिए क्या कहना ? देश को उनसे बड़ी आशाएँ थीं, लेकिन जिसके लिए उन्होंने तैयारी की, उस काम को वह पूरा नहीं कर सके। जानेवालों के लिए अफसोस की जरूरत नहीं, अफसोस हमें अपने लिए होता है।

10 अक्तूबर को भूख-हड़ताल का अल्टीमेटम सरकार के पास भेज दिया गया। हमने 10 महीने तक इंतिजार किया, लेकिन सरकार कान में तेल डाले बैठी रही। हमने उसमें लिखा था कि 22 तारीख तक हमारी माँगों का यदि संतोषजनक उत्तर नहीं आया, तो हम उसके लिए कोई रास्ता पकड़ने के लिए मजबूर होंगे। अगले दिन सुपरिन्टेन्डेन्ट ने बुलाकर कहा कि इतना समय पर्याप्त नहीं है। हमारे साथियों ने कहा, सरकार को कितना भी समय दिया जाय, वह पर्याप्त नहीं होगा। हम चाहते थे कि दूसरी पार्टीवाले भी मिलकर संघर्ष जारी करें, मगर वह इसके लिए तैयार नहीं हुए। आखिर में हम 159 आदमियों ने जान पर खेलने का निश्चय किया। पहिले सोचा गया था कि सभी पार्टी-मेम्बरों को हड़ताल अनिवार्य न की जाय, लेकिन कोई पीछे रहने के लिए तैयार न था, इसलिए हरेक पार्टी-मेम्बर को हड़ताल में शामिल होने की आज्ञा दी गई। हमारे 2 दिन बाद 12 अक्तूबर को दूसरी पार्टियों ने भी अल्टीमेटम दे दिया।

19 अक्तूबर को सुपरिन्टेन्डेन्ट ने नोटिस चिपका दी, कि जोशी की रिपोर्ट 16 तारीख को सरकार के पास पहुँची, सरकार उस पर विचार कर रही है, उसे प्रान्तीय सरकारों से भी पूछना है इसलिए और समय देना चाहिए, जल्दी करने की जरूरत नहीं। ऐन मौके पर प्रहार करना सरकार खुद जानती है। 20 अक्तूबर को दिल्ली का 'स्टेट्समैन' दफ्तर में पहुँचते ही तुरन्त हमारे पास भेजा गया, उसमें जयप्रकाश बाबू का पूरा

पत्र छपा था। जयप्रकाश बाबू की पत्नी उनसे मुलाकात करने गई थीं। उस वक्त उन्होंने एक लम्बा खत किताब की आड़ से पत्नी के हाथ में देना चाहा, लेकिन खुफियावाले अफसर ने पकड़ लिया। हमें इस बात का पता नहीं था। पीछे तो यह भी मालूम हुआ, कि उन्होंने उस चिट्ठी को कैम्प के भीतर आनेवाले किसी दर्जी या दूसरे आदमी के हाथ में दिया था, जिसे लेकर उसने सी. आई. डी. को दिया। सी. आई. डी. ने फिर उसे लौटाने के लिए कह दिया। दो-चार दिन बाद आदमी ने अपनी मजबूरी प्रकट करते हुए उसे लौटा दिया। इसमें कितनी बात सच है, कितनी झूठी, इसे मैं नहीं कह सकता। कुछ भी हो, एक बड़ा पत्र सी. आई. डी. ने पकड़ा और वह हमारी भूख-हड़ताल शुरू होने से दो दिन पहिले 'स्टेट्समैन' में छपा। इसमें राजबन्दियों में से एक प्रमुख व्यक्ति ने स्वीकार किया था, कि हमारी तकलीफें इतनी नहीं हैं, कि भूख-हड़ताल की जाय; सरकार ने कई बातों के सुभीते दे दिये हैं, इत्यादि-इत्यादि। यह बहुत घातक हथियार था। सरकार ने समझा कि इस चिट्ठी को छापकर हम भूख-हड़तालियों के मनसूबे खतम कर देगी, और देश को समझा देगी, कि राजबन्दियों की माँगें उचित नहीं हैं, वह नाहक सरकार को तंग करना चाहते हैं। तुरन्त हम लोगों ने आपस में विचार किया। हमारे कैम्प के लोगों ने कहा—हमें अपने संकल्प पर दृढ़ रहना चाहिए। मैंने कहा—जरूर इस पत्र ने हम लोगों का भारी अनिष्ट किया, लेकिन सरकार जो चाहती है, वह नहीं होगा। जनता की सहानुभूति हमारे साथ रहेगी; हाँ, हमें अब दो-एक प्राणों को देकर इस पत्र के प्रभाव को धोना पड़ेगा। यह पत्र ऐसे ढंग से लिखा गया था, जिसको कोई क्रान्तिकारी नहीं लिख सकता था। कम्युनिस्ट तो शत्रु थे, लेकिन खुद अपनी पार्टी के भी कितने ही रहस्यों को उस पत्र में खोलकर के लिखा गया था।

साथी जयप्रकाश और दूसरे लोगों ने एक दिन पहिले (22 अक्तूबर) भूख-हड़ताल शुरू कर दी। हम लोगों ने अपने निश्चित दिन पर भूख-हड़ताल शुरू की। सरकार ने डाक्टरों का काफी इन्तिजाम किया था। पहिले ही दिन आगरा के डाक्टर फूलचन्द शर्मा आ गये थे। मैं तो पहिले दो भूख-हड़तालों को कर चुका था, इसलिए पन्द्रह-बीस दिनों के लिए कोई बात नहीं थी, लेकिन हम में बहुत-से शरीर में दुर्बल थे। किशोरी भाई ऐसे ही थे, अशरफ भी बहुत कमजोर थे, फिर बाबा सोहनसिंह जैसे बूढ़े भी थे। बाबा बसाखासिंह को हमने हाथ जोड़-जोड़कर मनवाया था, कि वह भूख-हड़ताल में शामिल नहीं होंगे। उनमें बुढ़ापे की ही कमजोरी नहीं थी, बल्कि वह तपेदिक के भी मरीज थे। बाबा ने दस-बारह दिन किसी तरह अपने को रोका। फिर रुकना उनके लिए मुश्किल हो गया। जब उन्होंने अपनी आँखों के सामने नौजवानों को सूखते देखा, तो वह सारी बातें भूल गये। लेकिन साथ ही उन्होंने चाहा कि उनके नये निश्चय से साथियों को कष्ट न हो, इसके लिए चुपके ही चुपके उन्होंने एक भीषण कदम उठाया। बाबा बसाखासिंह एक सन्त पुरुष थे, भगवान के अनन्य भक्त थे, लेकिन साथ ही कमेरों के लिए जान देने में भी वह वैसे ही तत्पर रहते थे। देवली के सेवक कैदी तो इस सन्त से और भी प्रभावित थे। बाबा ने रसोइए को बुलाकर कहा—मैं एक बात कहूँ बच्चा ! क्या तू मानेगा ?—"जरूर बाबाजी, आपकी बात भला मैं कैसे टाल सकता हूँ ?"

"जरूर मानेगा ?"

"जरूर बाबाजी !"

"जरूर ?"

"जरूर।"

तीन बार कहलाकर बाबा ने उससे कहा—"मेरे खाने की चीजें रोज ले लिया करना, और उन्हें चुपके से सन्दूक में बन्द कर देना। खबरदार, किसी से कहना मत।"

बेचारे उस साधारण कैदी के लिए बाबा का वाक्य ब्रह्मवाक्य था, वह उसके खिलाफ कैसे जा सकता था ? बाबा की भूख-हड़ताल चार-पाँच दिन चलती रही। उनके शरीर ने एक दिन धोखा दिया, और वह गिर पड़े। संयोग से भूख-हड़ताल खतम हो गई, मगर बाबा के संकल्प की बात सुनकर साथियों का दिल धक से हो गया। उन्होंने बाबा से खिन्न मन हो उलाहना देते हुए कहा—"बाबा ! आपने बड़ा निष्ठुर निश्चय कर डाला था।" बाबा ने कहा—"क्या करता, मैं अपने हृदय की व्यथा को बर्दाश्त नहीं कर सका।"

हाँ, तो 23 अक्तूबर को भूख-हड़ताल शुरू हुई, सिर्फ पानी-सोडा या नमक के साथ लेने की पार्टी ने इजाजत दी थी। मुझे तो उस दिन भूख नहीं लगी। नये भूख-हड़तालियों को दो-एक दिन भूख लगती है। मैंने खाना छोड़ बाकी सब काम पहिले जैसा ही किया। कुछ साथियों के शिर में दर्द था। घाटे सारे कैम्प में सबसे अधिक कमजोर और वजन में कम थे। उन्हें कलेजे की बीमारी थी। घाटे भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के पिताओं में थे। हमें इस बात का बहुत दुःख था, कि हम पहिले उन्हीं को खोने जा रहे हैं। सुनील, अय्यंगर जैसे बीड़ी-तम्बाकू के आदी लोगों को तम्बाकू-बीड़ी पीने की भी मनाही हो गई थी। उन्होंने उसका ख्याल नहीं किया। दूसरे दिन (24 अक्तूबर) घाटे की हालत खराब हो गई, और उन्हें डाक्टर अस्पताल ले गये। चन्द्रमा को तेज बुखार था, इसलिए मजबूर करके उन्हें अस्पताल भिजवाया गया। तीसरे दिन मुझे बहुत हल्की-सी कमजोरी मालूम हो रही थी। किशोरी और अशरफ की हालत बहुत खराब रही। चौथे दिन (26 अक्तूबर) 22 पृष्ठ लिखकर 'यूरोपीय दर्शन' मैंने समाप्त कर दिया, और उसके साथ ही आगे लिखना छोड़ दिया। उस दिन चार आदमी अस्पताल में ले जाये गये। मुझे कमजोरी थी, किन्तु और कोई तकलीफ नहीं थी। उस दिन चीफ-कमिश्नर आया था। उसने हमारे प्रतिनिधियों को बुलाया, लेकिन उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। 5 वें दिन तक 17 आदमी हमारे कैम्प के अस्पताल में जा चुके थे। आजकल से कुछ अधिक कमजोरी मालूम हो रही थी।

पाँचवें या चौथे दिन की बात है, अभी-अभी पह फट रहा था। लोग कमजोर तो थे ही। सबेरे-सबेरे वह अपनी चारपाइयों पर लेटे या बैठे थे। इसी वक्त 'बमार' को न जाने क्या सूझी, उसने ग्रामोफोन पर तवा लगा दिया, और तवा भी ऐसा लगाया जो बड़े गला-फाड़ स्वर में गा रहा था—"पानी का तू बुलबुला तेरा कौन ठेकाणा।" सब ओर से लोगों ने "हाऊ-हाऊ" किया, 'बमार' ने झट से तवा उतारकर रख दिया। मैं बाहर चारपाई पर लेटा था। बाबा शेरसिंह ने अपनी चारपाई से पूछा—"कौन है यह बाजा बजानेवाला।" मैंने कहा—बाबाजी ! साडा (हमारा) 'बमार' है। लोगों ने फिर मजाक करना शुरू किया—'बमार' ने तो अभी से "तेरा कौन ठेकाना" गाना शुरू कर दिया।

छठे दिन कल से कुछ और कमजोरी बढ़ी। कमिश्नर पहिले नम्बर के कैम्प में गया, और बोला—आप लोगों ने जल्दी की, सरकार को समय नहीं दिया। सरकार जोशी की सिफारिश पर विचार कर रही है। आपकी कम से कम माँगें क्या हैं ? सरकारी-गैरसरकारी तीन मेम्बरों की कमेटी बना दी जाय, तो उनकी बात मानेंगे ? जोशी की सिफारिशों को मानेंगे ? हमारे साथियों ने कहा—हमारी कम से कम माँग चली गई, सरकार अपनी बात पेश करे, तो हम विचार करेंगे, कमेटी बनाना फिजूल, है। हम लोग उसके ऊपर विश्वास करके हड़ताल नहीं तोड़ेंगे। जोशी की सभी सिफारिशें हमें मंजूर न होंगी। सातवें दिन मेरा वजन 157 पौंड रह गया था। जेल आते वक्त वह 182 से अधिक था।

हमारे कैम्प के 20 आदमी अस्पताल में थे। किशोरी और अय्यंगर शरीर से बहुत कमजोर थे, लेकिन उनकी हिम्मत गजब की थी, अब भी वह डटे हुए थे। आठवें दिन वैसे ही स्वास्थ्यवाले आदमी रह गये थे, जो अब डट सकते थे। मुझे भूख-हड़तालों का तजर्बा था और दूसरे भी कितने ऐसे साथी थे। मैंने देखा, कि नमक डालकर पानी पीने से पेट साफ होता है, मैंने यह नुसखा दूसरों को भी बतलाया। और वह बहुत काम आया। नमक या सोडा डालकर खूब पानी पीना, जिसमें कि अँतड़ियाँ सूखने न पायें और पेट को साफ रखने, इन दो बातों का ध्यान रखने से शरीर बराबर के लिए रोगी नहीं बनता। मर जाना बुरा नहीं है, लेकिन सदा के लिए चिररोगी या अपाहिज होना बहुत बुरा है। 31 अक्तूबर के अखबार में पढ़ा कि भारत सरकार के होम-मेम्बर ने एसेम्बली अधिवेशन में दहाड़ते हुए कहा—यह राजनीतिक हड़लात है, सरकार इसे नहीं मानेगी; हाँ, जिसमें कोई मरे नहीं, हम इसकी कोशिश करेंगे। हम सरकार के सामने घुटने टेककर दया की भिक्षा नहीं माँग रहे थे। हम मनुष्य के तौर पर जीते रहने का अधिकार चाहते थे। दसवें दिन (1 नवम्बर) मुँह का स्वाद खराब था, और जल्दी खड़े हो जाने पर चक्कर आने लगता था। आज 4 दिन पर नमक की जुलाब ली। शाम को पेट में जरा-जरा दर्द हो रहा था। आज हमारे कैम्प के 3 आदमियों को अस्पताल ले गये, लेकिन पार्टी-मेम्बर सभी डटे हुए थे। ग्यारहवें दिन मैंने 'विश्व की रूपरेखा' के 60 पृष्ठों को फिर से दुहराया। आज

दो आदमियों को पकड़कर जबर्दस्ती नाक से दूध पिलाया गया। बारहवें दिन (3 नवम्बर) हमारे सारे कैम्प को जबर्दस्ती नाक के रास्ते दूध पिलाया गया, लेकिन इसमें पूरी कुश्ती होती थी। दस-दस बारह-बारह आदमी आकर लिपट जाते, फिर कई मिन्टों की धक्कमधुक्की के बाद चारपाई पर लिटाते थे। दोपहर तक तो भाड़े के मजदूरों को लाकर उनसे पकड़ने का काम लिया गया, लेकिन पौने चार बजे से गढ़वाली सिपाहियों को इस काम के लिए इस्तेमाल किया गया। पिछली दो हड़तालों में मुझे नाक से दूध नहीं पिलाया गया था, लेकिन अबकी बार यहाँ जबर्दस्ती पिलाया गया। पेट में गुड़गुड़ होने लगी। 13 वें दिन 15 छटाँक दूध पेट के भीतर डाला गया। लोग अपनी ताकत-भर प्रतिरोध करते थे, लेकिन वहाँ एक-एक पर बारह-बारह लिपट पड़ते थे। 14 वें दिन की पकड़ा-धकड़ी में मेरे एक जगह घाव लग गई। लेकिन आज कुश्ती काफी रही। सबसे बलिष्ठ जवान को पकड़कर मैंने जमीन पर चित्त कर दिया। फिर चींटे की तरह सब लिपट पड़े। आज चारपाई पर लिटाने में उन्हें काफी देर लगी। 16 वें दिन (6 नवम्बर) सिपाहियों को पकड़ने के लिए नहीं, ठेकेदार के मजदूर आठ आना रोज पर लाये गये। पेट में दूध जाने के कारण लोगों के शरीर में ताकत कुछ ज्यादा थी, इसलिए कुश्ती देर तक होती, आज पहिली बार के दूध पिलाने ही में 1 बज गये। शाम को पता लगा कि जोशी साहेब आये हुए हैं। उन्होंने तीनों कैम्पों की कमेटियों से अलग-अलग बात की, और कहा—आप लोग हड़ताल छोड़ दीजिए, हम लोगों ने इस काम को अपने हाथ में ले लिया है। हमें विश्वास है कि गवर्नमेंट कुछ करेगी। उनकी बात से मालूम हो गया कि सरकार हमें अपने प्रान्तों में भेजकर छुट्टी ले लेना चाहती है। वह जानती है, प्रान्तों की नादिरशाही सरकारें हमारी माँगों को हरगिज नहीं मंजूर करेंगी। प्रान्तों में लौटाने और एक-से वर्गीकरण का विरोध सबसे ज्यादा पंजाब-सरकार कर रही थी।

16 वें दिन (7 नवम्बर) भी मैं 'विश्व की रूपरेखा' को दुहराता रहा। आज हमारे तीनों कैम्पों के प्रतिनिधियों से बात करके जोशी ने विश्वास दिलाया, कि सरकार हमारी दूसरी माँगों में से काफी को जरूर पूरा कर देगी। एक वर्गीकरण मुश्किल है, और उससे भी मुश्किल है प्रान्तों में भेजना। भारत सरकार प्रान्तों में भेजने के खिलाफ नहीं, किन्तु पंजाब-सरकार इसका सख्त विरोध कर रही है; तो भी बात जारी है। हमारे साथियों ने इस बात को आकर हम लोगों को बतलाया। तीनों कैम्पों की कार्यकारिणी कमेटी ने विचार किया, और उसने हड़ताल तोड़ने के पक्ष में राय दी। शाम को तीन बजे तीनों कैम्पों के साथी खेलवाले मैदान में इकट्ठा हुए। डाँगे, रणदिवे, बाटलीवाला कई महीने से कैम्प से हटाकर दूसरी जगह भेज दिये गये थे। पहिले उन्हें अजमेर जेल में रखा गया, इसी बीच में दूर एक कोने में नया बँगला बनवाया गया, और उन्हें वहाँ लाकर रखा गया। आज उन्हें भी मैदान में लाया गया। हड़ताल छोड़ें या न छोड़ें, इसके पक्ष-विपक्ष में साथियों ने भाषण दिये। अन्त में उन्तालीस के विरुद्ध एक सौ बीस ने कार्यकारिणी के प्रस्ताव को स्वीकृत किया। दूसरी पार्टीवालों ने बीस के विरुद्ध चालीस के बहुमत से हड़ताल जारी रखने का फैसला किया। 11 बजे रात को दूध आया, और हमारे 160 (?) साथियों ने दूध पीकर भूख हड़ताल छोड़ दी।

अगले दिन (8 नवम्बर) गैर-पार्टीवालों में से 16 को भूख-हड़ताल से हटे हुए देखा गया। 40 से कुछ ऊपर आदमी अब भी डटे हुए थे। उस दिन शाम को मूँग की पतली दाल मिली, और रात को सागूदाना। हमारी देखभाल के लिए जो डाक्टर आये थे, वह सभी अच्छे थे। उनमें से सबसे भद्र डाक्टर को एक गैरपार्टी राजबन्दी ने जूते से मारा, आज भी एक सज्जन ने जूता उठा लिया। यह बहुत बुरा था, क्रान्तिकारियों के प्रति ये डाक्टर क्या भावना लेकर जायेंगे ? हड़ताल तोड़ने के दूसरे दिन मालूम हो गया कि डाँगे और रणदिवे ने भी सोवियत पर हिटलर के आक्रमण होते ही मेरी ही तरह समझा था, और अब तो बाकायदा उस पर विचार-विनिमय होने लगा। धीरे-धीरे हमारे सभी साथी इस विचार से सहमत हो गये कि अब फासिस्तों की हार के लिए सारी शक्ति लगाना हमारा कर्त्तव्य है। पहिली दिसम्बर को अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों पर विचार करके मैंने लिखा था—अमेरिका और जापान में किसी वक्त युद्ध छिड़ सकता है। 8 दिसम्बर को रेडियो की खबर से मालूम हुआ, कि आज सूर्योदय के समय जापान ने अमेरिका और इंग्लैंड के खिलाफ युद्ध घोषित कर दिया। यह भी मालूम हुआ कि सिंगापुर, फिलिपाइन, और होनोलुलू पर जापान ने हवाई हमले किये हैं।

पर्लहार्वर पर उसने आक्रमण करके ओकलाहामा नामक 29 हजार टन के अमेरिकन युद्धपोत को ध्वस्त कर दिया। अब युद्ध की आग सारी दुनिया में फैल गई। पिछला युद्ध भी इतना बड़ा नहीं था। सोवियत के लिए इससे अच्छा अवसर क्या मिलता ? कहाँ सारे पूँजीवादी देश एक होकर चौबीस साल से उसके ऊपर आक्रमण करने की तैयारी कर रहे थे, और कहाँ उनके स्वार्थों ने उन्हें दो टुकड़े में बाँट दिया। बाल्डविन ओर चेम्बरलेन ने इताली, जापान और जर्मनी के फासिस्तों को पीठ ठोंक, सहायता पहुँचाकर वोलशेविकों के खिलाफ लड़ने के लिए तैयार किया था। उनकी सारी कूटनीति बेकार गई। अब लालसेना को अकेले ही फासिस्तों से लड़ना नहीं, अब इंग्लैंड और अमेरिका को भी सोवियत का साथ देना पड़ रहा है। जापान ने सोवियत के खिलाफ युद्धघोषणा नहीं की। तोकयो, याकोहामा आदि शहरों के ध्वस्त होने का डर था—सोवियत हवाई जहाज घंटे-भर में जापानी शहरों पर बम-वर्षा कर लौट भी आ सकते थे। 9 दिसम्बर को पता लगा, कि कल 5 घंटे की लड़ाई के बाद थाई (स्याम) की सेना ने जापान की शर्तों को मानकर रास्ता दे दिया। अब जापान भारत की ओर बढ़ रहा था। 10 दिसम्बर को मालूम हुआ, कि अंग्रेजों के दो युद्ध-महापोत (प्रिंस-आफ-वेल्स और रिपल्स) सिंगापुर के पास डुबो दिये गये। बुरी खबर थी।

अब बराबर अफवाहें उड़ रही थीं, कि हम लोग जल्दी ही अपने प्रान्तों में लौटाये जायेंगे। फिर इतने साथी कब इकट्ठा होंगे, इसलिए मैं अधिकतर समय दोस्तों से बातचीत करने में बिताता था। दूसरे सप्ताह बाबा हरनामसिंह कसैल का मन्त्रिमंडल रसोईखाने का प्रबन्धक था। किसी ने याचकजी से कहा—"गोश्त में शलगम का पत्ता डालकर पकाने से बहुत अच्छा होता है।" अब तक सरसों के पत्ते डालकर गोश्त बना करता था, नई चीज थी, उनको क्या पता था, कि शलगम का पत्ता गोश्त के स्वाद को खराब कर देगा। 'याचक' भी नरम-नरम पत्ते तोड़ रहे थे, मन्त्रदाता ने कहा—"एकाध पत्ते पौदे के लिए भी छोड़ दीजिएगा, नहीं तो वह सूख जायगा।" एकाध पत्ते का मतलब है दो-चार, सो भी बीच का नया मुलायम। जिसका अर्थ हुआ, कड़े-कड़े पत्ते डाल दो। याचकजी ने खूब पत्ता तोड़ा। वह गोश्त में डालकर पकाया जाने लगा। बाबा कसैल ने सोचा—'कौली (कटोरी) से कम गोश्त देने पर साथी गाली देने लगते हैं, इसलिए कौली भर-भर के गोश्त परोसना चाहिए।' गोश्त करीब-करीब पक चुका था। उस वक्त बाबा कसैला ने दो बाल्टी पानी उड़ेल दिया। अब गोश्त के स्वाद को क्या पूछना ? मिला था कौली-भर, लेकिन कोई आधी कौली भी खाने को तैयार न था। और जब मन्त्रदाता की बात और दूसरे रहस्य खुले, तो कई दिनों तक खूब मजाक होता रहा। कितने लोगों ने प्रस्ताव किया, कि अगले हफ्ते भी बाबा कसैल का मन्त्रिमंडल रहे।

14 दिसम्बर को यह सुनकर साथियों को बड़ा आनन्द हुआ, कि जर्मन फासिस्तों की मास्को के मोर्चे पर सख्त हार हुई, और वह पीछे हट रहे हैं। 18 दिसम्बर को पता लगा कि भारतीय पार्टी की नीति युद्ध के सम्बन्ध में बदल गई। अब हरेक जन-स्वातन्त्र्य चाहनेवाले आदमी का कर्तव्य है—फासिस्तों को जल्दी से जल्दी हराने में पूरी ताकत लगाना।

22 दिसम्बर से देवली कैम्प से राजबन्दी हटाये जाने लगे—बम्बईवाले साथी यहाँ से अपने प्रान्त के लिए रवाना हुए। 28 दिसम्बर को बिहार के हम 12 आदमी भी साथियों से बिदाई ले कैम्प से बाहर निकले। एक साल, 2 दिन तक (26 दिसम्बर 1940–27 दिसम्बर 1941) हमें देवली-कैम्प में रहना पड़ा। गढ़वाली सैनिक और एक सी. आई. डी. का आदमी हमारे साथ चल रहा था। डब्बा कोटा में रिजर्व था। दिल्ली में दूसरा डब्बा मिला। 30 दिसम्बर को 12 बजे बाद हम हजारीबाग रोड पहुँचे, और उसी दिन शाम को सवा चार बजे हजारीबाग जेल में। सरदार अर्जुनसिंह अब भी जेलर थे, और सुपरिन्टेन्डेन्ट थे मेजर नाथ।

3. फिर हजारीबाग-जेल में (1941-42 ई.)

2 दिन के बाद (2 जनवरी 1942 को) मैं फिर अपनी एकान्त कोठरी में चला आया। 17, 18 दिन तक मैंने दोस्तों से मिलने, पुस्तकों के पढ़ने आदि में बिताये। 7 जनवरी को जाड़े के दिनों में लालसेना के प्रत्याक्रमण

पर विचार करते हुए मैंने अपनी डायरी में लिखा था–"(1) लालसेना के पीछे हटने में निर्बलता नहीं, सैनिक-नीति भी कारण थी; (2) आज शीघ्रता से आगे न बढ़ने पर यह भाव काम कर रहा है, कि भूमि दखल करने की जगह जर्मन सेना को अधिक से अधिक तबाह किया जाय।"

कम्युनिस्टों की नीति बदलने पर कांग्रेसी अखबार कम्युनिस्टों को खूब गालियाँ दे रहे थे। "लेकिन, इतना करने पर भी परिस्थिति के अनुसार अपने रास्ते को ठीक करके महान आदर्श के पीछे चलनेवाले मार्क्सवादियों के प्रभाव को कम करने का यह रास्ता नही है। साधारण जन (किसान, मजदूर) कम्युनिस्टों के लिए दी जानेवाली इन गालियों से भड़कनेवाले नहीं हैं। 'रूस के साथी हैं', इसे वह गाली नहीं समझ सकते; जब तक कि यह उन्हें समझा न दिया जाय, कि 'रूस खराब शैतान है, वह मजदूर-किसान-हित का शत्रु है।' यदि रूस अच्छा है, तो उसके साथी कैसे बुरे हो सकते हैं ?" (16 जनवरी)

20 जनवरी को भारत सरकार के गृहविभाग के अतिरिक्त सेक्रेटरी टोटन-हम की दस्तखत से एक नोटिस आया, जिसमें लिखा था–"तुम–राहुल सांकृत्यायन को भारत रक्षा कानून (26 ख) के अनुसार केन्द्रीय सरकार के हुकुम से इसलिए नजरबन्द किया गया है, कि तुम भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के मेम्बर हो; जो कम्युनिस्ट पार्टी अपने उद्घोषित प्रोग्राम–हिंसात्मक क्रान्ति द्वारा शक्ति पर अधिकार करना–को पूरा करने के लिए युद्ध-संचालन में सक्रिय बाधा दे रही है।" आगे उसमें यह भी लिखा था कि तुम्हारे इल्जाम को फिर से देखा जा रहा है, अगर उसके बारे में तुम कुछ कहना चाहते हो, तो लिखकर दे सकते हो। मैंने अपने 23 फर्वरी के पत्र में उत्तर देते हुए लिखा, कि हम अब इस युद्ध को अपना तथा जनता का युद्ध समझते हैं, इसलिए क्रियात्मक रूप से इसमें भाग लेना जरूरी समझते हैं।

17 जनवरी से मैंने 'दर्शन-दिग्दर्शन' के अगले भाग को लिखना शुरू किया और 11 मार्च को पुस्तक समाप्त कर दी। बीच में कोषवृद्धि के आपरेशन के लिए 29 जनवरी से 9 फर्वरी तक हजारीबाग सदर-अस्पताल में रहना पड़ा। मेजर गुप्त एक सिद्धहस्त सर्जन थे, उन्होंने बड़ी निपुणता से आपरेशन किया। पिछली बार भूख-हड़ताल के बाद जब मैं सदर-अस्पताल आया था, तो उस वक्त जो तीन रोमन् कैथलिक साधुनियाँ रोगी-परिचर्या का काम वहाँ कर रही थीं, वह अब भी मौजूद थीं। क्रोशिया (यूगोस्लाविया) की सहृदय भिक्षुणी अब भी यहीं थी। यूगोस्लाविया पर हिटलर ने जो आक्रमण किया, उस पर वह खिन्न थी। वह जानती थी कि मेरा बच्चा और बीवी लेनिनग्राद में हैं, इसलिए हम दोनों की परस्पर समवेदना थी। उसका रोमन-कैथलिक ईसाई धर्म पर बहुत विश्वास था। मुझे चुप-चाप लेटे रहना पड़ता था। उसने मुझे रोमन-कैथलिकों का बाइबिल-इतिहास दिया। कहानियाँ तो दिलचस्प मालूम होती थीं, किन्तु बच्चों-सी। 9 जनवरी को हम लोग जेल में चले आये।

25 फर्वरी को श्री कार्य्यानन्द शर्मा तथा कुछ और साथी जेल से छूटे। सिंगापुर को जापान ने ले लिया था। 10 मार्च को रंगून भी अंग्रेजों ने खाली कर दिया। अब जापानी फासिस्त हिन्दुस्तान की सीमा के पास पहुँच रहे थे। हम लोग इस वक्त जेल के भीतर फड़फड़ा रहे थे, क्योंकि हम समझते थे, कि इस समय हमारा काम बाहर है। लेकिन अंग्रेज-शासक युद्ध जीतने का उतना ख्याल नहीं रखते थे, जितना कि भविष्य के अपने स्वार्थ की रक्षा का। हम कब तक छूटेंगे, इसका कोई निश्चय नहीं था, इसलिए समय का उपयोग करना जरूरी था। 12 मार्च को मैंने 'वैज्ञानिक भौतिकवाद' को लिखना शुरू किया और 24 तारीख को उसे खतम कर दिया।

क्रिप्स-वार्तालाप–23 तारीख को पता लगा, कि सर स्ट्रेफोर्ड क्रिप्स दिल्ली पहुँच गये। यद्यपि एमरी और चर्चिल की भारत के बारे में क्या नीति है, इसे हम अच्छी तरह समझते थे, लेकिन युद्ध एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह असम्भव को सम्भव बना देता है। दिल्ली की खबरों को हम लोग बड़ी उत्सुकता से देख रहे थे। इसी बीच 6 अप्रेल को कोलम्बो और 7 को विशाखपटनम्, कोकनाडा पर जापानियों के हवाई हमले हुए।

8 अप्रेल की खबरों से पता लगा, कि क्रिप्स-वार्त्तालाप भंग हो गया, लेकिन अगले दिन फिर आशाजनक खबरें आईं। 11 अप्रेल के पत्रों से मालूम हुआ कि वार्त्तालाप टूट गया। बड़ी निराशा हुई, क्योंकि हम लोग

समझते थे, कि जापान से लड़ने के लिए भारत का सारा धन-बल, जन-बल लगाना चाहिए और वह तभी लग सकता है, जब कि हमारी अपनी सरकार हो। हमारे नेताओं ने यह नहीं समझ पाया, कि युद्ध स्वयं एक स्वतन्त्र शक्ति है, वह निहत्थों को हथियार देती है, दबे हुओं को उठने, और बँधे हुओं को मुक्त होने का अवसर देती है। वह यह नहीं समझ पाये कि एक बार युद्ध के भीतर घुस जाने पर हमें पूरी सैनिक तैयारी से कोई नहीं रोक सकता। उन्होंने युद्ध की परिस्थिति की अपेक्षा कागज के टुकड़ों पर अधिक विश्वास किया, और चाहने लगे कि अंग्रेज शासक उन्हें पकी-पकायी थाली परोसकर सामने रख दें। चर्चिल-एमरी ने अपनी खुशी से क्रिप्स को नहीं भेजा था। जैसे ही लम्बी-लम्बी बातें करके मित्र-देशों की जनता की आँखों में धूल झोंकने में समर्थ हुए, वैसे ही उन्होंने पैतरा बदल दिया। यूगोस्लाविया, इताली, यूनान के पीछे के युद्ध-इतिहास ने बतला दिया, कि विलायती टोरियों का सारा छन्नबन्न वहाँ बेकार था, जबकि उन देशों के बहादुरों ने फासिस्तों के विरुद्ध सारी ताकत लगाकर लड़ना शुरू किया। खैर, हमारे देश ने एक बड़ा अवसर खो दिया। अंग्रेज-शासकों ने हिन्दुस्तान के फासिस्त-विरोधी भावों को दबाने में बड़ा काम किया। भारतीय देशभक्तों की निराशा ने उन्हें जापानियों की ओर ताकने के लिए मजबूर किया। क्रिप्स तो मेकडानल की ही तरह झूठा और बेईमान निकला।

मेरी बहुत दिनों से इच्छा थी, कि भारत की ऐतिहासिक सामग्री को इस्तेमाल करते हुए कुछ ऐसे उपन्यास और कहानियाँ लिखी जायें, जिससे हमारी प्रगतिशीलता को मदद मिले। मैंने अब तक ('बाईसवीं सदी' को लेकर) दो उपन्यास लिखे थे। त्रिपिटक को पढ़ते हुए मैंने देखा था, कि उस वक्त के भारत में सिर्फ राजाओं की निरंकुशता ही नहीं थी, बल्कि पूर्व और पच्छिम के भारत में कितने ही प्रजातन्त्र थे। वैशाली के लिच्छिवियों का प्रजातन्त्र इतना बलशाली था, कि मगध और कोसल के राजाओं को भी उसकी ओर अदब से देखना पड़ता था। मैंने उस समय की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक अवस्थाओं के साथ-साथ जनतन्त्रता के रूप को उपन्यास के रूप में चित्रण करना चाहा, जिसका परिणाम हुआ 'सिंह सेनापति'। इसे मैंने 7 मई को लिखना शुरू किया था, और 26 मई को खतम किया।

यूरोप से लौटते वक्त (जनवरी 1933) मैंने दो पुस्तकों के लिखने का इरादा किया था, जिसमें एक को ('साम्यवाद ही क्यों') 1934 ही में लिख डाला, लेकिन दूसरी किताब में मैं दिखलाना चाहता था, कि भारतीय संस्कृति और सभ्यता की दुहाई देनेवाले झूठ-मूठ ही प्राचीनता के नाम पर हमारे रास्ते में रोड़ा अटकाते हैं। वस्तुतः भारतीय संस्कृति-सभ्यता कभी अचल नहीं रही, और उसके हरेक अंग में घोर परिवर्तन होता रहा। 'मानव समाज' लिखते वक्त मैंने यह भी अनुभव किया, कि बहुत से पाठकों को इसका ऐतिहासिक विश्लेषण समझने में आसान न होगा। यदि इन सिद्धान्तों को जातीय इतिहास-प्रवाह को दरशानेवाली कहानियों में अंकित किया जाय, तो पाठकों के लिए समझना आसान हो जायगा। कुछ ऐसे ही विचारों से प्रेरित हो श्री भगवत-शरण उपाध्याय ने कितनी ही कहानियाँ लिखी थीं, जिनके लिए मैं उन्हें साधुवाद भी दे चुका था, और यदि सारे काल को लेकर उन्होंने एक पुस्तक लिख डाली होती तो शायद मैं इस काम में हाथ भी नहीं लगाता। अस्तु, इसी ख्याल को लेकर मैंने 1 जून को 'वोल्गा से गंगा' की पहिली कहानी 'निशा' लिखी। और अंतिम 20वीं कहानी 'सुमेर' 21 जून को खतम हुई।

जब तक जेल से निकले नहीं, तब तक कुछ लिखते-पढ़ते रहना चाहिए। 26 जून से मैंने 'जपनियाँ राछछ' और दूसरे 7 नाटकों को छपरा की भाषा (मल्लिका) में लिखा। मैं 1921 ही से अपने व्याख्यानों के लिए छपरा में वहाँ ही की भाषा को इस्तेमाल करता आया था। मैं इन मातृभाषाओं की क्षमता और समृद्ध शब्द-भण्डार को अपनी आँखों से देखता था। सोवियत में जाने के बाद वहाँ की मातृभाषाओं की उपयोगिता को देखकर अच्छी तरह समझने लगा, कि जनता के हिन्दुस्तान में इन भाषाओं को बहुत काम करना है। इसी ख्याल से 1939 में छपरा से वहाँ की भाषा में एक अखबार निकालना चाहा था, और उसी ख्याल को लेकर इन आठ नाटकों को लिखा। इनमें चार 'जपनियाँ राछछ', 'देस-रच्छक', 'जरमनवाँ के हार निहिचय', 'ई हमार लड़ाई' फासिस्त-विरोधी भावों को फैलाने के लिए लिखे गए थे। 'ढुनमुन नेता' में भिन्न-भिन्न राजनीतिक विचार-धाराओं का विश्लेषण किया गया था। 'नइ की दुनिया' और जोंक' में साम्यवादी विचारों और साम्यवाद की आवश्यकता

को और "मेहरारुन के दुरदसा" में स्त्रियों की हीनावस्था को दिखलाया गया था।

कांग्रेस कमेटी ने अपने इलाहाबाद के प्रस्ताव और बाद की कार्यकारिणी के प्रस्ताव में जो रुख लिया था, वह मुझे गलत मालूम हुआ। 16 जुलाई को इसके बारे में मैंने अपनी डायरी में लिखा था–"इस (15 जुलाई के) प्रस्ताव और गाँधीजी के वक्तव्य से मालूम होता है, कि यदि अंग्रेज-शासकों की अकल ठीक न हुई, तो गाँधीजी सिर्फ धमकी नहीं दे रहे हैं। यह गाँधी और कांग्रेस के जीवन-मरण का प्रश्न है। यदि इस लड़ाई-भर वह चुप रहना चाहते हैं, तो उन्हें खतम समझिये। जिस प्रकार का आर्थिक संकट जनता पर है, उससे जनआन्दोलन विकट रूप धारण कर सकता है। जब अंग्रेजों की हार पर हार की खबरें सुनकर लोग निराशावादी हो चुके हैं, तब सारे नेताओं को पकड़कर जेलों में भर देने से काम नहीं चलेगा। सबसे कमी यहाँ (कांग्रेसी विचारधारा में) यही है, कि वह मुस्लिम-लीग को केवल अंग्रेजों के बल पर कूदनेवाली संस्था समझने को गलती करती हैं और यह नहीं समझती कि उसकी पीठ पर मुस्लिम जनता कितनी है। और इसी गलत ख्याल के कारण वह मुस्लिम-लीग से समझौता करने के लिए तैयार नहीं है।"

9 जून और बाद में मैंने 'पाकिस्तान और जातियों की समस्या' पर एक लेख लिखा, जिसमें भारत को एक बहुजातिक राष्ट्र के तौर पर मानकर समस्याओं को देखने के लिए जोर दिया।

आखिर 23 जुलाई आई, और मुझे सबेरे ही हजारीबाग जेल से छोड़ दिया गया।

5

बाहर की दुनिया में (1942-43 ई.)

सुनील, कार्यानन्द और दूसरे साथी प्रान्तीय पार्टी-आफिस में मौजूद थे, जब कि मैं 24 जुलाई को पटना पहुँचा। पहिले देखना था कि बाहर की अवस्था क्या है। 26 जुलाई को सोनपुर पहुँचा, स्वागत हुआ, एक छोटी-सी सभा में व्याख्यान देना पड़ा। 27 जुलाई को छपरा में भी गया। शाम को टाउनहाल के हाते में सभा हुई। भाषण दिया, भाषण का जब अन्त हो रहा था, तो उस वक्त कुछ आदमियों ने हल्ला मचाना शुरू किया। यह भी देखा, कि कुछ कांग्रेसी नेता भी कम्युनिस्टों के विरोध में खास तौर से हिस्सा ले रहे हैं। कालेज के विद्यार्थियों के साथ अगले दिन तीन घंटे बिताये। उसने बतला दिया कि नई पीढ़ी में नई विचारधारा बहुत तेजी से प्रविष्ट हो रही है। सीवान कालेज के मैदान में व्याख्यान और वार्तालाप से (29 जुलाई) इस धारणा की पुष्टि हुई। अजीज साहब के यहाँ भोजन हुआ। उनका स्नेह उसी तरह ताजा था। 31 को पटना में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक थी। मुझे भी उसके सदस्य के तौर पर शामिल होना था। 30 जुलाई को जब हम दीघाघाट से पटना जहाज द्वारा जा रहे थे, तो कुछ पुराने परिचित कांग्रेसी भी साथ चल रहे थे। एक भाई कह रहे थे कि इतना बड़ा युद्ध छेड़ने की कांग्रेसवाले बात कर रहे हैं, लेकिन देश तो उसके लिए तैयार नहीं है। यद्यपि कांग्रेस ने अभी इस तरह का कोई प्रस्ताव नहीं पास किया था, लेकिन यह ख्याल बहुत फैला हुआ था, कि अबके संघर्ष में रेल की पटरियाँ उखाड़ी जायँगी, तार काटे जायेंगे, कचहरियों को दखल किया जायेगा आदि। हमारे साथी भी कह रहे थे, कि इतने बड़े काम के लिए जिस जबर्दस्त संगठन और अनुशासन की जरूरत है, उसके लिए लोगों को तैयार नहीं किया गया है। मैंने पूछा–"यदि तैयार किया जाता, तो यह ठीक होता ?" उन्होंने कहा–"शायद, लेकिन आपकी क्या राय है ?"

मैंने कहा–"यह ठीक नहीं है। ऐसा करके हम दुनिया की उन सारी शक्तियों की सहानुभूति को खो बैठेंगे जो कि हमें स्वतन्त्र देखना चाहती हैं। इस वक्त रेल, तार काटने का यह छोड़ और कोई मतलब नहीं हो सकता, कि जापानियों को हिन्दुस्तान के भीतर घुसने में मदद मिले। जिन्होंने कोरिया और चीन में जापान के खूनी शासन का इतिहास नहीं पढ़ा है, वही आशा रख सकते हैं कि जापान हिन्दुस्तान को आजादी देगा।

हमारे साथ हाजीपुर के पास के किसी गाँव का एक नौजवान भी चल रहा था। वह पटना की बिजली कम्पनी में नौकर था। उसने पूछा—"अब तक तो हम लोग पैसा-कौड़ी घर में रखते थे, अब चोरी-डकैती बहुत बढ़ गई है, हमें रुपयों को बंक में रखना चाहिए या नहीं ?" मैंने कहा—"बंक में वह ज्यादा सुरक्षित रहेंगे।"

उसने कभी सत्याग्रह में भाग न लिया था, न राष्ट्रीय आन्दोलन से उसकी सहानुभूति थी। जब रेल-तार काटने की बात हो रही थी, तब वह बहुत खुश हो रहा था, और कहने लगा—"यह तो अच्छा होगा, नहीं तो अंग्रेज यहाँ से जाएँगे कैसे ?"

मैंने कहा—"रेल-तार कट जाएँगे, तो पटना से आपका गाँव बहुत दूर हो जायगा, फिर महीने में दो बार नहीं, 6 महीने में एक बार भी घर जाना मुश्किल होगा।"

बेचारा यह सुनकर घबड़ाया। मैंने कहा—"घबड़ाने के लिए नहीं कह रहा हूँ, और न यही कह रहा हूँ कि देश की आजादी के लिए आदमी को चरम त्याग के लिए तैयार नहीं रहना चाहिए। सवाल यह है कि अगर एक सरकार को लुंज करते हैं, तो उसकी जगह दूसरी सरकार का इंतिजाम आपको करना चाहिए। यह कहने से काम नहीं चलेगा, कि हम लोग अपना काम करे जाते हैं, फिर सँभालनेवाला सँभालेगा। सँभालनेवाला सँभालेगा नहीं, बल्कि यदि शासनतन्त्र आपके पास नहीं है, तो इसका परिणाम होगा लूटपाट और आपस में मारकाट।"

इसके बाद मैंने यह भी कहा, कि इस वक्त युद्ध के समय ऐसा करके हम दुनिया की सहानुभूति खो बैठेंगे और अंग्रेज-टोरियों को खुलकर दमन करने का मौका देंगे।

31 जुलाई को सदाकत-आश्रम में प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी की बैठक थी। सभी जिलों के लोग सम्मिलित हुए थे। राजेन्द्र बाबू अभी वर्धा से आए थे। उन्होंने अपने व्याख्यान में कहा, कि मैंने आपको किसीं प्रस्ताव या निर्णय के लिए तकलीफ नहीं दी, बल्कि जिस अन्तिम युद्ध में हमें अब कूदना है, उसके बारे में मैं आपको बतलाना चाहता हूँ। इसके बाद उन्होंने एक घंटा के करीब व्याख्यान दिया। जिसका संक्षेप था, कांग्रेस सर्वस्व की बाजी लगाने जा रही है। अपने 52 साल की उम्र में कांग्रेस ने कभी ऐसा कदम नहीं उठाया। सत्याग्रह जो होगा, उसमें हर मौके, हर तरीके इस्तेमाल किए जा सकते हैं। अहिंसा को छोड़कर और कोई भी बन्धन नहीं रहेगा। उस वक्त पथ-प्रदर्शन के लिए न कांग्रेस रह जायगी, न कांग्रेस नेता। फिर सबको अपने आप अपना नेता बनना होगा ; हिन्दू-मुस्लिम समझौता पीछे, स्वराज पहिले।

जिला से आए लोगों ने बतलाया कि देश इतने बड़े संघर्ष के लिए तैयार नहीं है। बैठक के बाद राजेन्द्र बाबू ने एक-एक जिले के सदस्यों से अलग-अलग बात की, जिसमें बातों को और स्पष्ट किया, और बतलाया कि अहिंसा तथा सदाचार के खिलाफ कोई काम नहीं होना चाहिए। बाकी तुम कर सकते हो।

वहाँ से आने पर शाम को मैं हिन्दुस्तानी प्रेस में गया, तो कुछ भद्र पुरुषों के पूछने पर मैंने कहा—"रेल, तार कटेंगे, लूट-पाट मचेगी—और आँख मूँदकर सरकार दमन करेगी।" उसी दिन स्वामी सहजानन्द जी से बातचीत हुई, और उन्होंने 'हुंकार' के सम्पादन का भार मुझे लेने को कहा, जिसे 8 दिसम्बर तक मुझे वहन करना पड़ा।

1. कलकत्ता में (1-3 अगस्त)

उस दिन रात की गाड़ी से मैं कलकत्ता के लिए रवाना हुआ। अगले दिन (1 अगस्त) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के कानूनी होने के उपलक्ष में उत्सव और प्रदर्शन था। यद्यपि वर्षा हो रही थी, तो भी प्रदर्शन-स्थान में मजूरों, विद्यार्थियों और महिलाओं की भारी संख्या एकत्रित थी। टाउनहाल में भला बीस-बीस हजार आदमियों के लिए कहाँ जगह हो सकती थी ? स्वयंसेवकों ने व्यवस्था को अच्छी तरह कायम रखा। मुझे इसी सभा का सभापतित्व करना था। कलकत्ता का मेरा सम्बन्ध अड़तीस वर्षों का है। सत्याग्रह के समय में मैंने उसे देखा था। यद्यपि यह बात नहीं थी, कि इतना बड़ा प्रदर्शन पहिले-पहिल हुआ हो, प्रदर्शन इससे बहुत बड़े-बड़े हुए हैं, लेकिन अबके कुछ खास चीजें थीं, जो मेरे ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट किए बिना नहीं रह सकती थीं। एक ओर अपनी उन सारी योग्यताओं और आत्मत्याग को लिये बंगाल के वह तरुण थे, जिन्होंने नवीन भारत के इतिहास

की पहिली ईंटें रखीं और देश को आजादी के लिए मरना सिखाया। दूसरी ओर ट्राम, कारपोरेशन और कारखानों के हजारों मजदूर थे, जो मजदूरी के लिए मजूरों पर होते अन्याय के प्रतिकार के लिए कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ चुके थे। तीसरी तरफ मैं देख रहा था, उत्तरी भारत के मजदूरों और बंगाली राष्ट्र-कर्मियों के बीच में जो भारी खाई थी, वह पट चुकी है। इस प्रदर्शन और सभा को देखकर आदमी निराशावादी कैसे रह सकता था ? मैं कलकत्ता में 3 दिन रहा। इस बीच में वहाँ के विद्वानों और बुद्धिजीवियों से मिलने का मौका मिला। देखा साम्यवाद ने उन्हें बहुत प्रभावित किया है। बिहार और युक्तप्रान्त के मजदूरों से मिला, और देखा कि पार्टी किस तरह उनमें आत्मचेतना भर रही है।

4 अगस्त को मैंने कलकत्ता से प्रस्थान किया और उसी दिन पटना पहुँच गया। 5 अगस्त को अखबारों में पढ़ा कि इलाहाबाद के कांग्रेस-दफ्तर की पुलिस ने तलाशी ली, वहाँ के कितने ही कागज-पत्र उठा ले गई और उनमें से कितनों ही को सरकार ने अखबारों में छाप दिया। इसका सिर्फ एक ही मतलब था, कि दुनिया के लोग अंग्रेज साम्राज्यवादियों पर भारत के साथ समझौता करने का जोर न डालें। अंतर्राष्ट्रीय शुभेच्छा एकमात्र भारत को आजादी नहीं दिला सकती, लेकिन उसकी हमें बड़ी जरूरत है, इसमें भी शक नहीं।

5 अगस्त को गया जिले में मखदूमपुर के पास सती स्थान में गया। यहाँ के किसानों पर जमींदारों ने बहुत जुल्म कर रखा था। किसानों के 100 बीघे खेत परती पड़े हुए थे। एक ओर सरकार ने पन्द्रह-बीस सौ मन आनाज पैदा करनेवाले इन खेतों को बेकार करने में मदद की थी, दूसरी ओर वह "अधिक अन्न उपजाओं" का प्रचार कर रही थी ! क्या यह परस्पर-विरोधी बातें नहीं थीं ? गाँव के 31 आदमी जेल में थे। लेकिन रोटी का सवाल ऐसा है, जिसे दमन दबा नहीं सकता। दो हजार से कम जनता नहीं थी। स्वामीजी, मेरा और पं० यदुनन्दन शर्मा का व्याख्यान हुआ।

6 अगस्त को पटना में भी पार्टी के कानूनी होने की खुशी में सभा हुई। यहाँ बारह-तेरह गाँधीवादी विद्यार्थियों ने सभा में गड़बड़ी मचाने की कोशिश की। अब मालूम हो रहा था, कम्युनिस्ट पार्टी जितनी ही बढ़ती जायगी, उसके विरोधी भी उतने ही बेकार होते जायेंगे। 7 अगस्त को मैंने मजिस्ट्रेट के सामने घोषित करके 'हुंकार' का सम्पादन-भार अपने ऊपर लिया। उसके लिए कई लेख और टिप्पणियाँ लिखीं। 9 अगस्त को हम नौगछिया में सभा के लिए गए हुए थे। जिला छात्र सभा के उत्सव का मैं सभापति था। सभा अच्छी रही, इन्द्रदीप का व्याख्यान पहिले-पहिल सुना। इन्द्रदीप पटना विश्वविद्यालय के बहुत योग्य छात्रों में थे। एम. ए. में यह सर्व-प्रथम आए थे और राजेन्द्र कालेज ने बिना माँगे ही उन्हें अर्थशास्त्र का प्रोफेसर नियुक्त किया था। पटना कालेज ने भी लेक्चरर बनाना चाहा था, लेकिन उन्होंने राष्ट्रसेवा को अपना लक्ष्य बनाया, इसलिए उसको कबूल नहीं किया। जिस वक्त पार्टी के ऊपर जबर्दस्त दमन हो रहा था, उस वक्त इन्द्रदीप ने उसे बहुत सँभाला। मैंने इन्द्रदीप के लेखों को पढ़ा था, जिनके देखने से मालूम हुआ कि, उनकी कलम में बड़ी ताकत है। यहाँ उनके भाषण को सुनकर मुझे मालूम हुआ, कि वाणी पर भी उनका अधिकार है।

नौगछिया (भागलपुर) से रवाना होते-होते पता लग गया कि, कांग्रेस कार्यकारिणी को गिरफ्तार कर लिया गया। गाँधी, नेहरू, आजाद अब जेल में थे, लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली हुई थी।

2. अगस्त की आँधी

10 तारीख के दोपहर को छपरा पहुँचा। पता लगा, कि कल भी विद्यार्थियों ने दमन के विरुद्ध जुलूस निकाला था, आज भी उनका एक बड़ा जुलूस निकला। मालूम हुआ, 5 आदमी अब तक इस जिले में गिरफ्तार हो चुके हैं। कई देशभक्तों ने मुझसे पूछा, तो मैंने कहा, "जापान को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष जिस तरीके से फायदा हो, वह काम हम नहीं करेंगे। साथ ही नौकरशाही के हाथ के हथियार नहीं बनेंगे। (लोगों में) बहुत जोश है। अव्यवस्था जरूर होगी। और नौकरशाही (इसे) चाहेगी।" (10 अगस्त)

11 अगस्त को पटना पहुँचा। यहाँ भी उत्तेजना बहुत थी। विद्यार्थियों के जुलूस निकल रहे थे। अहमदाबाद, बम्बई, पूना आदि में गोली चली, इन खबरों ने आग में घी का काम किया। दोपहर बाद जुलूस निकला। कम्युनिस्ट

छात्रों ने समझाने की कोशिश की, और अब तक वह सफल हुए थे, किन्तु गोलियों की खबरों ने तरुणों को बहुत उत्तेजित कर दिया था। इसलिए वह अब कुछ कर डालना चाहते थे। एक बड़ा जुलूस निकलकर सेक्रेटरियेट की ओर गया। वहाँ दस हजार की भीड़ जमा हो गई। गोली चली। तीन आदमी वहीं मर गए और कितने ही घायल हुए। शाम के वक्त एक छात्र आया। देखा, उसका कमीज खून से भरा हुआ है। उसने बतलाया कि घायलों को रिक्शा में रखते वक्त मेरे कपड़ों में खून लग गया। आधी रात को 7 (?) लाशों का जुलूस निकाला गया। कौन था, जो इन तरुणों की मौत पर आँसू न बहाता। बीच-बीच में रोशनी थी, लाशें फूल से सजी हुई थीं और अपार जनता पीछे-पीछे जा रही थी। सबकी आँखों में क्रोध था, सबके हृदय में क्षोभ था। इस दृश्य ने लोगों के धैर्य को तोड़ दिया। 12 तारीख को पूरी हड़ताल रही, यह कहने से पटना का वर्णन काफी नहीं हो सकता। उस दिन पटना-शहर में अंग्रेजी राज नहीं रह गया था। रिक्शे और इक्के नहीं चलते थे। छात्र भी अब नेतृत्व नहीं करते थे। नेतृत्व रिक्शा, इक्का चलानेवाले तथा दूसरे ऐसे ही आदिमयों के हाथ में चला गया था, जिनको राजनीति में इतना ही मालूम था, कि अंग्रेज हमारे दुश्मन हैं। चन्द्रशेखर और दूसरे कम्युनिस्ट छात्रों को समझाने की कोशिश कर रहे थे, लेकिन वह इन्हें अंग्रेजों का दलाल कहते थे। मैं भी एकाध होस्टलों में गया था, लेकिन कोई फल नहीं हुआ। दोपहर बाद जुलूस निकला, किन्तु इसमें कोई नेतृत्व नहीं था। एक विशाल सभा हुई, कांग्रेस के कुछ नेताओं ने 'क्रान्ति' में कूदने के लिए लोगों को उत्साहित किया। सुननेवालों ने कहा—लेकचर सुनने की जरूरत नहीं, चलो काम करें। फिर शहर के तार काटे जाने लगे। हमारे रहने के मकान के पास में एक तार का खम्बा था, एक आदमी उस पर चढ़ गया, और उसने चीनी की टोपियों को कूँच डाला। मैं और पं. यदुनन्दन शर्मा किसान सभा कार्यालय की छत पर बैठे यह सब दृश्य देख रहे थे। डाकखानों को जलाया जा रहा था, लेटरबक्स तोड़े जा रहे थे। दूकानदार भी बहुत खुश थे। कैदियों की भरी लारी को लोगों ने पकड़कर उन्हें छोड़ दिया। राजेन्द्र बाबू की बात ठीक हो रही थी। वहाँ हरेक आदमी अपना नेता था। मैं देख रहा था, लोगों में वस्तुतः क्रान्ति ने एक ऐसा भाव पैदा कर दिया था, जिसमें स्वार्थ का नाम न था। हमारे मकान के सामने सड़क पर ईंटें रख दी गई थीं, जिसमें फौजी लारियाँ उधर से न चल सकें, यह बिल्कुल बच्चों की-सी बात थी। फौजी लारियों को गढ़े और खड्ड भी नहीं रोक सकते। रात को अँधेरा था, चलनेवालों का पैर जरूर टूटता, लेकिन रात के एक बजे मैंने देखा, एक आदमी स्वेच्छा से लोगों से कह रहा था—किरपा करके इधर से आइए। "किरपा" शब्द ने खास तौर से मेरे ध्यान को आकृष्ट किया। क्योंकि अभी तक हमारे अशिक्षित जनों में इस तरह के शब्द का प्रयोग नहीं होता था। क्रान्ति तो नहीं आई, क्योंकि उसके लाने की कोशिश नहीं की गई, लेकिन इसमें शक नहीं, कि क्रान्ति का वातावरण वहाँ जरूर था। नगर की जनशक्ति ने पुराने शासन को खतम कर दिया था—सिर्फ खतम-भर कर दिया था, लेकिन खाली जगह पड़ी हुई थी। जिन विद्यार्थियों ने नगर के कमेरों को उत्तेजित करके यहाँ तक पहुँचाया था, वह खुद इनको कोई रास्ता बता नहीं रहे थे। दूसरे दिन (13 अगस्त) एक भद्र पुरुष बड़े उत्साह के साथ कह रहे थे—अब क्रान्ति बढ़ेगी। विद्यार्थी गाँवों की ओर जाएँगे, और वहाँ भी आग लगेगी। गाँधीजी सब कुछ जानते थे।

एक बंगाली भद्रपुरुष कह रहे थे, यह तो कोरी अराजकता है। स्वराज्य आखिर राज्य होता है, अराज्य नहीं, आप आग से बचाने की कोशिश कीजिए। कोशिश तो हो रही थी, लेकिन सरकारी दमन की खबरें अखबारों में छपकर जब सारे शहर में फैल गईं, उत्तेजना और बढ़ी। 12 अगस्त को सबेरे के वक्त तक पटना में सड़क-तार नहीं कटे थे, लेकिन उसी वक्त अखबारों में दूसरे शहरों में सड़क-तार कटने की बातें छपीं। मैंने कहा—अब पटना में भी वही होने जा रहा है। लोगों ने इन खबरों से सीखा और उसी दिन पटना में भी रेल-तार कट गए।

शाम तक जोश ठंडा हो चला। इक्के, रिक्शेवाले बेचारे रोज कमाते हैं, और रोज खाते हैं। दो दिन वह क्रान्ति की लड़ाई में शामिल रहे, लेकिन खाने का कोई ठिकाना नहीं था। मैंने उस दिन डायरी में लिखा था—"आज शाम को बाढ़ (जोश) नीचे की ओर जा रही है। गाँवों में जमींदार महाजन और बनियों के लूटने

का प्रस्ताव चलेगा। इसको देखकर अफसोस होता है। जो अधिकार कल इन लोगों के हाथ में आया था, उससे वह बहुत कुछ कर सकते थे।"

12 की रात को अगर आन्दोलनवाले चाहते, तो लोगों से दस-बीस लाख रुपया, हजारों मन अनाज जमा कर सकते थे, और उससे रिक्शे, इक्केवालों तथा दूसरे कमेरों को खाना देकर उन्हें और कितने ही दिनों तक हड़ताल पर कायम रख सकते थे—यह ठीक था कि टैंक और मशीनगन के आने पर उनका डटा रहना सम्भव नहीं था। साथ ही उस रात यदि चाहते, तो कागजवाले हजारों मन कागज देते, प्रेस मुफ्त उनकी घोषणाओं और पासों को छापते। कुछ दिनों बाद उन्हें चाहे असफलता भी मिलती, लेकिन एक व्यवस्थित सरकार कायम करके उसके व्यवस्थापत्रों को छापकर इतिहास के लिए वह एक चिह्न छोड़ जाते। लेकिन हमारे नेताओं ने तो समझा था, कि हरेक आदमी अपना-अपना नेता बने, बस यही क्रान्ति है। जो घटनाएँ मेरे सामने गुजर रही थीं, उन्हें देखकर मुझे एक ख्याल से और भी दुख होता था, कि क्रान्ति के साथ मजाक किया जा रहा है। जनता के हृदय में बद्ध अपार शक्ति को खोल दिया गया था, लेकिन आतिशबाजी में खर्च होनेवाली बारूद की तरह, मैं समझता था, इसका दुष्परिणाम यह होगा कि इस वक्त की असफलता से गंभीर क्रान्ति के वक्त जनता उतना दिल खोलकर भाग नहीं ले सकेगी।

14 तारीख को जोश और भी ठंडा हो गया। विद्यार्थी दो दिनों तक रहकर देख चुके थे, कि अब उनको कोई नहीं पूछता। जैसे उनमें से हरेक ने अपना नेता बनना चाहा था, वैसे ही उनसे भी भारी संख्या मैदान में आ गई थी, जिनमें हरेक अपना नेता बनना चाहता था। बहुत-से छात्र तो कल ही पटना छोड़कर चले गए थे, आज कालेजों को एक महीने की छुट्टी दे दी गई, और 10 बजे तक होस्टलों को छोड़ देने का हुकुम दे दिया गया था। मैं एक होस्टल में गया। वहाँ कुछ विद्यार्थी बहुत परेशान थे कि अपने सामान को कहाँ रखें। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने एक कमरा खुलवा दिया और कहा कि अपने सामान पर नाम लिखकर इसमें रख दो। आज तीसरे दिन रिक्शा, इक्कावाले बिना कहे ही अपने काम में लग गए थे, वह छात्रों को गाली दे रहे थे। सेना पहुँच गई थी, और वह लोगों से रास्ता साफ करवा रही थी। कितने ही लोग तो खुद ही अपने सामने की सड़क को साफ कर चुके थे। रास्ते में यदि कोई बाबू मिल जाता, तो उसे भी सेना सड़क साफ करने में लगा देती। एकाध प्रोफेसरों को भी पकड़कर उसने यह काम करवाया था। उसी शाम को फौजी-कानून की घोषणा हुई।

कार्यानन्द जी बम्बई में कांग्रेस कमेटी की बैठक में गए थे। आज वह लौटे। स्वामी सहजानन्द भी आए। उन्होंने अपना सामान फतुहा में छोड़ दिया था। 15 अगस्त को जीवेन्द्र ब्रह्मचारी उसे लेने गए। बतला रहे थे—एक जगह पाँच आदमी सड़क पर खड़े थे, कोई भी सवारी उधर से गुजरती तो आदमी पीछे चार-चार आना कर वसूल कर रहे थे। गाँव के कुछ आदमियों ने समझा था, कि अब यहाँ हमारा राज्य है, यहाँ से चलनेवालों को टैक्स देना चाहिए। उस दिन सड़कों पर लाउडस्पीकर से यह कहती हुई मोटरें घूम रही थीं, कि दो बजे तक रास्ता साफ कर दो, नहीं तो कड़ी सजा होगी; विरोधियों को गोली मारी जायेगी। रेलें बन्द हो गईं, और लोग अब नावों से आने-जाने लगे। 16 अगस्त को बाँकीपुर और पटना में खूब गिरफ्तारियाँ हुईं। सड़कों पर आना-जाना साधारण हो गया था। सिक्रेटेरियट और कुछ दूसरी जगहों में जाने की मनाही थी। गोरी पलटन का जगह-जगह पहरा था, और कोई आदमी पास के बिना जा नहीं सकता था।

17 अगस्त को देखा कि बहुत-से लोग शहर छोड़कर बाहर भाग रहे हैं। कोई घोड़ागाड़ी पर अपना सामान लिये जा रहा है, कितने परिवार नावों से भाग रहे हैं। पटना बड़ी तेजी से खाली हो रहा था।

जब पटना या दूसरे शहरों में झगड़ा खतम हो गया, तब भी बिहार के गाँवों में कितने ही दिनों तक आग जलती रही। 21 अगस्त को मैंने लिखा था—"सेना इस वक्त विद्रोह को दबाने में लगी हुई है। गाँधीवाद अराजकता को छोड़ व्यवस्थित संघर्ष का रूप थोड़े ही ले सकता है। और अराजकता पीछे बदमाशों और गुण्डों के हाथ में चली जाती है। वैयक्तिक लाभ के लिए लोग लूटमार करने लगते हैं। सोनपुर में ऐसा हुआ, बिहटा में ऐसा हुआ। नेता लोग तो जल्दी पकड़े जाने के लिए उतावले हो गए। दमन करते वक्त ब्रिटिश नौकरशाही

यह ख्याल नहीं कर रही है कि उसके शिर पर जापान बैठा हुआ है और भारतीय जनता को लेकर उसे जापान से मुकाबिला करना है।"

पहिले लोगों ने रेल के मालगोदामों और ट्रेनों को खूब लूटा। चीनी, आटे, कपड़े की गाँठें, दियासलाई के डब्बे और दूसरी चीजें बैलगाड़ियों पर लादकर अपने घरों में ले गए। अब पलटन देहात में भी घूमने लगी थी, इसलिए लूटे सामान को लोग जहाँ-तहाँ फेंकने लगे। गाँवों के पोखरे और कुओं में चीनी पाट दी गई और अब वह सड़कर बहुत बदबू पैदा कर रही थी। जिनके पास गंगा थी, उन्होंने चीजों को गंगा में डाल दिया।

पालीगंज (पटना) थाने की बात एक साथी ने आकर बतलाई। एक स्वराजी नेता भीड़ जमा कर थाना जलाने गए थे। थानेदार ने कहा—जलाएँगे क्यों ? अब थाने में आपका ही हुकूम चलेगा। नेता फूलकर कुप्पा हो गए। उन्होंने थाने के कागज-पत्र पर अपना हस्ताक्षर किया, अपनी मुहर लगाई। पिस्तौल माँगने लगे, तो दारोगा ने कहा कि मरम्मत होने गई है। वहाँ हफ्ते-भर 'स्वराज्य' रहा। फिर गोरी पलटन ने पहुँचकर मारना घर जलाना शुरू किया।

अमवारी और जयजोरी के किसान इस बाढ़ में नहीं बहे। लोगों ने बहुतेरा कहा, लेकिन उन्होंने जवाब दिया—राहुल बाबा का हुकुम ले आएँ, स्वामीजी का पत्र ले आएँ, तब हम इस लड़ाई में भाग लेंगे। आसपास के साथियों से उन्हें मालूम हो गया था, कि इस वक्त हमें ऐसा संघर्ष नहीं छेड़ना है, जिसमें किसानों-मजूरों के जबर्दस्त दुश्मन जापान को किसी तरह की मदद मिले। लोग आँदर का पुल तोड़ने गए, साथी जौव्वाद और मजहर ने बहुत समझाया, लेकिन पुल तोड़ दिया गया। एक विद्यार्थी शुकदेवसिंह ने इस वक्त लोगों के समझाने में बहुत तत्परता दिखाई थी, इसके कारण नेता बहुत नाराज हुए, उन्होंने शुकदेव को पकड़ लिया और झट ही फैसला हो गया कि उसे प्राण-दंड दे दिया जाय। लेकिन प्राण-दंड को तुरन्त कार्यरूप में परिणत नहीं किया गया। 4 दिन तक शुकदेव को उन्होंने अपनी जेल में रखा, इसी बीच उत्साह ठंडा होने लगा और शुकदेव के प्राण बच गए।

सीवान शहर की सभा में गोली चली, लेकिन तोड़-फोड़ वहाँ नहीं हुई। बसन्तपुर, गुठनी, दरौली, रघुनाथपुर, आदि कई थानों पर विद्रोहियों का अधिकार हो गया था, और वहाँ के थानेदार तथा सिपाही सीवान चले आए थे। थानों की जगह कोई दूसरी व्यवस्था हुई नहीं थी, इसलिए लूटमार मची हुई थी। गुठनी थाने के लोग आकर थानेदार से प्रार्थना कर रहे थे, कि आप लौट चलें।

इनारा (आजमगढ़) के पास के एक दोस्त अभी- अभी 14 सितम्बर को अपने गाँव से लौटे थे। वह कह रहे थे—सेना तो लोगों को भयभीत करके ही रह जाती है, किन्तु पुलिस आँख मूँदकर लूट रही है। पलटन को लिवा लाने का काम भी पुलिस ही का है। एक दिन पता लगा कि उनके गाँव में फौज आ रही है। लोगों ने दो सौ रुपया जमा किया, और दारोगा के पास गए, लेकिन वह तीन सौ माँग रहा था। एक सौ रुपया जमा करने की दिक्कत हो रही थी, तो औरतों ने अपने गाड़े हुए रुपयों को निकालकर दे दिया। दारोगा को न जाने ऐसे कितने तीन सौ थाने पर बैठे ही बैठे मिले होंगे। लोग बात ठीक-ठाक करके लौटे आ रहे थे। गाँव के किसी आदमी को देखकर उन्होंने दूर ही से हाथ हिलाकर कुछ कहा। आदमी ने समझा कि सिपाही आ रहे हैं। दौड़कर गाँव में आ उसने और लोगों को खबर दी। सारा गाँव भाग खड़ा हुआ। चूल्हे की हाँड़ी चूल्हे पर रह गई, परसी थाली वैसी ही रह गई, लोग जो कुछ उठा सकते थे, उसे हाथ में लेकर भागे। उस दिन गाँवों की बहू और बेटियाँ एक समान दिखाई देती थीं। मैंने पूछा—घूँघट ? जवाब मिला—घूँघट करके भागती कैसे ? बेचारी नववधुओं ने घर से बाहर के स्थानों को कभी देखा न था, अब आँखें खुली थीं, लेकिन किसी स्थान को पहचानती नहीं थीं, इसलिए उन्हें अँगुली पकड़कर ले जाने की जरूरत थी। मेरे ब्राह्मण मित्र ने दर्दभरी मुस्कुराहट के साथ कहा—एक घड़ी में पीढ़ियों की मर्य्यादाएँ मिट गईं, जिन बहुओं के मुँह को किसी ने नहीं देखा था, वह खुले मुँह हमारे सामने भाग रही थीं।

पुलिस की इस वक्त खूब बन आई थी। वह रुपया बनाने में लगी हुई थी। कम्युनिस्ट जहाँ भी थे, वहाँ लोगों को इस काम से अलग रहने के लिए कहते थे, लेकिन साथ ही वह यह भी कहते थे, कि अंग्रेज

शासकों ने जान-बूझकर इस झगड़े को पैदा कराया। क्रिप्स की बातचीत के बेकार होने पर मित्र देशों की जनता ने फिर दबाना शुरू किया था, कि हिन्दुस्तान के साथ समझौता किया जाय। अंग्रेज-शासक यही दिखलाना चाहते थे, कि हिन्दुस्तानी हमारे नहीं जापान के मित्र हैं–जापान की मित्रता को साबित करने के लिए इससे बड़ा सबूत क्या चाहिए, कि हिन्दुस्तानी हाथों ने उन रेलों और तारों को काटा, जिनके सहारे जापान से लड़ने के लिए फौजें भेजी जातीं।

साथी कार्यानन्द लखीसराय में भीड़ को मना कर रहे थे, पुलिस उन्हें पकड़ ले गई, और कई दिनों बाद छोड़ा। सुबोध (मुजफ्फरपुर) अपने को खतरे में डालकर अकेला लोगों को समझा रहा था। उसने समझाने के ही लिए तोड़-फोड़ की ओर से छपी एक नोटिस को अपने पास रखा था। पुलिस उसके विचारों को जानती थी। सुबोध को पकड़कर 3 (?) वर्ष के लिए जेल में ठोक दिया। सोनपुर के साथी वेदान्ती ने लोगों के समझाने में बड़ी हिम्मत का परिचय दिया। भीड़ रजिस्टरी फूँकने गई थी। वहाँ वेदान्ती कह रहे थे–"भाइयो! यह अपने ही कागज-पत्र हैं; इन्हें फूँकने से क्या मतलब।" उन पर भी मुकदमा चलाया गया, और सिर्फ भीड़ में रहने के कारण 5 साल की सजा दी गई–पीछे अपील से वह छोड़ दिये गये। गया में इसी तरह हबीब और ओला को जेल में डाल दिया गया। बिहार में सैकड़ों कम्युनिस्ट इस तरह जेलों में बन्द कर दिये गये।

29 अगस्त को मैं बिहार-सरकार के चीफ सेक्रेटरी गाडवोले से मिला और उन्हें सारी परिस्थिति बतलाई। वह अपने को बेबस बतलाते थे।

22 सितम्बर को छपरा के कलक्टर मिस्टर के. पी. सिंह से मैं इन्हीं बातों को बतलाने गया था, लेकिन उन्होंने हुकुम दिया–कल आइए। हिन्दुस्तानी आई. सी. यस. सभी इसी तरह के होते हैं, यह मैं नहीं कहता। क्योंकि कइयों को मुझे नजदीक से देखने का मौका मिला है। लेकिन यह जरूर कहूँगा, कि वह अपने गोरे साथियों से भी अधिक अभिमानी होते हैं। "छुद्र नदी भरि चलि उतराई" यह चौपाई उनके ऊपर पूरी तौर से घटित होती है। 22-25 सितम्बर को मैं छपरा से प्रयाग तक गया। रास्ते में बहुत-से स्टेशनों को जला देखा। बलिया से पार होते वक्त पता लगा, कि पुलिस ने यहाँ कितना जुल्म कर रखा है।

प्रयाग में (27 सितम्वर) 'हिन्दी गोष्ठी' के सामने 'मातृभाषाएँ ही शिक्षा का माध्यम होनी चाहिएँ।' पर व्याख्यान दिया। मैं इसके वारे में अपने विचारों को पत्रों को प्रकाशित कराता रहा हूँ, इसलिए कोई नई चीज नहीं थी, तो भी मैंने देखा कि अभी हमारे साहित्यिक इस सच्चाई को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वह समझते हैं कि इससे हिन्दी को हानि होगी। मैंने उनकी शंकाओं का जवाब देते हुए कहा कि हिन्दी को नुकसान होने का डर नहीं; क्योंकि पटना, बनारस या आगरावालों को प्रयागवालों के साथ साहित्यिक संपर्क रखने के लिए एक भाषा की आवश्यकता होगी, जो हिन्दी ही होगी। हमारे प्रजातन्त्रों के संघर्ष के लिए भी एक सम्मिलित भाषा की जरूरत है, वह हिन्दी होगी। लेकिन साथ ही हमें अपनी जनता को शीघ्र साक्षर और शिक्षित बनाना है, यह काम मातृ-भाषाएँ ही कर सकती हैं।

30 सितम्बर को एक बर्मी तरुण से मुलाकात हुई। वह आजकल प्रयाग आए हुए थे। कह रहे थे–"जिस वक्त जापानी बर्मा में घुस आये, उस वक्त तक भी सरकार ने कम्युनिस्टों को जेल में ही बन्द रखा, यह जानते हुए भी, कि ये जापान के सख्त दुश्मन हैं, और जापानियों के हाथ में जाने पर इनके लिए गोली खाने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं है।" वह बतला रहे थे, कि एक विशेषज्ञ कर्नल अंग्रेज बड़े विश्वास के साथ विश्वविद्यालय की किसी बैठक में कह रहे थे–"जापानी दो सप्ताह से ज्यादा नहीं टिक सकते। उनका फेफड़ा बहुत कमजोर होता है, इसलिए वह ज्यादा ऊपर नहीं उड़ सकते। उनकी आँखें कमजोर होती हैं, इसलिए जापानी हवाई जहाज रात को हमला नहीं कर सकते।" सरकारी अफसरों की वीरता की यह हालत थी, कि जापानी पलटन को 100 मील दूर ही देखकर वह अपना स्थान छोड़ देते थे। यदि कुछ अफसर आखिर तक अपनी जगहों पर डटे रहते, तो इतनी लूटपाट न होती, मगर उन्होंने जनता को कभी अपनाया नहीं था, हमेशा उसका दमन किया था; इसलिए उनको डर था, कि ऐसी अवस्था में लोग उन्हें चबा जायँगे; इसी कारण से सरकारी अफसर सबसे पहले भागते थे। जापानियों का वहाँ कहीं पता नहीं था, वह दो हफ्ता बाद डेल्टा के चारों जिलों में

पहुँचे थे, लेकिन अफसर पहिले ही वहाँ से रफूचक्कर हो गये थे।

2 अक्तूबर को मैं सारनाथ गया। कई वर्ष बाद अबकी जाना हुआ। चीनी मन्दिर तैयार हो गया था। किन्तु यह देखकर आश्चर्य हुआ, कि इतने वर्षों रहने पर भी वहाँ के चीनी साधू ने हिन्दी नहीं सीखी। बर्मी धर्मशाला में बर्मा से भागकर आये 18 स्त्री-बच्चे ठहरे हुए थे। स्त्रियाँ बतला रही थीं, कि किस तरह सेना ने उनके ऊपर बलात्कार किया। यह सभी स्त्रियाँ भारतीयों की पत्नियाँ या भारतीय बापों की लड़कियाँ थीं। 17-18 साल की उड़िया माँ-बाप की एक लड़की भी उनमें थी। उसके घर में 250 गाएँ, 50 भैंसें, हजारों मन धान और खेत थे। उसका बाप वहीं मर गया। माँ, बेटी, भाई जान लेकर भगे। सब रास्ते में मर गए और वह अकेली यहाँ तक पहुँची।

3. महायुद्ध का पासा पलटा

1942 की गर्मियों में हिटलरी सेना फिर बड़ी तेजी से सोवियत के भीतर बढ़ने लगी। वह स्तालिनग्राद और काकेशश तक में घुस गई। भारी खतरा था। खबरों को सुनकर दिल विकल हो उठता था। 29 अगस्त के पत्रों में पढ़ा, कि लालसेना ने स्तालिनग्राद पहुँची जर्मन फौजों पर हमला कर दिया है। लेकिन अब भी जर्मन डटे हुए थे। उनके आगे न बढ़ने ने इस बात को तो साबित कर दिया, कि मास्को और लेनिनग्राद की तरह यहाँ भी सोवियत ने अपनी एक आखिरी मोर्चाबन्दी कर रखी है, जिससे आगे वह जर्मन-सेना को बढ़ने नहीं देगी। पहिली फर्वरी (1943) को पढ़ा कि जर्मन सेनापति फील्ड मार्शल पाउलुस् ने हथियार रख दिया, और 11 जर्मन तथा 5 इतालियन जेनरलों के साथ कैदी बना लिया गया। जैसा कि मैंने पहिले लिखा है, सोवियत की अजेयता के प्रति मुझे कभी अविश्वास नहीं हुआ था, लेकिन विश्वास करने के लिए ठोस आधार की जरूरत थी। पहिला ठोस आधार उस वक्त मिला, जब कि देखा जर्मन-सेनाएँ मास्को और लेनिनग्राद के पास पहुँचकर रुक गईं, उससे बड़ा आधार तब मिला, जब जर्मनों को करारी हार खाकर मास्को से पीछे हटना पड़ा। 1941 के जाड़ों की सफलताओं ने भी लालसेना की शक्ति को बतलाया, लेकिन उसमें जाड़े ने कितनी मदद की थी, इसके बारे में नहीं कहा जा सकता था। 1942 की गर्मियों में जर्मन-सेना वोरोनेज की ओर बढ़ी, लेकिन उस पर इतनी मारपीट पड़ी, कि उसे सिकुड़ जाना पड़ा, यह तीसरा आधार मिला। विश्वास के लिए सबसे बड़ा आधार स्तालिनग्राद में लालसेना की विजय हुई। उसने बतला दिया कि लालसेना ने अपने दावँ-पेच और सैनिक सूझ पहिले ही से तैयार कर रखे हैं।

4. कलकत्ता में (13-22 अक्तूबर 1942)

11 अक्तूबर को अब भी रेल की ट्रेनें बहुत कम चल रही थीं और गिने-चुने टिकट मिलते थे। इन्तिजाम इतना रद्दी था, कि लोगों को दिन-दिन भर पड़ा रहना पड़ता था, और चौगुने-पँचगुने दाम पर टिकट मिलते। इन्द्रदीप, अशरफ, और मुझे कलकत्ता जाना था। बड़ी लाइन से पहुँचने की हमें उम्मेद नहीं थी, इसलिए हमने पटना से मुजफ्फरपुर का टिकट लिया। मुजफ्फरपुर में मेरे दोनों साथी कलकत्ता के टिकट का इन्तिजाम करने गये और मैं पूर्व निश्चयानुसार समस्तीपुर चला गया। सस्ते और पुष्टिकारक भोजन देने में हिन्दुस्तान में मुसल्मान होटल सबसे अच्छे हैं, यह मेरी धारणा है। 1 प्याला चाय और एक सीख कबाब के लिए जब होटलवाला भाई चार पैसा माँगने लगा, तो मेरे आश्चर्य का कोई ठिकाना नहीं रहा। मैं समझता हूँ, इस वक्त (सितम्बर 1944) जब कि मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, एक प्याला चाय और एक सीख कबाब का वही दाम नहीं होगा; तो भी है कोई हिन्दू-होटल, जो इतना सस्ता खाना दे। हाँ, वह नाक-भौं सिकोड़कर यह कह सकते हैं, कि मुसल्मानों के यहाँ सफाई नहीं है, उनके यहाँ जूठ-मीठ का कोई विचार नहीं। हिन्दू-घरों में जहाँ रसोई के पास ही आँगन के एक कोने में नाबदान सड़ा करता है, वहाँ जरूर बहुत सफाई है। अपने गुरुओं का थूक और जूठ खानेवाले यदि जूठ-मीठ की बात करें, तो यही कहना होगा, कि लज्जा तेरा सत्यानाश हो। शाम

को साथी आ गये। यह जानकर खुशी हुई कि हवड़ा तक का टिकट मिल गया।

12 अक्तूबर को हम लोग रेल से रवाना हुए। उस दिन ईद का दिन था। गाँवों में झुंड के झुंड नर-नारी बालक-बालिकाएँ अच्छा कपड़ा पहने ईदगाह की ओर जा रहे थे। वहाँ मिठाई की दूकानें भी लग गई थीं। अच्छा-खासा मेला-सा मालूम होता था। हमारी गाड़ी में कुछ लोग ध्वंस की प्रशंसा कर रहे थे, और उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह डाला, कि नेपाल-सरकार ने हुकुम दे दिया है, कि अंग्रेजी राज से जो भी आये, मनचाही जमीन और आधे दाम पर अन्न दिया जाय। हमारे ही डब्बे में तीन-चार तराई के नेपाली थे, उन्होंने कहा—यह सब गलत है, जो भागकर गये हैं, वह अपने सम्बन्धियों के पास गये हैं, और खुद भी धनी हैं। प्रशंसकों को क्या पता था, कि नेपाल-राज में जरा भी उग्र राजनीतिक विचार रखने पर गोली मारके दो-दो दिन तक लाशें टाँग रखी जाती हैं। गंगापार हो हमने बड़ी लाइन की गाड़ी पकड़ी, लेकिन वह झाझा में जाकर रुक गई। हजारों मुसाफिर पड़े हुए थे, उनमें कुछ गाड़ी में सोये और कुछ बाहर। दूसरे दिन (13 अक्तूबर) गाड़ी छूटी। जसीडीह (वैद्यनाथ) में गाड़ी थोड़ी देर के लिए ठहरी। भीड़ बहुत थी, इसलिए खुद जाकर पानी लाने की जगह अशरफ ने पानी लाने के लिए लोटा एक आदमी को दे दिया। वह उसे लेकर चम्पत हो गया। अशरफ पानी का इंतिजार कर रहे थे। गाड़ी चली। मैंने कहा—"बोलो होशियार अशरफ की जय !" शायद लोटा भी किसी दूसरे का था।

गाड़ी के एक मुसाफिर कह रहे थे, जो एक बार कलकत्ता से भागकर आये थे, अब फिर लौटे जा रहे थे। मैंने कहा—"पहले तो खाली हल्ले पर भागे थे, और अब तो बम भी गिर सकता है। उन्होंने जवाब दिया—देश में जाकर भूखे मरना पड़ता है; कलकत्ता में कोई रोजगार तो मिल जायेगा। हमारी गाड़ी में रंगून से भागे हुए एक सज्जन थे—वह रंगून के बारे में बतला रहे थे, जब रंगून पर बम गिरा , आदमी तो बहुत नहीं मरे, लेकिन फिर किसकी हिम्मत थी, कि वहाँ ठहरे। लोग सब कुछ छोड़कर भागे। हजारों गायें, भैंसें भूखी ऐसे ही सड़कों में घूमा करती थीं। कलकत्ता पर भी किसी वक्त बम गिर सकता है। हमने घूमते वक्त एक जगह बहुत-सी भैंसें, गायें देखीं। मैंने इंद्रदीप से कहा—"याद रखना इस जगह को। यदि यहाँ बम गिरा तो रेल की आशा मत करना। हम पाँच-छै जने आये हैं, भैंसे तो बेमालिक हो जायँगी, फिर पाँच-छै तगड़ी-तगड़ी भैंसे ले चलेंगे। थक जायेंगे तो पीठ पर चढ़ लेंगे। दूध खाने को मिलेगा, रास्ते में घास अभी बहुत है।" हमारे रहते कलकत्ता में बम नहीं गिरा।

कलकत्ता में पूरनचन्द्र जोशी की क्लास थी। बिहार-उड़ीसा, बंगाल-आसाम के मुख्य-मुख्य कम्युनिस्ट अपनी राजनीतिक शिक्षा के लिए वहाँ आये थे। जोशी चार-चार, पाँच-पाँच घंटे तक वर्त्तमान राजनीतिक गुत्थियों को समझाते थे। वह वक्ता नहीं हैं, किन्तु समझने और समझाने में गजब की बुद्धि रखते हैं। हम जानते हैं, कि सर्वज्ञता झूठा शब्द है। वैसे तो हरेक ज्ञान बराबर बढ़ता रहता है, लेकिन राजनीति में तो और जल्दी-जल्दी परिस्थितियों के बदलते रहने के कारण ज्ञान को नया रूप देने की जरूरत पड़ती है। इनके बारे में जोशी का ज्ञान बहुत व्यापक और गम्भीर है।

कलकत्ता में रहते वक्त हमें कभी-कभी टिमटिमाती हल्की-सी रोशनी में चलना पड़ता था—हवाई हमले के लिए सतर्क रहना जरूरी था। अलीपुर में मुझे साथी महादेव साहा व्याख्यान देने के लिए ले गये। भोजन एक मध्यमवर्गीय गंगोली-परिवार में हुआ। बैठक नये ढंग से सजी थी, उसकी दीवार पर मृत पिता के चरणों की छाप लटक रही थी—आधुनिकता और प्राचीनता का अजीब सम्मिश्रण था। भोजन हमें चौके में करना पड़ा। कई तरह की मछलियाँ, बंगाली मिठाइयाँ परोसी गईं। उनसे यह तो मालूम हुआ, कि बंगाली भोजन मधुर भी होता है, और पुष्ट भी। घर के भांजे पार्टी-मेम्बर थे। उनके नाम के साथ मिश्रा लगा देखकर मैंने पूछा, तो मालूम हुआ कि दो ही चार पीढ़ी पहिले वह सरयूपारी थे, लेकिन अब ब्याह करके पक्के बंगाली हो गये हैं।

5. मुंगेर के गाँव में

24 अक्तूबर से पहिली नवम्बर तक लक्खीसराय के पास के बहुत-से गाँवों में जाना पड़ा। साथी कार्यानन्द ने इधर किसानों में बहुत काम किया था और उसके कारण वहाँ जागृति भी ज्यादा थी। 25 तारीख को पहिले हम उनके गाँव सहूर में गये। यह क्यूल से तीन मील पर जमालपुरवाली रेलवे लाइन के किनारे है। यहाँ की ग्राम-पंचायत बहुत सजीव है, स्वयंसेवक भी जागरूक हैं। 150 घरों के लिए सिर्फ 350 एकड़ खेत हैं, जिसमें ज्यादातर धान की खेती होती है। गाँव में एक मिडिल इंगलिश स्कूल है। गाँव में स्वयंसेवकों का एक अच्छा संगठन है। पहिले खेत चरा लिये जाया करते थे, लेकिन अब स्वयंसेवकों की मुस्तैदी से चराना रुक गया है। पुरुषों की सभा में दो हजार आदमी आये थे। स्त्रियों की अलग सभा हुई थी, जिसमें मैं और सर देशाई बोले। एक गाँव से दूसरे गाँव में जाने के लिए इधर उतनी सड़कें नहीं हैं। 26 अक्तूबर को नन्दनावाँ जाना था। सहूर और नन्दनावाँ दोनों ही बहुत पुराने नाम मालूम होते हैं। नन्दनावाँ तो नन्दनग्राम है। यहाँ का धान और चिउरा दोनों ही मशहूर हैं। गाँव में बुद्ध और तारा की दो मूर्त्तियाँ देखीं, जिनके ऊपर खुदे अक्षरों के देखने से वह 10वीं-11वीं सदी की मालूम होती थीं। साथी श्रीनन्दन बड़े ही उत्साही तरुण हैं। उनकी माता मर गई, तो एक दिन के श्राद्ध में हजार-पाँच सौ रुपया फूँक देने की जगह उन्होंने यही पसन्द किया कि गाँव के लिए पुस्तकालय बना दिया जाय। मुझे ही नींव देनी पड़ी। एक सभा हुई जिसमें मैं, सर देशाई बोले। सर देशाई प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता के भतीजे हैं। उनकी शिक्षा-दीक्षा अपने चचा की देखरेख में हुई थी। वह धान की क्यारियों में पैदल दौड़ने के लिए नहीं पैदा हुए थे, न सर तेजबहादुर सप्रू के प्राइवेट सेक्रेटरी होने ने उन्हें इसके लिए तैयार किया था। लेकिन आज वह हमारे प्राचीन देश को नवीन करना चाहते थे। नवीन करने का काम हिन्दुस्तान के कमेरे ही कर सकते हैं, इसीलिए वह भी गली-गली की धूल फाँकते फिर रहे थे। नन्दनावाँ में कितने ही मुसल्मान घर हैं, और हिन्दुओं-मुसल्मानों का सम्बन्ध बहुत अच्छा है।

28 को हम एकाढ़ा पहुँचे। एकाढ़ा (एकाढ़ का) भी पुराना नाम है। मगध में ऐसे पुराने नाम बहुत मिलते हैं। हम लोग एकाढ़ा जाने के लिए सरारी स्टेशन से चेवाड़ा तक इक्के पर गये। चेवाड़ा हजार घरों का एक अच्छा बड़ा मुसल्मान गाँव है। (इधर इस तरह के 12 मुसल्मान गाँव हैं) यह किसी वक्त अच्छा बाजार था, लेकिन स्टेशन दूर होने के कारण श्री नहीं रही। 2 मील पैदल जाने पर एकाढ़ा पहुँचे। नाम से ही मुझे प्राचीनता की गन्ध आने लगी थी, लेकिन वहाँ पहुँचने पर इसके और भी प्रमाण मिले। एक बौद्ध देवी की मूर्त्ति पर 'ये धर्मा' लिखा हुआ था। दूसरी शिरोहीन मूर्त्ति बुद्ध की थी, जिस पर दाता का नाम भी खुदा था, लेकिन वह घिस गया था। यहाँ विष्णु और सूर्य की भी कई मूर्त्तियाँ थीं। लोग बतला रहे थे, कि यहाँ की बहुत-सी मूर्त्तियाँ लोग उठा ले गये। गाँव में वत्सगोत्री (महाकवि बाण के गोत्रवाले) बाभनों (भूमिहारों) के ही घर अधिक हैं। यहाँ भी दो हजार की सभा में व्याख्यान देना पड़ा, और रात को बहुत देर तक लोग राजनीतिक परिस्थिति के सम्बन्ध में बात करते रहे। अगले दिन तेऊस और बरविघा में बीता। तेऊस गाँव जमींदारों का है। डेढ़ सौ वर्ष पहिले इनके पूर्वज निखती (रघुनाथपुर, सारन) से यहाँ आये। पचीस-पचास हजार आमदनीवाले यहाँ कई जमींदार-परिवार हैं। थोड़ी ही दूर पर अमावाँ राजासाहेब का गाँव था। कम्युनिस्ट और जमींदारों से क्या वास्ता ? और मैं तो खास तौर से किसान-संघर्ष के कारण ज्यादा बदनाम था। लेकिन लंका में भी विभीषण पैदा हो जाते हैं—स्वार्थ के लिए नहीं, लोकहित के लिए। गाँव के एक तरुण के आग्रह पर यहाँ आना पड़ा। भोजन और थोड़ा विश्राम करने के बाद हम फिर बरविघा की सभा में व्याख्यान देने चले गये। श्रुतबन्धु शास्त्री का घर यहाँ पास ही के गाँव में है। वह भी मौजूद थे। पटना से व्याख्यान की रिपोर्ट लिखने के लिए सी. आई. डी. के इंसपेक्टर आये हुए थे। डेढ़ हजार की सभा में व्याख्यान हुआ।

30 अक्तूबर को हम वहाँ से मेहूस पहुँचे। यह मगध देश है, मगध जितना पुराना है, उतने ही पुराने यहाँ के बहुतेरे ग्राम हैं। प्राचीन काल की बहुत-सी निशानियाँ यहाँ मिलती हैं। मेहूस में महेश्वरी देवी का मन्दिर है। अष्टभुजा की मूर्त्तियाँ हैं, सभी अंगभंग हैं, और पालवंश के अन्तिम काल की मालूम होती हैं। बाहर बरगद

के नीचे विष्णु और सूर्य की खंडित मूर्तियाँ हैं, गाँव के बीच में एक टीला है, जिस पर खंडित मुकुटहारधर (वज्रयानी) बुद्ध की मूर्त्ति है, जिसे भोजराज के नाम से लोग पूजते हैं। गाँव से दक्षिण पीपल के नीचे एक बड़ी मूर्त्ति थी, जिसे दो साल पहिले किसी उम्तहा (उन्मत्त) ने तोड़ डाला। यहाँ 12-2/3 इंच लम्बी 9 इंच चौड़ी 2-1/3 इंच मोटी ईंटें मिलती हैं, जिससे जान पड़ता है कि वाण के समय में भी यह गाँव मौजूद था। गाँव में एक शाकद्वीपीय ब्राह्मण के घर में कुछ संस्कृत की पुस्तकें थीं, लेकिन दो सौ वर्ष से पुरानी कोई नहीं। शाम को पुस्तकालय का वार्षिकोत्सव था, जिसके साथ ही राजनीतिक व्याख्यान भी हुआ। अँधेरा होने से थोड़ा पहिले दो मील पर माफो गाँव में भी लोग बड़े आग्रह से ले गये। यहाँ भी पुस्तकालय में मेरा व्याख्यान हुआ। जान पड़ता है, मगध के इस अंचल में पुस्तकालयों की ओर लोगों का ध्यान बहुत गया है। यदि मगही भाषा में अच्छी-अच्छी पुस्तकें लिखी जातीं, तो गाँववालों का बड़ा कल्याण होता। हिन्दी का आनन्द बहुत थोड़े ही लोग ले सकते हैं, तो भी इनका शौक सराहनीय है।

दूसरे दिन (31 अक्तूबर) चढ़ने के लिए घोड़ा मिला और 6 मील चलकर हम शेखपुरा पहुँचे। गाँव का नाम आधुनिक मालूम होता है, लेकिन पहाड़ के किनारे यह लम्बा बसा हुआ कसबा कोई पुरानी जगह मालूम होती है। एक सज्जन ने पंचमार्क (मौर्य तथा प्राग्-मौर्यकालवाला) सिक्का दिखलाया। वह कह रहे थे कि यहाँ और भी कितनी ही पुरानी चीजें मिलती हैं। लेकिन मुझे तो डी. एम. हाई स्कूल में व्याख्यान देकर आज ही लक्खीसराय के युवक पुस्तकालय में शामिल होना था।

पहिली नवम्बर को हम कितनी ही दूर बैलगाड़ी से जाकर नदी पार हो काकन गाँव में पहुँचे। मननपुर स्टेशन यहाँ से 7, 8 मील है। वैसे जैन-परम्पराएँ ऐतिहासिक स्थानों के बतलाने में कभी-कभी अविश्वसनीय होती हैं, लेकिन काकन को जो उन्होंने काकंदी नाम दिया है, वह बिल्कुल ठीक है। काकंदी बुद्ध और पाणिनि के काल में भी एक बड़ी नगरी थी। काकन्दी-माकन्दी जोड़े से मालूम होते हैं, लेकिन माकन्दी बुलन्द शहर जिले में कहीं पर थी, जब कि काकन्दी यहाँ मगध की दक्षिणी सीमा पर अवस्थित थी। गाँव सारा पुरानी बस्ती के ऊपर बसा है और गलियों में आसानी से कुषाण (ई. पहिली शताब्दी) कालीन ईंटें मिल जाती हैं, जो 16 इंच लम्बी 10 इंच चौड़ी और 2¼ इंच मोटी होती हैं। खंडित मूर्त्तियाँ भी हैं, लेकिन यहाँ की बहुत-सी मूर्त्तियाँ लोग उठा ले गये। यहाँ एक जैन मन्दिर है, जिसके दर्शन के लिए जब-तब जैन गृहस्थ आया करते हैं। प्राचीन काकन्दी कितनी समृद्ध रही होगी, इसके बारे में तो नहीं कह सकते, लेकिन जमींदार वर्त्तमान किसानों का कैसा शोषण कर रहे हैं, यह इसी से मालूम होगा कि उन्हें प्रति बीघा (2/3 एकड़) 12 मन चावल, ढाई मन दाल और दो रुपया नकद देना पड़ता है। मैं यदि वहाँ गया न होता, तो शायद इस बात पर विश्वास न होता। इतना देकर किसानों को बचता ही क्या होगा ? यहीं एक ग्रामीण कवि प्रेमदास से भेंट हुई। प्रेमदास ने सभा में जापानी अत्याचार पर एक अच्छी कविता सुनाई थी, जिसे उन्होंने उसी दिन तैयार किया था।

काकन्दी से लौटकर हम क्यूल (किमिकाला ?) नदी पार हो उसी के किनारे बसे रेयोड़ा गाँव में गये। यह काकन से 3 मील पर होगा। गाँव बहुत पुराना नहीं मालूम होता। एक खपड़ैल के नीचे अष्टभुजा देवी की मूर्त्ति रखी हुई थी, उसके शरीर में बहुत कपड़े लपेटे हुए थे। मूर्त्ति कुछ विशेष-सी मालूम हुई। मैंने कपड़े को हटाया, तो देखा 8 वीं शताब्दी के अक्षरों में लेख लिखा था, और वहाँ साफ "काकन्दी ग्राम" आया था। गाँव में पुरानी ईंटें या दूसरी चीजें नहीं मिलतीं, इसलिए यह मूर्त्ति जरूर काकन्द से उठाकर यहाँ लाई गई। वहाँ से मननपुर स्टेशन पर गाड़ी पकड़ी और उसी दिन पटना पहुँच गया।

कलकत्ता में ही मालूम हो चुका था, कि सोवियत सुहृद्संघ ने हिन्दुस्तान से एक शिष्टमण्डल सोवियत-भूमि में भेजने का निश्चय किया है, जिसमें मेरा भी नाम था। लेकिन यात्रा खर्चीली होनेवाली थी, जिसके लिए मैं तैयार नहीं था। पटना आने पर पता लगा कि पासपोर्ट ले लेने के लिए तार आया हुआ है, लेकिन अभी मैंने दरख्वास्त नहीं दी। अब मुझे बम्बई जाना था। बम्बई जाने से पहिले मैं दिल्ली जाना चाहता था, जिसमें कि लोला के बारे में वहाँ कुछ पता लगा सकूँ।

छपरा होते प्रयाग पहुँचा। 'निराला' जी को वैसे भी दो एक बार देखा था, और उनकी कुछ कृतियाँ

भी पढ़ी थीं। 12 नवम्बर को वह मेरे स्थान पर आए। और 'बादल' 'पत्थर कूटती' तथा 'कुकुरमुत्ता' की कविताएँ सुनाईं। 'निराला' हमारी पीढ़ी के असाधारण प्रतिभाशाली कवि हैं। लेकिन मैं देखता था, हमारा समाज इस अद्भुत प्रतिभा से उतना फायदा नहीं उठा रहा है। 'निराला' को भी दिन-प्रतिदिन की असुविधाएँ जरूर असह्य होती होंगी, लेकिन उनके मन की बनावट ऐसी है, कि एक तरह का भाव देर तक उनके सामने नहीं रह सकता। शायद कोई पाठक कहे, 'निराला' को यदि कष्ट या चिन्ता है, तो यह उनका कसूर है। गोया आप कसूर का दण्ड चाहते हैं। लेकिन यह दण्ड तो निराला को नहीं मिलेगा, इसकी हानि तो हमारे साहित्य को भोगनी पड़ेगी। भले ही 'निराला' व्यवहार-शून्य हों, भले ही अपनी मौज में वह कभी-कभी अपनी सुध-बुध खो देते हों, लेकिन 'निराला' की देन हमारे साहित्य के लिए है, यदि उनको हम अधिक निश्चित, अधिक सन्तुष्ट रख सकें, तो हमारे साहित्य को और फायदा होगा। निराला के साथ आज के समाज ने जो उपेक्षा की है, उसके लिए अगली पीढ़ियों को पछताना पड़ेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि 'निराला' यदि निश्चिन्त, संतुष्ट, प्रसन्न रखे जा सकते, तो वह और भी ऊँचे दर्जे का साहित्य हमारे लिए प्रदान करते।

6. दिल्ली में (13-14 नवम्बर)

प्रयाग से चलते वक्त महबूब अहमद साहब इलाहाबद से दिल्ली के यात्री मिल गए। रास्ता बहुत अच्छा कटा। महबूब साहब के साथ ही कूचानाहर खाँ में सामान रखा। फिर घूमने निकले। साथी यज्ञदत्त का पता नहीं लगा। नई दिल्ली में भिक्षु शासनश्री मिले, वहीं चला गया। बहुत-से लोगों की तरह मुझे भी भ्रम था कि 'सोवियत यूनियन न्यूज' सोवियत का मासिकपत्र है। मैंने यह भी समझा कि इसका संपादक कोई रूसी होगा, फिर उससे मास्को, लेनिनग्राद के दोस्तों का पता लगेगा। टेलीफोन से पूछने पर उसने संपादक का पता देने से इनकार कर दिया। जिस प्रेस में पत्र छपता था, वहाँ पता लगाने पर जान पड़ा कि संपादक ने अपना पता नहीं दिया है और वह कभी-कभी प्रेस ही में आ जाते हैं। आखिर इतना रहस्य रखने की जरूरत क्या थी ? खैर, बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करने पर मालूम हुआ कि पत्र अंग्रेजी सरकार का है और रूसी नाम रखनेवाले एक पोल द्वारा संपादित होता है, जो कि 14, 15 साल से अंग्रेजी सरकार के नौकर हैं। तास्स के प्रतिनिधि उस वक्त दिल्ली में नहीं थे, उनसे मुलाकात नहीं हो सकी। उनकी बीवी मिली। पहिले तो शंकित हृदय-सी बात करती थीं, लेकिन जब मैंने अपनी पत्नी, और दो एक मित्रों का नाम बताया, तो खुलकर मिलीं। यह भी मालूम हुआ कि, वह मेरी पत्नी को जानती हैं। लेकिन उनसे कोई विशेष बात नहीं मालूम हो सकी। एक दिन घूमते-घामते सड़क के पास एक मकान पर लाल झंडा देखा, वहाँ जाने से साथी यज्ञदत्त भी मिले और देवली के साथी मनोहरलाल भी। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि दिल्ली में पार्टी अच्छा काम कर रही है।

7. आगरा में

कई वर्षों बाद 15 नवम्बर को आगरा जाने का मौका मिला। किसी समय आगरा में मेरे बहुत-से परिचित थे, लेकिन यह बीसों वर्ष पहिले बात है। रामन्ना शास्त्री वहीं गोकुलपुरा में थे। मैं उनके पास चला गया। मुसाफिर विद्यालय के विद्यार्थी दोस्त तो आगरे में कहाँ मिलते ? डाक्टर लक्ष्मीदत्त से मिलने मैं नामनरे गया। 23, 24 वर्ष बाद उन्हें देखने का मौका मिला। पहिले तो बैठके में बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। शायद उन्हें मालूम नहीं हुआ, कि कौन मिलने आया है। बड़े प्रेम से मिले। मैंने देखा, कि वह प्रौढ़ शरीर अब तिरसठ वर्ष का बूढ़ा हो गया है। स्मृतियाँ अब भी ताजी थीं। उनके छोटे भाई तारादत्त घर पर नहीं थे। पुराने दोस्तों और घर के बारे में बातें होती रहीं। उन्होंने रहने के लिए बहुत आग्रह किया, किन्तु मेरे पास समय कम और मिलना-जुलना ज्यादा था। पुरानी स्मृतियाँ बहुत मधुर होती हैं। लेकिन बुढ़ापा अच्छी चीज नहीं है। शरीर ही नहीं, वह मन को भी बूढ़ा कर देता है, और आदमी 40 वर्ष पुरानी दुनिया का बनकर रहना चाहता है। डाक्टर साहब के यहाँ गाय-भैंसे काफी थीं। इसका मतलब है कि घर में काफी दूध होता था, साथ ही द्वार में चारों

ओर गोबर ही गोबर दिखलाई पड़ता था। हिन्दू घर के लिए चारों ओर बिखरा गोबर, उससे उड़ती तेज गन्ध और खुर से कुटा हुआ आँगन बड़े सौभाग्य की चीज समझी जाती है, इसके बारे में डाक्टर साहब के साइंस का विरोध था या नहीं, इसे मैं नहीं कह सकता। विरोधी भी हो, तो साइंस से धर्म का पल्ला भारी होता है।

अगले दिन किला देखने गया। अपने विद्यार्थी काल में किले को देखा भी हो, तो उसका स्मरण नहीं। जहाँगीरी महल देखा, जिसमें जहाँगीर की बेगम नूरजहाँ रहा करती थी। दीवान-खास और दीवान-आम देखे। बादशाहों और बेगमों के रहने के इन महलों को देखने से एक बात का पता लगा कि हवादार बड़े-बड़े कमरों के बनाने का उन्हें शौक नहीं था। आजकल के आदमी को ऐसे कमरों में रखा जाय, तो वह इन्हें आरामदेह नहीं कहेगा। हो सकता है उस वक्त संगमरर्मर के पत्थर, हीरा-मोती और सोना-चाँदी चारों ओर बिखरा देखने से लोगों को ज्यादा आनन्द मालूम होता हो। ताजमहल भी देख आए, आजकल उसकी मरम्मत हो रही थी।

8. बम्बई में (18 नवम्बर–2 मार्च 1943)

आजकल रेल की यात्रा एक पूरी मुहिम थी। खैर, हमें जगह तो मिल गई। गाड़ी में फौजी सिपाही ज्यादा थे, और वह विनय तो जानते ही न थे। ऐसे ही ट्रेनें कम हो गई थीं, और फौजी सिपाही जिस गाड़ी में बैठते, उनकी पूरी कोशिश बिस्तरा बिछाकर लेटने की रहती। सिपाहियों के लिए अलग भी ट्रेनें खुलती थीं, उनके लिए डब्बे भी रिजर्व होते थे, तो भी वह दूसरे डब्बों में बिस्तर जमाए बैठे रहते थे, और मुश्किल से ही कोई साधारण मुसाफिर उसके अन्दर घुस पाता। आजकल शायद ही किसी देश में सैनिकों का ऐसा भाव साधारण जनता के बारे में देखा जाता हो। लेकिन इसके लिए दोषी है, अंग्रेजी सरकार। वह भारती सिपाहियों को देशभक्ति नहीं, राजभक्ति का पाठ पढ़ाना चाहती है। देशभक्ति है भी उसके लिए खतरे की चीज।

18 नवम्बर को मैं बम्बई पहुँच गया। बम्बई आया था, इस ख्याल से कि मार्क्सवाद के सम्बन्ध में कुछ पुस्तकें लिखूँ। बम्बई न जाने क्यों मुझे पसन्द नहीं आती। कुछ ही दिनों के रहने के बाद मालूम हुआ कि उसकी आबोहवा मेरे अनुकूल नहीं है। पेट की तो हर वक्त शिकायत रहती थी और ज्वर ने भी कई बार आवृत्ति की। पहिले मैं कुछ दिनों तक माटुंगा में रहा, फिर पार्टी-कार्यालय ही में रहने लगा। सोवियत युद्ध मैदान की खबरें अच्छी-अच्छी आ रही थीं। लालसेना आगे बढ़ रही थी। जर्मन पीछे हट रहे थे। यही पत्रों में पढ़ा कि डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की अब नहीं रहे। वह इतने वृद्ध थे, कि उनका महाप्रयाण असंभव नहीं था। लेकिन मैं तो उनसे एक बार और मिलने की आशा रखता था, उन्होंने कितनी योजनाएँ बनाई थीं, और आशा रखते थे, कि हम दोनों मिलकर किसी वक्त अनुसंधान का कार्य करेंगे। उनका एक पत्र था–

(LENINGRAD, WASS. OSTNOW)
7TH LINE 7

My dearest Rahula,

The last letter received from you was dated april 27, it was answered by me in the midst (?) of July. After that date nothing was received but nevertheless, we have written twice. One of these days I have seen your son, a beautiful child, he speaks a little, but understand every thing and we hope that he will speak everything splendidly very soon...We are very much troubled because no further news from you are coming. We hope that you have not forgotten us, letters must come and we expect them.

With my compts. and best regards
Th. Stcherbatsky

लेनिनग्राद

मेरे अति प्रिय राहुल !

तुम्हारा पिछला पत्र 27 का था। जिसका उत्तर मैंने जुलाई के मध्य में दे दिया था। उस तारीख के बाद तुम्हारी कोई खबर नहीं आई, तो भी हमने दो बार लिखा। इन दिनों एक बार मैंने तुम्हारे पुत्र को देखा। सुंदर शिशु है, वह थोड़ा बोलता है, लेकिन हरेक बात समझता है। हम आशा करते हैं, कि वह जल्दी ही अच्छी तरह सब कुछ बोलेगा। 5 सितम्बर को उसका द्वितीय वर्ष पूरा होगा। माँ उसका फोटो खिंचवाएगी, और तुम्हारे पास उसी पते–हजारीबाग–पर भेजेगी। हम लोगों को बहुत चिंता हो रही है। तुम्हारी कोई खबर नहीं आ रही है। मैं अपनी गर्मी की यात्रा से लौटा हूँ। यह बहुत दिलचस्प यात्रा रही, यद्यपि यह बहुत दूर की यात्रा न थी। युद्ध के जमाने में यह सम्भव भी नहीं था। हम आशा करते हैं कि, तुम हमें भूले नहीं हो। पत्रों को जरूर आना चाहिए, हम उनकी प्रतीक्षा करते हैं। मेरा धन्यवाद और बहुत सम्मान।

थ. श्चेर्‌वात्स्की।

उनका सबसे अंतिम पत्र था, जो कि 23 जून 1941 के आसपास देवली में मिला था–

Leningrad,
Wass Ostnow,
7th line 2, flat 31
22-IV-41

Dearest Rahula,

We have at last received your letters from October and from 16 September, both arrived on the 19 April. The letters sent by you to my address did not arrive at all, it is nevertheless possible that some of them can still arrive, we will them inform you. But you are still in jail. But are you still informed how long will your arrest last ? How is your health ? In the two letters that have reached us there is not a word about your health. There must be some answer regarding your future. Is it not possible that you (? know) nothing on your future. Have you asked, have you insisted on being informed on your destiny ?

As regard me personally I am not very bad. The winter is very cold, ice is not yet melted on the river before my windows. My activity in science is very slow. I cannot during all this winter work very much, I hope it will go better.I hope for the coming spring, perhaps I will work again.

Your Igor is very active, he speaks very well, but so for only in Russian. It is impossible now to find a techer for him. I hope it will be possible duruing summer. Igor is very fond of book, he is ready to spent whole day to look through pictures.

Yours most affectionately
Stcherbatsky.

लेनिनग्राद
वास्स ओस्त्तोव
7 वीं गली 2, घर 31
22 अप्रेल 41

अतिप्रिय राहुल,

अन्त में हमें पहिली अक्तूबर और 16 सितम्बरवाले तुम्हारे पत्र मिले। दोनों ही 19 अप्रेल को आए। मेरे पते पर भेजे तुम्हारे पत्र बिल्कुल ही नहीं आए, तो भी संभव है, कि उनमें से कोई अब भी आवे, तब हम तुम्हें सूचित करेंगे। लेकिन तुम अब भी जेल में हो ? क्या तुम्हें सूचना दी गई है, कि तुम

कब तक पकड़े रखे जाओगे ? तुम्हारा स्वास्थ्य कैसा है ? यह दोनों पत्र जो हमारे पास आए हैं, उनमें तुम्हारे स्वास्थ्य के बारे में एक भी शब्द नहीं। आगे क्या होने जा रहा है, इसका कोई जवाव जरूर मिलना चाहिए। क्या वह वस्तुतः संभव है, कि आगे के बारे में तुम्हें कुछ भी सूचित नहीं किया गया। तुमने पूछा—तुमने इसके लिए जो़र दिया कि आगे के बारे में तुम्हें सूचित किया जाय।

मेरे बारे में जहाँ तक व्यक्ति का सम्बन्ध है, मेरा (स्वास्थ्य) वहुत बुरा नहीं है। हेमन्त बहुत ठंडा, मेरे जँगलों के सामने नदी का बर्फ अभी गला नहीं। मेरे वैज्ञानिक कार्य की गति बहुत मन्द है। इस सारे जाड़े में मैं बहुत काम नहीं कर सका। मैं आशा करता हूँ कि आगे बेहतर होगा। मैं बसन्त के आने की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। तब शायद मैं फिर काम करूँगा।

तुम्हारा ईगर बहुत चपल है, वह खूब अच्छी तरह बोलता है, लेकिन सिर्फ रशियन ही में। उसके लिए एक शिक्षक पाना असम्भव है। मैं आशा करता हूँ कि गर्मियों में यह संभव होगा। ईगर पुस्तकों से बहुत प्रेम करता है। वह उनकी तसवीरों को देखने में सारा दिन खर्च करने को तैयार है।

तुम्हारा बहुत ही स्नेहालु—
श्चेर्‌वात्स्की।

डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की मेरे ऊपर कितना स्नेह रखते थे, यह कुछ-कुछ उनके इन पत्रों से मालूम होगा। विद्या के नाते भी हमारा घनिष्ट सम्बन्ध था—जब हमने एक दूसरे को देखा नहीं था, तब भी वह मेरे अदृष्ट मित्र थे। तिब्बत की खोंजों के बारे में सूचना पाने के लिए वह उत्सुक रहा करते थे। लोला के सम्बन्ध के बाद वह मुझे बिल्कुल आत्मीय समझते थे, वह लोला के विद्यागुरु थे। लोला ने एक बार लिखा था, कि डाक्टर कह रहे हैं कि जब ईगर बड़ा होगा, तो मैं उसे दर्शन पढ़ाऊँगा। भारतीय दर्शन और संस्कृत भाषा का इतना बड़ा विद्वान् आज तक यूरोप में नहीं हुआ। उनके 'बौद्धन्याय' (buddhist Logic 2 vols) को पंडित सुखलालजी ने पढ़ाकर सुना, तो वह इतने प्रभावित हुए कि कह उठे—इसे तो काशी की न्यायाचार्य परीक्षा में अनुवाद करके रखना चाहिए। आधे दर्जन के करीब उन्होंने भारतीय दर्शन—विशेषकर बौद्ध-दर्शन—पर फ्रेंच, अंग्रेजी और रूसी में ग्रन्थ लिखे हैं। जब मैं पहिली बार लंका में था, तो बर्लिन के प्रोफेसर ल्युडर्स वहाँ हमारे विहार में आए थे। उन्होंने बतलाया था, कि यूरोप में पूर्वीय दर्शन के सबसे बड़े पंडित डाक्टर श्चेर्‌वात्स्की हैं। नजदीक के समागम के बाद मैं उनके अगाध पांडित्य को और भी ज्यादा जान सका। वह पश्चिमी दर्शन के भी पंडित थे, इसीलिए दर्शन पर अधिकार के साथ लिख सकते थे। कितने ही यूरोपीय विद्वान् हैं, जो अपने भाषा-ज्ञान के बल पर भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में पुस्तकें लिखते हैं। न उन्हें पश्चिमी दर्शन का ही पता है, न पूर्वी दर्शन ही का। वह इस कमी को अपनी ऊटपटाँग कल्पनाओं और अप्रासंगिक टिप्पणियों से पूरा करते हैं। आचार्य श्चेर्‌वात्स्की ने धर्मकीर्ति के 'न्यायविन्दु' का बहुत सुन्दर अनुवाद किया है। वह योगाचार-दर्शन की एक पुस्तक में लगे हुए थे, किन्तु उनकी सबसे बड़ी इच्छा थी, कि धर्मकीर्ति के 'प्रमाणवार्तिक' का अंग्रेजी में एक सुन्दर अनुवाद करें। धर्मकीर्ति को वह भारत का कान्ट कहते थे। वस्तुतः कान्ट ही की तरह धर्मकीर्ति भी भारत के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक हैं—हाँ, अपने यथार्थवाद में धर्मकीर्ति ज्यादा नजदीक हैं हीगेल् और मार्क्स के। उनसे अच्छा धर्मकीर्ति का अनुवादक नहीं मिल सकता। वह पश्चिमी यूरोप के विद्वानों की भाँति संस्कृत के उथले ज्ञान को पसन्द नहीं करते थे। उनके विद्यार्थियों को भी मैंने देखा कि वह संस्कृत भाषा को ज्यादा गंभीरता से पढ़ते हैं, शायद इसमें रूसी भाषा का संस्कृत के साथ निकटतम संबंध भी कारण हो।

अब भी शायद मुझे लेनिनग्राद के उस घर में जाना हो, जिसमें आचार्य के साथ कितने ही घंटे, कितने ही दिन बिताए थे, लेकिन अब वह प्रसन्नवदना मूर्त्ति, वह गंभीर प्रतिभा कहाँ दिखलाई पड़ेगी !!

बम्बई में मैंने कई पुस्तकों का अनुवाद किया, मगर मुझे लेनिन की पुस्तक "गाँव के गरीबों से" का अनुवाद ही सबसे ज्यादा पसन्द आया। लेनिन ने इसे इतनी सरल भाषा में लिखा है, कि आश्चर्य होता है कि उतने गंभीर ग्रन्थों को लिखनेवाली लेखनी इतनी सरल पुस्तक कैसे लिख सकी ? दो एक किसान-मजदूर नेताओं की जीवनी मैंने इधर लिखी थी, लेकिन मुझे अभी इस तरह की किसी पुस्तक के लिखने का ख्याल

नहीं आया था। अभी अलग-अलग जीवनियों के लिखने का ही ख्याल था–"सोच रहे हैं भारतीय कम्युनिस्ट-नेताओं में से कुछ की जीवनी लिखें" (1 दिसम्बर, 1941)। 18 दिसम्बर को एक साहित्यिक दोस्त की चिट्ठी मिली। उन्होंने लिखा था–"आपके या मार्क्सवादी विचारों के अधिक निकट होने पर भी मैं भारतीय कम्युनिस्टों की रीति-नीति और व्यक्तित्व का विशेष कायल नहीं हूँ। आशा है, आप इस स्पष्ट सम्मति से बुरा नहीं मानेंगे।" मैंने बुरा नहीं माना, अपनी डायरी में उनके बारे में सिर्फ इतना ही नोट किया–"है न निर्मल नक्षत्रलोक बिहारी तारकराज।"

मुझे यह ख्याल आया कि कम्युनिस्ट नेताओं की जीवनियों पर एक पुस्तक लिखूँ, जिस पर उनकी रीति-नीति और व्यक्तित्व के न कायल लोग भी कुछ सोचने के लिए मजबूर हों। यहाँ से 'नये भारत के नये नेता' के लिखने का संकल्प हुआ। शायद मेरे उक्त दोस्त अब भी अपने उन्हीं विचारों पर दृढ़ हैं। यदि हैं, तो यही कहूँगा, कि राजनीति और समाजनीति से मजाक करना बहुत आसान काम है।

दिसंबर के अंतिम सप्ताह में जापानियों ने कलकत्ता पर बम-बर्षा की। साथी महादेव साहा कलकत्ता से बम्बई आनेवाले थे, मगर टिकट नहीं मिल रहा था, इसलिए रुक गए।

बहुत दिन बाद 29 दिसम्बर को गेशे धर्मवर्धन का पत्र नगर (कुल्लू) से आया। उन्होंने लिखा था, कि मैं दो साल तक लंका में धूमता रहा, अमेरिका जाने का निमन्त्रण आया था, लेकिन युद्ध के कारण न जा सका।

बंबई हिन्दुस्तान के फिल्मों की राजधानी है। सबसे ज्यादा हिन्दी फिल्म यहीं बनते हैं। मैंने वहाँ जब-तब कई फिल्म देखे, लेकिन कालक्षेप के ही ख्याल से। बहुत कम फिल्म मुझे पसन्द आए। पहिली जनवरी को 'कबीर' फिल्म देखने गया, उसके बारे में मैंने डायरी में लिखा–"इतिहास और भूगोल के ऊपर दिल खोलकर छुरी चलाई गई है। नीरू को पाजामा पहिनाया गया। आज भी बनारस की तरफ जुलाहों में बहुत कम ही पाजामा पहनते हैं। रामानन्द को घंटा डुलानेवाला मुछंदर बनाया गया। कबीर के समय कहाँ से लाकर काशिराज को बसा दिया। बनारस से पूछने की क्या जरूरत ? भारतीय थैलीशाहों की राजधानी–बंबई–सबका काम दे सकती है। गाने-नाचने को दिखाकर जब पैसों के बटोरने में बाधा नहीं, तो मौज है और बातों को। तुकाराम के अभंग को राम-रहीम, कृष्ण-करीम कहकर गवाया। गोया कबीर-पंथियों की खजड़ीवाली भजन बुरी थी ?"

पहिली फर्वरी से ही सोवियत युद्ध क्षेत्र में लालसेना के विजय की खबरें स्तालिनग्राद में जर्मन फील्डमार्शल के गिरफ्तार होने के साथ शुरू हुईं। उसके बाद तो फिर पासा ही पलट गया। 9 को खबर आई कि कुर्स्क को लालसेना ने ले लिया। 10 को पता लगा, कि जर्मनों ने रस्तोफ को खाली कर दिया। जर्मन अब उलटे पैर लौटे जा रहे थे।

10 को मालूम हुआ कि गाँधीजी ने लिनलिथगो को चिट्ठी लिखकर कहा है कि अगस्त और बाद में जो उपद्रव देश में हुए, कांग्रेस उनकी जिम्मेवार नहीं, और कांग्रेस के ऊपर उनका इलजाम लगाना झूठा है। पिछले 6 महीनों से कम्युनिस्ट भी यही बातें करते थे।

दुनिया जीवन-मरण के एक भीषण संघर्ष से गुजर रही थी, लेकिन इंगलैंड के थैलीशाहों को सबसे ज्यादा इसी बात की फिकर थी, कि युद्ध के बाद हमारे स्वार्थ कैसे सुरक्षित रहें। यह विचार करते हुए मैंने अपनी पहिली फर्वरी की डायरी में लिखा था–"इंगलैंड और अमेरिका के थैलीशाह शासक युद्धपश्चात् की क्रान्तियों की फिक्र में ज्यादा हैं। कासाब्लंका में रूजवेल्ट, चर्चिल कोई बड़ी जंगी कारवाई करने के लिए नहीं, बल्कि अपनी जनता से अपनी अकर्मण्यता छिपाने के लिए इकट्ठा हुए थे। कामरेड स्तालिन ऐसे कच्चे गुइयाँ नहीं हैं, जो उनके काम में सहायता देते। जीरो फ्रेंच साम्राज्य और फ्रेंच वर्ग-शासन को भी रखना चाहता है, इसलिए उसे क्यों दे-गाल से मिलने के लिए मजबूर किया जाय, आखिर देगाल के साथ मजूर-वर्ग भी तो हैं। ब्रिटिश नौकरशाह भी भारत में कमकरों की आगे आनेवाली तनी भृकुटी को देख रहे हैं। बंगाल में जगपरिवर्तकों की पहुँच हर स्तर में है। मजूर साथ होंगे, देखना है, किसानों में जिन्ना के चेले और फजलुल हक कितनी फूट डाल सकते हैं। बुद्धिजीवी काफी साथ रहेंगे, मलवार में जंगपरिवर्तकों का बहुत प्रभाव है, मगर वह छोटा-सा

प्रान्त है। तमिल प्रान्त में (उनका) मजूरों में ज्यादा जोर, मगर किसानों तथा बुद्धिजीवियों में (क्या है), इसे हम नहीं कह सकते। आन्ध्र में मजबूत, और निर्णायक शक्ति (उनकी) बंगाल जैसी है। बिहार में फूट, बुद्धिजीवियों में सुस्ती किन्तु किसानों में अधिक जागृति (है)। यू. प्रा. में (वह) बढ़ेंगे, खासकर बुद्धिजीवियों में, मजूरों में किसानों में लौटे सिपाहियों द्वारा भी। पंजाब में वर्त्तमान और अगली सरकार भी उनके विरुद्ध रहेगी और नागरिक स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, मगर वहाँ के कुछ शिक्षित तथा सभी यंत्रनिपुण (सैनिक)–जो फौजों से आकर भूखे मरेंगे–जग-परिवर्तन में काफी सहायक होंगे। सिक्खों में खूब जोर बढ़ेगा, हिन्दुओं में उन्हीं सैनिकों से आशा (है)। मुसल्मानों में भी वही सैनिक (जगपरिवर्त्तक) होंगे और सारे प्रतिगामी एक ओर (होंगे)। सब मिलकर पंजाब में भी भविष्य बेहतर होगा। मध्यप्रान्त में मुर्दा-सा····। सिन्ध में (फैसला) नागरिक स्वतंत्रता और लाल-सेना के प्रभाव से कितना लाभ उठा सकते हैं, इस पर निर्भर है। बम्बई और महाराष्ट्र में मजूरों से बाहर उनका काम न बढ़ रहा है, न उसका कोई प्रोग्राम है। अंग्रेज़ी के जर्निलज़्म (पत्रकार-कला) से यह काम नहीं हो सकता। बुद्धिजीवी पक्के क्रान्तिकारी नहीं होते, मगर उन पर प्रभाव डालने या पछाड़ने से हमारा प्रचार हर तबके में बढ़ता है। इसकी तरफ महाराष्ट्र-जगपरिवर्त्तकों का ध्यान तक नहीं है। गुजरात में कुछ हो सकता है, मगर काम करनेवाले हाथ कम हैं, गाँधीजी का प्रभाव मजूरों तक से भी उठा नहीं, इसलिए वह कमजोर रहेंगे। कर्नाटक अभी मध्यप्रान्त की कोटि में है। आसाम में सुरमा वेली (उपत्यका) आगे रहेगी। और फिर भारत में अंग्रेज नौकरशाही सबसे प्रतिगामी और शक्तिशाली है, वह भारतीय (पूँजीपतिवर्ग) से जरूर समझौता करेगी और परिवर्त्तक शक्तियों को नष्ट करने की भारी (कोशिश करेगी), मगर (पूँजीशाहों की) इंगलैंड में हालत अच्छी नहीं रहेगी। मजूर-नेता कम्युनिस्टों के साथ एकता करके मजूरों की एकता को मजबूत नहीं होने देंगे। किन्तु, तब भी इंगलैंड में कम्युनिस्टों के प्रचार में लालसेना की सफलता सबसे ज्यादा सहायक होगी। युद्ध के बाद सेना, सिविक-गार्ड, बारूद-फैक्टरियों से निकाले गये भूखे मरते स्त्री-पुरुष। इनके सामने टोरी-मजूर नेताओं की ताकत (बेकार होगी)। रियायतों से पेट नहीं भरा जा सकता। जोर (इस्तेमाल करने पर) गृहयुद्ध (होगा)। लालसेना का यूरोप पर प्रभाव (पड़ना निश्चित है)। यूरोप-अमेरिका के थैलीशाह शासक जर्मनी को हिटलरों की प्रसव-भूमि बनाए रखना चाहते हैं, जिसमें सोवियत को आगे के लिए भी फँसाए रखा जाय। मगर सोवियत इनसे कहीं ज्यादा होशियार है। वह जर्मनी में युंकर तथा क्रूप् आदि की पौधों को नहीं रहने देगी, चाहे चर्चिल-रूजवेल्ट कुछ भी करना चाहें, अर्थात् जर्मनी में मजूर-किसान राज्य–सोवियत–(चाहे न भी हो), किन्तु (होगा वह) सोवियत समर्थक। इंगलैंड अपने स्वार्थ-द्वन्द्व और गृहयुद्ध के डर से लालसेना पर हल्ला नहीं बोल सकता। राइन के पूरब और यूरोप से प्रतिगामी शक्तियों का खातमा होगा। इसका भी प्रभाव फ्रान्स और इंगलैंड पर (पड़ेगा)। अमेरिका को भरोसा है, कि लालसेना अतलांतिक पार कर आक्रमण करके साम्यवाद नहीं कायम करेगी। फिर वह क्यों चर्चिल की आग में कूदेगा ? ब्रिटिश थैलीशाही की साख विश्व के बाजार में खतम, जिससे कि इंगलैंड में वह कमजोर, जिससे उसके भारतीय प्रतिनिधि कमजोर; जिससे भारत ही नहीं, बल्कि अफगानिस्तान तथा ईरान में भी परिवर्त्तक शक्तियों को बल प्राप्त (होगा)। चीन भी, सोवियत के साथ रहेगा, क्योंकि चर्चिल-एमरी हांग-कांग तथा दूसरी जगहों पर लुप्त यूनियन-जैक गाड़ने का (मनसूबा) रखते हैं। और जापान ?–जापान में परिवर्त्तक शक्तियों का बढ़ना अवश्यम्भावी, राज्य-शक्ति पर अधिकार तक संभव (है)। थैलीशाहों की सारी जाति से बदला लेने की नीति, अपने लिए बाजार का सुभीता करने, राष्ट्रीय बिखराव तथा अपमान का मनसूबा वहाँ की सारी जनता को सोवियत-पक्षपाती बना देगा। सोवियत अपनी पश्चिमी सीमा की भाँति पूर्वी सीमा को भी सुरक्षित करेगी। उसे फिर दूसरा युद्ध अपनी सीमाओं पर नहीं लड़ना है, यह बात तय है। कोरिया में जन-प्रजातन्त्र बनेगा। मन्चूरिया चीन के भीतर किन्तु एक परिवर्त्तक भूखण्ड होगा। जावा आदि में पूर्व-व्यवस्था कायम होगी, मगर उसमें (भारी) विरोध उठ खड़े होंगे–इंगलैंड की तरह हालैंड की भीतरी दिक्कतें, निवासियों की स्वातन्त्र्य-आकांक्षा तथा हार को निश्चित देख जापानियों को वहाँ के लोगों को अधिकाधिक अधिकार देकर यूरोपियन पूँजीशाहों के खिलाफ मनोभाव तथा शक्ति तैयार करने का प्रयत्न (करना होगा)। इस प्रकार प्रशान्त महासागर के इस छोर पर प्रशान्ति नहीं रही। हाँ, फिलीपीन स्वतन्त्र होगा। अब इस चित्रपट के भीतर देखो भारत को। भारत

के फौलादी ढाँचे ढीले, यद्यपि ऐंठ पहिली-सी हैं।"

लड़ाई से लौटे भूखे नौजवान कुछ करने के लिए उतावले, गाँधीवाद–भारतीय पूँजीवाद का अंग्रेज, पूँजीपतियों से गठबन्धन, परिवर्त्तक विचारों का अधिक प्रसार, परिवर्त्तन के पक्ष में मजूरों की जबर्दस्त शक्ति, किसानों और रियासतों के अनवरत संघर्ष, मार्क्सीदल का सर्वत्र भारी प्रभाव। "अब बताओ" कौन अधिक बलवान रहेगा ? परिवर्त्तक शक्तियाँ या भारतीय पूँजीपति अंग्रेज नौकरशाह–गुड़ियाराजा।

फर्वरी के अन्त में मुझे फिर बुखार आ गया, और अब बम्बई छोड़ने का ही निश्चय हुआ और 3 मार्च को मैं बम्बई से रवाना हुआ।

9. युक्तप्रान्त और बिहार में (मार्च-अप्रेल)

उस दिन पंजाब-मेल में बड़ी भीड़ थी, लेकिन जिस डिब्बे में मैं बैठा, उसमें कुछ सैनिक भी बैठे थे, जिसका मतलब था, दूसरों के लिए दरवाजा बन्द। 4 मार्च को मैं आगरा पहुँचा। बुखार दो-तीन दिन और रहा। 8 तारीख को नागार्जुन भी सिन्ध से पहुँच गए, और तब से तीन महीने तक हम दोनों साथ ही रहे। अबकी बार मैं प्रान्तीय किसान सम्मेलन का सभापतित्व करने के लिए इधर आया था। सम्मेलन 14, 15 मार्च को होनेवाला था, लेकिन बुखार के कारण मैं कुछ पहिले ही चला आया। आगरा में एक हफ्ता रहने के बाद फीरोजाबाद चला गया। आगरा छावनी में गाड़ी में बड़ी भीड़ थी, आगरा में आकर तो वह और ठसमठस भर गई। खैर, जँगले के पास बैठे हुए थे, इसलिए चारों ओर पके गेहूँ की सुनहली बालियों को देखकर प्रसन्नता हो रही थी। लेकिन फसल सभी जगह अच्छी नहीं थी। सभी जगह खाद-पानी अच्छा हो, तभी न फसल अच्छी हो। पानी तो है, मगर जमीन के नीचे से निकाला कैसे जाय ? बैल और चरसे से किसान लुटिया-लुटिया-भर पानी निकालते हैं, यह तो प्यासे को सीक से पानी पिलाना है। यमुना के आसपास की समतल मिट्टीवाली जमीन पहाड़ों के खोहेंवाली जैसी मालूम होती है। सैंकड़ों पीढ़ियों से इसे हम एक स्वाभाविक दृश्य समझते आए हैं, कभी इस बात पर ख्याल भी नहीं किया, कि कितनी मिट्टी इस तरह हर साल बहकर समुद्र में जा रही है। पानी को तो खैर, बादल कुछ लौटा भी लाते हैं, किन्तु समुद्र के पेट में गई मिट्टी तो एक तोला भी लौट के नहीं आती। भूतत्त्व-शास्त्री बतलाते हैं, कि आरंभिक आग्नेय चट्टानों से घिस-घिसकर हजारों वर्षों में एक अंगुल मोटी मिट्टी बनी। प्रकृति की यह कितनी मँहगी देन है, लेकिन इसकी रक्षा का हमने कोई इंतिजाम नहीं किया। सोवियत में अब इसकी ओर बहुत ध्यान दिया जाने लगा है, वहाँ सीमेन्ट के नाले और बाँध बनाए जा रहे हैं, जिसमें कम से कम मिट्टी समुद्र में जाने पाए; हमारे यहाँ तो न जाने कब इसके लिए कोई प्रयत्न किया जायेगा।

फीरोजाबाद में उस दिन साथी अंसारी के घर पर खाना खाने गए। यह एक मध्यमवर्गीय पुराना खानदान है। सदियों से इनके यहाँ पर्दा होता आया है, लेकिन उनकी बीवी और बड़ी लड़की दोनों ने पर्दा छोड़ दिया। खानदान में बड़ी खलबली मची है। खुद बूढ़ी माँ तक ने बेटे का बायकाट कर दिया है। छोटी लड़की कह रही थी कि दादी बर्तन में हाथ नहीं लगाने देतीं, कहती हैं–तुम लोग अल्ला को नहीं मानते, दोजख में जाओगे। मैंने उससे कहा–रोनी सूरत बनाकर गिड़गिड़ाते हुए दादी के पैर पकड़कर कहना कि दादी तू तो अंगूरों के बाग में जायगी। लेकिन दोजख और बहिश्त के बीच में एक छोटी पतली दीवार है, मैं कुछ भी होऊँ, लेकिन हूँ तो तेरी ही पोती; कभी-कभी एकाध गुच्छा तोड़कर हमारी ओर भी फेंक देना। बच्ची कहने लगी–ऐसा कहने पर मारने दौड़ेंगी। दादी बेचारी को बड़ा दुःख है। 26, 27 साल पहिले मैं एक से अधिक बार फीरोजाबाद आया था। एक बार आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के अवसर पर भी व्याख्यान देने आया था। आर्यसमाज के जबर्दस्त वक्ता प्रयागदत्त अवस्थी भी पहुँचे थे। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरब का ब्राह्मण-पुत्र हूँ, तो बड़ी गम्भीरता से समझाने लगे– देखो, इस धर्महल्ले में खाना मत खाया करो, यहाँ ढेढ़-चमार सब घुस आते हैं; अपना भोजन आप बनाया करो। लेकिन पंडितजी के उपदेशों के लिए मेरे कान में जगह न थी; यदि वह मेरा आज का खाना देखते, तो न जाने क्या कहते। हाँ, फीरोजाबाद तब से बहुत बढ़ गया है। अब इसकी आबादी

40 हजार है, और चूड़ी बनाने के 60 कारखाने। फीरोजाबाद सारे हिन्दुस्तान को चूड़ी देता है। युद्ध के समय, जब कि विदेशी चूड़ियाँ आनी बन्द हो गईं, यह अकेले सारे भारत की नारियों की सौभाग्य-रक्षा कर रहा है। लेकिन उसके रास्ते में बहुत-सी रुकावटें हैं—कोयला न मिलने से 25 कारखाने बन्द हो गये हैं। मजदूरों का संगठन मजबूत है।

10. बछगाँव में (13-15 मार्च)

किसान-सम्मेलन बछगाँव में होनेवाला था, इसलिए 13 तारीख को हम बैलगाड़ी से बछगाँव के लिए रवाना हुए। 10 मील का रास्ता है, किंतु बैलगाड़ी को अपनी चाल से चलना था, तो भी हमारा रास्ता अच्छी तरह से कटा। अलीगढ़ और प्रतापगढ़ के दो साथी साथ में किसानों के गीत गाते चल रहे थे, जिसमें से एक के पद्य बनारसी और अवधी में थे, और दूसरे के व्रजभाषा में। कच्ची सड़क की दोनों तरफ खेत थे, जिनमें चने पके हुए थे। लोग होले उखाड़-उखाड़कर ला रहे थे, सतयुग से यही धर्म चला आया है, इसलिए लोगों ने शायद ही मालिक से पूछने की जरूरत समझी हो। कच्चे होले खाते हम अपना रास्ता नाप रहे थे। हमारे गाड़ीवान को गणेशपाल का बारहमासा बहुत पसन्द आया, उस बारहमासे में बहुत सीधी-सादी व्रजभाषा में किसानों की बारह मास की विपदा गाई हुई थी। गाड़ीवान लिखना-पढ़ना नहीं जानता था, लेकिन उसने गणेशपाल से बार-बार बिनती की, कि इस बारहमासे को लिखकर हमें दे दें। रास्ते में हमें बहुत-सी लकड़ी भरी गाड़ियाँ मिलीं। लोग बतला रहे थे, कि यह चूड़ी के कारखानों के लिए जा रही हैं, गीली होने पर भी तीस सेर का एक रुपया मिल जाता है। फीरोजाबाद के दस-दस बीस-बीस कोस तक के दरख्त बड़ी बेदर्दी से काटे जा रहे थे। बाग एक साल में तैयार नहीं होते, और यहाँ उनके ऊपर एक ओर से कुल्हाड़ा चलाया जा रहा था।

दोपहर को हम बछगाँव पहुँचे। बछगाँव एक साधारण-सा गाँव है, लेकिन 'वत्सग्राम' नाम पुराना मालूम होता है। भरद्वाजवंशज वत्स इसी कुरु-पंचाल के रहनेवाले थे, लेकिन आज से तैंतीस-चौंतीस सौ वर्ष पहिले वह इसी ग्राम में रहते थे, यह कहने के लिए हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है। हाँ, गाँव के वाहर के देवस्थान में एक शुंगकालीन खंडित मूर्त्ति देखी, जिससे इतना तो पता लगता है कि आज से 21-22 सौ वर्ष पहिले यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान था।

सम्मेलन के रास्ते में पुलिसवालों ने जहाँ तक हो सका, बाधा डाली। फीरोजाबाद में तो जुलूस निकालने के खिलाफ हुकुम निकाल दिया गया था, लेकिन श्री मुंशीलाल गोस्वामी और दूसरे साथियों ने सम्मेलन को सफल बनाने के लिए खूब मेहनत की थी। पुलिसवालों ने इतना ही नहीं कहा था कि जो सम्मेलन में जायगा, वह पकड़ा जायगा, बल्कि उन्होंने वहाँ सड़क के किनारे अपना खेमा भी डाल दिया था। लेकिन तब भी सम्मेलन में तीन हजार से अधिक किसान आये। एक हजार औरतों का आना बतला रहा था, कि साथी हाजरा और उनकी सहायिका मुन्नी शुक्ला की की हुई मेहनत अकारथ नहीं गई। हाजरा नवाबों के खानदान में इसलिए नहीं पैदा हुई थी, कि धूप में पैदल एक गाँव से दूसरे गाँव में दौड़ती फिरें, लेकिन उन्होंने खुद इस रास्ते को स्वीकार किया था। हाजरा एक ब्राह्मण परिवार में ठहरी थीं। मैंने देखा, जिस वक्त वह बूढ़ी अम्मा से बिदाई ले रही थीं, तो बुढ़िया की आँखों में आँसू थे। उसने उसी तरह हाजरा को बिदा किया, जैसे माँ अपनी बेटी को बिदा करती है। उसको यह भी नहीं ख्याल आया, कि यह मुसल्मान लड़की है। हफ्ते-भर में हाजरा अम्मा के घर की बेटी बन गई थीं। सभा में कितने ही किसान कवि और गायक आये थे। बनारस जिले के धर्मराज और रामकेर भी पहुँचे थे। मैं रामकेर की कविता की प्रशंसा सुन चुका था, डफ बजाते हुए जब रामकेर ने सुनाया—"खुसी रहो या रंज रहो, तूँ अपने घरे हम अपने घरे" तो सारी जनता मुग्ध हो गई। मैं डर रहा था, कि पांचाली (भाषा)—क्षेत्र में बनारस के गाँव की भाषा लोग नहीं समझेंगे, लेकिन रामकेर ने अपने अटट देहाती गीतों को सुनाकर उन्हें मुग्ध कर दिया, और मेरी धारणा गलत साबित हुई। यहीं मुझे अनुभव हुआ कि युक्तप्रान्त और बिहार की स्थानीय मातृ-भाषाओं में भी शब्दकोष और मुहावरों की इतनी समानता है, कि लोग उसे अच्छी

तरह समझ लेते हैं। सम्मेलन सफल रहा। स्त्रियों का भी एक सम्मेलन हुआ, जिसकी स्वागताध्यक्षा गोस्वामीजी की बीवी हुईं।

15 मार्च के आधी रात को कुछ लोग गाड़ियों पर और कुछ पैदल चल पड़े। प्रतापगढ़ी भाई ने एक बिरहा गाया–"जैके लाणे हैं, अनेकों ठगहार।" कुछ नौजवानों ने इस कड़ी को उड़ा लिया और उसमें जोड़-जोड़कर वह रात-भर रास्ते में बिरहा गाते फीरोजाबाद पहुँच गये। फीरोजाबाद में मैंने देखा, हाजरा और मुन्नी शुक्ला–एक मुसल्मान और दूसरी जौनपुर के ब्राह्मणी–एक थाली में खा रही हैं। कम्युनिस्ट अपने खाने-पीने को छिपाते नहीं। इस पर टिप्पणियाँ जरूर होती होंगी, पर उनको इसकी पर्वाह नहीं है। वह जिस भविष्य का सपना देख रहे हैं, उसमें यह एक मामूली बात है। मुन्नी के लिए यह जरूर आश्चर्य की बात थी, क्योंकि छै ही महीने पहिले उन्होंने घर से बाहर पैर रखा था।

उस दिन (16 मार्च) शाम को हमारा खाना डाक्टर अशरफ के साढ़ू के यहाँ हुआ। कुलुसुम्–अशरफ की बीवी–भी आजकल यहीं थीं। 5, 6 वर्ष के साहेबजादे से रास्ते में भेंट हुई थी, वह किसी लड़के के साथ स्कूल से आ रहे थे। मैंने पूछा–"कहाँ गये थे ?" लजाने की कोई बात नहीं थी, उन्होंने बड़े इतमीनान से जवाब दिया–"स्कूल से आ रहा हूँ।" मैंने पूछा–"पढ़ने गये थे ?" जवाब और भी इतमीनान के साथ मिला–"बच्चों को देखने गया था।" गोया हजरत बच्चे नहीं थे और स्कूल में सोलह-सोलह वर्ष के पढ़नेवाले सब बच्चे थे ! आखिर जन्मजात वक्ता अशरफ से साहेबजादे हैं न ! भोजन तो खैर अच्छा बना ही था, लेकिन सबसे आनन्द की चीज थी, स्त्रियों के गीत की चर्चा। हाजरा ने भी कितने ही गीतें जमा किये हैं, कुलुसुम् को कौमारावस्था के याद किये हुए कुछ गीत मालूम थे। वह मथुरा जिले के गाँव की रहनेवाली हैं और सो भी हिन्दू की लड़की। उनके सारे गीत हिन्दुओं के थे, विवाह और कन्या की बिदाई से सम्बन्ध रखनेवाले कितने ही मार्मिक गीत कुलुसुम् ने सुनाये। उन्होंने इस ओर मेरी बहुत दिलचस्पी देखकर कहा, एक बार आइए, जब मैं अपने नैहर में रहूँ, फिर खूब अच्छे-अच्छे गीत सुनवाऊँगी। हाँ, यहाँ एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात को मैं छोड़ गया। कुलुसुम् के भाई धनसिंह और प्रतापसिंह हिन्दू राजपूत हैं, और पति डाक्टर अशरफ मुसल्मान राजपूत। हिन्दुस्तान में पन्द्रह-बीस लाख ऐसे राजपूत हैं, जिनमें धर्म की प्रधानता नहीं, जाति की प्रधानता है। चाहे कोई मुसल्मान धर्म माने, चाहे कोई हिन्दू, ब्याह-शादी वह आपस में करते हैं। कुलुसुम् की शादी इसी तरह से हुई है। मैंने सोचा, इन लोगों ने सैकड़ों वर्ष पहिले ही से भविष्य के हिन्दुस्तान के लिए रास्ता दिखला दिया है।

प्रयाग, बनारस होते हम छपरा पहुँचे। पता पहिले ही लग गया था कि पं. गोरखनाथ त्रिवेदी के घर में चोरी हो गई। हजारों के जेवर और कपड़े चोरी गये। मेरे 2, 3 बड़े-बड़े बकसों के भारी वजन को देख चोरों ने समझा कि इनमें रुपये भरे हैं, और यह उन्हें भी उठा ले गये। खेत में जाकर खोला तो देखा, उनमें किताबें हैं। कुछ कपड़े भी थे, जिन्हें वह ले गये, बाकी को वह वहीं छोड़ गये। मुझे बड़ी खुशी हुई, जब देखा मेरे असली धन को उन्होंने नहीं छुआ–वहाँ कई साल की डायरियाँ थीं।

25 मार्च को पटना में अन्न-कष्ट के सम्बन्ध में नागरिकों की सभा थी। मुसलिम लीग, हिन्दू सभा, जमींदार और कम्यूनिस्ट सभी इसमें शामिल थे। 5 महीना पहिले पटना को जिस वक्त मैंने छोड़ा था, उस वक्त कम्यूनिस्टों ने अभी-अभी इस काम में हाथ लगाया था। उस वक्त वह अकेले थे, लेकिन आज सभी उनका साथ दे रहे थे। रुपये का तीन सेर चावल, दो सेर गेहूँ बिक रहा था, और वह भी मिलना मुश्किल था। दस आना, बारह आना सेर सत्तू था, जब कि छै-सात आना सेर चीनी मिल रही थी। चार-पाँच साल पहिले यदि कहा जाता, कि दो सेर चीनी में एक सेर सत्तू मिलेगा, तो लोग विश्वास नहीं करते। लेकिन अब लड़ाई ने असम्भव को सम्भव कर दिया है। छपरा के गाँवों में घूमने पर लोग यही पूछ रहे थे, कि लड़ाई कब खतम होगी। ढाई सेर के चावल के खरीदने की किसमें हिम्मत थी ? दो रुपये का धोती जोड़ा अब दस रुपये में बिक रहा था। चारों ओर त्राहि-त्राहि मची थी।

5 अप्रेल को मैं अतरसन (छपरा) में था। लोग बतला रहे थे, महाराज गंज में कल दो सेर का चावल

बिका। आजकल अनाज की डकैतियाँ बहुत बढ़ गई थीं। 7 अप्रेल को सीवान में कोई सज्जन बतला रहे थे, कि कमलाराय (?) के यहाँ कुछ आदमी उधार अनाज माँगने गये। उन्होंने नहीं दिया, इस पर डाकुओं ने उनके खलिहान में आग लगा दी, और डेढ़ हजार मन अनाज राख हो गया। यह बड़ी ही हृदयद्रावक बात थी—अनाज को जलाना, लूटना नहीं ! किसी समय मनुष्य के मुँह के आहार अनाज तथा पशु के मुँह के आहार तृण में आग लगाना भारी पाप समझा जाता था। मुझे बचपन की बात याद आ गई। कनैला में हमारे घर में काफी धान होता था, और जाड़ों में पुआल का भारी गंज लगा रहता था। आग तापते वक्त हम लड़के जब उसमें से दो-चार तिनके आग में डाल देते, तो आजी (दादी) तिलमिलाकर कह उठती, "गऊ के मुँह का आहार जला रहे हो ! बड़ा पाप होता है।" और सचमुच हम लड़के भी कुछ सहम जाते थे।

8 अप्रेल को हम लोग जैजोरी गये। खलिहान का काम हो रहा था। बादल था। दोपहर को कुछ बूँदें भी गिरीं। खलिहान का अनाज जब तक घर में नहीं आ जाता, तब तक किसान डरते रहते हैं। देखा, एक्कों का किराया ज्यादा नहीं बढ़ा है। दूध और नमक का दाम पहिले ही जैसा रहा, किन्तु बैलों का दाम कई गुना बढ़ गया। किसान कह रहे थे, कि हमारे बैलों को सरकार पल्टन के लिए खरीद रही है। कोई-कोई तो कहते थे कि बैल को तोलकर 40 रुपया मन दाम दे दिया जाता है। कुछ भी हो, आजकल पल्टन के खाने के लिए गाय-बैल ज्यादा मारे जा रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं और खेतों के लिए यह एक बड़ी समस्या हो रही है। फरीदपुर में हक साहेब के 'आशियाना' में गये। 22 वर्ष पहिले मैं यहाँ बाबू मथुराप्रसाद के साथ आया था। वह दिन याद है, जब बेगम हक ने यहाँ हम लोगों को चाय पिलाई, और बाबू मथुराप्रसाद ने वैष्णव समझकर मुझे समझाना चाहा, कि चाय पीने में कोई हर्ज नहीं है, किन्तु मैं उससे पहिले ही कुर्ग में एक थाली में मुसल्मान के साथ खा चुका था। 1926 में हम साहेब के पास जब आया था, तो पुस्तकों के ढेर में बैठे उन्होंने कहा था—"आओ बैठो, यहाँ पढ़ो, और अध्यात्मविद्या का अभ्यास करो।"

दोपहर को यहीं मजहर के यहाँ भोजन करके हम जैजोरी गये। उस दिन वहाँ और अगले दिन अमवारी में किसानों की सभा हुई। आज की परिस्थिति पर मैंने कुछ कहा। जैजोरी में ही सुन लिया था, कि अदमापुर के (घाघरावाले) बाँध को राहुल बाबा ने बँधवा दिया। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। अमवारी में जब अदमापुर के बाँध बँधवाने के लिए राहुल बाबा का गीत रामायन के साथ झाल-ढोलक लेकर गाते सुना, तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। इतना ही नहीं, माँझी का रेल का पुल भूकम्प के वक्त टूट गया था, उसकी मरम्मत का भी श्रेय अंग्रेज कम्पनी या सरकार को नहीं, राहुल बाबा को दिया जा रहा था। किस तरह पँवारे बना करते हैं, यह इसका एक अच्छा उदाहरण था। अदमापुर के बाँध बँधवाने में सत्यता का अंश इतना ही था, कि 4 वर्ष पहिले मैंने घाघरा के बाँध के लिए जनता का एक जबर्दस्त प्रदर्शन छपरा में करवाया था, जिसमें 12, 13 थानों के किसान आये थे, अमवारी के भी किसान पहुँचे थे। पीछे सरकार ने जब उस बाँध को बँधवा दिया, और जिन खेतों में 4 वर्ष से पानी आ जाने के कारण एक अच्छत भी नहीं होता था, उसमें खूब धान होने लगा; तो किसानों की सहज बुद्धि और स्नेहपूर्ण हृदय ने अदमापुर के बाँध के साथ मेरा नाम जोड़ दिया। अमवारी के किसान अब अच्छी अवस्था में थे। चन्द्रेश्वर बाबू और उनके परिवार का इन किसानों के प्रति अब अच्छा बर्त्ताव था। सत्याग्रह के वक्त गुप्तेश्वर बाबू लठियलों को मेरे ऊपर प्रहार करने के लिए उकसा रहे थे, और आज उन्होंने बड़े आग्रह से अपने ही दरवाजे पर सभा करवाई, प्रान्तीय किसान सम्मेलन के लिए चन्दा दिया और दूसरों को भी देने के लिए कहा। व्याख्यान के बाद जलपान कराया और बहुत दूर तक पहुँचाने आये। भाषण में मैंने कहा था, जिस स्वप्न को हम देख रहे हैं, उसमें किसी को कष्ट-चिन्ता न रह जायेगी।

6

चौंतीस साल बाद जन्मग्राम में

चौंतीस साल क्या होता है, इसका साक्षात्कार मुझे अब से पहिले कभी नहीं हुआ था। गिनने को कई घटनायें थीं, जिन्हें चौंतीस क्या उससे भी अधिक सालों में मैं गिन लिया करता था; मगर चौंतीस साल का ठीक-ठीक रूप मुझे तभी मालूम हुआ, जब मैंने अपने जन्मग्राम पन्दहा में–जो मेरे नाना का ग्राम है–उन चेहरों को देखा, जिन्हें मैंने यौवन के वसंत में देखा था। और आज ? मेरी तीन मामियों में से एक सूरजबली मामा की बहू को ले लीजिये। 1909 ई. में उन्हें मैंने 20-22 साल की तरुण सुन्दरी के रूप में छोड़ा था और आज उनके चेहरे पर गंगा-यमुना के असंख्य नाले खिंचे हुए थे। ऊपर से एक आँख भी जाती रही। आज उस सुन्दर चेहरे का कहीं पता नहीं। पन्दहा के आज के निवासियों में मेरे परिचित चेहरों की संख्या एक दर्जन से अधिक नहीं थी, और उन सबकी हालत पके आम की-सी थी।

सारे परिचित चेहरे यद्यपि अधिकतर सदा के लिए विलुप्त हो चुके थे, तथापि उनकी जगह मैंने बहुत से तरुण चेहरे देखे और उनमें से कितनों से परिचय प्राप्त किया। इन नव-परिचित चेहरों का साक्षात् होने से जो आनन्द हुआ, उसी ने इस बात की नयाय्यता को समझा दिया, कि नयों के आने के लिए पुरानों का स्थान खाली करना जरूरी है।

सत्ताईस साल हो गये, जब से मैं अपने आजमगढ़ जिले में नहीं गया था। पचास साल पूरे होने के साथ 9 अप्रेल 1943 के बाद, मैं आजमगढ़ जिले में जाने के लिए स्वतंत्र था। यद्यपि इस समय की प्रतीक्षा मेरे बन्धुओं की तरह मैं भी कर रहा था, किन्तु दूसरे कामों को देखते हुए मैं समझ रहा था, कि शायद इस वर्ष जाने का मौका न मिल सकेगा, लेकिन समय मिल गया।

12 अप्रेल की रात को एक बजे सीवान (छपरा) से नागार्जुन और मैं रेल द्वारा आजमगढ़ के लिए रवाना हुए। मऊ में एक बजे दिन की तपती भूमि पर भी पैर रखते वक्त एक तरह का आनन्द मालूम होता था। मालूम हो रहा था, किसी न्यामत से मैं अब तक वंचित था और आज वह मुझे मिल रही थी। दूसरी ट्रेन के जिस डिब्बे में हम बैठे, उसमें कितने ही बलिष्ठ ग्रामीण भद्रजन बैठे थे। उनके लम्बे-चौड़े स्वस्थ शरीर को देखकर मुझे अभिमान हो रहा था। वे उसी भाषा को बड़ी जिन्दादिली के साथ बोल रहे थे, जिसे मैंने भी माँ के दूध के साथ सीखा था। मुझे इसका अफसोस हो रहा था, कि मैं उसे अब नहीं बोल सकता। आजमगढ़ जिले के सात दिन के निवास में अपने बन्धु-मित्रों से उनकी भाषा में बोलने का प्रयास मैंने करके देखा, लेकिन मेरे मुँह से छपरा की बोली निकल आती थी।

आजमगढ़ के तरुण साहित्यिक श्री परमेश्वरीलाल गुप्त स्टेशन पर मौजूद थे, इसलिए शहर में धर्मशाला ढूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ी। मैं इस यात्रा में एक तीर्थयात्री के तौर पर गया था और शैशव के स्मरणीय स्थानों के साथ फिर से परिचय तथा साक्षात्कार की लालसा रखता था; इसलिए मैं सार्वजनिक रूप से किसी समागम या अभिनन्दन में शामिल नहीं होना चाहता था। गुप्तजी ने मेरे भावों का ख्याल किया, यह प्रसन्नता की बात थी।

आजमगढ़ शहर से यद्यपि मेरा जन्मग्राम पन्दहा, सात मील से ज्यादा नहीं है, तो भी मगर मैं शहर में बहुत कम गया हूँ। वहाँ के तहसीली स्कूल को देखा था। अबकी गया तो देखा, वह दूसरी जगह चला गया है। मकान नया है, किन्तु पुराने मकान की श्रीहीनता कायम रखने की पूरी कोशिश की गई है। शिबली-मंजिल आजमगढ़ की एक खास चीज है। इस्लामिक संस्कृति के मर्मज्ञ, अरबी-फारसी के महाविद्वान् अल्लामा शिबली एक महान प्रतिभा के धनी थे। उन्होंने अपनी लेखनी, तथा अध्ययन-अध्यापन द्वारा देश की भारी सांस्कृतिक सेवा की है। यह देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई, कि उनके काम को और भी विस्तृत रूप में जारी रखकर मौलाना सुलेमान नदवी ने अपने गुरु की इस जीवित यादगार को कायम रखा था। शिबली-मंजिल में कितने ही विद्वान

बड़े त्याग और तन्मयता के साथ इस्लामिक अनुसन्धान और ग्रन्थ-प्रणयन में लगे रहते हैं। शिबली-मंजिल का दार-उल-मुआरिफ उर्दू-साहित्य को बहुत समृद्ध कर रहा है।

13 अप्रेल को सबेरे आठ बजे हम दोनों एक्के से रानी की सराय के लिए रवाना हुए। शहर से बाहर निकलते-निकलते पुलिसवालों ने हमारे एक्केवाले की जो गत बनाई, वह एक नया अनुभव था—आज पुलिस सर्वशक्तिमान् थी।

पाँच-छै साल की उम्र में जब मैंने पढ़ने के लिए रानी की सराय में कदम रखा था, तो मैं बहुत डर-डर कर चल पाता था। पन्दहा गाँव के लड़कों के लिए रानी की सराय एक सम्भ्रान्त नगरी थी। वहाँ की हर एक बात से रोब टपकता था। जब रानी की सराय के लड़के पकड़ना कहते, तब मैं समझता कि धरना नहीं, पकड़ना ही नागरिक शब्द है। जब रानी की सराय के पुरुषों को धोती का एक भाग आधी जाँघ तक सीमित रख, दूसरे को घुट्टी तक छोड़ते देखता, तो मुझे मालूम होता, यह है नागरिक वेश। आगे चलकर रानी की सराय की नागरिकता का वह रोब नहीं रहा, तो भी रानी की सराय के मदरसे के छै सालों का मेरे निर्माण में भारी भाग है।

सड़क से चलते एक बार मैं बस्ती के आर-पार हो गया, लेकिन किसी चेहरे को पहचान न सका। एक व्यक्ति कुछ देर खड़े होकर मेरी ओर देख रहे थे, किन्तु रामनिरंजन पंडित रानी की सराय में होंगे, इसका मुझे ख्याल नहीं था। हम दोनों स्टेशन की ओर मुड़े। मेरे सुपरिचित पोखरे रानी-सागर के दक्खिनी भोटे पर हिन्दी मिडिल और प्राइमरी स्कूल मिले। छुट्टी थी, इसलिए वहाँ सुनसान था।

फिर हम तालाब के उत्तरी भोटे की ओर गये। महावीरजी का वही मन्दिर अब भी वहाँ मौजूद था, और साथ ही महावीरजी की सेना-वानरों की संख्या कम नहीं थी। वह कुआँ भी मौजूद था, और उसका जल आज भी उसी तरह बदबू दे रहा था, जैसा बालपन में वह हर साल एक महीने के लिए हो जाया करता था। वहाँ मौजूद दोनों साधुओं से कुछ पूछ-ताछ शुरू की। गेरुआधारी फक्कड़बाबा (बलदेवदास) मेरी ओर खास तौर से देखने लगे और दो-चार ही बातें कर पाया हूँगा, कि उन्होंने झट पूछ दिया—आप राहुल जी तो नहीं हैं। फक्कड़ बाबा भी उस वक्त रानी की सराय के स्कूल में पढ़ते थे, किंतु मैं दो दर्जा नीचे पढ़ता था। अब अपने परिचितों का पता पाना आसान था, लेकिन मेरे अधिकांश परिचित जीवन-शेष कर चुके थे। महावीरजी के मन्दिर के पास बरगद की जड़ में एक खंडित मूर्त्ति रक्खी थी—गुप्तकालीन मूर्त्ति छिपी नहीं रह सकती।

फक्कड़बाबा के साथ अब हम उस स्थान पर आये, जहाँ किसी वक्त हमारा पुराना मदरसा था। बीच में शाला (दालान) तीन तरफ वराण्डा, एक तरफ दो कोठरियाँ—मदरसे का वह नक्शा अब भी मेरे स्मृति-पट पर अंकित है। हर जाड़े में होनेवाली सफेदी से उज्ज्वल उसकी भीतें अभी भी मुझे दिखलाई पड़ती हैं। चारों ओर की चहारदीवारी से घिरे हाते में लगे गेंदे के फूलों की सुगन्ध मानो अब भी मेरी नाक में आ रही थी। लेकिन मैंने उस स्थान को जिस स्थिति में देखा, उससे चित्त खिन्न हो गया। अब वहाँ उस मदरसे का कोई चिह्न नहीं रह गया था। यहाँ थे अड़ूसे और कुछ दूसरे कँटीले पौधे। लोग इस स्थान को खुले पाखाने के तौर पर इस्तेमाल करते थे। हाँ, हमारी परिचित इमलियों में एकाध अभी भी मौजूद थी।

बाजार में द्वारिकाप्रसाद, रामनिरंजन पंडित और कुछ और मित्र मिले। उनका स्नेह-भरा स्वागत प्राप्त हुआ।

रानी की सराय से पन्दहा मील-भर से ज्यादा दूर नहीं है। धूप में हम जाना नहीं चाहते थे, किन्तु हमारे आने की खबर पन्दहा पहिले ही पहुँच चुकी थी। रामदीन मामा के पुत्र कैलाश प्रस्थान करने से पूर्व ही आ भी गये।

मदरसा आने के हमारे दो रास्ते थे, जिन्हें मैं बचपन की सुनी कहानी के छै महीने और बरस दिन के रास्ते से तुलना किया करता था; यद्यपि दोनों में कौन छै महीने और कौन बरस दिन का था, इसका निर्णय मैं कभी नहीं कर पाया। मेरे लिए दोनों कठिन रास्ते थे। एक पर एक ठूँठा पीपल था और ठुँठवा बाबा का प्रताप इतना जगा था, कि फल और तरकारी बेचनेवाले स्त्री-पुरुष भी यहाँ बिना कुछ चढ़ाये आगे नहीं बढ़ते

थे। दूसरे रास्ते पर, बस्ती से दूर नीम के पेड़ों से ढँका वालदत्त राय का पोखरा था; जिससे दोपहर के वक्त भी सही-सलामत पार हो जाना मुश्किल था—वहाँ एक नहीं, हजारों भूत जेठ की दुपहरी में नाचा करते थे। इन दोनों स्थानों के बाबों के चरणों में नानी को गिड़गिड़ाकर नाती के लिए दुआ माँगते देख मुझे विश्वास हो गया था, कि ये स्थान भारी खतरे से भरे हुए हैं। मैं उर्दू का विद्यार्थी था, मगर बाबों का डर इतना भारी था कि "भूत पिशाच निकट नहि आवे। महावीर जब नाम सुनावे" की महिमा सुनकर मैंने सारा हनुमान-चालीस याद कर डाला था।

हम वालदत्त के पोखरे के रास्ते से गये। पास की परती और जंगल अब खेत बन गये थे। वर्षों से भूतों ने पोखरे पर नृत्य-महोत्सव रचाना बन्द कर दिया—लोगों के दिल से उनका डर जाता रहा। ठुँठवा बाबा की हालत तो और भी खराब थी। कच्ची सड़क के किनारे कुछ पतली डाली और चन्द पत्तियोंवाले उस लम्बे पीपल को दूर तक वृक्ष-वनस्पति-विहीन प्रान्तर में खड़े देखकर रात को किसी भी अकेले बटोही के दिल में भय का संचार होना लाजिमी था। लेकिन वर्षों हो गये, कच्ची सड़क पक्की हो गई, उसके किनारे ऊँचे वृक्षों की पाँत खड़ी हो गई और पीपल उस वृक्ष-पंक्ति में गुम हो गया, जिससे ठुँठवा बाबा के प्रभाव को भारी धक्का लगा। और अब तो वह वृक्ष भी कट चुका है। ठुँठवा बाबा नई पीढ़ी के लिए अपने अस्तित्त्व को खो चुके हैं।

पन्दहा में घुसने पर पहिले वृद्ध परिचित मिले लौहर नाना। अश्रु-गदगद कण्ठ से 'कुलवन्ती के पुत्र—केदार' कहना और फिर गले से लिपट जाना मेरे धैर्य्य पर जबरदस्त प्रहार करने के लिए काफी था।

नेत्रों को सूखा रखने और स्वर को ठीक करने के लिए भारी प्रयत्न करना पड़ा। मेरे सामने से शैशव के प्रियजनों की मूर्त्तियाँ पार होने लगीं। मेरे नाना तीन भाई थे। उनकी अपनी सन्तान एकमात्र मेरी माँ थीं, किन्तु बाकी दो बड़े छोटे भाइयों के पाँच और दो लड़के थे। सातों मामों में अब सिर्फ जवाहर मामा रह गये थे। मेरे शैशव में वे कलकत्ता में पुलिस में सिपाही थे और जब एकाध महीने की छुट्टी पर आते, तो ताजी गिरीवाले नारियल लाते। अब वे पेंशन पाते थे और नेत्रों से वंचित थे। उनका चेहरा अपने पिता के तीनों भाइयों-जैसा था। विश्वामित्र, वशिष्ठ जैसी सफेद दाढ़ी नहीं, बल्कि नानों से मिलनेवाले उस चेहरे और उनके रुद्ध-कंठस्वर ने मेरे नेत्रों को आखिर गीला करके ही छोड़ा। रानी की सराय में थोड़ी-सी खिन्नता आई थी और मैं धैर्य्य की परीक्षा पास कर गया था, किन्तु पन्दहा ने मुझे पराजित कर दिया। कुलवन्ती के पुत्र, रामशरण पाठक के नाती केदारनाथ को देखने के लिए गाँव के लोग आने लगे। मेरी तीनों मामियाँ—जो सभी विधवायें और पुत्र-पौत्रवाली थीं—अपने भानजे को देखने आईं। उस वक्त उनके अश्रु-प्रक्षालित मुखों को देखकर मुझे उस प्यारी मामी—रामदीन मामा की पहिली स्त्री—की याद बार-बार आती थी। उनका स्नेह मेरे लिए शैशव की बहुमूल्य स्मृतियों में से है।

पन्दहा के गली-कूचों, उसके ताल-तलैयों को तेरह बरस तक रात-दिन देखता रहा, और उसके बाद भी तीन बरस तक मैं उनके सम्पर्क में रहा। गाँव की पुरानी चीजों को देखने निकला। सबसे अचरज की बात मुझे यह मालूम हो रही थी, कि पुराने कुओं, गड़हियों, तलैयों के बीच अन्तर घटकर सिर्फ एक तिहाई रह गये थे। क्या धरती सचमुच ही छोटी हो गई, अथवा उस दूरी के बढ़ी होने का कारण बाल्य का छोटा शरीर था ? गाँव में शायद ही कोई घर अपनी पुरानी दीवार रखे था, दरवाजों की दिशा और आँगनों के विस्तार में भी परिवर्त्तन था। मैं वह आँगन और उसके बगलवाले घर को देखने गया, जिसमें मेरी माँ ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को आज से पचास साल पहिले जन्म दिया था, मगर आज उस घर का कहीं पता नहीं। आँगन, कई घरों, बाहर के द्वार, कुल्हाड़ तथा बैठके के घरों की जगह चहारदीवारी से घिरा एक खुला सहन था। हाँ, उस ओसारे का थोड़ा-सा भाग अब भी नई खपड़ैल से ढँका था, जिसने मेरे प्रसूतिगृह का काम दिया था। नाना का कुँआ अब भी मौजूद था, और यह सुनकर प्रसन्नता हुई कि अब भी उसका पानी वैसा ही मीठा है।

बड़ी रात तक गाँव के वृद्ध और तरुण बातें पूछते रहे। चौंतीस बरस पर लौटे रामशरण पाठक के नाती अथवा हिन्दी के लेखक राहुल सांकृत्यायन की खबर पाकर आसपास के गाँव के लोग भी आते रहे।

14 अप्रेल को मुझे पन्दहा के और स्मरणीय स्थानों और देवताओं को देखने का मौका मिला। मुँह-हाथ धोने के लिए हम गाँव से उत्तर की ओर गये। देखा, बनवारी माई के पास की झाड़ी साफ हो चुकी है और उस पर जवाहर मामा के महुए खड़े हैं। बनवारी माई के स्थान को देखने से मालूम हो रहा था कि साल में भूल-भटककर ही अब कोई पूजा-कड़ाही चढ़ाता है। वहाँ एक खंडित मूर्त्ति रहा करती थी। लोगों ने बतलाया, कुछ समय पहिले माई अन्तर्धान हो गई। गाँवों के इन पुराने देवस्थानों में कितनी ही बार खंडित किन्तु कलापूर्ण प्राचीन मूर्त्तियाँ देखी जाती हैं, बनवारी माई की मूर्त्ति भी कोई इसी तरह की मूर्त्ति रही होगी और उसे किसी कला या पैसे के प्रेमी ने अन्तर्धान करा दिया होगा, इसमें सन्देह नहीं।

रात को रामनवमी थी, मगर बचपन में 'रामनवमी' से ज्यादा उसका दूसरा नाम–बड़का बसियौड़ा–मुझे सुनने में आता था। आज शायद पन्दहा छोड़ने के बाद पहिली ही बार मुझे 'बसियौड़ा' नाम सुनने को मिला। मेरी मामी (कैलाश की माँ) खास तौर से जलपान बनाने जा रही थीं, लेकिन 'बसियौड़ा' का नाम सुनकर दूसरे भोजन को मैं क्यों पसन्द करने लगा ? साबित उड़द की दाल (बिना हल्दी की), तेल की बेड़हिन (दाल भरा परौठा), गुलगुला और लाल भात–बालपन के परिचित खाद्य थे; आज भी उसे खाने में बड़ा आनन्द आ रहा था। दिन-भर गाँव और आसपास के गाँवों के लोग आते रहे, जिसमें रानी की सराय के सहपाठी जगेसर (झिलमिट) और बाँकीपुर के बाबू सरयूसिंह भी थे। मैंने सरयू बाबू को सोलह-सत्रह वर्ष की अवस्था में देखा था। अब उनके केश सफेद हो चुके थे, वह कई पौधों के बाबा थे।

शाम के वक्त गाँव और उसके टीलों की फिर खाक छानी। देवताओं का महत्त्व अवश्य इन चौंतीस वर्षों में कम हो गया। जिस महामाई के स्थान पर नव-दम्पती का पूजा के लिए जाना अनिवार्य था, आज उसके आसपास तक पाखाने का क्षेत्र बन चुका है और वृक्ष की जड़ में पाँच-सात सिन्दूर के दाग, मालूम होता था, सतयुग के लगे हुए हैं। पहिले ब्याह, पुत्र-जन्मादि समयों पर गिन-गिनकर ग्राम-देवताओं को छोने (सुअर के बच्चे) चढ़ाये जाते थे। हमारे ममेरे भाइयों–दीपचन्द और कैलाश–ने हिसाब लगाया, तो मालूम हुआ कि एक दर्जन से ऊपर छौने उनके घर के नाम बाकी पड़े हुए हैं। हनुमतवीर और अनारवीर से लोग वैसे ही ढीठ हो गये हैं, जैसे अपने आज के बड़े-बूढ़ों से। लेकिन जवाहर मामा कह रहे थे–मैं अपनी जिन्दगी-भर निबाहे जा रहा हूँ। उन्होंने यह भी सुनाया कि कैसे अपने सेवकों की उपेक्षा से क्रुद्ध हो अनारवीर बाबा ने कुछ ही साल पहिले गाड़ी में जुते बैलों को पीछे से दबाकर टाँग दिया, बैलों को फाँसी-सी लगने लगी। खैर, किसी तरह रस्सी काटकर उनकी जान बचाई गई। आश्चर्य तो यह है कि यह सब देखकर भी नई पीढ़ी देवताओं का आदर-पूजन करने के लिए तैयार नहीं।

पन्दहा की सीमा पर बसई एक छोटी-सी बस्ती है। बादशाही जमाने में यहाँ के सैयद लोगों का वैभव-सूर्य बहुत चढ़ा हुआ था। वे सीधे लखनऊ अपनी मालगुजारी भेजा करते थे। आज उनके घरों का पता नहीं। कई सैयद लड़के मेरे साथ रानी की सराय पढ़ने जाया करते थे। कितनी ही बार उनके साथ मैं उनके घरों में गया था। ईंटों के गिरे-पड़े घर थे, तब भी उनमें से कितने खड़े थे। उनके आँगनों में चारपाई पर बैठी वैभवशाली वंश की संतानें–सैयादानियाँ–मेरा भी उसी तरह स्नेहपूर्वक स्वागत करती थीं, जिस तरह अपने लड़कों का। आज उनके वंश का कोई बसई में बच नहीं रहा था। घरों की ईंटें तक दिखलाई नहीं पड़ रही थीं। पिछवाड़े के उन अनारों और शरीफों का भी कोई पता नहीं, जो बचपन में मेरे लिए खास आकर्षण रखते थे। पुराने सैयदों की ईंट-के चूने की कब्रों पर श्रद्धा की दृष्टि डालते हुए, हम कोइरी लोगों के घर की ओर गये। अब साग-भाजी न उतने खेत हैं, न उतने घर। मेरे बाल-सहपाठी हीरा के घर में कोई नहीं रह गया। बसई में कितने ही घर जुलाहों के हैं, लेकिन कपड़ा बुनने की जगह वे सन की सुतरी बट रहे थे–कितने ही कपड़ा बुनना भी भूल गये।

लौटते वक्त मेरे बाल-सहपाठी राजदेव पाठक मिले। उनके सारे केश सन जैसे सफेद थे। उन्होंने बालकों के खेल–चिब्भी डाँड़ी–का निमन्त्रण दिया। एक बार मन में आया–काश, हम फिर बारह-तेरह साल के हो जाते। लेकिन तब आगे की दोनों पीढ़ियाँ कहाँ होतीं ? सतमी के घर का भी कोई चिह्न नहीं रहा। सतमी के चार

बच्चे किस तरह मलेरिया में गल-गलकर दरिद्रता की भेंट चढ़े, यह मैं अपनी एक कहानी में लिख चुका हूँ। सतमी का सबसे छोटा लड़का सन्तू अब भी कहीं जिन्दा है।

पन्दहा जाने से पहिले बहुत थोड़े ही नाम और सूरतें मुझे परिचित-सी मालूम होती थीं, लेकिन वहाँ की नई-पुरानी मूर्त्तियों, भूमि और वातावरण में घूमते, साँस लेते ही स्मृतियाँ फिर जागृत होने लगीं, और सत्रह-अट्ठारह वर्ष से ऊपर की उम्र के, जिन्हें मैं देख चुका था, उन्हें पहचानने में दिक्कत नहीं हुई।

16 अप्रेल को हम निजामाबाद गये। यहीं के स्कूल से मैंने 1909 में उर्दू-मिडिल पास किया था। पुराने मिडिल-स्कूल की जगह क्या, उसी नींव पर उसी शकल की अपर प्राइमरी स्कूल की इमारत है। मिडिल-स्कूल आजकल कस्बे से पश्चिम चला गया है। दोनों ही स्कूलों के अध्यापकों में मेरा कोई परिचित नहीं निकला। टौंस का घाट और उसके पास के छोटे शिवालय और नानकशाही संगत में कोई परिवर्त्तन नहीं मालूम हुआ। हाँ, घाट पर भी एक-दो पान की दूकानें नई चीज थीं। पता लग गया था कि मेरे पुराने अध्यापक पंडित सीताराम श्रोत्रिय अपने घर पर ही हैं। उनका घर कस्बे के भीतर की संगत के पास है। यह संगत भी पहिली अवस्था में है। हाँ, एक यह फर्क जरूर मालूम पड़ता है कि बाहरी छत के भीतर भी कदम रखते ही लोगों का सिर जबदरस्ती ढँकवाया जाता है। पंडित सीताराम श्रोत्रिय 'हरिऔध' जी के शिष्य थे, स्कूल और साहित्य दोनों में। मुझे देखकर वे प्रसन्न हुए। नागार्जुन जी ने अपनी कविता–जातिगौरव गंगदत्त–सुनाई, इसके बाद श्रोत्रियजी ने भी अपनी कुछ कविताएँ सुनाईं।

निजामाबाद में हम उन कुम्हारों के घरों में भी गये, जो खिलजी-शासन के जमाने में देवगिरि से आकर यहाँ बस गये थे। उनके बनाये मिट्टी के बर्तन दुनिया में प्रसिद्ध हैं। स्थानीय कुम्हारों से इनका नाता-रिश्ता है, मगर वे अपनी कला को दूसरे कुम्हार-कुल में स्थान नहीं देना चाहते, इसीलिए अपनी लड़कियों तक को अपनी कला नहीं सिखलाते। लड़ाई से पहिले उनके बनाये लाखों रुपयों के बर्तन–चाय का सेट, गुलदस्ता आदि–देश-विदेश जाया करते थे, किन्तु आज अवस्था अच्छी नहीं है। अब इन झिनकारीवाले कुम्हार-घरों की संख्या एक दर्जन से ज्यादा नहीं रह गई है।

लौटते वक्त पन्दहा के सीवाने पर के उन खेतों को भी हमने देखा, जहाँ चन्द साल पहिले घोड़रोज (नीलगाय) के शिकार के लिए हिन्दू-मुसलमानों में देवासुर-संग्राम छिड़ गया था। संग्राम के बाद अब शान्ति है। हिन्दू हाय-हाय कर रहे थे–दस-पाँच साल पहिले जहाँ दो ही चार घोड़रोज देखे जाते थे, वहाँ आज उनकी संख्या पचासों तक पहुँच गई है और वह खेती को भारी नुकसान पहुँचा रहे हैं। मैंने कहा–घोड़रोज बकरी और हिरन की जाति के होते हैं, इनके कान, आँख, पूछ वैसी ही होती है, वैसे ही लेंड़ी करते हैं। उन्होंने मुझे यह भी सूचित किया कि बकरियों की तरह वे एक से ज्यादा बच्चे देते हैं। इतना होने पर भी लोग इन्हें गाय बनाकर इनके लिए धर्म-युद्ध करने के लिए तैयार हैं !

13 अप्रेल को ही, जब कि मैं रानी की सराय पहुँचा था, किसी ने मेरे पितृग्राम कनैला में खबर दे दी। आजमगढ़ के लिए मेरे पास सिर्फ सात दिन थे और इतने कम समय में कनैला को मैं अपने प्रोग्राम में नहीं रखना चाहता था। मेरे ममेरे भाइयों–दीपचन्द और कैलाश–ने बार-बार कनैला सूचना देने का आग्रह किया, लेकिन मेरे अस्वीकार करने पर वे चुप रह गये। दूसरे दिन–14 अप्रेल–दोपहर को देखा, मेरे छोटे भाई श्यामलाल साइकिल पर पन्दहा पहुँच गये। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ–किसने खबर दी ? जान पड़ता है चौंतीस साल के बाद लौटे आदमी की खबर लोगों के लिए भारी आकर्षण रखती है; इसीलिए मेरे आने की खबर रानी की सराय के साधारण आदमियों में फैल गई। रानी की सराय में कनैला के चुड़िहारे की रिश्तेदारी थी। वहीं से कोई आदमी कनैला गया और उसी दिन मेरे आने की सूचना दस मील दूर पहुँच गई। भाई ने अपने घर और गाँव की ओर से चलने के लिए बहुत जोर दिया, मगर मैंने उसे अगली यात्रा के लिए रख छोड़ने की बात कहकर इन्कार कर दिया। श्यामलाल उसी दिन लौट गये।

16 की शाम को दिन रहते ही कनैला के लोगों की टोलियाँ आने लगीं। पाँच-छै करके वे दस बज़े रात तक आते रहे। उनकी संख्या तीस से अधिक पहुँच गई, और उनमें कई जातियों के प्रतिनिधि थे। गाँव के बूढ़े चचा रघुनाथ और दादा (आजा) सुखदेव पांडे को भी दस-बारह मील की मंजिल मारकर आया देख मेरा निश्चय कुछ विचलित होने लगा। कनैला के सबसे ज्यादा आने में असमर्थ रामदत्त चचा थे, मगर वे मुझे देखने के लिए कितने उत्सुक थे, इसकी खबर एकाध बार पहिले भी मिल चुकी थी। अपने बहुत-से वृद्धों के दर्शन से मैं वंचित हो चुका था। मेरे संस्कृत के प्रथम गुरु तथा फूफा महादेव पंडित (बछवल) ने कई बार देखने का सन्देश भेजा था, मगर मैं नहीं जा सका और दो-तीन साल पहिले उनका देहान्त हो चुका। मेरे जन्म के समय के सम्मिलित परिवार की दादी सिर्फ ग्यारह दिन पहिले मरी थीं और उस दिन मेरे वंशज उनका श्राद्ध करके आये थे। मैं कुछ और वृद्धों के दर्शन से अपने को वंचित नहीं करना चाहता था, इसलिए हमारे गाँव के नाती तथा मेरे समवयस्क औघड़ बाबा रघुनाथ ने जब कनैला चलने को कहा, तो मैंने स्वीकृति दे दी।

गर्मी के दोपहर की यात्रा में पड़ना सौभाग्य की बात नहीं, अतएव हमने भिनसारे ही चलना तय किया था। सबेरे हाथी के कसकर आने में कुछ देर होने लगी, तो हम पैदल ही चल पड़े। हाथी ने डेढ़ मील बढ़ जाने पर हमें पकड़ पाया। पहिले रघुनाथ बाबा के साथ मैं और नागार्जुन भी हाथी पर बैठे, मगर हम दोनों ही 'हल्के' शरीर के थे, नागार्जुन को यह समझते देर नहीं लगी कि हाथी पर चलने की अपेक्षा पैदल चलना उनके लिए कहीं आराम का रहेगा। उस दिन दोपहर तक आकाश में मेघ छाये थे। रघुनाथ बाबा मेरे पुण्य-प्रताप की दुहाई दे रहे थे। कनैला से दो मील पहिले डीहा पहुँचने पर बूँदें ज्यादा पड़ने लगीं, लेकिन यहाँ हमें मुँह-हाथ धोना और जल-पान करना भी था।

डीहा के अपर प्राइमरी स्कूल में आज (17 अप्रेल) छुट्टी थी, इसीलिए वहाँ के प्रधानाध्यापक मेरे सहपाठी पंडित श्यामनारायण पाण्डेय मौजूद न थे। पिछले सालों में शिक्षा का अधिक प्रचार हुआ है, यह जगह-जगह नये कायम हुए मिडिल तथा दूसरी तरह के स्कूलों से पता चलता था। रानी की सराय में जब मैं पढ़ने गया था, तब वहाँ एक छोटा-सा लोअर प्राइमरी स्कूल था, लेकिन अब वहाँ मिडिल स्कूल था। डीहा में मदरसा पहिले भी था, मगर अब तीन अध्यापक पढ़ाते थे। मैं तो बराबर नाना के साथ पन्दहा में रहता था, इसीलिए मेरी पढ़ाई-लिखाई रानी की सराय और निजामाबाद में ही हुई। मगर कनैला के लड़कों को डीहा का स्कूल ही नजदीक पड़ता था। अब तो कनैला में भी अपर प्राइमरी स्कूल हो गया था। कनैला से दो ही ढाई मील दूर पर घरवारा में मिडिल स्कूल था। तीस-बत्तीस साल पहिले मिडिल पास लड़के बिरले ही मिलते थे, किन्तु अब वे हर गाँव और अधिक संख्या में मिलते थे। पन्दहा में कुबेर नाना के लड़के को मैट्रिक तक पढ़कर खेतों में जुटा देख मुझे कुछ सन्तोष जरूर हुआ, मगर खेती के काम में विद्या का उपयोग न हो तो सारी पढ़ाई व्यर्थ है। शिक्षित व्यक्ति साइन्स के किसी तरीके को खेती में बरतते नहीं देखे जाते। गाँव में शिक्षा-प्रचार का अगर कोई ज्यादा असर हुआ, तो यही कि मुकदमेबाजी बढ़ गई थी। जमीन-जायदाद के लिए जाल-फरेब ज्यादा होने लगा था। इससे विद्या का यश उज्ज्वल नहीं हुआ।

कनैला गाँव के पश्चिम की कुटी का—जहाँ प्राइमरी स्कूल है—पुराना मकान गिर चुका था और वहाँ कई घर तथा बड़े-बड़े वृक्ष दीख पड़े। लम्बे वर्षों को वृक्षों के जरिये आसानी से नापा जा सकता है।

अभी गाँव के हम बाहर ही थे कि लड़कों की पल्टन अपने जन्मजात नेताओं के साथ हमारा स्वागत करने के लिए पहुँच गई—इसे स्वागत करना और तमाशा देखना, दोनों ही कह सकते हैं। उनमें पाँच से बारह बरस तक के लड़के मौजूद थे।

गाँव से नजदीक ऊसर के अकेले कुएँ के पास पहुँचकर हम हाथी से उतर पड़े। मेरे बचपन में भी यह कुआँ इस निर्जन ऊसर में मौजूद था, और गाँव के लोग ज्यादातर यहीं से पीने के लिए पानी ले जाते थे। इस दिक्कत को दूर करने का प्रथम प्रयास मेरे पिता ने अपने दरवाजे पर कुआँ बनाकर किया। आज तो गाँव के भीतर कई कुएँ बन चुके थे। इस ऊसरवाले कुएँ के आसपास एक दर्जन घर आबाद हो गये थे, जिनमें चुड़िहार और दर्जी लोगों के घर ज्यादा थे। मेरी ही उम्र के, किन्तु रिश्ते में चचा राजबली (रजबअली) की

ठुड्डी पर लटकती दाढ़ी सफेद हो चुकी थी। मुझे यह देखकर बड़ी खुशी हुई, कि एक समय के मुमूर्ष चुड़िहार और दर्जी परिवार अब हरे-भरे हैं। कनैला में दो-तीन घरों को छोड़कर सभी को मैं दरिद्र अवस्था में छोड़कर गया था, मगर अब सभी की हालत अच्छी थी। उस समय गाँव का दो-तिहाई से अधिक भाग ऊसर था, अब उस ऊसर से लोगों ने काफी खेत बना लिया था। पहिले के खेतों में भी लोग अब अधिक परिश्रम करते थे। सिंचाई के लिए कई नये पक्के कुएँ बन गये थे। अपेक्षाकृत कम मुकदमेबाजी होती है, यह है कारण कनैला की समृद्धि का। मेरी अनुपस्थिति में आकर मौजूद हो गई दो पीढ़ियों की समस्या को ऊसर ने हल कर दिया—जहाँ तक गाँव के ब्राह्मणों (जमींदारों) का सम्बन्ध है; और शायद एक पीढ़ी और भी ऊसर से नये खेत बना सके। गाँव के घरों के स्थान और आकार दोनों में परिवर्त्तन हुआ देखा। पहिले की अपेक्षा अबके घर अधिक सुन्दर, साफ और विस्तृत थे; इसके लिए बहुत-से परिवारों को गाँव के बिचले स्थानों को छोड़ पूरब की ओर बढ़ना पड़ा। सत्ताईस साल पहिले आखिरी बार मैं तीन-चार दिन के लिए कनैला आया था। उस वक्त के मकानों के नक्शे अब भी मेरे मस्तिष्क में अंकित थे, लेकिन अब पूछकर ही मैं किसी घर को जान सकता था। गाँव में पहुँचते-पहुँचते सभी बाल-वृद्ध-नर-नारी अपने हाड़-मांस से बने शरीरवाले केदारनाथ के इर्द-गिर्द आ खड़े हुए। मैंने चचा वंशी के सजल नेत्रों को देखा और मेरे हाथ उनके चरणों पर पहुँच गये। गाँव की वृद्धतम स्त्री यमुना आजी (आर्या, दादी) की जबान अब भी उसी तरह तेज चल रही थी, मगर अब उनका शरीर बहुत निर्बल हो चुका था, आँखों की ज्योति भी मन्द पड़ गई थी। गाँव के बीच में पत्थर का पुराना कोल्हू अपनी जगह पर अब भी खड़ा था, किन्तु हँसिया, खुरपे और गड़ासों को रगड़-रगड़कर लोगों ने उसकी आरी पर बहुत-से गढ़े कर दिये थे। हमारे पुराणपन्थी नेता कुछ भी कहें, किन्तु कनैला के ग्रामीणों का पूरा विश्वास है, कि लोहे के कोल्हू को हटाकर पत्थरवाले कोल्हू के युग में लौटा नहीं जा सकता।

कनैला में हम ग्यारह बजे के करीब पहुँचे थे और वहाँ सिर्फ चार घंटे रहना था, इसलिए एक-एक मिनट को अच्छी तौर से इस्तेमाल करना था। मेरे भाइयों में श्यामलाल और रामधारी घर पर ही थे। सबसे छोटा श्रीनाथ दिल्ली में लोगों को रसगुल्ले खिला रहा था। सत्ताईस साल पहिले जिनकी उमर चौदह-पन्द्रह बरस की हो चुकी थी, उन्हीं को मैं पहचान सकता था और ऐसे चेहरे बहुत कम थे। मुझसे कुछ ही बरस जेठे दूधनाथ भैया की भौंहे भी सफेद होने लगी थीं। रामदत्त कक्का के शरीर में हड्डी और चमड़े के अतिरिक्त यदि और कुछ दिखलाई पड़ता था, तो वह था उन्हें बाँधकर इकट्ठा रखनेवाली धमनियाँ।

स्नान करने के लिए चलते वक्त मेरे जन्म के बाद अलग हुए अपने बन्धुओं के घर देखे। वंशी चचा और उनके भाई तथा मेरे समवयस्क किसुना (किन्ना) चचा का घर पुरानी जगह से बहूत दूर हटकर बना था। बाग के छोर पर अवस्थित जिस अकेले पीपल को लोग भूतों का गढ़ समझते थे, अब वह बस्ती में आ गया था। और भूत ? आदमियों की भीड़ में बेचारे भूत कैसे बसे रह सकते ? मैंने एक जगह कहा था, आदमियों के बस जाने पर भूतों को बाल-बच्चे लेकर भागना जरूरी हो जाता है। किसी ने पूछा—"क्यों ?"

"मनुष्यों के लड़के ढेला-डंडा फेंका करते हैं और भूत तथा उनके बच्चे तो दिखलाई नहीं पड़ते, जिससे उनमें भी अन्धों, कानों, लँगड़ों की संख्या बढ़ने लगती है; इसीलिए भूत-भुतनियों को जगह खाली करनी पड़ती है।"

मेरे कुछ भाइयों की तरह कितने ही पाठकों को भी यह दलील पसन्द न आयगी, किन्तु भूत-चुड़ैल बहुत-से स्थान खाली कर चुके हैं, इससे भी सभी सहमत थे।

पुराने कनैला की बस्ती में हरी पत्तियों के लिए आँखें तरसती रहती थीं, किन्तु अब किसी के द्वार पर पकड़ी का वृक्ष था, तो किसी के द्वार पर नीम। गर्मी में वृक्ष की शीतल छाया कितनी सुखद और सुहावनी होती है। यह देखकर खेद हुआ कि कनैला का बाग बहुत कुछ उजड़ चुका है और नये अमोलों को लगाने का लोगों को शौक नहीं।

नहाने के बाद मैं गाँव के घरों को देखने चला, साथ की परिषद् को रोका नहीं जा सकता था। चमार-टोली के बाद ब्राह्मणों, अहीरों, कहारों, चुड़िहारों, दर्जियों, गड़ेरियों के घरों को देखते, साहेब-सलामी करते, करीब-करीब

सारा गाँव फिर आया। पत्रहीन बरगद के नीचे बैठे बुद्ध को देखकर शाक्यों के खून के प्यासे कोसलराज बिंडुडभ ने पूछा था—"पास ही हमारी सीमा के भीतर घनी छायावाला एक वरगद है, भगवान इसके नीचे क्यों नहीं बैठते ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया—"बन्धुओं की छाया शीतल होती है, यह शाक्यों की भूमि का बरगद है।"

भोजन तैयार था। श्यामलाल हम दोनों को खाना खिलाने अपने घर में ले गये। सत्ताईस साल पहिलेवाले घर के सामने यह महल-सा लगता था। उसके जैसे तीन आँगन इसके भीतरी आँगन में ही समा जाते। आँगन पूरब-पश्चिम लम्बा है, जिससे सूरज की धूप काफी देर तक मिलती रहती है। नावदान को दक्षिण तरफ खोलते देख गाँव के बड़े-बूढ़ों ने भय प्रकट किया था, किन्तु उसके लायक जमीन उसी ओर थी। श्यामलाल ने साहस दिखलाया और नावदान को उधर ही खोल दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि मेरे सहोदर भी रूढ़ि पर प्रहार करने की कुछ हिम्मत रखते हैं।

भोजन समाप्त हुआ। हम उठना चाहते थे कि कपड़ों से ढँकी एक मूर्त्ति ने मेरे पैरों पर गिरकर रोना आरम्भ करना चाहा। मैं तुरन्त चलने को उठ खड़ा हुआ। खैर, रोना वहीं रुक गया। रोनेवाली कौन थी, कह नहीं सकता; न मुझे बतलाया गया। मेरे नाम से शैशव में घरवालों ने जो ब्याह किया था, उसे तो घर के साथ ही तीन दशाब्दियों पहिले ही मैं छोड़ चुका था। आँगन में काफी स्त्रियाँ जमा थीं, जिनमें यमुना आजी को छोड़कर मैं किसी को भी न पहचानता था।

आसपास के गाँवों में भी खबर पहुँच गई थी और तीन वजे तक कितने ही लोग वहाँ जमा हो गये। जमावड़े ने सभा का रूप लिया और मुझे कुछ बोलने के लिए कहा गया। मैंने गाँव की समृद्धि पर हर्ष प्रकट किया और आज की परिस्थिति में अन्न, वस्त्र तथा रक्षा का प्रवन्ध करने के लिए कहा।

आज रात को मुझे संस्कृत के प्रथम गुरु फूफा के घर बछवल रहना था। मेरे बालमित्र यागेश दत्त पन्दहा पहुँचे थे। उनके आग्रह को ठुकरा नहीं सकता था। भरों के दोनों टोलों को देखकर मैं आगे बढ़ा, तब नागार्जुन जी ने डीह के स्थान को देखकर खबर दी कि वहाँ कुछ टूटी-फूटी मूर्त्तियाँ हैं। बचपन में मैंने भी इन मूर्त्तियों को देखा होगा, मगर उस वक्त उनकी आपबीती सुनने के लिए मेरे पास कान नहीं थे। वहाँ जाकर देखा, तो तान्त्रिक बौद्ध-धर्म (वज्रयान) के एक घोर देवता (वज्रभैरव) की छोटी-सी, किन्तु सुन्दर मूर्त्ति के दो खंड पड़े थे—आग की ज्वाला की तरह लहराती केश-शिखाओं और गोल-गोल आँखोंवाला मुण्ड एक ओर पड़ा था और कटि से नीचे दोनों पैर दूसरी ओर। नव-दस सौ वर्ष पहिले कनैला में भी उन देवताओं की पूजा होती थी, जिन्हें तिब्बत के अनेक मन्दिरों में मैंने देखा है। आज कनैलावालों—विशेषकर वहाँ के पुराने निवासियों राजभरों—को यह पता नहीं, कि उनके पूर्वज हजार वर्ष पहिले उन देवताओं को पूजते थे, जो हिमालय के उस पार अब भी जीवित हैं। कनैला के पुराने खेतों के नीचे पुरानी आवादी के ध्वंस छिपे हुए हैं। ईसवी सन् की प्रथम शताब्दी की ईंटें वहाँ मिलती हैं। जान पड़ता है, खिलजी-शासन-काल में यहाँ कोई राज्याधिकारी रहता था, जिसके कोट का एक भाग अव भी डीह बाबा के पास मौजूद है। शायद उसी समय ये देवता कतल किये गये थे।

सत्ताईस बरस पहिले भर लोग सुअर पाला करते थे, मगर अब सारे जिले में और आसपास के दूसरे जिलों में भी उन्होंने सुअर पालना बिलकुल छोड़ दिया है। इससे समाज में उनका स्थान पहिले से कुछ ऊँचा हुआ है, इसका तो मुझे पता नहीं, हाँ, जीविका के एक साधन से वे वंचित जरूर हो गये। सुअरी एक-एक बार में बीस-बीस बच्चे देती है और साल में तीन बार। पुष्ट भोजन और पैसे की आमदनी का यह एक अच्छा जरिया था। सबसे ज्यादा दिक्कत तो गाँव के देवताओं को पड़ रही है। वर्षों से उन्होंने छौनों की एक फट्ठी भी दाँत-तले दबाने के लिए नहीं पाई।

बछवल कनैला से दो-ढाई मील से ज्यादा दूर नहीं है। बीच में मंगई (मार्गवती) नाम की छोटी नदी पड़ती है। गर्मी में वह ज्यादातर सूख जाती है, इसलिए लोग जगह-जगह बाँध बाँधकर पानी को रोक लेते हैं। इससे तो उसका नाम पोखरई होना ज्यादा सार्थक था। मंगई सीधे गंगा में गिरती है। बरसात में इसमें इतना पानी

रहता है कि छोटी-मोटी नावें सिसवा (शिंशपा) ग्राम और उसके आगे तक चली जाती होंगी। उस काल में नदियाँ ही अधिकतर व्यापार-मार्ग का काम करती थीं।

हम लोग सिसवा में बँधे बाँध पर से मंगई पार हुए। यहीं से कनैला की बाकी जनमंडली पीछे लौटी। नदी पार सिसवा या शिंशपा ग्राम का मीलों तक फैला ध्वंसावशेष है। हर जगह पाई जानेवाली ईंटें बतलाती हैं, कि शिंशपा ग्राम एक समृद्ध बस्ती रही होगी। शिंशपा ग्राम नाम का कोई निगम काशी जनपद में था, इसका पुस्तकों में तो पता नहीं, लेकिन ईंटें और विस्तृत ध्वंसावशेष की गवाही से इनकार नहीं किया जा सकता। आजकल के ग्रामीण पंडित सिसवा को शिशुपाल की राजधानी बतलाते हैं। शिशुपाल चेदि (पूर्वी बुन्देलखंड) का राजा था, इस समस्या को हल करने की तकलीफ वे क्यों करने लगे ? बल्कि उन्होंने सिन्धुराज 'जयद्रथ' को भी एक जगह ढूँढ़ निकाली है। जयद्रथ के स्थान पर पाँच-छै बड़ी-बड़ी खंडित मूर्त्तियाँ हैं, इसका पता मुझे बाद में लगा और मैं उन्हें देख नहीं सका। हाँ, यागेश ने सिसवा में मिले मुझे दो ताँबे के पैसे दिये। अक्षर घिस गये थे, लेकिन एक ओर की शक्ल किसी शक राजा की मालूम होती थी। दूसरे दिन आजमगढ़ पहुँचने पर मालूम हुआ, कि दोनों सिक्के कुषाण राजा कनिष्क के हैं। उनमें से एक की पीठ पर वायु देवता और दूसरे की पीठ पर मित्र देवता की मूर्त्तियाँ थीं। श्री परमेश्वरीलाल गुप्त को पुराने सिक्कों को एकत्र करने और पहचानने का बहुत शौक है। उन्होंने आजमगढ़ जिले में मिले सेरों कुषाण सिक्के जमा किये हैं। दो हजार बरस पहिले कनिष्क का कोई उच्च राजकर्मचारी शिंशपा ग्राम में रहता था। उस वक्त सिसवा के आज के ऊजड़ टीलों पर व्यापारियों और शिल्पियों के कितने ही अच्छे-भले घर थे, देश-विदेश के पण्य-द्रव्यों से सजी दूकानोंवाली वीथियाँ थीं; जगह-जगह ऐसे कितने ही देवालय थे, जिनके देवता अब विस्मृत हो चुके हैं। मंगई का व्यापार-मार्ग यही जलीय राजमार्ग इस सारी समृद्धि का कारण था। उस मार्ग का स्थान नये मार्गों ने लिया और शिंशपा ग्राम धीरे-धीरे सिसवा के निर्जन टीले में बदल गया। सिसवा के गर्भ में उसके इतिहास को बतानेवाली बहुत-सी सामग्री छिपी पड़ी है, जो किसी वक्त जरूर अपना मुँह खोलेगी। मैंने चन्द मिनटों में ध्वंस को पार करते हुए जो कुछ भी समझ पाया, उसे, यहाँ संक्षेप में लिखा है।

हम शाम को बछवल पहुँचे। यागेश वर्षों मेरे तरुणाई के अभियानों में साथ रहे हैं। वे राष्ट्रीय कर्मी हैं। यद्यपि वे मेरी बुआ की देवरानी के लड़के हैं, लेकिन बाल्य से ही बछवल में उन्हीं के साथ मेरा सबसे अधिक प्रेम रहा। तीस साल पहिले एक बार हम दोनों ने कुर्ता पहने रोटी खाई थी, जिसे देखकर उनकी माँ रोई थीं। आज अपने पुत्र को मेरे और नागार्जुन जैसे 'सर्वभक्षी' के साथ बैठकर दाल-भात खाते देखकर उनकी स्वर्गीय आत्मा कितनी तड़फड़ा रही होगी ! हाँ, उनको यह देखकर धैर्य जरूर होगा कि कनैला के सरपंच श्यामलाल भी साथ ही बैठे खा रहे हैं।

दूसरे दिन कुछ रात रहते ही नागार्जुन और मैं हाथी पर रवाना हुए। चँड़ेसर में एक्का ले दस बजे (18 अप्रेल) तक आजमगढ़ पहुँच गये। कानोंकान सुनकर कितने ही लोग मिलने आये। आजमगढ़ के कवि 'शैदा' और 'चन्द्र' ने अपनी कई रचनायें सुनाईं, 'यात्री' (नागार्जुन) ने भी अपनी कृतियों को सुनाकर गोष्ठी का मनोरंजन किया। 19 अप्रेल को ठीक सात दिन रहने के बाद, दस बजे सबेरे ट्रेन पकड़ी, और दो बजे तक हम आजमगढ़ जिले के बाहर चले आये।

7

उत्तराखंड में (मई-जून 1943)

गर्मी आ गई थी। मैं कुछ लिखने-पढ़ने की सोच रहा था। ख्याल आया, चलें हरद्वार, शायद वहाँ लिखने-पढ़ने का काम चल सके। प्रयाग में 6 दिन रहकर मैं और नागार्जुन हरद्वार के लिए रवाना हुए। लखनऊ से सीधी

गाड़ी पकड़ी। हरदोई जिले तक तो अब भी जहाँ-तहाँ ऊसर जमीन मिल रही थी, किन्तु रुहेलखण्ड की सीमा के भीतर घुसते ही चारों ओर उर्वर भूमि थी। जगह-जगह गाँव और हरे-हरे बाग थे। पंचाल राज, दिवोदास, और सुदास का वह वैभव इसी उर्वर भूमि के कारण था। इस उर्वर भूमि ने वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज से ऋग्वेद की सुन्दर ऋचाएँ कहलवाईं। सारी उर्वरता के रहते आज पंचालपुत्रों के शरीर सूखे हुए हैं, उनके तन पर कपड़ा नहीं है। साढ़े तीन हजार वर्ष पहिले गण के राज को हटाकर पंचालों ने शासन की बागडोर राजा के हाथ में दे दी, और स्वयं प्रजा बन गए। आज गिरते-गिरते वह इस अवस्था में पहुँच गए हैं, लेकिन चक्र परिवर्त्तन जरूर होगा, कोई दूसरा नहीं करेगा, इन्हीं आज के पंचालों को करना होगा। किसी समय पंचाल उतरी भारत का अग्रणी जनपद था, किन्तु आज वह सुगुप्त है।

बरेली में गाड़ी बहुत देर तक ठहरी, और मुरादाबाद में तो उसने हद कर दिया। पौन घंटा रुकने के बाद रेलवेवालों ने हल्ला किया, उतरो-उतरो डब्बे कटेंगे। हमारा डब्बा भी कटनेवाला था। डब्बा बदलते-बदलते गाड़ी चल दी। खैर, हम दूसरे डब्बे में बैठ गए, न जाने क्या समझकर गाड़ी फिर लौट आई, और स्टेशन पर उसने धरना दे दिया। पार्सल ट्रेन पर चढ़कर हम लोग खूब पछताए। खैर, एक फायदा हुआ। वैसे हम रात को जाते, लेकिन अब दिन में यात्रा करनी पड़ी। मुरादाबाद और बिजनौर की भूमि बड़ी ही शस्यश्यामला है। ऊख की खेती यहाँ बहुत होती है। इधर तीन सेर आटा बिक रहा था, तब भी लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। हम लुकसर पहुँचे। हरद्वार की गाड़ी तैयार मिली, और 12 बजे हम वहाँ पहुँच गए। पंडे तो वहाँ बहुत थे, लेकिन पंडों से हमें काम न था, तो भी कहीं ठहरना था। जहाँ धर्मशाला में पूछने गए, वहीं जवाब नहीं में मिला। जब हम धर्म को मानते ही नहीं थे, तो आखिर हमें अधिकार क्या था किसी धर्मशाला में ठहरने का। कई धर्मशालाओं का दरवाजा खटखटाने के बाद हम लोगों को गंगामाई ने अक्ल दी। सोचा, किसी पंडे का ही पल्ला पकड़ना चाहिए। हरिश्चन्द्र पंडा के पास गए, उनसे कहा—भैया, हम धरम-वरम करने नहीं आए हैं, हम सैर करने के लिए आए हैं; हमें कोई ठहरने की जँगह दिलवाओ। पंडा ने भाषा या भेस से समझा, कि इनकी मदद करने में कोई हर्ज नहीं। सूरजमल की धर्मशाला में हमें सात जनम में भी जगह नहीं मिलती, ऐसे ही यमराज वहाँ दरवाजे पर बैठे हुए थे; लेकिन हरिश्चन्द्र पंडा ने मदद की, और हम दोनों के लिए कोने में एक अँधेरी कोठरी मिल गई।

अप्रेल का अंत था, काफी गर्मी पड़ रही थी; किंतु वस्तुतः गंगा यहाँ गंगा थी; जिसके शीतल निर्मल जल की महिमा ऋषियों ने हजारों वर्ष से गाई है, और आगे भी गाई जाएगी। नहाने में आनन्द आता था। हमने जाकर स्नान किया। हाथ-हाथ-भर के रोहित मत्स्य वहाँ स्वच्छन्द विचर रहे थे। भगवान ने इन्हें आदमी के खाने के लिए बनाया है, लेकिन वहाँ कोई उन्हें पूछता न था। आज हमने तीर्थोपवास किया, और सिर्फ फलाहार आश्रय लिया। सेठों ने धर्मशाला पर तो काफी खर्च किया है, कई कमरे खूब साफ-सुथरे हैं, यद्यपि वह उन्हीं को मिलते हैं जो उनके 'लायक' हैं। लेकिन हिन्दूधर्म में पाखाने के लिए एक भी पैसा खर्च करना पाप समझा जाता है—इसकी प्रतिध्वनि हर जगह मिलती थी। पाखाना खूब गंदा था और पेशाब के लिए तो सारा आँगन खुला था। हमारे राजभक्त कहेंगे कि हिन्दुस्तानियों को यह समझाने में हजारों वर्ष लगेंगे। मैं ऐसा नहीं समझता, सोवियत-मध्यएसिया में मैंने देखा है, लोग कितनी जल्दी इन सामाजिक नियमों को समझ लेते हैं। शाम के वक्त हम घूमने निकले। पहिले से हरद्वार बहुत बढ़ गया है। हर की पौड़ी पर बिड़ला का घंटाघर खड़ा है। पहिले वह कुछ और भी संदेश देता, लेकिन आज वह भारतीय पूँजीवाद का महान् कीर्त्तिस्तंभ है। बिड़लाघाट को देखा और कई सेठों के दूसरे मकानों को भी। सेठों के सामने अब राजा झूठे हैं। उनके खर्च और बढ़ गए हैं, लेकिन आमदनी उतनी की उतनी ही है, और सेठों के लिए आदमनी की कोई सीमा नहीं। भारतीय पूँजीवाद ने अब अपने यौवन में कदम रखा है। इसका परिचय हमारे तीर्थों में और मिलता है। मैंने एक सेठ की इमारत पर लोगों के बहुत तरह के लेख लिखे हुए देखे। मेरा भी मन ललचा गया, लेकिन अपना नाम लिखने के लिए नहीं। मैंने पेंसिल से लिख दिया—

"तामीरे हैं खैराते हैं औ तीरथ-हज भी होते हैं।
यों खून के धब्बे दामन सें ये दौलतवाले धोते हैं।।"

हरद्वार में जब पैर रखने के लिए इतनी आफत थी, तो वहाँ बैठकर कुछ लिखना-पढ़ना कैसे हो सकता था ? सोचा, चलो ऋषिकेश देख आएँ, ऋषियों की भूमि है, शायद वहीं कहीं ठौर-ठिकाना लग जाये। 13 आना लारी को देकर चले। हरद्वार बढ़ता ही चला जा रहा है, मीलों तक सड़क के किनारे घर और बगीचे बनते गए हैं। बहुत-सा जंगल कट गया है, और वहाँ खेती होती है। 34 वर्ष पहिले जब मैं इस रास्ते गया था, तो हरद्वार एक छोटी-सी जगह थी, यहाँ जंगल ही जंगल ज्यादा थे।

और ऋषिकेश ? अब वह महलों का नगर है। कहाँ उस समय के दो-चार क्षेत्र, कुछ छोटी कुटियाँ और कहाँ ये प्रासाद ! उस वक्त भी काली कमलीवाले का क्षेत्र और पंजाबक्षेत्र मौजूद थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे थे। अब तो इन दोनों क्षेत्रों ने आधे नगर को घेर रखा है। बाकायदा दूकानें बन गई हैं। यहाँ से मोटर-लारी देवप्रयाग और टेहरी को जाती है। पाठशालाएँ भी कई हैं। हम लोग लछमनझूला की ओर बढ़े। जगह-जगह साधुओं के प्रासाद कुटिया के नाम से खड़े हैं। धर्म की बड़ी-बड़ी दूकानें भी हैं, जहाँ पुस्तकों के विज्ञापन, साइनबोर्ड और दूसरी तरह ग्राहकों को आकृष्ट किया जाता है। कौन ऋषिकेश का सबसे बड़ा धर्म-सेठ है, इसको कहना मुश्किल है। यदि शिवानन्द को कहें, तो ब्रह्मलीन जयदयाल गोयन्दका नाराज हो जाएँगे। भैया, तुलसी के पत्ते सभी बराबर हैं–"कोउ बड़ छोट कहत अपराधू।"

दोपहर को लछमनझूला पार किया। झूला भी पहिलेवाला नहीं है। इधर भी खूब पक्के मकान बन गए हैं। 24, 25 साल पहिले मैंने बाबा रामउदार दास फलाहारी का नाम सुना था, मेरा भी नाम वही था, किसी ने चित्रकूट या कहीं और रहते वक्त मुझे बताया था। उस वक्त लछमनझूला की यह दूकान शुरू ही हुई थी। अब तो खैर मूलपुरुष नहीं रह गए, किन्तु "यावत् चन्द्र दिवाकरौ" रहनेंवाली कीर्त्ति उनकी मौजूद है, दर्जनों मन्दिर, धर्मशालाएँ और 'कुटिया' बन गई हैं। खूब सदावर्त्त चलते हैं। सन्त लोग श्रद्धालु सेठों की दूध-भिक्षा को ग्रहणकर निर्द्वन्द हो भगवद्भजन करते हैं। शायद ही कोई अभागा हो, जो शरदचाँदनी की तरह छिटके इन हजारों सौधों को देख, उनके लिए करोड़ों रुपये खर्च करनेवाले धर्मात्मा सेठों की दानशीलता को जानकर गदगद न होगा। लेकिन हमारे लिए गदगद होने में एक और भी बाधा थी। गर्मी बहुत तेज थी, और पैदल चलकर आने से शरीर भी कुछ थक गया था। लेकिन वहाँ कहीं ठंडी जगह पर लेटने का ठौर-ठिकाना नहीं लग रहा था–न कोई महन्त मदद करने आया न सेठ। आखिर में यहाँ भी हमारा उबार करनेवाले मजूर ही मिले। कुछ मजूर मकान बनाने का काम कर रहे थे। उन्होंने हमें शरण दी, लेटने के लिए चटाई दी। प्यास बहुत लगी हुई थी, नीचे उतरकर गंगा से पानी भरकर लाने के लिए उनसे नहीं कह सकते थे। उन्होंने बर्तन दिया, और नागार्जुनजी पानी भर लाए। 2, 3 घंटे के विश्राम के बाद धूप कम हुई, फिर हम गंगा के बाएँ किनारे के स्वर्गाश्रम की ओर चले। रास्ते में जहाँ-तहाँ बहुत-सी कुटियाँ थीं, कितने ही आम के वृक्ष भी लगे थे। लेकिन कितनी ही कुटियाँ परित्यक्त भी थीं। क्या धर्मभूमि भारत में तपस्वियों की कमी हो गई या टीन से छायी इन कुटियों में रहने के लिए हमारे तपस्वी तैयार नहीं। इसमें संदेह नहीं, यह गर्मी का मौसम था। हम अनुभव कर रहे थे, वहाँ कितनी ज्वाला लहक रही है। स्वर्गाश्रम है तो स्वर्ग ही जैसा, लेकिन वह स्वर्ग कैसा, जहाँ अप्सराएँ नहीं ? हाँ, शायद गर्मी की वजह से अभी बहुत-से स्थान खाली पड़े थे। वर्षा और शरद में इसकी शोभा और बढ़ती होगी। आधुनिक शिक्षा ने जब वर्त्तमान शताब्दी के आरम्भ में हमारे देश में कदम रखा, तो लोग धरम की ओर से कुछ उदासीन हो गए, लेकिन जब हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातकों ने काषायवस्त्र धारण कर लिया तो श्रद्धा दसगुने बल से लौट आई। मैंने देखा, कितनी ही तरुण शिक्षिताएँ बड़ी श्रद्धा के साथ इन कुटियों की परिक्रमा कर रही थीं।

नाव से गंगा पार करके हम फिर इस ओर चले आए। फिर बन्दरों के झुण्ड और कोढ़ियों की भीड़ के भीतर से होते हुए लौटे। ऋषीकेश आज अयोध्या का कान काट रहा है। उसी तरह हजारों साधू, उसी

तरह साधुनियाँ, उसी तरह भक्तिभाव। लेकिन इतने कोढ़ियों को अपनी गोद में रखने का साहस अयोध्या को भी नहीं हुआ।

हम उस दिन ऋषिकेश में सिर्फ जगह देखने गए थे। मालूम हुआ, जगह वहाँ मिल सकती है, और हरद्वार की अपेक्षा अधिक उदारता के साथ। लेकिन इधर दो-तीन दिन से मेरे शिर में चक्कर आने लगा था। यह गर्मी ही के कारण था, इसलिए सोचा, हरद्वार, ऋषिकेश या ज्वालापुर महाविद्यालय में रहने से काम नहीं चलेगा। अब कोई ठंडी जगह पकड़नी चाहिए। आनन्दजी हरद्वार में आनेवाले थे, उनको मैं खबर भी दे चुका था, इसलिए उनके लिए कोई संदेश छोड़ जाना जरूरी था। इस साल हिन्दी साहित्य-सम्मेलन हरद्वार में होनेवाला था। पहिले मेरी बड़ी इच्छा थी कि सम्मेलन को देखकर आगे चलूँ, लेकिन शिरदर्द ने मजबूर कर दिया। सम्मेलन स्वागतकारिणी सभा के कार्यालय में गया। वहाँ पंडित किशोरीदास वाजपेयी विराजमान थे। मैंने पूछा—"आनन्दजी कब आ रहे हैं।" उन्होंने कहा—"अभी मुझे कोई खबर नहीं है।" मैंने कहा—"आनन्दजी आएँ तो उनको कह देंगे कि आपके दोस्त आए थे, गर्मी बर्दाश्त न करने के कारण पहाड़ पर चले गए हैं।" उन्होंने पूछा—"आपका नाम?" मुझे झूठ बोलने की कोई जरूरत नहीं थी, मैंने कहा—"केदारनाथ पांडे, आजमगढ़ जिले का रहनेवाला हूँ।" वाजपेयी जी सन्तुष्ट हो गए। यदि याद रहेगा, तो उन्होंने आनन्दजी से केदारनाथ पांडे का संदेश दिया होगा।

1. उत्तरकाशी की ओर

30 तारीख को भोजन करके हमने ऋषिकेश की लारी पकड़ी, और पंजाब-सिन्ध क्षेत्र में जाकर उतरे। श्रद्धालुओं ने इतने कमरे बनवा दिए हैं, कि उनमें से काफी खाली पड़े रहते हैं। प्रबन्धक भद्रजन थे, हमें एक हवादार कमरा रहने के लिए मिल गया। चारपाई, चिराग, पानी के लिए मिट्टी का घड़ा भी, सबका इंतिजाम। क्षेत्रवाले खाना भी देने को तैयार थे, लेकिन हमें उसकी जरूरत नहीं थी। शाम को जब कुछ ठंडा हुआ, तो हम गंगा की तरफ घूमने गए। वहाँ से लौटकर कुटियों की ओर मुड़े। एक नाथपंथी धर्मशाला देखी। मुझे कुछ स्वाभाविक जिज्ञासा थी, नाथ-साहित्य के बारे में। वहाँ गया तो महात्माओं ने ज्ञान देना शुरू किया—पोथी-पत्रा में क्या रखा हुआ है, नाथों की बानी गुरुमुख से ग्रहण की जाती है। मेरे ऊपर सौ घड़े पानी पड़ गए। वहाँ भला साहित्य के लिए क्या आशा हो सकती थी ? और कहने पर एक छपी हुई भजनों की रद्दी-सी पुस्तक मिली, जिसमें चौरासी सिद्धों के नाम गिनाए गए थे। मुझे कुछ आश्चर्य हुआ, जब मैंने देखा कि आधे से कुछ अधिक नाम ठीक चौरासी सिद्धों के ही हैं। मैंने नाथपंथ की ऐसी पुस्तक नहीं देखी थी, जिसमें सिद्धों के इतने ठीक नाम उतरते हों। यहीं पदुमनाथ मिल गए, ज्यादा पढ़े-लिखे नहीं लेकिन आदमी बहुत स्पष्टवक्ता। उन्होंने बतलाया कि भीष्मनाथ नाम के एक पंडित साधु आजकल नाहन रियासत में हैं। उन्होंने बहुत से "शवद" जमा किए हैं, मगर वे छपे नहीं हैं। मैंने ऋषिकेश की प्रशंसा में दो-चार शब्द कहे और श्रीअयोध्यापुरी से उसकी तुलना की। इस पर पदुमनाथ उबल पड़े और कहा—'यह सबसे बड़कर''घर हैं।' मैंने कहा—"क्या कह रहे हो नाथजी?" पदुमनाथ ने कहा—"साधू सबेरे से दोपहर तक क्षेत्रों से रोटियाँ जमा करते हैं, फिर खाकर सो जाते हैं, शाम को फिर शहर का चक्कर मारते हैं।" अगर बात ठीक भी हो, तो इसमें साधुओं का क्या दोष ? प्राचीन ऋषियों के आश्रमों में भी इतने जबर्दस्त ब्रह्मचर्य-पालन का विधान नहीं था। किसी जानकार ने कह दिया है—

> "विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो बाताम्बुपर्णाशिना:,
> तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहंगता:।
> शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा:,
> तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरम्।।"

लेकिन इस घोर कलियुग में बड़े जोर-शोर से सागर में विंध्य तैराए जा रहे हैं। मैं यह नहीं कहता कि इस ब्रह्मचर्य का कोई सुफल नहीं। आखिर जितनी हिन्दू विधवाएँ आज ब्रह्मचर्य-पालन के लिए मजबूर की गई हैं, उन सबको मुक्त कर दिया जाता तो भारत की जनसंख्या और कितनी बढ़ जाती। कितने ही शिक्षित

संख्या-नियन्त्रण पर जोर दे रहे हैं, विधवा-विवाह-निषेध ने इस काम को कितने ही अंश में पूरा किया है। साधुओं के ब्रह्मचर्य ने क्या किया है, इसके बारे में राय देना जरा मुश्किल है। लन्दन में एक बार एक हिन्दू तरुण साधुओं की निन्दा कर रहे थे–यह निकम्मे हैं, मुफ्त के खाते हैं, आदि, आदि। मैंने पूछा, "आपने स्टड्बुल् (महासाँड़) देखा है या नहीं ?" उन्होंने कहा–"देखा है।" मैंने कहा–"अभी हमारा देश इसमें बहुत पिछड़ा हुआ है। यूरोपवाले स्टड्बुल् की बड़ी कदर करते हैं, इसीलिए उनके यहाँ गायों की नसल दिन पर दिन तरक्की करती है। आपने किसी स्टड्बुल् को कभी गाड़ी खींचते या हल चलाते देखा है ?"

"नहीं देखा।"

"तो आपकी परिभाषा के अनुसार ये निकम्मे और मुफ्त के खानेवाले हुए ?"

वह झुँझलाकर बोले–"तो आप कहना चाहते हैं, कि साधु नसल को बेहतर बनाने के लिए हैं ? उनमें कितनों की तो अपनी ही नसल दुरुस्त नहीं होती, वह क्या बेहतर नसल बनाएँगे।"

मैंने कहा–"आप उत्तेजित न होइए। यदि दो-चार 'स्टड्बुल्' खराब हों, तो आप सारे स्टड्बुलों को क़तल करने का हुक्म तो नहीं देंगे ? मैं आप ही से पूछता हूँ, क्या आपने किसी के अँधेरे घर में साधु के प्रताप से चिराग जलते नहीं देखा ?"

"आपका मतलब है, निःसन्तान घर में सन्तान होने से ?"

मैंने कहा–"हाँ।"

शायद उनका नाम ओमप्रकाश था। उन्होंने मुस्कराते हुए कहा–"दूसरे के यहाँ की बात क्यों कहूँ, मेरे अपने चचा ही के यहाँ ऐसा हुआ।"

मैंने कहा–"आप अपने चचा की सम्पत्ति से वंचित हुए, लेकिन इसका क्रोध सारी संस्था के ऊपर उतारना क्या ठीक है ?"

सिर्फ ऋषिकेश, अयोध्या या बनारस के साधुओं पर इस तरह का दोष देना फजूल है। हिन्दू, ईसाई, बौद्ध सभी के घर वही मिट्टी का चूल्हा है। असल में ब्रह्मचर्य और भक्तिभाव दो अलग-अलग चीजें मानी जातीं, तो बेहतर होता, किन्तु इसके लिए अभी हमारे धर्मात्मा लोग तैयार नहीं। इसीलिए मानव-प्रकृति को दूसरे रास्ते अख्तियार करने पड़ते हैं, जिनमें बाज बहुत अभद्र है, इसमें सन्देह नहीं। हमारे एक मित्र ने एक बार सुझाव पेश किया था, कि साधुओं और साधुनियों के बकायदा मठ बनें। साधुनियों के वंध्यात्व को स्वाभाविक या कृत्रिम रूप से निश्चित कर दिया जाये, और भजनानन्दियों के बारे में किसी तरह की दुर्भावना न उठाई जाय। मालूम नहीं हमारे दोस्त का यह सुझाव मंजूर होगा या नहीं।

पहिली मई को 10 बजे हमने टेहरी की मोटर पकड़ी। मोटर पहिले ही से खूब भरी थी। उसने मुनि की रेती में जाकर 15 बोरे नमक और लादे। हमें तो डर लगने लगा, कि पहाड़ी रास्ते में कहीं टें न बोल दे। रियासती अफसर का ही काम था, फिर मुसाफिरों की पर्वाह करने की क्या जरूरत ? तीन घण्टे तक लारी यहीं खड़ी रही, फिर जाकर चली। ऋषिकेश के बगल का पहाड़ टपना था। रास्ता कड़ी चढ़ाई का था। पहाड़ी दृश्य और लारी के इंजन की घोर घनघनाहट का आनन्द लेते टेढ़े-मेढ़े हम ऊपर चढ़ने लगे। प्रायः 10 मील चलने पर नरेन्द्रनगर आया। उस वक्त सारे गढ़वाल पर टेहरीवाला राजवंश शासन करता था। गोरखों का राज आया। फिर अंग्रेजों ने मदद देने के मेहनताने में गढ़वाल ले लिया, और रियासती गढ़वाल टेहरी राजवंश के हाथ में रह गया। इसकी आबादी साढ़े चार लाख और भू-कर पाँच-छै लाख है।

नरेन्द्रनगर को पिछले राजा नरेन्द्रशाह ने अपने नाम से बसाया। उससे पहिले के राजा प्रतापनगर बसा चुके थे। न यहाँ उद्योग-धंधे न कोई दूसरा बड़ा कारबार ? ऊपर से हर राजा को अपने नाम से नगर बसाने और लाखों रुपया लगाकर महल बनाने का शौक। मय दानव जैसे मुफ्त में आकर नगरों को बसानेवाले तो थे नहीं, आखिर यह सारा धन प्रजा की गाढ़ी कमाई से ही जमा होता था, इसलिए सारी आफत प्रजा पर पड़नी ही थी। टेहरी नगर को भी इसका फल कुछ भुगतना पड़ा, क्योंकि वहाँ के निवासियों को अधिकतर इन नगरों में जाना था। फिर टेहरी के सैंकड़ों घर यदि खंडहर बन रहे हैं, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

नरेन्द्रनगर में राजप्रासाद और सरकारी मकानों के अतिरिक्त कुछ दूकानें भी हैं। दो घंटे तक लारी वहाँ ठहरी रही, फिर वह आगे चली। सड़क काफी चौड़ी नहीं है, और रास्ता पहाड़ी घूम-घुमौवा। कई जगह लारी को खड्ड में जाने का भय था। उतराई-चढ़ाई करते-करते हमने चम्पा डाँड़ा पार किया। ऊँचाई 4 हजार फीट से ऊपर ही होगी। नरेन्द्रनगर से चलने पर पहाड़ों में जंगल दिखाई पड़े। आगे जंगल को अन्धाधुन्ध काटकर खेत बनाने की कोशिश की गई है। कहीं-कहीं गेहूँ अब भी खड़े थे। बीच-बीच में दूकानें भी मिलीं, और कलिम्पोङ् की तरह तो नहीं, लेकिन कहने पर चाय भी मिल जाती थी। शाम को हमारी लारी गंगा की उपत्यका में आई। इस विस्तृत उपत्यका में सभी जगह गाँव और खेत दिखाई पड़े। टेहरी से बाहर नदी के इस पार ही लारी खड़ी हो गई, भारवाहक से सामान उठवाकर हम लोग नगर की ओर चले। एक सिक्ख धर्मशाला में ठहरने के लिए कोठरी मिल गई।

2. टेहरी में

हम टेहरी में ज्यादा रहना नहीं चाहते थे, किन्तु बोझी (भारवाहक) का मिलना उतना आसान नहीं था, इसलिए यहीं ठहर जाना पड़ा। खाने के लिए कोई तकलीफ नहीं थी, बहुत-से हिन्दू रसोईवाले यहाँ मौजूद थे, जिनमें मछली-मांस मिल जाता था। अगले दिन टेहरी नगर देखने गए। शिल्प-उद्योग-विहीन नगर की अवस्था जैसी होनी चाहिए, वैसी ही इसकी थी। राजाओं ने अपने-अपने नाम से नगर बसाकर और सत्यानाश किया है, यह पागलपन के सिवा और कुछ नहीं है। शायद वह समझ रहे हों, कि इस तरह वह अपने नाम को अमर कर रहे हैं। मान लो आज से एक लाख वर्ष बाद प्रतापनगर और नरेन्द्रनगर रह ही जायँ, और इधर दो ही एक पीढ़ी बाद हिन्दुस्तान के सारे राजवंशों पर महामारी आ जाये, तो किसको पता होगा कि ये प्रताप और नरेन्द्र कौन थे ? टेहरी बड़ी सुन्दर जगह में दो नदियों के संगम पर बसी हुई है। यहाँ एक इन्टर कालेज है। रियासत में कई जगह स्कूल भी हैं, लेकिन ब्रिटिश भारत की तरह यहाँ के भी शिक्षित दफ्तरों की कुर्सियाँ ही तोड़ सकते हैं। दफ्तरों में इतनी कुर्सियाँ नहीं हैं, इसका परिणाम है बेकारी। हम पुराने मन्दिरों को देखने गये। सत्येश्वर महादेव के पास एक बरगद के नीचे खंडित चतुर्भुज मूर्त्ति है, जो मुसलिम काल के पहिले की जान पड़ती है। उस वक्त टेहरी यदि राजधानी रही होगी, तो किसी दूसरे राजवंश की। टेहरी में भी चावल का भाव 2 सेर और आटे का 3 सेर था। गरीब कैसे इतने मँहगे अनाज को खरीद सकते हैं। इन पहाड़ी नदियों से आसानी से नहर निकाली जा सकती है, बिजली पैदा की जा सकती है। यहाँ फलों के बाग लग सकते हैं। लेकिन यह शासक तो सिर्फ विलासिता को ही आधुनिक युग से लेते हैं। इनको पूरा विश्वास है, कि अंग्रेजों का शासन तब तक चलता रहेगा जब तक गंगा-जमुना में जल है। फिर बाहर से कौन हमें निकालने आयेगा, और भीतर यदि किसी ने तीन-पाँच किया, तो हमारी जेलें पड़ी हुई हैं—लोगों को उनमें ठूँस-ठूँसकर मार डालेंगे। उन्होंने जार और कैसर जैसे मुकुटधारियों के मुकुट को धूल में लोटते देखकर कोई शिक्षा नहीं ग्रहण की। उनकी अकल इससे भी कुछ ठिकाने नहीं आई, कि इंगलैंड का एक बादशाह आज दर-दर मारा फिर रहा है। प्रजा उनके लिए कीड़े-मकोड़े हैं, और यह भगवान की ओर से उनके ऊपर शासन करने के लिए भेजे गए हैं। हाँ, मोटर का रास्ता जरूर कुछ बन गया है, और सड़क बनाने में कितने ही लोगों को काम भी मिल जाता है, लेकिन उसके साथ ही हजारों बोझिया, जो पहिले सामान ढोया करते थे, अब बेकार हो गए हैं। तीन दिन इंतिजार करने के बाद यहाँ से 44 मील उत्तरकाशी के लिए आठ रुपये पर एक बोझी मिला। दो दिन के रास्ते के लिए आठ रुपया बहुत ज्यादा है, लेकिन हम टेहरी में बैठकर इंतिजार नहीं करना चाहते थे।

4 मई को 6 बजे सबेरे ही रवाना हुए। रास्ता बहुत दूर तक सीधा रहा। आजकल गूजर लोग अपनी गाय-भैंस लिये ऊपर की ओर जा रहे थे, शायद 21, 22 सौ वर्ष पहिले से—जब कि वह हिन्दुस्तान में आए—आज तक उन्होनें अपना पेशा पशुपालन ही रखा। सभी गूजर पशुपालक होते, तो पंजाब में गुजरात और गुजराँवाला न बसा पाते, और न सौराष्ट्र तथा अपरांत को अपना नाम देकर गुजरात बना पाते। जब नीचे जंगल काफी था, तब उन्हें अपने पशुओं को लेकर नीचे-ऊँचे पहाड़ों के लाँघने की जरूरत नहीं थी, किन्तु अब नीचे जंगल

कहाँ ? इसलिए मई के शुरू ही में इन्हें मैदान छोड़ हिमालय का रास्ता लेना पड़ता है। मध्यएसिया से आकर रहते उनका कोई और भी धर्म रहा होगा, हिन्दुस्तान में आकर इन्होंने हिन्दू या बौद्ध धर्म स्वीकार किया होगा, और आज मुसल्मान हैं। इनके पूर्वजों ने मध्यएसिया छोड़कर अच्छा किया या बुरा, इसके बारे में हम क्या राय दे सकते हैं ? आखिर उन्होंने अपनी जन्मभूमि में हूणों से जीवन के लिए संकट देखा, तभी तो वह उसे छोड़ने के लिए मजबूर हुए। हाँ, गूजरों की प्राचीन मातृभूमि में आज सोवियत का पंचायती राज है, अब वहाँ के पशुपालक भी अपने साथ रेडियो लिए घूमते हैं। उनका जीवन चिन्ता और भय का जीवन नहीं है, सुख और समृद्धि का जीवन है। दिल में तो आया कि हफ्ता दो हफ्ता इन खानाबदोश गूजरों के साथ बिताया जाय। इससे हम नुकसान में नहीं रहते। अब भी उनके पास कुछ पुराने गीत होंगे, पुराने राग और नृत्य होंगे, पुराना विश्वास होगा; किन्तु हमारे पास न वैसा भेस था, न भेस बनाने के लिए काफी समय।

ये लोग पंजाबी बोलते हैं, रंग और पहाड़ियों से बहुत साफ तो नहीं होता, लेकिन गूजरियाँ बहुत स्वस्थ और ऊँचे कद की होती हैं। एक गूजरी को बुखार आ गया था। भल्याणा की चढ़ाई आई, बेचारी चलने में असमर्थ होकर एक जगह बैठी थी। मैंने पूछा, क्या मैं कोई मदद कर सकता हूँ ? उसने इतना ही कहा कि आगे हमारे आदमी मिलेंगे, उनसे मेरे बारे में कह देना। आदमी हमें मिले। वह घोड़ा लेकर अपनी बीमार तरुणी को लाने जा रहे थे, मैंने उनसे संदेश कह दिया। 11वीं 12वीं सदी तक पश्चिमी तिब्बत–गूगे–की राजसीमा भल्याणा की इस चढ़ाई तक थी।

5 घंटे में 12 मील चलकर 11 बजे हम भल्याणा पहुँचे। यहाँ धर्मशाला और दूकानें हैं। बोझी ने अपने और हमारे लिए भोजन बनाया। भोजन करके हमने 4-5 घंटे विश्राम किया। 4 बजे फिर रवाना हुए। सब जगह खेत ही खेत थे। लोग आकाश की ओर मुँह लगाए बैठे थे, और अपार पानी गंगा में होकर फजूल हो नीचे बहा चला जा रहा था। रियासत यदि एक इंजिनियर और कुछ लोहा-सीमेंट-लकड़ी की मदद करती, तो यहाँ नहर बन गई होती। फिर सारा पर्वतगात्र फलदार वृक्षों और लहलहाते खेतों से ढँका दिखाई पड़ता।

शाम को सूर्यास्त बाद हम नगुण पहुँचे। यहाँ एक धर्मशाला है, जिसमें भीड़ भी थी, और गंदगी भी, इसलिए हमने सीताराम मंदिर का आश्रय लिया। थोड़ी देर बाद प्रयाग (बलिया) के एक पेन्शनर जज साहब सपत्नीक वहाँ पहुँचे। उनको भी ठहरने के लिए कष्ट हो रहा था। पत्नी ने जब सुना कि मैं छपरा का रहनेवाला हूँ, तो उन्होंने बतलाया कि मेरी लड़की छपरा में ब्याही है। खैर, हम एक दूसरे की भाषा तो बोल ही सकते थे। धर्मशाला में पिस्सुओं और खटमलों से लोहा लेना पड़ता, यहाँ निश्चिन्त थे। सामने भागीरथी कल-कल करती बह रही थी। सीताराम मंदिर को कभी किसी वैष्णव ने स्थापित किया था, किन्तु उसके पीछे सँभालनेवाला कोई साधु नहीं रहा। अब एक गृहस्थ धूपबत्ती कर देता है। शायद जब हमारे ऐसे अश्रद्धालु भी दो-एक आना दे सकते हैं, तो दूसरे भी कोई दाता अवश्य मिल जाते होंगे।

अगले दिन (5 मई) 6 बजे ही हम रवाना हुए। 15 मील पर धरासू मिला। अभी सबेरा था, इसलिए हम यहाँ नहीं ठहरे और दो मील और चलकर डूँढ़ा पहुँचे। धरासू इधर खूब जंगल है, चीड़ के बड़े-बड़े वृक्षों से सारा पर्वत ढँका हुआ है। कहीं-कहीं गाँव और खेत भी हैं। यहीं भोजन और मध्याह्न-विश्राम हुआ। चार बजे फिर चले, ढाई घंटे बाद मातरी पहुँचे। अभी दिन था, लेकिन देखा, आसमान में बादल घिरा हुआ है, पानी बरसने का डर है, इसलिए मातरी ही में ठहर गए। एक अकेली दूकान थी। दूकानदार ने रहने की जगह और बर्त्तन-भाँड़ा भी दे दिया। हमारे बोझी ने भोजन बनाना शुरू किया। रास्ता चलनेवालों के लिए अच्छा है, कि एकाध घंटा दिन रहते ही ठहर जायँ। आटा तीन सेर और चावल ढाई सेर का था, अर्थात् नीचे से यहाँ अन्न का भाव अच्छा था। लेकिन यदि नीचे के यात्री ज्यादा आ गये, तो अनाज का भाव बढ़ेगा। लौटते वक्त मैंने देखा, अबकी साल यात्री खूब आ रहे हैं। शहरवालों को पता तो नहीं लग गया, कि उत्तराखंड में खाने-पीने की चीजें सस्ती और सुलभ हैं।

3. उत्तरकाशी में (6-24 मई)

सबेरे ही हम फिर चले। बीच-बीच में एकाध दूकानें और पड़ीं। रास्ता समतल था–5 ही मील का रास्ता था। 8 बजे हम उत्तरकाशी पहुँच गए। बिड़ला धर्मशाला का नाम सुनकर हम वहाँ गए। मुंशी साहब अभी सोए पड़े थे। कुछ देर इंतिजार करने के बाद उन्हें जगाना पड़ा। उन्होंने शकल-सूरत देखी। हमारी शकल-सूरत में कोई विशेषता न थी। कहने पर उन्होंने ऊपर का कमरा खोल दिया। जँगले के शीशे टूटे हुए थे, लेकिन जालीदार किवाड़ सुरक्षित थे। जब टूटे शीशों की ओर से मक्खियाँ आ सकती हैं, तो किवाड़ की जाली की उनको क्या पर्वाह ! दूसरा कमरा देने के लिए कहने पर मुंशी ने बड़े रूखेपन से कहा–बस यही है। बाजार में गए तो दो को छोड़ सारी दूकानें बन्द थीं। नागार्जुन आटा-दाल-लकड़ी लिवा लाए। बोझी ने खाना बनाया। खाने के बाद वह मजूरी लेकर चला गया। हम लोग कुछ थके थे, सो गए।

सोचा था, चलो चाहे मक्खीवाली ही कोठरी हो, किन्तु जगह तो मिली। यहाँ बैठकर कुछ दिनों लिखना-पढ़ना होगा; लेकिन जान पड़ता है, सेठों की सहायता हमारे भाग्य में बदी नहीं है। मुंशी ने आकर कहा–गोस्वामी गणेशदत्त या बिड़ला सेठ की चिट्ठी के बिना तीन दिन से अधिक कोई यहाँ ठहर नहीं सकता। उसने इन शब्दों को बड़े रूखेपन से कहा। मैंने पूछा–"वह आज्ञा कहाँ है ?" उसने कहा–"मैं जो कहता हूँ।" तीन दिन रहने का नियम उचित था, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। अगर एक-एक यात्री तीन-तीन हफ्ते तक कोठरी दखल करके बैठ जाए तो बाकी यात्री क्या करेंगे ? मैंने उससे कहा–"जब तक और यात्री नहीं आते तब तक के लिए हमें रहने दो। इस बीच में किसी दूसरी जगह इंतजाम करेंगे।" उसने 'नहीं' किया। यह अड़चन तो सामने आई ही, साथ ही एक दूसरी अड़चन भी थी–अपने हाथ से खाना बनाना। यदि दोनों शाम हमें अपने हाथ से खाना बनाना और बर्तन मलना पड़ता, तो दिन के प्रकाश का अधिक भाग उसी में चला जाता–प्रकाश आजकल मँहगी चीज है, क्योंकि मिट्टी का तेल मिलना सुलभ नहीं है। हम दोनों चले कोई ठौर ढूँढ़ने। किसी पंडे के यहाँ जगह मिल जाती, लेकिन भीड़-भड़क्का का डर था। काली कमलीवाले की धर्मशाला में गए। वहाँ के प्रबंधक संन्यासी बड़े शिष्ट थे। लेकिन हमने देखा कि वहाँ बहुत भीड़ है, अतः ऐसी जगह रहना उचित नहीं समझा। पंजाब-सिन्ध क्षेत्र में पहुँचे। वहाँ दो कोठरियाँ नई बनी हुई थीं, नई का मतलब था कि उनमें अभी खटमलों-पिस्सुओं ने बसेरा नहीं लिया था। क्षेत्र-प्रबंधक ने बड़ी खुशी से एक कोठरी हमें दे दी और कह दिया कि एक पंजाबी माई ने इस कोठरी को बनवाया है, वह साधुओं के सत्संग के लिए आया करती हैं। यदि वह आई, तो कोठरी को छोड़ देना होगा। मैंने कहा–"एवमस्तु"।

गंगा यहाँ से बिलकुल नजदीक थी। खाने की बात चलने पर प्रबंधक ने कहा कि एक शाम तो हमारे यहाँ सैकड़ों साधुओं को भोजन दिया जाता है, दूसरे यात्री भी खा जाते हैं। हमने कहा–"हम बस इतनी ही मेहरबानी चाहते हैं, कि हमारे लिए आप भोजन बनवा दिया करें। हम कोई विशेष भोजन नहीं चाहते। हम अपने लिए भी वही सामान दे देंगे, जो रसोई में दूसरों के लिए बना करता है।" प्रबन्धक ने हमारा बहुत सन्तोषजनक इन्तिजाम कर दिया। अब रहने के लिए निश्चिन्त हो गये। उसी दिन हमारा सामान उठकर चला आया।

उत्तरकाशी–यह पचास-साठ ही वर्षों का दिया नाम है, नहीं तो सरकारी कागजों में आज भी इसे बाड़ाहाट (बाड़ाबाजार) कहा जाता है। हिमालय के तीर्थों में जब सेठ-साहूकार, राजा-बाबू पहुँचने लगे और उनसे काफी आमदनी होने लगी, तो लोगों ने नये-नये प्रयाग और काशी बनाने शुरू किये, उत्तरकाशी भी इसी तरह की नकली काशी है। इसका यह अर्थ नहीं, कि बाड़ाहाट पहिले महत्त्व का स्थान नहीं था। यह बड़े ही ऐतिहासिक महत्त्व की जगह है। यहाँ का पाँचवीं, छठीं शताब्दी का त्रिशूल सारे हिन्दुस्तान में अपने ढंग की अद्वितीय चीज है। 11वीं शताब्दी की अष्टधातु की बुद्धमूर्त्ति भारतीय मूर्त्तिकला का एक सुन्दर नमूना है। उत्तरकाशी छठी शताब्दी में ही यह एक महत्त्वपूर्ण स्थान बन गया था। लेकिन ऐतिहासिक महत्त्व से धार्मिक दूकानदारी तो नहीं चल सकती, इसलिए बाड़ाहाट को उत्तरकाशी बनना पड़ा। शक्ति का पता मुझे मालूम था, क्योंकि

उस पर गुप्ताक्षर में उत्कीर्ण लेख को मेरे पास 'गंगापुरातत्त्वांक' में छापने के लिए भेजा गया था। लेकिन मैं वहाँ के बारे में कुछ और जानना चाहता था। पता लगा कि यहाँ की संस्कृत पाठशाला में श्रीचन्द्रशेखर शास्त्री पढ़ाते हैं। मैं उनसे मिलने गया। जो कुछ जानते थे, उन्होंने बतलाया। यह सुनकर अफसोस हुआ, कि उनकी बदली गंगोत्री के पंडों के गाँव मुखवा में हो गई। यद्यपि संस्कृत पंडितों में ऐतिहासिक रुचि नहीं होती, तो भी चन्द्रशेखरजी इधर के रहनेवाले थे, इसलिए सम्भव था, कि उनसे कुछ और पता लगता। जब हम वहाँ से चलने लगे, तो एक दाढ़ीवाले गुजराती ब्रह्मचारी आ गये। चन्द्रशेखर पंडित से हमारी संस्कृत में बातचीत चल रही थी। ब्रह्मचारी को जब यह मालूम हुआ कि हम बौद्ध हैं, तो उनका चेहरा बिलकुल फक हो गया। शायद वह समझने लगे कि तब तो भगवान शंकराचार्य का सब किया-कराया मिट्टी में मिलने जा रहा है–संस्कृतज्ञ ब्राह्मण भी यदि बुद्ध के चेले बनने लगे, तो वेदान्त को क्या आशा हो सकती है ? उनमें शिष्टाचार छू नहीं गया था। शास्त्री ने बम्बई विश्वविद्यालय का बी. ए., एल-एल. बी. कहकर उनका परिचय दिया था। लेकिन हम आक्सफोर्ड, केम्ब्रिज के भी कितने ही गधे देख चुके थे, इसलिए आश्चर्य करने की जरूरत नहीं थी।

अगले दिन (7 मई) पुलिस सिपाही आया, पूछा–कितने दिन रहोगे ? हमने कहा–कुछ दिन रहेंगे, हमारी डाक आनेवाली है, ('दर्शन-दिग्दर्शन' का प्रूफ आनेवाला था)। उसने कहा–पुलिस चौकी में जा के नाम लिखाना, दस्तखत करना पड़ेगा। 4 बजे पुलिसचौकी में गये। हुलिया और पिता का नाम, गाँव आदि सब लिखा गया। हुज्जत करने का मतलब था, तुरन्त उत्तरकाशी छोड़ना। मालूम हुआ, कि इसकी नकल टेहरी भेजी जाती है। उन्होंने पढ़ा होगा–केदारनाथ पांडे··· पं. बैजनाथ··· उनको क्या मालूम था, कि रियासत में खतरनाक आदमी घुस आये हैं। चप्पल टूटनेवाला था, इसलिए नागार्जुन जी के लिए जूते की जरूरत थी। ग्यानृशू में मोची के पास गये। उसके पास चमड़ा नहीं था। उत्तरकाशी में दूकानें तो बहुत थीं, लेकिन अभी कितनी ही खुली नहीं थीं–यात्रियों का मेला शुरू नहीं हुआ था। दूकानों पर आलू भी मिलना मुश्किल था!

हम यहाँ रहकर 'दर्शन-दिग्दर्शन' का प्रूफ देखना चाहते थे, एक उपन्यास लिखना चाहते थे। नागार्जुनजी तिब्बती भाषा पढ़ना चाहते थे, क्योंकि वह तिब्बत की तैयारी करके गये थे। उपन्यास तो 40, 50 पेज लिखकर फाड़ दिया, वह मुझे पसन्द नहीं आया। शाम को (8 मई) पूरब के छोर की ओर टहलने गये। रास्ते पर एक दुर्गा का मंदिर है, जिसके बाहर कितनी ही खंडित मूर्त्तियाँ पड़ी हैं। जूता लेना जरूरी था। पता लगा कि नदी पार बोङ्गा गाँव में जूता बनानेवालों के घर हैं। पुल से पार हो बूढ़े केदार के रास्ते में तीन मील तक गये। वहाँ भी जूता बनानेवाला कोई नहीं मिला। रास्ते में तेजपात के सूखे पत्ते पड़े हुए देखे। यहाँ उसके वृक्षों का जंगल खड़ा है और यहाँवाले उसका कोई उपयोग नहीं जानते। इधर पहाड़ों में सबसे ज्यादा काम स्त्रियाँ करती हैं–खाना पकाना ही नहीं, खेती का काम भी वही करती हैं, शायद हल नहीं चलातीं, बाकी खेत में कूड़ा फेंकना, बोवाई-निराई करना सब उन्हीं का काम है। पुरुष तो बैठे-ठाले दिखाई पड़ते हैं। हाँ, उनका एक रोजगार है, वह गंगाजल लेकर युक्तप्रान्त, बिहार और दूर-दूर तक चले जाते हैं। इस इलाके के सारे राजपूत ब्राह्मण बनकर गंगाजल बेंचते फिरते हैं–गंगाजल भी बहुत कम होता है, अधिकतर तो कूपजल, नदीजल ही होता है, जहाँ जल खतम हुआ, फिर गंगाजली भर ली जाती है। गंगोत्री के आसपास के लोगों को इससे खासी आमदनी हो जाती है। यहाँ ब्याह करने के लिए स्त्रियाँ खरीदी जाती हैं और आमदनी के अनुसार दाम भी हजार-पाँच सौ तक जाता है। पहिले बचपन की शादी ज्यादा होती थी, लेकिन सरकार ने इसके खिलाफ कानून बना दिया, अब 14 से कम की लड़की और 18 से कम लड़के की शादी नहीं हो सकती। कानून तो कहता है, कि 100 से अधिक दाम लड़की का नहीं लेना चाहिए, लेकिन किसी को अपनी लड़की ब्याहने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता, और चुपके से कितना रुपया दिया गया, इसका किसको पता ? दाम का चौथा अंश रियासत लेती है। हाँ, सौ से अधिक रुपया नहीं लिखाया जाता। जब पटरी नहीं खाती, तो औरत को छोड़ देते हैं। झाला में रहनेवाले एक साधू बतला रहे थे, वहाँ एक-एक घर में तीन-तीन चार-चार परित्यक्ता स्त्रियाँ बैठी हुई हैं।

उत्तरकाशी में एक मिडिल इंगलिश स्कूल है। यहाँ कुछ कताई-बुनाई के सिखलाने का भी इंतिजाम है।

मास्टर मोतीलाल ने ऊन की कताई-बुनाई दिखाई। आजकल के लिए तो कोई हरज नहीं, क्योंकि मिल के बने ऊनी कपड़े बहुत मँहगे हैं, लेकिन लड़ाई खतम हो जाने पर जब मिल के सस्ते कपड़ों की बाढ़ आ जायेगी, तो इन मँहगे कपड़ों को कौन पूछेगा ? टेहरी रियासत क्या यहाँ बिजली पैदा करके घर-घर में मशीन के कपड़े नहीं बुनवा सकती ? इस विभाग का उपयोग चन्द वर्षों के ही लिए है। आज ही स्वामी रामतीर्थ के शिष्य स्वामी आनन्द से भेंट हुई, बड़े मिलनसार और उदार-हृदय व्यक्ति हैं।

हमारे निवासस्थान के बगल ही में सिद्ध गम्भीरनाथ (गोरखपुर और गया) के शिष्य साधु प्रज्ञानाथ रहते थे। यह उत्तरकाशी के विद्वान् साधुओं में हैं। मैं एक तो उनकी ओर नाथपन्थी होने से आकृष्ट हुआ, दूसरे सुना था कि वह मानसरोवर हो आये हैं, हमें भी थोलिङ् तक जाना था। उनके बतलाने से मालूम हुआ, भैरोघाटी से 10 दिन में थोलिङ् पहुँचा जा सकता है। नाथ-पन्थ का जहाँ तक सम्बन्ध है, वह समझते हैं कि 84 सिद्ध भी शंकराचार्य के चेले थे ! कुछ विद्यार्थियों को वह कोई वेदान्त ग्रन्थ पढ़ा रहे थे। कुछ देर तक हम ध्यान से सुनते रहे थे, कि कौन भाषा बोल रहे हैं, गद्य है या पद्य ? यदि मुँह गोल करके बंगाली उच्चारण होता, तो भी समझ में आ जाता। लेकिन वहाँ देख रहे थे कि हरेक शब्द के बोलने में नाक का पूरा इस्तेमाल किया जा रहा है, अनुस्वारों की गिनती नहीं है। 84 सिद्धों के बारे में जब मैंने तिब्बती ग्रन्थों की कुछ बात कही, तो उन्होंने कहा—वह सब झूठा है। 84 सिद्ध पक्के आस्तिक और अद्वैतवादी थे—जिनकी कृतियों की बात तो अलग, नामों को भी जो नहीं बतला सकता, उसके लिए ऐसा दावा करना बड़े साहस की बात है। लेकिन उन्हें समझाये कौन, वह 10वीं 12वीं सदी में विचरनेवाले जीव हैं। वैसे साधु प्रज्ञानाथ का स्वभाव अधिक मधुर और मिलनसार है। साधु प्रज्ञानाथ के ही गुरुभाई साधु शान्तिनाथ हैं। उनकी विद्वत्ता बहुत ही गम्भीर है। सिद्ध गम्भीरनाथ अपने समय के सबसे बड़े सिद्ध योगी समझे जाते थे। उनके चमत्कारों का यदि शतांश भी सच है, तो भारत को सुखी और स्वतन्त्र बना देना उनकी कानी उँगली का काम था, फिर उन्होंने क्यों ऐसा नहीं किया ? भगवान के काम में दखल देना नहीं चाहते थे, या खून चूसनेवाले शोषक वर्ग ने पूजा-प्रार्थना करके उन्हें वैसा करने से रोक दिया। एक और सिद्धा माता आनन्दमयी बंगाल में पैदा हुई हैं। उत्तरकाशी में भी उनका एक काली मन्दिर है। उनकी अद्भुत शक्तियों के बारे में भी कितनी ही पोथियाँ लिखी गई हैं। कनखल के स्वामी कृपालुदेव की जीवनी 'सन्तदर्शन' का एक सचित्र मोटा पोथा छपा हुआ है। उस में भी स्वामीजी की अलौकिक क्रियाओं के सैकड़ों उदाहरण हैं। रामकृष्ण परमहंस, महर्षि रमन, योगिराज अरविन्द आदि बड़ी-बड़ी मछलियों के बारे में तो कहना ही क्या है ? उनकी सिद्धाइयों का तो कोई ओर-छोर नहीं है। उनके चमत्कारों पर जो बड़े-बड़े पोथे लिखे गये हैं, उनको देखकर किसी वक्त मुझे कुफ्त होती थी; लेकिन पीछे मैंने समझा कि शोषक वर्ग की यह सब उपजे हैं। जब तक शोषक वर्ग नष्ट नहीं होता, तब तक ये कूड़े-करकट नष्ट नहीं होंगे। मन की एकाग्रता से मेस्मरिज्म जैसी कुछ ताकतें पैदा हो जाती हैं, और इन्हीं को लेकर बात का बतंगड़ खड़ा कर दिया जाता है। मुझे तो एक बार ख्याल आया कि एक सिद्धा की जीवनी लिखूँ, जिसमें आधुनिक और प्राचीन सारी सिद्धाइयों को उस सिद्धा के साथ जोड़ दूँ। पुस्तक को खूब श्रद्धा-भक्ति से लिखा जाय और आनन्दमयी की जीवनियों की तरह उसमें भिन्न-भिन्न मुद्राओं की कितनी ही तस्वीरें लगवा दें। फिर इस पुस्तक को श्रद्धालुओं के सामने पेश किया जाय, देखें, उनकी श्रद्धा में यह सब खुराफातें कितनी समाती हैं ? मैंने इसके लिए कुछ पुस्तकें भी जमा कीं, लेकिन लिखने का अवसर नहीं मिला।

साधु शान्तिनाथ ने अपने गुरु गम्भीरनाथ के साथ रहकर खूब योगाभ्यास किया। फिर यांग में रोग का प्रचंड भय आया। डाक्टरों ने कहा कि यदि अब भी अपने को नहीं सँभालते, तो स्वास्थ्य चौपट हो जायेगा और दिमाग भी खराब हो जायेगा। उन्होंने दर्शन का अध्ययन शुरू किया, और भारतीय दर्शन का गम्भीर अध्ययन किया, पाश्चात्य दर्शन को भी पढ़ा। अन्त में वह इस परिणाम पर पहुँचे, कि वह सारी दार्शनिकों की उड़ानें झूठे तर्कों पर अवलम्बित थोथी कल्पनाएँ हैं। उन्होंने इस पर पुस्तकें लिखीं। उनकी पुस्तक 'धार्मिक दर्शन की समालोचनात्मक परीक्षा' (The critical Examination of the Philosophy of Religions, 2 vols.), उनके गम्भीर अध्ययन का परिणाम है। साधु प्रज्ञानाथ अपने गुरुभाई को नास्तिक ही नहीं समझते, बल्कि यह पूछने पर कि

आपने उनकी किसी पुस्तक को पढ़ा है, उन्होंने बड़ी अवहेलना दिखाई। साधु प्रज्ञानाथ ने वेदान्त पर दो-तीन पुस्तकें काफी परिश्रम से लिखी हैं, लेकिन तर्क हैं वही हजार वर्ष पुराने। वह आशा रखते हैं कि उनकी यह कृति चिरस्थायी होगी। मैंने कहा, आप इसे खूब अच्छे कागज पर लिखवाकर जमीन में गाड़ दीजिए, शायद हजार दो हजार वर्षों बाद लोगों के हाथ में लगे, तो इसकी कदर होगी।

हमारे बासे की दूसरी ओर एक वैष्णव की छोटी-सी ठाकुरवाड़ी थी। उसकी महंथिनी 50 साल की एक प्रौढ़ा बैरागिन थी। नानी ने इस मन्दिर की स्थापना की थी, फिर बेटी अपनी बेटी के साथ आई। वह छपरा जिले में गुठली थाने की रहनेवाली थी। नतिनी जब बहुत छोटी थी, तभी यहाँ आ गई, अतः छपरा की बोली नहीं बोल सकती। पास के किसी गाँव में ब्याह हुआ था, लेकिन पति ने छोड़ दिया और अब वही ठाकुरवाड़ी की महंथिन है—मन्दिर की जमीन और हाते को छोड़कर वहाँ कोई जायदाद नहीं है, बेचारी किसी तरह माँग-जाँचकर गुजारा करती है।

16 मई को हम लोग विश्वनाथ के मन्दिर में गये। उत्तरकाशी है, तो विश्वनाथ को भी होना चाहिए, लेकिन यह विश्वनाथ बिल्कुल नये हैं। हाँ, मन्दिर के सामने जो पीतल का 8, 10 हाथ ऊँचा त्रिशूल (शक्ति) है, वह भारत की अति पुरातन ऐतिहासिक वस्तुओं में है। इस त्रिशूल की पूजा होती है। फर्श से थोड़ा ऊपर त्रिशूल की जड़ में 3 पंक्तियाँ संस्कृत में लिखी हैं। लिपि वही है, जो कि मौखरि हरिवर्मा (6वीं सदी) के हड़हावाले लेख में है, जिस लिपि से कि तिब्बत के अक्षर निकले हैं। 11वीं सदी में बाड़ाहाट तिब्बती राजाओं के हाथ में था, यह अभी हम बतलाने जा रहे हैं। त्रिशूल में दो जगह कुछ शंखलिपि में भी लिखा हुआ है। शंखलिपि अभी तक पढ़ी नहीं गई। सैदपुर-भितरी के गुप्तस्तम्भ (आजकल यह स्तम्भ राजकीय संस्कृत कालिज बनारस के हाते में गड़ा है) पर भी इस लिपि में लेख है, सुल्तानगंज (भागलपुर) से कुछ दूर के एक पहाड़ में भी मैंने इस लिपि को देखा, जावा द्वीप में भी इस लिपि के लेख मिले हैं।

हम पुराने मन्दिरों की तलाश में परशुराम मन्दिर देखते हुए उजाली की ओर जा रहे थे। उसी समय आनन्द स्वामी मिले, उन्होंने बतलाया—"यहाँ पीतल की एक बुद्धमूर्त्ति है। डाक्टर पन्नालाल यहाँ आये थे। उन्होंने इसे बहुत पुराना बतलाया। उसके नीचे लेख भी है, लेकिन लिपि ऐसी है कि कोई पढ़ नहीं सकता।" वह मुझे वहाँ लिवा लाये। परशुराम मन्दिर के दक्खिन की ओर एक छोटी-सी कोठरी है, जिसको दत्तात्रेय का मन्दिर कहते हैं। इस गुमनाम जगह में भारतीय मूर्त्तिकला का एक सुन्दर नमूना, पच्छिमी तिब्बत और भारत के सम्बन्ध की एक ऐतिहासिक शृंखला के रूप में यह बुद्ध की मूर्त्ति विद्यमान है। पहिले का मन्दिर गोल था, इस पर पुंडरीकार (छत्रमुकुट) भी था। छतरी लकड़ी की थी। मन्दिर के चारों ओर देवदार के खम्भों पर परिक्रमा बनी हुई थी। मन्दिर गिर गया, और 20 वर्ष पहिले स्वामी पूर्णानन्द (कैलाश) ने यह नया मन्दिर बनवाया। 5, 6 पीढ़ियों से पुरीनामा गृहस्थ पुजारी यहाँ पूजा करते हैं। मन्दिर में 15, 20 रुपये आमदनी की जागीरी जमीन है, राज की ओर से 100 रुपया सालाना भोगराग के लिए मिलता है। मूर्त्ति को दत्तात्रेय की मूर्त्ति कहते हैं। मूर्त्ति के प्रभामंडल के भाग को सोना समझकर कोई काट ले गया। उस कटे स्थान को देखकर लोगों ने कल्पना की, कि पहिले इसमें दत्तात्रेय के तीन मुंड थे, जिनमें से दो को बौद्धों ने काट दिया। वाम पार्श्व का प्रभामंडल कन्धे से थोड़ा ऊपर तक बचा है, लेकिन नीचे का बिल्कुल खतम है। मूर्त्ति 30'' (45 अंगुल) ऊँची ठोस पीतल की है। आँखों की पुतलियों की जगह पर सदा चमकनेवाली रौप्य और ओठों पर ताम्र धातु लगी हुई है। आसन-पीठ 13 अंगुल ऊँचा है, अर्थात् आसन लिये हुए सारी मूर्त्ति 58 अंगुल या 3 फुट 2 इंच के करीब ऊँची है। मूर्त्ति को घिस-घिसकर साफ किया जाता है, इसलिए मुख को क्षति पहुँची है। चीवर उभयांस (दोनों कन्धों को ढाँकनेवाला) है। पाद पीठ में सामने की ओर तिब्बती अक्षरों में लिखा हुआ है—"ल्ह-बचन-पा-न-ग-र-जडि-थुवस-प" (देवभट्टारक नागराज के मुनि)। आनन्द स्वामी को मेरे लिपि-सम्बन्धी 'अगाध ज्ञान' पर बड़ा आश्चर्य हुआ। आखिर डाक्टर पन्नालाल जैसे मर्मज्ञ भी जिस अक्षर को नहीं पढ़ सके, उसे देखने के साथ मैंने अप्रयास पढ़ दिया, तो आश्चर्य क्यों न हो ! मैंने उनसे कहा कि यहाँ रास्ते जानेवाले किसी भाटिया को पकड़कर लाइए, वह इसे पढ़ देगा। जब नागार्जुनजी ने भी लेख को पढ़ दिया, तब उनका आश्चर्य गया। मैंने कहा—तो भी

इस मूर्त्ति का महत्त्व कम नहीं है। यह मूर्त्ति 900 वर्ष से कुछ ज्यादा पुरानी है। जिस पुरुष ने इस मूर्त्ति को बनवाया, उसे मैं जानता हूँ। वैसे भी आनन्द स्वामी मेरा नाम पहिले ही से जानते थे, इसलिए इस लेख के पढ़ने से उनकी मान्यता में अधिक वृद्धि हुई हो, ऐसी कोई बात नहीं। पच्छिमी तिब्बत–गूगे (शङ्-शुङ्)–में 1030 ई. के आसपास खोर्-दे नामक राजा राज्य करते थे। इन्होंने ही थोलिङ् के महाविहार को बनवाया। बौद्ध धर्म में उनकी बड़ी श्रद्धा थी, लेकिन साथ ही अन्धी श्रद्धा नहीं थी; यह तो इसी से मालूम होता है, कि तन्त्र-मन्त्र पर उनका विश्वास नहीं था। तिब्बत में उस वक्त बौद्ध धर्म में बहुत विकार आ गया था। राजा खोर्-दे ने चाहा, कि बौद्ध धर्म की फिर उन्नति हो। उन्होंने 20 के करीब तरुणों को संस्कृत पढ़ने के लिए कश्मीर भेजा, लेकिन उनमें से सिर्फ दो जीते लौटे। राज्य अपने भाई को देकर वह स्वयं और अपने दो लड़कों नागराज और देवराज के साथ भिक्षु हो गये। भिक्षु होने पर खोर्-दे का नाम येशे-ओद् (ज्ञानप्रभ) पड़ा। राजभिक्षु ज्ञानप्रभ ने भारत से दीपंकर श्रीज्ञान को बुलाने की बहुत चेष्टा की, लेकिन वह उनके जीवनकाल में नहीं आ सके। खर्च के लिए वह अपने उत्तरी सीमान्त पर पैसा जमा करने गये थे, उसी वक्त पड़ोसी तुर्क जातीय राजा गर्-लोक् ने पकड़कर उन्हें जेल में डाल दिया, और वह कैद ही में मरे। मैं समझता हूँ, भल्याणा का डाँड़ा उस वक्त गूगे के राजा की सीमा थी, और बाड़ाहाट उनके राज्य के भीतर था। ग्यानूशू, धराशू आदि नाम पुराने नामों से बिगड़कर बने मालूम होते हैं। सम्भव है, उस वक्त यहाँ के निवासियों में तिब्बती भी रहे हों। मुखवा जैसी कई बस्तियों के बारे में हम निश्चयपूर्वक जानते हैं, कि आधुनिक बाशिन्दे वहाँ बहुत पीछे पहुँचे। शायद 14वीं-15वीं सदी में भल्याणा से इधर तिब्बती शासन-चिह्न लोग होने शुरू हुए। ज्ञानप्रभ के पुत्र वही नागराज थे, जिन्होंने इस सुन्दर मूर्त्ति को बनवाया। ज्ञानप्रभ के मरने के बाद उनके भतीजे चङ्-छुत्-ओद् (बोधिप्रभ) ने बड़े प्रयत्न से दीपंकर श्रीज्ञान को बुलाया, और 1042 ई. में अपने यहाँ उनका स्वागत किया। तिब्बती इतिहास से हम इतना ही जानते थे कि नागराज अपने पिता येशे-ओद्–ज्ञानप्रभ–के साथ भिक्षु हो गये, जिससे मालूम होता है कि नागराज ने राज्य नहीं किया। लेकिन इस मूर्त्ति में उन्हें भिक्षु नहीं "ल्ह-बचन-पो" (देवभट्टारक) कहा गया है जो कि राजा के लिए ही लिखा जा सकता है; राजभिक्षु के लिए शब्द हैं "ल्ह-ब्ल-म"। इसका अर्थ यह हुआ कि नागराज का पच्छिमी तिब्बत पर राज था, और अपने राज्य के इस स्थान पर उन्होंने 1025 ई. के आसपास एक अच्छा बौद्ध विहार बनवाया। उत्तरकाशी छोड़ने से पहिले ही मेरी कुछ ख्याति हो चली थी। तहसीलदार साहब ने भी कुछ बातें पूछीं। शिक्षित यात्रियों में से भी कुछ आने लगे, जिनमें उज्जैन के डाक्टर नागर की धर्मपत्नी और हमारे मलखाचक (छपरा) के बद्री बाबू भी थे।

4. गंगोत्री के लिए प्रस्थान

आखिर प्रूफ हमारे सामने नहीं आ सका और 26 मई को गंगोत्री तक के लिए एक बोझी लेकर हम चल पड़े। दो-तीन मील जाने के बाद सड़क से बाईं ओर एक छोटा-सा बँगला दीखा। उत्तरकाशी में पता लग गया था कि गोस्वामी गणेशदत्तजी आकर यहाँ तपस्या करते हैं। तपस्या जरूर है, दुनिया के लोग गर्मी में इन पहाड़ों की ओर मुँह करते हैं और गोस्वामी जी जाड़े में। वह जाड़े में हिमालय में एक तरह गलने के लिए आते हैं। उनके आदमी ने यह भी बतलाया कि गोस्वामीजी सिर्फ फलाहार करते हैं और सारा फलाहार नीचे से आता है। जो भगत लोग गोस्वामीजी के लिए 10 रुपये रोज का फलाहार भेजते हैं, वह भी धन्य हैं। सुनते हैं, गोस्वामीजी जब-तब मौन भी रहते हैं। मौन, फलाहारी, हिमालय का तपस्वी–कितने-कितने गुण हैं, इस महापुरुष में। बिड़ला धर्मशाला में जब हम पत्थर के लेख को देखते थे तो मालूम होता था कि बिड़लों की धर्मशाला है। जब दरियों और दूसरी चीजों पर लिखे हुए नामों को देखते थे, तो मालूम होता था–नहीं, सारी माया गोस्वामी गणेशदत्त की सनातन सभा की है। खैर, अद्वैतवाद के अनुसार गणेशदत्त=बिड़ला=सनातनधर्म सभा ठीक ही है। मैं तो सोच रहा था, यदि कुछ साल पहिले गोस्वामी गणेशदत्त ने हिमालय की तपस्या शुरू की होती, तो मालवीयजी को कृष्णाश्रम के चरणों में शिर रगड़ने की जरूरत न पड़ती–यहाँ एक खाँटी (शुद्ध) ब्राह्मण महातपस्वी मौजूद

था, वह जाकर हिन्दू विश्वविद्यालय के विश्वनाथ की नींव रख देता। इसमें कोई शक नहीं, कि गोस्वामी गणेशदत्त हिन्दू धर्म की एक दिव्य विभूति हैं, और सनातनधर्म के तो वह प्राण हैं। तपस्या पर भी उन्होंने कदम रखा है। कौन जानता है, एक दिन वह भी गंगोत्री के दिगम्बरों में नहीं शामिल हो जायेंगे। आज भी पंजाब के करोड़पति थैलीशाह गोस्वामीजी की चरणधूलि माथे पर लगाने के लिए होड़ लगाये हुए हैं। गोस्वामीजी के दैनिक हिन्दी-उर्दू पत्र अपने 'त्यागमूर्त्ति' की प्रशंसा करने में शेष, शारदा को मात कर रहे हैं।

मनेरी के पास हम पहुँच रहे थे। वहाँ कुछ तिब्बती नर-नारी मिले। ये खम्वा लोग जाड़ों में ऋषिकेश, देहरादून तथा नीचे तक जाते हैं। आजकल वह तिब्बत की ओर जा रहे थे। यह छोटा-छोटा व्यापार करते हैं। उस दिन किसी के परिवार में एक भिक्षुणी मर गई थी और लोग चाय-सत्तू-भोजन का इन्तिजाम कर रहे थे। मैंने उनसे थोलिङ् के बारे में कुछ बातें पूछीं। मैं ल्हासा की तिब्बती बोल रहा था, वह समझने लगे, कि मैं ल्हासा की ओर का हूँ–चेहरे को बारीकी से देखने की उन्होंने जरूरत नहीं समझी।

मनेरी में हमने भोजन और विश्राम किया। इधर के पहाड़ी वैसे तो प्याज खूब खाते हैं, लेकिन यात्रा के दिनों में दूकान में प्याज मिलना मुश्किल है–यह सेठ लोगों की कृपा है ! प्याज के बिना भला कोई तरकारी अच्छी बन सकती है ? मनेरी में गंगामाई की कृपा हुई। कोई आदमी एक बोझा प्याज लादे लिये जा रहा था। हमने थोड़ी-सी प्याज खरीदी। उस दिन हम सैजो में रहे। किसी गाँववाले ने एक दूकान खोल दी है। देर हो रही थी, इसलिए हम लोगों ने यहीं रहना पसन्द किया। उज्जैन और बनारस की भी जमात यहीं ठहरी। बोझी ने प्याज डालकर खूब अच्छी तरकारी बनाई। सुगन्धि चारों ओर फैलने लगी। श्रीमती नागर ने भी इस देवाहार का अर्धभोजन तो किया; पर पूरे भोजन के लिए बद्री बाबू ही सामने आये। अगले दिन (27 मई) हम लोग थोड़ा पहिले चल पड़े। चढ़ाई का रास्ता था, लेकिन बहुत कठिन नहीं। मल्लाचट्टी प्रायः आधी दूर पर पड़ी। यहीं से बूढ़े केदारनाथ का रास्ता अलग होता है। हम लोग भटवारी पहुँच गये। यहाँ डाकबँगला, धर्मशाला और कितनी ही दूकानें हैं। धर्मशाला में हम लोगों ने भोजन और विश्राम किया।

3 बजे फिर रवाना हुए। दिन अस्त हो रहा था, तब ऋषिकुंड पर पहुँचे। 34 वर्ष पहिले जब मैं यहाँ आया था, तब पत्थर के इतने अच्छे कुंड न थे, और न नहाने का इतना अच्छा इन्तिजाम। अब तो ऋषि का मन्दिर भी बन गया था, और पंडा कह रहा था कि इस ऋषि की तपस्या से यह गर्म कुंड पैदा हुआ। लेकिन मुझे तो अपने बोझी की बात ज्यादा युक्तियुक्त मालूम हुई। उसने कहा–एक बार महादेव-पार्वती कैलाश जा रहे थे। रास्ते में महादेवजी को लघुशंका लग गई और उसी से यह गर्म कुंड बन गया। मुझे मालूम होता था कि पुजारी भी ऋषि की तपस्यावाली बात नीचेवालों के ठगने के लिए कहता था, नहीं तो सच्ची परम्परा का पता उसे भी जरूर था। उज्जैन-मंडली के सत्यात्माजी (हठयोगी) हमारे साथ थे। शंकरजी के प्रस्राव-तीर्थ में स्नान करते हुए मैंने सत्यात्माजी से कहा–एक बार शंकरजी पार्वती जी के साथ काशी से गर्मी के दिनों में चले थे। भाँग-बूटी की आदत छूटी नहीं थी, लेकिन इस सर्द जगह में बूँदा-बाँदी के वक्त पहुँचे। लघुशंका लगनी ही थी, यही वह जगह है जहाँ सदाशिव ने प्रस्राव किया। सत्यात्माजी मानने के लिए तैयार नहीं थे, और उधर पुजारी घास नोचकर संकल्प करवाने के लिए सिर पर सवार था। हमने कहा–संकल्प रहने दीजिए, आपको ऐसे ही पैसा मिल जायेगा। स्नान करते कुछ देर हुई और हम लोग अँधेरा होते-होते गंगनाणी पहुँचे–कुंड से यह बहुत दूर नहीं है। उज्जैनवाली जमात बहुत देर में आई। श्रीमती नागर के लिए पैदल चलना बहुत मुश्किल हो रहा था। लालटेन लेकर लोग उन्हें देखने गये। रात को हम यहीं रहे। गंगनाणी काफी ठंडी जगह है, उपत्यका भी यहाँ बहुत सँकरी है।

28 मई को हम फिर आगे चले। अब देवदार के वृक्ष आने लगे थे। कुछ मील जाने पर एक धर्मशाला (ल्वारनाग) दिखलाई पड़ी। किसी धर्मात्मा ने धर्मशाला बनवा दी थी, जिसमें कोई गाय-बैलवाला आदमी रहता था ! पता लगाने पर मालूम हुआ कि वह 6 आना सेर दूध और 8 आना सेर आटा दे सकता है। हमने कहा, चलो खीर ही बन जाये। खीर बनने लगी। मक्खियाँ बहुत थीं, लेकिन मक्खियों के खानेवाले गिरगिट (साँड़े) भी कम नहीं थे। आदमी के लेट जाने पर तो वह देह पर पैंतराबाजी करने लगते थे। वह काटते नहीं, न

उनमें विष होता है, लेकिन नीचेवाले उनसे डरते जरूर हैं। खीर-रोटी खा विश्राम कर हम फिर चले। 4 मील तक मामूली रास्ता था, फिर सूखी चट्टी की चढ़ाई शुरू हुई। यहाँ गंगा के किनारे इतनी सीधी पहाड़ी दीवार खड़ी हो गई है, कि रास्ते को घुमाकर ले जाना पड़ा है। चढ़ाई दो-तीन मील की होगी, लेकिन नए आदमी का मन भर जाता है। आस-पास बहुत खेत हैं। अखरोट के कितने ही दरख्त हैं। सेब, आडू जैसे फल यहाँ बहुत अच्छी तरह पैदा हो सकते हैं, लेकिन किसी का उस ओर ध्यान नहीं। सूखी की सर्दी में मारछा, मँडुवा, चीना और फाफड़ा ही सनातन से बोया जाता रहा, लेकिन अबकी साल कुछ गेहूँ भी बोया गया था। फसल अच्छी दिखाई पड़ रही थी। यदि ठीक उतर गई तो गेहूँ भी यहाँ होने लगेगा। आलू दस पैसे सेर था, और बहुत अच्छा आलू। काली कमलीवाले की एक अच्छी धर्मशाला और दो दूकानें थीं। हम लोगों के रहने के लिए एक कोठरी मिली। रात को यहीं विश्राम किया।

29 मई को हमें पहिले मील-भर चढ़ाई चढ़नी पड़ी। रास्ता सुखी गाँव के पास से था। फिर उतराई आई। यहाँ से नीचे की ओर देखने पर सामने गंगा की विस्तृत उपत्यका थी, जिसके आस-पास के पहाड़ देवदारों से ढँके हुए थे। 4 मील के करीब झालागाँव था, गाँव रास्ते से हटकर कुछ नीचे है। हम लोगों ने एकाध जगह छाछ पाने की कोशिश की, लेकिन नहीं मिला। उतरते-उतरते गंगा की अँगनाई में आए। फिर बागौरी पहुँचे। यह तिब्बती बोलनेवाले सीमान्ती लोगों का गाँव है। तिब्बतवाले इन्हें रोङ्पा कहते हैं, और दूसरे पहाड़ी जाड कहते हैं। वस्तुतः यह हिन्दू तिब्बती जाति के हैं। इनके मुख पर तिब्बती मंगोलमुद्रा है, मातृभाषा भी तिब्बती है, लेकिन इन्होंने संस्कृत के साथ काफी हिन्दी रक्त भी स्वीकार किया है। अब भी वह बौद्धधर्म को मानते हैं, लामा की पूजा करते हैं; लेकिन क्षत्रिय बनने का बहुत शौक है, और इसकी कुंजी ब्राह्मणों के हाथ में है, यह भी वह जानते हैं। बागौरी इनका स्थायी ग्राम नहीं, यह असली रहनेवाले नेलङ् के हैं। वहीं इनके खेत और अच्छे-अच्छे घर हैं, लेकिन जाड़ों में बर्फ पड़ने से पहले घरों में ताला लगाकर नीचे चले आते हैं। बागौरी में दो ही चार दिन मुकाम रखते हैं। फिर उत्तरकाशी से नीचे डूँड़ा में जाड़ा बिताते हैं। डूँड़ा में इनके मकानों को हमने खाली देखा था। मई के आरम्भ ही में बागौरी आ जाते हैं, और दो महीना रहकर नेलङ् चले जाते हैं, इस प्रकार इनके तीन गाँव हैं।

बागौरी में हमने मामूली तौर से बातचीत की, और फिर हरशिल में ब्रह्मचारीजी के मन्दिर में चले गए। हरशिल भी अब हरिप्रयाग बनने की तैयारी में हैं। राजाराम ब्रह्मचारी ने एक अच्छा मन्दिर और धर्मशाला बनवा दी है, इसमें सदावर्त भी बटने लगी है। ब्रह्मचारी कुछ साल पहिले मर गए। उनके एक ही गूँगा लड़का है। ब्रह्मचारी ने अपने लड़के की तीन शादियाँ कीं, जिनमें एक भानदे इधर के पहाड़ों की "हीर-राँझा" की नायिका बन गई। स्वामी कृष्णाश्रम वही दिगम्बर त्यागमूर्त्ति हैं, जिनसे महामना मालवीयजी ने हिन्दू विश्वविद्यालय के विश्वनाथ-मन्दिर का शिलान्यास करवाया था। वह पहिले पुरुष थे, जो ग्यारह-बारह हजार फीट ऊँचाई की गंगोत्री में आकर दिगंबर रहने लगे। इस सर्दी में नंगा रहना मामूली बात नहीं। पहिले जाड़ों में वह हरशिल चले आते थे। कहते हैं कि वह राजाराम ब्रह्मचारी की सबसे सुन्दरी बहू भानदे (भानुदेवी) को गीता पढ़ाते थे; लेकिन वह तो मौन रहते थे, फिर गीता कैसे पढ़ाते ? खैर, पहाड़ियों ने अपनी भाषा में जो गीत बनाया है, उसमें गीता पढ़ाने की बात है। गीत के कुछ अंश इस प्रकार हैं–

"चवन्नी को पेरा, तें क्या बुरा मानो राजाराम को डेरा।
झाका बुणी खाटरे भान दे ! तें भले सीक्यो गीता को पाठ भानदे भक्ताणी !
चीणे तू बंगला, तें ने कानों छोड़ी हरशिल को जंगला, हे भानदे !
गूँगानी की गोली, ते ना भालो भानदे ! अबोला के बोली।"

भानदे को कृष्णाश्रम का ज्ञान इतना लगा, कि वह उनके साथ हो गई। कृष्णाश्रम ने ससुर को तीन सौ रुपये दे दिए और झगड़ा पाक हो गया। अब वह भगवत्स्वरूप ब्रह्मचारी के नाम से अपने गुरु की सेवा में रहती है। गंगोत्री में कृष्णाश्रम का एक बड़ा बँगला है। पंडा लोग बहुत विरोध करते हैं, लेकिन श्रद्धालु सेठ स्वामी के चरणों में शीश नवाने जरूर जाते, और खूब पूजा चढ़ाते हैं।

हमें वैसे ठहरना तो था हरशिल में, क्योंकि नेलङ्वालों के साथ थोलिङ् की ओर जाने की सलाह थी, लेकिन बोझी गंगोत्री तक का था, इसलिए सोचा, चलो गंगोत्री से भी हो आएँ। हरशिल में एक वैदिक पाठशाला थी। पंडित हरश्वेरजी नौटियाल अध्यापक थे। उनसे चलते-चलते ही परिचय हो गया, और हमने बहुत-सा सामान यहीं छोड़ दिया। उस दिन ढाई मील चलकर धराली में रहे। धराली पचास-साठ घरों का एक अच्छा गाँव है। यहाँ पँवार राजपूत रहते हैं। कई धर्मशालाएँ हैं और गंगा की धार बहुत चौड़ी है।

दूसरे दिन बूँदा-बाँदी होने लगी, और सर्दी बहुत बढ़ गई। हम लोगों को तो सर्दी के मारे कोठरी के बाहर निकलना मुश्किल मालूम हो रहा था, लेकिन देखा कि एक बंगाली साधु चार अंगुल की कोपीन लगाए एक पैर पर गंगा के भीतर खड़े जप कर रहे हैं। गिरने से रोकने के लिए कमर के नीचे एक डंडा लगा रखा था। वह डेढ़ घंटे तक इसी तरह उसमें खड़े रहे। यह कम तपस्या नहीं थी। लेकिन देख रहे थे कि तिस्या का आकर्षण अब कुछ कम होता जा रहा है। श्रद्धा का सुनहरा युग उस समय था, जब कृष्णाश्रम इधर आए थे, और उनकी माँग काशी तक हुई थी। अब एक दर्जन के करीब ऐसे तपस्वी हो गए हैं, इसलिए महिमा कम होनी ही थी। मेरे कुछ दोस्त इस पर अफसोस कर रहे थे। मैंने तो कहा कि उत्तराखंण्ड में 100 दिगंबरों की जरूरत है, तब जाकर श्रद्धा का बाँध टूटेगा। योग और समाधि के बारे में भी यही राय है। छै-छै घण्टे समाधि लगानेवाले एक लाख माई के लाल पैदा हो जायँ, तो सारे चमत्कार-आकर्षण खतम हो जाएँगे, और लोग ज्यादा बुद्धि से काम लेंगे। वर्षा के कारण अगले दिन (30 मई) 2 बजे से पहिले हम धराली नहीं छोड़ सके। देवदारों की छाया में चलने में बड़ा आनन्द आ रहा था। गंगा के पार पंडों का गाँव मुखवा दिखाई पड़ रहा था। 18वीं शताब्दी की अंतिम दशाब्दी में गढ़वाल नेपाल के हाथ में चला गया। नेपालियों (गोरखों) ने गंगोत्री में गंगाजी का एक मन्दिर बनवाया और मानसा गाँव के गंगाराम के पुत्र कीदू और केदारदत्त को पूजा का काम सौंपा। उसी वक्त से गंगोत्री महातीर्थ की स्थापना हुई। आज यदि आप किसी पंडे से पूछें, तो सतयुग से इधर की बात ही नहीं करेगा। केदारदत्त की छटी पीढ़ी (केदारदत्त–गौरीदत्त–देवीदत्त–मोतीराम–हरिनन्द–तुलसीराम) में तुलसीराम हैं, जिनकी उम्र आजकल 60 साल की है।

साढ़े तीन मील पर साङ्ला (जँगला) का पुल मिला। परले पार किसी ने एक अच्छी धर्मशाला बनवा दी थी। किसी साधु ने चिलम पीकर आग छोड़ दी, और धर्मशाला जल गई। पुल पार कर जब हम जिधर से चल रहे थे, वहाँ देवदारों की और बहार थी। एक मील से कुछ अधिक चलने पर एक रास्ता बाईं ओर ऊपर की ओर से आता दिखाई पड़ा और दूसरा दाहिनी ओर से नीचे की ओर जाता। हमने अपनी सहजबुद्धि का उपयोग किया, और नीचे चल पड़े। आगे दो गंगाओं का संगम मिला। लेकिन वह इतना नीचे तथा संकटपूर्ण रास्ते में था, कि कोई श्रद्धालु इस प्रयाग में स्नान करने की हिम्मत नहीं कर सकता था, हालाँकि आदिप्रयाग इसे ही कहना चाहिए। पानी देखने से एक और जालसाजी का पता लगा। वस्तुतः गंगा वह नहीं है, जिसके किनारे गंगोत्री बसी हुई है। नेलङ् से आनेवाली गंगा में जितना पानी है, उसने आधा भी गंगोत्रीवाली धार में नहीं, फिर वह असली गंगा कैसे ? लेकिन गोरखा सैनिकों के लिए नेलङ् की ओर जाना आसान नहीं था, इसलिए जो धार उनके रास्ते पर पड़ी, उसी पर उन्होंने गंगामाई की मूर्त्ति पधरा दी। आगे एक लोहे का पुल आया, फिर चढ़ाई शुरू हुई। सड़क ही पर एक छोटे-से गढ़े में से लाल पानी निकल रहा था, मैंने कहा–इसका नाम गौरीकुंड या रजस्वलाकुंड होना चाहिए। कोई सेठ दो-चार हजार रुपया खर्च कर दे, तो यह मुश्किल नहीं है, और इसमें भी संदेह नहीं कि इस कुंड का पूजन कर चरणामृत लेनेवाली सौ अपुत्राओं में पंद्रह-बीस पुत्रवती जरूर हो जाएँगी। अगली चट्टी का नाम भैरवचट्टी है। मैंने अपने श्रद्धालु मित्रों से कहा कि भैरव महाराज वहीं पैदा हुए थे, जहाँ से यह लाल जल निकल रहा है। मैंने भी चरणामृत लिया, उसमें सोडा का-सा स्वाद आ रहा था, साथ ही कुछ बदबू भी थी। भैरव चट्टी में अब दो धर्मशालाएँ बन गई हैं। जिस लोहेवाले झूले से चौतीस साल पहिले मैं पार उतरा था, वह अब टूट गया है, लेकिन तार अब भी आर-पार लगा हुआ है।

साढ़े पाँच बजे फिर हम लोग आगे के लिए रवाना हुए। हिमालय का सबसे सुन्दर दृश्य हमारे सामने था। चढ़ाई ज्यादा नहीं थी, लेकिन हम नौ हजार फीट से ऊपर चले थे, हमारे फेफड़ों को साँस लेने के लिए

ज्यादा काम करना पड़ता था, इसलिए थकावट ज्यादा मालूम होती थी, और हमारे पैर धीरे-धीरे उठ रहे थे। यहाँ हमने एक जगह जंगली चना देखा। खाने में साग खट्टा मालूम होता था। गंगोत्री से आधा मील इधर ही गौरीकुंड का पुल मिला। इस पुल को पार कर लोग दिगम्बर तपस्वियों का दर्शन करने जाते हैं। साढ़े आठ बजे अँधेरा होते-होते मैं गंगोत्री में पहुँचा, नागार्जुनजी और बोझी पहिले ही पहुँच गए थे। अब वह 34 साल पहिलेवाली गंगोत्री नहीं थी। वहाँ कितने ही पक्के मकान बन गए हैं। एक पंडे की मदद से हमें एक कोठरी रहने को मिली। धराली में पानी बरसा था, और उन्हीं बादलों ने यहाँ बर्फ बरसाई थी। बर्फ गल गई थी, और हवा सन-सन बह रही थी, सर्दी का तो कुछ पूछो ही नहीं।

लकड़ियाँ काफी खरीदी थीं, लेकिन हवा इतनी तेज चल रही थी, लोग दरवाजा नहीं खोलने देते थे, धुएँ के मारे रात को दम घुटने लगा था। गोमुख यहाँ से 14 मील है। रास्ते की बर्फ अभी गली नहीं थी। हमारे ख्याल से जब यह असली गंगा नहीं है, तो यह असली गोमुख भी नहीं हो सकता था। असली गोमुख तिब्बत की सीमा पर है। आजकल तिब्बत की सीमा का भी झगड़ा लगा हुआ है। तिब्बती लोग झाँगला के पुल से और नीचे मुखवा के रास्ते पड़नेवाले गुमगुमा नाले को अपनी सीमा कहते हैं। इस प्रकार टेहरी राज जिसको अपनी सीमा मानता है, उससे चालीस-पचास मील और नीचे वह अपनी सीमा लाना चाहते हैं। झाँगला तक के पहाड़ों के देवदारु को काटने की मनाही हो गई है, और सीमा के झगड़े का फैसला युद्ध के बाद पर रख दिया गया है। सबेरे धूप अच्छी निकल आई। लोग गंगा में नहाने गए। हमने सिर्फ मानस स्नान किया। इधर-उधर के कई फोटो लेते रहे। जयपुर के राजा ने पत्थर का नया मन्दिर बनवा दिया है। कुछ साल पहिले गोरखा लोगों का बनवाया मन्दिर गंगामाई बहा ले गई। गंगा के मन्दिर में भी हम गए, पुराने मन्दिर से सम्बन्ध रखनेवाला एक ताम्रफलक है, जिस पर भ्रष्ट संस्कृत में एक लेख लिखा हुआ है। पंडा लोगों ने बहुत समझाने की कोशिश की, कि यह तीर्थ भगीरथ महाराजा के वक्त ही से चला आता है। वह किदू-केदार से मुखवा के आरम्भ को भी नहीं मानना चाहते थे, लेकिन मैंने दो-तीन पंडों से ऐतिहासिक रहस्य खोज निकाला था। छपरा के योगानन्दजी भी कल से हमारे साथ हो गए थे। अगस्त उपद्रव के बाद जो धर-पकड़ शुरू हुई थी, उसी वक्त गोपालगंज की ओर के एक काँग्रेसी कार्यकर्त्ता निकल पड़े। पहिले बेकायदा साधू बनकर गुजरात और कहाँ-कहाँ घूमते रहे, फिर ऋषिकेश में आकर गंगा के भीतर रोज खड़े होनेवाले एक दिगम्बर तपस्वी के चेले बन गए, और कभी-कभी गुरु के स्थान पर भी गंगा में खड़े होने लगे। वह ऋषिकेश में सुनी बातों का समर्थन कर रहे थे और बतला रहे थे कि ऋषिकेश में सन्त और सन्तिनियों की संख्या बराबर नहीं, दो सन्त पर एक सन्तिनी है। साधुओं के पांखड के भीतर उनको रहना पड़ा था, इसलिए उनके प्रति एक विरक्ति आ गई थी। वह पुराने कांग्रेस कार्यकर्ता थे, और मुझे अच्छी तरह जानते थे, इसलिए हम लोगों में एक तरह की आत्मीयता स्थापित हो गई। गंगामाई में स्नान करने की बात पूछी। मैंने कहा, जरूर स्नान करो और उन्होंने उस ठंडी धार में पाँच-सात डुबकी लगाई। ऋषिकेश में भी गंगा का पानी ठंडा रहता है, जाड़ों में भी उन्हें एक लँगोटी लगाए खड़ा रहना पड़ता था, इसलिए उन्हीं की हिम्मत थी, जो इतनी डुबकियाँ लगा पाए। भगतलोग दिगम्बरों के उपनिवेश की ओर दर्शन करने के लिए जा रहे थे, लेकिन हमने जाना पसन्द नहीं किया। परिचितों में से कोई कृष्णाश्रम और भानदे का भी दर्शन कर आया था। दोपहर बाद जब हम लौट रहे थे, तो गौरीकुंड के पुल के पास एक नंगे काले विशाल दिगम्बर जटाधारी को चट्टान के सहारे खड़ा देखा, खैर उत्तराखंड के एक तपस्वी का दर्शन हमें भी हो गया। पीछे नागार्जुनजी बतला रहे थे, कि वह महात्मा कैलाश के रास्ते में थेलिङ् तक पहुँचे थे। सत्रह-सत्रह हजार फीट ऊँचे डाँड़े को नंगे पार करना साहस का काम जरूर है, हो सकता है कि कुछ ठहर-ठहरकर जाते, तो बर्दाश्त भी हो जाता, एक-ब-एक जाने पर शरीर ने इन्कार कर दिया, और महात्मा को बुखार आने लगा। वह मौन भी रहते थे, लेकिन मौन तोड़कर नागार्जुन से उन्होंने बात की और कहा कि अब मैं कैलाश नहीं जाऊँगा। वह वहाँ से लौट आए। 11 हजार फीट पर अभ्यास करने से आदमी बारहो महीना बिना कपड़े नंगे रहकर सर्दी बर्दाश्त कर सकता है, इस बात को इन तपस्वियों ने सिद्ध कर दिया। जाड़ों में वहाँ कोई भगत नहीं आता। रहने के लिए कुटिया बनी हुई है। पास में लकड़ियों का जंगल

है। मालूम नहीं उस वक्त ये लोग आग तापते हैं या नहीं। काले दिगम्बर की तोंद देखने से यह भी पता
लगा, कि इस तपस्या से शरीर कृश नहीं हो सकता, यदि खाने को खूब घी-शक्कर-आटा मिले।

हरशिल में (1-7 जून)–31 मई के दोपहर को हम गंगोत्री से लौट पड़े। बोझी को हमने सबेरे ही छोड़
दिया था। नागार्जुन और मेरे अतिरिक्त मेरी जमात में योगानन्द और जगाधरों के पास की एक संन्यासिनी
थीं। उसी दिन हम साढ़े आठ बजे धराली चले आए। बड़ी दौड़ लगाई थी, इसलिए यहाँ पहुँचने पर शरीर
चूर-चूर हो रहा था।

अगले दिन (1 जून) बड़े सबेरे चल दिए और घंटा-भर में हरशिल चले आए। अब थोलिङ् जाने की
धुन सवार थी। पच्छिमी तिब्बत के एक कोने (छै-मुरती) में 1925 में मैं जरा-सा गया था। 11वीं शताब्दी
में यहाँ के बौद्ध विहारों में संस्कृत के सैंकड़ों गम्भीर ग्रन्थों के अनुवाद हुए थे, इसलिए मुझे कुछ सन्देह जरूर
था, कि वहाँ संस्कृत के ग्रन्थ भी होंगे। पीछे नागार्जुनजी ने थोलिङ् से लौटकर कहा, कि उनका भी इस पर
विश्वास है, लेकिन वे ग्रन्थ तिब्बती सरकार की मुहर लगकर बन्द चीजों के भीतर है। उत्तरकाशी की बुद्ध
प्रतिमा और उस पर नागराज के लेख को देखकर मेरी और भी इच्छा हुई, कि कम से कम थोलिङ् चले चलें।
लेकिन मैं एक मास से ज्यादा नहीं दे सकता था, यह भी दिक्कत थी। उस दिन नंबरदार दिलीपसिंह से भेंट
की। उन्होंने कहा, कि नेलङ्वाले ऊपर 7, 8 दिन बाद जायेंगे।

पंडित हरेश्वरजी से हमारा उसी दिन अच्छा परिचय हो गया था, और वह हर तरह से कोशिश करते
थे, कि हम लोगों को किसी तरह की तकलीफ न हो। उनके विद्यार्थी हमारे लिए भी खाना बना देते थे।

पंडित हरेश्वरजी ने बतलाया कि यहाँ से मुखवा के रास्ते पर पहाड़ पर किसी राजा की राजधानी थी,
उसकी टूटी-फूटी दीवारें और दूसरी चीजें अब भी दिखाई पड़ती हैं। हम लोग खाना खा के पहिली जून को
इस पुरानी राजधानी कछोरा की ओर रवाना हुए। चढ़ाई चढ़नी पड़ी और शायद एक मील से ज्यादा। ऊपर
बस्ती के चिह्न साफ दिखाई देते थे। कोई-कोई गढ़े हुए पत्थर भी मिले। परित्यक्त खेत तो बहुत-से थे। पहाड़ी
के ऊपर पुराने किले का ध्वंसावशेष आजकल सभी जगह वीरान पड़ा है। जिस जगह पर गढ़े हुए पत्थर दिखलाई
पड़ते है, वहाँ खुदाई करने से शायद कुछ पुरानी चीजें भी मिलें। पंडितजी ने इस स्थान की पुरानी कथा सुनाई।
पहिले गुमगुमा से सुखी की चढ़ाई तक एक राजा राज करता था, जिसकी राजधानी कछोरा में थी। उसका
भाई सीमा में रहता था। दोनों भाइयों में झगड़ा हो गया। छोटा भाई भागकर भोट चला गया और वहाँ से
भोट राजा ने उसकी मदद के लिए सेना भेजी। उसी वक्त कछोरा बर्बाद हुआ। कोई-कोई कहते हैं कि कछोरा
नहीं, सीमा राजधानी थी। और भोट सैनिकों ने अनजाने अपने मित्र के निवास कछोरा में आग लगा दी। 3
जून को हम कछोरा गए। बड़े कछोरा से पहिले छोटा कछोरा मिला। यहाँ पहिले बहुत-से खेत थे, जिन्हें सरकार
ने 'रक्षित बनषण्ड' बना दिया और अब पुराने खेतों में देवदारु के दरख्त लग गए। छोटे कछोरा से आगे थोड़ी-सी
चढ़ाई आई। आध मील जाने पर फिर खेतों की विस्तृत भूमि आ गई। कुछ खेत अभी भी हैं। कछोरा राज
में पहिले आठ बड़े-बड़े गाँव थे, जिनमें गरतोक, स्तोटिया, भन्डार, कोटा (गुमगुमा)–यह चारों अब ध्वस्त हो
गए हैं, सीमा, कछोरा, पुराली और सुखी अब भी किसी न किसी हालत में वर्त्तमान हैं। कछोरा के ध्वंस के
इतिहास के बारे में और भी मालूम हुआ : "दो भाई थे। राज दोनों में बँट गया। परंपरा के अनुसार बड़े भाई
को ज्येष्ठांश मिलना चाहिए था, लेकिन छोटे ने न देने के लिए झगड़ा कर लिया। जब अपने से काम नहीं
बना, तो छोटा भोट जाकर वहाँ से सेना ले आया। पहिले छोटे भाई की राजधानी सीमा आई। भूल से भोट
सैनिकों ने सीमा को जला दिया। कछोरा जाने पर वहाँ देवी के मन्दिर में साठ शत्रु सैनिक बन्द मिले। उन्होंने
देवी मन्दिर मार्कंडेय में आग लगा दी। राजा घायल होकर मर गया। उसके वंशज भागकर रमौली चले गए।"
नीचे मैंने किसी पुराने मन्दिर के पत्थर के चौखट देखे। पत्थरों में लोहा डालने के लिए छेद भी बना था।
पहिले इधर नहर भी आती थी, जिससे कि ये सारे खेत आबाद थे। पुरानी बस्ती के अवशेष ये कुछ गढ़े पत्थर
और दो एक खूबानियों के वृक्ष हैं। वहाँ से एक मील और चढ़ाई चढ़ने के बाद हम एक जगह पहुँचे। यहाँ
चट्टान में गणेश की द्विभुज मूर्त्ति उत्कीर्ण थी। उसके एक हाथ में परशु था, पास में किसी मन्दिर के शिखर

का आमलक था, जिसमें इकतीस आमलक रेखाएँ थीं। इसे कहीं दूसरी जगह से लाया गया बतलाते थे। पास की चट्टान पर 19 अक्षरों का एक लेख खुदा हुआ था। दूसरी पंक्ति में सिर्फ एक अक्षर था। अक्षर स्पष्ट नहीं थे। लेकिन "क, य, ज," बतला रहे थे, कि यह 10वीं सदी के आसपास में लिखा गया था। मैंने लेख को अपनी डायरी में नोट कर लिया। यहाँ स्ट्रावरी खाने को मिली–स्ट्रावरी को यहाँ के लोग फलोग कहते हैं।

पंडित हरेश्वरजी ने बतलाया कि भटवारी से आध मील ऊपर भी कोई राजा रहता था, जहाँ कुछ पत्थर की मूर्त्तियाँ अब भी मौजूद हैं। इसी तरह सुखी से ऊपर भी एक राजा रहता था। उनका कहना था, नेलङ् से उत्तरकाशी तक 5 राजा थे। हरसिल को होसिङ (होसलिन) नाम से एक अंग्रेज ने बसाया। उसी ने पहिले-पहिल यहाँ से देवदार की लकड़ी नदी के द्वारा नीचे भेजी, लोगों को ख्याल भी नहीं था, कि इन लकड़ियों का कोई दाम भी हो सकता है। होसलिन का बँगला अब भी मौजूद है। देवदार की लकड़ी का यह एक दोतल्ला मकान है। कमरे बड़े-बड़े हैं, जिसमें शयनगृह, पाठगृह, भोजनगृह, बैठकखाना और स्नानागार भी हैं। जाड़े में मकान को गर्म रखने का भी इन्तिजाम था। लकड़ियों में कुछ कारुकार्य भी देखने में आया। दरवाजे खूब बड़े-बड़े हैं। बाहर साहब ने एक सेब का बाग लगाया था, जिसके अब दो-एक ही वृक्ष रह गये हैं। होसलिन ने चाहा कि वह अपनी सन्तति यहाँ छोड़ जाय, इसीलिए उसने मुखवा के एक बाजगी की लड़की से शादी की। लेकिन सन्तान साहेब बने बिना नहीं रह सकी। उन्होंने हरसिल को बेंच दिया। चालीस-पचास साल से इसके बँगले में कोई नहीं रहता, अब यह राज की सम्पत्ति है। थोड़े से खर्च से इसे मरम्मत करके अच्छा बनाया जा सकता है। होसलिन ने यहाँ से पहिले-पहिल लकड़ियाँ भेजी थीं। आज बड़े पैमाने पर देवदार की लकड़ियाँ गंगा में तैरती हरद्वार पहुँचती हैं। उसने सेब के बाग लगाये थे और आज भी राजोद्यान तथा ब्रह्मचारी के बाग में सेब, नासपाती, बिही, खूबानी आदि के वृक्ष लगे हुए हैं। नये सेब के तैयार होने में तो भी कई महीनों की देर थी, किन्तु ब्रह्मचारीजी की दूकान से मुझे पिछले साल के सेब खाने को मिल गये। होसलिन ने ही पहिले इस इलाके में आलू की खेती शुरू की, आज इधर के सभी गाँवों में आलू की खेती खूब होती है।

पंडित हरेश्वरजी नैटियाल के विद्यार्थी रुद्री और यजुर्वेद का स्वर-सहित अध्ययन करते थे। 33 साल पहिले मैंने भी बनारस में इन्हीं की तरह हाथ ऊपर-नीचे करते रुद्री और यजुर्वेद संहिता को पढ़ा था, लेकिन उस वक्त अर्थ समझने की क्षमता नहीं रखता था। मैंने रुद्री को उठाकर देखा। मालूम हुआ, उसको रुद्री कहना ही गलत है। वस्तुतः वह इन्द्री है, क्योंकि उसमें इन्द्र के मन्त्र ही सबसे अधिक हैं। जान पड़ता है, इन्द्र आदि देवताओं के मन्त्रों का कोई एक संग्रह था, जिसका पहिले कोई दूसरा ही नाम रहा होगा, शैवों ने इसे दखल कर लिया और नाम बदलकर रुद्राष्टाध्यायी कर दिया।

इधर जंगलों में जिम्बू बहुत होता है। जिम्बू को यहाँ के लोग लादू कहते हैं। शायद पलाण्डु (प्याज) भी इसी लादू (पलादू) से बना है। लादू है जंगली प्याज, लेकिन इधर इसे देवताओं का प्रिय मसाला माना जाता है। यहाँ के लक्ष्मी-नारायण के मन्दिर में रोज इसको डालकर भगवान के लिए दाल-तरकारी तैयार की जाती थी। गंगोत्री की गंगामाई भी उसे बहुत पसन्द करती हैं। पंडा लोग यात्रियों को उसे प्रसाद के तौर पर देते हैं। एक सेठ-सेठानी को–जो शायद अग्रवाल थे–भी पंडा ने लादू दिया था। उन्होंने तरकारी में छोड़ा। सेठानी को पसन्द नहीं आया। वह शिकायत कर रही थी। मैंने कहा–"राम-राम ! आप क्या कर रही हैं, आप यहाँ देवताओं का प्रसाद लेने आई हैं, या शाप। यह कैलाश की बूटी है, प्याज नहीं है। यदि इसकी गन्ध आपको अच्छी नहीं लगती, तो अपना दुर्भाग्य समझिए। हो सकता है, किसी को अगरबत्ती का धूम भी बुरा लगे।" उनके साथ का पंडा बहुत खुश हुआ। उसने मेरा समर्थन करते हुए कहा–"आप बिल्कुल ठीक कह रहे हैं–हम लोग प्याज का भोग देवता को नहीं लगा सकते, लेकिन लादू का भोग हमेशा से लगता आया है।" सेठानी कहने लगीं–"मुझे तो इसकी गन्ध प्याज जैसी मालूम होती है।" पंडा और मैं दोनों सहमत थे, कि यह नाक का कसूर है। नौटियालजी की श्रद्धा और मेरे प्रति सम्मान को देखकर सेठ-सेठानी तो जानते ही थे, कि यह आदमी शास्त्रवेद जानता है। मैंने बड़ी गम्भीरता के साथ फतवा दिया–"आपको यदि इस यात्रा का पुण्य

लेना है, तो लादू के प्रति, अतएव देवताओं के आहार के प्रति, जो अपमान किया है उसका मार्जन करें, उसे दोनों वक्त भोजन में डालकर खायें। छौंक-बघार और मसाले के तौर पर इस्तेमाल करें।" सेठानी भयभीत हो गई थीं, पर मालूम नहीं, उन्होंने देवताओं को प्रसन्न किया, या नाराज कर ही लौट गईं।

गंगोत्री से बद्री बाबू और श्रीमती नागर भी लौट आई थीं। वह लोग भी वहाँ दो-एक रात ठहरे। बद्री बाबू को तो प्याज पसन्द थी, मैंने श्रीमती नागर को भी लादू का माहात्म्य सुनाया, लेकिन वे मेरे व्यंगों से बहुत परिचित थीं, इसलिए उन पर जादू नहीं चल सका।

चौंतीस साल पहिले ऋषीकेश तपोवन था। अब वह अयोध्या की तरह एक शहर के रूप में परिणत हो गया है और साधुओं में वही जीवन दिखाई देता है, जो अयोध्या में। उत्तरकाशी में साधुओं की जमात बढ़ती जा रही है। कई अच्छे-अच्छे मकान बन गये हैं। लड़ाई के कारण नहीं हो सका, नहीं तो वहाँ से टेहरी तक मोटर का रास्ता बन गया होता, लेकिन लड़ाई के बाद उसे कौन रोक सकता है। उत्तरकाशी भी ऋषीकेश के कदमों पर चल रही है। अब दूकान गंगोत्री में भी बढ़ रही है और वह भी उस दिन का सपना देख रही है, जब कि वहाँ भी कम से कम गर्मियों के लिए ऋषीकेश बस जायगा।

5. तिब्बत के रास्ते में

अब हम लोग आगे जाने की कोशिश में थे। नागार्जुनजी तो अनिश्चित काल के लिए तिब्बती भाषा के अध्ययनार्थ जा रहे थे, किन्तु मैं तीन, चार हफ्ते से ज्यादा नहीं दे सकता था। मेरा इरादा था थोलिङ जाकर लौट आने का। सोचा गया, यहाँ से घोड़ा और आदमी लिया जाय तो काम ठीक समय पर सम्पन्न हो सकेगा। मेरे एक पैर में कुछ चोट आ गई थी, इसलिए भी चलने में दिक्कत थी। ढूँढ़ते-ढाँढ़ते नेलङ का शिवदत्त नामक तरुण मिल गया। बहुत ही धार्मिक स्वभाव का नौजवान था। मेरे बारे में कितनी ही बातें लोगों में फैल गई थीं। मैं फर-फर तिब्बती बोलता ही था, ल्हासा कई बार हो आया था, मेरी लिखी तिब्बती भाषा की प्रथम पुस्तक और व्याकरण मौजूद थे, इसलिए ख्याति बढ़नी जरूरी थी। शिवदत्त ने जब सुना कि मैं थोलिङ जाना चाहता हूँ, तो वह चलने के लिए तैयार हो गया। मजूरी रुपया रोज और खाना तै हुई। उसने ढूँढ़-ढाँढ़कर दो रुपये रोज पर अपने चचा की घोड़ी तै कर ली। उत्तरकाशी में मैंने 100 रुपये का एक नोट भुनाया था, कुछ फुटकर पैसे भी थे। लेकिन थोलिङ जाने के लिए और पैसों की जरूरत थी। मैंने जब अपना सौ रुपये का नोट भुनाने के लिए भेजा, तो पता चला, यह नहीं भुन सकता, क्योंकि किसी बैंक की मुहर थी। नीचे होता, तो इसे अच्छा समझा जाता, लेकिन यहाँ ऐसा दागी नोट लेने के लिए कोई तैयार नहीं था ! सारा गुड़ गोबर होना चाहता था। उसी दिन (7 जून) जयपुर के एक बड़े सेठ आ गये। वैसे होता, तो कुछ दिक्कत भी होती, लेकिन किसी ने उनके सामने मेरी महिमा गा दी थी, और रात को वह खुद "मैं आ सकता हूँ" कहकर मेरे पास आये। परिचय हो गया। नोट की दिक्कत मैंने कही। उन्होंने पाँच-पाँच रुपये के बीस नोट दे दिये, चलो गंगमैया ने यह समस्या भी हल कर दी।

8 जून को सत्तू खाकर हम तीनों आठ बजे रवाना हुए ? मैं घोड़ी पर था। धराली और साङ्ला (झाङ्ला या जाङ्ला नहीं) के आगे कोपङ् में भेड़वालों के पड़ाव में देवदार के नीचे ठहरे। यहीं चाय-सत्तू हुआ। कुछ देर विश्राम करके 1 बजे फिर चले। आगे गंगोत्री का रास्ता छोड़कर बायें का रास्ता पकड़ा। पुराने झूले के थोड़ा पहिले ही से देवदार की अत्यन्त रमणीय स्थली आई–शायद हिमालय में यह अतिसुन्दर देवदार वन है। मन कहता था, कि यहीं एकाध महीने ठहरा जाय। देवदार के घने हरित पत्रों की छाया के भीतर सूर्य की किरणें घुस नहीं सकती थीं, नीचे सूखे सूचीपत्रों का गद्दा बिछा हुआ था, चारों ओर से देवदार की झीनी-झीनी सुगन्ध आ रही थी। सड़क के किनारे एक जगह थोड़ा-सा खुलासा स्थान था। यहाँ नेलङ का एक परिवार पड़ा हुआ था। उनकी गायें और चँवरियाँ जंगल में चर रही थीं। घर की तरुण लड़की बहुमूत्र रोग से अत्यन्त पीड़ित थी। उन्होंने दवा माँगी, लेकिन हमारे पास दवा न थी। मैंने दही-भात खिलाने के लिए कहा। आगे

कुछ और पर्वत-पृष्ठ की समतल भूमि मिली, और उतराई और चढ़ाई का रास्ता आया, जो कहीं-कहीं अत्यन्त कठिन था। रास्ता बनाने के लिए सारा श्रम और धन नेलङ्वाले खर्च करते हैं, टेहरी दरबार कुछ नहीं देता—अभी इस भूमि के लिए तिब्बत और टेहरी दर्बार में तनातनी भी है। दोपहर बाद ही से ऐसा रास्ता आ गया था, कि मैं घोड़ी पर नहीं चढ़ सकता था। गरदङ् के काष्ठपुल से थोड़ा पहिले ही हमें रात के लिए ठहरना पड़ा। चारों ओर टूटी चट्टानें पड़ी थीं, और गंगा बड़े जोर से गर्जन करती हुई बह रही थी। हवा तेज थी, इसलिए सर्दी भी काफी थी। आसपास जंगली बथुआ बहुत था। हमने बथुआ का चर्बी-आलू-चावल-लादू डालकर थुक्पा पकाया। चाय बनी। घोड़ी के घास के लिए ज्यादा तरद्दुद करनी पड़ी।

9 जून को सबेरे 6 बजे फिर रवाना हुए। नेलङ्वालों के बनाये लकड़ी के पुल को पार किया। रास्ता बहुत कड़ा था। वस्तुतः इस रास्ते के बनाने में आदमी ने बहुत कम हाथ लगाया है। एकाध जगह खूबानी के वृक्ष दिखाई पड़े, जो बतला रहे थे, कि यहाँ कभी आदमी बसते थे। पुल पार होते ही हमें पदुम वृक्ष (सरो, शुगूपा या बलसाम्) मिलने लगे। धीरे-धीरे देवदार छोटे और विरले होते-होते खतम हो गये; फिर पदुम वृक्ष ही नेलङ् से कुछ मील पहिले तक मिलते गये। आज कई जगहों ऐसे खतरनाक रास्ते मिले, जहाँ नीचे की ओर खिसकती सूखी मिट्टी और कंकड़ियों पर से हमें पार होना पड़ा। एक जगह शिवदत्त को घोड़ी की पीठ से सारा सामान उतारकर पार करना पड़ा। घोड़ी को भी लगाम पकड़ कर ले जाना पड़ा। इधर की घोड़ियाँ भी छिपकली की औलाद हैं, नहीं तो इस रास्ते को पार करना कुछ आसान नहीं है। एक जगह एक साधू लौटते मिले। बेचारे रास्ता भूलकर गंगोत्री न जा इधर चले आये थे। जहाँ दो रास्ते होते हैं, वहाँ हिन्दी में एक मोटा साइनबोर्ड लगाना चाहिए था। किंतु यहाँ एक छोटी-सी तख्ती एक वृक्ष पर ऐसी जगह लगा रखी थी, जिस पर बहुत कम आदमियों का ध्यान जा सकता था। गरदङ्—शायद इसी को नौटियाल गरतोक कहते थे—के सामनेवाले एक पहाड़ को दिखलाकर शिवदत्त बतला रहे थे, कि पहिले वहाँ दुर्ग था, बस्ती भी थी। वहाँ अब भी खूबानी के वृक्ष पाये जाते हैं। नेलङ्वालों की भेड़ें जहाँ-तहाँ आती मिलीं। 6 मील चलकर हमने सत्तू खाया। फिर चले। नेलङ् पहुँचने से मील-भर पहिले ही जंगल खतम हो गया। अब तिब्बत की तरह नंगे पहाड़ और नंगी अँगनाई दिखाई पड़ रही थी। नेलङ् खतम होने के पहिले मेलिङ और चोरघाट गंगा का संगम था। शिवदत्त बतला रहे थे, कि इधर से जाकर आदमी बुशहर (कनौर) में पहुँच सकता है। रास्ते में एक जगह नाले में भी बर्फ मौजूद थी, हम उसे पार हुए और छै बजे नेलङ् पहुँच गये।

नेलङ् 60, 70 घर का एक बड़ा गाँव है। मकानों की छतें लकड़ी की हैं, और दीवार में भी बहुत अधिक लकड़ी बरती गई है। अभी गाँव में सन्नाटा था। घर पीछे एक-एक आदमी आकर जौ के खेतों को बोकर चले गये थे, लेकिन फाफड़ा के बोने में देर थी। घरों में ताले बन्द थे। भटवारी के कितने ही पहाड़ी भेड़-बकरियों पर अनाज लादकर नमक बदलने आये थे, लेकिन अभी नमक लानेवाले भोटियों का कहीं पता नहीं था। एक बखार के सायबान में हम लोगों ने डेरा डाला। हवा खूब चल रही थी, इसलिए सर्दी भी काफी रही, लेकिन जब आदमी को दो-तीन हफ्ते अभ्यस्त हो जाता है, तो सरदी उतनी कड़ी नहीं मालूम होती।

10 जून को घोड़ी ले तीनों मूर्त्ति थोलिङ् चले। करीब एक मील चलने पर गंगा दो चट्टानों के बीच में बह रही थी। हम सुन चुके थे, कि यहाँ एक विकराल दैत्य रहता है, जो हर साल न जाने कितने प्राणों की बलि लेता है। पुल के देखते ही इस बात की सच्चाई पर पूरा विश्वास हो गया। पुल क्या था, दो गोल-गोल लट्ठे रखे थे। वह एक तरह एक हाथ चौड़ा था, और दूसरी ओर एक बित्ता रह गया था। लट्ठों के ऊपर छोटी-छोटी टहनियाँ बिछाई हुई थीं, जिनके ऊपर पत्थर के टुकड़े रखे थे। चलने पर लट्ठे हिलते थे, उनसे ज्यादा टहनियाँ हिलतीं, उनसे भी ज्यादा पत्थर काँप रहे थे और नीचे प्रलय कोलाहल के साथ गंगा का खौल्ता पानी बह रहा था, जिसके चार ही पाँच हाथ आगे बड़ी-बड़ी चट्टानें थीं। इसमें गिरनेवाले की मौत ठीक योगियों की मौत होती, जरा भी सोचने-समझने का मौका नहीं मिलता, और शरीर के पचासों टुकड़े हो जाते। यह नजारा सामने था, जब हम पुल पार करने जा रहे थे।

शिवदत्त तो सामान पीठ पर लादे बकरी की तरह खट-खट करते पार हो गया। मैंने अपने हृदय के

भावों की जरा भी छाप चेहरे पर आने न दी, और उस पार पहुँच गया—हाथ-पैर तुड़वाकर अपाहिज बनकर जीने की यहाँ सम्भावना ही नहीं थी, फिर ऐसी मृत्यु से डरने की क्या जरूरत ? ऊपर से मैं यह भी जानता था, कि यह दैत्य हजार आदमियों में से एक की बलि लेता है, मैं खुशी से 999 वाली नाम-सूची से अपना नाम क्यों काटता ? लेकिन, नागार्जुनजी के लिए बड़ी समस्या थी। हिम्मत छोड़ देना भी बुरा था, आखिर दुनिया क्या कहती ? लेकिन जब हिलते लट्ठों को देखते, टहनी और पत्थरों को काँपते देखते, नीचे मृत्यु को अट्टहास करते देखते, तो शरीर का सारा खून जमने लगता। मैंने उन्हें मन्तर बता दिया, कि नीचे की ओर मृत्यु के मुख-विवर को मत देखो। लेकिन अट्टहास उनके ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहता। खैर, सोच-साचकर उन्होंने कदम आगे बढ़ाया। मालूम होता था, एक-एक पैर अस्सी-अस्सी मन के हैं। ऐसी जगहों पर जहाँ सबसे खतरे की गति है, वहाँ तो सरपट मारते पार होने की जरूरत होती है। इस पार आये, तो मैंने कहा—"जय अपराजिता माई की।" अपराजिता ने अपने सिन्दूर की रक्षा अपने ही की।

खैर, हम तीनों तो उधर पहुँच गये, सामान भी पहुँच गया, लेकिन घोड़ी उस पुल को कैसे पार कर सकती थी ? शिवदत्त ने घोड़ी को तब भी लाने की कोशिश की, लेकिन पुल सूँघकर वह चार कदम पीछे हट जाती। मैंने भी कहा, घोड़ी को मारना ठीक नहीं है। हम दोनों इस पार बैठे। शिवदत्त ने गाँव में जाकर दो पहाड़ियों को आने के लिए राजी किया। कई रस्सियों को जोड़कर एक बड़ा रस्सा बनाया गया, और एक रस्से को एक आदमी नदी के दूसरे सिरे पर ले गया। पुल से सौ-डेढ़ सौ गज नीचे नदी की धार चौड़ी हो गई थी। यहाँ घोड़ी के गले में रस्सी बाँधी गई, उसे पानी में डालकर खींचने लगे। मुझे यह ढंग बुद्धिपूर्वक नहीं मालूम होता था। मध्य-तिब्बत में हमें कितनी ही बार घोड़ों को नदी पार कराना पड़ा था, लेकिन वहाँ रस्सा-वस्सा नहीं बाँधा जाता, ऐसे ही हल्ला करते पत्थर फेंक-फेंककर घोड़े-खच्चर पार करा दिये जाते हैं। लेकिन देश-देश का अपना धर्म होता है, यहाँवालों ने यही विधि निकाली है। सम्भव है, अनाड़ी पहाड़ियों की जगह नेलङ्वाले होते, तो ज्यादा अक्ल से काम लेते। पानी में पड़ने पर घोड़ी तैरने लगी, उसे रस्सी के सहारे रिछे पार होने देना चाहिए था, लेकिन पहाड़ियों ने सीधे खींचना शुरू किया, रस्सी टूट गई और घोड़ी बह चली। उसने पैर हिलाया, तो गले का रस्सा तीन पैरों में लिपट गया, संयोग से थोड़ी दूर पर गंगा की दो धारें हो गई थीं, बीच में एक टापू आ गया था, घोड़ी उसी पर जाकर खड़ी हुई। उसके दोनों पिछले पैर और एक अगला पैर रस्से से छाना हुआ था। 10 बजे से 2 बजे तक आदमी उस टापू पर जाने की कोशिश करते रहे, लेकिन तेज धारा में किसी का पैर जम नहीं सका, हताश होकर लौट आये। घोड़ी डूबकर तो नहीं मरी, लेकिन अब भूखों मरने की संभावना थी। उस टापू में पत्थर थे, पानी मिल सकता था, लेकिन हम किसी तरह भी वहाँ एक मुट्ठा तिनका नहीं भेज सकते थे। मैंने डायरी में लिखा—"हाथ-पैर से बँधी घोड़ी वहीं मृत्यु की प्रतीक्षा कर रही है, शाम को हिमगलित जल बहुत बढ़ जायेगा। तीनों भोटियों ने कहा—अभी नहीं मरेगी। कल जल के उतार की प्रतीक्षा में गाँव में बैठे हैं, हृदय में रह-रहकर शीतल वायु का झोंका लग जाता है। इस पुल और गंगा ने बहुतों की बलि ली है।"

मुझे घोड़ी के बचने का एक सैंकड़ा भी उम्मेद नहीं थी। आज (10 जून) ही नमक लेकर बहुत-से भोटिया आ गये, जिनमें से कुछ ने घोड़ी के निकालने की कोशिश की। अगले दिन (11 जून) मैंने शिवदत्त से कहा कि मैं फी आदमी दो-दो रुपया दूँगा, किसी तरह भी आदमियों को ले जाकर वहाँ से घोड़ी को निकालो। शिवदत्त 5 भोटियों को लेकर गया। मैंने गाँव से थोड़ा नीचे उतरकर वहाँ से देखा, घोड़ी उसी तरह चुपचाप खड़ी है। मैं बिल्कुल निराश था, इसी समय ग्यारह बजे किसी ने खबर दी—घोड़ी निकल आई। अब घोड़ी लेकर थोलिङ जाने का कौन नाम लेता ? घोड़ी छोड़ते तो हमारे पास सामान इतना था, कि शिवदत्त उसे उठाकर नहीं चल सकता था। दूसरा रास्ता यह था, कि मैं हफ्ते-दो-हफ्ते नेलङ् में ठहरूँ, लोग आवें, नया पुल बने, फिर थोलिङ् के लिए चलें। मेरे पास इतना समय नहीं था, जुलाई में मुझे लौटना था। मैंने लौटने का निश्चय किया। नागार्जुन से कहा—"तुम भी चलो, दार्जिलिंग में तिब्बती पढ़ना।" लेकिन उनका संकल्प बहुत दृढ़ था, और वह उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। पाथेय और उपहार उनके साथ छोड़ 12 जून को शिवदत्त और घोड़ी को लेकर मैं लौट पड़ा।

6. मसूरी की ओर

लौटते वक्त हमारे कदम बड़ी तेजी से बड़े। भैरवघाटी के पुराने पुल के पास उसी रमणीयतम देवदार वन में नेलङ्वालों के पास चाय पी। कोपङ् में शेरसिंह मिले। कहने पर उन्होंने विश्वास दिलाया, कि हम अच्छी तरह नागार्जुनजी को थोलिङ् पहुँचा देंगे। साढ़े 12 घंटे में 25 मील चलकर उसी दिन शाम को हम हरसिल पहुँच गये। शिवदत्त मसूरी तक हमारे साथ चलने के लिए तैयार हो गये, इसलिए दूसरे दिन (13 जून) आकर हम गंगनाणी में ठहरे। अब वर्षा के दिन थे, इसलिए रास्ते में भी भीगने की नौबत आती, लेकिन आनन्द स्वामी ने एक बरसाती दे दी थी, उसने बहुत मदद की। नेलङ् से हम तीसरे ही दिन उत्तरकाशी पहुँच गये होते, लेकिन गंगोरी पहुँचते-पहुँचते वर्षा तेज हो गई, और हमें वहीं रह जाना पड़ा। 15 जून को सबेरे ही हम उत्तरकाशी पहुँच गए। आनन्द स्वामी से मिले। 'दर्शन-दिग्दर्शन' के प्रूफ के दो पुलिन्दे आये थे। मैं प्रूफों के देखने में लग गया। मसूरी तक के लिए स्वामी गणेशानन्द साथी मिल गये।

मुझे प्रूफ देखकर यहाँ से लौटा देना था, इसलिए 16 जून को ढाई बजे तक मुझे उत्तरकाशी में रहना पड़ा। स्वामी गणेशानन्द से सलाह हुई, कि वह डूँड़ा में पहुँचकर ठहर जायें। शिवदत्त और मैं भी डाकखाने से छुट्टी पाकर चले। बरसात के कारण पर्वत रोम-राम से पुलकित हो गये थे—चारों तरफ हरी-हरी घास दिखाई पड़ती थी। डूँड़ा में नेलङ्वाले लोगों के घरों के बाहर बड़े-बड़े पत्तेवाले धतूरे उगे थे। गोबर और लेंड़ी की इतनी खाद जमा हो गई थी, कि जिससे पचासों एकड़ खेत पाटे जा सकते थे। डूँड़ा में नेलङ्वालों ने हाल ही में अपनी बस्ती कायम की है, और दो-तीन घरों को छोड़कर बाकी मामूली झोंपड़ियाँ हैं। रात को हम लोग डूँड़ा में ठहरे। शिवदत्त ने रोटी-भाजी बनाई, तीनों मूर्तियों ने डटकर भोजन किया।

स्वामी गणेशनन्द छिपे रुस्तम निकले। उन्होंने आनन्द स्वामी से मेरी तारीफ तो बहुत सुनी ली होगी, लेकिन अब उनका गुण प्रकट होने लगा। वह उन जगहों का भी चक्कर लगा आये थे, जहाँ जाने का मैंने कभी स्वप्न देखा था, और वह स्वप्न अभी तक पूरा नहीं हुआ। वह यारकन्द और चीनी तुर्किस्तान हो आये थे। ल्हासा और मानसरोवर को भी उन्होंने देखा था। जावा में भी वह रहे, और फ्रेंच-हिन्दी-चीन के सेगोङ् को भी देख आये थे। गढ़वाल और शिमला के पहाड़ तो सदा उनके पैरों के नीचे रहते हैं। मेरे सामने एक ऐसा आदमी था, जिससे मैं ईर्ष्या कर रहा था। यह जरूर था कि उनमें अन्तर्दृष्टि नहीं थी, और न कलम की ताकत ही, इसलिए हजारों वर्षों से जैसे हमारे फक्कड़-साधू काकेशश, चीन आदि दुर्गम देशों में घूमते अपना चिह्न भी नहीं छोड़ पाये, उन्हीं आदमियों की भाँति स्वामी गणेशानन्द भी रहे।

17 जून को हम 6 ही बजे रवाना हुए। धराशू में गुड़ खाकर चाय पी। खाने के लिए हम एक मील और आगे एक दूकान में ठहरे। भोजन हुआ, और चार बजे रवाना हुए। नाला पार करके हमने टेहरी का रास्ता छोड़ा। सुना था, भल्याणा से मसूरी का रास्ता अच्छा है, लेकिन हमने बरस दिन का नहीं, छै महीने का रास्ता पकड़ा—वह रास्ता जिससे पहाड़ी लोग आते-जाते हैं। दाहिनी ओर कुछ खेत भी थे, उन्हीं में से हमारा रास्ता था। गर्मी थी, इसलिए स्वामी गणेशानन्द ने कुछ सामान तो शिवदत्त को दे दिया था, और कुछ को शिर पर रख लिया था। उनके बदन पर एक लँगोटी रह गई थी, जिसमें पेट खूब बाहर की ओर निकला हुआ था। कुछ औरतें खेत में काम कर रही थीं। वह स्वामी को देखकर खूब हँसी, लेकिन स्वामी 'कुत्ते भूँकते रहते हैं, हाथी चला जाता है' की कहावत को चरितार्थ कर रहे थे। आगे हम पहाड़ पर धीरे-धीरे ऊपर की ओर चढ़ने लगे। चारों ओर चीड़ के वृक्ष थे। एक जगह से देखा, नगुण की चट्टी दूर नीचे दीख रही है। चढ़ाई बहुत मुश्किल नहीं थी, लेकिन आगे नाले में बहुत उतराई आई। उतराई उतरने के बाद ही वैसी ही चढ़ाई शुरू हुई। अब मैं पहाड़ी यात्रा से अभ्यस्त हो गया था, इसलिए किसी से पीछे रहनेवाला नहीं था। शाम को 5 बजे लालूरी पहुँचे। यह दश-बारह घरों का गाँव है। हम गाँव के नम्बरदार एक प्रौढ़ सारस्वत ब्राह्मण के दरवाजे पर ठहरे। उत्तरकाशी में खूबानी कच्ची थी, हरसिल में और कच्ची थी, लौटकर जब तक उत्तरकाशी आये, तब तक खूबानी की फसल खतम हो गई थी। लालूरी में हमें खूबानी खाने को मिली। यहाँ पर ब्राह्मण

वनकर 'गंगाजल' बेंचनेवाले कितने ही राजपूत मिले। यह जाड़ों के शुरू में देश गये थे, और अब घर लौट रहे थे। मालूम हुआ, कि 'गंगाजल' का व्यापार कुछ व्यवस्थित रूप धारण कर चुका है। हरद्वार के लाला करमसिंह इन्हें टो रुपयें सैंकड़े (मासिक) सूद पर रुपया कर्ज देते हैं। लौटते वक्त लोग सूद-मूल लौटा देते हैं।

18 जून को तड़के ही हम फिर रवाना हुए। कल नाले से जो खड़ी चढ़ाई शुरू की थी, उसका तिहाई ही हम पार कर सके थे। आज फिर चीड़ के जंगल में से हम ऊपर चढ़ रहे थे। मोरयाण (मराड) के डाँड़े तक तीन मील की घनघोर चढ़ाई मिली। चीड़ खतम होने के बाद बर्फानी वृक्षों (बान आदि) का जंगल आया। डाँड़े पर भल्याणा से आनेवाला रास्ता भी आ मिला। उतराई में कुछ ही दूर पर पानी का चश्मा आया। उतराई कल जैसी सख्त नहीं थी। गड़ैत की चट्टी में एक दूकान और एक टीन की गन्दी-सी टूटी-फूटी धर्मशाला है, दोपहर के भोजन के लिए हम यहीं ठहर गये। भोजन के बाद फिर चले। गर्मी बहुत लग रही थी, खैरियत यही थी, कि रास्ता नीचे को था। थानाभवन (भवन) आया। कितनी ही दूर तक पथरीला रास्ता था। एक जगह मावा लेकर खाया। शाम को फिर हम चीड़ों के बीच से चलने लगे। गर्मी भी नहीं थी। फेड़ी गाँव पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। टिकने का ठाँव ढूँढ़ा, जब वह न मिला तो भनसारी के लिए चल पड़े। अँधेरी रात थी। कुछ दूर चलने के बाद रास्ता न सूझने के कारण गिर-पड़ जाने का भय लगा, इसलिए चीड़ के जंगल में हम लोग लेट रहे। हो सकता है, वहाँ रीछ रहते हों, या कोई और जानवर, लेकिन हमको इसका कोई पता नहीं था। 19 के तड़के ही फिर रवाना हुए। भनसारी मील ही भर पर थी। यहाँ आये होते, तो बहुत आराम की टिकान मिली होती। बुलन्दशहर के लालाजी की दूकान थी। लालाजी स्वामीजी के परिचित थे। उनका लड़का बहुत बीमार था। पिता के आग्रह पर स्वामीजी वहीं रह गए, लेकिन बिना खिलाए लालाजी हमको जाने देना नहीं चाहते थे। मैंने कहा घर में जो तैयार है, वह खिला दीजिए। रात के परावठे बचे हुए थे, उसे खाकर चाय पी, फिर मैं और शिवदत्त चल पड़े। एक मील और हल्की चढ़ाई चढ़ने के बाद टेहरी राज का चुंगीखाना आया। यहाँ सेब का बगीचा भी लगा हुआ था। चुंगीवाले ने आसानी से छुट्टी दे दी। एक मील और चलने पर सुआखोली का डाँड़ा (जोत) मिला। यहाँ बहुत-सी मिठाई की दूकानें थीं। सामने 34 मील नीचे देहरादून शहर दिखाई दे रहा था। मसूरी सिर्फ 6 मील थी, और रास्ता बहुत अच्छी सड़क। बादल की छाया में चले और 10 बजे म्यूनिसपैल्टी के चुंगीघर पर पहुँच गए। बोझी का एक आना महसूल दिया, फिर हम लनढौर बाजार में चले आए। शिवदत्त के परिचित किसना खम्बा की यहाँ दूकान थी। सामान रखकर हम घूमने गए। होटलों में रहने की जगह नहीं थी और मेरा वहाँ कोई दूसरा परिचित नहीं था। किसना खम्बा बहुत ही भद्रपुरुष हैं। उनकी एक बहुत छोटी-सी दूकान थी। उन्होंने कहा—आपको तकलीफ तो होगी, लेकिन मेरी इच्छा है, कि आप इसी घर में रहें। यहाँ तकलीफ होने का क्या सवाल था ? बावन हँड़ी का भात जो खाए हुए थे।

उस दिन मसूरी की बाजारों में चक्कर काटते रहे। मुझे तो यहाँ गरम मालूम होता था, और कहता था, कि यहाँ कौन-सी ठंडक पाने के लिए लोग आते हैं। लेकिन मुझे यह भी ख्याल रखना चाहिए था, कि सात दिन पहिले नेलङ् में 11,600 फीट पर था और मसूरी है 6,600 फीट। हिमालय का मैं अनन्य-प्रेमी हूँ, लेकिन हिमालय के इन आधुनिक नगरों से मैं बड़ी घृणा करता हूँ। वहाँ मुझे अपना दम घुटता-सा मालूम होता है। आज ही अखबार में पढ़ा, कि लार्ड वेवल हिन्दुस्तान के वायसराय बने—एक ही झोली के चट्टे-बट्टे, यह छोड़ और क्या हो सकता है।

7. जौनसार में

20 जून को शिवदत्त मुझे मोटर के अड्डे तक पहुँचाने आया। वह बहुत ही मेहनती, सच्चा और भलामानुस था। मेरे साथ उसे यह अनुभव नहीं हुआ कि वह किसी की नौकरी करता है, इसलिए उसका स्नेह भी बहुत ज्यादा था। मैंने नागार्जुनजी के लिए चिट्ठी लिखकर दी, और उससे कहा, कि तुम अपने साथ उन्हें थोलिङ् ले जाना। वह खुद भी थोलिङ् जाने के लिए उत्सुक था—चिट्ठी तो नागार्जुनजी को मिल गई, लेकिन उनके नेलिङ् छोड़ने तक शिवदत्त वहाँ नहीं पहुँच सका था। मैं एक रुपया दे देहरादून की लारी पर बैठा। आजकल

यात्री नीचे से ऊपर की ओर जाते हैं, इसलिए लारियाँ ज्यादातर खाली ही नीचे उतरती हैं। सवा नौ बजे लारी रवाना हुई, और घूम-घुमौवा सड़कों को फाँदती एक घंटे बाद वह देहरादून पहुँच गई–7 हजार फीट से अब 21 सौ फीट पर चले आए थे, इसलिए गर्मी के बारे में क्या पूछना ? होटल की तलाश कर रहे थे, कि पहाड़ी जी मिल गए। उनसे मालूम हुवा, मेरे नाम रूस से कोई तार आया है, यह तार लोला का ही हो सकता था। पार्टी-आफिस गए, तो मालूम हुआ, कि आनन्दजी किसी सेठ साहब के यहाँ ठहरे हैं। वहाँ जाने पर मुझे भी लाचार मेहमान का मेहमान बनना पड़ा। आजकल देहरादून में लीचियों की खूब बहार थी और जब तक मैं देहरादून में रहा, अधिकतर लीची के फलाहार पर गुजारा रहा। सन्त निहालसिंह का मकान वहाँ से ज्यादा दूर नहीं था। उनसे पहिले ही परिचय था, इसलिए दो-तीन बार वहाँ जाना पड़ा। सन्तजी का सारा जीवन साहस का जीवन रहा है। उनकी कलम में जितनी ताकत है, उतनी ही वह हिम्मत भी रखते हैं। दुनिया के वह कोने-कोने में घूमे हैं, और अपनी कलम के बल पर तथा बड़े सम्मान के साथ। देहरादून में उन्होंने अपना मकान बनवा लिया है, लेकिन वैयक्तिक गृह के ख्याल से नहीं। उनकी कोई सन्तान नहीं है, वह चाहते हैं, कि इसे राष्ट्र के लिए एक उपयोगी संस्था के रूप में बदल दिया जाय। श्रीमती सेंट निहालसिंह–जो अमेरिकन महिला हैं–बड़े स्निग्ध स्वभाव की हैं। 6 मास पहिले जब मैंने उन्हें देखा था, तो दम्पती के चेहरे पर बुढ़ापे का इतना असर नहीं था, लेकिन अब वहाँ गोधूली साफ दिखाई दे रही थी।

आनन्दजी, सुशील और मैं–तीन आदमी पहिले से ही थे। अब बद्रीपुर के तरुण सत्येन्द्रजी से परिचय हो गया। सलाह हुई कालसी देख आया जाय। कालसी में अशोक का शिलालेख है, उसको देखने के लिए मेरे मुँह में पानी क्यों न भर आता ? 23 जून को चारों जने मोटर पर बैठे, और दोपहर तक चूहड़पुर पहुँच गए। कुल 25 मील का फासला है। चूहड़पुर अच्छा बाजार है, नाज की बड़ी मंडी है। सहारनपुर से एक सीधी सड़क यहाँ आती है। अशोक के वक्त पटना से तक्षशिला जाने का प्रधान राजपथ सहारनपुर होकर जाता था। सहारनपुर से कालसी तक का यह रास्ता अशोक के समय में भी मौजूद होगा। चूहड़पुर ने कालसी को मार दिया, बाईस-तेईस सौ वर्षों तक हिमालय के पादतल में जो एक प्रसिद्ध व्यापार-केन्द्र था, अब वह अंतिम दम तोड़ चुका है, और इसमें चूहड़पुर का खास हाथ है। चूहड़पुर मैदान में बसा हुआ है। फैलने के लिए काफी जगह पड़ी है, देहरादून और सहारनपुर के लिए यहाँ से पक्की सड़कें गई हैं, जिन पर रात-दिन लारियाँ दौड़ा करती हैं, साथ ही हिमालय का चरण भी यहाँ से दूर नहीं है, फिर उसके सामने कालसी की क्या चलती ? सत्येन्द्रजी के परिचित आनन्दकुमार एक उत्साही तरुण हैं, उनके ही यहाँ हम ठहरे। चूहड़पुर के आस-पास 3 ईसाई गाँव हैं, जो ज्यादातर खेती करते हैं। 50 वर्ष पहिले इन्हें बिजनौर, बुलन्दशहर आदि जिलों से लाकर बसाया गया। 1857 के गदर के बाद यह सारा इलाका एनूफेल्ड नामक एक फौजी अफसर को दे दिया गया, पीछे उसने अपनी जमींदारी नाहन (सिरमौर) के राजा के हाथ में बेंच दी। चूहड़पुर में चाय के बगीचे हैं। यहाँ आस-पास दूर तक चाय की खेती अच्छी होती है। चाय के बाद धान की खेती ज्यादा होती है। पास ही में यमुना की नहर बहती है।

कालसी में–दो बजे दो ताँगा करके हम लोग कालसी के लिए रवाना हुए। आनन्दकुमार जी भी हमारे साथ थे, इसलिए अब हमारी 5 आदमियों की मंडली थी। चकरौतावाली सड़क ही कालसी की भी सड़क है। यमुना के इस पार की एकाध जगह पहाड़ियाँ हैं। हमने लोहे के पुल से यमुना पार किया। साढ़े 6 मील जाने पर कालसी का डाकबँगला आ गया। सड़क से एक फर्लांग उतरकर यमुना की तटी में एक घर के भीतर वह शिला है, जिस पर 2200 वर्ष पहिले राजा अशोक ने अपने धर्मलेख खुदवाए थे। चौकीदार ने आकर ताला खोल दिया, हम भीतर गए। शिला के दक्खिन और पच्छिम पार्श्व में लेख खुदे हुए हैं। पूर्व पार्श्व में हाथी का एक बहुत सूक्ष्म रेखाचित्र है, जिस पर गजतम लिखा हुआ है। उस समय अभी बुद्ध की मूर्त्तियाँ नहीं बनती थीं, इसलिए गजतम से बुद्ध को सूचित किया जाता था। घर के भीतर कुछ गुप्तकालीन अलंकृत पाषाण है। अशोक ने ऐसे ही स्थानों पर अपने लेखों को खुदवाया था, जहाँ ज्यादा से ज्यादा आदमी उन्हें देख सकें। यह भी कोई ऐसा ही स्थान था। पहाड़ों से उतरकर यमुना यहीं मैदान में आती है, फिर शिमला स्थापित होने

से पहिले कनौर (बुशहर) वाले इसी रास्ते नीचे आया करते थे। अब भी जाड़ों में कनौरवाले बकरियों और ऊनी कपड़ों को बेंचने के लिए इधर पहुँचते हैं। इसलिए एक ओर यह स्थान हिमालय के एक भाग का व्यापारकेन्द्र था, तो दूसरी ओर संस्कृति का भी प्रसारणकेन्द्र था।

आकर हम अपने ताँगों पर बैठे, और डेढ़ मील चलकर कालसी पहुँच गए। यह पहाड़ के नीचे नहीं, बल्कि पहाड़ की कटि या पिंडुली में बसी है। पास में अमलावा नाम की एक छोटी-सी नदी बहती है। कालसी के आस-पास आम के बहुत-से बाग हैं। ऊपर-नीचे समतल स्थान तो इतने हैं कि वहाँ पचास हजार की आबादी का एक अच्छा नगर बस सकता है। खैर, नगर बसाने की बात करनेवाला तो आज यहाँ पागल समझा जायगा। दोमहले-तिमहले कितने ही महान यहाँ खाली पड़े हैं, जिनमें डेढ़-दो सौ परिवार आराम से रह सकते हैं। मीरा बहन ने मुझसे अपने आश्रम के बारे में बात की, तो मैंने उनसे कहा, कि कालसी में रहने पर आसपास के गरीबों की सेवा भी हो सकती है और साथ ही मकान बनाने के लिए एक पैसा भी खर्च नहीं करना पड़ेगा। मैंने कितने ही पुराने नगरों के ध्वंस देखे हैं, लेकिन सैंकड़ों वर्षों से रास्ते में पड़ी हड्डियों के देखने से वह प्रभाव नहीं पड़ता, जो कि ताजा मुर्दा देखने से। कालसी ताजा मुर्दा है—उसके प्राचीन इतिहास को देखने से ऐसा कहने में दिल को दुःख होता है, तो भी आज जो उसकी अवस्था है, उसे देखकर वह छोड़ और क्या कहा जा सकता है। अब यहाँ आठ-दस घर मुसल्मान (पठान, शेख) और बीस-बाईस घर बनिए हैं। इनके अतिरिक्त कुछ जौनसारियों के भी झोंपड़े हैं। जाड़ों में तीन-चार महीने के लिए चकरौता का तहसीलदार यहाँ चला आता है, इसलिए शायद इतने घर कुछ दिनों और चले जायँ; लेकिन, न यहाँ आस-पास खेत हैं, न कोई दूकान है, न कोई शिल्प-व्यवसाय, फिर कालसी को क्या आशा हो सकती है ? दो-दो तीन-तीन नगर-पथों की पाँतियाँ खतम हो चुकी हैं, उनके घर गिरकर ढूह बन गए हैं। सिर्फ एक सड़क बची हुई है। उसके किनारे भी कुछ घर जमीन के बराबर हो गए हैं, कुछ की दो-दो हाथ की दीवारें खड़ी हैं, कुछ पर छत नहीं है, कुछ की छत में कितने ही झरोखे कट गए हैं, और कुछ घर वर्षों से बिना दिया-बाती के सुनसान खड़े हैं। जिस दिन हम गए, उस दिन एक घर से बारात जानेवाली थी। मोटरें भी थीं, बाजे भी थे, लोग भड़कीले कपड़े पहने हुए थे। बनियाइनें भी इन्द्रधनुष के नाना रंगों के कपड़े पहने गीत गा रही थीं। मैं आश्चर्य से देख रहा था, इस श्मशान में क्या हो रहा है। जो बनिए अपने घरों की मरम्मत नहीं कर सकते हैं, साल में दो-एक बार शादी-त्यौहार के लिए आ जाते हैं, उन्होंने अपना घर दूसरे शहरों में भी बना लिया है। शायद दो-तीन घर ऐसे भी हैं, जिनकी जमींदारों से आमदनी है, और वह कालसी को छोड़ना नहीं चाहते।

चकरौता से नीचे यमुना और टौंस के बीच देहरादून जिले का यह इलाका जौनसार के नाम से पुकारा जाता है। चकरौता से आगे बाबर का इलाका है। जौनसार और बाबर मिलकर सारा क्षेत्रफल 25,114 वर्गमील है। 1887 में इसकी आबादी 23,288 थी, 14 वर्ष बाद 1901 में, बढ़कर 91,100 और 1931 में 80,000 रह गई। वासक, बिबसक, बुथियार, चाल्टा, यहाँ की अछूत जातियाँ हैं। सबसे अधिक संख्या इन्हीं की है। इसके बाद चौहान-तोमर-नेगी-रावत जैसी राजपूत जातियाँ हैं, कुछ ब्राह्मण भी हैं। चकरौता और दूसरी जगहों पर कितने ही बाहरी बनिया दूकानदार भी बस गए हैं। जौनसारी और बाबरी लोगों में अब भी बहुत कुछ बहुपति विवाह—सभी भाइयों की एक पत्नी—होते हैं। अभी भी इन लोगों में बहुत सीधा-साधापन है। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक तो यदि किसी के यहाँ कोई मेहमान चला जाता था, तो खाने-पीने की और चीजों की तरह घर की अविवाहिता तरुणी को प्रदान करके अतिथि-सत्कार किया जाता था। यह पुराने युग का रिवाज था।[1] भोले-भाले जौनसारी इसे शुद्ध भावना से करते थे, लेकिन नीचेवाले लोग इसे वेश्यावृत्ति में परिणत करने लगे। जौनसारियों को जब यह पता लगा, तो उन्होंने इसे बुरा माना, और धीरे-धीरे यह प्रथा बहुत कुछ खतम हो गई। खेती छोड़ यहाँ के लोगों के लिए जीवन का कोई दूसरा सहारा नहीं है। चकरौता में गोरों की छावनी बनने के बाद इस इलाके में रतिज बीमारियाँ बहुत बढ़ गईं। व्यापार तथा सूद-ब्याज से बनिये लोगों को बहुत

---

1. The Mothers 3 vols, 1926. Westermark--The History of Human Marriage.

लूटने लगे हैं। चव्वालीस वर्षों में जनसंख्या का तिगुना हो जाना भी उनकी दरिद्रता का कारण हुआ। पिछड़ा प्रदेश कहकर सरकार ने इस इलाके में सुधार-कानून नहीं लागू होने दिया, लेकिन जौनसरियों में कांग्रेस की आवाज हल्की-सी पहुँची जरूर है। यह वह इलाका है, जहाँ की नदियों से अपार बिजली पैदा की जा सकती है। जहाँ के पहाड़ों पर सेब, नासपाती आदि फलों से हर साल करोड़ों रुपए की आमदनी हो सकती है। जहाँ ऊनी कपड़ों और मोजों के कारखाने बन सकते हैं। ढूँढ़ने पर जहाँ कितनी ही धातुओं की खानें निकल सकती हैं। अर्थात् आधुनिक साइन्स और मनुष्य के बाहुबल को पूरी तौर से इस्तेमाल किया जाय, तो यह बहुत समृद्ध प्रदेश बन सकता है, लेकिन वर्त्तमान व्यवस्था में इसकी क्या आशा हो सकती है ?

कालसी में हमने अपना सामान आर्यसमाज में रखा—जब नगरी सूनी है, तो आर्यसमाज क्या हरा-भरा होगा ? शाम के वक्त हम टहलते हुए अमलावा के किनारे थोड़ा ऊपर गए। आमों के बाग में रखवाले से पके आम लिये, और नदी के किनारे बैठकर खूब खाया। फिर बस्ती से नीचे की ओर गए। यहाँ आटा पीसने की दर्जनों पनचकियाँ हैं, लेकिन दो-तीन को छोड़कर सब उजड़ी पड़ी हैं। जितने खानेवाले हों उसी के अनुसार तो आटा पीसा जाएगा। शाम को खाने की समस्या आई। लेकिन यहाँ न हलवाई की दूकान न आटे-चावल की ही दूकान थी; पैसा रहते भी खाना मिलना सम्भव नहीं था। आनन्दजी को तो शाम को खाना नहीं था। मैंने भी कहा, मुझे जरूरत नहीं; लेकिन सुशील, आनन्दकुमार, और सत्येन्द्र को तो कुछ खाना था। खासकर आनन्दकुमार यह पसन्द नहीं करते थे, कि कालसी में मैं भूखा ही रहूँ। कुछ उत्साही तरुणों ने जौनसारियों के लिए एक अशोकआश्रम खोल रखा है। इसके संस्थापक पंडित धर्मदेव विद्यालंकार आजकल जेल में थे, लेकिन चिकित्सालय के वैद्यजी मौजूद थे। उन्हें भी खिलाने की चिन्ता पड़ी। खैर, किसी तरह उन लोगों ने बारातवाले भोजन में हमें शामिल करा दिया। मैं वहाँ खाने नहीं गया; लेकिन वहाँ से पूरी-तरकारी मेरे लिए चली आई। संयोग कहिए, नहीं तो यदि बारात की तैयारी न होती, तो कालसी में भूखों ही रहना पड़ता। इसका यह मतलब नहीं, कि कालसी से मुझे विरक्ति हो गई। कालसी से मुझे प्रेम है, जैसे स्थान में वह बसी है, उसको देखकर मुझे विश्वास है, कि कालसी फिर कभी जीवित होगी।

अगले दिन (24 जून) हमें चकरौता की लारी पकड़नी थी। लारी आने में कुछ देर थी। जलपान के लिए मैंने साथियों से आम ढूँढ़ने को कहा। ढूँढ़ते-फिरते हमें एक टीनसाज शेख मिला। उजड़ी बस्ती में टीनसाजी से क्या काम चलेगा, इसलिए उसने साथ में आम बेचने का रोजगार भी कर लिया था। वहाँ से हमने कुछ सौ आम खरीदे और बाल्टी में भिगोकर खूब चूसा।

लारी आई, हम उस पर चढ़कर रवाना हुए। सहिया (सेया) में दोपहर को पहुँचे। आनन्दकुमार जी के बहनोई की यहाँ पर दूकान और लेन-देन का कारबार था। यहीं भोजन कर थोड़ा विश्राम किया। फिर मैं और आनन्दकुमार लारी से चकरौता को रवाना हुए, और बाकी तीन मूर्त्तियों ने पैदल का रास्ता पकड़ा। उन लोगों को रास्ते में रात को रह जाना पड़ा, लेकिन हम लोग शाम को वहाँ पहुँचकर आर्यसमाज में ठहरे—आनन्दकुमार का परिवार आर्यसमाजी था। आर्यसमाज मंदिर की अवस्था देखने से मालूम होता था, कि अनुयायियों में उतना उत्साह नहीं। चकरौता की बस्ती पहाड़ की रीढ़ पर बसी हुई है। पहाड़ों की रीढ़ अक्सर काफी चौड़ी हुआ करती है, लेकिन वह दुबली गाय की रीढ़ जैसी है, और बस्ती मच्छर की टाँग की तरह इधर-उधर फैली हुई है। गोरी पलटन की छावनी होने से सारा रोजगार उसी पर निर्भर करता है। आबहवा अच्छी है। देववन (9331 फीट) और लाखामंडल भी जाना था, लेकिन किसी को उत्साह नहीं था। 25 जून को आनन्दजी, सुशील और सत्येन्द्र के साथ पैदल रवाना हुए, और मैं तथा आनन्दकुमार खुली लारी पर। सूर्यास्त से पहिले हम चूहड़पुर पहुँच गए। आनन्दजी के दल को उस दिल कालसी में ही रह जाना पड़ा। अगले दिन (26 जून) यमुना-स्नान और डटकर आम्रयज्ञ हुआ। दोपहर तक पीछे छूटी मूर्तियाँ भी आ गईं। शाम को हम गौतमकुण्ड देखने गए। कभी यहाँ जंगल रहा होगा, लेकिन अब कट चुका है। कुण्ड बहुत अच्छा, यद्यपि उतना साफ नहीं है। यहाँ साल में किसी वक्त भारी मेला लगता है। जैसा कि पहिले लिख चुका हूँ, यह यमुना के इस पार का इलाका नाहन के राजा की जमींदारी है, और यमुना के उस पार तो नाहन रियासत ही है। 1857 से पहिले जौनसार

और बाबर का इलाका भी नाहन के राज में था, लेकिन "अर्ध तजहिं बुध सर्वस जाए" की कहावत को मानकर राजा ने यह हिस्सा अंग्रेजों को दे दिया। शाम को आर्यसमाज में व्याख्यान दिया। प्रबन्धकों ने खुद रूस के सम्बन्ध में बोलने के लिए कहा। श्रोताओं में कितनी ही स्त्रियाँ थीं।

8. बासमती की भूमि में

27 तारीख को दोपहर से पहिले ही हम देहरादून लौट आए थे। सत्येन्द्रजी का आग्रह था, कि हम उनके घर बद्रीपुर में चलें। देहरादून का बासमती चावल बहुत मशहूर है–शायद दुनिया में कहीं भी इतना अच्छा चावल नहीं होता, लेकिन उसके खेत देहरादून में नहीं हैं। तपोवन के खेतों का बासमती बहुत अच्छा समझा जाता है, और बद्रीपुर भी अपनी बासमती के लिए मशहूर है। बासमती के बाद का चावल रामजवान कालसी के नीचे भी खूब होता है। वैसे बाहर के लोग चावल की इन बारीकियों के पीछे नहीं जाते। सत्येन्द्रजी के साथ ताँगे पर हम लोग बद्रीपुर गए। ताँगे में उनकी स्नातिका बहन भी जा रही थीं। बद्रीपुर 400 एकड़ खेतों और 100 घरों का गाँव है, लेकिन कुछ परिवार यहाँ काफी सुखी और संस्कृत हैं। सत्येन्द्रजी की जाति कर्णवाल–अहलूवालिया (कलवार) के बीस घर गाँव के जमींदार हैं, जीविका अधिकतर बासमती की खेती और हाल में कुछ लीची के बगीचों से होती है। गाँव के 50 घर चमार तो सहस्राब्दियों से नरक भोगने के ही लिए बने हैं। नहर के किनारे पुरबिया मज़ूरों की कितनो ही झोंपड़ियाँ हैं। पुरबिया से मतलब–पूर्वी अवध से आए मजूरों का है। जान पड़ता है, उत्तरी भारत में पूर्वी यू. पी. और बिहार मजूरों की खान है। फीजी, मारिशस, ट्रिनीडाड, जमेका, सिंगापुर, रंगून से लेकर कलकत्ता, बम्बई, लाहौर, कराची तक यहाँ के लोग अपना जाँगर बेचते फिरते हैं। देहरादून में स्थानीय मजूर दुर्लभ और महँगे हैं, इसीलिए पुरबियों ने घर-बार के साथ अपनी झोंपड़ियाँ यहाँ डाल दी हैं।

सत्येन्द्रजी के तीन चचा हैं। तीनों की खेती-बारी एक साथ, लेकिन मकान और खाना अलग-अलग है। शायद पच्छिमी सभ्यता ने उन्हें इस तरह की व्यवस्था का भक्त बनाया। 3 चूल्हा करने में कितनी लकड़ी, कितना परिश्रम बढ़ जाता है, लेकिन इसके लिए रसोई करनेवालियों में व्यवस्था स्थापित करनी पड़ेगी, शायद वह मुश्किल होगी। सत्येन्द्रजी का घर गाँव में था, लेकिन वह गाँव का घर नहीं था। खूब पक्के, सीमेन्ट, ईंट, काँच, लोहे के अच्छे साफ-सुथरे मकान थे। बिजली लगा देने पर वह सोवियत के पंचायती गाँव के घर मालूम होते। घर के नर-नारी सभी शिक्षित और संस्कृत थे। शिक्षा हो, संस्कृति हो, पैसा हो, और फिर नर-नारी शरीर से परिश्रम करें। सत्येन्द्रजी के वाणप्रस्थी चाचा आर्यसमाजी होते हुए भी बहुत सुथरे विचार के हैं, और मैं समझता हूँ, कि घर की शिक्षा-संस्कृति में भी उनका ज्यादा हाथ रहा। मैं नहीं समझता, वह शिक्षा+संस्कृति+धन=कामचोरी–इस सूत्र को मानते होंगे। लेकिन मुझे वहाँ का वातावरण कुछ ऐसा ही मालूम हुआ। हर बात में शहर की अंधाधुंध नकल थी। ताजे ग्रामीण जीवन की सुगन्धि वहाँ नहीं दिखाई देती थी। स्त्रियाँ पढ़ी-लिखी थीं, और यह प्रशंसा की बात है कि खाना भी उन्होंने अपने हाथ से बनाया था–उस दिन उनके चचा के घर में एक महाभोज हुआ था। आँगन पक्का, खुला, हवादार था, जिसके एक कोने में खट्टे अंगूर की लता फैली हुई थी। उस परिवार के जीवन को देखकर मुझे खुशी न हुई हो, यह बात नहीं; लेकिन कामचोरपन से मुझे नफरत है। उससे बचने के लिए मैं अपना नुसखा पेश करता, तो लोग इसे पागलपन कहते। पुरुषों के सफेद कुरते और सफेद धोतियाँ फावड़ा चलाने के लिए नहीं थीं, वह अभिनवतम फैशन की साड़ियाँ घुटने-भर कीचड़ में घुसकर बासमती की पौद रोपने के लिए नहीं थीं, और मेरी चलती तो मैं उनसे यही कराता।

अगले दिन (28 जून) सवेरे हम टहलने के लिए निकले। दक्खिन ओर डेढ़ मील पर गढ़वाल की पुरानी राजधानी नवादा है। हम वहाँ तक नहीं पहुँच सके, पद्मसर तक गए, फिर वहाँ से घूमकर माजरी गाँव में गये। यहाँ एक नानकपंथी मठ है। मठ को ट्रस्ट के हाथ में दे दिया गया है, तो भी महन्त मनमाने खर्च के लिए मठ की जमीन को बर्बाद कर रहा है। लेकिन ट्रस्टियों के कानों पर जूँ तक नहीं रेंगती–हाँ, वह जमीन

को सीधे नहीं बेंचता, बल्कि बहुत कम शरह पर दायमी पट्टा लिख देता है। गाँव की ओर लौटते वक्त हमने बासमती के खेतों को देखा। यह धान की क्यारियों की तरह नहीं है, बल्कि रब्बी की तरह रोपने के वक्त उनकी मेड़ें ऊँची कर दी जाती हैं। खेतों की जमीन अच्छी है, और अच्छे खेतों में बीस मन प्रति एकड़ तक बासमती हो जाती है, जिसका दाम आजकल 400 रुपए होगा। लेकिन इससे अच्छी आमदनी तो गन्ने से हो सकती है, यानी एकड़ में हजार रुपए।

28 को ही हम देहरादून चले आए। अगला दिन हमने देहरादून के भिन्न-भिन्न स्कूलों और दूसरी संस्थाओं के देखने में लगाया। दून के पब्लिक स्कूल में वही लड़के पढ़ सकते हैं, जिनके माँ-बाप दो सौ रुपया महीना खर्च कर सकते हैं। कर्नल ब्राउन स्कूल में डेढ़ सौ रुपये से काम चल सकता है, ये स्कूल पक्का साहेब बनाने की टकसालें हैं। साहेब बनाना घाटे का सौदा नहीं है, क्योंकि बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियाँ उनके लिए सुलभ हो सकती हैं। डी. ए. वी. कालेज और महादेवी कन्या कालेज आर्यसमाज की शिक्षासंस्थाएँ हैं, जिनमें कालेज तक पढ़ाई होती है। सैनिक स्कूल के देखने की इच्छा तो मुझे नहीं थी, लेकिन फारेस्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट (जंगल अनुसन्धान प्रतिष्ठान) को देखना जरूर चाहता था, मगर वह आजकल बन्द था। आर्यसमाज में हिन्दी-प्रेमियों ने भाषण देने के लिए निमन्त्रित किया था। मैंने उनसे इस बात की अपील की, कि हिन्दी अभी आसमानी भाषा है, इसका धरती के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। बहुत-से आदमी इसे आठ-आठ दस-दस वर्ष लगाकर पढ़कर उस पर अधिकार प्राप्त करते हैं, और "हिन्दी हमारी मातृभाषा है" कहकर पोथे भी लिखते हैं। मैं भी पोथे लिखता हूँ, लेकिन मैं यह कसम खाने के लिए तैयार नहीं हूँ, कि हिन्दी मेरी मातृभाषा है। लेकिन अमातृभाषावाले लेखकों की भाषा में कृत्रिमता बहुत होती है। दुर्भाग्यवश हिन्दी के अधिकांश लेखक इसी कोटि के हैं। लेकिन हिन्दी की जड़ आकाश में नहीं पाताल में भी है, और वह है, चकरौता तहसील (जौनसार भावर) को छोड़ देहरादून का बाकी प्रदेश, बुलन्दशहर की गुलावठी तहसील, मेरठ-मुजफ्फरनगर-सहारनपुर के तीनों जिले—अर्थात् कुरु-देश। हिन्दी इसी कुरु-देश की मातृभाषा है। बहुत कम कुरुदेशी हिन्दी के लेखक हुए हैं, जो हैं भी, वह अमातृभाषावाले लेखकों की नकल करते हैं, और कोशिश नहीं करते कि कुरु के किसानों, मजूरों, कारीगरों की सजीव भाषा से लेकर हिन्दी को कुछ दें। मेरा विचार है, जब तक हिन्दी की जड़ कुरुभूमि की मिट्टी से जुड़ नहीं जाती, तब तक हिन्दी की कृत्रिमता दूर नहीं होगी।

मैं नहीं समझता, मेरी बातों को कितने श्रोताओं ने पसन्द किया होगा। 'वोल्गा से गंगा' की कितनी ही कहानियों को पढ़कर आर्यसमाजियों में काफी लोग मुझे बुरा-भला कहने लगे थे।

8

फिर कलम का चक्कर (1943 ई.)

पहिली जुलाई को आनन्दजी, सुशील और मैं देहरादून से हरिद्वार आये। स्टेशन पर गुरुकुल काँगड़ी के एक विद्यार्थी तथा पंडित भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे मौजूद थे। लोग पांडेजी के नाम की बड़ी शिकायत करते हैं। तारीफ यह कि इसमें मराठियों और गुजरातियों की तरह पिता का नाम मिलाया नहीं गया है, अगर मोटे टाइप में नाम को लिखकर साटा जाय, तो पांडेजी का शरीर भी उसके लिए काफी नहीं होगा। भगवान पांडे या वल्लभ पांडे काफी था, भगवान वल्लभ पांडे-भर भी गनीमत थी। और रामकिंकर वस्तुतः उनका कविता का उपनाम है, जिसे पांडे के बाद रखा जाता तो भी बोलनेवालों के लिए कुछ साँस लेने की फुर्सत मिलती। लेकिन एक साथ भगवान वल्लभ रामकिंकर पांडे कहना मुश्किल है, याद रखना तो उससे भी मुश्किल। पांडेजी संस्कृत के पंडित हैं, और हिन्दी के कवि भी। उनका स्वभाव बहुत अच्छा है, और विचार भी दकियानूसी नहीं हैं। हम लोगों को गुरुकुल काँगड़ी में जाना था, लेकिन पांडेजी की नगरी कनखल रास्ते में पड़ती थी। बिना

जलपान कराये वह कैसे जाने देते ? पहिले हम उनके घर गये, इसके बाद गुरुकुल काँगड़ी में प्रोफेसर केशवदेव के यहाँ ठहरे। गुरुकुल के वार्षिकोत्सव के समय आने का बहुत आग्रह हुआ था, लेकिन उस समय मैं नहीं आ सका था, अब अपने आप पहुँच गया था। यद्यपि यह संस्था प्राचीन वैदिकयुग को फिर से लाने के लिए स्थापित की गई है, लेकिन गुजरा जमाना फिर लौट के नहीं आता, इस बात को यहाँ के अधिकांश अध्यापक तथा प्रायः सभी तरुण मानते हैं, लेकिन गुरुकुल के संचालक बूढ़े अभी इस सच्चाई को समझने के लिए तैयार नहीं। 17 वर्ष पहिले जब मैंने इस संस्था को काँगड़ी गाँव की भूमि में देखा था, तब से अब बहुत परिवर्तन है। विद्यार्थी कुर्त्ता-पाजामा ही नहीं पहनते हैं, बल्कि नई बातों के सुनने और सीखने को भी तैयार रहते हैं। मैंने 'तिब्बत-यात्रा', 'सोवियत भूमि' आदि विषयों पर कई व्याख्यान दिये। एक दिन ज्वालापुर महाविद्यालय भी गया। लेकिन आचार्य हरदत्त शास्त्री उस वक्त वहाँ नहीं थे। दूसरे भाइयों ने बड़े स्नेह से अपनी संस्था को दिखलाया। यहाँ ज्यादातर प्राचीन ढंग से संस्कृत की पढ़ाई होती है। काँगड़ी गुरुकुल में अंग्रेजी तथा आधुनिक साइन्स के लिए भी काफी समय दिया जाता है। संस्कृत की पढ़ाई का–चाहे प्राचीन ढंग से हो या आधुनिक ढंग से–एक ही महत्त्व है, कि हम अपनी जाति के ऐतिहासिक विकास को समझें, यदि यह नहीं हुआ, तो वह सिर्फ तोतारटन्त है, और यदि उसका धर्म तथा साम्प्रदायिकता को मजबूत करने में उपयोग किया गया, तो यह व्यभिचार है।

काँगड़ी के अध्यापकों के हाते में मैं ठहरा था। वहाँ शायद 14 या 15 प्रोफेसर रहते थे, जिनमें अधिकांश पंजाबी थे। जिस तरह बंगालियों को सबसे पहिले मछली की फिकर होती है, उसी तरह पंजाबियों को दूध की। दूध शुद्ध मिलना चाहिए और कटोरी-लुटिया-भर नहीं, बाल्टी-भर। इसका यह परिणाम हुआ है कि वहाँ प्रायः हरेक घर में अच्छी जाति की भैंसे या गाएँ रखी गई हैं। इसको कोई बुरा नहीं कह सकता। आखिर सारे स्वास्थ्य शरीर के स्वास्थ्य पर निर्भर हैं। पंजाबी पत्नी कितनी प्रिय होती है, इसके लिए मैं राय देने का अधिकारी नहीं हूँ, लेकिन पंजाबी गृहस्थिनी के यहाँ मेहमान बनना बड़े ही सौभाग्य की बात है–हाँ, भोजनमात्रा की नाप को अपने हाथ में रखना होगा। प्रोफेसरों की स्त्रियों में भी कुछ तो ग्रेजुएट थीं, और शिक्षित तो सभी थीं। लेकिन उनके लिए क्या काम था ? दोनों शाम रोटी पकाकर खिलाना और हर साल एक की संख्या बढ़ाते बच्चों को सँभालना–बच्चों को सँभालना इतना आसान काम नहीं है। चाँटा-थप्पड़ तो हरेक माँ जानती है, और विश्वविद्यालय की ग्रेजुएट माताएँ इसमें शायद और आगे हैं, लेकिन पिटते हुए भी कितने ही बच्चे माँ को रुला देने में निपुण निकलते हैं। रोटी-पानी के बाद प्रोफेसरानियों का सबसे बड़ा काम है शिशुओं की देखभाल करना, इसके बाद फिर घर की गौओं और भैंसों को सँभालना। इनमें से किसी काम को बुरा नहीं समझता, लेकिन मैं यह समझने के लिए अपना सिर खपा रहा था कि इसमें विश्वविद्यालय, या कन्या महाविद्यालय की सोलह-सोलह साल की शिक्षा का कहाँ उपयोग है ? मुझसे कोई पूछता तो मैं कहता कि घर-घर की नरसरी तोड़कर एक शिशुशाला बनाओ, घर-घर की गाय-भैंसों के लिए एक गोशाला तैयार करो और घर-घर के चौके-चूल्हे को फोड़कर एक रसोई घर बनाओ। लेकिन इसका जवाब मिलेगा–शिशुशाला छोड़ बाकी चीजें तो वहाँ मौजूद ही हैं ? मौजूद ही हैं, तो लोग क्यों नहीं वहाँ खाने जाते, क्यों वहाँ से दूध नहीं लेते ? पत्नी के हाथ की रोटी मीठी होती है, तो 14, 15 पत्नियाँ ही बारी-बारी से हफ्ते-हफ्ते-भर के भोजन पका के दिया करें, कम से कम महीने में तीन हफ्ते तो उन्हें छुट्टी रहेगी। यदि इस पर भी किसी की जीभ नहीं मानती, तो लोहा लाल करके पास में रखना चाहिए। पशुशाला को तो वह और आसानी से कर सकते हैं, क्योंकि अपनी-अपनी भैंसें, गाएँ अपने प्रबन्ध में सामूहिक तौर से रखनी पड़ेंगी, इसलिए घाटे-नफे का कोई सवाल नहीं है। शिशुशाला को तो और सफलता से चलाया जा सकता है। बच्चे बहुत खुश रहेंगे, क्योंकि पंजाबी माँ का थप्पड़ भी जोरदार होता है। अगर एक हाते के भीतर पन्द्रह-सोलह परिवार न रहते होते तो शायद मैं इस सुझाव को नहीं पेश कर सकता।–पीछे मालूम हुआ, पन्द्रह, सोलह नहीं बत्तीस परिवार हैं, बत्तीस नहीं काँगड़ी गुरुकुल तो ऐसे स्थान पर है, उनके पास ऐसे साधन हैं कि यदि अपने दकियानूसी ख्यालों को छोड़कर आज वह किसी सरकारी विश्वविद्यालय से अपना सम्बन्ध जोड़ दें, तो वहाँ दो हजार विद्यार्थी जमा हो जाएँगे और प्रोफेसरों की संख्या

सैकड़ों पहुँच जायगी।

भगवानजी के साथ 3 जुलाई को हरद्वार गये। महन्त शान्तानाथ अब के साहित्य सम्मेलन के स्वागताध्यक्ष थे। उत्साही और विद्यानुरागी जीव हैं, मुझे अभी कुछ दिन और इधर रहना था, प्रूफ का काम खतम करके थोड़ा वर्षा हो जाने पर आगे बढ़ना चाहता था। उनका बहुत आग्रह हुआ कि मैं उनके यहाँ रहूँ। लेकिन जब तक मैं अपनी आँखों से देख न लूँ कि यहाँ सरस्वती के चरणों में लक्ष्मी उसी तरह नहीं पड़ी हुई है, जैसे कलकत्तेवाली महाकाली के चरणों में सदाशिव; तब तक लक्ष्मीवाहन से मुझे दूर ही रहना पसन्द आता है। श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर को देखा। महन्तजी ने यहाँ पुस्तकों का बहुत अच्छा संग्रह किया है। साथ ही अखबार पढ़नेवालों, पुस्तक पढ़नेवालों तथा अनुसन्धान करनेवालों के अनुकूल स्थान भी हैं। नीचे एक अच्छा व्याख्यान-भवन है। इस तरह के पुस्तकालय भारत में दुर्लभ हैं। महन्तजी पुस्तकालय की उन्नति की ओर बराबर ध्यान रखते हैं, और संस्कृत हिन्दी की नई पुस्तकें मँगवाते रहते हैं।

अन्त में यही ठीक हुआ, कि मैं भगवानजी के घर पर ही रहूँ। उन्होंने विश्वास दिलाया कि ज्यादा लोगों को सूचना नहीं होने पायेगी और मैं एकान्त में अपना लिखना-पढ़ना जारी रखूँगा। 6 को आनन्दजी और मैं हरद्वार गये–कनखल से हरद्वार 3 मील से ज्यादा नहीं होगा। भोजनोपरान्त हम लोग गंगा के ऊपर की ओर टहलते-टहलते बिल्कुल बाहर चले गये, और लकड़ियों के टाल के समीप पत्थर के चूने के चबूतरे के पास बैठे–स्थान गंगा के तट पर था। धीरे-धीरे मधूकरी लिये कितने ही साधू आये, वह भी भोजन करके बैठ गये। कुछ मद्रासी साधुओं ने आकर वहीं भात पकाया। वहाँ चर्चा थी, इस भोजन की, और उस भोजन की, इस क्षेत्र की और उस क्षेत्र की। हम देर तक कभी उनकी ओर देखते, कभी गंगा में बहते कनस्तरों के ठाट पर दूधवालों को जाते देखते।

शाम को ताँगा करके हम कनखल के लिए चले। कुछ ही दूर चलने पर दो आदमी जबर्दस्ती आकर ताँगे पर लद गये। आनन्दजी ने कहा, हम लोगों ने सारा ताँगा कनखल के लिए किया है। इस पर दोनों आगन्तुकों में से एक–जो पंजाबी पहलवान था–कहने लगा : तुम लोग उतर जाओ, यह हमारा ताँगा है। हम लोग तो चुप थे, लेकिन कुछ आदमी वहाँ जमा हो गये। उनमें से कुछ लोगों ने समझाना शुरू किया, तो पहलवान ने गाली निकाली। लोग भी उत्तेजित हो गये, और झगड़े का सारा सामान हो गया। ताँगावाला दूसरा ताँगा लाकर हाथ जोड़ने लगा। उसका ख्याल करके हमने ताँगे को छोड़ दिया। बहुत दिनों से नागरिक जीवन के दूसरे पहलू को मैं भूल गया था। नगर-कामचोर नागरिकों के अड्डे हैं, जब वे दूसरे की कमाई मुफ्त में खाते हैं, तो इनकी कमाई को भी दूसरा मुफ्त क्यों नहीं खायेगा। लड़कपन में मैंने बनारस में गुंडे देखे थे, यह भी देखा था कि वह कितनी तड़क-भड़क से रहते हैं। वह छोटे आदमियों को नहीं सताते थे। उनके यजमान थे, बड़े-बड़े सेठ और बाबू। सेठजी के यहाँ एक हजार की माँग आई, वह कैसे इनकार कर सकते थे। इनकार पर सरेबाजार सर पर जूता पड़ता। इसके लिए प्रधान गुंडे का आदमी एक तो जेल जाने नहीं पाता, क्योंकि कौन उसके खिलाफ गवाही देकर आफत मोल लेता। यदि जेल चला भी जाता तो उससे बिगड़ता क्या। मारनेवाले को इनाम मिलता ही। यह पहलवान भी उसी तरह का गुंडा था। उसका यह कहना ठीक ही था कि यह मेरा ताँगा है। ताँगेवाले की एक बार भी हिम्मत नहीं हुई, कि कहें यह मेरा ताँगा है। जब तक शहरों के ये कामचोर मौजूद हैं, और घूस-रिश्वत लेना कोतवालों और थानेदारों का पेशा है, तब तक गुंडे खतम कैसे हो सकते हैं?

प्रोफेसर नन्ददुलारे बाजपेयी के निबन्धसंग्रह 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' को पढ़ रहा था। मैंने उसके बारे में अपनी डायरी में लिखा–"बाजपेयी जी ने रत्नाकर तथा मैथिलीशरण गुप्त के बारे में जो विश्लेषण किया है, वह ठीक जँचता है। (बाजपेयीजी की) भाषा बहुत प्रभावशालिनी, भावों पर अध्ययन तथा विशाल दृष्टि की छाप है।"

(7 जुलाई) "प्रेमचन्द की आलोचना करते वक्त वह बहुत नीचे उतर आए हैं, और आलोचक नहीं व्यक्ति विवादी बन गए हैं। प्रेमचन्द के दोषों को खूब बढ़ा-चढ़ाकर दिखाना और गुणों के लिए भरसक एक शब्द भी न आने देना–इसी धारणा के साथ आलोचना लिखी गई है।"

यहाँ स्वामी चन्द्रशेखर गिरि से मुलाकात हुई। वह आजकल निरंजनी अखाड़ा के एक महन्त हैं। अखाड़ों के बारे में जब-तब मैंने कुछ बातें सुनी तो थीं, लेकिन मुझे उनके ढाँचे के अध्ययन का पर्याप्त मौका कभी नहीं मिला। गिरिजी से कुछ बातें जानकर मेरी दिलचस्पी और बढ़ी, फिर मैंने निर्वानी अखाड़े को नजदीक से अध्ययन करना चाहा। गिरिजी ने मदद दी, अखाड़ेवाले दूसरे साधुओं ने भी सहायता की, और मैंने "संन्यासी अखाड़े" के नाम से एक लेख लिख दिया। शताब्दियों के जनतन्त्रता भूल गए भारत में किस तरह अन्तर्प्रान्तीय जनतन्त्रता का संगठन हुआ, अखाड़े इसके अच्छे उदाहरण हैं। यद्यपि इधर उनमें कितने ही विकार आ गए हैं, किन्तु यदि नवीन जनतंत्रता के आदर्श को लेकर लोग उसमें पहुँचें, तो वह बहुत कुछ सुधार कर सकते हैं।

भगवानजी नियमपूर्वक रोज शंकर की बूटी को लिया करते हैं। 10 जुलाई को उनका आग्रह हुआ कि मैं भी थोड़ा लूँ। 1914 के बाद कभी मैंने भाँग नहीं पिया, लेकिन इधर मुझे यह निश्चय हो गया, कि वेदों का सोम, पश्तो का ओमु, पारसियों का होम, तिब्बतियों का सोमराजा यही भाँग है–तिब्बती और पश्तो दोनों के उपरोक्त शब्द भाँग के लिए इस्तेमाल होते हैं। मैंने सोचा, जरा सोम को फिर से पीकर देखना चाहिए, क्योंकि 29 साल की स्मृति से काम नहीं चल सकता। शाम को चवन्नी-भर सोम मैंने भी लिया, और बिल्कुल ऋषियों ही की तरह मधु-क्षीर के साथ। शाम के वक्त जब हम टहलने लगे, तो उसका प्रभाव पड़ने लगा। हम एक आम के बाग में पहुँचे थे। भगवानजी आम को छाँट-छाँटकर ले रहे थे। मुझे मालूम हो रहा था कि आमों के खरीदने में उन्होंने ढाई युग बिता दिए। पन्द्रह-बीस ही आम छाँटे होंगे कि मैंने कहा–"पर्याप्तमस्ति"। शिर के भीतर की मज्जा के परमाणु बड़ी द्रुत गति से चलते मालूम पड़ते थे। जान पड़ता है उसी के कारण थोड़ा काल भी अधिक मालूम होता था, छोटी-सी आवाज भी बड़ी सुनाई देती थी। बाहर से प्रसन्नमुख बने रहने को चेष्टा जरूर होती थी, किंतु स्वाद की पहिचान में बड़ी गड़बड़ी थी, और भोजन की मात्रा का तो पता ही नहीं लगता था। उसी वक्त मैंने अपने मस्तिष्क की अवस्था के बारे में आनन्दजी को कुछ लिखवाया था, संभव है, वह कागज अब भी उनके पास हो। सोम का तजर्बा हुआ, उसमें यह देखा, कि जिस मानसिक कार्य में मस्तिष्क के बहुत-से कोष्टकों की सहायता अपेक्षित होती है, वह काम भाँग पीकर नहीं किया जा सकता। विशृंखलित या एकाकी वृत्तियों से मौज-मेले का काम जरूर लिया जा सकता है। मेरी इस सम्मति पर भगवानजी को आपत्ति थी, लेकिन मैंने अपनी मानसिक अवस्था जैसी देखी, वैसी ही राय दी थी।

12 जुलाई को चिट्ठी मिली, जिससे मालूम हुआ कि लेनिनग्राद से तार आया है, जिसमें लोला ने लिखा है–"साथ रहना जरूरी है, लेनिनग्राद आओ, या हमारे भारत आने का इंतिजाम करो। बहुत चुम्बन" (Necessary to be together. Come to Leningrad or arrange our departure for India. Many kisses.)। पहिले मैंने पासपोर्ट नहीं लिया। उस वक्त लोला का पता-निशान नहीं था, लेकिन अब जाने के लिए चित्त उतावला हो पड़ा। हिन्दुस्तान एक बड़ा जेलखाना है, इसका तभी पता लग सकता है, जब यहाँ से बाहर जाने के लिए आप सीमान्त पर पहुँचते हैं, और सिपाही कहता–"जेलर का हुकुम ?" अभी पासपोर्ट की दर्खास्त देनी थी, न जाने कितने दिन लगेंगे।

19 जुलाई को प्रयाग के लिए रवाना हुआ। 21 को वहाँ पहुँचा। यहाँ कुछ प्रूफ का काम देखना था। यह देखकर प्रसन्नता हुई, कि उदयनारायण तिवारी ने अपने डाक्टरेट का निबंध (थेसिस) तैयार कर लिया है, अब टाइप करके उसे देना बाकी है। वह 8, 9 साल से बड़ी तत्परता के साथ भोजपुरी भाषा के अनुसंधान में लगे थे। शायद उन्होंने इस निबन्ध को कई साल पहले पूरा कर दिया होता, लेकिन उनका ध्यान जल्दी डाक्टर बनने की ओर उतना नहीं था, जितना अपने विषय के सांगोपांग अध्ययन की ओर, इसी के लिए उन्होंने पाली और हिन्दी-यूरोपीय भाषातत्त्व के दो-दो और एम. ए. किए।

26 को खबर उड़ी, कि मुसोलनी ने जगह खाली की, और बोदोगलियो इटली का प्रधान-मंत्री बना। फासिस्ट दुर्ग में दरार पड़ी। लालसेना भी आगे बढ़ती जा रही थी, और अब सिर्फ जाड़े में लालसेना के बढ़ने का सवाल नहीं था। 'प्रमाणवार्त्तिक स्ववृत्तिटीका' 6 साल से कम्पोज हुई पड़ी थी। 'स्ववृत्ति' के लुप्त अंश को भी मैंने

तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में कर दिया था, लेकिन अभी तक उसका प्रकाशक कोई ठीक नहीं हो सका था। बिहार रिसर्च सोसाइटी की ओर से छपनेवाली थी, वह नहीं हो सका। भारतीय विद्याभवन (बंबई) से बातचीत हुई थी, वहाँ भी ठीक नहीं हुआ। कलकत्ता विश्वविद्यालय से छपने की बात तय हुई थी, लेकिन कागज के झगड़े के मारे वह भी खटाई में रह गया। अंत में किताब महल के मालिक श्री श्रीनिवास अग्रवाल ने प्रकाशन की जिम्मेवारी ले ली, और अब मैं उससे निश्चिन्त हो गया।

1. बम्बई में (5 अगस्त-6 सितम्बर)

अब मुझे पासपोर्ट लेने की फिकर थी। 5 अगस्त को बम्बई के लिए रवाना हुआ। एक डब्बे में कुछ ज्यादा जगह थी, उसमें बैठते वक्त मैंने अपने दोस्तों से पूछा–यह डब्बा कट तो नहीं जायगा ? उन्होंने कहा–नहीं, लेकिन जबलपुर में वह डब्बा कट गया। बगल के डब्बे में घुसा, वहाँ बड़ी भीड़ थी। कुछ देर खड़ा रहा। आसपास के आदमी आरा के रहनेवाले थे। मैंने भी छपरा की बोली में बात करनी शुरू की। बोली का चमत्कार दिखाई पड़ा। मुझे बैठने के लिए जगह मिल गई, और पीछे तो सोने के लिए भी स्थान मिल गया। यह सब भाई बम्बई जा रहे थे। नौकरी करने के लिए नहीं, बल्कि जूता बनाने के लिए। मालूम हुआ, बंबई में हजार से ऊपर आरा के चमार भाई रहते हैं। खाने-पीने में भेद-भाव न देखकर और घनिष्ठता बढ़ी। यात्रा और बड़े आनन्द से कटी। वह महँगी की बात कह रहे थे। अनाज पिछले साल से और महँगा हो चला था, और कागज के रुपए को हाथ में आते देर लगती, पर खर्च होते पता नहीं चलता था। वह पछता रहे थे, कि हमने धरती को पहिले क्यों नहीं पकड़ा। पुरखों ने गलती की, उस समय धरती इतनी दुर्लभ नहीं थी। जिनके पास धरती है, आज वह खाने-पीने से निश्चिन्त हैं, हमारे पास भी धरती होती तो क्यों यह हालत होती। उनको क्या मालूम था, कि पुरखों को धरती मिलने में और मुश्किल थी, धरती मिल जाती, तो दो पैसे में हलवाही कौन करता ?

5 बजे शाम को गाड़ी विक्टोरिया टर्मिनस (बोरी बन्दर) पहुँची। मैं पार्टी आफिस में पहुँचा। बंबई में दो काम करना था–पासपोर्ट लेने के लिए कोशिश करना और 'नये भारत के नये नेता' के लिए कुछ और जीवनियों को संग्रह करना। जीवनी का काम तो उसी दिन से शुरू हो गया। मैंने इस पुस्तक में जितनी जीवनियाँ लिखीं उनके लिए चरितनायक से पूछकर उनके बाल्य से अब तक की जीवन-घटनाओं के लिए नोट लिये, शिक्षा-दीक्षा और वातावरण का पता लगाया। बारह-तेरह जीवनियाँ इन नोटों के सहारे में तैयार कर चुका था।

पासपोर्ट की दरख्वास्त पर किसी जे. पी. की दस्तखत करानी थी। साथी मीरजकर ने मदद की, और डाक्टर मालिनी सुखतन कर ने दस्तखत कर दिया। आफिस में जाने पर पता लगा कि इस पर पुलिस कमिश्नर की भी दस्तखत होनी चाहिए। हम उनके पास पहुँचे। मालूम हुआ, अभी बिहार सरकार से पूछ-पाछकर वह हस्ताक्षर करेंगे। 5, 6 दिन इसमें गए। 19 को बतलाया गया कि मेरी दरख्वास्त पासपोर्ट आफिस में भेज दी गई। पासपोर्ट इतनी जल्दी मिलनेवाला नहीं है, यह मैं अच्छी तरह जानता था। अभी उसे बंबई गवर्नमेंट देखेगी, फिर वह भारत सरकार के पास भेजेगी, और कितनी पूछ-ताँछ होगी। खैर, मैंने अपना काम खतम कर दिया था।

अब की बार अनाज ही की महँगाई नहीं देखी, बल्कि रेजकियों का भी बाजार में मिलना मुश्किल था। पैसे-इकन्नी-दुअन्नी की जगह डाकखाने के टिकट रखने पड़ते थे। जिसके पास पैसे आ जाते, वह एक-दो रुपए की रेजकी बराबर पास रखने की कोशिश करता था, न जाने किस वक्त कोई चीज खरीदनी पड़े। रेजकी पहिले ही कम थी और जब करोड़ों आदमी कुछ न कुछ रेजकी को अपने पास रख छोड़ना चाहते थे, तो उनका और भी अकाल क्यों न पड़े ?

'वार्त्तिकालंकार' (प्रमाणवार्त्तिक-भाष्य) को मैं 7 साल पहले तिब्बत से लिख लाया था। अभी तक उसके छपने का प्रबन्ध नहीं हो सका था। मुनि जिनविजय जी ने भारतीय विद्याभवन से प्रकाशित करने की इच्छा

प्रकट की, और मुझे इससे निश्चिन्तता हुई, यद्यपि झूठी ही। मैंने एक दर्जन से ज्यादा जीवनियों के यहाँ नोट लिये, और 7 सितंबर को वहाँ से प्रस्थान कर दिया।

2. प्रयाग में (8 सितम्बर–3 अक्तूबर)

8 सितम्बर को सवेरे मध्य प्रदेश से गाड़ी गुजर रही थी, वर्षा के दिन थे, चारों ओर हरियाली-हरियाली दिखाई देती थी। गाड़ियों में सिपाही भरे हुए थे। साधारण लोगों में सबसे ज्यादा चर्चा थी, कपड़े की महँगाई, अनाज की महँगाई, रेजकी का न मिलना आदि-आदि। सब यही चाह रहे थे, कि युद्ध जल्दी समाप्त हो। प्रयाग में मैंने प्रूफ देखने के अतिरिक्त 'नये भारत के नए नेता' के लिए जीवनियाँ भी लिखनी शुरू कीं। अभी और भी जीवनियाँ लेनी थीं। 26 सितम्बर को कानपुर में कवि-सम्मेलन का सभापति होकर जाना पड़ा। बंगाल में जिस तरह लाखों आदमी कीड़े-मकोड़े की मौत मर रहे थे, उसे सुनकर सारे भारत का हृदय विह्वल हो चुका था। कई कवियों ने बहुत करुणापूर्ण कविताएँ सुनाईं। साढ़े 11 बजे रात को कवि-सम्मेलन से छुट्टी ली। साथी युसुफ की जीवनी के लिए नोट लेने थे। 5 बजे रात तक मैं उनसे पूछ-पूछकर नोट लेता गया। यू. पी. के मजूरों का सबसे बड़ा नेता, युसुफ बिलकुल स्वनिर्मित पुरुष है। मजूर रहते उसने मजूरों के दुःखों को अनुभव किया। पठन और चिन्तन से उसकी आँखें खुलीं, और युसुफ ने वह रास्ता पकड़ा जिस पर वह आज भी चल रहा है। संतसिंह आज युसुफ हैं, लेकिन धर्म के लिए नहीं। जब पुलिस वारंट लिए उसके पीछे-पीछे फिरती थी, उसी वक्त उसने यह नाम बदला था।

स्टेशन पर एक-डेढ़ घंटा बैठे, फिर गाड़ी से दोपहर को प्रयाग पहुँचे। रात-भर सो नहीं सके थे, इसलिए (27 सितंबर) बाकी दिन सोते रहे। शाम को विश्वविद्यालय की हिन्दी-परिषद में *'प्रगतिशीलता'* पर व्याख्यान दिया। कुछ पुराने ढंग के साहित्यिक भी वहाँ आए थे। बहुत-से समझदार और ईमानदार पुरुष भी न जानने के कारण गलती में पड़ जाते हैं। मैंने बतलाया कि प्रगतिशीलता का यह मतलब नहीं है कि सूर, तुलसी, कालिदास और बाण दकियानूसी विचारवाले समझे जायें। वह सामन्तीयुग में पैदा हुए थे। उनकी कविता से सामन्त समाज की पुष्टि हुई थी, इसलिए उनकी कविताएँ गंगा में न बहा देनी चाहिए। महान् कवि चाहे किसी समाज और युग में पैदा हुए हों, वह हमेशा हमारे लिए महान् रहेंगे। जब तक उनकी कविता में यह शक्ति है, हमारे हृदय में वह कोमलता है, जिससे हर्ष के समय मुख उत्फुल्ल हो जाता है, विषाद के समय आँखें गीली हो जाती हैं, तब तक इन महाकवियों के लिए कोई खतरा नहीं। पुराने कवियों को त्याज्य कहने की बात प्रगतिशील नहीं, पागल करेगा। मैंने यह भी कहा, कि शायद इसे आप मेरा वैयक्तिक विचार समझते हों, लेकिन यह बात नहीं है। एन्गेल्स ने स्वयं प्रोफेसर डुइरिंग के इस मत का बड़े जोर से खण्डन किया था, कि गोयथे आदि महान कवियों की कृतियों को पाठ्यक्रम से निकाल देना चाहिए। एक साहित्यसेवी ने मेरे भाषण के बाद कहा, कि यदि प्रगतिशील लेखकों का हमारे अतीत के काव्य-निर्माण के प्रति यही भाव है, तो इससे हमें कोई विरोध नहीं है, दुनियाँ बदलने के लिए उनके साहित्यिक प्रयत्न के हम विरोधी नहीं।

3. अल्मोड़ा, पंजाब, कश्मीर में (4-30 अक्तूबर)

अपने 'नये भारत के नये नेता' के लिए मुझे अभी और कितनी ही जीवनियों की जरूरत थी। भारद्वाज भुवाली में थे, पन्तजी अल्मोड़ा में, और कितने ही चरितनायक पंजाब में। 4 अक्तूबर को मैं अल्मोड़ा के लिए रवाना हुआ। रास्ते में एक दिन के लिए लखनऊ में ठहरा। फिर छोटी लाइन की गाड़ी पकड़ी। भोजीपुरा में 7 के सबेरे को पहुँचा, वहाँ से दूसरी गाड़ी में बैठ काठगोदाम पहुँचा। काठगोदाम हिमालय के चरण में है। यहाँ से नैनीताल और अल्मोड़ा को लारियाँ जाती हैं। भुवाली और रानीखेत अल्मोड़ा के रास्ते में पड़ते हैं। मैं सीधे अल्मोड़ा गया। 7 बजे अल्मोड़ा पहुँचा। समुद्रतल से 3700 फीट ऊपर की जगह और अक्तूबर का प्रथम सप्ताह

बीत रहा था, इसलिए गर्मी का नाम नहीं था। उस दिन शाम को देखा कि सारे अल्मोड़ा के नर-नारी उदयशंकर-कलाकेन्द्र की ओर जा रहे हैं। आज वहाँ रामलीला होनेवाली थी। मैं अभी-अभी आकर एक होटल में उतरा था, इसलिए वहाँ जाने की इच्छा नहीं हुई। पं. सुमित्रानन्दन पन्त, उदयशंकर-केन्द्र में ही ठहरे थे। दूसरे दिन (8 अक्तूबर) मैं उनके पास गया। स्थान बहुत रमणीय है। यह देखकर अफसोस हुआ, कि उदयशंकर-कला केन्द्र को जैसी सहायता मिलनी चाहिए, वैसी नहीं मिल रही है। लक्ष्मी समुद्र के किनारे बसी है, और उदयशंकर ने अपना कलाकेन्द्र यहाँ हिमालय के एक कोने में स्थापित किया है, यह भी उसमें बाधा है, किन्तु इससे भी ज्यादा बाधा लक्ष्मीवाहनों की मूर्खता है। मैंने सुना कि किसी राजा साहब को दिखलाने के लिए कला-प्रदर्शन का आयोजन किया गया था। केरल के कथाकाली (मूकनृत्य) के एक महान् कलाकार का प्रदर्शन के समय ही देहान्त हो गया, और उसे बन्द करना पड़ा। राजा साहब ने इस शोकपूर्ण घटना का जिक्र भी नहीं किया, और उलाहना दिया, कि आपने हमें नृत्य नहीं दिखलाया। ऐसे राजाओं से क्या आशा हो सकती है ? शायद उदयशंकर भी अनुभव करने लगे, कि सेठों और राजाओं के बल पर उनकी कला का प्रसार नहीं हो सकेगा, इसलिए वह जनता की ओर अधिकाधिक झुकते जा रहे हैं। जब उन्हें पता लगा कि मैं आया हूँ, तो दोनों भाई वहाँ पहुँचे। कला का मुझे कोई परिचय नहीं है, लेकिन रसगुल्ले का परिचय न होने पर भी आदमी उसका स्वाद ले सकता है, बल्कि मैं तो कहूँगा कि रसगुल्ले की तारीफ तभी है, जब उसके बनाने की बारीकियों को न जानते भी आदमी उसमें अच्छा स्वाद अनुभव करे। मैंने पन्त की जीवनी के नोट लिए। श्री बोशी सेन और उनकी पत्नी (अमेरिकन) अल्मोड़ा ही में रहती हैं। 6 साल पहिले उन्होंने आने के लिए निमन्त्रण दिया था, लेकिन मैं उस समय नहीं आ सका। पास समय था, इसलिए मैं ढूँढ़ते-ढाँढ़ते उनके पास पहुँचा। सेन महाशय प्राणीशास्त्र के अनुसन्धान में लगे हुए हैं। इधर अपनी 'विश्व की रूपरेखा' लिखने के लिए मुझे साइन्स के कितने ही ग्रन्थों को पढ़ना पड़ा था, लेकिन साइन्स को जब तक प्रयोगशाला की सहायता से न पढ़ा जाय, तब तक न भली-भाँति ज्ञान होता है, और न पूरा आनन्द मिलता है। उस दिन उनकी विवेकानन्द-प्रयोगशाला के नये मकान का उद्घाटन हुआ था। मैं वहाँ पहुँचा। सेन-दम्पती बड़े स्नेह से मिले। उन्होंने प्रयोगशाला दिखलाई। यह जानकर उन्हें अफसोस हुआ, कि मैं कल ही यहाँ से जानेवाला हूँ।

रात को टहलते हुए मैं झीजाड़ मुहल्ले में पहुँचा। पूरनचन्द्र जोशी का जन्म यहीं हुआ था। जोशी के पिता पंडित हरनन्दन जोशी के चचा के पोते पंडित भोलादत्त पहिले स्टेशनमास्टर थे, अब उन्होंने एक दूकान कर ली थी। उन्हें जब मालूम हुआ कि मैं पूरन का दोस्त हूँ, और उस घर को देखना चाहता हूँ, जिसमें कि पूरन पैदा हुए थे, तो उन्होंने मुझे आत्मीय-सा समझा। अल्मोड़ा की ओर अभी साम्यवाद का संदेश नहीं पहुँचा है। यह आश्चर्य की बात है कि जिसने भारत के स्तालिन को पैदा किया, वहाँ लोग साम्यवाद के बारे में इतना कम जानते हैं। मैंने केरल और आंध्र के छोटे-छोटे गाँवों को देखा, जहाँ के नर-नारी जोशी को जानते ही नहीं हैं, बल्कि उसकी उँगली हिलाने पर प्राण देने को तैयार हैं। अल्मोड़ा अपने सपूत को जरूर जानेगा। पंडित भोलादत्त जोशी को राजनीति से कोई सम्पर्क नहीं। अखबार भी शायद ही पढ़ते हों। हाँ, इसकी भनक उनके कानों तक जरूर पहुँच चुकी थी, कि जोशी अब बड़ा आदमी हो गया है। कितना बड़ा आदमी, इसका उन्हें पता नहीं। वह नहीं जानते कि हिन्दुस्तान के सबसे सुसंगठित, सबसे अधिक अनुशासनबद्ध क्रान्ति-सेना का वह प्रधान सेनापति है। उन्होंने बार-बार कहा, पूरन को इधर आने के लिए कहिए। मैंने कहा—उसके ऊपर काम का बहुत बोझ है, मुझे सन्देह है, कि वह छुट्टी निकाल सकेगा। किन्तु मैं यह जरूर चाहूँगा कि वह अपनी पत्नी के साथ एक बार झीजाड़ की इस छोटी कोठरी को जरूर देख जाय, जिसमें मालती ने 36 वर्ष पहिले उसे जन्म दिया था। उन्होंने अभी नहीं सुना था, कि जोशी का ब्याह हो गया है। वह बहू के बारे में पूछने लगे। मैं कहा—कल्पना बंगालिन है, और उसने पिस्तौल तथा बम चलाने का जबर्दस्त अभ्यास किया था—मुर्दों पर नहीं, जिन्दों पर। फाँसी से बाल-बाल बची, और जन्म-कालापानी की सजा पाई। यह है तुम्हारे भाई की बहू—लेकिन बूढ़ी नहीं है। शायद वह भी तुम्हारे घर को देखना चाहेगी। फिर वह मुझे उस पुराने घर को दिखलाने ले गए। तीसरे तल्ले पर अब भी वह बड़ा रसोईघर है, जिसमें बहुत-सी क्यारियाँ खिंची

हुई हैं। और भी कितनी ही छोटी-छोटी कोठरियाँ देखीं। पुराने ढंग का घर है, इसलिए छतें नीची और दरवाजे छोटे हैं। मुझे विनम्र शिर से उनके भीतर जाना पड़ता था। मकान सौ वर्ष से क्या कम पुराना होगा ? परिवार के लोग नौकरीपेशा हैं, इसलिए ज्यादातर बाहर-बाहर रहते हैं, और मकान का बहुत-सा हिस्सा खाली पड़ा रहता है। 9 अक्तूबर को 12 बजे मैं भुवाली चला आया। रास्ते में रानीखेत में उतरकर सिर्फ चाय पी। भुवाली में तपेदिक के बीमारों के लिए एक अच्छा सेनिटोरियम है। यह गर्मी के सैलानियों का मौसम तो नहीं था, लेकिन सेनिटोरियम के कारण भेंट-मुलाकात करनेवाले यहाँ ज्यादा आया करते हैं। मैं अपना सामान लेकर होटल में गया। वह एक दरबे का डेढ़ रुपया माँगता था, और इसकी गारन्टी नहीं थी, कि वहाँ खटमल नहीं होंगे। मैंने एक धर्मशाला में अपना सामान रखा। घूमते वक्त यशपाल-दम्पती मिल गए। कुछ देर तक उनसे बात हुई। सेनिटोरियम के बारे में पता लगा, कि मिलनेवाले सवेरे साढ़े आठ बजे से ग्यारह बजे तक और शाम को चार बजे से छै बजे तक मिल सकते हैं। देवली के बाद आज भारद्वाज को देखा। शरीर पर काफी मांस चढ़ आया था, और देखने में वह स्वस्थ मालूम होते थे। लेकिन तपेदिक बड़ा धोखेबाज रोग है, अभी बहुत सावधानी रखने की जरूरत होगी। वह टहलने जाया करते थे। एक दिन ठोकर लगने से गिर पड़े, फिर कई दिन तक बुखार आता रहा। दूसरे दिन (10 अक्तूबर) मैंने जीवनी के नोट लिये। पहिली रात को खटमलों और पिस्सुओं न नाक में दम कर दिया : मैदान में मच्छर तंग करते हैं और पहाड़ों में खटमल-पिस्सू, बड़ी आफत है। लेकिन यह सब सफाई न रखने के कारण होता है। और दवा-दारू डाल के सफाई करना द्रव्यसाध्य काम है। खैर, दूसरे दिन जमाल किदवई मिले। उन्होंने भी रहने का आग्रह किया। कृषि-विभाग के एक अधिकारी मिले, रात को मैं उनके ही यहाँ रहा।

11 तारीख को मैंने फिर लारी पकड़ी। बरेली से सहारनपुरवाला रास्ता न पकड़ मैंने काठगोदमवाली छोटी लाईन की सड़क को ही चुना। बड़ी लाइन में बड़ी भीड़ भी होती है, इसका भी ख्याल था। काठगोदाम से बदायूँ होते हुए हाथरस। दिन होता तो उत्तर-पंचाल के इस भूखण्ड को ध्यान से देखता, लेकिन बरेली से पहिले ही रात हो चुकी थी। हाथरस में थोड़ा ठहरने के बाद दिल्लीवाला मेल मिला। डेवढ़े का टिकट था। भीड़ के कारण एक डब्बे को छोड़ा। तब तक गाड़ी ने सीटी दे दी। दूसरे दर्जे में बैठ गया, यहाँ सोने के लिए जगह भी मिली।

(क) दिल्ली में (12-13 अक्तूबर)—अगले दिन (12 अक्तूबर) दोपहर को गाड़ी दिल्ली पहुँची। पार्टी का पता मालूम था। ताँगा करके वहाँ दरियागंज में साथी यज्ञदत्त शर्मा के घंर पर पहुँचा। यज्ञदत्त पहिले एक कालेज में प्रोफेसर थे, लेकिन पार्टी का सेक्रेटरी होने के कारण उनको काफी समय नहीं मिलता था। नौकरी छोड़कर अब वह सारा समय पार्टी के काम में लगाते हैं। उनकी बीवी शिक्षिता तरुणी हैं। जानती हैं, हिन्दू के घर में जन्म हुआ, उनके लिए पति का अनुसरण करने के सिवा कोई रास्ता नहीं। यज्ञदत्त इस सिद्धांत को नहीं मानते, लेकिन उससे क्या ? खैर, इससे एक फायदा तो होता है, पत्नी सोचने के लिए मजबूर हैं : कम्युनिस्ट पार्टी में क्या बात है, क्या आदर्श है, जिसके लिए उसके पति ने आराम की जिन्दगी छोड़कर जेल और भुखमरी का रास्ता पकड़ा है। उस वक्त अभी वह अपने पति की बातों को समझ नहीं पाती थीं, लेकिन जब मैं दूसरी बार (19-23 फर्वरी) दिल्ली गया तो पत्नी में बहुत परिवर्तन पाया, अब उनका वह मुरझाया चेहरा नहीं रह गया था। छूत-छात तो नहीं रह गई थी, लेकिन मांस-मछली अंडे का नाम लेना अभी सह्य नहीं था। लेकिन छोटे बच्चे बिन्दु को मैंने अपना दोस्त बना लिया था। खाना खाने के लिए पास के मुसल्मान होटल में जाता था। बिन्दु ने कहा, मैं भी चलूँगा। पहिले तो कहा, मैं पैदल चलूँगा और उसने जूता भी नहीं पहिना। लेकिन रास्ते में पैर जलने लगे। उठाना पड़ा। जिस किसी चीज की ओर वह हाथ न बढ़ाए, इसलिए मैंने पहिले ही आइसक्रीम की बत्ती पकड़ा दी। होटल में गए। मांस और रोटी सामने आई। बिन्दु ने कहा—मैं भी खाऊँगा। बेचारा मांस के टुकड़े को तो नहीं खा सका, क्योंकि अभी आदत नहीं थी, लेकिन मांस-रस में दो-एक नेवाले तर किए। मिर्च ज्यादा थी, इसलिए ज्यादा खाने की हिम्मत नहीं हुई। था अभी तीन ही साल का, लेकिन सवाल जवाब खूब करता था। मैं वहाँ गया था, पासपोर्ट में कुछ जल्दी करवाने के लिए। टोट्नहमने फोन

से जवाब दिया, कि अभी पासपोर्ट हमारे पास नहीं आया। वैदेशिक विभाग के सहायक सेक्रेटरी कप्तान हसन ने कहा, कि पासपोर्ट आयेगा तो लिख-पढ़ के वह बम्बई भेज दिया जायगा। जब तक कोई बड़ा आदमी बीच में न पड़े तब तक सरकारी दफ्तरों पर क्या प्रभाव डाला जा सकता है ?

(ख) पंजाब के गाँवों में (14-17 अक्तूबर)–उसी दिन मैंने फ्राटियर मेल पकड़ा, और दूसरे दिन (15 अक्तूबर) साढ़े 8 बजे अमृतसर पहुँच गया। मुझे बाबा सोहनसिंह भकना और बाबा बसाखासिंह की जीवनियों के नोट लेने थे। बाजार-मुनारिया में इधर-उधर ढूँढ़ः, लेकिन देशभगत परिवार, सहायक कमेटी का पता नहीं लगा। फिर 'स्वतन्तर' का पता ढूँढ़ते-ढूँढ़ते पुतलीघर के पास डाक्टर बुरुबख्शसिंह के बँगले पर पहुँचा। न 'स्वतन्तर' मिले, और न डाक्टर साहब ही। लेकिन डाक्टर साहब की पत्नी सन्तकौर ने स्वागत किया। आज ही भकना जाना चाहता था, लेकिन ताँगा नहीं मिला। आज गुरुरामदास का जन्मदिन था। दर्बारसाहब में दीपमालिका जलाई जा रही थी। दर्शकों की बड़ी भीड़ थी। आखिर सिक्खों का यह सबसे पवित्र तीर्थ जो है। आस-पास की दर्शनीय चीजें घूम-घूमकर देखीं। यहाँ कम्युनिस्टों का काम अधिकतर किसानों में है, विद्यार्थियों में भी कुछ है, उन्होंने ताँगावालों की मजूर-सभा भी संगठित की है, स्त्रियों में कोई काम नहीं हुआ है। पूँजीपति तो परछाही से भी चिढ़ते हैं और शिक्षितवर्ग भी उदासीन है।

साथी रामसिंह कालामाला से सलाह हुई और उनके साथ पहिले बाबा बसाखासिंह के जन्मग्राम ददेर में जाने का निश्चय हुआ। 16 को सबेरे 6 बजे ही हम तरनतारन की गाड़ी में बैठे। तरनतारन भी सिक्खों का एक तीर्थ है, अच्छा-खासा कसबा और म्युनिसपैलटी है, लेकिन सड़कें और गलियाँ वैसी ही गन्दी हैं, जैसी कि और शहरों और कसबों की। हम लोगों ने डेढ़ रुपये में सिरहाली का ताँगा किया। सिरहाली में पुलिस का थाना है, और पास में किलानुमा सराय। पंजाब में अंग्रेजी शासन उसी तरह चला आ रहा है, जैसे 40 वर्ष पहिले था और गाँवों में थानेदार का रोब लाटसाहब से कम नहीं है। ताँगे से उतरकर हम लोग पैदल चले। सिरहाली बहुत बड़ा गाँव है, और सबसे बड़े मकान हिन्दू साहूकारों के हैं। 'कोमागातामारु' वाले बाबा गुरुदत्त सिंह की यही जन्मभूमि है। गाँव के बाहर निकलकर हम खेतों के रास्ते चले। यहाँ की भूमि बहुत ही उर्वर है। खेत उतने बड़े-बड़े नहीं हैं, बाकी सभी चीजें बड़ी-बड़ी हैं–भैंसें भी बड़ी, गाएँ भी बड़ी, औरतें भी बड़ी, मर्द भी बड़े। एक जगह मैंने हलवाहे को दो विशाल बैलों से हल जोतते देखा, वह बीच-बीच में गाना भी गा रहा था, और जब बैल कुछ मीठे पड़ते, तो उन्हें गालियाँ भी देता, बाद में फिर अपनी गीत की कड़ी को गाने लगता। पंजाब के साथियों ने पंजाबी में बहुत-सी कविताएँ की हैं। मैंने कलामाला से कहा–"साथी ! तुमने ऐसी भी कविताएँ बनाईं, जिनके गाने के लिए यह हलवाहे लालायित हों ?" "नहीं बनाई हैं।" यह मैं जानता था। पंजाबी कवि भी शिक्षित वर्ग के लिए कविता बनाना चाहते हैं, उनको यह ख्याल नहीं है कि उनकी कविता के प्रेमी इन गाँवों में भी रहते हैं। सिरहाली से ददेर तीन मील है। एक-डेढ़ घंटे में हम वहाँ पहुँच गए, बाबा बसाखासिंह ने देखते ही आ के झप्पी मार ली (कंठ से लगा लिया)। देवली से ही मैं बाबा को जानता था। कितना बच्चों का-सा सरल और स्निग्ध स्वभाव ! उन्हें अजातशत्रु कहा जा सकता है, यद्यपि वह जोंकों को हटाकर मजूरों-किसानों का राज कायम करना चाहते हैं। शत्रु भी उनका सम्मान करते हैं। उनका सारा जीवन कष्ट और तपस्या का है। वह जहाँ रहते हैं, वहाँ प्रेम की एक विस्तृत परिधि बन जाती है। अपने जन्मग्राम में बहुत कम संतों की प्रतिष्ठा होती है। तुलसी ने भी कह दिया–

"तुलसी तहाँ न जाइए, जहाँ जनम को ठाँव।
गुन औगुन जानै नहीं, धरै पाछिलो नाँव।"

लेकिन बाबा बसाखासिंह सन्त हैं, और अपने गाँव में भी उनकी वैसी ही प्रतिष्ठा है। भगवान के वह बड़े भक्त हैं, और मेरे ऐसे भगवान् का शत्रु मिलना मुश्किल है। लेकिन उनकी भक्ति में लोक-सेवा का बड़ा भाग है। कई सालों से वह तपेदिक के मरीज हैं। जेल से भी उन्हें मृतप्राय समझकर छोड़ा गया, लेकिन अब भी जब तक साँस है, तब तक वह अपना एक-एक क्षण जनसेवा में लगाना चाहते हैं।

मैंने बाबा की जीवनी का नोट लिया। समय ज्यादा नहीं था, इसलिए थोड़ा-बहुत ग्रामीण जीवन देखा।

दूसरे प्रान्तों से पंजाबी किसान ज्यादा सुखी है, इसके कई कारण हैं। यहाँ बड़े-बड़े जमींदार नहीं हैं, किसान अपने खेत का खुद मालिक होता है, आबादी भी बहुत घनी नहीं, इसलिए लोगों के पास काफी खेत होता है। पंजाबी किसान कूपमण्डूक नहीं होता। वह अपनी जीविका के लिए सातों समुद्र फाँद जाता है। वैसे युक्त प्रान्त और बिहार के लाखों आदमी समुन्दर फाँद गए हैं, मगर स्वतन्त्र मजदूर के तौर पर नहीं, बल्कि शर्तबन्द कुली के तौर पर, वह जहाँ गए वहीं बस गए। पंजाबी किसान स्वतन्त्र मजूरी करने के लिए कनाडा पहुँचा, युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचा, मैक्सिको, पनामा और अर्जन्तीन तक छा गया। साथ ही उसको अपने गाँव से प्रेम है, इसलिए घर में पैसा भेजता है, खुद भी आता है। बाबा बसाखासिंह भी मजूरी करने के ही लिए युक्तराष्ट्र अमेरिका पहुँचे थे। वहाँ उन्होंने अपनी खेती कर ली थी, लेकिन जब 1914 ई. में देश की आजादी की पुकार हुई, तो सब छोड़-छाड़कर भारत चले आए। तब से उनके जीवन का अधिक भाग जेलों, और नजरबन्दियों में बीता। उस दिन शाम को मैंने पहलवान बिशनसिंह को देखा। यह भी स्वतन्त्रता की लड़ाई में कालेपानी की सजा पाए थे। अब उनका शरीर 60 के करीब का होगा, लेकिन मन उसे देखने से थकता नहीं था। मैं भी काफी लंबा-चौड़ा हूँ, लेकिन मेरे जैसे तीन आदमी बिशनसिंह के शरीर से निकल सकते हैं। भावी भारत में हमारे यहाँ कैसे मर्द होने चाहिए, बिशनसिंह उसका एक नमूना है। उनकी चौड़ी छाती, उभड़े हुए कन्धे, शेर की तरह बड़े-बड़े पंजे अब भी बतला रहे थे, कि उस शरीर के भीतर कितना बल रहा है।

17 को फिर हम उसी रास्ते तरन-तारन आए और वहाँ से लारी पर ही बैठे अमृतसर पहुँच गए।

बाबा सोहनसिंह भकना भी अमृतसर में आ गए थे, उनकी जीवनी का नोट तो मैंने वहीं ले लिया, लेकिन वह मुझे अपने घर में ले गए बिना नहीं छोड़ना चाहते थे। 18 अक्तूबर को हम दोनों रेल से स्टेशन पर उतरे, और वहाँ से दो मील चलकर भकना पहुँचे। बाबा सोहनसिंह भी मजूरी करने अमेरिका पहुँचे थे, और एक बड़ी पैतृक सम्पत्ति को धर्म के नाम पर फूँक-फाँककर। अमेरिका में उन्हें मालूम हुआ, कि स्वतन्त्र देश में पैदा होने का क्या आनन्द होता है। उन्होंने वहाँ के हिन्दुस्तानियों में आजादी की रूह फूँकी, गदर पार्टी कायम की, जिसके वही प्रथम सभापति बनाए गए। आखिरी कुर्बानी करने के लिए वह 1914 में हिन्दुस्तान आए, और फाँसी के तख्ते से उतर अपने दूसरे साथियों की तरह अपने जीवन के अधिक भाग को जेलों में बिताया। देवली में मैं देखता था कि कमर टेढ़ी हो जाने पर भी बाबा कितना मेहनती विद्यार्थी अपने को साबित कर रहे हैं। बाबा की चार पीढ़ी से एक ही एक सन्तान होती आई थी, और अब उनके साथ वंश खतम हो रहा है—लेकिन इसे खतम होना नहीं कहना चाहिए, उन्होंने अपने को एक विशाल वंश में विलीन कर दिया। गाँव के भीतर का मकान उन्होंने कन्यापाठशाला के लिए दे दिया है, और रहने के लिए अपने खेत पर एक मकान बना लिया है। यह खेत भी वह पार्टी को लिख देने की सोच रहे थे। 5, 6 घंटा रहने के बाद फिर मैंने जाकर शाम की गाड़ी पकड़ी, और उसी दिन शाम को लाहौर पहुँच गया।

8, 9 वर्ष बाद मैं अब की बार लाहौर आया। लाहौर दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। मेरे विद्यार्थी-जीवन के समय यहाँ अंग्रेज कम्पनियों की बड़ी-बड़ी कोठियाँ नहीं थीं, लेकिन अब तो चौरंगी जैसे इमारतें दिखाई पड़ती हैं। मैं लाहौर गया था, कुछ जीवनियों के लिए। वह काम तो हो गया, फिर दोस्तों से मिलना-जुलना था। पंडित विश्वबन्धु शास्त्री ने वैदिककोष के जिस काम को अपने हाथ में लिया था, उसने बहुत विशाल रूप धारण किया है। वैदिक वाङ्मय का उनका अनुसंधान एक चिरस्मरणीय काम रहेगा। एम. ए. में उन्होंने इतने नम्बर पाए थे, जितने पंजाब यूनिवर्सिटी में उससे पहिले किसी को नहीं मिले थे। शास्त्री पास करने पर विलायत जाकर पढ़ने के लिए उन्हें छात्रवृत्ति मिल रही थी। वहाँ से लौटकर एक पक्के साहब बहादुर की तरह आराम का जीवन बिताते, बच्चे-बच्चियों से घर भरता, और भविष्य के लिए अपना सूत्र छोड़ जाते; लेकिन तरुणाई में ही उन्होंने इन सब चीजों पर लात मार दिया, अनुसन्धान और अध्ययन को अपने जीवन का ध्येय बनाया। अनुसन्धान ने उनकी दृष्टि को विस्तृत बनाया। उन्होंने अपने विचारों के सामने प्रतिष्ठा की पर्वाह नहीं की। वेद से उनके विचारों को डिगा देखकर आर्यसमाज में बहुत विरोध किया गया; लेकिन उन्होंने उसकी पर्वाह न की। मुझे यह प्रसन्नता हुई कि मेरे पुराने मित्रों में कम से कम एक तो ऐसे हैं, जिनका विकास अभी

तक रुका नहीं है, अर्थात् अभी वह सजीव हैं। 20 अक्तूबर को साथी बी. पी. एल. बेदी मुझे अपनी कुटिया में ले गए। माडल टाउन लाहौर से काफी दूर है। मध्यवर्ग की नई बस्ती है। वहाँ लोगों ने नए-नए सुन्दर घर बनवा लिये हैं, लेकिन बेदी की अपनी झोंपड़ी–फूस की दीवार फूस की छत की है। जमीन तो भाई की है, जिसने अपने फकीर अनुज और अनुज-वधू को झोंपड़ी खड़ी कर देने की इजाजत दे रखी है, इसी झोंपड़ी में बेदी और उनकी पत्नी फ्रेडा नववर्ष के लड़के रंगा के साथ रहते हैं। बेदी की जीवनी मैं 'नए भारत के नए नेता' में लिख चुका हूँ। दोनों आक्सफोर्ड के ग्रेजुएट हैं। लेकिन उन्होंने देशभक्ति के कंटकाकीर्ण पथ को अपनाया। बेदी भी देवली में रहे थे। फ्रेडा को मैं वहाँ नहीं देख सका। फ्रेडा सोलहों आना पंजाबिन बन गई हैं, कपड़े-लत्ते और खाने-पीने ही में नहीं; भावों और विचारों में भी। उनकी जेठानी आई. सी. एस. की बीवी शुद्ध पंजाबिन है, लेकिन सास जितनी अपनी अंग्रेज बहू को मानती है, उतनी बड़ी बहू को नहीं। जब आमदनी करने का रास्ता उन्होंने छोड़ दिया, तो खर्च कम करने का रास्ता भी निकालना ही चाहिए, और दोनों ने अपने जीवन को बहुत सरल कर लिया है। मैंने हँसते हुए फ्रेडा से कहा–लोला को भी मैं कुछ दिनों के लिए तुम्हारे पास छोड़ दूँगा, तुम उसे अपनी चेली बनाना और सब गुर बतला देना। उसने कहा–हाँ, जरूर। बेदी पंजाबी का बहुत सुन्दर वक्ता है। मैंने कहा, पंजाबी में कुछ लिखो। उसने हाँ कहा है। रंगा बाप की ही तरह बड़ी सुन्दर पंजाबी बोलता है, और अपने दर्जे के लड़कों का सरदार है। उसे ख्याल भी नहीं आता, कि वह पंजाबी छोड़ कुछ और है।

अगले दिन (21 अक्टूबर) लाहौर के साहित्यिकों ने मेरे स्वागत में एक चाय-पार्टी दी। पंजाबी, उर्दू, हिन्दी, अंग्रेजी के लेखक वहाँ जमा हुए थे। मैंने साहित्य के बारे में कुछ कहा। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप से भी मुलाकात हुई। अबकी बार मैं उनके यहाँ नहीं जा सका, उलाहना देना उचित था, लेकिन मैं तो अपने राजनीतिक विचारों के ख्याल से भी जाने में संकोच कर रहा था। अभी तक मैंने उनके चेहरे पर बुढ़ापा नहीं देखा था, लेकिन अब उसकी साफ छाप दिखाई पड़ रही थी।

(ग) कश्मीर में–शेरे-कश्मीर शेख अब्दुल्ला की जीवनी मुझे और लेनी थी, इसलिए मैं उसी (21) रात रावलपिंडी के लिए रवाना हुआ। आजकल की रेल-यात्रा में यदि खड़े होने-भर की जगह मिल जाए, तो भी बहुत है। लेकिन मुझे तो बैठने की जगह मिल गई थी। रात को रावलपिंडी पहुँच गया। रावलपिंडी से कश्मीर जानेवाली मोटर में एक सीट का 55 रुपया किराया पड़ता है, लेकिन आजकल लोग पहाड़ों से नीचे उतर रहे थे। अक्टूबर के अन्त में कौन पहाड़ पर जाता है ? लारी से जाने पर 10 रुपये और कम पड़ते, लेकिन रास्ते में दो दिन और बिताने पड़ते, इसलिए मैं 25 रुपया देकर मोटर में बैठा। पहिले कितनी दूर तक मैदानी इलाका था, फिर पहाड़ आया। मरी रास्ते से कुछ हटकर के ही है, लेकिन ड्राइवर सवारी के लिए वहाँ गया। शिमला मसूरी की तरह यह भी साहबों और मध्यवित्त लोगों की हवाखोरी की जगह है। सवारी कोई नहीं मिली, खैर, मैंने मरी देख ली। कई गलियाँ (डाँड़े) पार करके हम झेलम नदी की उपत्यका में आए। कुछ दूर तक सीमाप्रान्त में भी चलना पड़ा। फिर एक पुल पारकर कश्मीर रियासत में दाखिल हुए। दोमेल में चुंगीवालों ने चीजों की देख-भाल की, मेरे पास कोई चीज ही नहीं थी। आगे सफेदा और बीरी की पत्तियाँ पीली पड़ कर गिर रही थीं–जाड़ा आ गया था। रावलपिंडी से श्रीनगर 198 मील है। 33 मील रह जाने पर बारामुला आया। यह समुद्रतल से 5200 फीट (1 मील) ऊपर है। अब सड़क की दोनों तरफ सफेदे की पत्तियाँ थीं। कहीं-कहीं सफेदे काटे गए थे, लेकिन साथ ही नए पौधे भी लग गए थे। अब हम कश्मीर की विस्तृत उपत्यका में थे। आजकल तो खैर, चिनार की पत्तियाँ भी अंगारे जैसे लाल रंग को लेकर गिर रही थीं, इसलिए हरियाली का सौन्दर्य कहाँ दिखलाई पड़ता, लेकिन दो बार की गर्मी की यात्राओं में भी मैं अनुभव करता रहा, कि यहाँ के नंगे पहाड़ों में कौन-सा प्राकृतिक सौन्दर्य है, कि उसकी सुषमा वर्णन करते लोग नहीं थकते।

शाम को मैं श्रीनगर पहुँच गया। पता ढूँढ़ते-ढाँढ़ते ज़म्मू-कश्मीर राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स के हेडक्वाटर मुजाहिद-मंजिल में पहुँचा। फोन करने से पता लगा कि शेख साहब शहर ही में हैं। मुझे श्रीनगर में कुछ देखना, भालना नहीं था। पहिली दो यात्राओं में मैं उसे काफी देख चुका था। अगले दिन (23 अक्तूबर) शिकारा (छोटी

नाव) से मैं मीरा-कदल गया। शेख साहब से बातचीत हुई, उन्होंने अगले दिन अपने घर पर आने के लिए निमन्त्रित किया। इस वक्त लोग धड़ाधड़ नीचे जा रहे थे, मकान खाली हो रहे थे। बाँस-नौकाएँ बहुत सस्ते में मिल रही थीं, लेकिन जाड़े को बर्दाश्त करने के लिए यहाँ कौन तैयार था ? इस महँगी के जमाने में भी मीठी-मीठी नाँखें (नासपाती) बहुत सस्ती बिक रही थीं।

24 अक्तूबर को मैं शेख साहब के घर की ओर चला। उनका गाँव सौरा अब शहर का अंग बन गया है, लेकिन है 6 मील दूर। रास्ते में नौशेहरा पड़ा, इसे सुल्तान जैनुल आब्दीन ने अपनी राजधानी बनाया था। सौरा में दुशाला बनानेवाले कारीगर और किसान मजूर रहते हैं, खेत बहुत कम हैं। शेख अब्दुल्ला को बड़ी कठिनाई के साथ अपनी पढ़ाई जारी रखनी पड़ी। उन्होंने अलीगढ़ से एम. एस-सी. किया। छोटी-मोटी सरकारी नौकरी मिली थी, लेकिन जनता की गरीबी और अपमान को देखकर वह अपने को भूल गए, जनता के हक के लिए जरा भी जीभ हिलाने पर राज के कोपभाजन हुए। फिर उनका जीवन राजनीतिक संघर्ष का जीवन हो गया। सदियों से कायर समझे जानेवाले कश्मीरियों के भीतर उन्होंने रूह फूँक दी। राज्य ने गोलियाँ चलवाईं। लोगों को जेलों के भीतर ठूँसा, लेकिन इसका कोई फल नहीं हुआ। शेख ने पहिले अपना काम मुसल्मानों में शुरू किया था, लेकिन संघर्ष ने बतला दिया, कि सभी कमेरों के दुःख एक-से हैं। आज वह कश्मीर रियासत के हिन्दू-मुसल्मानों के प्रिय नेता हैं।

अजय घोष बारामूला में थे, इसलिए 25 अक्तूबर को मुझे भी आकर वहीं ठहरना पड़ा। महमूद की बीवी डाक्टर रशीदा भी आजकल यहीं थी। मुझे अजय की जीवनी के नोट लेने थे, बस इतने ही भर के लिए वहाँ उतरा था। 26 को देखा कि रावलपिंडी जानेवाली लारी का मिलना मुश्किल है, इसलिए अबटाबादवाली लारी पकड़ी। ड्राइवर पठान था, और बहुत अच्छा आदमी था। दोमेल के पुल से सड़क अलग हुई, और हम मुजफ्फराबाद (2200 फीट) होते शाम को रामकोट (2578 फीट) पहुँचे। यहीं सीमाप्रान्त और कश्मीर का सरहद हैं। अब हम हजारा जिले में प्रविष्ट हुए। कुन्हार नदी के किनारे गढ़ी हबीबुल्ला अच्छी बस्ती है। इधर कुछ दूर तक पहाड़ों में हमें जंगल नहीं मिला था, लेकिन आगे चढ़ाई आई, पहाड़ चीड़ के जंगल से ढँका था। अब रात हो गई थी। मनसहरा में हमें ठहर जाना पड़ा। होटल में खाने और ठहरने का इन्तिजाम हो गया। जब दाम सस्ता है, तो मकान की सजावट और सफाई के देखने की जरूरत नहीं।

दूसरे दिन (27 अक्तूबर) हम सवेरे ही एबटाबाद पहुँच गए। वहाँ से दूसरी लारी मिली, और उतराई ही उतराई उतरते हवेलियाँ पहुँच गए।

यहाँ से रावलपिंडी रेल भी जाती है, लेकिन मैंने लारी से ही जाना पसन्द किया। अब मैदानी जमीन थी। इधर के इलाकों में दूसरी जगहों की अपेक्षा फलों का ज्यादा शौक है। हरीपुर के बाहर बहुत-से बगीचे थे, और अब तो हमारे अमरूद भी वहाँ पहुँच गए हैं। हसनअब्दाल (पंजा साहेब) पहुँचकर हमने हवड़ा-पेशावर वाली बड़ी सड़क पकड़ी। लारी में खूब भीड़ थी। जगह-जगह फौजें खड़ी हुई थीं, और फौजी कारें तथा लारियाँ इधर-उधर दौड़ रही थीं। तक्षशिला बगल में छूट गई। दोपहर बाद हम रावलपिंडी पहुँच गए, और तीन बजे की गाड़ी पकड़कर दिन ही दिन में लाहौर। आज दीवाली थी, लेकिन चिराग बहुत कम घरों में जलाया गया था। देश के बड़े-बड़े नेता जब जेलों में सड़ रहे थे, तो कोई कैसे दिल खोलकर दिवाली मनाता ?

29 अक्तूबर की शाम को प्रयाग के लिए रवाना हुआ, और लखनऊ में गाड़ी बदलकर 31 अक्तूबर के सूर्योदय के पहिले ही प्रयाग पहुँच गया।

4. प्रयाग में (31 अक्तूबर–9 दिसम्बर)

मुझे सबसे पहिले 'नए भारत के नए नेता' को खतम करना था। इसके लिए प्रयाग में जम जाना पड़ा। इसे लिखते प्रूफ भी देखता रहता था। 20, 21 नवम्बर को कानपुर में प्रगतिशील लेखक संघ में भी जाना पड़ा। प्रेस का काम भी बहुत झंझट का होता है, दूसरे पेशेवालों की तरह प्रेसवाले भी मुश्किल ही से कोई काम वायदे

पर करते हैं। 'नए भारत के नए नेता' में मैंने 42 जीवनियाँ दीं, नवम्बर के भीतर ही पुस्तक के छप जाने की उम्मेद थी, लेकिन 10 को जब मैं बनारस के लिए रवाना हुआ, तो दो जीवनियाँ अभी बाकी ही थीं। बनारस में 4 दिन रहा। दोस्तों से जहाँ-तहाँ मिलता रहा। लड़ाई के बारे में लोग बहुत बातें करते थे। पहिले जब मैं सोवियत की अपराजेयता के बारे में कहता, तो लोग अन्यमनस्क होकर सुनते, लेकिन अब सोवियत की विजय उनके सामने थी। स्तालिनग्राद में लालसेना ने जर्मन फौजों को जो जबर्दस्त शिकस्त दी, उसके बाद उसने शत्रु को साँस लेने नहीं दिया। सारा साल लालसेना की विजय का साल रहा।

15 दिसम्बर को 11 बजे दिन की गाड़ी पकड़ी। पहिले तो जगह अच्छी कुशादा मिली। सारनाथ से भरने लगी, औंड़िहार में और भरी, गाजीपुर में भीड़ हो गई, बलिया में धक्कमधक्का, और छपरा में पहुँचकर यह हालत हुई, कि कचहरी स्टेशन जाने का ख्याल छोड़ दिया, और यहीं उतरकर रिक्शा से पं. गोरखनाथ त्रिवेदी के घर गया।

कालेज हो जाने पर छपरा में कुछ बौद्धिक परिवर्तन जरूर आया है, यह विद्यार्थियों ही के कारण। वैसे सैकड़ों ग्रेजुएट वकील तो पहिले ही छपरा में रहते थे, लेकिन वकालत का पेशा बहुत हृदयहीन पेशा है। आज के समाज में उसकी बहुत जरूरत है, क्योंकि विशाल वैयक्तिक सम्पत्ति की रक्षा का भार उसे ही सँभालना पड़ता है। लेकिन वस्तुतः वह प्रतिभाओं के कबरीस्तान बनने का ही काम देता है। विद्यार्थियों को पता लगा, तो वह आने लगे, और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय और साहित्य नाना विषयों पर बात चलती रहती। मैंने अपने 'दर्शन-दिग्दर्शन' में लिखा है, कि हमारे न्याय-वैशेषिक ने बहुत-सी बातें यूनानी दार्शनिकों से ली हैं, इसी विषय को लेकर मैं कालेज के विद्यार्थियों के सामने बोला। शायद पच्चीस वर्ष पहिले बोलने पर इसका बहुत विरोध होता, क्योंकि शताब्दी के आरम्भ में भारत में जो नवजागरण हुआ, उसका एक अर्थ यह भी लिया जाता था कि भारत ने सदा दुनिया को सिखाया है, उसने किसी से कुछ सीखा नहीं है। लेकिन यहाँ विरोध में क्षीण आवाज उठी, और वह भी इस गलत भाव को लेकर कि गोया मैं सारे दर्शन को यूनान की देन मानता हूँ। मैं तो इतना ही कहता था, कि भारत और यूनान में दर्शन के सम्बन्ध में काफी दान-आदान हुआ है।

18 को पटना चला गया। अगले दिन वहाँ अन्न-समस्या के बारे में एक विराट् सभा हुई, जिसमें 9 हजार आदमी एकत्रित हुए थे। साल-भर पहिले जब कम्युनिस्ट साथियों ने अन्न, कपड़े आदि रोज-रोज की समस्याओं को लेकर नागरिकों में काम करना शुरू किया, तो लोग यही समझते थे, कि कुछ होना-हवाना नहीं है, नाहक ही ये नौजवान अपना समय बर्बाद कर रहे हैं। लेकिन आज नौजवानों के सभी प्रशंसक थे। लीग, कांग्रेस, हिन्दू सभा सभी विचारों के लोग एकत्रित हुए थे। उनकी माँग और उनकी आवाज इतनी हल्की नहीं थी, कि सरकार उसकी उपेक्षा करती। लोगों में आत्मविश्वास था। एक दिन शामबहादुर बाबू के पास मिलने गया। मैं जब जायसवालजी के यहाँ जाड़ों में आया करता था, तो श्यामबाबू से रोज ही मुलाकात हो जाया करती थी। बड़े सरल सज्जन आदमी हैं। 10 वर्षों के भीतर ही कितना परिवर्तन हो गया। बुढ़ापे और प्रमेह ने मिलकर उन्हें सौ वर्ष का बुड्ढा बना दिया। जिन्दगी से बेजार थे। बाग में फले आम की किसी दिन टपकने की बारी आती है। उमर ढलने के साथ आदमी का ध्यान ज्यादातर अपने समवयस्कों या वृद्धों की ओर जाता है, और वह उनमें से किसी को आज, किसी को कल टपकते देखता है; इसीलिए उसे मानव-जीवन के एक ही पहलू का ख्याल होता है, जिससे सिर्फ निराशा ही निराशा बारहों मास नई-नई दिखाई पड़ती है। लेकिन, मानव-उद्यान में सिर्फ पीले पड़कर टपकनेवाले आम ही नहीं होते, बल्कि बारहों मास नई-नई मंजरियाँ और नई-नई बौरियाँ लगा करती हैं। यदि आदमी उधर ध्यान देता, तो अधिक आशावादी बनता। लेकिन यह तभी हो सकता है, जबकि आदमी अपने से पीछे आनेवालों का बाप-दादा बनने का ख्याल छोड़ उनके साथ अभिन्न सौहार्द, सहृदयता स्थापित करे।

छपरा होते 25 को बनारस लौट आया। इस साल ओरियन्टल कान्फ्रेन्स (प्राच्य परिषद्) यहीं हिन्दू विश्वविद्यालय में होनेवाली थी, इसलिए तब तक यहीं ठहरने का विचार हुआ। भिक्षु जगदीश काश्यप की कुटिया हिन्दू विश्वविद्यालय ही में थी, इसलिए रहने का अच्छा ठौर था। सामने पंडित सुखलालजी रह रहे थे। वहाँ

गुजराती जैन भोजन का सुन्दर प्रबन्ध था। किताब लिखने या प्रूफ देखने का झगड़ा-झंझट नहीं था, इसलिए कथा-गोष्ठी ही कालक्षेप के लिए अच्छा साधन थी। मुनि जिनविजयजी आजकल यहीं ठहरे हुए थे। काश्यपजी को चीन जाने का बुलावा आया था, लेकिन वह जाने में आनाकानी कर रहे थे। कभी कहते कि वहाँ जापानियों के बम गिर रहे हैं, कभी कोई दूसरा बहाना करते। मैंने बहुत समझाया कि ऐसे मौके से फायदा उठाओ, लेकिन मुझे विश्वास नहीं कि महादेव बाबा हिले-डुलेंगे। सारनाथ आने-जाने के लिए अपनी योजना के अनुसार उन्होंने एक रिक्शा बनवाया था, जिसमें बैठने की जगह को जान-बूझकर एक तिहाई कम करवा दिया था। यह मुटाई कम करने के लिए नहीं हो सकता था, शायद कोई दूसरा साथ न बैठ जावे, यही ख्याल काम कर रहा हो, लेकिन बड़े रिक्शा में भी बहुत ही कम आदमी उनके साथ बैठने के लिए तैयार होंगे। और रिक्शा के दोनों किनारों को इतना ऊँचा कर दिया था कि यदि कोई दुर्घटना हो, तो आदमी कूदकर भाग भी न सके। काश्यपजी दार्शनिक हैं, और दार्शनिक के लिए सब सम्भव है, लेकिन मेरी व्यवहार-बुद्धि उसे समझ की बात नहीं समझ रही थी।

एक दिन अस्सी पर मैं पंडित जयचन्द्र विद्यालंकार की पत्नी शास्त्रिणी सुमित्रा देवी से मिलने गया। अभी बैठा ही था, कि पुलिस का आदमी आ धमका। उसने नाम-ग्राम पूछना शुरू किया। लेकिन मैं तो नामी चोर था, इसलिए बतलाने में हिचकिचाहट क्या होती। हाँ, यह जरूर मालूम हुआ कि पुलिस इस घर को फँसाने की वंशी के तौर पर इस्तेमाल कर रही है।

30 दिसम्बर से प्राच्य परिषद् के लिए विद्वान आने लगे। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी, डाक्टर सुकुमार सेन और कितने ही दूसरे विद्वानों से मुलाकात हुई। 31 को सयाजी पुस्तकालय के विशाल हाल में 12वीं प्राच्य परिषद् जुटी। सर राधाकृष्णन सुवक्ता हैं, इसमें कौन सन्देह कर सकता है; लेकिन साथ ही हिन्दुओं की लकीर पीटना भी उनके स्वभाव में है, वह इसी तरह से अनाप-शनाप बोल गये। इसके बाद दरभंगा के महाराजाधिराज ने अपनी लिखित वक्तृता पढ़कर परिषद् का उद्घाटन किया। लक्ष्मीवाहन होने के सिवा उनमें और कौन गुण था, कि विशेषज्ञ विद्वानों की इस परिषद् के उद्घाटन का भार उनके ऊपर दिया गया। भारत के वर्णाश्रम-धर्म की महिमा का उन्होंने खूब गायन किया। लोग सुनते नहीं, तो क्या करते। शाम को संस्कृत नाटक का अभिनय हो रहा था, उसी वक्त पता लगा कि महामहोपाध्याय पंडित बालकृष्ण मिश्र का आज देहान्त हो गया—संस्कृत का एक अद्वितीय पंडित चल बसा।

पहिली जनवरी 1944 को परिषद् के भिन्न-भिन्न उपविभागों की बैठकें होती रहीं। डाक्टर अलटेकर ने एक लेख पढ़ा, जिसमें कुषाणों के हाथ से मध्यदेश के मुक्त कराने का श्रेय गुप्तों को नहीं, यौधेयों को है, यह उन्होंने प्रतिपादित किया। 'वोल्गा से गंगा' लिखते वक्त जब मैंने 'सुपर्ण यौधेय' नामक कहानी लिखी थी, उसी समय से दिमाग में यह ख्याल चक्कर काट रहा था कि भारत के अन्तिम महाशक्तिशाली यौधेयगण के ऊपर एक उपन्यास लिखूँ, अब उसके लिखने का विचार और दृढ़ हो गया।

9

पासपोर्ट के चक्कर में (1944 ई.)

3 जनवरी को मैं प्रयाग पहुँचा। बम्बई के पत्र से मालूम हुआ, कि सरकार ने पासपोर्ट दे दिया है। 7 को मैं बम्बई पहुँचा। पूछने पर मालूम हुआ कि सरकार ने अफगानिस्तान के रास्ते नहीं, सिर्फ ईरान के रास्ते दिया है, और साथ ही यह भी शर्त लगा दी, कि जब तक ईरान और सोवियत के वीसा नहीं मिल जाते, तब तक पासपोर्ट को इस्तेमाल नहीं किया जा सकता (**Not available for the Union of Soviet socialist Republics and Iran without visas from the respective consul offices.**)

यह पासपोर्ट देना नहीं, खेल करना था। सोवियत का कौन्सल हिन्दुस्तान में नहीं है, इसलिए यहाँ रहते वीसा कैसे मिलता ? ईरान में सोवियत का कौन्सल है, और बम्बई में ईरान का कौन्सल रहता है, लेकिन उसको लिखा दिया गया था कि सोवियत का वीसा देखे बिना ईरान का वीसा मत दो। आखिर इसका क्या मतलब ? इससे तो पासपोर्ट का देना और न देना बराबर हुआ। सरकार ने अफगानिस्तान के रास्ते वीसा शायद इसीलिए नहीं दिया, कि वह ईरान की तरह उसकी मुट्ठी में नहीं है। सरकार की नियत का पता लग गया। बीवी-बच्चे से मिलने के लिए एक मित्र-देश में जाने देने से इनकार कर वह दुनिया में बदनाम नहीं होना चाहती, साथ ही वह चाहती है, कि मैं हिन्दुस्तान से बाहर न निकल सकूँ। 13 जनवरी को मैंने भारत सरकार के पास चिट्ठी लिखी कि पासपोर्ट देने के लिए जो शर्तें लगाई हैं, उनके साथ मैं सोवियत न जा सकूँगा, इसलिए मुझे अफगानिस्तान के रास्त जाने की इजाजत दें, या ईरानी वीसा लेने में सोवियत वीसा को पहिले ले लेने की शर्त न पेश करे। चार महीने के बाद तो यह पासपोर्ट मिला था। उसमें यह शोशा लगाने का मतलब था, फिर लिखा-पढ़ी में कुछ महीने ख़राब करने !

1. ग्वालियर में–(15-18 जनवरी)

पिछले साल भी विक्टोरिया कालेज ग्वालियर की छात्रपरिषद् ने मुझे सभापति होने के लिए निमन्त्रित किया था। तब तो नहीं जा सका था, लेकिन अब की जाना स्वीकार कर लिया था। 14 जनवरी को पंजाब मेल पकड़ा। अगले दिन शाम को 5 बजे गाड़ी स्टेशन पर पहुँची। 'सुमन' जी और कितने ही छात्रों के साथ प्रिंसिपल पियर्स मिले। पियर्स महाशय के नाम से मैं पहिले भी परिचित था। वह सीलोन में भी रहे थे, लेकिन इसके पहिले मुझे उनका दर्शन नहीं हुआ था। यह मुझे मालूम था कि वह उन अंग्रेजों में से हैं, जो भारतीयों के साथ भेद-भाव रखने के विरोधी हैं। उन्होंने तो एक भारतीय महिला से ब्याह करके इसका क्रियात्मक परिचय दिया है। कितनी ही देर तक हमारी बात होती रही। रात को कवि-सम्मेलन हुआ, 'नेपाली', 'सुमन' तथा कितने ही दूसरे कवियों ने कविता-पाठ किया। श्रोताओं ने बड़ी दिलचस्पी के साथ सुना। मैं होस्टल में ठहरा था, और विद्यार्थी मेरे समय का जितना भी इस्तेमाल कर सकें, मैं उसमें बाधा नहीं डालना चाहता था। दिन-भर किसी न किसी विषय पर चर्चा छिड़ी रहती। सन्ध्या को छात्रपरिषद् (कालेज यूनियन) का वार्षिक अधिवेशन था। छात्रों में पारितोषिक-वितरण का काम मुझे करना पड़ा, उसके बाद कुछ बोलना भी पड़ा। फिर चाय-पान और कुछ मनोविनोद के प्रोग्राम रहे। कोई अशिष्ट मजाक नहीं था, लेकिन कुछ सज्जनों ने एकाध मजाक को पसन्द नहीं किया। आखिर हम संक्रान्ति युग में हैं, जहाँ अतीत और वर्तमान के दो-दो मानदंड मौजूद हैं। अतीत के मानदंड का कुछ बातों में विरोध हो, यह स्वाभाविक है। रात के वक्त फिर कालेज हाल में सभा हुई, और 'सांस्कृतिक एकता' पर बहुत-से व्याख्याताओं ने अपने विचार प्रकट किये, मैंने भी कुछ कहा।

17 जनवरी को ग्वालियर के दर्शनीय स्थानों को देखना था। पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष गर्दे महाशय और प्रिंसिपल पियर्स साथ लेकर दिखाने को चले। ग्वालियर (गोपगिरि) का किला बहुत पुराना है। 8वीं 9वीं सदी में भी यहाँ किसी सामंत की राजधानी थी। किला पहाड़ के ऊपर बहुत ही सुरक्षित स्थान पर है। चित्तौड़ की तरह यहाँ भी बहुत-से प्राचीन मंदिर हैं, यद्यपि उस समय की मूर्तियाँ तोड़-ताड़कर फेंकी जा चुकी हैं। तेली का मन्दिर वास्तुकला और मूर्तिकला दोनों की दृष्टि से बहुत सुन्दर है। शायद यह नवीं शताब्दी का है, और चालुक्य वंशी द्वितीय तैलप का बनवाया है, लेकिन तब इसका समय 10वीं सदी होगा। तैलप ने भोज के चचा मुंज को पराजित किया था, और उसी ने राष्ट्रकूट-वंश के अंतिम राजा द्वितीय कर्क को पराजित करके उस वंश का उच्छेद किया था। यहाँ मूर्तियाँ सिर्फ दीवारों में बच रही हैं, और सभी अंग-भंग हैं। मन्दिर में अब कोई मूर्ति नहीं है। सास-बहू का मन्दिर वास्तुकला की दृष्टि से अच्छा है, लेकिन तैलप मन्दिर के टक्कर का नहीं। वहाँ से हम राजा मानसिंह के महल को देखने गये। इसे 15वीं सदी में ग्वालियर के इस स्वतन्त्र राजा ने बनवाया था। अकबर और जहाँगीर के मकानों को देखने से भी मालूम होता है कि उनमें आज के मकानों की तरह हवा, रोशनी का इन्तिजाम नहीं था। यहाँ की रानियों की कोठरियाँ तो काल-कोठरी-सी मालूम होती

हैं। वैसे वास्तुकला बुरी नहीं। नीचे उतरकर पुराने ग्वालियर में होते म्युजियम गये। यह एक पुराने महल में अवस्थित है, और गर्देजी के अथक परिश्रम का प्रमाण है। संग्रह थोड़ा, लेकिन बहुत अच्छा है। उन्हें क्रम से रखने में बहुत कौशल दिखलाया गया है। रात को ग्वालियर रियासत छात्र-संघ का अधिवेशन था। साम्यवाद का रियासत के छात्रों पर प्रभाव है, किसान-सभा पर प्रभाव है, मजदूरों पर भी उसका प्रभाव है। भला, यह कैसे हो सकता था कि साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को सभी लाग पसन्द करें। प्रबन्धक अच्छी तरह समझ सकते थे कि कुछ विरोधी गड़बड़ करने को तैयार हैं। अधिवेशन शुरू हुआ, मैंने व्याख्यान दिया, कोई कुछ नहीं बोला। इसके बाद लोगों ने बड़े-बड़े प्रस्ताव पढ़ने और उस पर लम्बी-लम्बी स्पीचें देनी शुरू कीं। श्रोता इसके लिए तो आये नहीं थे, वह आये थे बाहर के वक्ताओं का व्याख्यान सुनने। संघवालों को चाहिए था, कि अपने प्रस्तावों को प्रतिनिधियों में पास करा लेते। एकाध प्रस्ताव पर लोगों को समझाने के लिए एकाध व्याख्यान भी हो जाते, तो कोई हर्ज नहीं था। हिन्दू सभावालों ने "राहुल जी गोभक्षक हैं, वह हिन्दुओं के दुश्मन हैं", इत्यादि-इत्यादि कहकर लोगों को भड़काने की कोशिश की, लेकिन उसका कोई असर नहीं हुआ। राहुल जी यहाँ सभा में बोल रहे थे, तो भी गड़बड़ी करने की उनकी हिम्मत नहीं हुई, क्योंकि वह जानते थे, कि श्रोतृमंडली में उनका कोई साथ नहीं देगा। लेकिन जब बड़े-बड़े प्रस्तावों और लम्बे-लम्बे व्याख्यानों को सुनने से जनता उकता जाये, तो दस आदमी भी गड़बड़ी पैदा कर सकते हैं। अधिवेशन के सभापति डाक्टर रामविलास शर्मा ज्यों ही बोलने के लिए उठे, कि आठ-दस आदमियों ने हल्ला शुरू किया। जनता तटस्थ होकर तमाशा देखती रही। प्रस्ताव तो पास हो गये, लेकिन अधिवेशन शान्तिपूर्वक समाप्त नहीं हुआ।

18 जनवरी को एक ही दिन मेरे चार जगह व्याख्यान रखे। मैंने भी कहा, जितनी मरजी हो जोत लो। सवेरे मुरार के आर्यसमाज मन्दिर में सम्मिलन हुआ। यहाँ व्याख्यान नहीं, शंकासमाधान के तौर पर घंटे-डेढ़ घंटे तक सत्संग चलता रहा। मैंने बतलाया कि क्यों हमारे समाज में आमूल परिवर्तन की जरूरत है। फिर मुरार हाई स्कूल के विद्यार्थियों के सामने 'सोवियत शिक्षा' पर व्याख्यान दिया। विद्यार्थियों से ज्यादा उसे शिक्षकों ने पसन्द किया, क्योंकि शिक्षित वर्ग का जीवन आज की व्यवस्था में सबसे चिन्तापूर्ण है। खाने के बाद सार्वजनिक सभाभवन में कितने ही चिन्तनशील व्यक्तियों और सार्वजनिक कार्यकताओं से वार्तालाप होता रहा। शाम को 7 बजे हिन्दी साहित्य सभा की ओर से 'तिब्बत में भारतीय संस्कृति और साहित्य' पर व्याख्यान दिया। यहाँ बहुत काफी संख्या शिक्षितों और साहित्यिकों की थी। मैं उसी रात को दिल्ली के लिए रवाना होनेवाला था, लेकिन घी-तेल के खानों ने पेट को खराब कर दिया। कई दस्त हुए और आज 'सुमन' के घर पर रुक जाना पड़ा। 'सुमन' हिन्दी के एक उदीयमान तरुण कवि हैं। उनसे हिन्दी को बहुत आशा है।

19 तारीख की रात को मैं पेशावर एक्सप्रेस से दिल्ली के लिए रवाना हुआ।

2. दिल्ली में (20-23 जनवरी)

सबेरे 7 बजे ही हमारी गाड़ी दिल्ली पहुँच गई। पासपोर्ट के लिए कुछ कोशिश करनी चाही, किन्तु मेरे साथियों की भी सलाह हुई कि इससे कोई फायदा नहीं। जहाँ सन्देश पहुँचा न था, वहाँ पहुँचा दिया।

23 जनवरी को दिल्ली की पार्टी-कान्फ्रेन्स हुई। दिल्ली में कम्युनिस्टों की शक्ति पहिली यात्रा से अब कई गुना बढ़ गई थी। पार्टी मेम्बर भी ज्यादा थे, और यज्ञदत्त अब अकेले नहीं थे। फारूकी, बहाल सिंह और दूसरे भी कई साथी दत्तचित्त हो काम कर रहे थे। दिल्ली के नौ-दस हजार मुनीमों का दृढ़ संगठन था—हिन्दू-मुसल्मान सभी मुनीम पार्टी को अपनी पार्टी समझते थे, सरला ने स्त्रियों में खूब जागृति पैदा की थी। मिल-मजदूरों में भी पार्टी का काम बहुत आगे बढ़ा था। सवेरे के वक्त झंडा फहराने का काम मुझे दिया गया। शाम को 7 बजे सभा शुरू हुई, तो वर्षा होने लगी। लेकिन पाँच-छै हजार श्रोता बराबर डटे रहे। सज्जाद जहीर की कलम का जौहर तो मैंने देखा था, लेकिन वह इतने अच्छे वक्ता हैं, यह इसी वक्त मालूम हुआ। 9 बजे नाटक शुरू हुआ। साथ भाई यज्ञदत्त की पत्नी को मैंने ग्रामीण स्त्री के भेस में नाटक में भाग लेते देखा, वह जरूर पहिले से बहुत आगे बढ़ गई थीं।

मेरा सबसे छोटा भाई श्रीनाथ दिल्ली में मिठाई का काम करता है, यह मुझे मालूम था। पिछली बार मैंने उसे ढूँढ़ने की कोशिश की थी, मगर वह नहीं मिला। वह भी सभा में आया था। थोड़ी देर उससे बातचीत हुई। दूसरे दिन मैंने सबेरे की गाड़ी पकड़ी।

3. इन्दौर में (25-28 जनवरी)

पानी काफी बरस गया था। शाम तक वर्षा या वर्षा के चिह्न मिलते गए। कोटा पहुँचते वक्त सूर्यास्त नहीं हुआ था। आधी रात को गाड़ी रतलाम पहुँची। डब्बे में इतनी भीड़ हो गई, कि बाहर निकलना मुश्किल था। इन्दौरवाली गाड़ी खड़ी थी, जाकर उसी में सो रहा। सबेरे (25) 8 बजे गाड़ी चली। अब हम प्राचीन अवन्ती और बाद की मालव भूमि में चल रहे थे। मालव भूमि को सदा से अन्न की खान समझा जाता रहा है, कथाएँ प्रसिद्ध रहीं कि वहाँ कभी अकाल नहीं पड़ा। भूमि ज्यादा समतल है। काली मिट्टी बतला रही थी, कि वह बहुत उर्वर है। पहाड़ियाँ बहुत कम हैं। इस वक्त गेहूँ-चने के खेत लहलहा रहे थे। एक किसान कह रहा था—किसानों के लिए अच्छा समय है, दो मानी कपास के 100 रुपए आ जाते हैं। हाँ, उनको अगर कोई कष्ट था तो कपड़े और कारखाने की दूसरी चीजों का। इन्दौर आने से पहिले कपड़े की कई मिलें मिलीं।

इन्दौर में मध्यभारत फासिस्टविरोधी लेखक-सम्मेलन का मुझे सभापतित्त्व करना था। मैं समय से पहिले आया था। आने की सूचना भी मैंने पहिले से नहीं दी थी। 12 बजे इन्दौर पहुँचा। ताँगा लेकर ढूँढ़ने के लिए निकला। लाल झंडा के कारण ज्यादा भटकना नहीं पड़ा, फिर मुझे साथी सरमंडल के घर पर ले गए। ग्वालियर और इन्दौर दोनों मराठा रियासतें हैं। इन्दौर महाराष्ट्र के और नजदीक है, इसलिए नगर के निवासियों में मराठों की काफी संख्या है। यहाँ के जो कम्युनिस्ट तरुण हैं, उनमें अधिक संख्या महाराष्ट्रों की है, मुझे भी महाराष्ट्र परिवार का अतिथि बनना पड़ा।

अगले दिन (26 जनवरी) सोवियत सुहृद संघ ने चाय-पान का प्रबन्ध किया। कितने ही सोवियत सुहृद वहाँ एकत्रित हुए थे। इन्दौर में सार्वजनिक सभा की मनाही थी, इसलिए व्याख्यान खुले तौर से नहीं हो सकता था। यहाँ मैंने सोवियत के बारे में कहा। संघ के पास सोवियत से आई बहुत-सी पुस्तकें, चित्र और कार्टून थे। एक बड़े-से चित्र में एक बड़ा ही भावपूर्ण दृश्य दिखलाया गया था। लाल सैनिक पीठ पर बन्दूक रखे द्नियेपर् नदी के किनारे पहुँचकर अपने फौलादी टोप को उतारकर उसमें महानदी का जल भरकर पी रहा था। उसके चेहरे पर वैसे ही भाव थे, जैसे मातृ-स्तन से महीनों का वंचित शिशु माँ के स्तन को अपार आनन्द के साथ पी रहा हो। सोवियतजनों के लिए अपनी नदियाँ बहुत ही प्रिय और पुनीत हैं। दो वर्ष पहिले द्नियेपर् महानदी जर्मनी के हाथ में चली गई थी, आज लाल सैनिक माता द्नियेपर् के तट पर पहुँचा, और खूब अघाकर उस पुण्य-जल को पी रहा है। हम भी गंगा से प्रेम करते हैं, लेकिन हमारा प्रेम वैसा लौकिक, साकार नहीं है।

शाम को मराठी साहित्य समिति के हाल में सम्मेलन शुरू हुआ। हाल में जितने आदमी आ सकते थे, उतरे भरे थे। शामू संन्यासी ने स्वागत पढ़ा। मैंने अपना भाषण सुनाया। अगले दिन सवेरे फिर बैठक हुई। कई निबन्ध पढ़े गए और कितने ही प्रस्ताव पास हुए। दो घंटे बाद होल्कर कालेज में विद्यार्थियों के सामने सोवियत शिक्षा पर व्याख्यान दिया। ऐसे व्याख्यान मैं कई वर्षों से देता आ रहा हूँ, लेकिन अब लोग दिलचस्पी ही नहीं विश्वास के साथ सुनते हैं, क्योंकि लाल सेना के विजयों ने 25 सालों के सोवियत-विरोधी गन्दे, झूठे प्रोपेगण्डा को निर्मूल साबित कर दिया है; लोग समझते हैं कि सोवियत में जरूर कोई ऐसी बात हुई है, जिसने जार की रूसी सेना को दुनिया की सर्वश्रेष्ठ सेना में परिणत कर दिया। शाम को मिल-मजूरों के सामने व्याख्यान दिया। रात को फिर सम्मेलन शुरू हुआ। आज अधिकतर सांस्कृतिक प्रोग्राम रहा। शामू ने भीलों का एक गाना गाकर उनका नृत्य दिखलाया। यह नृत्य सामूहिक हुआ करते हैं, अकेले नाचने में उतना मजा कैसे आ सकता है, और साथ ही वहाँ कोई बाजा भी नहीं था। लेकिन शामू ने उसके महत्त्व को समझा है, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। लोगों ने बहुत पसन्द किया और शामू को कई पारितोषिक मिले। अन्त में मेरे व्याख्यान

के साथ सम्मेलन समाप्त हुआ।

दूसरे दिन (28 जनवरी) कनाडियन प्रोफेसर विल्मोन्ट मिलने आए। कई सालों से वह चीन में अध्यापन कर रहे थे, और अब छुट्टी पर घर लौट रहे थे। उन्होंने चीन की भीतरी अवस्था के बारे में कई बातें बताईं, और कहा कि चाङ् कैशक् की सरकार चीनी कम्युनिस्टों को फूटी आँखों भी देखना नहीं चाहती। रात को जनरल लाइब्रेरी में तिब्बत पर व्याख्यान दिया।

4. उज्जैन में (29-30 जनवरी)

उज्जैन के साथी दिवाकर अपने यहाँ ले जाने के लिए बहुत उत्सुक थे, मैंने भी सोचा था कि 10 साल की पुरानी स्मृति को फिर ताजा कर आऊँ। 29 को हम दोनों उज्जैन के लिए रवाना हुए। फतेहाबाद स्टेशन इन्दौर जाते भी पड़ा था। यह मालवा का बहुत शीतल स्थान समझा जाता है। कोई खास ऊँचाई तो नहीं है, लेकिन मैदान बहुत विस्तृत है, और शायद यहाँ हवा बराबर चलती रहती है। दोपहर को हम उज्जैन पहुँचे।

प्रोफेसर प्रभाकर माचवे के यहाँ ठहरे। उसी दिन पौने तीन बजे माधव कालेज के छात्रों के सामने सोवियत पर व्याख्यान दिया। यह देखकर प्रसन्नता हुई कि यहाँ 6-7 हजार हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है, जिनमें एक भोजपत्र पर शारदा लिपि में खण्डित बौद्ध-सूत्र भी है, जो सम्भवतः गिलगित या इसी तरह के दूसरे स्थान से मिला था। शाम को मजदूर-राज्य पर एक सार्वजनिक सभा में व्याख्यान देना पड़ा। हजारों आदमियों की उपस्थिति बतला रही थी, कि 2500 वर्ष की पुरानी महानगरी उज्जयिनी आधुनिक बातों को सुनने के लिए तैयार है। रात को डाक्टर नागर के घर पर गए। डाक्टर नागर वहाँ नहीं थे। उनकी पत्नी के हाथ का मधुर भोजन गंगोत्री-यात्रा में मैं अनेक बार कर चुका था, यह कैसे हो सकता था कि वह भोजन कराए बिना मुझे आने देतीं। उस यात्रा से परिचित बद्रीबाबू या दूसरे गंगोत्रीवाले साथी नहीं मिले। सवेरे माडल हाईस्कूल के छात्रों के सामने एक व्याख्यान दिया। दोपहर को ताँगे पर उज्जयिनी के ध्वंसावशेषों को देखने के लिए निकला। पहिले शहर से बाहर वेश्या टेकरी की ओर गया। ताँगे को पहिले ही छोड़ देना पड़ा। फिर पैदल चलकर टेकरी पर चढ़े। शायद यह हिन्दुस्तान का सबसे बड़ा बौद्ध स्तूप है—अनुराधपुर (लंका) के रत्नमाल्य-चैत्य से भी बड़ा। इसकी पौने तीन इंच मोटी ईंटें बतला रही थीं कि यह मौर्यकाल में बना। बहुत सम्भव है, भारत के बहुत से नगरों में बनवाए अशोक स्तूपों (धर्मराजिका-चैत्यों) में से यह एक है। और शायद उसी उद्यान में बना है, जहाँ प्रद्योत का राजोद्यान था; जिसे राजा ने अपने पुरोहित तथा पीछे बुद्ध के तृतीय प्रधान शिष्य महाकात्यायन को दान किया था। अब यह देखने में एक पहाड़ी-सा मालूम होता है। ऊपर से उज्जयिनी के पास की विस्तृत भूमि दिखाई देती है। लाखों की आबादी की उज्जयिनी अब कुछ हजार का एक कसबा रह गया है। उज्जयिनी ने भारतीय संस्कृति और साहित्य की बड़ी सेवा की है, और शताब्दियों तक वह बौद्धों का एक महाकेन्द्र रही। 9वीं-10वीं शताब्दी में ही परमार राजाओं ने उज्जयिनी से हटाकर धारा में अपनी राजधानी बनाई और तब से उस महानगरी का पतन शुरू हुआ, जहाँ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का दर्बार था, जिसमें कालिदास अपनी सरस कविताओं का पाठ किया करते थे, जहाँ महा क्षत्रप नहपान और चष्टन, रुद्रदामा, और रुद्रसिंह ने शासन किया, और इसे विद्या तथा कला का केन्द्र बनाया। शुंगों और मौर्यों ने जिसकी श्रीवृद्धि की, जो एक बार प्रद्योत के शासनकाल में सारे भारत की राजधानी बनने के लिए पाटलीपुत्र से होड़ लगाए थी, वही उज्जयिनी हमारे सामने थी। यद्यपि कपड़े की मिलों की चिमनियों से निकलता धुआँ बतला रहा था, कि उज्जयिनी आधुनिक दुनिया में भी जीने की आशा रखती है; किन्तु उज्जयिनी फिर अपने गौरव को तभी प्राप्त करेगी, जब मालव अपना प्रजातन्त्र स्थापित करेंगे, मालवी भाषा शिक्षा का माध्यम बनेगी, उज्जयिनी उसकी राजधानी बनेगी और उद्योग-धंधे तथा शिल्प के एक प्रधान-केन्द्र का रूप धारण करेगी; वहाँ से और आगे उँडासा के पास महासरोवर देखने गये। महानगरी उज्जयिनी में इस तरह के अनेक सर रहे होंगे। ऊँची-नीची भूमि और नाले भी बतला रहे थे, कि वहाँ इस तरह के कितने ही बड़े-बड़े सरोवर रहे होंगे। प्राचीन उज्जयिनी सौधों और अट्टालिकाओं की ही नगरी नहीं थी, बल्कि वह उद्यानों और उपवनों की भी पुरी थी। उँडासा के पास हमने वह गड्ढे भी

देखे, जहाँ कुछ दिनों पहिले खुदाई में कंकाल मिले थे। लौटकर महाकाल के पास आये। उज्जयिनी के ध्वंसावशेषों में कितनी ऐतिहासिक निधियाँ पड़ी हुई हैं, इसके खोजने के लिए अभी उतना प्रयास नहीं हुआ। सड़कों के निकालने, नालियों के बनाने में अप्रयास आबादी के कई स्तर निकल आते हैं, और कहीं-कहीं ग्वालियर सरकार ने थोड़ी-बहुत खुदाई भी की है, लेकिन यह बिलकुल आरंभिक प्रयत्न है। पंडित सूर्यनारायण व्यास अपनी जन्मभूमि और उसके इतिहास के बड़े प्रेमी हैं। लेकिन जब तक वह प्रेम सारी नागरिक जनता ही नहीं, सारी मालव जनता में नहीं हो जाता, तब तक उज्जयिनी अपने रहस्य को नहीं बतला सकती। उसके पुनरुज्जीवन के लिए तो पहिले मालव-जन का पुनरुज्जीवन करना होगा। मजूर साथियों से कुछ देर तक संलाप होता रहा, फिर साढ़े 7 बजे आर्यसमाज के आँगन में 'दुनिया को भारत की देन' पर एक व्याख्यान दिया। श्रोता दो हजार रहे होंगे। शायद कितने ही भारतप्रेमी समझे थे, कि मैं सिर्फ 'देन ही देन' की बात करूँगा, लेकिन मैंने बतलाया, कि भारत अपनी स्वतन्त्रता और सजीवता के काल में दुनिया को बहुत देता रहा, साथ ही दूसरों से उसने निस्संकोच भाव से लिया भी खूब–यवन लोगों ने अपनी कला, ज्योतिष, दर्शन की कितनी ही बातें हमें सिखलाईं। शायद कुछ भाइयों को मेरी स्पष्टवादिता पसन्द न आई होगी।

5. वम्बई में (1 फर्वरी-5 मार्च)

31 जनवरी को 11 बजे मैंने नागदा से गाड़ी पकड़ी। स्टेशन पर वहाँ थोड़ी ही देर ठहरने के बाद दिल्ली से आनेवाली गाड़ी मिली और मिली भी पैसेन्जर ट्रेन, जो कि हर स्टेशन पर ठहरती चलती थी। दोहद में मैं दिन ही दिन में पहुँच गया था, यही गुजरात और मालवा की सीमा है। मालवा छोटा प्रजातन्त्र नहीं होगा। उसकी कपास की खेती तो अब भी इन्दौर और उज्जैन में कई कपड़े की मिलों को चला रही है। मालव किसान-मजूर जनता कई रियासतों में बँटी हुई है। औरंगजेब के वक्त (1707 ई.) तक मालवा शासकों के सुभीते के लिए अनेकों टुकड़ों में बँटा नहीं था, वह अखंड मालव था। आज अखंड भारत की फिकर है, लेकिन अखंड मालव के लिए भी क्या किसी मुख से कोई वाक्य निकलता है ? खेती बड़ी अच्छी होती है, कपास और कपड़ा भी तैयार होता है, लेकिन मालवजन अपनी परिश्रम की कमाई आप नहीं खा सकते, उनका खून सामन्तों और सेठों के महल का गारा बनता है–सामन्तों सेठों में अधिकांश अपने को मालव-सन्तान भी कहने को तैयार नहीं हैं। कब तक मालवा में नंगी मूर्तियाँ और सूखी ठठरियाँ दिखाई पड़ेंगी ? कब तक सचमुच ही सस्य-श्यामला मालव-माता अपने क्षीर को अपने बच्चों के मुँह में देने से वंचित रहेगी ?

दोहद के बाद अब सीधा गुजरात था। हमारे डब्बे में मैले-कुचैले कपड़े पहनने की जगह साफ कपड़े पहननेवाले लोग आये, और गाड़ी में बाजार के भाव और सट्टेबाजी की बातें सुनाई देने लगीं। यह तो नहीं कहा जा सकता, कि गुजरात में सिर्फ बनिये ही रहते हैं, लेकिन मैं समझता हूँ, हिन्दुस्तान में कोई ऐसा प्रान्त नहीं है, जहाँ इतनी अधिक जन-संख्या व्यापार पर गुजारा करती है। छोटे व्यापारियों को बड़े व्यापारियों के मुँह में रहकर जीना और मरना है, यह वर्ग साम्यवाद से सबसे अधिक भय खाता है, इसलिए सबसे अधिक उसका विरोध भी करेगा–कोई आश्चर्य नहीं, जो गाँधीवाद यहाँ का राजनीतिक धर्म बना।

रात को 11 बजे गाड़ी बड़ौदा पहुँची। गुजरात-मेल में मुश्किल से बैठने-भर की जगह मिली। खैरियत यही हुई, कि अगले स्टेशनों पर इस ट्रेन के लिए टिकट नहीं मिलता, इसलिए भीड़ और नहीं बढ़ी। सबेरे 8 बजे बम्बई सेन्ट्रल स्टेशन पर पहुँचे।

पासपोर्ट के बारे में अभी गड़बड़ी ही चल रही थी। मैंने उस दिन (1 फर्वरी) की डायरी में लिखा था– "नौकरशाही पासपोर्ट में गड़बड़ी करने के लिए तुली हुई है, कभी कहती है–ईरान सरकार नहीं चाहती। कहा, महाराजा साहेब नहीं चाहते। कभी–इनका पिछला राजनीतिक रिकार्ड खराब है। फिर पासपोर्ट देने का अभिनय क्यों किया ? कभी–यहीं बीवी-बच्चों को क्यों नहीं बुला लेते ?"

अगले दिन मैंने लोला को तार दिया, "पासपोर्ट मिल गया है, लेकिन सोवियत वीसा जरूरी है। सोवियत सरकार से कहकर तेहरान और काबुल के कौन्सलों को वीसा देने की हिदायत करवाओ। न हो तो, ईगर के

साथ चली आओ। जवाब तार से देना।" ऐसे तो मैंने कई तार लोला को दिये, लेकिन जो तार उसके पास पहुँच सके, उनमें से यह एक था। आजकल सेन्सर करनेवालों के आलस्य और दुर्वृत्ति के कारण तार भी लेनिनग्राद से डेढ़-डेढ़ महीने में पहुँचते हैं। लालसेना ने जर्मन फासिस्टों से अपनी ही रक्षा नहीं थी, बल्कि अंग्रेजों की भी रक्षा की, लेकिन भारत के अंग्रेज नौकरशाह अब भी सोवियत को हैजा और प्लेग़ की भूमि समझते हैं और चाहते हैं कि वहाँ कोई जाने-आने न पाये।

मुझे पासपोर्ट मिल गया था, इसलिए सम्भव था कि किसी समय मुझे भारत से रवाना होना पड़े। मुनि जिनविजयजी ने कहा, कि सोवियत जाने से पहिले 'वार्त्तिकालंकार' की एक-दो ज़िल्दों को सम्पादित कर दें, तो अच्छा। उन्होंने भारतीय विद्याभवन में एक एकान्त कमरा भी दे दिया। दूसरे दिन मैं वहाँ चला गया। तिमहले पर चारों ओर से हवा आने लायक अच्छा कमरा था। जिस वक्त बम्बई में दूसरी जगहों में पसीना छूटा करता था, उस वक्त भी यहाँ हवा आया करती थी। साथ ही लगा हुआ स्नानकोष्ठक था। इसलिए मुझे इधर-उधर जाने की जरूरत नहीं थी। धर्मकीर्ति के ग्रन्थ 'हेतुविन्दु' की टीका (अर्चट या धर्माकरदत्तकृत) किसी जैन-भंडार से प्राप्त हुई थी। इस टीका की टीका (दुर्वेक मिश्र) मुझे तिब्बत के ङोर् गुम्बा में मिली थी। पंडित सुखलालजी ने उसका सम्पादन किया था। लेकिन धर्मकीर्ति का मूल ग्रन्थ अभी नहीं मिल सका था, इसलिए उनकी इच्छा हुई कि मैं उसको तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में कर दूँ। पहिले मैंने यह काम किया। धर्मकीर्ति के दूसरे ग्रन्थ 'सम्बन्धपरीक्षा' की खंडित कारिकाओं को भी तिब्बती अनुवाद से संस्कृत में कर डाला। 'वार्त्तिकालंकार' प्रायः 18 हजार श्लोकों के बराबर एक विस्तृत ग्रन्थ है, जो तीन जिल्दों में छपेगा। तिब्बती अनुवाद से मिलाकर पाठ-भेद देते हुए उसको सम्पादित करना सबसे बड़ा काम था। उसमें लग गया और दो जिल्दों का काम पूरा करके ही छोड़ा।

14, 15 फर्वरी को स्वामी सत्यस्वरूप और उनके गुरु स्वामी गंगेश्वरानन्द से साक्षात्कार हुआ। स्वामी सत्यस्वरूप से तो बनारस में भी भेंट हो चुकी थी, लेकिन स्वामी गंगेश्वरानन्द से मिलने का यह पहिली बार मौका मिला था। उन्होंने स्मरण दिलाया कि 21 साल पहिले गया कांग्रेस (1922) के वक्त मैंने आपका व्याख्यान सुना था। दोनों ही संस्कृत के पंडित हैं और साथ ही बुद्धिवादी। स्वामी सत्यस्वरूप के विचारों में बनारस छोड़ने के बाद और भी तेजी से विकास हुआ है। साधु शान्तिनाथ की वह बड़ी प्रशंसा कर रहे थे और कहते थे कि उस निर्भीक, निर्लोभ प्रतिष्ठात्यागी महापुरुष की भी जीवनी आपको लिखनी चाहिए। मैंने शान्तिनाथ की प्रखर बुद्धि का चमत्कार उनके ग्रन्थों में देखा है, मैं चाहता हूँ कि उनकी जीवनी लिखूँ, लेकिन अभी मेरे पास इतना समय नहीं था, कि उनकी खोज में निकलूँ। 'वोल्गा से गंगा', 'मानव-समाज' आदि मेरी पुस्तकों को गुरु शिष्य ने पढ़ा है, सत्यस्वरूप जी कह रहे थे, साधुओं में कितने ही इनको पढ़कर बहुत सन्तुष्ट हुए हैं। एक विद्वान संन्यासी तो कह रहे थे–रास्ता तो हमें यही सच्चा और श्रेयस्कर मालूम होता है, लेकिन करें क्या ? हमारे भक्त हैं, यही सेठ लोग, और उनके लिए यह कुनैन की गोलियाँ हैं।

20 फर्वरी को माटुंगा गया। वहाँ एक आधुनिक ढंग के दर्शन-पंडित से मुलाकात हुई। वह व्यवहार में मार्क्स की नीति को स्वीकार करते थे, किन्तु दर्शन में अपने को और ऊँचे तल पर पाते थे, 'असीम' को सीमित करने के लिए तैयार नहीं थे। उनके लिए सत्य असीम था। मैंने कहा, सीमा से परे क्या है, इसका हमको ज्ञान नहीं है, फिर अपने अज्ञान के बल पर असीम के बारे में तरह-तरह की कल्पनाएँ करना क्या निराधार नहीं है। हमारा ज्ञान जगत के उतने ही अंश को बतलाता है, जहाँ तक कि साइंस की पहुँच है। साइंस की पहुँच या सीमाएँ भी बराबर बढ़ती जा रही हैं, इसलिए हमारे ज्ञान की भी सीमा बढ़ रही है। साइंस की सीमाओं के विस्तार के साथ हम अपनी दृष्टि का विस्तार करें। लेकिन उतावलेपन में यदि बुद्धि अँधेरे में कूदना चाहती है, तो यह दुराग्रह मात्र है। ज्ञान की सीमा बढ़ाने का एकमात्र साधन है, प्रयोग–साइन्स का व्यवहार। चूँकि प्रयोग की गति प्रकाश-गति जैसी द्रुत नहीं है, इसलिए बागडोर को कल्पना (बुद्धि) के हाथ में दे देना गलत बात है।

22 फर्वरी को लोला का तार आया। उसने इसे तीन दिन पहिले (19 फर्वरी) को भेजा था। उसने लिखा

था–"वो-क्-स् द्वारा भेजा पत्र मिल गया, तार दो,क्या लेननग्राद् आने की सम्भावना है" (Letter VOKS received. Telegraph possibility arriving Leningrad.) मैंने उसी दिन तार द्वारा जवाब दिया, कि मैं आना चाहता हूँ, सोवियत वीसा भिजवाओ।

बम्बई में खुराकबन्दी (राशनिंग) है, हर आदमी को निर्धारित परिमाण में भोजन-सामग्री मिलती है। यह निर्बन्ध सिर्फ गरीबों के लिए है। धनी लोग होटलों में जाकर चाहे जितना खाना खा सकते हैं, बाजार से खरीदकर चीजें ला सकते हैं। आखिर शासन भी तो विलायती धनियों का है और धनियों के फायदे के ही लिए है। फिर शिकायत की क्या जरूरत ?

24 फर्वरी के पत्रों में पढ़ा, कि चर्चिल ने मार्शल तीतो को यूगोस्लाविया का नेता स्वीकार कर लिया। साम्राज्यवाद के लिए यह बड़ी कड़वी घूँट थी, लेकिन, चेम्बरलेन के लिए भी हिटलर से युद्ध ठानना क्या कड़वी घूँट नहीं थी ? उसने इस भेड़िये को खुश करने के लिए अपने कितने ही मित्रों की बलि दी। कई बार उसके पास जाकर नाक रगड़ी और समझाया कि यदि हम लोग लड़े तो दुनिया वोलशेविक हो जायेगी। लेकिन हिटलर ने अपने वोलशेविक दुश्मनों को लोहे के चना जैसा देखा, और साम्राज्यवादी भगतों को नरम हलवा। इसीलिए, वह इनके ऊपर दौड़ा। चर्चिल ने भी अब तक यूगोस्लाविया के जागीरदारों और पूँजीपतियों की भगोड़ी सरकार को अपना विश्वासपात्र माना था, लेकिन भगोड़ी सरकार के प्रधान सेनापति मिखाइलोविच यूगोस्लाविया में हिटलरी सेना की मदद से देशभक्तों का संहार करने में सारी ताकत लगा रहा था, और मिखाइलोचिव के चेतनिक सैनिक हिटलर का झंडा उठाये घूम रहे थे। तीतो ने इस बात को कई बार बतलाया, सोवियत रेडियो ने इसे कई बार ब्राडकास्ट किया, लेकिन विलायती पूँजीपति इसे सुनने के लिए तैयार नहीं थे। मालूम पड़ता था कि उन्हें हिटलर के हराने की उतनी फिकर नहीं थी, जितनी कि यूगोस्लाविया में फिर से धनिक सरकार की स्थापना की। हिन्दुस्तान में हम जानते ही हैं कि चर्चिल-एमरी तथा उनकी दासी यहाँ की नौकरशाही फासिस्तों के हराने की उतनी फिकर नहीं करती, जितनी कि लड़ाई के बाद अपने शासन को अक्षुण्ण रखने की, भारत में अखंड शोषण करने की। यदि भारतीय राष्ट्रीय सरकार स्थापित कर सकेंगे और भारतीय सैनिक समझने लगेंगे, कि हम दूसरों की आजादी के लिए नहीं, बल्कि अपनी आजादी के लिए लड़ रहे हैं, तो भारत पर अंग्रेजों का शासन अक्षुण्ण नहीं रह सकेगा। यदि सब तरह का कच्चा माल रखते हुए लड़ाई जीतने के अत्यावश्यक मोटर टैंक, हवाई जहाज जैसे यन्त्रों को भारत अपने यहाँ बनाने लगेगा, तो लड़ाई के बाद यहाँ अंग्रेजों का अखंड शोषण नहीं रह सकेगा। अंग्रेज पूँजीपतियों का स्वार्थ उन्हें मजबूर करता था, कि तीतो जैसा कम्युनिस्ट और हिटलर की नाक में दम करनेवाले, उसके लड़ाके सैनिक यदि मजबूत हो जायेंगे, तो राजा-नवाबों की यूगोस्लाविया में नहीं चलने पायेगी–पूँजीवाद वहाँ से बिदा हो जायगा। मिखाइलोविच और उसके मालिक भी समझते थे, कि तीतो अपनी वीरता से वहाँ की जनता के हृदयों में जो भाव पैदा कर रहा है, उससे उनके वर्ग को सख्त खतरा है। यूगोस्लाविया यदि हिटलर की गुलामी भी स्वीकार कर ले, तो धनिक वर्ग वहाँ बना रहेगा, इसीलिए अपने वर्ग-स्वार्थ के लिए वह हिटलर से मिल गया। लेकिन चर्चिल का वर्ग-स्वार्थ हिटलर के वर्ग-स्वार्थ से विरुद्ध जाता था; इसलिए चेतनिक की आशा छोड़कर उसने तीतो को माना। यह हो जाने पर भी तीन महीने बाद तक हिन्दुस्तान की नौकरशाही चेतनिकों की 'बहादुरी' का फिल्म दिखाने में प्रोत्साहन देती रही। यूरोप में कम से कम यूगोस्लाविया में तो विलायती साम्राज्यवादियों की चाल नहीं चली, लेकिन इताली, यूनान, पोलैंड में अभी भी वह अपनी चालें चलते जा रहे हैं।

27 फर्वरी को मालूम हुआ, कि मेरे उपन्यास 'सिंहसेनापति' के कुछ वाक्यों को लेकर कितने ही जैन रूढ़िवादी बहुत उछल-कूद रहे हैं। वह अपने गुजराती-हिन्दी पत्रों में लेखक के खिलाफ कितने ही लेख लिख रहे थे। कौन-सी ऐसी बात थी ? उपन्यास की नायक-नायिका नहीं, बल्कि एक परिहासशीला पात्रा ने जैन साधुओं की नग्नता को प्राकृतिक प्राणियों से उपमा दी, बस इसी पर हमारे दोस्त आग-बगूले हो गये। जहाँ तक तीर्थंकर महावीर का सम्बन्ध है, उपन्यास के नायक ने उनके प्रति बड़े सुन्दर भाव प्रकट किये हैं। लेकिन नायक की बात कौन पूछता है, वहाँ तो कहीं से कुछ लेकर झगड़ा करने की प्रवृत्ति है। एकाध जगह से धमकी

की भी भनक आई। मैंने कहा—कौशाम्बीजी को दिक करके सेठ लोगों का मन चसक तो नहीं गया है ? यदि और गोत्रोच्चार न करवाना है, तो ततैया के छत्ते में उँगली न डालें।

बेजवाड़ा में अबकी बार अखिल भारतीय किसान सम्मेलन होनेवाला था। मैं सम्मेलन का भूतपूर्व सभापति था, लेकिन, उस साल (1940) सम्मेलन में जाने से पहिले ही गिरफ्तार हो गया था। पिछले सम्मेलन में भी मैं भकना नहीं जा सका, इसलिए अबकी बार वहाँ जाने का निश्चय किया। 6 मार्च को सरदार पृथ्वीसिंह, डाक्टर अधिकारी और दूसरे साथियों के साथ हम लोग मद्रास एक्सप्रेस से रवाना हुए। दूसरे दिन 8 बजे सबेरे हैदराबाद आया। यहाँ गाड़ी का डब्बा बदलना पड़ा। भारत की रियासतें यद्यपि अब भी शताब्दियों पहिले का स्वप्न देख रही हैं, लेकिन नई विचारधारा को रोकने की उनमें शक्ति नहीं है, शायद वह अब भी इसे मानने के लिए तैयार नहीं, और किसी समय इस्तेमाल करने का इरादा रखकर अपने फौलादी पंजे को सँभाले बैठी हैं। लेकिन, उस वक्त उन्हें मालूम होगा कि वह ऐसी प्रचंड अग्नि से मुकाबिला करने जा रही हैं जिसके स्पर्श से उनका फौलादी पंजा गलकर पानी हो जायेगा। हैदराबाद के पार्टी-मेम्बरों को पता लग गया और उनमें से दर्जनों प्लेटफार्म पर पहुँच गये। वह नारे लगा रहे थे और क्रान्तिकारी गीत गा रहे थे। उनमें मुसल्मान ज्यादा थे, हिन्दू मराठे और आन्ध्र भी थे। दो-तीन स्त्रियाँ भी थीं। लोग चकित होकर देख रहे थे।

इस यात्रा में मैंने सरदार पृथ्वीसिंह की टाइप की हुई जीवनी को पढ़ना शुरू किया और तै किया कि इस पर हिन्दी में एक पुस्तक लिखूँगा। 7 मार्च को रात के 8 बजे के बाद हम बेजवाड़ा पहुँचे। हमारे रहने का इन्तिजाम मोगल राजपुरम् में किया गया था। कुछ देर बाद हम अपने निवासस्थान पर पहुँचा दिये गये।

10

आंध्र में (1944 ई.)

दूसरे प्रांतों के अशिक्षित भी तिलंगा नाम से परिचित हैं, किन्तु युक्तप्रान्त और बिहार की ग्रामीण स्त्रियाँ तिलंगा फौजी सिपाही को कहती हैं। सम्भव है, अठारहवीं सदी में कम्पनी की हिन्दुस्तानी फौज तेलगू बोलनेवालों से ही शुरू हुई हो, और पीछे कम्पनी बहादुर के सभी सिपाही तिलंगा कहे जाने लगे। अपनी कलम से बंगाली या दूसरे नवशिक्षितों ने भले ही कम्पनी बहादुर की जड़ें मजबूत की हों, मगर हिन्दुस्तान की पहिली तलवार, जिसने कम्पनी के राज्य की बुनियाद रक्खी, वह तिलंगे की ही थी। तिलंगे हिन्दुस्तान पर विदेशी शासन के लादने में सहायक हुए, यह निन्दा की बात जरूर है, लेकिन इसका बहुत-सा दोष उन पर नहीं, इतिहास पर है, जिसे यहाँ दिखलाने का अवसर नहीं; परन्तु उनमें सैनिक बल था, इसमें तो शक नहीं।

तिलंगे या तेलगू बोलनेवाले जिस सवा लाख वर्ग मील भूखंड में रहते हैं, उसी को आंध्र देश कहते हैं। आज आन्ध्र देश शासकों के सुभीते के लिए छिन्न-भिन्न करके बहुत-से टुकड़ों में बाँट दिया गया है। उसका उत्तरी भाग मध्य प्रदेश के चाँदा जिले और बस्तर रियासत में जहाँ काट लिया गया है, वहाँ पश्चिमी भाग—प्रायः सारे आन्ध्र राष्ट्र का एक तिहाई—हैदराबाद रियासत में है। हैदराबाद शहर ही नहीं, रियासत का सबसे अधिक भाग तेलंगाना में है। पश्चिम-दक्षिण में कोलार की सोने की खानों के साथ-साथ आन्ध्र के कितने ही भाग को मैसूर रियासत ने दबा लिया है। जो भाग ब्रिटिश भारत—मद्रास प्रान्त—में रह भी गया है, वह भी शासकों की ओर से उपेक्षित रहा है। लेकिन आज तीन करोड़ आन्ध्र अपनी इस दुरवस्था को बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं हैं। युग उनके साथ है। आज जनता शासकों के सुभीते के लिए नहीं, शासन जनता के सुभीते के लिए चाहिए, और वह जनता का शासन होना चाहिए। आन्ध्र-जन जानता है, कि न्याय की दोहाई देने से न्याय नहीं मिला करता, निर्बल कभी न्याय की आशा नहीं रख सकता; इसीलिए आज आन्ध्र करवट बदल रहा है।

आन्ध्र हमेशा से एक पराक्रमशाली जाति रही है। चन्द्रगुप्त मौर्य और उसके पुत्र बिन्दुसार को हिन्दूकुश (अफगानिस्तान) के पार तक अपनी सीमा फैलाने में सफलता मिली, मगर कलिंग–पूर्वी आन्ध्र–के विजय के लिए मौर्यों को तीसरी पीढ़ी तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। अशोक ने सारे भारत के सैन्यबल को एकत्रित कर आन्ध्रों पर आक्रमण किया, लेकिन आन्ध्र मिट्टी के नहीं फौलाद के बने हुए थे; वह अपने प्राणों से प्यारी स्वतन्त्रता को ऐसे ही छोड़नेवाले न थे। वीरता और आत्मोत्सर्ग में अपराजित होते हुए भी संख्या के सामने उनको पराजित होना पड़ा, लेकिन साथ ही उन्होंने अशोक को खूब सबक सिखलाया। कलिंग-विजय के बाद अशोक चंड-अशोक नहीं धर्म-अशोक बने। वीर आन्ध्रों की कुर्बानी और उनके रक्तों से लाल गोदावरी और कृष्णा की धाराओं को देखकर अशोक का मानव-हृदय दहल उठा। आन्ध्रों ने अपनी स्वतन्त्रता का कुछ भाग खोया जरूर होगा, मगर अगले मौर्य सम्राटों के समय वह फिर मजबूत हो गये, और सौ बरस भी नहीं बीतने पाये, कि ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी के मध्य में वह नर्मदा और ओडीसा तक के दक्षिणी भारत के अधिकारी बन गये। इतना ही नहीं, शताब्दी के अन्त तक पहुँचते आन्ध्रों की विजय-ध्वजा गंगा और जमुना के कछारों तक में फहराने लगी। हाँ, उस वक्त महाराष्ट्र और आन्ध्र एक थे। दोनों के शासकों–सामन्तों–की भाषा एक थी, और शायद कुछ शासितों की भी। महाराष्ट्र में शासकों की भाषा ने शासितों की भाषा का उन्मूलन कर दिया, लेकिन आन्ध्रों ने पुराने नाम के साथ शासितों की पुरानी भाषा को ही कायम नहीं रखा, बल्कि शासकों के साथ उनकी भाषा को भी अपने में विलीन कर लिया।

ईसा की दूसरी शताब्दी के अन्त के साथ विशाल आन्ध्रराष्ट्र भी छिन्न-भिन्न होने लगा। शकों द्वारा उन्मूलित कितने ही उत्तरी भारत (उत्तरप्रदेश-बिहार) के राजवंशों ने आन्ध्र में शरण ली, शायद वह वहाँ के राजवंश के प्रतिष्ठित सम्बन्धी भी थे। जिस वक्त आन्ध्र-साम्राज्य का ध्वंस हो रहा था, उसी वक्त ईक्ष्वाकु-वंशी चांतमूल ने–जो शायद पूर्वी आन्ध्र का सामन्त शासक था–वहाँ अपना राज्य स्थापित किया। धान्यकटक और श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) के सुन्दर पाषाण-स्तूप और उनकी अद्भुत मूर्तियाँ चान्तमूल की बहिन चान्तिसिरी और पुत्र राजा सिरीवीर पुरिसदात (श्रीवीरपुरुषदत्त) की नहीं, आन्ध्र-शिल्पियों की अमर कृतियाँ हैं। विश्व की इस अद्भुत कला के लिए आन्ध्रों का शिर गर्व से क्यों न उन्नत हो ? लेकिन उन्हीं शिल्पियों की सन्तानें आज माचेरला में पत्थर की पट्टियाँ काटना और धरनी कोट (धान्यकटक) में ईंट-पत्थर ढोना-भर जानती हैं। क्या जनता के साथ उसकी कला के दिन भी नहीं लौटेंगे ?

तीसरी सदी के बाद से फिर सारा आन्ध्र एक स्वतन्त्र राष्ट्र के तौर पर संगठित नहीं रह सका। इस सामन्त-युग के पारस्परिक कलह के कारण वह अपनी शक्ति को भिन्न-भिन्न राजवंशों के लिए लड़ने में खपाता रहा, और कभी-कभी दूसरे के बाप को बाप कहकर भी सन्तोष कर लेता था–विजयनगर था तो शुद्ध कर्नाटक राजवंश लेकिन आन्ध्र भी उसके लिए अपनत्व का अभिमान करता था।

वर्तमान शताब्दी में जब देश-व्यापी चेतना जाग्रत हुई, तो आन्ध्र की विशृंखल किन्तु सुप्तप्राय चेतना भी उससे स्पंदित हुए बिना कैसे रह सकती थी ? चेतना के साथ आन्ध्रों को भान होने लगा, कि उन्हें किस तरह छिन्न-भिन्न कर दिया गया है, तभी से सभी आन्ध्रों का एक राष्ट्र बनाने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। असहयोग-आन्दोलन की जब देशों में बाढ़ आई, तो दक्षिणी भारत में आन्ध्र राष्ट्रीयता का गढ़ बन गया। नौकरशाही ने इसे तोड़ने के लिए तरह-तरह के हथियार इस्तेमाल किये, जिनमें से एक था अब्राह्मण-आन्दोलन। त्याग का सबसे ज्यादा ढिंढोरा पीटनेवाले ब्राह्मण दक्षिण भारत में जाकर अपने स्वार्थ के लिए कितने पतित हुए, इसका उत्तर भारतीय लोग अनुमान भी नहीं कर सकते। उनके अनुसार दक्षिण में ब्राह्मण और शूद्र सिर्फ दो ही जातियाँ हैं और शूद्र भी सत्-शूद्र नहीं। इसलिए ब्राह्मण देवता अपने सिवा किसी के हाथ का खाना क्या, पानी भी नहीं पी सकते। राजू-रेड्डी-कम्मा स्त्री-पुरुष युक्तप्रान्त-बिहार के राजपूत और ब्राह्मणों से बिल्कुल मिलते-जुलते हैं; दोनों का चेहरा-मुहरा, रंग-रूप एक-सा है और राजुओं में कितनों ही का तो उत्तरी राजपूतों से शादी-सम्बन्ध भी है; लेकिन दक्षिण के ब्राह्मण देवताओं के लिए ये सभी शूद्र हैं। उनके हाथ का पानी भी नहीं पिया जा सकता ! विदेशी-स्वदेशी सबको ही म्लेच्छ शूद्र घोषित करनेवाले इन त्यागमूर्तियों का अपना आचरण कैसा

है ? अंग्रेजी पढ़कर विदेशी म्लेच्छों का बूट साफ करने में सबसे पहिले यही थे ! फिर उनका कृपापात्र क्यों न बनते ? नौकरियों में उनकी भरमार, कचहरियों में उनकी भीड़, पुछल्लेधारियों में उनका आधिक्य। शारीरिक मेहनत से दूर रहनेवाले इस कामचोर वर्ग ने अपने सुख और प्रभाव को विदशी शासकों के शासन में भी खूब बढ़ाया। ब्राह्मण देवता अब भी अपने आराध्य देवताओं के पूजा-अर्चना के लिए कटिबद्ध थे, किन्तु आराध्य देवताओं के पास उतनी चाकरियाँ न थीं। असन्तुष्ट या ईमानदार ब्राह्मणों को राजनीति में आगे बढ़ते देख, नौकरशाही ने अब्राह्मण-आंदोलन को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि वह आन्ध्र में उतना नहीं बढ़ सका, जितना कि तमिलनाड में, तो भी उसका असर हुआ जरूर, जिसका एक फल तो यह हुआ, कि मांटेगु-सुधार के बाद के अब्राह्मण-मंत्रिमंडलों ने अब्राह्मण बालकों की शिक्षा की ओर खास तौर से ध्यान दिया, उन्हें छात्रवृत्तियाँ दे-देकर गाँवों से निकाल स्कूल-कालेजों में भेजा। कुछ समय तक जो नौकरशाही अपनी सफलता पर फूली न समाती रही, उसकी आँखें तब खुलीं, जब 1931-32 के सत्याग्रह में सुंदरैय्या जैसे झुंड के झुंड अब्राह्मण तरुण छात्रों को कूदते देखा। इनमें से कितने ही हिन्दू विश्वविद्यालय में पहुँच पाये थे, वहाँ उन्हें समझ में आया कि मुट्ठी-भर स्वार्थलोलुप ब्राह्मणों को ही अपनी सारी शक्ति का निशाना बनाना शरम की बात है; नवीन और स्वतन्त्र आन्ध्र ब्राह्मणों का नहीं, सबसे अधिक उनका है। उन्होंने कुछ-कुछ रूस और साम्यवाद के बारे में भी सुना था, इसलिए भी उन्हें समझने में देर नहीं लगी, कि उनका विरोधी शिखंडी नहीं कोई और है। सुन्दरैय्या, गोपालैय्या नारायणराव आदि-आदि सैकड़ों आन्ध्र तरुणों ने देश की स्वतन्त्रता के लिए खुले दिल और खुली आँखों काम करना शुरू किया, उनके वृद्ध अब्राह्मण पितरों ने बहुत समझाने-बुझाने की कोशिश की, किन्तु सब निष्फल। तरुणों ने सोचा–सारे खेल तो हम जानते हैं, खानों-कारखानों में हम काम करते हैं, ब्राह्मण कामचोर तो आकाश में लटक रहे हैं; ठोस आन्ध्रभूमि तो आजाद होने पर हमारी ही होगी। उधर प्रसादराव, वेंकटाचार जैसे ब्राह्मण तरुणों ने भी समझा कि आँख में धूल झोंकने के दिन गए, राष्ट्र की शक्ति छिन्न-भिन्न करने से काम नहीं चलेगा। साम्यवाद ने संकुचित दृष्टि को व्यापक बना दिया, राष्ट्रीय आन्दोलन के अँधेरे कोनों को प्रकाशित कर दिया। वह बिखरी हुई शक्तियों को समेटने में जुट पड़े। प्रसादराव ने अपना ब्राह्मणपन छोड़ा और शूद्रों के साथ खान-पान करके जनता को एक सूत्र में बाँधना शुरू किया, सुन्दरैय्या ने अछूतों की टोली ले रेड्डियों के कुओं पर धावा बोल दिया। हजारों वर्षों से चली आती छुआछूत की दीवार ढहने लगी। बूढ़े सभी जगह क्षुब्ध हुए, अब्राह्मण नेता तथा ब्राह्मण कांग्रेसी सरदार सभी एक स्वर से विरोध करने लगे।

लेकिन आन्ध्र तरुणों ने सिर्फ समाज सुधारने के लिए अपना जीवन उत्सर्ग नहीं किया। वह पत्तों के नोचने में अपना समय नहीं बरबाद करना चाहते, उन्हें है काटनी सारी बुराइयों की जड़ आर्थिक शोषण और विषमता। उन्होंने खेत-मजदूरों की तकलीफों को देखा, और मुक्ति पाने के लिए उनका संगठन किया। जमींदारों के अत्याचारों को देखा और प्रतिकार के लिए किसानों को संगठित किया, और लड़ाई में अत्याचार सहने में सबसे आगे रहकर। यद्यपि ये नेता उमर में छोटे थे, मगर उनके गुणों ने शोषित जनता को अपनी तरफ खींचा। नौकरशाही उनके पीछे पड़ी। पुराने कांग्रेसी नेता वर्धा तक गोहार ले गए और वहाँ से भी कड़े-कड़े अनुशासन निकले; घर, गाँव और देश के सत्ताधारियों ने उनका विरोध करने में कोई बात उठा न रखी, ओछे से ओछे हथियारों को उठाया, मगर साधारण शोषित जनता इन तरुणों के साथ आगे बढ़ती गई। सौभाग्य से ब्राह्मणों की इस व्यवस्था के कारण आन्ध्र, मलावार आदि प्रान्तों में हिन्दू-मुस्लिम पानी, रोटी आदि का सवाल नहीं उठने पाया। ब्राह्मण रोटी-पानी को अपनी जाति तक सीमित रखते थे, शूद्रों के खान-पान से उनके धर्मशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं था। फिर अब्राह्मणों को क्या पर्वाह ? इसलिए आन्ध्र में हिन्दू रोटी-पानी मुस्लिम रोटी-पानी नहीं बनने पाया। हाँ, प्रसादराव जैसों के ब्राह्मण-घरों में कुछ हाय-तोबा जरूर मची। रेड्डी-कम्मा-परिवारों ने भी अछूतों के साथ रोटी-पानी करने में आपत्ति जरूर उठाई। मगर आन्ध्र तरुण अछूतोद्धार को बिलकुल साधारण-सी बात समझते हैं। वह तो लड़ रहे हैं साधारण जनता की रोटी की लड़ाई–किसानों को खेत पर अधिकार दिलाना, बेठ-बेगार उठवाना, पुलिस की घूस-रिश्वत और जुलुम को हटवाना, और जनता को सभी अत्याचारों से त्राण दिलाने के लिए स्वतन्त्रता की लड़ाई का रैनिक बनाना। जनता ने अपने तजर्बे से देखा कि एक-एक

तिनका अलग-अलग कुछ नहीं है, मगर हजार तिनके मिलकर हाथी को भी गिरा सकते हैं। जनता का आत्मविश्वास बढ़ा, साथ ही इन तरुण नेताओं में उनकी श्रद्धा भी।

1. किसान-सम्मेलन

14-15 मार्च (1944) को बेजवाड़ा में अखिल भारतीय किसान सम्मेलन होने जा रहा था। नौकरशाही आन्ध्र के किसानों और उनके नेताओं की शक्ति जानती थी। फासिस्तों के प्रति जितनी घृणा ये किसान और उनके नेता अपने दिलों में रखते थे, उतनी दूर तक नौकरशाही भी नहीं पहुँच सकती थी। अपनी अंधी नीति के अनुसार नौकरशाही ने राष्ट्र के फासिस्त-विरोधी नेताओं को जेलों में बन्द करके पाँचवें दस्ते के काम को आसान कर दिया और वे देश-भक्ति का चोला पहनकर इन सच्चे देशभक्तों के खिलाफ तरह-तरह का प्रचार करने तथा जनता को भड़काने में अपनी सारी शक्ति लगाने लगे। किन्तु आन्ध्र के ये तरुण-नेता मजूर-किसान जनता के अपने थे। जनता इनकी बात पर विश्वास करती थी, आखिर, आग-पानी में सर्वत्र वह इन्हीं को अपने साथ देखती थी, अकाल हो चाहे महामारी, पुलिस-जमींदार का जुलुम हो या विशाखपटनम् पर जापानी बमवर्षा, सभी जगह हथेली पर प्राण रख करके कौन लोगों के पास डटे रहे, यह वह खूब जानती थी। नौकरशाही किसानों के उत्साह और शक्ति को बेजवाड़ा में विराट् रूप में साकार नहीं देखना चाहती थी। उसने सम्मेलन के काम में हर तरह की रुकावट डालना अपना फर्ज समझा। हफ्तों पहिले और पीछे तीस मील चारों ओर के सभी स्टेशनों से बेजवाड़ा का टिकट बन्द कर दिया गया। समझा था कि इस तरह किसान सम्मेलन में आने से रुक जाएँगे। लेकिन अपने सम्मेलन में किसानों को आने से रोक कौन सकता था। उनके पास गाड़ियाँ थीं, कितने ही के पास तो नावें थीं और पैर तो सभी के पास थे ! पुलिस के गोइन्दों ने झूठी अफवाह फैलाने में भी आनाकानी नहीं की। कभी कहा–रास्ता बन्द है, कभी कहा–वहाँ तो गोली चलेगी, कहीं-कहीं यह भी कि शहर को सरकार बन्द कर चुकी है। शहर के स्वास्थ्य विभाग के अध्यक्ष बीमारी फैलने का बहाना करके सम्मेलन बन्द करने की अलग कोशिश कर रहे थे। लेकिन आन्ध्र के किसान और उनके नेता कोई कच्चे गुइयाँ नहीं थे। वहाँ पाँच हजार सधे हुए (कम्युनिस्ट) पार्टी-मेम्बर, दस हजार स्वयंसेवक-स्वयंसेविका, और एक लाख किसान सभा के मेम्बर, और गाँव के गाँव लाल झंडे पर जान देनेवाले लोग थे। नौकरशाही पाँचवाँ दस्ता और लीडरी के लिए मरनेवाले कितने ही कांग्रेसी नेता सर पटकते रह गए, मगर किसानों का सम्मेलन बड़े शान से हुआ। दो हजार स्वयंसेवक तो कई दिन पहिले ही पहुँच चुके थे, फिर चार हजार और आये। 13 तारीख की रात को उनकी संख्या आठ हजार के भी ऊपर पहुँच गई, जिनमें पाँच सौ महिला-सेविकाएँ थीं।

14 तारीख को सवेरे आठ बजे वह स्मरणरीय जलूस निकला, जिसकी तुलना कांग्रेस के अधिवेशन के जुलूसों से भी करनी मुश्किल है, क्योंकि वह निर्भर करता है उच्च और मध्यम वर्ग के उत्साह और धन पर, और यह था किसानों और कमकरों का जुलूस। दो मील तक आदमियों का चलता प्रवाह था, जिसमें हजारों लाल झंडियाँ और झंडे फहरा रहे थे। हजारों कंठों से निकले गगन-भेदी नारे बेजवाड़ा को मुखरित कर रहे थे। दर्शकों से अट्टालिकाएँ और छत ही नहीं, रास्ते के वृक्ष भी ढँके थे। आन्ध्र के उत्तम जाति के बृहदाकार सुन्दर बैलों की गाड़ी में सभापति बैठे थे। शत्रु शोक-मूर्छित हो गये थे और मित्र पुलकित। मुर्दों में नई चेतना, नई आशा पैदा हो रही थी।

सम्मेलन में एक लाख से ऊपर स्त्री-पुरुष जमा हुए थे। चालीस-चालीस और पचास-पचास हजार की जनता तो रात के चार-चार बजे तक बैठी संगीत और अभिनय को देखती रहती। मैंने भी कांग्रेस के कितने ही अधिवेशन देखे हैं, लेकिन स्त्रियों की इतनी बड़ी संख्या वहाँ भी कभी नहीं देखी गई। 15000 से भी अधिक स्त्रियाँ और 4 बजे के धूप में ही आकर बैठ जाती थीं। स्वयं-सेविकाओं ने पानी पिलाने का बहुत अच्छा इन्तिजाम किया था। पानी में छूत-छात का तो सवाल ही क्या, वहाँ तो एक ही मिट्टी के गिलास से सभी पानी पी रहे थे। इतनी भारी भीड़ में इसे छोड़कर दूसरी व्यवस्था ठीक हो ही नहीं सकती थी।

रात को 10 बजे संगीत, नृत्य और अभिनय का प्रोग्राम हुआ। हमारे बंगाल के साथी ललित-कला में आगे बढ़े हुए हैं। हम समझ रहे थे कि यहाँ भी वही बाजी मार ले जाएँगे। हमने समझा था, आन्ध्र की ग्रामीण जनता झंडा उड़ाने, नारा लगाने और लाख दो-लाख की संख्या में एकत्रित हो अपने उत्साह और प्रेम को दिखाने में भले ही अग्रणी हो, मगर कला के इस क्षेत्र में बंगाल के पास पहुँचने में अभी उसे बहुत देर लगेगी। लेकिन आन्ध्र ने हमारी धारणा को झूठा कर दिया। दो दिन के कला-प्रदर्शन के बाद कॉ. मुजफ्फर और कॉ. गोपाल हलदर ने अपने भावों को प्रगट करते हुए कहा–इनके पास वह अतल स्रोत (जनता), है जो सभी कलाओं की जननी है; यहाँ के कर्मी अपने साथ पहिले किसी कला को लेकर जनता के पास नहीं पहुँचे, बल्कि वह उन्हीं से कला को सीखते हैं, जब कि बंगाल में हम मध्यमवर्ग की कला का संस्कार ले जनता के पास पहुँचते हैं और उसकी कला को ठीक से सीख नहीं पाते।

आन्ध्र के साथी जिस वक्त जनता की लड़ाइयाँ लड़ने लगे थे, उस वक्त उन्हें कभी ख्याल भी न आया था, कि जनता राजनीतिक ज्ञान प्राप्त करने का पात्र ही नहीं है, बल्कि उसका प्रतिदान कहीं ज्यादा है। सतयुगवाले कांग्रेसी नेता वर्ष में एक बार अंग्रेजी लच्छेदार व्याख्यान देकर और सरकार के सामने कुछ माँग-जाँच पेश करके अपनी देशभक्ति पूरी कर डालते थे, जनता से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था, जनता उन्हें जानती नहीं थी। गाँधीजी ने माँग-जाँच का रास्ता छोड़ा और जनशक्ति का आवाहन किया। अब अंग्रेजी के लच्छेदार भाषण से काम न चल सकता था और न छठे-छमाहे शहरी अधिवेशनों से। उन्होंने अपनी माँगों को जनता की माँग बनाने के लिए उसके बीच जाना शुरू किया। जनता ने अँगड़ाई ली। इन्द्र का सिंहासन डोलने लगा। लेकिन गाँधी-आन्दोलन ने भी जनता का बाहरी स्पर्श-भर पाया। स्वराज और आजादी के नारे को जनता ने मुग्ध और चकित होकर देखा, उसे निराकार स्वराज्य निराकार भगवान् जैसा ही मालूम हुआ। लेकिन आन्ध्र के तरुण कम्युनिस्ट निराकार स्वराज्य के लिए जनता का आवाहन नहीं कर रहे थे। वह उनकी रोज-बरोज की लड़ाइयों को लड़ाकर बतला रहे थे, कि हम साकार स्वराज्य चाहते हैं–कामचारों को नहीं कमकरों को इस धरती का मालिक होना पड़ेगा, तभी सब आफतों से मुक्ति होगी। कई वर्षों तक वह भी किसानों में भाषण देते रहे, लड़ाइयों को लड़ते रहे, फिर जनता ने उन्हें बतलाया कि व्याख्यान की भाषा के अलावा एक और भी भाषा है, जिसके इस्तेमाल से थोड़े में बहुत समझाया जा सकता है और जनता के अन्तस्तल तक को प्लावित किया जा सकता है। वह भाषा है जनता के गीतों की, उसके नृत्यों, अभिनयों, प्रहसनों की। कोई-कोई गीत तो पहिले के किसान-मजदूर-संग्राम में ही बने। संगीत अभिनय का सहयोग पाकर हजारगुना शक्तिशाली हो जाता है, इसका पता 1942 में मिला। शायद किसी शिक्षित तरुण ने इस प्रयोग को शुरू नहीं किया। लड़ाई लड़नेवाली जनता के किसी पुत्र ने ही देवता-प्रेम या दूसरे पुराने विषयों की जगह अपनी नई माँगों को रखकर कला का प्रथम प्रयोग किया। शायद तरुण नेताओं में से भी कितने ही गँवारू नाँच-गाने को अच्छी दृष्टि से भी नहीं देखते थे और स्वयं अखाड़े में कूदना तो सभी के लिए लज्जा की चीज थी। लेकिन, जल्दी ही उनका मोह दूर हो गया। उन्होंने देखा, जन-कला की भाषा उनके विचारों को बहुत आसानी से हरेक के हृदय तक पहुँचा सकती है। किसान वीर और उसकी कुर्बानी की बुर्र कथा (वीरकथा) को दो साधारण-सी मिट्टी की एकमुँही ढोलकों पर गाकर रात-रात भर मंत्र-मुग्ध हो सुनने के लिए लोगों को मजबूर किया जा सकता है। अब उन्होंने अपनी बुर्र-कथाएँ बनाईं–किसानों के युद्ध, मजूरों की मिहनत, स्तालिनग्राद, जोया आदि-आदि, कितनी ही नई बुर्र-कथाएँ बनीं। किसानों और मजूरों ने अपने में से कवि और गायक दिए, शिक्षितों ने भी शिष्यता स्वीकार की, चारों ओर से लोग इन नई बुर्र-कथाओं की माँग करने लगे। उस दिन जब मैं गुंटूर में था, तो पार्टी से एक किसान ने विवाह के लिए एक बुर्र-कथा-मंडली माँगी थी और 160 रु. दक्षिणा पेश की थी। आज आन्ध्र में जिला-जिला के ही नहीं तालुके-तालुके (तहसील-तहसील) की अपनी बुर्र-कथा-मंडलियाँ हैं। उस समय आन्ध्र में 5000 पार्टी मेम्बर थे, जिनमें सारा समय जनता का ही काम करनेवालों की संख्या 1000 तक पहुँच चुकी थी। उनमें 74 सैकड़ा विवाहित थे। कम्युनिज्म को घर से शुरू करना वह जरूरी समझते हैं। उनकी पत्नियाँ, बहिनें और माताएँ पहिले इन तरुणों को पागल भले ही समझती रही हों, लेकिन अब वह समझने लगीं कि

हरेक स्वार्थ-त्याग और आत्मोत्सर्ग पागलपन नहीं है। पिछले साल-भर तक स्त्रियों के लिए विशेष शिक्षाशाला चलती रही, जहाँ कुछ हफ्तों से 3 महीने तक उनकी शिक्षा होती थी। उनके पति और भाई क्यों विदेह हो रहे हैं, यह बात उन्हें इन क्लासों में मालूम होने लगी। राजनीतिक शिक्षा के साथ-साथ दस्तकारी, नर्सिंग, प्राथमिक-चिकित्सा आदि कितनी ही बातें उन्हें सिखलाई गईं। जो आग आन्ध्र तरुणों में जल रही थी, वह अब आन्ध्र तरुणियों के हृदयों में जलने लगी। तरुणियों में कितनी ही ऐसे राजू, रेड्डी, कम्मा परिवारों की थीं, जिनके घर में स्त्रियों के लिए पर्दा था, वह पुरुषों के सामने नहीं आ सकती थीं, बाहर जाने पर बैलगाड़ी को चारों तरफ से पर्दे से ढाँका जाता था। सैकड़ों तरुण अपनी तरुण-पत्नियों और बहिनों को घर से निकाल लाए, समाज के चौधरी बौखलाए, और राजनीतिक प्रतिद्वन्दी इसे अच्छा अवसर समझ इन तरुण-तरुणियों के ऊपर हर तरह का दोषारोप करने लगे। मगर जनता हमेशा अपने लिए मरनेवालों के साथ रही। जिस वक्त कम्युनिस्ट तरुणियों नें अपनी बुर्र-कथा-मंडली बनायी, उस वक्त विरोधियों ने और आसमान ऊपर उठाया। बुर्र-कथा नाच नहीं है। उसमें बीच-बीच में दो-तीन कदम आगे-पीछे चलते गाना-भर पड़ता है, मगर विरोधियों ने कहना शुरू किया—देखो ये बेशरम लड़कियों को नचाते-गवाते फिरते हैं। कान्फ्रेस के वक्त उदया और उसकी दो साथिनों ने जोया की मार्मिक बुर्र-कथा गाई थी। 40 हजार नर-नारी आँसू बहा रहे थे। वैसे आमतौर से स्त्रियाँ अपना गान और अभिनय सिर्फ स्त्रियों में ही करती हैं। कुत्ते भूँकते जरूर हैं, लेकिन जब जनता उन तरुणियों के साथ है, तो क्या पर्वाह ?

भागवत कथा और कालक्षेप के पुराने ढंग को लेकर किसी ने नए युग की कथाएँ सुनाईं। दो नौजवान आन्ध्र में भीख माँगनेवाले फकीरों का भेस धर के रंगमंच पर आए। एक के हाथ में था चिमटा और दूसरे के हाथ में खर्र-खर्र करके घूमनेवाला घुमौवा—काठ का सुग्गा। आल्ला-आल्ला करते बीच-बीच में दो-चार हिन्दी शब्द, बाकी तेलगू भाषा में वह ऐसी विचित्र भाव-भंगी के साथ गा रहे थे, कि भाषा न समझनेवाले भी बिना प्रभावित हुए न रहे। हममें से कितनों के तो कान खड़े हो गए—आन्ध्र के साथियों ने मिट्टी को सोना बनाने की विद्या सीख ली। जनता के भावों को प्रकट करनेवाले किसी भी गीत और अभिनय को तुच्छ नहीं समझना चाहिए। मेवाड़ के बंजारे किसी समय आन्ध्र तक बैलों पर माल लादे हुए वाणिज्य किया करते थे। रेलों के कारण उनका व्यवसाय छिन गया, वह अपने देश को भी लौट न सके और हजारों की तादाद में यहीं रह गए। आज भी वह मेवाड़ी हिन्दी बोलते हैं और अपने होली आदि त्यौहारों को मनाते हैं। मजूरी के अलावा उनकी स्त्रियाँ नाच-गान करके कुछ भीख माँग लिया करती हैं। गर्बा की तरह ताली बजाते शरीर को अगल-बगल में झुकाते एक चक्कर में घूमना और अपने देशवाले सुर में गीत गाना—यह है लम्बाड़ी नृत्य। इन बंजारों को यहाँ लम्बाड़ी कहा जाता है। लम्बाड़ी स्त्रियों की तरह लँहगा, चुनरी पहिने, बालों-कानों से कौड़ी तथा चाँदी के झुमके लटकाए 7 से 12 साल तक की कुछ लड़कियों ने लम्बाड़ी-नृत्य दिखलाया। गीतों का सुर लम्बाड़ियों का था, लेकिन तेलगू में कही जानेवाली बातें बंगाल के अकाल या स्त्रियों के उद्‌बोधन की थीं।

खुले मंच पर बिना किसी पर्दे के हिटलर, मुसोलिनी, तोजो का एक सुन्दर प्रहसन किया गया। यह प्रहसन सिर्फ हँसाने ही के लिए नहीं था, बल्कि उसमें बतलाया गया था, कि कैसे रावण की तरह फासिस्त दुनिया की आँखों में धूल झोंकते हुए आगे बढ़ते गए और कैसे स्तालिनग्राद और दूसरी जगहों पर उनकी पराजय शुरू हुई। अबीसीनिया, तुनीसिया, सिसिली आदि के पतन के साथ मुसोलिनी का पतन। फिर मुसोलिनी-हिटलर का बाँह पकड़कर रोना, सबको बहुत आकर्षक तौर से दर्शाया गया था। मल्लाहों के नाच और कितने दूसरे अभिनय इतनी सफलता के साथ दिखाए गए थे, कि भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से आए प्रतिनिधियों ने आभारपूर्वक स्वीकार किया—आन्ध्र ने हमारी आँख खोल दी, हम नहीं समझ पाये थे कि जिसे लोग गँवारू मनोरंजन कहते हैं, उसमें इतनी कला, इतनी मधुरता, मनोरंजन और शक्ति है। अलीगढ़ के साथी ने ढोला, चबोला, धोबियों, कुम्हारों और दूसरी कमकर जातियों के बीसियों तरह के गानों और नृत्यों को गिनाकर कहा, अब हम भी जन-जागरण के लिए जनकला का उपयोग करेंगे। मैंने पूछा—आप में से कोई खुद भी नाच-गा सकता है ? एक तरुण ने कहा—हाँ, मैं। मैंने पूछा—नाचने में शरमाओगे तो नहीं ? तरुण ने उत्तर दिया—अब

तक तो शरम लगती थी, लेकिन जान पड़ता है यहाँ कृष्णामैया ने उसे धो दिया।

जब चारों ओर से कठिनाइयाँ ही कठिनाइयाँ उपस्थित की जा रही थीं, तब भी सम्मेलन के कार्यकर्ता पूरे आत्मविश्वास के साथ अपने काम में लगे हुए थे। आत्मविश्वास के कारण थे। उन्होंने हवा में काम नहीं किया था। किसान बड़े उत्साह से अपने सम्मेलन की बाट देख रहे थे। उस दिन पन्द्रह सौ बैलगाड़ियों की भीड़ पंडाल के आस-पास की जगहों में जमा थी। स्वयं-सेवकों ने सफाई और पानी का पूरा इन्तिजाम किया था, बाकी आदमियों और पशुओं के खाने की चीजें किसान अपने साथ लाए थे। जिस तरह जनकला को एक नया रूप दिया, उसी तरह किसानों ने धार्मिक यात्राओं को भी एक नया रूप दिया था। तीर्थयात्रियों की प्रभा (शिखर) पर देवताओं के चित्रों की जगह मजूर-किसान नेताओं के बड़े-बड़े चित्र लगे थे और उन्हें लाल झंडियों से सजाया गया था। सवारी के लिए गाड़ियों की अत्यावश्यकता होने पर भी गाँववालों ने 'प्रभा' के लिए एक गाड़ी सुरक्षित रखी थी। एक गाँव ने सम्मेलन के लिए तीन हजार रुपए दिए थे और उसके दो हजार नर-नारी उत्सव में शामिल हुए थे। गाँवों में घर पर लोग रहने के लिए तैयार नहीं थे। एक बुढ़िया ने कहने पर साफ जवाब दिया—मैं जरूर जाऊँगी, क्या जाने फिर ऐसा अवसर मिले या न मिले ! बेजवाड़ा से पचासों मील दूर से एक मुसल्मान परिवार गाड़ी पर आया था। गाँव में भी इधर मुसल्मान लोग एक तरह की हिन्दी बोलते हैं। मैंने उस गाड़ी पर एक हरी और एक लाल झंडी देखकर पूछा—यह दो रंग की झंडियाँ कैसी ? दृढ़, स्वस्थ, और बलिष्ठ तरुण ने उत्तर दिया—यह हमारी मुस्लिम लीग की झंडी है और यह हम किसान-मजदूरों की। उसने बतलाया कि हमारे गाँव के सभी मुसल्मान किसान सभा में हैं और हमारा महबूब पार्टी में। मैंने पूछा—हिन्दी में आपके लिए गीत बने हैं या नहीं ? जवाब मिला—कामरेड महबूब ने हमारी भाषा में नाटक लिखा है, नाटक खेला भी है, हम जानते हैं फासिस्त-राक्षसों के अत्याचारों को, हम जानते हैं सरकार की निकम्मी नीति को ! वहाँ तो नहीं किन्तु पीछे गुंटूर में कामरेड महबूब से मुलाकात हुई। इधर दक्षिण के मुसल्मानों में बोली जाने वाली हिन्दी (दकिनी) बड़ी प्यारी भाषा है। व्याकरण भी उसका बहुत सरल है—लिंग, वचन के नियमों में काफी कमी कर दी गई है। वस्तुतः बाहर के प्रांतों के लिए इसी तरह की हिंदी चाहिए। महबूब उर्दू भी अच्छी जानते हैं। लेकिन वह अपने और मुट्ठी-भर साहित्यिकों के लिए नाटक नहीं लिखने जा रहे हैं। वह उधर की—आंध्र ही नहीं सारे दक्षिणी भारत की—मुस्लिम जनता के लिए नाटक लिखते हैं। इसीलिए दकिनी भाषा को अपनाए हुए हैं। वह अपने नाटकों को छपवाना चाहते हैं, मगर इधर उर्दू का वैसा कोई प्रेस नहीं। आन्ध्र के कम्युनिस्ट मुस्लिम लीग को संदेह की दृष्टि से नहीं देखते, वह उसे मुसल्मानों की राष्ट्रीय संस्था समझते हैं और उसे दुर्बल नहीं सबल देखना चाहते हैं। इसीलिए मुसल्मान किसान-मजदूरों को मुस्लिम लीग में शामिल होने के लिए प्रेरणा देते हैं। वह अच्छी तरह जानते हैं कि साधारण किसान-मजदूर जनता के शामिल हो जाने पर मुस्लिम लीग राष्ट्रीय क्रांति के लिए एक बड़ी शक्ति बन जाएगी।

बिहार, युक्तप्रांत, और पंजाब के प्रतिनिधि इन बैलगाड़ियों के मुहल्लों को बड़ी शौक से देखने जाते थे। बालसंघम् के बालक दूर से आये हम प्रतिनिधियों को देखकर लाल सलामी देते थे और तेलगू भाषा में कोई जोशीले गीत सुनाते थे।

पानी, पाखाने के अतिरिक्त इतनी बड़ी भीड़ के खाने का इन्तिजाम करना आसान काम नहीं था, लेकिन भोजनशाला के प्रबन्धक एक लाख आदमियों को खिला देना खेल-सा समझते थे। उनका प्रबन्ध इतना सुन्दर था, कि किसी को खाने की दिक्कत नहीं होती थी। एक बार के खाने का चार आना टिकट था। एकेक बार चार-चार पाँच-पाँच हजार आदमियों को बैठाने का इंतिजाम था, जिसको दो-दो ढाई-ढाई सौ के घेरों में बाँटा गया था। वहाँ न ब्राह्मण का सवाल था न शूद्र का, न हिन्दू का न मुसल्मान का। मनुष्यमात्र एक साथ एक पाँती में बैठकर भोजन करते थे।

सम्मेलन की ओर से कई प्रदर्शनियाँ खुली थीं। हजारों बैलों, गायों और भैंसों की एक विस्तृत पशु-प्रदर्शनी थी। सरकारी कृषि-विभाग को इसमें सहयोग देना चाहिये था, लेकिन वहाँ उसका कोई पता नहीं था। मध्यआन्ध्र के इन जिलों में अच्छी नसल की गाय-भैंसों के पालने का कितना शौक है, यह इस प्रदर्शनी से मालूम होता

था। आन्ध्र की सुन्दर नसलों के साथ-साथ हरियाना और मांटगोमरी (साहीवाल) की नसल के सुन्दर गाय-बैल और हिसार की भैंसें भी मौजूद थीं। जिन बैलों का प्रथम और द्वितीय इनाम मिले थे, उनके दर्शन के लिए दर्शकों की भीड़ लगी रहती थी।

2. पुराने आंध्र की तीर्थयात्रा

धान्यकटक (अमरावती) नागार्जुनीकोंडा, जगैय्यापेट्ट, गोली आदि प्राचीन भारतीय कला के ध्वंसावशेष आंध्र में ही हैं। हरेक पुरातत्त्वप्रेमी और कलानुरागी के लिए ये भारत के महान् तीर्थ हैं। मैंने इनके बारे में पढ़ा था, शिलालेखों और मूर्तिचित्रों के फोटो भी देखे थे। 1933 में वहाँ जाते-जाते रह गया। अब की बार इस अवसर से वंचित नहीं रहना चाहता था। सौभाग्य से मुझे श्री संजीवदेव जैसा पथप्रदर्शक मिल गया। संजीवदेव आंध्र के एक ख्यातनामा, कला-समालोचक हैं और मेरी ही तरह उनको भी घुमक्कड़ी-जीवन का व्यसन रहा है। हिमालय, उत्तरी भारत और बंगाल में वह वर्षों घूमते रहे। उनका गाँव तुम्मपुडी कृष्णा पार कर दो ही तीन स्टेशन बाद पड़ता है। यह इलाका जमींदारी नहीं रैय्यतवारी का है, अर्थात् किसानों और सरकार के बीच में बड़े-बड़े जमीदारों का यहाँ अभाव है। तुम्मपुडी के पास कृष्णा की बड़ी नहर जाती है। खेतों की पाँच-छै हाथ मोटी कोयले जैसी काली मिट्टी बतला देती है, कि यहाँ की भूमि बहुत उर्वर है; इसीलिए एक एकड़ का दाम तीन-तीन हजार रुपये तक जाता है। गाँव के आसपास मीठे नींबू के बहुत से बाग हैं, ताड़ों और बबूलों की तो कोई संख्या ही नहीं है–तुम्मपुडी का अर्थ है बबूलपुरी। शायद बबूलों के जंगल में यह गाँव पहिले-पहिल आबाद हुआ। गाँव की अधिकांश भूमि के मालिक संजीवदेव के सजातीय कम्मा लोग हैं। उनमें से बहुतों के मकान गाँव नहीं, शहर जैसे मालूम होते हैं। संजीवदेव को उनके चचा ने गोद लिया था। घर में सिर्फ बूढ़ी चाची थीं, जो वेदान्तिनी होते हुए भी घर में बहू देखने की लालसा लगाये हुए हैं। शायद संजीवदेव अब और उनको अधिक निराश नहीं करेंगे। गाँव में एक लड़की कितने ही दिनों से उनके लिए ठीक कर रखी गई है, मगर वह उनके कलाप्रिय हृदय के अनुकूल नहीं है। साथ ही संजीवदेव शहर की परियों को भी पसन्द नहीं करते। घर पक्का, दुमहला, हवादार है, जिसे सजाने का प्रयत्न नहीं किया गया है। आँगन में तुलसी का बिरवा एक पक्के ऊँचे थाले पर लहरा रहा था, जो बतला रहा था, कि चाची शुष्क वेदान्तिनी ही नहीं हैं। उन्होंने हमारे लिए आन्ध्र का सुन्दर भोजन तैयार किया। हाँ, मिर्च के लिए थोड़ीं मेहरबानी रखकर। हम पीढ़ों पर बैठे। हरे केले के पत्ते में मेहमान को भोजन कराना यहाँ बहुत अच्छा समझा जाता है। लेकिन भोजन-पर से केले के पत्ते को रसोई-घर से चौके तक लाना आसान काम नहीं, इसके लिए संभ्रान्त परिवारों में एक गोल पेंदी तथा बिना बारी का थाल होता है, जिससे पत्ते को आसानी से सरकाकर सामने रखा जा सकता है। हर बार भात को घी से सींचने का आन्ध्र में रवाज है। तर्कारी, चटनी, अचार, दही, सांबर सबको पत्ते पर सँभाल लेना उतना मुश्किल नहीं है, लेकिन मिर्च, नमक, इमली और नींबू देकर बना दाल का रस–चारु–की बड़ी धार को भात में सँभालना मेरे लिए सदा बड़ी समस्या रही। दक्षिण के अभ्यस्त लोग ऐसे समय कलाई तक के अपने सारे हाथ को भात मसलने और चारु मिलाने में लगा देते हैं, लेकिन चीनी लकड़ियों से अभ्यस्त होने पर भी अभी तो मुझे इसमें असफल ही रहना पड़ा। यहाँ के कम्मा पुरुषों को मैंने देखा, मगर स्त्रियों को नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह आन्ध्र की उन तीन कुलीन जातियों में हैं, जिनकी स्त्रियाँ पुरुषों के सामने नहीं आतीं। कम्मा लोगों के रूप, रंग और आकार के देखने से ही मालूम हो जाता है कि यह उत्तरी भारत की लड़ाकू जातियों से सम्बन्ध रखते हैं।

धान्यकटक–18 मार्च को हम दोनों रेल से गुंटूर गये। धान्यकटक (अमरावती) वहाँ से बीस मील पर है, मोटर-बसें बराबर चलती रहती हैं। धान्यकटक बौद्धों का एक पुनीत स्थान रहा और तांत्रिक बौद्धों के लिए तो यह सबसे बड़ा तीर्थ था। इसी के नाम पर तिब्बत में आजकल का सबसे बड़ा मठ (आठ हजार भिक्षुओंवाला) डेपुङ प्रतिष्ठापित हुआ था। डेपुङ् का शब्दार्थ है धान्य-कटक या धान्य-राशि। तान्त्रिक बौद्धों के अनुसार बुद्ध ने तन्त्र-मार्ग का प्रथम उपदेश यहीं पर किया, अतएव यह उनके लिए बोधगया से कम पवित्रता नहीं रखता।

इसमें ऐतिहासिक सत्य का अंश भले ही न हो, मगर इससे स्थान की महत्ता तो जरूर प्रकट होती है। तिब्बत में धान्यकटक जाने की कुछ पथ-प्रदर्शिका पुस्तकें भी लिखी गई हैं; जिनमें अधिकांश सुनी-सुनाई बातें ही दर्ज हैं। लेकिन धान्यकटक मौर्यों के बाद बौद्धों का एक महान् गढ़ रहा है, इसमें सन्देह नहीं। धान्यकटक का महाचैत्य मूर्तिकला का सुन्दर नमूना था, यह तो उसके पाषाणफलक अभी बतला रहे हैं–यह प्रायः सभी लन्दन के ब्रिटिश-म्युजियम में रखे हुए हैं। अमरावती की कला एक स्वतन्त्र कला-सम्प्रदाय है। लेकिन कला ही नहीं इस चैत्य (स्तूप) ने बौद्धों के एक प्रमुख धार्मिक सम्प्रदाय–चैत्यवादी–को भी अपना नाम प्रदान किया था। तिब्बती परम्परा के अनुसार धान्य कटक के पूर्व और पश्चिम के दो पर्वतों के पास निवास करने के कारण दो बौद्ध सम्प्रदायों के नाम पड़े थे–पूर्वशैलीय और अपरशैलीय। धान्यकटक के पाँच मील पूरब अब भी एक शैल है, लेकिन पश्चिम का शैल तीस मील से अधिक दूर है।

धान्यकटक कृष्णा नदी के बाएँ तट पर बसा हुआ है। समुद्र से यहाँ तक नावों के आने में कोई रुकावट नहीं है, इसलिए अपनी समृद्धि के काल में धान्यकटक एक अच्छा-खासा बन्दरगाह रहा होगा; साथ ही धान्यकटक आन्ध्र-साम्राज्य के पूर्वी भाग की राजधानी के रूप में तो शायद अशोक के समय से ही चला आ रहा था, पीछे इक्ष्वाकुवंशियों के समय तो यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया था। धान्यकटक के ध्वंसावशेष आज भी आठ-दस मील तक चले गये हैं। अमरावती का छोटा-सा कसबा और धरनाकोट का गाँव इसी ध्वंस पर बसे हुए हैं। अमरावती के लगे किन्तु धरनाकोट से मील-भर पश्चिम महाचैत्य का ध्वंसस्थान है। इसके सुन्दर शिलाफलक बहुत पहिले ही हटाये जा चुके हैं। पीछे की खुदाई में जो शिलाखंड मिले, उनमें से कुछ अभी भी एक छत से ढँके कटघरे में रखे हुए हैं। यद्यपि यह उत्कीर्ण-मूर्तियाँ छँटुवी हैं, किन्तु यह भी धान्यकटक के दक्षशिल्पियों के हाथ की दाद देती हैं। धरनाकोट में शेख, सैयद, मुगल, पठान मुसल्मानों के बहुत-से परिवार बसते हैं, जिनकी जीविका खेती और क्रय-विक्रय है, लेकिन इन्हीं में उन शिल्पियों की भी सन्तानें हैं, जिन्होंने महाचैत्य को अपने हाथों से सिरजा। प्राचीन धान्यकटक के विस्तृत ध्वंसावशेष के गर्भ में हमारी कला और इतिहास की क्या-क्या सामग्री छिपी हुई है, इसे आज की व्यवस्था में नहीं जाना जा सकता। यह तभी जाना जा सकता है, जब राष्ट्र का भविष्य सहस्रशीर्ष, सहस्रभुज जनता के हाथ में आयेगा, जब नवीन आन्ध्र में उत्साह, कलाप्रेम, समय और श्रम की कमी नहीं रहेगी !

(क) श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा)–19 तारीख को हमारी जमात चार आदमियों की हुई। गुंटूर से रेल से चलकर मध्याह्न को माचेरला पहुँचे। माचेरला पहुँचने से मीलों पहिले पथरीली भूमि आ जाती है। यह पत्थर कहीं-कहीं हाथ-दो हाथ जमीन के नीचे से शुरू होते हैं, कहीं-कहीं धरती के समतल, और कहीं-कहीं थोड़ा ऊपर भी उठे हुए। यह सीमेंट के पाषाण हैं। एक सीमेंट कम्पनी रेलों पर भरकर इन्हें पचासों मील दूर अपनी फैक्टरी में ले जाती है। आज के आन्ध्र की झोंपड़ियों के लिए सीमेंट की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आज जनता अपनी और सीमेंटशैलों की स्वामिनी नहीं है। जब स्वामिनी होगी तो एक छोटी-सी फैक्टरी से काम नहीं चलेगा, उस वक्त यह सीमेंट-प्रसविनी भूमि एक सीमेंट-उत्पादक नगर में परिणत हो जायेगी और आज की निरीहता और दरिद्रता का कहीं पता नहीं रहेगा। माचेरला एक छोटा-सा बाजार है। इमारत में काम आनेवाले शिलाफलक आज भी यहाँ तैयार होते हैं, श्रीपर्वत के शिल्पियों के पास अब यही काम रह गया है। श्रीपर्वत या नागार्जुनी कोंडा यहाँ से तेरह मील दूर है। श्रीपर्वत के ध्वंसावशेष की खुदाई होने के बाद बैलगाड़ी जाने लायक सड़क बना दी गई। सड़क ऊँची-नीची पहाड़ी भूमि से होकर जाती है। हम लोगों ने दो बैलगाड़ियाँ सवारी के लिए ली थीं, धूप काफी तेज थी, और पानी दूर-दूर बसे रास्ते के चार-पाँच गाँवों में ही मिल सकता था। हमें श्रीपर्वत के पास के गाँव 'पुल्लारेडीगुलम्' का एक तरुण ब्राह्मण साथी मिल गया था। मैं अभी उसे पार्टी-सहायक-भर ही जानता था, मुझे क्या पता था, कि सत्रह सौ बरस पुराने शिलालेखों को वह भी मेरी ही तरह फर-फर बाँचता जायेगा। तरुण ने संस्कृत या पाली भाषा नहीं पढ़ी थी, तो भी वह जहाँ-तहाँ शब्दों का अर्थ समझ लेता था, यह रहस्य हमें दूसरे दिन मालूम हुआ। पलनाड का यह पहाड़ी इलाका बहुत पीछे तक बहादुरों की भूमि रहा है। आज भी इसके वीरों की बहुत-सी बुर्र-कथाएँ लोग रात-रात भर सुनते हैं। कुछ ही साल पहिले यहाँ लीडरी

चाहनेवालों ने एक आन्दोलन फैलाया, जिसमें जनता अपने पुराने जोश के साथ पिल पड़ी। नेता राजनीतिक शिक्षा या संगठन तो करना जानते नहीं थे। विशृंखलित जनता ने एक बार जोश दिखलाया, फिर पुलिस और मिलिटरी उन पर दौड़ पड़ी, और उनकी वह दुर्गत हुई जिससे मिदनापूर और बलिया याद आते हैं। अभी लोग सशंक रहते हैं, मगर पलनाड की स्वाभाविक वीरता अभी उस भूमि को छोड़कर गई नहीं है।

गाँवों में कहीं-कहीं लम्बाड़ी (बंजारे) लोगों की भी झोंपड़ियाँ हैं। पहिले गाँव में तो उनकी भाषा मुझे पहिले-पहिल सुनने में आई थी, इसलिए मैंने उसे परखने में अपने चार-पाँच मिनट की बातचीत को खतम कर दिया। फिर मालूम हुआ, यह मेवाड़ के दक्षिणी सीमान्त की भाषा है। छे-छो लगाकर अगले गाँव में जब मैंने एक स्त्री से एक-दो बातें, पूछीं, तो उसका चेहरा खिल उठा। उसने समझा मैं भी लम्बाड़ी हूँ। शायद बीस बरस पहिले होता, तो मैं भी कुछ दिनों तक लम्बाड़ी बनता। इनके रहने की फूस की बिल्कुल छोटी-छोटी झोंपड़ियाँ हैं। आन्ध्र की यह बहुत ही गरीब जाति है। भाषा, वेष, रीति-रवाज अभी अपने पूर्वजों के ही पकड़े हुए हैं, इसलिए वह साधारण नहीं, एक अजनबी का दरिद्रतापूर्ण जीवन विता रहे हैं। जीवन की व्यथा को भुलाने के लिए उनके अपने गीत और नृत्य हैं, जिनमें स्त्री-पुरुष दोनों ही शामिल होते हैं; कभी पैसा मिल जाता है, तो सस्ती मदिरा की भी सहायता ले लेते हैं। वह लम्बाड़ी स्त्री मुझे भी लम्बाड़ी समझकर विकसितवदना हो रही थी। उस फटे-मैले चीथड़ों से ढँके शरीर, कौड़ियों के झुमकोंवाले केशपाश से घिरे कृशगौर-मुख पर अकाल-वार्धक्य के साथ झलकती हँसी मेरे मन में क्या-क्या भाव पैदा कर रही थी ! लेकिन मुझे यह सोचकर सन्तोष हुआ, कि आन्ध्र के नये नेता जनता के लिए हैं, उनके आन्ध्र में किसी जाति के जीवन में बाधा नहीं डाली जा सकती।

दस मील पहुँचते-पहुँचते अँधेरा हो गया। अब भूमि ऊबड़-खाबड़ ही नहीं थी, बल्कि यहाँ छोटी-छोटी झाड़ियों से ढँकी पहाड़ियाँ भी शुरू हो गई थीं। खूब अँधेरा हो गया था, जब हम पहाड़ी के सबसे ऊँचे स्थान पर पहुँचे और साथियों ने कहा, दुर्ग का यह पहिला फाटक है। इसके बाद उतराई शुरू हुई और आगे हमें एक दूसरा फाटक बतलाया गया। फाटक का मतलब था, बड़े-बड़े पत्थरों की चिनी दीवारें जो दोनों तरफ से नजदीक आ जाती हैं। पहिले फाटक के होने में तो सन्देह नहीं, किन्तु दूसरे के बारे में वही बात नहीं कही जा सकती थी।

हम रात के नौ बजे पुल्लारेड्डीगुडम् में पहुँचे। यह डेढ़ सौ घरों का छोटा-सा गाँव है। गाँव में दो छोटी-छोटी धर्मशालायें (चोल्टरी या छत्रम्) हैं। एक को गाँव के बनिया ने धर्मार्थ बना दिया है। हमने दो कोठरियों में से एक में सामान रखा और बाहर बरांडे तथा बाद के खुले आँगन में सोने का इंतिजाम किया।

श्रीपर्वत की यह लम्बी-चौड़ी उपत्यका एक बड़ी कढ़ाई की तरह चारों ओर पहाड़ से घिरी हुई है। कढ़ाई की बारी दो जगह से फूट गई है, जहाँ पर कि कृष्णा उसके चरणों को छूती है। कृष्णापार मोगलाई यानी निजाम का राज्य है। धान्यकटक यहाँ से नीचे सत्तर मील के करीब है। लेकिन नौका पोदुगल तक ही आ सकती है। आगे चट्टानों के कारण वह नहीं आ सकती, अर्थात् लंका और दूसरे द्वीपों के जिन बौद्ध तीर्थ-यात्रियों ने अपने-अपने शिलालेख श्रीपर्वत में छोड़े हैं, वे अपनी समुद्री नावों द्वारा पोदुगल तक ही आये होंगे, फिर उन्हें उन्तीस मील की यात्रा स्थल से चलकर पूरी करनी पड़ी होगी।

श्रीपर्वत 'आश्चर्यवार्तासहस्रों' का उद्गम-स्थान रहा। श्रीपर्वत के तन्त्र-मन्त्रवेत्ताओं के चमत्कारों की प्रतिध्वनि संस्कृत के अनेक काव्यों में गूँज रही है। दूसरी सदी के महान् दार्शनिक नागार्जुन का तो यह बहुत ही प्रिय स्थान रहा, और पीछे तान्त्रिक बौद्धों का यह सर्वोत्तम पीठ बन गया। नागार्जुन की कितनी ही दार्शनिक कृतियाँ यहीं लिखी गई होंगी। अपने 'सुहृद्' शातवाहन नरपति को प्रसिद्ध 'सुहृल्लेख' उन्होंने शायद यहीं बैठकर लिखा था। सुन्दर शिक्षाओं से पूर्ण यह यह पत्र आज भी अपने तिब्बती और चीनी भाषा-अनुवादों में सुरक्षित है। नागार्जुन ने अपनी 'विग्रहव्यावर्तनी' और दूसरे निबन्धों द्वारा जो तर्क और न्यायशास्त्र का प्रारम्भ किया, वही आगे सारे भारतीय न्याय और तर्कशास्त्र के प्रबल प्रवाह का उद्गम स्थान बना। अब श्रीपर्वत का महत्त्व मालूम हो सकता है। पहाड़ों और कृष्णा की धारा से घिरा श्रीपर्वत एक स्वाभाविक दुर्ग है, किन्तु यह कभी

कोई बड़ी राजधानी रहा हो, इसका कोई चिह्न नहीं मिलता।' चान्तमूल की बहन चान्तिसिरी और पुत्र राजा वीरपुरिसदत (वीरपुरुषदत्त) तथा उसके पुत्र राजा एहुबल चान्तमूल ने अपार धनराशि खर्च कर श्रीपर्वत के भव्य स्तूपों को बनवाया। राजधानी धान्यकटक से सत्तर मील दूर इस दुर्गम-पर्वत में इन अद्भुत कृतियों का निर्माण भी इस स्थान के धार्मिक महत्त्व को बतलाता है।

दूसरे दिन हम लोग बहुत सबेरे ही, स्तूपावशेषों को देखने निकल पड़े। दो-तीन फर्लांग पर एक छोटे टीले के ऊपर एक छोटा-सा स्तूप और उसके उत्तर तरफ भिक्षुओं के रहने की कोठरियों से घिरा उपोसथागार मिला। इसकी ईंटें 16 इंच लम्बी, 9 इंच चौड़ी और 2 इंच मोटी थीं। टेकरी से थोड़ा और पूरब चलने पर समतल भूमि में श्रीपर्वत के सबसे बड़े स्तूप का ध्वंसावशेष है। इस स्तूप को अनेक 'अश्वमेधयाजी' राजा वीरपुरुषदत्त की बुआ चान्तिसिरी ने बनवाया था। शिलास्तम्भों पर बड़े सुन्दर अक्षरों में कई लम्बे-लम्बे लेख खुदे हुए हैं, जिनमें धान्यकटक के ईक्ष्वाकु-वंश के कितने ही व्यक्तियों के नाम तथा उनकी धार्मिक श्रद्धा का उल्लेख है। इन लेखों से पता लगता है, कि चान्तमूल (शान्तमूल) की दो बहिनें थीं–बड़ी चान्तिसिरि का ब्याह पोगिय-वंशज खन्दसिरि के साथ हुआ था। चान्तमूल के पुत्र राजा वीरपुरुषदत्त की रानी छठसिरि (षष्ठिश्री) के पिता का नाम हम्मसिरि (हर्म्यश्री) था। वीरपुरुषदत्त के पुत्र राजा एहुबल चान्तमूल का नाम भी शिलालेखों में आया है। उज्जैन की रुद्रधर भट्टारिका का भी नाम एक लेख में है। शायद उस वक्त धान्यकटक के राजवंश का उज्जैन के राजवंश से सम्बन्ध था। स्तूप का शिलाकंचुक अनेक मूर्ति-चित्रों से अलंकृत था, जिनका बहुत-सा भाग खुदाई में मिला और आज भी पास के म्युजियम में रखा है। महाचैत्य के पास एक दूसरा चैत्यघर है, जिसकी ईंटें 18 इंच लम्बी, 11 इंच चौड़ी और 3 इंच मोटी हैं। महाचैत्य की एक तरफ 36 खम्भों का विशाल उपोसथागार था।

म्युजियम में तत्कालीन आन्ध्र के प्रस्तर-शिल्प की जो अद्भुत झाँकी देखने को मिलती है, उससे आँखें चौंधिया जाती हैं। शिल्पी के लिए ये श्वेत पाषाण पत्थर नहीं, मानो मक्खन या मोम थे। कितने कोमल हाथों से उसने अपनी छिन्नी को चलाया होगा। शरीर के अंग-प्रत्यंग के सामंजस्य में कमाल किया गया है–बड़ी मूर्तियों में ही नहीं, क्षुद्रतम मूर्तियों में भी वही कौशल पाया जाता है। निर्जीव पाषाण को कैसी सजीवता प्रदान की गई है ! उत्कीर्ण दृश्यों में कहीं बुद्ध के जीवन को संकेतों द्वारा अंकित किया गया है, और कहीं साक्षात् मूर्ति द्वारा। कितने ही जातक-कथाओं के दृश्य भी हैं। एक जगह कुलीन स्त्री-पुरुषों का नृत्य हो रहा है, साथ में वीणा, ढोल आदि वाद्य बज रहे हैं। स्त्रियों के कितने ही आभूषण आज भी आन्ध्र में व्यवहृत होते हैं, लेकिन नाक में चार-चार आभूषण पहननेवाली स्त्रियों का उस वक्त अत्यन्त अभाव था। एक जगह शक योद्धा अंकित किया गया है, उसके सिर पर नुकीला टोपा है; लम्बा जामा, कटिबन्ध और पाजामे के साथ उसके मुँह पर लम्बी दाढ़ी भी है।

श्रीपर्वत यद्यपि महायानियों और तान्त्रिक बौद्धों के लिए परमपुनीत स्थान रहा, तो भी यहाँ के इन दृश्यों और मूर्तियों में महायान और तन्त्रयान की छाया भी नहीं दीख पड़ती।

महाचैत्य से दक्षिण कुछ फर्लांग पर दो-तीन और बौद्धविहारों और स्तूपों के ध्वंसावशेष हैं। बड़े-बड़े स्तम्भ और मूर्तियाँ जिस तरह टूटी हैं, उससे जान पड़ता है, कि विहारों में आग लगा दी गई थी।

श्रीपर्वत में शिलालेखों की भरमार है, यद्यपि उनमें कुछ नामों के अतिरिक्त दूसरी बातें एक-सी दुहराई गई हैं। इन शिलालेखों में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह पाली से अत्यन्त नजदीक है। ईक्ष्वाकु और उनके उत्तराधिकारी पल्लव राजाओं के प्राकृत लेख बतलाते हैं, कि शायद यही भाषा उस समय के शासक-वर्ग की मातृभाषा थी। यह निश्चय है, कि सर्वसाधारण की भाषा वर्तमान तेलगू का ही प्राचीन रूप रहा होगा। उस समय आन्ध्र-साम्राज्य के पश्चिमी और पूर्वी भागों में जनता की भाषा और शासकों की भाषा का द्वन्द चल रहा था। तृतीय शताब्दी तक अभी शासकों की भाषा (शिलालेखों की आर्यभाषा) का बोलबाला था। यह जानना बड़ा कुतूहलजनक होगा, कि किस शताब्दी में महाराष्ट्र में महाराष्ट्री ने जनता की अपनी भाषा का स्थान लिया और आन्ध्र की तेलगू ने शासकों की भाषा को निर्वासित किया। 'इकड़े' 'तिकड़े' 'कोन्डा' (पर्वत)

आदि कितने ही मराठी में बँच निकले शब्द भी, इन दोनों के इसी सम्बन्ध को बतला रहे हैं।

(ख) **लम्वाड़ी**–पुल्लारेड्डीगुडम् में कितने ही परिवार लम्वाड़ियों के बस गये हैं। पुरुषों की पोशाक में तो अन्तर नहीं है, लेकिन स्त्रियाँ अपनी वेष-भूषा को हर देश और काल में आसानी से नहीं छोड़तीं। लम्बाड़ी स्त्रियाँ भी इसका अपवाद नहीं हैं, अब भी वह मेवाड़ के बंजारों की पोशाक अपनाये हुए हैं, जो आन्ध्र स्त्रियों की लम्बी साड़ी के आगे विचित्र-सी मालूम होती है। अपने लहँगा, चुनरी और लटकते कौड़ियों-चाँदी के झब्बोवाली चोली को सिलवाने में उन्हें काफी मुश्किल होती होगी। हाथों में कंकण और हाथीदाँत की चूड़ियाँ बाजू के ऊपर तक चली जाती हैं। उनकी नाच में काफी परिश्रम होता है। उन्होंने नाच के वक्त एक गाना गाया था–

"तू पाँच पचीस दे, तू रे मोरे भाई, गुगरूगू।
तारी बासड़ीरे मूड़ो छोड़ रे, पाँच पचीस दे रे।
तारे बेटा ने पूचण दे रे, मोरे भाई.।
तारी बेटी ने पूचण दे रे.।
तारे ग्वाड़िन पूचण दे रे.।
त्वारी बाड़ी ने पूचण दे रे.।
तारे भाई ने पूचण दे रे.।
तारी भाई री ग्वाणी ने दे रे.।
तारे भीया ने पूचण दे रे.।
तारी याड़ी ने पूचण दे रे.।
तारी भोजाई ने पूचण दे रे.।
तारी बाई ने पूचण दे रे.।
तारी भ्यान ने पूचण दे रे.।। 1।।"

"भीया ने हाथे सोनेरी अँगूठी, खोंसला, खोंसला।
बापू रे हाथे सोने री झारी.।
मिचुड़ा (बिच्छू) खोंसला रे.।
दादा रे हाथमों सोने रा झारी, मिचुड़ा खोंसला खोंसला रे।
काका रे हाथे सोने रा कड़ा, मिचुड़ा।। 2।।"

"काका बसेरिये, दरजी झीकड़िया।
नसाब छाँण, लेखो करोरे, दरजी झीकड़िया।। 3।।"

लम्बाड़ी आज गंगा से बहुत दूर चले गये हैं, लेकिन अब भी गंगा उन्हें भूली नहीं है, कृष्णा-गोदावरी के गीतों की जगह लम्बाड़िनें गाती हैं–"ब्यातणुरे पगला, हेठे गंगा बहीजा।" लम्बाड़ी भाषा के कुछ शब्द हैं–

बाप	भ्याँन (नानकी बहिन)
याड़ी (माँ)	बाई (मोट बहन)
भीया (भैया)	ससुरो
भोजाई	सासु
साड़ी (साली)	मामा
नाना	
नानी	जम्मीं (धरती)
काका (चाचा)	खेतर (खेती)
दादा (पितामह)	घऊँ (गेहूँ)

दादी	साड़ (धान)
मासा (मौसी)	चावड़ (चावल)
फूपी (बूआ)	ग्वाड़नी (भार्या)
फूपा	छ्वारा (छोरा)
बापुरघर (बापघर)	छ्वारी (लड़की)
याड़िरघर (मायका)	डोकरा (बूढ़ा)
अंगार	डोकरी (बूढ़ी)
पाणी	
नूण	
मरचा	
माड़ी (मछली)	
बोटी (मांस)	
कुकुड़ी (मुर्गी)	
छेड़ी (बकरी)	
गोरली (भैंस)	
गावड़ी (गाय)	
बड़द (बैल)	
बादड़ (बादल)	
राम (आकाश)	
भाटा (पत्थर)	

दक्षिण में होली मनाने का रिवाज नहीं है, लेकिन लम्बाड़ी उसे बड़े शौक से मनाते हैं। यद्यपि वह आज चावल के देश में रह रहे हैं, किन्तु रोटी ही आज भी उनका प्रधान भोजन है।

3. नए आन्ध्र के कुछ गाँव

(क) दावलूर–बेजवाड़ा के किसान सम्मेलन में हमने किसानों के उत्साह को देखा था। मैं चाहता था उनके एक-आध गाँवों को देखना। साथियों से पूछने पर दावलूर देखने की इच्छा हुई। अभी तक ज्यादातर ईंटों-पत्थरों से बात करना था या अंग्रेजी पढ़े-लिखों से, लेकिन अब जाना था खेतिहर-मजूरों के लालगाँव में। सौभाग्य से साथी पिच्चैया मिल गए, जो हिन्दी अच्छी तरह जानते हैं। दावलूर तेनाली स्टेशन से अठारह-उन्नीस मील दूर है, लेकिन मोटर-बस गाँव के पास तक जाती है। हम लोग 10 बजे के करीब वहाँ पहुँच गए थे।

दावलूर गाँव में 3000 एकड़ (1 एकड़ बराबर 4840 वर्ग गज) जमीन है। गाँव के 100 परिवारों के पास निर्वाह-योग्य जमीन है–इनमें दो ब्राह्मण, 10 कम्मा और एक बनियाँ परिवारों के पास काफी जमीन है, वह कुलक-परिवार हैं। 220 अछूत परिवारों में 50 के ही पास एकाध एकड़ खेत हैं, बाकी किसानों के यहाँ मजदूरी करते हैं। पचास कम्मा, तेलगा और मुसल्मान परिवारों की भी जीविका सिर्फ मजूरी है। तीन मुसल्मान बढ़ई हल-फाल बनाने का काम करते हैं। पाँच हजाम भी अपने ही व्यवसाय से जीते हैं और उन्हें फसल पर हर किसान दो बोरा धान देता है। 30 धोबी-परिवारों का भी काम चल जाता है। बीस एरूकुल-परिवार टोकरी बनाते हैं, जिसे अनाज के दाम पर बेचते हैं। तीस तेलगा-परिवारों में कुछ फेरीवाले हैं। तीन चुड्डू परिवार गाँव की चौकीदारी करते हैं। 15 जंगम-परिवार स्त्री-पुरुष दोनों बुर्र-कथा कहते माँगते हैं। गाँव के तीन चौथाई परिवारों की जीविका सिर्फ मजूरी से चलती है। लेकिन यही तीन सौ खेतिहर मजूर आज सारे गाँव के कर्ता-धर्ता हैं। जो बारह-तेरह धनी किसान हैं, उनकी भी मजाल नहीं कि गाँव के विरुद्ध जायँ। आज इस गाँव में मजूर-सभा के 400 मेम्बर हैं और किसान-सभा के 100, महिलासभा की 106 सदस्याएँ और बानसंघ के 60। इनके अतिरिक्त

52 वालंटियर हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के 40 मेम्बरों में 32 अछूत जाति के मजूर हैं। लेकिन दावलूर के इन अछूतों को सिर्फ पाठकों के समझने की आसानी के लिए ही हम अछूत लिख रहे हैं, नहीं तो वह अपने को अछूत नहीं समझते। दूसरे भी उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं करते। उनके आत्मसम्मान ने कम्युनिस्टों की शिक्षा और क्रियात्मक व्यवहार से स्वाभाविक रूप धारण कर लिया है। यह सच है कि अभी उनकी गरीबी गयी नहीं है, लेकिन पहिले से उसमें बहुत अन्तर हुआ है। मजूरी भी बढ़ी है और दावलूर के मजूर कामरेड जिस तरह ईमानदारी से काम करते हैं, उससे सड़कों के ठेकेदार और दूसरे उन्हें रखना बहुत पसन्द करते हैं।

दावलूर के मजूरों में यह परिवर्तन कैसे आया ? यह अछूत ईसाई हो चुके हैं, इनके लिए गिरजा भी खुला हुआ है और गाँव में एक पादरी भी रहता है। लेकिन साहब पादरी इन नवदीक्षित ईसाइयों से वैसे ही दूर रहता रहा, जैसे कि ऊँची जाति का हिन्दू। मजूरी बढ़ाने या आर्थिक व्यवस्था बेहतर करने के लिए हिन्दूमालिकों, महाजनों और सरकार से लड़ना पड़ता, जिसके लिए पादरी सहायता करने को तैयार न थे। उनको सबसे आसान बात यही मालूम पड़ती थी, कि अपनी भेड़ों को मरने के बाद स्वर्ग में पहुँचा दिया जाय।

गाँव में इस परिवर्तन का सूत्रपात 1936 में हुआ। सूर्यनारायण राव (कम्मा) उत्साही कांग्रेस कार्यकर्ता और तालुका कांग्रेस के प्रेसिडेन्ट थे। अपने धुन के पक्के थे। समाज की कुछ भी न परवाह करके उन्होंने अपना विवाह एक विधवा से किया था। कांग्रेस के कामों के कारण उनका एक पैर सदा जेल में रहता ही था। वह राजमहेन्द्री जेल में थे, वहीं वह कामरेड रामलिंगैय्या के सम्पर्क में आए। रामलिंगैय्या ने साम्यवाद की घुट्टी पिलाई। सूर्यनारायण ने अपने गाँव के मजूरों में प्रचार करना शुरू किया। लेकिन मजूर उनकी बात सुनने को तैयार न थे। 1936 में उन्हें असफलता ही असफलता दिखाई पड़ी। पादरी कहता—ये नास्तिक अनीश्वरवादी हैं, इनकी बात मत मानो। दुर्भाग्य से सूर्यनारायण ऐसे तरुणों को अभी यह समझ में नहीं आया कि ईश्वर और धर्म के पीछे लाठी लेकर पड़ना सिर्फ पत्तियों को नोचना है। सारी विपत्तियों की जड़ तो है आर्थिक विषमता और आर्थिक शोषण। सारी शक्ति इस शोषण के विरुद्ध लगानी चाहिए, फिर "नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रम्।"

और तरह से निराश हो सूर्यनारायण ने बाइबल पर अधिकार प्राप्त किया और धनियों के विरोध में लिखे गए बाइबल के वाक्यों को लोगों के सामने रखना शुरू किया। साल-भर के परिश्रम के बाद मजूरों में से कुछ उनके साथ सहानुभूति रखने लगे। 1937 का साल था। मजूरों ने दो नाप धान की जगह ढाई नाप प्रतिदिन की मजूरी माँगी। काम लेनेवाले मालिकों ने मजूरी बढ़ाने से इनकार कर दिया। 500 मजूर-मजूरिनों ने खेतों में काम करना छोड़ दिया। सूर्यनारायण और उनके साथियों ने आस-पास के गाँवों में भी जाकर मजूरों को समझाया और आस-पास के 14 गाँवों के मजूर हड़ताल में शामिल हो गए। मालिकों ने दूसरे गाँवों से मजूर मँगाकर काम करने की कोशिश की, मगर सारा प्रयत्न बेकार गया। फसल का काम बिगड़ रहा था, आखिर जोताई, बोआई, कटाई साल के बारहों महीने तक तो चलती नहीं रहती, हफ्ते दो हफ्ते में ही वहाँ साल-भर का काम चौपट हो जाता है। तीन दिनों की हड़ताल के बाद सुलह हुई और दो नाप की जगह ढाई-तीन नाप की मजूरी पर। मजूर संघ पर अब मजूरों की पूरी आस्था हो गई। स्वर्ग में क्या मिलेगा, यह संदिग्ध बात थी; लेकिन मजूरी में प्रतिदिन एक नाप बढ़ जाना उनकी आँखों के सामने था। फिर वह अपनी शक्ति के संगठन के सबसे बड़े साधन मजूर-संघ को क्यों न दिल से प्यार करें।

पादरी ने कम्युनिस्टों के प्रभाव को बढ़ते देख दूसरी धमकी दी और कहा कि यदि मजूर संघ को नहीं छोड़ते, तो हम ब्याह नहीं कराएँगे। उन्होंने समझा कि सबसे बड़े ब्रह्मास्त्र को चला दिया, अब मजूरों की अकल जरूर ठिकाने आएगी। लेकिन मजूरों के पास कौन-सी लाख-दो-लाख की सम्पत्ति रक्खी थी, कि ब्याह के कानूनी न होने से दाय-भाग में बखेड़ा खड़ा होगा। उन्होंने कहा—जाने दो, हम गिरजा में ब्याह नहीं कराने जाएँगे, हमारा ब्याह हमारा मजूर-संघ करवायेगा। फिर तो मजूर-संघ के पंच ही पुरोहित बनने लगे। पंचों के सामने ही वधू वर के गले में माला डाल देती और वर वधू के गले में, सौभाग्य-चिह्न—मंगलसूत्र—डाल देता। पानभोज पर संघ ने निमन्त्रण किया और ब्याह पर पाँच रुपये से अधिक खर्च करने की मनाही कर दी। मजूर-संघ

के संगठन में आकर जैसे-जैसे वह अपनी शक्ति को बढ़ते देख रहे थे और जैसे ही जैसे कम्युनस्टों के प्रभाव में वे ज्यादा आते गए, वैसे ही वैसे उन्होंने अपनी जिम्मेदारी महसूस की। ताड़ी और सिगार की फजूलखर्ची को बन्द किया। "रे, तू" गाली का प्रयोग छोड़ा। उनकी भाषा, परस्पर व्यवहार सभी में परिवर्तन दिखाई देने लगे।

1937 का वही संघर्ष दावलूर के मजूर साथियों का अन्तिम संघर्ष था, फिर किसी को उनका सामना करने की हिम्मत नहीं हुई।

अपनी संगठित शक्ति के बल पर सफल संघर्ष करके दावलूर के मजूरों का आत्मविश्वास बढ़ा। सोवियत की बातें वह बड़े चाव से सुनते थे। उनको विश्वास होने लगा कि सारे भारत के किसान-मजूर यदि संगठित होकर चाहें, तो यहाँ भी लाल झंडे की विजय हो सकती है। पार्टी-कामरेड उनकी राजनीतिक वर्गचेतना को बढ़ाने की पूरी कोशिश करते रहे। रात्रि-पाठशाला खोली गई। इन नए साम्यवादी मजूरों के लिए लज्जा की बात थी कि वह अभी भी अँगूठे का निशान करें। पार्टी का साप्ताहिक पत्र आता तो उसे लोग बैठकर सुनते, जहाँ समझ में नहीं आता वहाँ कोई साथी समझाता। जीविका के लिए गाँव में लोगों की मजूरी करनी पड़ती थी। वहाँ काम न रहने पर सड़क बनाने का काम करते, और कभी-कभी काम की खोज में सौ मील से भी अधिक चलकर निजामराज में चले जाते। बड़ी जात के हिन्दुओं के अत्याचार के मारे उन्होंने ईसाई धर्म स्वीकार किया था। रोटी की लड़ाई के लिए जब वह मजूरसंघ के रूप में संगठित हुए, तो पादरी ने नास्तिक और पतित कहकर उनका विरोध शुरू किया, अब कम्युनिज्म ही उनके लिए सब कुछ था। उनकी रामायण और बायबल कम्युनिज्म की पुस्तक-पुस्तिकाएँ थीं। जब दिमागी उड़ान लेते तो सोवियत की कल्पना करते। खाली वक्त में थके-माँदे होने पर जब किसी मनोरंजन की जरूरत होती, तब पुराने गाने उनके लिए इतने रुचिकर न होते। अब उन्होंने सदियों से विकसित होते आये गाँव के संगीत और अभिनय को नया रूप देना शुरू किया। उनके भीतर अपने कवि पैदा हो गये, जिन्होंने अपनी बुर्र-कथाएँ बनाईं। ज्यादा शिक्षित और संस्कृत साथियों ने हाथ बँटाया और उन्होंने बहुत-सी सामग्री पैदा की। गाँव से बाहर काम करने के लिए जाते तो ढोल बाजा जरूर साथ जाता, लेकिन यह सिर्फ फुरसत के समय के लिए। दावलूर के मजूरों को काम देकर मालिक को देख-भाल करने की कोई जरूरत नहीं थी। वह काम से जी चुराने को पाप समझते थे। काम करने के वक्त के कितने ही गाने उन्होंने बना लिये। कहाँ तो उनमें धर्मांधता इतनी थी, कि ईसाई–धर्मविरोधी समझकर साथियों को मारने के लिए तैयार थे और कहाँ दावलूर (शरणग्राम) कम्युनिज्म का गढ़ बन गया।

1940 में दावलूर में मजूर कान्फरेन्स हुई, जिसमें पाँच हजार मजूर आए थे। साम्यवाद अब उनकी अपनी चीज थी। उसे समझाने के लिए वह स्वयं नए-नए उदाहरण गढ़ते। पूँजीवाद के अन्दर क्यों नहीं जनता पनप सकती और साम्यवाद में क्यों सब तरह रास्ता खुला होता है, इसके बारे में एक मजूर दूसरे मजूर से कह रहा था–देखते नहीं, वृक्ष के नीचे लगे हुए बाजरे को और वृक्ष के दूर के बाजरे को, वृक्ष की छाया की तरह पूँजीवाद आदमी को पनपने नहीं देता। मार्क्सवाद का रास्ता छोड़ मजूरों के लिए दूसरा कोई रास्ता नहीं है, इसे समझाते हुए वह आपस में कह रहे थे–भाई आहार जीवन-मरण है, बाजरे पर बैठा हुआ कौवा ढेला फेंकने पर भी उसे छोड़ नहीं सकता, बाल से दाना लेना है, तो कौवे को बाजरा नहीं छोड़ना होगा। एक जगह उनका कुलक मालिक तलवे में वेसलीन लगाकर वृक्ष के नीचे सोया था, उस पर मक्खियाँ-चीटियाँ झुक रही थीं। एक ने दूसरे से कहा–यह है पूँजीवादी समाज की बरक्कत।

शाम को तीन हजार से ऊपर आदमी जमा हो गए और मुझे उनके सामने कुछ बोलना पड़ा। रात को संगीत-कला का प्रदर्शन हुआ। सात से बारह बरस तक की कई लड़कियों ने कई सुन्दर गान गाए, जिनका विषय था देशानुराग, बंगाल का दुष्काल, आहार कमेटी, बंजर जमीन जोतना, सुन्दर-सुन्दर भूमि की महिमा और प्राण देकर भी हम लाल झंडी की रक्षा करेंगे। फिर कई अभिनए हुए। दो लड़कियों में एक अंधा भाई हो गई और दूसरी बहन, दोनों फटे चीथड़े में लिपटे हुए थे। बहन भाई को लाठी पकड़ाए रंगमंच पर लाई, फिर दोनों ने अन्नकष्ट और मुनाफाखोरों के लोभ का बहुत ही करुणापूर्ण गाना गाते हुए भीख माँगने का अभिनय

किया। सूर्यनारायण की बीवी ने बेजवाड़ा में उदया की बुर्र-कथा-मंडली में बहुत सफलतापूर्वक भाग लिया, और यहाँ सूर्यनारायण ने स्वयं बहुत सुन्दर तौर से बुर्र-कथा कही। उनके चुटकुलों से लोग लोटपोट हो जाते थे। 'हिटलरैय्या पागल' गीत भी बड़ा मनोरंजक था !

पार्टी ने दावलूर के मजूरों में जो जीवन-संचार किया उसका स्पष्ट प्रभाव उनके हर काम में मिलता है। घंटैय्या पार्टी मेम्बर हैं। उनके घर में स्त्री और चार बच्चे हैं। जीविका मजूरी है; लेकिन हाल में उन्होंने अपना एक ईंट का मकान तैयार कर लिया, जिसमें कुल पचास रुपए लगे, और वह भी अधिकतर एक पुराने घर से खरीदी लकड़ियों पर खर्च हुए। उन्होंने स्वयं ईंट तैयार की, दीवारें चिनी। हाँ, इस काम में दूसरे साथियों ने भी उनकी मदद की। उनके पास दो भैंसें और दो मुर्गियाँ हैं। मकान काफी साफ है।

उस दिन सूर्यनारायण के घर में एक छोटा-मोटा भोज हो गया, जिसमें पचीस-तीस साथी शामिल थे। अछूत ईसाई से ब्राह्मण तक सभी ने साथ दाल-भात खाया और कम्मा (क्षत्रिय) जूठी पत्तलें उठा रहे थे। जो क्रियात्मक भाईचारा कम्युनिस्ट दिखलाते हैं, उसे ईसाई पादरी भी करने में असमर्थ हैं, और साथ ही इसमें बड़ी जातवालों का कोई ऐहसान नहीं।

(ख) काटूर–काटूर कृष्णा जिले में बेजवाड़ा से बाईस मील पूरब अच्छा-खासा गाँव है। मुसलीपट्टनम् की सड़क पर अठारह मील बस से जाकर हम उतर पड़े और चार मील की यात्रा को बैल की गाड़ी से पूरा किया। काटूर में चार हजार एकड़ जमीन है, जिसमें धान, उड़द और मूँग की खेती होती है। चप्पल, मिट्टी के बरतन, और कपड़ा बुनना, बढ़ई-सोनार का काम भी कितनों ही की जीविका का साधन है ! 150 परिवारों के 5300 व्यक्तियों का अधिकतर गुजारा सिर्फ खेती ही है। 1150 घरों में, 500 घरों के पास कोई खेत नहीं है। चार सौ घरों के पास पाँच एकड़ से कम ही खेत हैं, और एक परिवार के साधारण खाने-पहनने के लिए पाँच एकड़ खेत की जरूरत है। इस तरह काटूर के 250 परिवार ही अन्न और वस्त्र के अभाव से सुरक्षित हैं। गाँव के सबसे धनिक किसान (जमींदार नहीं, क्योंकि यहाँ रैय्यतवारी बन्दोबस्त है) व्यंकट रामैय्या के पास सवा सौ एकड़ खेत हैं। उनके बाद व्यंकटराव सौ एकड़ के धनी हैं। तीस एकड़ से ज्यादा खेतवाले आठ कम्मा परिवार हैं। बीस से तीस एकड़ तक के बीस कम्मा परिवार हैं, और दस से बीस एकड़ तक के पचास परिवार हैं तथा पाँच से दस तक के साठ परिवार। बीस ब्राह्मण परिवारों में दस के पास पाँच एकड़ से कम खेत हैं, और पाँच खेत-विहीन हैं और जिनकी जीविका पुरोहिताई, स्कूलमास्टरी, या दूसरी नौकरी है।

तीस राजू-परिवारों में बीस के पास पाँच एकड़ से कम खेत हैं और पाँच परिवारों का सहारा दूसरों के लिए काम करना है।

पाँच सौ कम्मा-परिवारों में पचास खेत-विहीन कमकर हैं और एक सौ पचास के पास पाँच एकड़ से कम खेत हैं।

कोमटी (बनिए) पन्द्रह परिवार हैं। पाँच के पास खेत हैं और दस खेत के न होने पर भी दूकान और व्यापार से अपना गुजारा करते हैं।

दो सौ मादिका (चमार) परिवार सभी खेत-विहीन मजूर हैं, जिनमें से बीस जूता बनाते हैं।

चालीस माला (अछूत) परिवारों में सभी के पास एकड़-आध एकड़ जमीन है, लेकिन ज्यादा सहारा मजूरी है।

तीस कुम्हार-परिवारों के पास खेत न होने पर भी बरतन बनाना उनका सहारा है। बीस साली (ततवा या कोरी) परिवारों में से दो-तीन के पास एक-दो एकड़ जमीन है। बाकी का कपड़े की बुनाई से काम चलता है। बीस मंगली (नाई-ब्राह्मण) परिवारों में सबके पास थोड़ा-बहुत खेत है, जिसमें एक (लक्ष्मी नरसु वैद्य) के पास तीस एकड़ भूमि है। बाकी अपना पेशा करते हैं। पचीस धोबी-परिवारों की जीविका का साधन एकमात्र कपड़े धोना है। 6 कौसत (सोनार) परिवारों के पास एकाध एकड़ जमीन है, उनकी मुख्य जीदिका सोनारी है। तीन हिन्दू बढ़ई हल-फार बनाते हैं, और उनमें से एक के पास तीन एकड़ खेत भी हैं। दो मुसल्मान बढ़ई-परिवारों की जीविका किसानों के लिए गाड़ी बनाना है। इनके अतिरिक्त हाल में कुछ कम्मा तरुणों ने

भी कुर्सी-मेज बनाना शुरू किया है। 25 परिकल परिवार खेत नहीं रखते। इनकी स्त्रियाँ देवता के सहारे भविष्य-कथन करती हैं और पुरुष भूत झाड़ते हैं। साथ ही स्त्री-पुरुष दोनों हरिश्चन्द्र आदि नाटक खेलकर लोगों का मनोरंजन करते जिले-भर में चक्कर काटते रहते हैं। तीस गोल्ला या यादव परिवारों में सबके पास पाँच एकड़ से कम खेत हैं। यह भेड़-बकरी भी पालते हैं और मजूरी भी करते हैं। दस गमड़ा या कलाली (पासी) परिवार ताड़ी निकालने का व्यवसाय करते हैं और उनके पास दो से पाँच एकड़ तक खेत भी हैं। पच्चीस उप्परा (बेलदार) परिवारों में पन्द्रह परिवार दो से पाँच एकड़ खेत रखते हैं। मिट्टी खोदना, कुआँ बनाना इनका काम है। पन्द्रह कापू परिवार हैं, पाँच परिवारों में से सभी के पास पाँच एकड़ से कम खेत हैं, किराये पर गाड़ी चलाना इनका मुख्य काम है। दस कुप्पू वेलम बेखेत के मजूर हैं। पाँच एरिकुला (बसोर) सभी बेखेत के हैं, टोकरी और टट्टी बनाना उनका काम है। यह सुवर भी पालते हैं, जो ब्राह्मण, कोमटी और मुसल्मान छोड़ सभी के भक्ष्य हैं। बीस मुसल्मान परिवारों की जीविका एकमात्र मजूरी है। 6 सेट्टी बलिजी (कुंकुंम) परिवार लवंग-मसाला बेचते फेरी करते हैं, इनमें से एक के पास सात एकड़ और बाकी के पास एकाध एकड़ खेत हैं। यह मजूरी नहीं करते। गाँव में एक घर जंगम् शैव लोगों का है, जो कपड़े की सिलाई करता है, इसके पास खेत नहीं हैं। 6 परिवार सातानी (रामनुजी भगत) के हैं। सबके पास एक-दो एकड़ जमीन है, लेकिन मुख्य जीविका है धनुर्मास में शिर पर मूर्ति और हाथ में तंबूरा लेकर भीख माँगना, जिससे दस-बारह बोरा अनाज उन्हें आसानी से मिल जाया करता था, किन्तु आजकल लोगों की श्रद्धा कम हो गई है।

काटूर आन्ध्र के मजूरसंघ के सभापति का. गोपालैय्या की जन्मभूमि है और यहाँ के 45 पार्टी मेम्बरों के अतिरिक्त 12 बाहर के जिले में काम करते हैं। कुछ धनी परिवारों को छोड़कर सारा ही गाँव कम्युनिस्टों के रास्ते पर चलता है और धनी लोग भी विरोध करने की हिम्मत नहीं रखते। इसका एक प्रत्यक्ष सबूत तो एक धनी के हाल ही में बनवाये आलीशान पक्के मकान पर सीमेंट से बना हँसुआ-हथौड़ा का अंकित चिन्ह है। यहाँ की भिन्न-भिन्न संस्थाओं में मेम्बरों की संख्या निम्न प्रकार है–

रैयत संघम् (किसान सभा)	450
महिलासंघम्	406 (10 पा. मे.)
बालसंघम्	250
वालंटियर	180
कुली (मजूर) संघम्	500
युवजन (तरुण) संघम्	200
कुट्टपनिवाला (दर्ज़ी) संघम्	20

गाँव में नाटक, कोलाट नाच, और गायन के अपने दल हैं। महिलासंघम् में छूत-अछूत, धनी-गरीब सभी घरों की स्त्रियाँ शामिल हैं। पहिले धनिक परिवारों में पुरुषों ने इसका विरोध किया था, किन्तु स्त्रियाँ महिलासंघम् के उद्देश्य को समझने लगीं और उन्होंने पुरुषों के विरोध की परवाह न की। उन्होंने खाना, कपड़ा, नमक, किरासन के दाम पर नियंत्रण से लेकर बहुविवाह-निषेध और स्त्री-उत्तराधिकार-विधान तक के लिए आंदोलन किया। इनमें से बहुत-सी बेजवाड़ा सम्मेलन में भी आयी थीं। महिलासंघम् की सभा-नेत्री पुण्यावती 50 साल की एक उत्साही वृद्धा पार्टी मेम्बर और पाँचवें दर्जे तक तेलगू पढ़ी हुई हैं। सेकरेटरी द्रौपदी अब अपने पति के साथ अबरख खान के मजूरों में काम करने चली गई हैं। सहायक सेकरेटरी राजेश्वरी (25 वर्ष) 1939 से ही काम कर रही हैं। वह तेलगू के अतिरिक्त हिन्दी भी जानती हैं। बूढ़े पहले बहुत विरोध करते थे और पतियों का भी कुछ विरोध रहा है, लेकिन पार्टी मेम्बर होकर वह क्यों इसकी परवाह करने लगीं। महिलासंघम् ने बहुत-से पतियों की मार-गाली की आदत छुड़ा दी। एक बार गाँव में आग लगी, तो महिलासंघम् की स्त्रियों ने आग बुझाने के काम में मदद की, जिसका बहुत प्रभाव पड़ा। दूसरी बार आग लगने पर संघ के बाहर की 40 औरतें तुरंत पहुँच गयीं, जिनमें कितनी पर्दवाली भी थीं। सात महिलाओं ने ए. आर. पी. की शिक्षा ली है। कितनी ही महिलाओं ने पति का विरोध रहते हुए भी पार्टी की सहायता की। छै स्त्रियों ने अपने

सौभाग्य-चिन्ह मंगलसूत्र तक को दान दे दिया। कुछ स्त्रियाँ पति के विरोध के रहते भी 'प्रजाशक्ति' (साप्ताहिक, मँगाकर पढ़ती हैं। बिचारे विरोधी पति कम्युनिस्टों के प्रचार से परास्त हैं। नरसैय्या स्वयं अपठित हैं, मगर उनकी पत्नी वेंकटरतनम्मा शिक्षित और पार्टी की जबर्दस्त सहायक हैं। पत्नी के सामने अपने को अकिंचन पाकर उन्हें झुंझलाहट होती है, मगर पत्नी सिर्फ सभा करना और पढ़ाना ही नहीं जानती, बल्कि घर के कामों में भी बड़ी चौकस है। जिस वक्त पार्टी गैरकानूनी थी और कई साथियों के ऊपर वारंट था, उस वक्त अपने को जोखिम में डालकर कितनी ही स्त्रियों ने उन्हें शरण दी थी। उनमें एक वृद्धा है, जिसको सभी साथी 'माई' कहते हैं। माई और उनके पति दोनों ही पार्टी के तरुणों पर अपार स्नेह रखते हैं।

गाँव में घूमते-घूमते हमने एक जगह लाल झंडा फहराता देखा। मालूम हुआ एक गोशाला पर बालसंघम् ने दखल जमा लिया है। वहाँ दीवार पर भारत, एसिया और दुनिया के नक्शे टँगे हुए थे। गाँधी, जवाहर स्तालिन, सुन्दरैय्या आदि के फोटो से आफिस को सजाया गया था। एक ओर तोजो, हिटलर और मुसोलिनि के कार्टून थे। तोजो के पेट में बाँस चुभा था और हिटलर के मुँह में सिगार था। कोलाट (चौथ चन्ना की तरह दो लकड़ी बजाते हुए लड़कों का नाच) की मंडली बालसंघम् ने तैयार की है। उनके झंडे-पताके, जुलूस और नारे तो लगते ही रहते हैं। महिला प्रेसीडेंट सूर्य्यावती की 2 लड़कियाँ और एक लड़का बालसंघम् में है बड़ा लड़का नागभूषण मुसिलपटनम् कालेज का द्वितीय वर्ष का छात्र तथा विद्यार्थी संघम् का उत्साही मेम्बर है। वह साम्यवादी भागवतम् का अच्छा अभिनेता है और बेजवाड़ा सम्मेलन के वक्त उसने एक नाटक में तोजो का पार्ट लिया था। पुण्यावती के पति वीरैय्या किसान सभा के अध्यक्ष हैं।

दावलूर में खेत मजूर नेतृत्व करते हैं और काटूर में किसान।

(23 मार्च) अगले दिन के संवत्सरारम्भ (युगादि) के लिए तैयारी हो रही थी। घर और आँगन गोबर से पोते और सफेद चूने से चौक पूरे गये थे। चौक पूरने में कई तरह के नमूने अंकित किये गये थे, जिनसे सुरुचि का पता लगता था। रात को पार्टी-ऑफिस के सामने हजार से ऊपर नर-नारी जमा हुए, जिसमें उनके कहने पर मैंने सोवियत के अपने देखे कुछ दृश्यों का वर्णन किया।

आन्ध्र के सभी गाँव दावलूर और काटूर नहीं हो गये हैं, मगर ऐसों की संख्या सैकड़ों है और वह दिन पर दिन बढ़ती जा रही है। आन्ध्र के तरुण कोरी कल्पना के जगत में नहीं विचर रहे हैं, वे गम्भीरतापूर्वक अपने देश को बदल रहे हैं। बूढ़े राष्ट्रीय नेताओं में कितने ही इस जागृति को देखकर प्रसन्न हैं। उन्होंने जिस छोटे विरवे को रोपा था, उनकी सन्तान बड़ी योग्यता से उसे विशाल वृक्ष बना रही है। लेकिन ऐसे भी नेता हैं, जो इसे ईर्षा की चीज समझते हैं।

11

केरल, कर्नाटक में

भारत के सभी प्रान्तों को एक या अनेक बार मैं देख चुका हूँ, मगर मलबार या केरल देखने का अभी तक अवसर न मिला था। मलबार है भी एक कोने में। 27 मार्च को सबेरे मैंने मैसूर से कालीकोट (कालीकट) जानेवाली मोटरबस पकड़ी। मैसूर से कालीकोट 132 मील है। इतना लम्बा सफर बस से तै करना आराम की चीज तो नहीं है, पर आजकल रेल में तो और भी आफत थी। हमारी बस सबेरे साढ़े सात बजे रवाना हुई। जमीन पहाड़ी है, यद्यपि पहाड़ चढ़ने की बात चालीस-पैंतालीस मील चलने के बाद आती है। तब पहाड़ और जंगल शुरू हो जाता है। ऊँचाई के कारण गर्मी भी नहीं मालूम होती। कितनी ही जगह हरिनियाँ छलाँग मारकर आगे से निकल जातीं। मैसूर से 59 वें मील पर एक छोटा-सा पुल है, यही राज्य की सीमा है। पुल से 10 गज पहले ही हमारी मोटर खड़ी हो गई। मैंने समझा मोटर बिगड़ गई है या यात्रियों को यहाँ कुछ आराम करने

को मौका दिया जा रहा है। लेकिन थोड़ी देर प्रतीक्षा करने के बाद कालीकोट की मोटर आ गई और सवारियाँ एक से दूसरे में बदल ली गईं। साढ़े 12 बजे हम रवाना हुए। आगे घोर जंगल था। कहीं-कहीं टोडा लोगों के झोंपड़े थे। ये लोग अब बहुत कुछ अधिक कपड़े का व्यवहार करने लगे हैं, उनकी स्त्रियों को कमर से नीचे ही कपड़े पहने देखकर समझा अभी दिल्ली दूर है। मलबार के गाँव में जाने पर मालूम हुआ, कि सदा पसीना बहानेवाले इस प्रान्त में सारे शरीर को ढाँकना झूठी शौकीनी है। मलबार में कुछ नवशिक्षित स्त्रियों को छोड़कर सभी स्त्रियाँ कटि से ऊपर वस्त्र लेने की जरूरत नहीं समझतीं, हाँ, मुसल्मान स्त्रियाँ इसका अपवाद हैं।

हम वैनाड तालुका में जा रहे हैं, जो कि प्लेग और मलेरिया का घर है। चाय के बगीचों के बाद रबर के बगीचे लगातार मिलते गये। दोनों ही बड़े फायदे की चीजें हैं, लेकिन फायदा तो सारा मुट्ठी-भर धनियों के जेब में जाता है, बाकी लोग तो खून-पसीना एक कर काम करने और भूखा मरने के लिए हैं। भारत के सभी भागों में एक गाँव के सारे लोग अपना घर एक जगह बनाते हैं। मगर मलबार में सभी घर दूर-दूर बिखरे होते हैं। शायद इस प्रान्त में अनादि काल से चोरी-लुटेरों का उतना डर नहीं रहा, 'ग्राम' (झुंड) बसाने की जरूरत नहीं पड़ी। हाँ, बीच में कुछ बाजार मिले, जहाँ दुकानें पाँती से एक जगह बनी हुई थीं। पन्द्रह-बीस मील पहिले ही से पहाड़ और उपत्यका, नारियल और सुपारी के वृक्षों से ढँकी मिलने लगीं। बीच-बीच में धान के खेत भी थे। लंका का दृश्य याद आ रहा था।

हमारी बस कालीकोट में एक जगह जाकर रुक गई। मालूम हुआ आज गवर्नर साहब आये हैं, जिनके लिए सड़क को रोक दिया गया था। घंटों जब गाड़ियों को रोक दिया जाय, तो भीड़ का क्या कहना ? सभी मुसाफिर उकता रहे थे। एक आदमी के लिए हजारों आदमियों को परेशान करना–यह आश्चर्य की बात जरूर है, किन्तु आज का समाज तो इसी व्यवस्था को मानकर चल रहा है। शासक जनता के सुभीते के लिए नहीं है, बल्कि जनता शासक के सुभीते के लिए है। शासक को जनता की कठिनाइयों से क्या मतलब, वह तो चाहता ही है, कि जनता खूब परेशान हो और शासक का उस पर रोब छा जाय। आखिर क्यों एक गवर्नर को इतना महत्त्व देना चाहिए, कि सारा ट्राफिक रुक जाय और लोग घंटों धूप में सड़कों पर खड़े होने के लिए मजबूर हों। यदि किसी शासक को जान का खतरा हो, तो उसे अपने भक्तों को शहर से बाहर बुला लेना चाहिए। भक्त अपने भगवान के पास सूने जंगल में भी पहुँच सकते हैं। उससे भी आसान यह था कि गवर्नर साहब की सवारी के दो सौ गज आगे-आगे मोटर सायकलवाला शरीर-रक्षक चलता और उसकी सीटी पर पुलिस रास्ता बन्द करती, इससे लोगों की परेशानी पाँच-दस मिनट ही तक रह जाती। लेकिन अभी शायद अंग्रेज प्रभुओं को लोगों को परेशान करके उन पर रोब जमाने के सिवा कोई रास्ता नहीं मिलता था। वह अभी पुरानी दुनिया में घूम रहे थे, जो संसार से बड़ी तेजी से लुप्त होती जा रही है।

रिक्शा लेकर चक्कर काट के किसी तरह मैं अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचा।

आन्ध्र की तरह मलबार भी कई टुकड़ों में बँटा है। सवा करोड़ की आबादी में साठ लाख ट्रावनकोर रियासत में और अठारह लाख आदमी कोचीन में बसते हैं। चालीस लाख बृटिश भारत में बसते हैं, जिसका शासन केन्द्र कालीकोट है। कुछ लाख मलबारी दक्षिण, कनारा और दूसरे पार्श्ववर्ती जिलों में बिखरे हुए हैं।

मार्च के अन्त में ही मलबार में गर्मी ज्यादा मालूम हो रही थी, लेकिन यहाँ तो गर्मी और बरसात छोड़कर तीसरा मौसम होता ही नहीं। जिन मासों में पसीना कुछ कम हो जाता है, उन्हें ही यहाँवाले जाड़ा कहते हैं। आन्ध्र की तरह मलबार में भी ब्राह्मण छोड़कर बाकी सभी हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई का एक रोटी-पानी है, इसलिए रेल के स्टेशनों पर हिन्दू पानी और मुसल्मान पानी की जरूरत नहीं है और ब्राह्मण के होटलों को छोड़कर बाकी सभी होटलों में सभी खाना खा सकते हैं। पता लगाने पर तो यह मालूम हुआ कि मलयालम भाषा में अभी तक कोई फिल्म नहीं बना है। एक रात एक फिल्म देखने गया। देखा हॉल भरा है। मेरे दोस्त ने बतलाया कि दर्शकों में दस सैकड़े से अधिक ऐसे नहीं हैं, जो हिन्दी समझते हैं। तमिल भाषा मलयालम से बहुत नजदीक है–मलयालम में संस्कृत शब्दों की भरमार है और तमिल में उनका अभाव, लेकिन मूल ढाँचा दोनों भाषाओं

का एक है, जिससे तामिल समझना मलयालियों के लिए बहुत आसान है। तमिल फिल्म भी आते हैं, मगर उनके लिए दर्शकों की उतनी भीड़ नहीं होती। यहीं क्या, कर्नाटक, तमिलनाड और आन्ध्र में अपनी भाषाओं के फिल्म बनते हैं, तो भी लोग अपनी भाषा के फिल्मों से हिन्दी भाषा के फिल्मों को अधिक पसन्द करते हैं, यद्यपि भाषा समझना उनके लिए मुश्किल है। कारण पूछने पर साथियों ने बतलाया, कि हिन्दी फिल्मों में अभिनय बहुत अच्छा होता है। किसी ने कहा, हिंदी फिल्मों के तारक-तारकाएँ बहुत सुन्दर होते हैं। किन्हीं का कहना था कि उनका संगीत बहुत मधुर होता है। शायद तीनों ही बातें आकर्षण का कारण होंगी। दक्षिणी संगीत (कर्नाटक संगीत) ने अपने ऊपर हरिदास और तानसेन के संस्कारों की छींट तक नहीं पड़ने दी। दक्षिण आज तक अभिमान करता रहा कि हम शुद्ध, अचल कर्नाटक संगीत के धनी हैं। सोलहवीं सदी में जो नवीन संगीत-प्रवाह हिमालय तक को डुबाता हुआ सतपुड़ा और सह्याद्रि के पहाड़ों में जाकर रुद्ध हो गया था, आज वह दक्खिन को बहा ले जा रहा है। दक्षिण के सनातनी संगीतशास्त्री और उस्ताद बहुत नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं। तमिल, तेलगू, कन्नड़ फिल्मों में उत्तर के संगीत की बाढ़ का ये लोग बहुत विरोध करते हैं, किन्तु इन शुद्ध आत्माओं का सारा प्रयत्न निष्फल जा रहा है, यह किसी भी दक्षिणी फिल्म को देखकर आप सहज ही समझ सकते हैं। बल्कि फिल्म देखने की जरूरत नहीं, रेल में चलते-चलते गाकर भीख माँगते लड़के ही बतलायेंगे, कि हवा का रुख क्या है। सारा भारत संगीत के द्वारा अब एक भाषा बोल रहा है। फिल्मों ने संगीत और अभिनय में ही एकता नहीं स्थापित की है, बल्कि वेष-भूषा पर उसका भारी प्रभाव पड़ रहा है। किसी समय स्त्रियों के वेष से उनके प्रान्त का जानना आसान था, लेकिन अब शिक्षिता महिलाओं में वह बड़ी तेजी से लुप्त होता जा रहा है। पंजाब, उ. प्र. बिहार, मध्यप्रदेश, बंगाल और गुजरात में साड़ी के लिए अपना राज्य कायम करना आसान था, मगर दक्षिण की स्त्रियाँ तीस-तीस हाथ की साड़ी न जाने कैसे तीन हाथ के शरीर में लपेटती थीं। अब वह भी 30 हाथ की जगह 10 हाथ पर आ रही हैं। इसमें युद्ध और मँहगाई कारण नहीं है, इसका कारण है वह सौन्दर्य, जिसे हिन्दी फिल्म की तारिकाओं ने अपनी साड़ी द्वारा प्रदान किया। पुरुषों की पोशाक पर भी प्रभाव पड़ा है, लेकिन स्त्रियों की अपेक्षा कम। क्या पुरुष ज्यादा रूढ़िवादी हैं ? और आभूषण ? मुझे हिन्दी फिल्मों से हमेशा शिकायत रही है, कि उनमें कोई स्थानीय रंग नहीं होता, घटनाएँ मानो हिन्दी भाषा-भाषी किसी प्रान्त, गाँव और शहर में नहीं बल्कि आसमान या फिल्म-उत्पादक के मत्थे में हो रही हैं। मगर इस बात के लिए मैं उनको जरूर धन्यवाद दूँगा, कि उन्होंने पूर्वी यू. पी. के काँप (कर्णफूल) और झुमके को हिमालय से कन्याकुमारी तक फैला दिया। चाँदी का यह छटाँक-दो छटाँक का आभूषण, जिसे मैं कभी फूल नहीं समझता था, अब वस्तुतः फूल हो गया है। फिल्म-तारिकाओं के हाथ में कुछ जादू जरूर है, लेकिन कहीं वे नाक के आभूषणों को भी न सर्वप्रिय बनाने लगें ? मलबार की स्त्रियों के कानों के आभूषण की तो दुर्गत बना दी थी। एक रुपये के बराबर गोल सोने या चाँदी की गुल्ली (गड़ारी) को उन्हें कान में डालना पड़ता था, जिसके लिए उन्हें कानों के छेदों को इतना बढ़ाना पड़ता था कि आभूषण पहनते वक्त उस पर चमड़े की एक पतली रेखा घेर देती थी, मगर आभूषण निकाल देने पर वह मोटे डोरे छीछड़े-से लटकते रहते थे।

पहिले राष्ट्रीयता के ख्याल से दूसरे प्रान्तों में यात्रा करनेवाले लोगों को हिन्दी समझने की जरूरत पड़ती थी, लेकिन अब हिन्दी फिल्मों के आकर्षण ने बहुत भारी संख्या को हिन्दी पढ़ने की प्रेरणा दी है। मैंने सिनेमाघरों में विज्ञापन दिखाये जाते देखे, जिनमें लिखा था—छुट्टियों में हिन्दी सीख लो।

1. मलबार के एक गाँव में

करिवेल्लूर मलबार जिले के सीमान्त का गाँव है। यद्यपि सरकारी व्यवस्था के अनुसार यहीं केरल समाप्त होता है, मगर पड़ोसी दक्षिणी कन्नड़ के पासवाले तालुके में सत्तर फीसदी तक मलयाली लोग बसते हैं, इसलिए केरल की सीमा अभी पचीसों मील उत्तर है। कालीकोट से रेल द्वारा 4 घंटा चलकर हम चरवत्तूर स्टेशन पर पहुँचे। करिवेल्लूर गाँव स्टेशन से चार मील है। जमीन सारी पहाड़ी और ऊँची-नीची है, पहाड़ियाँ इतनी छोटी-छोटी

हैं, कि वह पोखरों के बड़े-बड़े भीटों-सी जान पड़ती हैं। सबसे नीचे की जमीन धान के खेत हैं, और उँचास में नारियल का बाग, जिसमें कहीं-कहीं काजू, केले और कटहल के पेड़ भी लगाये गये हैं। लोगों के घर दूर-दूर अपने-अपने बागों में होते हैं, जिनके पास जमीन नहीं है वे किसी दूसरे के बाग में रहते हैं। करिवेल्लूर के 1130 परिवारों (जनसंख्या 5200) में से सिर्फ 400 परिवारों के पास अपना खेत है। करिवेल्लूर किसानों का लाल गाँव है। यहाँ की किसान सभा के 663 मेम्बर हैं, महिलासंघम् के 200, बालसंघम् के 300। 53 पार्टी मेम्बर हैं, जिनमें से तीन सारा समय जन सेवा में लगाते हैं। पार्टी-मेम्बरों में व्यवसाय के ख्याल से 26 किसान, 8 मजदूर, 12 शिक्षक, 5 दूकानदार और 2 पुरोहित हैं। जाति से देखने पर 2 ब्राह्मण, 4 उनितिरी (क्षत्री), दो कोंकणी ब्राह्मण, बारह नायर (पोदुगल), दो मुसल्मान, सात मनियाणी, 14 थीया (कलाल), एक नानदिया (हजाम), एक बाणियाँ, सात चालिया (पटकार) और एक वर्णन्।

गाँव में सबसे अधिक संख्या थीया (कलाल) लोगों की है, जिनके 300 परिवार हैं। 100 परिवारों के पास आधा एकड़ से 15 एकड़ तक जमीन है, लेकिन 10 से अधिक एकड़वाले परिवार सिर्फ 15 हैं, 5 से 10 एकड़वाले 20 परिवार। 8 व्यक्तियों के परिवार के लिए 5 एकड़ खेती या बगीचा चाहिए। नारियल के 1 एकड़ में 80 वृक्ष होते हैं और 1 वृक्ष से आजकल साल में डेढ़-दो रुपये मिल जाते हैं। थीया लोगों की सबसे अधिक संख्या (200 परिवार) के पास कोई खेत नहीं। वह या तो मजूरी करते हैं या ताड़ी निकालने-बेंचने का काम करते हैं। ताड़ी अधिकतर नारियल से निकाली जाती है। ताड़ी के स्वाद का तो मुझे पता नहीं, मगर ताड़ी का गुड़ सोंधा-सोंधा खाने में बहुत अच्छा लगता है।

नायर-परिवारों की संख्या दो सौ है, जिनमें 50 को छोड़कर सभी के पास कुछ न कुछ खेत हैं। पाँच परिवार 15 एकड़ से अधिकवाले हैं, जिन्हें धनी किसान कहना चाहिए, 15 परिवार 10 और 15 के बीचवाले हैं और 30 पाँच से दसवाले। 50 बेजमीनवाले परिवार मजूरी करके गुजारा करते हैं।

150 बाणियाँ (तेली) परिवारों में सिर्फ 50 के पास जमीन है, जिनमें से दो परिवार 15 से अधिक एकड़वाले हैं और पाँच 10 से 15 एकड़वाले। बाकियों के पास 5 एकड़ से कम जमीन है। बिना खेतवाले सौ परिवारों में बहुत थोड़े-से तेल निकालने का काम करते हैं, बाकी सबकी जीविका मजूरी है।

चलिया 120 परिवार हैं, जिनमें 3 परिवारों के पास खेत हैं और दो परिवारों के पास तो 10 एकड़ से ज्यादा है। अधिकांश लोग मजूरी करते हैं। कितने घर कताई-बुनाई से भी गुजारा करते हैं। बुनने की मजूरी 5 आना गज है, लेकिन 5 गज की धोती में 3 दिन लगते हैं–एक दिन ताना करना और दो दिन बुनना, इस प्रकार वह आठ आना रोज ही तक कमा सकते हैं। कातनेवाली स्त्रियाँ आजकल 4 आने रोज तक कमा सकती हैं, मगर कपास ही पूरा नहीं मिलता, और एक घर में तो मैंने 4 कातनेवालियों में 2 चर्खे देखे।

(क) नम्बूतिरी ब्राह्मण–मलबार का यह वस्तुतः भूदेववंश है। जब से उनका चरण मलबार में आया (यह दो सहस्राब्दियों से पहिले की बात हो गई) तब से इनके लिए मलबार देवलोक रहा। इन्हें हाथ से काम करने की भी जरूरत नहीं पड़ी। धर्मशास्त्र का बनाना-बिगाड़ना अपने हाथ में था, इसलिए इन्होंने अपने और अपनी सन्तानों के सुख के लिए पूरा प्रबन्ध किया। जिस वक्त ये लोग केरल में पहुँचे थे, शायद उस वक्त मातृसत्ता का ही यहाँ रवाज था। दूसरे दोषों की भाँति यहाँ के भी समाज में परिवर्तन हुआ होगा, पर ब्राह्मणों ने 1933-34 तक उसे अचल बनाये रक्खा। राजवंश, तिरुअप्पाड़, उनीतिरी और नायर जैसी उच्च और सम्पत्तिशाली जातियों में हाल तक यही कानून रहा है, कि घर की सम्पत्ति की मालकिन पुत्री होगी, और पुत्र बहन के आज्ञाकारी बने रहने पर खाना-कपड़ा पा सकते हैं। ब्राह्मणों ने जहाँ बाकी जातियों के लिए मातृसत्ता का इतना कठोर नियम रक्खा, वहाँ अपनी जाति से मातृसत्ता को छूने भी नहीं दिया। सारे दक्षिण में जहाँ स्त्रियाँ पर्दा नहीं करतीं, वहाँ नम्बूतिरी स्त्रियों के कठोर पर्दे के सामने उत्तरी भारत का पर्दा भी झूठा है। घर के भीतर वे अपने देवर तक के सामने नहीं हो सकतीं। सन्तान जिसमें बढ़कर धनहीन न हो जाय, इसके लिए नम्बूतिरियों ने जेष्ठ-उत्तराधिकार का नियम बनाया, जिसके अनुसार पिता की सम्पत्ति का मालिक सिर्फ बड़ा लड़का ही हो सकता है। छोटे लड़के न बाप की सम्पत्ति में से कुछ पा सकते थे, न अपनी जाति की कन्याओं से ब्याह

ही कर सकते थे। कहना पड़ रहा है कि 1933-34 के कानून ने अब छोटे भाइयों को भी अधिकार दे दिये हैं। लेकिन, उनका यह सम्पत्ति और स्त्री से वंचित होना दुर्वासा की तपस्या के लिए नहीं था। छोटे लड़के राजवंश, तिरुअप्पड़, उनितिरी और नायर इन चार जातियों की कन्याओं में से अपने लिए स्त्री ढूँढ़ सकते थे--पत्नी नहीं, क्योंकि नम्बूतिरि पुरुष उसके हाथ का रोटी-पानी तो क्या ग्रहण करता, छूने के बाद उसे वस्त्र-सहित स्नान करना पड़ता, और उसकी सन्तान ब्राह्मण नहीं राजवंशी, तिरुअप्पाड़, उनितिरी या नायर होती, अपनी मांता की सम्पत्ति की अधिकारी होती, यदि वह लड़की हो। हिन्दुस्तान के दूसरे प्रान्तों में शंकराचार्य के वंश की इस प्रथा को सुनकर लोग आश्चर्य करेंगे, और कहेंगे कि उक्त चारों जातियों ने इस प्रथा को अपने आत्मसम्मान के बिलकुल विरुद्ध समझकर विरोध क्यों नहीं किया। आखिर किसी कुल-कन्या को बिना किसी जिम्मेवारी और सन्तान को पितृगोत्र का अधिकार दिये बिना ब्याहना उसे रखेली-सा बना के रखना नहीं है तो क्या है ? लेकिन बीसवीं शताब्दी के प्रथम पाद तक मलबार की ये जातियाँ इसे अभिमान की बात समझती थीं, कि उनकी लड़की का सम्बन्ध किसी नम्बूतिरी से है। आज भी कोचीन-राज्य की गद्दी पर ब्राह्मण का ही पुत्र बैठता है, हाँ, वर्मा के नाम से। केरल में ब्राह्मणों ने क्षत्रियत्व की एक नई परिभाषा ही गढ़ डाली है–राजवंशी नायर कन्या में ब्राह्मण से उत्पन्न हुआ पुत्र क्षत्रिय है, कोचीन राजा की अपनी सन्तानें सिर्फ मेमन (नायर) होती हैं, और पत्नी सिर्फ पत्नी। रानी होगी बहन जो किसी ब्राह्मण की पुत्री है, और किसी ब्राह्मण ही की स्त्री तथा जिसका पुत्र गद्दी पर बैठा है। आम तौर से कोचीन में किसी माँ को रानी बनने का मौका नहीं मिलता, क्योंकि राजवंश की बहनों, भाँजियों और भाँजी-पुत्रियों के सभी लड़के आयु के अनुसार कोचीन की गद्दी पर बैठने का अधिकार रखते हैं। ऐसे उत्तराधिकारियों की संख्या 300 के करीब है और 60, 65 वर्ष की उम्र से पहिले गद्दी पर बैठने का अवसर शायद ही किसी को मिलता हो। हाँ, तो ये सारे उत्तराधिकारी ब्राह्मण-पुत्र हैं, किन्तु ब्राह्मण नहीं हैं। नम्बूतिरी छोटे पुत्रों के लिए यह व्यवस्था नुकसान की नहीं है, आर्थिक दृष्टि से और निरंकुश जीवन की दृष्टि से भी।

आजकल यद्यपि शिक्षित नायर इसे पसन्द नहीं करते, किन्तु ऐसे विवाह अब भी होते हैं। नये कानून ने एक सुभीता भी कर दिया है–नम्बूतिरी बाप की सम्पत्ति में उसके अब्राह्मणी-पुत्र का भी अधिकार है। आज भी ऐसे सम्बन्ध क्यों होते हैं, पूछने पर एक उन्नितिरी तरुण ने बतलाया कि अभी भी उनका प्रभाव बहुत है। उन्नितिरी जाति में भी एक विचित्र प्रथा है। यदि कन्या को किसी नम्बूतिरी (ब्राह्मण) ने अपनी स्त्री बनाया, तो ठीक ही है, नहीं तो उसका ब्याह सीधे दूसरे उन्नितिरी घर में नहीं हो सकता, उसे पहिले अपनी जाति से ऊपर तिरुअप्पाड़ जाति के किसी पुरुष से 4 दिन के लिए ब्याह करना होगा। ब्याह सयानी लड़कियों का होता है और वह चार दिन-रात एक कोठरी में उस पुरुष के साथ रहती है। फिर तिरुअप्पाड़ नजरभेंट लेकर चला जाता है और अब उस कन्या का ब्याह किसी उन्नितिरी से किया जा सकता। सौभाग्य या दुर्भाग्य यही है कि तिरुअप्पाड़-परिवार बहुत थोड़े हैं और उन्हें दूर-दूर तक ऐसे सम्बन्धों के लिए जाना पड़ता है, जिसके कारण अधिकतर बूढ़े तिरुअप्पाड़ ही रसम अदा के लिए आते हैं। मैंने अपने उन्नितिरी दोस्त से पूछा कि इस प्रथा को उठा क्यों नहीं देते ? उत्तर मिला–बूढ़े विरोध करेंगे, और उनसे भी ज्यादा नम्बूतिरी। नम्बूतिरी ? उनका सीधे नुकसान तो नहीं है मगर एक ईंट खिसकाने से सारी इमारत के खसक पड़ने का डर मालूम पड़ता है। उसी गाँव में दो उन्नितिरी बहनें दो नम्बूतिरियों की स्त्रियाँ थीं। उनके पिता-माता-भाई कोई नहीं था, और न घर छोड़ कोई जायदाद। एक नम्बूतिरी तो अपने स्त्री और बच्चों के लिए कुछ देता रहता था, लेकिन दूसरे ने पीछे अपनी जात में भी ब्याह कर लिया। उसके पास जायदाद भी थी, मगर वह अपनी उन्नितिरी स्त्री ओर बच्चों की कुछ भी खोज-खबर नहीं लेता था। गाँव के तरुण इसे बहुत बुरा समझ रहे थे और वह गैर-जिम्मेवार नम्बूतिरी बाप को रास्ते पर लाने की सोच रहे थे।

करिवेल्लूर में 50 नम्बूतिरी-परिवार हैं, जिनमें 15 छोटे-मोटे जमींदार (जनमी) हैं। दो खेती कराके गुजारा करते हैं। बाकी पूजापाठ करते हैं या ब्राह्मणों के लिए जगह-जगह स्थापित अन्नछत्रों में घूमनेवाले हैं। अब घर की सम्पत्ति के बँटने के कारण उनका आर्थिक तल गिरता जा रहा है। कहाँ 25 एकड़ खेत पीढ़ियों तक

के लिए अखंड मिला था, और कहाँ वह बँटते-बँटते दूसरी पीढ़ी में चार-चार पाँच-पाँच एकड़-भर रह जाता है। यहाँ के नम्बूतिरी तरुण होटल और दुकानदारी के तरफ भी बढ़े हैं।

गाँव में 46 परिवार मुसल्मानों के भी हैं, जिनमें चार के पास खेत हैं (2 के पास 15 एकड़ से अधिक और 1 के पास 5 से अधिक)। 10 दूकानदार हैं। इनमें से कुछ के पास काली मिर्च के बगीचे भी हैं। बाकी मजूरी करके गुजारा करते हैं।

30 परिवार मोगमे (मछुआ) के हैं। इनके पास खेत नहीं हैं। इनका काम मछुआई है और पास की नदियों के अलावा ये सात-आठ मील दूर समुन्दर तक उसके लिए जाते हैं।

तीस परिवार मुवारी (पत्थरकट) लोगों के हैं, एक तरह के नरम पत्थर का—जो कुओं और दीवारों के बनाने के लिए इस्तेमाल होता है—काटना ही इनका काम है। इनके पास खेत नहीं है।

आशारी (बढ़ई) 8 परिवार बेखेत के हैं और काम है बढ़ई का।

60 उन्नितिरी परिवार हैं, जिनमें एक के पास 5 एकड़ से ज्यादा जमीन है और 4 के पास 5 एकड़ से कम। दो छोटे-छोटे जमींदार हैं, 6 शिक्षक। जो सुभीता ब्राह्मणों को उन्नितिरियों में है, वही उन्नितिरियों को नायरों में प्राप्त है। उन्नितिरी पति अपनी नायर स्त्री के हाथ का पानी नहीं पी सकता, लेकिन उसके हाथ से चूड़ा, पान और चाय ले सकता है। विवाह का चिह्न (मंगलसूत्र) उन्नितिरी लड़की को तिरुअप्पाड़ से कैसे लेना पड़ता है, इसके बारे में हम अभी कह आए हैं।

गाँव में 4 परिवार कोलया (अछूत) लोगों के हैं। इनके पास कोई खेत नहीं है और गरीबी हद दर्जे की है। चटाई-टोकरी बुनना उनका काम है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि 13 फीट लम्बी, 10 फीट चौड़ी झोंपड़ी में 12 लड़के सयाने रह कैसे सकते हैं ? नारियल की पत्तियों का छप्पर था और दीवार भी टट्टी की। ताले-दर्वाजे की वहाँ जरूरत नहीं थी। घर में चार-पाँच मिट्टी के बर्तन थे। जमा अन्न कुछ भी नहीं था। उस वक्त तीन बच्चे और उनकी प्रौढ़ा माँ घर पर थी। बाकी लोग गाँव से दूर कहीं मजूरी करने गए थे। स्त्री टोकरी बना रही थी। एक दिन में एक टोकरी तैयार होती है। फिर उसे वह आधसेर धान पर बेंचेगी। उसी में तीन बच्चे और खुद खायगी। सिर्फ एक शाम का खाना मिलता है। यदि किसी ने दया करके माँड़ दे दिया तो लड़कों को कुछ और भी मिल जाता। आधसेर धान पर मुझे आश्चर्य प्रगट करते हुए देखकर स्त्री ने कहा—निराहार रहने में मुझे कोई हरा नहीं सकता। इसमें थोड़ा-सा गर्व भी था, लेकिन वह गर्व था आफत झेलते-झेलते पत्थर हो गए दिल का। उसके शरीर पर कमर से नीचे सवा हाथ चौड़ा और तीन हाथ लम्बा सिर्फ एक कपड़ा था। बच्चों को कपड़ों की कोई जरूरत ही नहीं समझी जाती।

करिवेल्लूर गाँव की 5200 की आबादी के लिए 3000 एकड़ खेत हैं, जिनमें से 1200 एकड़ धान के खेत हैं और बाकी बगीचे। गाँव के जमींदार बाहर के हैं और किसानों का अधिक से अधिक दोहन उनका काम था। जमीन उपजाऊ है। धान का खेत प्रति एकड़ (28034-5/9 वर्गगज) 2500 में बिक जाता है और नारियलवाला प्रति एकड़ 2000 रु. पर। यदि सारे खेतों पर सभी लोगों का अधिकार होता, तब भी गाँव के सभी व्यक्तियों के खाने-पहिनने के लिए काफी नहीं था। उधर जमींदारों की ओर से इजाफा और दूसरी तरह के नाजायज कर और बेगार का भी बोझ था। शताब्दियों से लोग इस जुल्म को सनातन समझकर सहते आए थे। 1931-32 के सत्याग्रह में भाग लेनेवाले तरुणों को जब गाँधीवाद से निराशा हुई और उन्होंने साम्यवाद का रास्ता पकड़ा, तो उसकी गूँज करिवेल्लूर जैसे गाँवों तक पहुँची। उन्होंने समझा था कि यह जुलम सनातन है, क्योंकि हम उसे आँख मूँदकर सहते आए थे, अब हम नहीं सहेंगे और इस सनातन को खतम करके ही छोड़ेंगे। उन्हें चिर्क्काल के राजा वेंगेल के जमींदार जैसे बड़े-बड़े धनियों से मुकाबला करना था, जो कि सरकार के खैर-ख्वाह और कृपापात्र थे, पुलिस उनकी पीठ पर थी, कानून और कचहरी को मोहने का मन्त्र उनके पास था। भगवान पर इनके अगुओं का विश्वास नहीं था—आखिर भगवान जीते होते तो सदियों से यह मेहनतकश नरक की जिन्दगी को क्यों भोगते, और उनके खून-पसीने की कमाई पर गुलछर्रे उड़ानेवाली कामचोर जोंकें छाती पर कोदो क्यों दलतीं ? धरती और आसमान की सारी शक्तियों से उन्हें लड़ना पड़ा। पहिले थोड़े से

लोगों ने हिम्मत दिखलाई, फिर दूसरों के भी दिल में आत्मविश्वास बढ़ा और सालों के संघर्ष के बाद जमींदारों को परास्त होना पड़ा। अभी जमींदारी प्रथा उठी नहीं थी, लेकिन उसका प्रभामंडल उड़ गया था, आमदनी भी कम हो गई थी, वह दम तोड़ रही-सी मालूम होती थी। करिवेल्लूर की जनता ने यह सब अपने बूते पर किया। यद्यपि अब भी वहाँ भूख है, मगर जिन तरुणों पर विश्वास करके लड़कर उन्होंने अपने खोये हुए आत्मसम्मान को प्राप्त किया, कितने ही आर्थिक सुभीते लिये; उन्हीं के वचनों पर विश्वास करके वह आशा करते हैं, कि किसी दिन केरल और अपने गाँव को वह साम्यवादी बनाकर सुख और समृद्धि से पूर्ण करेंगे। गाँव के धनी लोग पहिले विरोधी थे, मझोले किसान तटस्थ; मगर आज लाल करिवेल्लूर का कोई विरोधी नहीं हो सकता। ब्राह्मण, नायर, मुसल्मान आदि भिन्न-भिन्न जातियों से आए 53 पार्टी-मेम्बर अपने भीतर धर्म-जाति, छूत-अछूत का कोई भेद-भाव नहीं मानते, वे सगे भाई से भी अधिक अपने साथियों पर विश्वास रखते हैं।

करिवेल्लूर में घूमने के लिए खेतों की सीमा से सीमा तक जाना पड़ेगा, क्योंकि कोई घर भी सौ गज से कम दूर पर नहीं है। गाँव के केन्द्र में पार्टी-कार्यालय नारियलों के बाग में था। वह उनका राजनीतिक ही नहीं, सांस्कृतिक केन्द्र था। उन्होंने अपने गाने बनाए लेकिन पुरानी लय, नाच आदि को कायम रखा। आजकल (30 मार्च) पुरक्कली (तरुण नृत्य) का मौसम था। तरुण ताली बजाते और गाते हुए एक चक्कर में नाचते हैं। पुराने जमाने में नाच में देवी-देवताओं का गान गाया जाता था, मगर आज ये गा रहे हैं, कयूर के वीरों का गीत, जापानी और जर्मन जुल्मों का गीत, लाल-संसार का गीत। उस दिन रात को गाँव के तरुणों ने अपने कई गानों और नाचों का प्रदर्शन किया। यद्यपि उनको पहिले से मेरे आने की खबर न थी, लेकिन सारा गाँव संगठित है, 150 वालंटियरों में 36 गोरिल्ला-कला को सीखे हुए थे, क्योंकि समुद्रतट पर होने से मलबार को उतना ही खतरा था जितना सिलोन को। पहला नाच लड़कों को था, कोलकली। यह सारे भारत में दो लकड़ियों को बजाते हुए नाचा जानेवाला नृत्य है। फिर 7 से 10 वर्ष तक की लड़कियों ने अपना कुम्मीनृत्य दिखलाया है, यह गरबा की तरह का नृत्य है। गाना और नाचना दोनों ही को बड़े सुन्दर तौर से उन्होंने करके दिखाया। फिर फरी मारना और दूसरे शारीरिक व्यायामों के बाद कितने ही तरुणों ने लाठी और तलवार के हाथ दिखाए और अंत में पूरक्कली (नृत्य) दिखलाया। मैंने कामरेड टी. वी. कुंजीरामन (छोटूराम), का. कुंजिकृष्णनायर (सेक्रेटरी) और का. पी. कुंजिरामन को सांस्कृतिक प्रोग्राम की सफलता के लिए धन्यवाद दिया।

(ख) जातियों की सीढ़ी—नम्बूतिरी सबसे बड़े, उनमें भी जेष्ठपुत्र सबसे बड़ा, कनिष्टपुत्र और राजवंशी नायर-पुत्री की संतान (कोचीन के वर्मा) का नम्बर दूसरा आता है। तीसरा नम्बर है कोयतम्बुरन का जो कि ट्रावनकोर के राजाओं के पिता या भगिनीपति होते हैं। कोचीन राजवंश में जो काम नम्बूतिरी का है, ट्रावनकोर में वही काम कोयतम्बुरन करता है। उनकी बहन भी कोयतम्बुरन कुल में ब्याही हैं। कोचीन की तरह ट्रावनकोर में भी राज्य का उत्तराधिकार सगे भाई और भगिनीपुत्रों के क्रम से चलता है। वर्तमान ट्रावनकोर-महाराजा के बाद उनके अनुज गद्दी पर बैठेंगे और उनके बाद छै बरस का उनका भगिनी-पुत्र बैठता, जो हाल ही में मर गया। ट्रावनकोर का राजवंश तम्बुरन है, जो कोयतम्बुरन से एक सीढ़ी नीचे है। ट्रावनकोर के राजा को जनेऊ का अधिकारी होने के लिए—अर्थात् क्षत्रिय बनने के लिए—एक सोने की गाय के पेट से गुजरना पड़ता है, लेकिन यह हिरण्यगर्भ-क्रिया सिर्फ उसी को क्षत्रिय बनाती है, उसकी सन्तान या कुल को नहीं। तम्बुरन के बाद उन जातियों का नम्बर है, जो मन्दिरों के भिन्न-भिन्न अधिकारी होती आई हैं—जैसे तिरुअप्पाड़, नम्बीसन, उन्नित्तिरी, वारियर, माडार, कुरुप्प, पिशारडी, कुडवाल। इनमें तिरुअप्पाड़, और नम्बीसन जनेऊ रखते हैं। सारे क्षत्रियों को विध्वंस करनेवाले परशुराम अभी मरे नहीं हैं, उन्हीं के डर के मारे उन्नित्तिरी बेचारे जनेऊ को शरीर के बाहर न रखकर घी के साथ पेट में रख लेते हैं। इसके बाद नायर का नम्बर आता है। नायरों के बाद मणियानी, वाणियो (तेली), चालिया (ततवा), थीया (कलाल या पासी), मोगयार (मछुवा), नाविदियर (नापित), वन्नतन (धोबी), चेट्टी (सुनार), आशारी (बढ़ई), कोल्लन् (लोहार), मुशारी (पीतलकार), चेम्बूटी (ताम्रकार), वन्नन् (भूतनर्तक), मलयल (भूतनर्तक), पुलेया (बसोर), चिरपूती (चमार), कणिसन (छत्रकार), माइल (टोकरीकार), आदि हैं। मलबार की जातियों में अन्तिम चार जातियों के अछूत और बाकियों के छोटे-बड़े होने का फतवा ब्राह्मणों ने खुद न देकर

उन्हें आपस में लड़ने के लिए छोड़ रखा है।

जिस तरह का घोर अपरिवर्तनवादी धर्म और सामाजिक व्यवस्था मलबार में अब तक संचालित हो रहा था, अब उसकी जगह एक ओर परिवर्तनवादी विचारधारा और सामाजिक व्यवस्था ले रही है। मलबार में इस नई धारा के वाहक हैं कम्युनिस्ट पार्टी के दो हजार कर्मठ मेम्बर, जिनके त्याग और निर्भीकता की प्रशंसा शत्रु भी करते हैं।

करिवेल्लूर से मैं 30 मार्च को शाम को रवाना हुआ। 6 मील पर पय्यनूर बाजार आया। यहाँ भी स्वागत के लिए जलूस तैयार था। फिर एक सभा में थोड़ा बोलना पड़ा। रात को मैं पार्टी-सेक्रेटरी नम्बियर के घर पर रहा। यह नायरपंथी थे, लेकिन माँ की तरफ से पिता कोई नम्बूतिरी ब्राह्मण था। अगले दिन साढ़े नौ बजे की गाड़ी पकड़ी। कालीकोट (कालीकट) स्टेशन पर तरुण कवि के. पी. जे. नम्बूतिरी मिले; उनके साथ ही मैं शोलोर गया। स्टेशन से आध मील पर भरतपुरा नदी है। यही ब्रिटिश मलबार और कोचीन राज्य की सीमा है। पुल पार करने पर चेरुत्तुरुती गाँव में पहुँचे। केरल के सर्वश्रेष्ठ कवि नारायण मेनन वेल्लतोल्ल यहीं रहते हैं। वेल्लतोल्ल ने बहुत-से महाकाव्य और खंडकाव्य लिखे हैं। आजकल उनकी अवस्था 60 वर्ष से ऊपर है, लेकिन अब भी वह अपने क्षेत्र में तरुण हैं—उनके विचारों का विकास बराबर होता गया है। वह सिर्फ काव्य ही के आचार्य्य नहीं हैं, बल्कि केरल की प्राचीन नाट्यकला को जीवित करने में उनका बड़ा हाथ रहा है। कथाकाली (मूकनृत्य) के वह एक माने हुए आचार्य हैं। संगीत और नृत्यकला के उज्जीवन के लिए उन्होंने एक कलामंडल की स्थापना की है। वैयक्तिक नेतृत्व में पीछे कलामंडल को शायद क्षति पहुँचे, यह ख्याल करके उन्होंने कलामंडल और 50 हजार की निधि राज्य को सौंप दी, लेकिन राज्य के निर्जीव यंत्र में पड़कर कलामंडल की उन्नति क्या होती, उसका और ह्रास होने लगा। अब कितने ही कलाप्रेमी उन पर जोर दे रहे हैं, कि कलामंडल को फिर अपने हाथ में लें। कलामंडल का नाट्यागार आजकल सैनिकों का निवास हो गया था। वेल्लतोल्ल ने 1907 में बाल्मीकि रामायण का पद्यानुवाद किया था। उनके महाकाव्यों में 'चित्रयोगम्' एक है। कालिदास के अभिज्ञान-शाकुंतल के आधार पर उन्होंने 'अच्छन मकलम्' नामक काव्य लिखा है, जिसमें शकुंतला ने अपने पिता विश्वामित्र की बड़ी भर्त्सना की है—विश्वामित्र ने मेनका से सिर्फ शारीरिक सुख का संबंध रखा और पुत्री की जिम्मेवारी नहीं ली थी। कवि को यह बात बहुत खटकी थी। मैं जब उनके घर पर पहुँचा, तो वह कहीं बाहर गए हुए थे। उनके पाँच पुत्रों में दो और तीन पुत्रियों में एक वहाँ मौजूद थी। कवि की वृद्धा स्त्री घर पर ही थीं। उन्होंने स्वागत किया। सारा परिवार संस्कृत है, पुत्रों में दो पार्टी-मेम्बर हैं। वल्लतोल्ल स्वयं पार्टी से बड़ा प्रेम रखते हैं। शाम को वह आए। कान से बहुत कम सुनाई देता है, इसलिए बात करना आसान नहीं था, तो भी कुछ बातचीत हुई।

दूसरे दिन दोपहर बाद मैंने स्टेशन का रास्ता लिया। मैंने केरल छोड़ते वक्त (2 अप्रेल) अपनी डायरी में वहाँ के बारे में लिखा था—"केरल का सामाजिक विकास-तल बहुत पिछड़ा हुआ है। 20 वीं सदी तक मातृसत्ता रहने का दुष्परिणाम तो होना ही चाहिए। ऊपर से ब्राह्मणेतर सभी उच्चजातियों की लड़कियाँ ब्राह्मणों के साथ यौन सम्बन्ध करने के लिए तैयार। यहाँ कुछ बातों में तिब्बत से समानता है। हरेक आदमी (अतिथि से) पिण्ड छुड़ाने के लिए तैयार।"

गाड़ी पकड़ने में भी बहुत मुश्किल हुई। भीड़ बहुत ज्यादा थी। अगले दिन (3 अप्रेल) 8 बजे सबेरे मंगलोर पहुँचा।

2. कर्नाटक में (1944 ई.)

26 मार्च को मैं मंगलोर होते ही केरल गया था, उस वक्त मुझे सिर्फ एक दिन रहने का मौका मिला था, और अब भी दो दिन (3-4 अप्रेल) ही यहाँ रह सका। गाँवों में जाने का मुझे मौका नहीं मिला। मंगलोर कर्नाटक का एक सांस्कृतिक केन्द्र है, मंगालोर शहर और छावनी लगी हुई बस्तियाँ हैं, जिनमें मंगलोर छावनी अंग्रेजी अधिकार में है। वैसे ही यहाँ की छावनी बहुत बड़ी रही है, लेकिन आजकल तो लाख से ऊपर सेना यहाँ

रहती है। यहाँ सैनिक अफसरों का कालेज है, कई हवाई अड्डे हैं। एक शहर में 30 के करीब सिनेमा हैं। कन्नड़ (कर्नाटकी) भाषा के लेखकों में काफी संख्या प्रगतिशीलों की है। यहाँ से जाते वक्त साथी उपाध्याय और दूसरों ने वचन ले लिया था, कि इधर से ही जाऊँ। रात को गाड़ी में सोने का मौका नहीं मिला, इसलिए दिन के कई घंटे सोता रहा। मैंने चाहा कि कोई कन्नड़-फिल्म देखूँ। कन्नड़ का क्षेत्र संकुचित है, जहाँ तक फिल्मों का सम्बन्ध है उनकी माँग कम है। अतः बहुत कम फिल्म बने हैं। 30 के करीब सिनेमाघर हैं, लेकिन उनमें ज्यादातर हिन्दी फिल्म चलते हैं। जैसा कि मैं पहिले लिख चुका हूँ, हिन्दी फिल्मों के द्वारा हिन्दुस्तानी संगीत और वेष-भूषा ने दक्षिणपथ पर विजय प्राप्त कर ली है, अशोक और समुद्रगुप्त को क्षणिक सफलता मिली, हर्षवर्धन को तो हार खाकर भागना पड़ा, लेकिन उसी दक्षिणपथ को हमारी सिनेमा-तारकाओं ने अपने सौन्दर्य, वेष-भूषा, हाव-भाव और कोकिलकंठ से मुग्ध कर लिया। शायद इस विजय से हमारे दक्षिणवाले भाई नाराज नहीं होंगे। मालूम हुआ 'पन्तुलम्मा' नामक तेलगू चित्रपट चल रहा है। कुमार नाट्याचार्य के साथ मैं वहाँ गया। चित्रपट का कथानक था—पन्तुलम्मा अनाथालय में पली लड़की पढ़कर ग्रेजुयेट बनी, फिर म्युनिसपैल्टी के कन्याविद्यालय में अध्यापिका हुई। चेयरमैन एक नम्बर का रिश्वतखोर और ऐयाश था, उसने पन्तुलम्मा को फँसाना चाहा। वह पन्तुलम्मा के इनकार करने पर उसे नौकरी से निकाल देता है। परन्तु एक संगीतज्ञ ब्राह्मण तरुण पन्तुलम्मा को शरण देता है। इसके लिए उसका पिता वैदिक ब्राह्मण बेटे को घर से निकाल देता है। तरुण-तरुणी जाकर अब किसी जगह अपना कालयापन करते हैं। माता के मरणासन्न होने की खबर सुनकर पुत्र देखने के लिए आता है, और उसे अछूत की तरह बाहर भोजन दिया जाता है। वह खाने से इन्कार कर निकल पड़ता है। द्वार पर पन्तुलम्मा मिलती है। गाँववाले तरुणों को खबर लगती है। वह तरुण-तरुणी का जय-जयकार मनाने लगते हैं, वैदिक पिता महाजन के घोष को सुनता है, और समझ जाता है कि अब उसका युग नहीं रहा, इसलिए वह नवयुग का स्वागत करता है, तथा पुत्र और पुत्रवधू को आशीर्वाद देता है! घोर रूढ़िवाद के विरुद्ध दक्षिण में जो प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, इस फिल्म में उसका थोड़ा-सा परिचय था। दक्षिण के फिल्म-उत्पादक बाजार की कमी, अतएव घाटे के डर से फिल्मों पर उतना रुपया नहीं खर्च कर सकते, जितना कि हिन्दी फिल्मों पर होता है, इसलिए वह उतने अच्छे-अच्छे कलाकारों को जमा नहीं कर सकते, तो भी वहाँ उच्च कलाकार नहीं हैं, यह बात नहीं है। स्वाभाविकता वहाँ के फिल्मों में बहुत ज्यादा देखने में आती है, खासकर देहाती जीवन की। इसका कारण एक यह भी है, कि फिल्म अपने भाषा-क्षेत्र में तैयार होते हैं, और भाषा भी किताबी नहीं, सजीव बोलचाल की होती है।

अगले दिन (4 अप्रेल) 'वार्ता' (दैनिक पत्रिका) के कार्यालय में कन्नड़-साहित्यिकों से वार्तालाप हुआ। उनमें अधिकांश प्रगतिशील लेखक थे। आज की जीवित भाषाओं में कन्नड़ साहित्य हिन्दी (अपभ्रंश) और तमिल के बाद सबसे पुराना है। अभी भी यहाँ की कविता में भाषा और काव्यशैली पुरानी बरती जाती है। हाँ, कहानी और उपन्यास जरूर नए ढंग के लिखे जा रहे हैं। कन्नड़ प्रान्त भी चार-चार टुकड़ों में बँटा है—कुछ मदरास प्रान्त में और कुछ बम्बई में, फिर कितना ही हिस्सा मैसूर और हैदराबाद की रियासतों में है। आन्ध्र के साथ भी कुछ ऐसा ही हुआ है, किन्तु तब भी आन्ध्र का बहुत-सा हिस्सा एक जगह है। बिखरे होने पर भी कर्नाटकों की पुरानी क्षमता अभी लुप्त नहीं हुई है। कांग्रेस-आन्दोलन में वह महाराष्ट्र की अपेक्षा भी आगे रहे हैं। कर्नाटक में कम्युनिस्ट पार्टी का सन्देश बहुत पीछे पहुँचा है। अभी इसको साल-भर भी नहीं हुआ, तो भी वहाँ 100 मेम्बर थे, जिनमें बहुत-से अपना सारा समय पार्टी-कार्य के लिए देते थे। हम बैठक से लौट रहे थे। एक जगह 15, 20 आदमी सड़क पर थे। उनके भीतर घुसते ही कुट्ट-सी आवाज आई, मैंने जेब की ओर देखा तो शैफर (फाउन्टेनपेन) गायब थी। पीछे घूमकर देखता हूँ, एक लड़का तेजी से भागा जा रहा है। मैंने जब तक साथी को बतलाने की कोशिश की, तब तक वह और आगे चला गया। तो भी हमने जाकर उसे पकड़ा। लेकिन तब तक उसने कलम किसी दूसरे के हाथ में दे दी थी। पुलिस-थाने तक लेकर गए, लेकिन फिर सोचा फजूल की हैरानी है, कलम तो मिलनेवाली नहीं है, और कल ही हमें यहाँ से चल देना है। वहीं उसे छोड़

दिया। शैफर अच्छी फाउनटेनपैन होती है, और आज तो उसका दाम चौगुना पहुँचा था, लेकिन मैंने उससे चार-पाँच हजार पृष्ठ की किताबें लिखी थीं, इसलिए कह सकता हूँ, कि दाम सध गया था। वही कलम इलाहाबाद में हफ्ता गुम रहकर मिली थी। मैंने उस वक्त सन्तोष कर लिया था। सबसे बड़ी मेरी फिलासफी यह है, जो चीज चली गई, उसके लिए अफसोस नहीं करना। इस तरह पाकेट में फाउनटेनपेन रखने में चोरी का डर है—ऐसा उपदेश मैं बहुत बार सुन चुका था, और अकसर बाहर निकलते वक्त फाउनटेनपेन को भीतर गिरा देता था। आज भी ख्याल आया था, लेकिन बेपरवाही से उसी तरह लटकते रहने दिया। खैर, कलम गई, और बहुत सालों बाद फिर एक बार चीज चोरी जाने का अनुभव हुआ। शाम को तरुणों में एक व्याख्यान देना पड़ा।

12
बम्बई में (1944)

6 अप्रेल की दोपहर को हम बम्बई पहुँच गए। अभी पासपोर्ट का कोई ठौर-ठिकाना नहीं था। अपने बेकार समय को बरबाद करने का ही सवाल नहीं था, बल्कि उस तरह रहने पर चित्त के अवसाद को रोका नहीं जा सकता। सरदार पृथ्वीसिंह की जीवनी लिखना चाहता था, किन्तु अभी वह आन्ध्र से लौटे नहीं थे। सोचा, तब तक कालक्षेप के लिए कुछ पढ़ना ही चाहिए। ताराशंकर वंद्योपाध्याय की पुस्तक 'पंचग्राम' हाथ लगी। पीछे उनका दूसरा उपन्यास 'मन्वन्तर' पढ़ने को मिला। वह एक सिद्धहस्त कलाकार हैं, साथ ही कूटस्थ नित्य निर्विकार कलाकार नहीं, वह अपने आसपास की परिस्थितियों से प्रभावित होने को दूषण नहीं भूषण समझते हैं। 'पंचग्राम' में लेखक ने बड़ी सफलतापूर्वक पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के संघर्ष, पुराने वैयक्तिक स्वार्थों के साथ नये सामाजिक स्वार्थों के संघर्ष, पुराने आचारों के साथ नये आचारों को चित्रित किया है। दृश्य और पात्र सभी गाँव के हैं। उनमें एक तरह की स्वाभाविकता है। मैंने उस पर लिखा था—"सब मिलाकार अच्छा है, यद्यपि विश्वनाथ के प्रति ग्रन्थकार को आशा नहीं दिलाना चाहिए था, जबकि उसे दो पंक्तियों में ही मार डालना था। देव भी विचारों में कच्चा ही रह जाता है।" 'मन्वन्तर' के बारे में लिखा था—"अच्छा उपन्यास—विजय दा के स्वाभाविक चित्र कनाई का धीरे-धीरे आगे बढ़ना, गीता का स्वाभिमान। नीला का चित्रण बहुत अच्छा नहीं है, देवप्रसाद टिपिकल् लिबरल (उदारवादियों का नमूना), गुण दा की बीवी अर्थोडक्स (सनातनी), फिर भी गाँधीभक्त।"

इस वक्त दिमाग में 4 पुस्तकें चक्कर काट रही थीं—'हिन्दीकाव्यधारा' (अभी यह नामकरण नहीं हुआ था), 'सरदार पृथ्वीसिंह', 'भागो नहीं बदलो', 'जय यौधेय'। तो भी किसी बड़े काम के ठानने की हिम्मत न होती थी। समझता था, यदि जल्दी ही पासपोर्ट मिल गया, तो काम अधूरा छोड़ना पड़ेगा। बम्बई में अभी मैं पार्टी के मकान में था, लेकिन खटमलों के मारे रात में सोना मुश्किल था। दो-तीन दिन के बाद मैं फिर छत पर सोने लगा। वहाँ खटमलों से जान बची। खटमलों से बड़े-बड़े देवता भी त्राहि-त्राहि करते हैं, तो मेरी क्या बिसात है—

"क्षीराब्धौ हि हरिः शेते हरः शेते हिमालये।
ब्रह्मा च पंकजे शेते मन्ये मत्कुण-शंकया।"

14 अप्रेल को मैं अपनी दक्षिण-यात्रा पर एक लेख लिखवा रहा था, शान्ति (इन्द्रदीप की पत्नी) लिख रही थीं। 3 बज गया था। आज हम लोगों को आम्रभोज के लिए कहीं समुद्र के किनारे जाना था। महेन्द्र आचार्य आम खरीदने गये थे। एकाएक एक आवाज आई, और साथ ही धक्का लगा, भेड़े हुए किवाड़ खुल गये। मैंने समझा भूकम्प आ गया। दो-चार मिनट बाद फिर जोर का धक्का लगा। मुझे निश्चय हो गया कि भूकम्प है। हम चौथे महले पर थे। सामने भी एक पंचमहला मकान था। बीच में खेतबाड़ी मेनरोड की पतली-सी

सड़क थी। यदि मकान गिरनेवाला होता, तो नीचे सड़क पर जाने से बचने की कोई उम्मेद नहीं थी, क्योंकि दोनों मकान ऐसी-ऐसी तीन सड़कों को ढाँक सकते थे। तो भी खिड़की से झाँककर देखा। नीचे लोग एक ओर को बड़े गौर से देख रहे थे। हम भी नीचे उतरकर गये, देखा तो ढाँक (बन्दर) की ओर आसमान में बड़े जोर का धुँआ उठ रहा है। थोड़ी देर बाद एक प्रचंड धमाका हुआ, और आसपास के सारे मकान गनगना गये। लोग बन्दर की ओर से भागते चले आ रहे थे। दो-तीन साथी जाँच करने के लिए निकले। मालूम हुआ कि बारूद में आग लगने से जहाज उड़ गये हैं, और कितने ही आदमी मरे और घायल हुए हैं, मकानों में आग लग गई है। थोड़ी देर बाद वहाँ से लौटकर सुनील जाना ने बतलाया, कि बहुत-से आदमी घायल हुए; सड़क पर उन्होंने ऐसी लाश देखी है कि जिसका एक हाथ तो आदमी की तरह था, बाकी शरीर मांस का पोपला ढेर बन गया था। अँधेरा होते-होते मैं और इन्द्रदीप चले। सैन्डहर्स्ट रोड पर चलते गए, लेकिन रेल के पुल के पास पहुँचने पर सिपाही ने उधर जाने से रोक दिया। रात की अँधेरी में आग की लाल-लाल लपटें बड़ी भयावनी मालूम होती थीं। एक गली से होकर सड़क पर पहुँचे। देखा रेल के उस पार के मकान धाँय-धाँय जल रहे हैं, और इस पार के चौमहले-पँचमहले मकानों से लपटें निकल रही हैं। लोग घर छोड़कर भाग गए थे। रेलवे सड़क के पास के गोदामों में चौखटे सहित किवाड़ भीतर इस तरह गिरा दिए गए थे, जैसे हजारों हाथियों के बलवाले किसी पहलवान ने दोनों बाजुओं से दबाकर उन्हें नीचे गिरा दिया हो। खिड़कियों में शीशे का नाम नहीं; सड़कों पर वह चूर-चूर होकर पड़े थे। मैं चप्पल पहनकर आने के लिए पछता रहा था। चारों तरफ़ घबराहट थी, लेकिन कुछ स्वयंसेवक और सैनिक लोगों को खतरे की जगह से निकालने में लगे हुए थे। सड़कों और फुटपाथों पर लोगों ने खड़िया मिट्टी से लिख दिया था, कि शरणार्थियों को किस जगह जाना चाहिए। रात को मैं छत पर सोया था, धुआँ तो अँधेरे में क्या दिखाई देता, किन्तु ज्वाला बलती हुई लौ दूर तक दिखाई देती थी।

महेन्द्र जिस वक्त आम का मोल-भाव कर रहे थे, उसी समय धड़ाका हुआ था। वह आम लेना भूल गए और दूकानदार भी दूकान बन्द करने लगा।

पासपोर्ट और वीसा के मिल जाने के बाद लड़ाई के वक्त एक और बड़ी दिक्कत थी रुपए के बदले में विदेशी विनिमय पौंड लेना—सरकार के हुकुम के बिना आप एक पौंड भी नहीं पा सकते। पौंड के लिए मैं रिजर्व बैंक को लिखकर गया था। 18 अप्रेल को बैंक ने कुछ बातें पूछी थीं, जिन्हें बतला दिया गया। 22 को मैं वहाँ गया तो बैंकवाले ने कहा, आप पहिले डिफेन्स (सेना) विभाग से बीवी-बच्चे लाने के लिए इजाजत ले लें, तो हम पौंड देंगे। मैंने खर्च का विवरण देते हुए दर्ख्वास्त में लिख दिया था कि सोवियत जाने और बीवी-बच्चों के लाने के लिए मुझे इतने पौंडों की जरूरत है। बीवी-बच्चे लाने की बात लिखने की जरूरत नहीं थी, क्योंकि वह सवाल तो सोवियत जाने के बाद होता, लेकिन न जा सकने पर पैसों के भेजने की तो जरूरत पड़ती। बैठे-बैठाए मैंने एक आफत और मोल ले ली। आज भी अंग्रेज अफसरों का दिमाग कितना आसमान पर है, यह उस आदमी से बात करते वक्त मालूम हुआ। उसका बर्ताव बहुत रूखा था, और साधारण शिष्टाचार का जवाब तक नहीं देना चाहता था, लेकिन यह उसका दोष नहीं था, दोष था हमारी गुलामी का।

बम्बई में रहते जब-तब मैं कोई फिल्म देखने चला जाया करता था। यहाँ दो फिल्मों के बारे में मैंने जो अपनी डायरी में लिखा है, उसे उद्धृत करता हूँ—"रात को 'शुक्रिया' फिल्म देखने गए, अभिनय अच्छा, इसमें सन्देह नहीं, मगर सिर्फ गाने-नाचने और सौंदर्य-प्रदर्शन के ही बल पर इस फिल्म को दर्शकों के मत्थे थोपा गया। बीसवीं सदी का स्वयंवर (है), जिसमें नीना (रमोला) सभी उम्मेदवारों को इनकार कर देती है। अन्तिम को बिना देखे ही इनकार करने पर वह 'शुक्रिया' कहता है। बुलाने पर नीना दो चपत लगाती है, फिर नायक कई चपत लगाता है। प्रेम हो गया शुरू। हीरो (नायक) परले दर्जे का ऐयाश (शराबी, रंडीबाज) है। वह एक वेश्यापुत्री को धोखा देता है। (रुपयों के लोभ से) नीना के पिता ने पुत्री के पैदा होने से पहिले ही, लड़की के सुन्दर के साथ ब्याह करने पर सम्पत्ति का अधिकारी होने का बिल (वसीयतनामा) लिखा था।

सुन्दर गुरु के पास से उल्लू होकर निकलता है। मनोहर (नायक) उसे बेवकूफ, ऐयाश बनाता है, जिसमें वेश्यापुत्री सहायक होती है। चाल मालूम होने पर नीना इनकार कर देती है; अन्त में सुन्दर बच जाता है। सुन्दर के गुरु के आदर्श की विजय होती है। कथानक बिलकुल विशृंखलित, निर्जीव और निरुद्देश्य है।"

अगले दिन (20 अप्रेल) मैंने 'जमीन' फिल्म देखा। उसके बारे में लिखा था—"इतने दिनों बाद यह एक हिन्दी फिल्म आया है, जिसकी तारीफ कर सकते हैं। वार्तालाप कमाल का है, कौरवी उच्चारण लाने की कोशिश की गई है, उसमें सफलता हुई है। कथानक भी सुसंबद्ध है, गहराई है··· अभिनय में जो कुछ है, ध्वनि उससे दूर जाती है। नायिका (दुर्गा खोटे), दाढ़ीवाले और बहरे का पार्ट बड़ी सुन्दर रीति से अदा किया गया है। बहरे ने तो गजब ढाया है। कथा है—भूकम्प से दाढ़ीवाले और बाढ़-अकाल से नायिका का गाँव नष्ट हो जाता है। पहिले के पास दो बकरियाँ और दूसरे के पास एक गाय रह जाती है। दाढ़ीवाला जमीन पकड़ लेता है, नायिका भी गाय लेकर वहाँ पहुँचती है। दोनों नया जीवन आरम्भ करते हैं—किसान का जीवन। किसान कुछ समय बाद बकरियों और सामान को बेंचकर बहरे की गाड़ी पर खेती के सामान (हल, चर्खा···) लिये घर पहुँचता है, तीनों काम में लग जाते हैं। जमीन पर सरकारी अफसर आ धमकता है। पैसा देकर वह अपना काम करते हैं। वहाँ नमक देख पूँजीपति आ टपकता है। अब आफतें शुरू होती हैं। उस जमीन में नमक के बाद ताँबा निकलता है। न बेंचने का हठ करने पर पूँजीवाला दस्तावेज चुराना चाहता है। नायिका उसे मार देती है। बड़ा पूँजीपति स्त्री की लड़ाई लड़ने और पुत्र को पढ़ाने का ढोंग रचकर एहसान जतलाता है, लेकिन पैरवी नहीं करता। स्त्री बारह साल के लिए जेल चली जाती है। लड़के को मारता-पीटता है। वह जहाज पर निकल जाता है। नायिका छूट के आने पर पुत्र को माँगती है। सेठ कहता है, वह विलायत पढ़ने के लिए गया है। सेठ की लड़की (खुर्शीद) मोटर बिगड़ जाने से रास्ते में खड़ी है। दोनों की भेंट, दोनों का परिचय, लेकिन तरुण घृणा करता है। वह माँ-बाप से मिलता है। बहरा शुरू ही से सेठों के जाल का विरोधी है। लड़के-लड़कियों में प्रेम। ताँबा खतम होने पर तेल निकलता है। लड़का सेठ के हाथ में जमीन बेचने के लिए तैयार है, माँ असहमत। सेठ भी जनम-धरती बेंचने के लिए ताना मारता है। लड़के की आँखें खुलती हैं। सेठ को जमीन छोड़ने की बात कही जाती है। सेठ डाइनामाइट लगाने का हुकुम देता है। तरुण सेठ के साइनबोर्ड को फेंक देता है, जिस पर गुंडे शिर फोड़ देते हैं। अब सेठ के मारने के लिए भीड़ आती है। तरुणी कन्या पिता का पता देने से इनकार करती है। तरुण उसे मारने के लिए हाथ बढ़ाता है। स्त्री पर हाथ छोड़ना कायरता है, कहकर माँ रोक देती है। सेठ को जमीन छोड़ने की शर्त पर अभयदान मिलता है। सेठ गाँव से चलता है, लड़की भी चलना चाहती है। माँ यह कहते हाथ पकड़कर लौटा देती है—बेटे को साथ लाई थी, अब उसे अकेला छोड़कर जाती है। (फिल्म में) किसानों का बर्ताव गंभीरतापूर्वक और स्वाभाविक। दाढ़ीवाला कुछ सीधा-सादा-सा, सेठ नृशंस। चीरहरण की जगह कोई दूसरी ग्रामीण मनोरंजन की चीज ला सकते थे। गाने अच्छे नहीं। फोटोग्राफी भी दोषपूर्ण। योगी के अनुकूल भेस नहीं।"

शहर में जगह बहुत कम थी, पार्टी-साथियों की संख्या बढ़ गई थी। दूर अँधेरी में एक बँगला किराए पर लिया गया, जिसमें चालीस-पचास आदमी रह सकते थे। 22 तारीख को मैं भी साथियों के साथ यहाँ चला आया। अँधेरी से भी यह बँगला बिलकुल बाहर था, अच्छा बगीचा था। आस-पास भी आमों के बाग और दूसरे बँगले एक दूसरे से हटकर थे। साथियों को अपने काम के लिए रोज 10 बजे से पहिले ही शहर चला जाना पड़ता, लेकिन मुझे 'सरदार पृथ्वीसिंह' लिखना था, इसलिए शहर जाने की जरूरत नहीं थी। मैंने 24 अप्रेल से 'सरदार पृथ्वीसिंह' लिखाना शुरू किया और जौनपुर जिले के तरुण ठाकुर भगवानसिंह बड़ी मुस्तैदी से लिखते गए।

वीसा की गड़बड़ी

27 तारीख को पता लगा, कि भारत सरकार ने पहिली शर्त हटा ली है, और ईरान का वीसा लेकर मैं वहाँ जा सकता हूँ। 29 अप्रेल को 10 बजे बम्बई गया। भटकते-भटकते गामड़िया रोड पर ईरान-कौन्सल के पास

पहुँचा। पहले के तजर्बे से मैं समझ रहा था, कि वीसा लेना तो घंटे आध घंटे का काम है। एक साथी के पूछने पर मैंने कह दिया था, 99.9% मेरा जाना ठीक हो गया। ईरान-कौन्सल से बातचीत करने पर घोर निराशा हुई। उसने कहा, जब तक तेहरान से सरकार इजाजत नहीं भेजती, तब तक हम वीसा नहीं दे सकते। इजाजत छै महीने से पहिले क्या मिलेगी ? 5 मई को रिजर्व बैंक की चिट्ठी आई कि वह 125 पौंड का विनिमय देने को तैयार है। 8 मई को मैं विनिमय के लिए 2000 का चेक ले आया। अगले दिन ईरान-कौन्सल के पास दो फोटो के साथ वीसा की दरख्वास्त दे दी। उसने जल्दी इजाजत भेजने के लिए एक जबानी तार लिख दिया। मैंने उसे भी भेज दिया। अब मेरे पास पासपोर्ट था। कुछ दिनों बाद टामस कूक ने 125 पौंड का चेक भी दे दिया। लेकिन ईरानी वीसा की इजाजत का आज (27 सितम्बर) तक कहीं पता नहीं। ईरान-कौन्सल ने कह दिया था–कुछ पता नहीं कब तक इजाजत आयेगी। मैंने इस समय को पुस्तकें लिखने में लगाने का निश्चय किया। हमारे बँगले में खाना पकाने का कोई इंतिजाम नहीं था, इसलिए अँधेरी में वहीं सरदार पृथ्वीसिंह के घर चला आया और भाभी प्रभा तथा उनकी देवरानी (सरदार पृथ्वीसिंह की अनुज-वधू) दुर्गा के हाथ की मीठी-मीठी रोटियाँ खाते किताब लिखने में लग गया।

कनेरी की गुफा में

अँधेरी से दूर कनेरी की गुहाएँ (लेना) हैं। मैं उनका नाम सुन चुका था। भाभी ने उन्हें कई बार देखा था। 10 मई को सबेरे हम रेल से बोरीविलि गए। स्टेशन से गुहाएँ 7 मील पर हैं। रास्ता जंगल और पहाड़ी का है। बैलगाड़ी कुछ दूर तक जा सकती है, लेकिन वह आराम की सवारी नहीं होती, इसलिए खाने की चीजें साथ बाँधकर हम चल पड़े। रास्ते में करौंदों के बहुत दरख्त हैं, हिमालय और उत्तरी भारत में मैंने जंगली करौंदे बहुत खाए थे, लेकिन वह बहुत छोटे-छोटे होते हैं और यहाँ थे कौड़ी-कौड़ी-भर के। हम जहाँ-तहाँ करौंदा खाने लगते, लेकिन यह भी फिकर थी, कि धूप तेज होने से पहिले ही वहाँ पहुँचना है। 10 बजे के करीब हम गुफाओं के पास पहुँचे। अजन्ता और एलोरा में भी बहुत-सी गुफाएँ पहाड़ काटकर बनी हैं। एलोरा में तो कुछ दोमहले-तिमहले प्रासाद-सी मालूम होती हैं, लेकिन वहाँ गुफाएँ पाँती से एक जगह पर हैं, कनारी में गुफाओं की संख्या 100 से अधिक और एक मील के घेरे में हैं। वह पहाड़ में जहाँ-तहाँ बिखरी हुई हैं। नम्बर तीन गुफा एक विशाल चैत्यशाला है–कार्ले की चैत्यशाला से भी बड़ी है। इसमें यहाँ रहनेवाले भिक्षु उपोसथ के समय एकत्रित हुआ करते थे। सारी शाला पहाड़ खोदकर बनाई गई है। द्वार के बाईं ओर की दीवार पर दो राजाओं और दो रानियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। राजाओं का शरीर सुपुष्ट और सुन्दर है, रानियों के चेहरे पर सौन्दर्य के साथ-साथ निर्भयता और स्वतन्त्रता झलकती है। बाहरवाले दो खम्भों पर ईसा की दूसरी शताब्दी के अक्षरों में विस्तृत शिलालेख है। लेख कहीं-कहीं खंडित हो गया है। इस गुफा को किसी शातवाहन नरेश ने बनवाया था। बाहर दो सिंह-स्तम्भ हैं। सबसे बाहर एक लम्बा मैदान है, जहाँ चार-पाँच हजार आदमी बैठ सकते हैं। इस गुफा की दाहिनी ओर एक और अपूर्ण चैत्यशाला है, जिससे थोड़ा हटकर नम्बर एक वाली गुफा है, जिसे भिक्षुओं के रहने के लिए इस्तेमाल किया जाता था। यहाँ से फिर हम आगे की ओर बढ़े। नीचे-ऊपर चढ़ते हुए हम गुफाओं में विचरने लगे। वैसे ये पहाड़ नंगे नहीं हैं, किन्तु यहाँ चश्मे नहीं दिखाई पड़ते। दर्शकों को प्यास से बड़ी तकलीफ होती, लेकिन 1800 साल पहिले के भिक्षुओं ने पानी का बड़ा सुन्दर इंतिजाम किया है। प्रायः सभी गुफाओं के नीचे चहबच्चे खुदे हैं, और ऐसी नालियाँ बनी हुई हैं, जिनसे बरसात का सारा पानी इन चहबच्चों में जमा हो जाता है। उस समय यहाँ हजार-बारह सौ आदमी रहते होंगे, और रोज नहाने-पीने का खर्च होगा, तो भी यहाँ पानी का टोटा नहीं रहता रहा होगा। पहिले-पहिल जब मैंने चहबच्चे के पास बैठकर पानी के काले रंग को देखा, तो समझा कि पीने लायक नहीं होगा; लेकिन जब लोटे में निकाला, तो बड़ा साफ दिखाई पड़ा, साथ ही बहुत ठंडा भी। मई के महीने की गर्मी में थके-माँदे प्यासे आए बटोही के लिए यह पानी वस्तुतः अमृत है। आज भी वहाँ सैकड़ों दर्शक आते-जाते हैं और इस अमृत को पीकर उन भिक्षुओं के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं। वैसे कार्ले, वेरूल (एल्लोरा), अजन्ता (अजिंठा) आदि गुफाओं में भी पानी का

इन्तिजाम है, लेकिन इतना कदम-कदम पर, और इतनी अच्छी तरह का इन्तिजाम कहीं नहीं है। गुफाएँ पर्वत की रीढ़ तक चली गई हैं, सभी जगह यही बात है। चौंतीस नम्बर की गुफा के छत में अब भी कुछ रंगीन चित्र हैं, जिससे मालूम होता है कि गुफाओं की दीवारें और छतें सुन्दर चित्रों से चित्रित थीं। यहाँ राजा शातवाहन गौतमी-पुत्र के काल का एक लेख है। बुद्ध की कितनी ही कुर्सी पर बैठी, खड़ी या ध्वानावस्थित उत्कीर्ण मूर्तियाँ हैं। 79वीं गुफा में बाहर का खुला आँगन पत्थर में खुदा है। अगल-बगल में बैठने के लिए पतले चबूतरे, दाहिनी ओर जलकुंड हैं, बाईं ओर की कोठरी शायद रसोई की है। दो खम्भे और तीन द्वारों का बराण्डा है, फिर एक द्वार, जिसमें कभी किवाड़ लगा रहता था, फिर चौड़ी संघशाला है, जिसके दो ओर पतले चबूतरे हैं। बाईं ओर किवाड़वाली दो कोठरियाँ हैं–किवाड़ अब नहीं हैं। दीवारों में अब भी कहीं-कहीं पलास्तर दिखाई पड़ता है। बराण्डे में दाहिने कुर्सी पर बुद्ध आसीन हैं, जिनके बाएँ भीत में अवलोकितेश्वर और किसी देवी की मूर्ति खुदी हुई है। 67वीं गुफा उत्तराभिमुख है। यहाँ से घोड़बन्दर का समुद्र और पार्वत्य दृश्य बहुत सुन्दर मालूम पड़ते हैं। इसके बाहर भी पत्थर काटकर आँगन बना हुआ है, जिसकी दो तरफ पतले चबूतरे बने हुए हैं, और एक ओर जलाधानी। बराण्डा चार खम्भेवाला है, जिसके तीन तरफ की दीवारों में मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो ज्यादातर बुद्ध की हैं, और बुद्ध भी अधिकतर कुर्सी पर बैठे हुए हैं। दाहिनी ओर की दीवार में अवलोकितेश्वर हैं, जिनके साथ दो स्त्री-मूर्तियाँ हैं; यह तीनों मूर्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं। दरवाजे से भीतर घुसने पर एक वर्गाकार हाल (शाला) है। इसकी चारों दीवारों पर मूर्तियाँ ही मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। मूर्तियाँ सुन्दर हैं, और उनके देखने से हम कुछ अनुमान कर सकते हैं, कि यहाँ की गुफाओं को कैसे चित्रों से अलंकृत किया गया था।

कनेरी में बुद्ध के बाद अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ ज्यादा हैं। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण बौद्धकेन्द्र रहा होगा, इसमें सन्देह नहीं। शातवाहन राजाओं ने नासिक और दूसरी गुफाओं के भिक्षुओं को बहुत दान दिए थे, बड़ी चैत्यशाला उन्हीं का दान मालूम होती है। लेकिन दूसरी-तीसरी सदी के बाद भी शिलाहार राजवंश बौद्धसंघ का भारी पोषक रहा। सबसे पीछे के पलास्तरों से मालूम होता है, कि 10वीं 11वीं सदी में भी यहाँ भिक्षु रहा करते थे। दूसरी सदी में अवलोकितेश्वर जैसे महायानी बोधिसत्वों की मूर्तियाँ बनने लगी थीं, इसे पक्का नहीं कहा जा सकता, लेकिन अवलोकितेश्वर की मूर्तियाँ हैं यहाँ ज्यादा। क्या यही तो वह प्रसिद्ध पोतलक पर्वत नहीं है, जो कैलाश के शिव की तरह अवलोकितेश्वर का निवासस्थान माना जाता था। ल्हासा में दलाईलामा का प्रसिद्ध पोतला प्रासाद इसी प्रसिद्ध पोतलक पर्वत के नाम पर बनाया गया।

10 बजे से साढ़े 5 बजे तक हम गुफाओं को घूम-घूमकर देखते रहे। बीच में सिर्फ थोड़ा भोजन और विश्राम के लिए बैठे। चलते-चलते बहुत थक गए थे। मुझसे भी ज्यादा भाभी प्रभा थक गई थीं। साढ़े 8 बजे हम बोरीविली स्टेशन पर चले आए और गाड़ी से अँधेरी पहुँच गए।

बम्बई में खटमलों से नाक में दम था, और अँधेरी में मच्छरों की भरमार थी। लेकिन मच्छरों को मसहरी से रोका जा सकता है, खटमलों और पिस्सुओं की वैसी कोई दवा नहीं।

6 मई को मालूम हुआ, कि बीमारी के कारण गाँधीजी छूट गए। सभी जगह लोग खुशी मना रहे थे। अभी तक तो मच्छरों ही की तकलीफ थी, अब गर्मी ने जोर पकड़ा था। बम्बई में लू नहीं चलता, लेकिन रात-दिन कोई समय नहीं था, जब शरीर पसीने से चिप-चिप न करता रहा हो, सारे शरीर में बारीक फुन्सियाँ निकल आईं। मालूम होता था, सभ्यता ने कपड़े पहनाकर हम लोगों का हित नहीं किया।

17 तारीख को मैं टामस कूक से चेक लेने गया था। देखा 'कादम्बरी' फिल्म दिखलाया जा रहा था। 'वसंतसेना' और 'शकुंतला' को देख चुका था। शूद्रक और कालिदास पर कैसे छुरी चलाई गई थी, यह अनुभव कर चुका था। सोचा, चलें 'कादम्बरी' को भी देख लें। देखने के बाद मैंने डायरी में लिखा था–"शकुंतला, कादम्बरी और वसंतसेना तीनों का फिल्मवालों ने कतल किया है, और बड़ी निर्दयता के साथ, जिसमें कादम्बरी की और बुरी गत बनाई है। ...'वागीश्वरं हन्त भजेऽभिनंदं अर्थेश्वरं वाक्पतिराजमीडे। रसेश्वरं स्तौमि च कालिदासं वाणं तु सर्वेश्वरमानतोऽस्मि।।' सर्वेश्वर बाण के साथ, जिसने कादम्बरी के बहुत-से स्थानों में मानो छायापट के ही लिए संकेत कर दिया है, यह बर्ताव ! फिर उससे स्वतंत्रता लेते देव, मानव, घोड़ा, बन्दर, पंछी की

योनि में गए वाण से प्रार्थना करना !! गोया वाण आज भारत के 40 करोड़ों में नहीं हैं। महाश्वेता (वनमाला) का पार्ट सुन्दर है, मगर आततायियों ने उसे दासी जैसा बना डाला है। कादम्बरी के भीतर स्वप्न में प्रेम पैदा किया। आच्छोद-सरोवर का पता नहीं। पुंडरीक की दशा का वर्णन नहीं, कपिजल का सौहार्द नहीं। मदगर्भित तर्जना। गंधर्वकुल गोया वेश्याकुल है, इसीलिए तो कामदेव कुलदेव हैं। हन्त ! कादम्बरी को कुछ भी नहीं समझा। कार्यव्यस्त डाइरेक्टर जो ठहरे !! लोकोत्तर बातें नहीं छोड़ी गईं (वाण की अद्‌भुत कलासृष्टि पर जरूर स्याही पोती गई), आच्छोद सरोवर या चन्द्रापीड़ के जन्म से शुरू कर सकते थे। कादम्बरी के दूत के साथ महाश्वेता चंद्रापीड़ को ले जाती। आश्चर्य तो यह कि चन्द्रापीड़ (बननेवाला पात्र) घोड़े पर चढ़ना नहीं जानता। (वाण के इंद्रायुध की जगह एक) मरियल घोड़ा था। (इन्हें) दैव-राजा का डर नहीं। पैसाधर्म, टकापंथ बुरा हो तेरा ! भीड़ यदि सफलता की कसौटी है, तो वेश्या-नृत्य कराओ, कोकशास्त्र के चित्र दिखाओ !! राम-कृष्ण के चरित जैसी स्वतंत्रता अश्वघोष-कालिदास-भास-भवभूति-वाण से नहीं ली जा सकती। दुनिया में लूटने-खाने के और बहुतेरे स्थान हैं। सहृदयों को चुप नहीं रहना चाहिए, इस अनधिकार चेष्टा और बलात्कार को देखते। आज फिल्म हमारे हाथ में नहीं, थैलीशाहों के हाथ में है, तो यह नहीं समझना चाहिए कि कल भी ऐसा ही रहेगा। इन टकापंथियों को नंगा कर देना चाहिए। वह मृत-शवों पर नहीं, चालीस करोड़ जीवितों पर प्रहार कर रहे हैं।"

5 मई को ही मैंने 'पृथ्वीसिंह' को लिख डाला था, तो भी मैं कुछ दिनों तक वहाँ और इस इन्तजार में बैठा रहा, कि वीसा आ जायेगा। लेकिन उसका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं था, इसलिए मैंने 'हिन्दी काव्यधारा' में हाथ लगाना चाहा। मुनि जिनविजय जी के परिश्रम से भारतीय विद्याभवन में पुरानी हिन्दी–अप्रभंश–का काफी साहित्य एकत्रित हो गया है, इसलिए 18 मई को मैं वहीं चला गया। 'हिन्दी काव्यधारा' के सिद्ध-सामन्त युग के लिए सामग्री जमा करनी शुरू की। 25 मई को सी. आई. डी. का टेलीफोन आया, जिसमें यह भी कहा गया था कि डेढ़ रुपऐ के स्टाम्पवाला दस्तावेजी कागज लेकर आएँ। हम लोग खूब मत्था-पच्ची करते रहे, लेकिन समझ में नहीं आया। जबकि सी. आई. डी. के इशारा मात्र से अनिश्चित काल तक के लिए जेल में बन्द कर दिया जा सकता है, तो डेढ़ रुपए के दस्तावेजी कागज की क्या जरूरत ? हाँ, एक बात का और ख्याल आया कि शायद सी. आई. डी. का यह 'अपना काम नहीं' है। यदि अपना काम होता, तो कोई खुद यहाँ हाजिरी देने आता। खैर, मैंने डेढ़ रुपए का कागज तो नहीं लिया, लेकिन साथी महेन्द्र जी को ले लिया कि जरूरत पड़ने पर कागज भी आ सकेगा। सी. आई. डी. अफसर चाहे हिन्दुस्तानी हो, चाहे अंग्रेज, बड़े भद्र पुरुष होते हैं–क्योंकि उन्हें मीठी फाँसी देनी होती है। वहाँ जाने पर मालूम हुआ, कि मैं जो बीवी-बच्चे को बुला रहा हूँ उनके खर्च-वर्च–यहाँ रहने और बाहर भेजने की जिम्मेवारी मुझे लेनी होगी, इसीलिए डेढ़ रुपए के कागज पर दस्तावेज लिखना होगा। मैंने दस्तखत कर दिया, और छुट्टी मिली।

पुराने कवियों की कृतियों को देखते-देखते मैं 8वीं सदी के महान् कवि स्वयंभू के रामायण (प उ म-च रि उ) को पढ़ने लगा। मुझे पढ़ते-पढ़ते बहुत आश्चर्य और क्षोभ होने लगा। आश्चर्य इसलिए कि इतने बड़े महान कवियों को मैं जानता नहीं था–पिछले तेरह सौ वर्षों के हिन्दी काव्य-क्षेत्र में स्वयंभू के जोड़े का कोई कवि नहीं हुआ–सूरदास और तुलसीदास को लेते हुए भी। मैं तो समझता हूँ, भारतीय वाङ्मय के 12 कवि-सूर्यों में स्वयंभू एक हैं। धीरे-धीरे मुझे 760 से 1300 ई. तक के 45 से ऊपर कवि मिले। लेकिन उनकी भाषा इतनी पुरानी है कि यदि सहायता न दी जाय, तो पाठकों को समझना मुश्किल हो जायेगा। 84 सिद्धों के दोहों के सम्पादन के लिए मैंने पहिले ही एक बार सोचा था, जिस तरह प्राकृत में संस्कृत-छाया देने का रवाज है, उसी तरह अपभ्रंश कविताओं की हिन्दी-छाया दी जाय तो अच्छा है–अनुवाद नहीं केवल छाया, सिर्फ तद्भव शब्दों की जगह तत्सम शब्द रखकर। छाया बनाते वक्त मुझे यह भी पता लगा, कि यह अपभ्रंश जिस भाषा से सबसे अधिक नजदीक है, वह है कौसली (अवधी)–सौरसेनी की रूढ़-धारणा मुझे गलत मालूम हुई।

जून के मध्य में पहुँचते-पहुँचते पेट की शिकायत होने लगी, और हल्का-हल्का दर्द बढ़ते-बढ़ते तेज होने लगा। बम्बई से मुझे हमेशा शिकायत रही। पहिले तो वह ज्वर और सिर-दर्द भेजा करती थी, अबकी उसने

पेट में छुरी भोंकी। एकाध डाक्टरों की दवा की, उससे कोई फायदा नहीं हुआ। जान पड़ा, उत्तर से जानेवाले सभी बुद्धिजीवियों को यह बीमारी सताती है। कभी-कभी रोगी ज्यादा सिद्धहस्त वैद्य साबित होता है। एक मित्र ने एक विलायती नमक (एंड्रुलीवर साल्ट) बतलाया। यह बीमारी को खतम नहीं करता था, लेकिन दर्द हो रहा हो, तो पानी में इसे डालकर पी लेने पर कितनों ही घंटे के लिए दर्द जाता रहता है। मुम्बादेवी ने हमला तो कर दिया था, लेकिन मुझे भी दवा मिल गई। मैं बम्बई में नहीं रहना चाहता था, लेकिन 'काव्यधारा' के काम को खतम करना जरूरी था, आगे दो हफ्ता बम्बई में मैं इसी नमक के बल पर रहा। (तब मालूम नहीं था, कि यह मधुमेह की घंटी है।)

यद्यपि हम अपने राष्ट्रीय प्रगति में जहाँ के तहाँ थे, लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में फासिस्तों और फासिस्त मनोवृत्तिवालों को हार पर हार देखनी पड़ रही थी। साम्राज्यवादियों ने यूरोप में जर्मनों के खिलाफ दूसरा मोर्चा न खुलने के लिए तरह-तरह की कोशिशें कीं, लेकिन जब देखा लालसेना जर्मन सीमा पर पहुँच गई, तो डर मालूम होने लगा, कि यदि हमारे बीच में कूदे बिना लालसेना ने हिटलर को पछाड़ दिया, तो हम कहीं के न रहेंगे, इसलिए 6 जून को अंग्रेज और अमेरिकन सेनाओं ने फ्रांस के तट पर उतरकर हिटलर के खिलाफ दूसरा मोर्चा खोल दिया। अब पीछे हटने का सवाल नहीं था। एक जगह मुँह छिपाकर बैठने की भी बात नहीं थी। 3 दिन बाद खबर मिली कि बोदोगलियो और इताली के बादशाह भी विदा हुए। इन गीदड़ों ने खाल रँगकर फिर अपना जूआ इतालियन जनता के ऊपर लादना चाहा था। चर्चिल भी इनके समर्थक थे, क्योंकि पूँजीपतियों को डर था—यदि वैसा नहीं करेंगे तो इताली से भी पूँजीवाद को हाथ धोना पड़ेगा। युगोस्लाविया में विलायती थैलीशाहों की नीति असफल रही, अब इताली में भी वह असफल हुई।

11 जून को एक ऐसी बात सुनी, जिसे सुनकर मुझे आश्चर्य भी हुआ, और साथ ही इस ख्याल को बदलना पड़ा, कि दुनिया में भूले-भटके भी कोई ब्रह्मचारी मिल सकते हैं। मैं समझता था, कि शरीर से असमर्थ न रहते भी शायद कोई आदमी यौन-संयोग में रुचि न रखता हो, आखिर खाने की भी कितनी ऐसी चीजें हैं, जिनको कोई-कोई आदमी पसन्द नहीं करता। लेकिन अब इस अपवाद को छोड़ देने की जरूरत पड़ी। मैंने उस दिन अपनी डायरी में लिखा था—"मेरे लिए यह बातें आश्चर्यकर नहीं हैं। (तो भी मैं कहूँगा कि) सहजयानी सिद्ध अधिक ईमानदार थे, यद्यपि दिव्यमंत्र का बहाना उनकी निर्बलता थी।" चौरासी सिद्ध स्त्री-पुरुषों में स्वच्छन्द सम्बन्ध को चाहते थे, लेकिन वह ब्रह्मचर्य की ढोल नहीं बजाते थे। यह हद दर्जे की बेशर्मी है कि आदमी बात-बात में ब्रह्मचर्य की कसम खाए, उस पर पोथे पर पोथे लिखे और फिर भी चिराग तले अँधेरा रहे। हाँ, मैं यह मानता हूँ, कि धार्मिक जगत में ऐसा हर जगह देखा जाता है।

13

प्रयाग में (1944 ई.)

'काव्यधारा' का काम समाप्त हो गया। दवाई के बल पर मैंने और बम्बई में रहना नहीं चाहा, इसलिए 11 जुलाई को वहाँ से कलकत्ता मेल पकड़ा। यद्यपि यह गाड़ी इसी स्टेशन से चलती है, लेकिन आजकल पहिले ही से गाड़ी भर जाती है। मेरे दोस्त स्टेशन पर पहुँचाने आए। वह प्लेटफार्म पर आती गाड़ी पर बैठ भी गए, लेकिन इसी बीच में इतने आदमी भर गए कि अपनी जगह पहुँचना मेरे लिए मुश्किल हो गया। किसी तरह वहाँ पहुँचा, तो देखा बक्स का पता नहीं है। इसी बक्स में 'काव्यधारा' का हस्तलेख था, इसलिए चिन्ता होनी जरूरी थी। बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ करने पर दूसरी पाँती में किसी के पैर के नीचे मिला। अब 26 घंटों के लिए मुझे अपनी जगह अचल रहना पड़ा। जगह इतनी कसी हुई थी कि उठते ही लोगों के शरीर ढीला करने ही से वह भर जाती, फिर झगड़ा कौन मोल लेता। मैंने 22, 23 घंटे खाने की तो बात ही क्या, चाय भी न पी।

जब गाड़ी मानिकपुर के पास पहुँचने लगी, तो चाय पी और कुछ आम खाए। 12 जुलाई को साढ़े 10 बजे रात को प्रयाग पहुँचा।

'जय यौधेय'

भारत में कभी जनसत्ता थी, राजा के बिना भी शासन होता था, यह बात इतनी विस्मृत हो गई थी, कि इस शताब्दी के आरम्भ में जब कुछ यूरोपीय और भारतीय विद्वानों ने लिच्छवि (वैशाली), मल्ल आदि गणराज्यों (प्रजातन्त्रों) का जिक्र किया तो हमारे कितने ही शिक्षित आँख मल-मलकर देखने लगे। उनका दिल विश्वास नहीं करता था, कि बिना राजा के भी कभी हमारे यहाँ राज चलता था। लेकिन धीरे-धीरे उनको कुछ गर्व जरूर होने लगा, क्योंकि उन्होंने देखा, कि जिस बात पर यूरोपवाले गर्व करते हैं, वह जन-स्वातन्त्र्य यहाँ भी किसी समय मौजूद था। गणराज्य का नाम सिक्कों, पुराने शिलालेखों, पाली पुस्तकों तथा दो-चार और ग्रन्थों में भले ही आये, मगर जीवित जनता में उसका कोई पता नहीं था, और ब्राह्मणों का विशाल संस्कृत-साहित्य उसके बारे में भयंकर चुप्पी साधे था। सिंहल जाने से पहिले मैंने रीजडेविड्स की पुस्तक में वैशालीगण के बारे में पढ़ा था। एकाध जगह और उसका जिक्र सुना था। साथ ही जैसा कि मैंने पहिले लिखा, रूसी लाल क्रान्ति के दो-एक महीने बाद ही से मेरे लिए सोवियत-व्यवस्था एक सर्वप्रिय आदर्श बन गई थी—हाँ, इस व्यवस्था के बारे में मैं उस वक्त इतना ही जानता था, "उसमें धनी के लिए ख्याल नहीं। आदमी-आदमी सब बराबर हैं, काम करना सबका कर्तव्य है, और खाना-कपड़ा पाना सबका अधिकार।" इसके बाद मैं छै साल तक कांग्रेस की क्रियात्मक राजनीति में भाग लेता रहा, जेल से बाहर रहने पर गाँवों में घूमता रहा; अब मेरे विचार और दृढ़ हो गये, कि हमें इस व्यवस्था को हटाकर एक बिल्कुल नई तरह की व्यवस्था कायम करनी होगी। लंका में जब त्रिपिटक की पोथियों पर पोथियाँ उलटने लगा, तो बुद्धकालीन गणराज्य मेरे सामने साकार होकर खड़े होने लगे। मैंने चाहा, ये गण दूसरे भारतीयों के सामने भी साकार होकर प्रकट हों, इसीलिए इतिहास के एक बड़े प्रभुताशाली लिच्छिवि (वैशाली) गण को लेकर मैंने दो साल पहिले 'सिंह सेनापति' उपन्यास लिखा। लेकिन उससे पहिले जब मैं 'वोल्गा से गंगा' की 'सुपर्ण यौधेय' कहानी लिखने लगा था, उस वक्त भी ख्याल आया कि भारत के इस अन्तिम वैभवशाली गणराज्य को लेकर एक उपन्यास लिखा जाय। यह समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समय था, जिससे कि मैंने उपन्यास के लिए चुना। उस काल की साहित्यिक और पुरातात्त्विक सामग्री का अध्ययन करते वक्त मुझे सुपर्ण यौधेय के वक्त की अपनी धारणाएँ कुछ गलत मालूम हुईं, मैंने समुद्रगुप्त को यौधेयगण का उच्छेता माना था, लेकिन अब मैं समझता हूँ, कि वस्तुतः चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने यह महान (!) कार्य किया।

कुछ समय तो सामग्री के संग्रह करने में भी लगा। फिर अब किसी लेखक के ढूँढ़ने की फिकर पड़ी। यद्यपि जेल में मैंने 6 ग्रन्थ और 8 छोटे-छोटे नाटक खुद ही लिखे थे, किन्तु वहाँ मजबूरी थी, दूसरे यह भी कि खुद लिखने से बोलकर लिखाने में ज्यादा जल्दी होती है। जहाँ खुद एक दिन में एक फार्म लिखना कठिन है, वहाँ बोल-बोलकर लिखाने से डेढ़-डेढ़ फार्म लिखा जा सकता है, और शीघ्र-लेखक हो तो मैं समझता हूँ, 'जय यौधेय' के लिए 21 दिन (26 जुलाई–16 अगस्त) की जरूरत नहीं पड़ती, वह चार-पाँच दिन में खतम हो जाता। खैर, श्री सत्यनारायण दूबे सेठवी भूलते-भटकते प्रयाग पहुँच गये, और उन्होंने लेखनी सँभाली। मैंने पहिले 'जय यौधेय' लिखवाया। लिखवाते वक्त बराबर यह ख्याल था, कि जिसी वक्त वीसा की खबर आयेगी, उसी वक्त चलने की तैयारी कर दूँगा।

16 को 'जय यौधेय' समाप्त हुआ। फिर मैंने दूसरी पुस्तक हाथ में ली।

'भागो नहीं, दुनिया को बदलो'

अगले दिन (17 अगस्त) से मैंने 'भागो नहीं, बदलो' में हाथ लगा दिया। मैंने मार्क्सवाद और राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर कितने ही ग्रन्थ लिखे, लेकिन वह ज्यादातर शिक्षित लोगों के काम की ही चीज है। मल्लिका

(भोजपुरी) भाषा के 8 नाटकों में भी सरल भाषा में कुछ आवश्यक बातों का प्रतिपादन किया, लेकिन उससे एक परिमित क्षेत्र के पाठक ही फायदा उठा सकते हैं। हमें इस समाज को बदलकर एक ऐसे समाज की स्थापना करनी है, जिसका आधार न्याय और मानव-भ्रातृभाव हो। यह काम शिक्षित संस्कृत समुदाय नहीं कर सकता, इस काम को वही कर सकते हैं, जो रात-दिन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक अत्याचार के शिकार हैं, वे हैं मजदूर और किसान, यदि अनुभव करें तो कुछ हद तक शिक्षितों का निम्न वर्ग भी। लेकिन मजदूरों-किसानों के समझने के लिए जो पुस्तक लिखी जाये, उसकी भाषा किताबी भाषा नहीं होनी चाहिए; इसीलिए मैंने अपनी इस पुस्तक में भाषा का ढाँचा तो हिन्दी का रखा–क्रिया और विभक्तियाँ उसी की रखीं, लेकिन शब्दों के उपयोग में मैंने यह ध्यान रखा, कि वह वही हों, जिन्हें कि अशिक्षित ग्रामीण नर-नारी बोलते हैं। मैंने उच्चारण में भी उन्हीं के उच्चारण को प्रमाण माना। पहिले यह काम कुछ कठिन मालूम हुआ, लेकिन आगे अभ्यास बढ़ने पर उसमें आसानी मालूम होने लगी। इस पुस्तक के लिखते वक्त मैंने देखा, कि ग्रामीण जनता ऐसे चार-पाँच सौ शब्दों को बोलती है, जो अरबी-फारसी के हैं। हाँ, उसने हरेक शब्द को अपना उच्चारण दिया है। इन चार-पाँच सौ शब्दों के लिए जो संस्कृत प्रतिशब्द हिन्दी में धड़ल्ले से चलते हैं, उनको ग्रामीण लोग नहीं समझते। मैं हिन्दी-उर्दू की जगह एक तीसरी कृत्रिम भाषा हिन्दुस्तानी का पक्षपाती नहीं हूँ। मैंने किसी भाषा के प्रचार के लिए नहीं बल्कि भावों के प्रचार के लिए, इस पुस्तक को लिखा। 12 दिन (17-28 अगस्त) में यह पुस्तक भी खत्म हो गई।

'मेरी जीवन-यात्रा'

इसे 1940 में लिखना शुरू किया था, लेकिन डायरियों के न होने से आगे दिक्कत पड़ने लगी, और उसे वहीं छोड़ देना पड़ा। इस वक्त फिर समय मिला। 29 अगस्त क्या आज (27 सितम्बर) भी ईरानी वीसे का कहीं पता नहीं है, इसलिए सत्यनारायणजी ने फिर कलम पकड़ी, और मैंने बोलना शुरू किया। जीवन-यात्रा का आज तक (28 सितम्बर 1944) का भाग भी अब आपके सामने है।

वीसा का झगड़ा

दो-दो तार और एक से अधिक चिट्ठियाँ ईरान सरकार के पास भेजी गईं। 9 मई को मैंने दरख्वास्त दी थी और 29 सितम्बर को वीसा आया।

लोला की 11 मार्च (1944) की चिट्ठी आई, जिसमें उसने लिखा था–"... 15 जनवरी (1942) से ईगर हमारे घर के पास की सार्वजनिक शिशुशाला में जाता है, यह शिशुशाला बहुत अच्छी है, मैं कितनी ही बार अफसोस करती हूँ कि तुम्हारे कहने के मुताबिक मैंने पहिले ही क्यों नहीं उसे भेजा। यह ईगर और मेरे दोनों के लिए अच्छा है। 1942 में इसी (शिशुशाला) की मदद से ईगर बच सका, नहीं तो वह जिन्दा न रहता। इस वक्त मेरे वासस्थान पर तापमान 10° सेन्टीग्रेड है।... मौजिजा है, जो मैं जिन्दा रही, मैं इस जीवित रहने के लिए जबर्दस्त आकांक्षा को कारण मानती हूँ।... 1942 के वसन्त से लेनिनग्राद का जीवन अधिक बेहतर होता जा रहा है। पहिले मैं विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पूर्वी विभाग की डाइरेक्टर थी, फिर सारे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की डाइरेक्टर बनाई गई। मुझे यूनिवर्सिटी में एक अलग घर मिला। वर्तमान घर में आना सम्भव नहीं था। उस समय ईगर वासिलियेव्स्की ओस्त्रोवस्की सार्वजनिक शिशुशाला में जाता था।... ईगर खाँसी से बीमार था।... पहिली अप्रेल से मैं सार्वजनिक पुस्तकालय में काम करती हूँ, और अपने पुराने घर में रहती हूँ। ईगर भी पहिली शिशुशाला में जाता है। ईगर लम्बा छरहरा बच्चा है, लेकिन स्वस्थ है। इस जाड़े में वह बीमार पड़ गया था। मसूड़े, इनफ्लुएन्जा और फेफड़े की सूजन थी, मगर तो भी कमजोर नहीं मालूम होता। वह बहुत ही सुन्दर है। साथ ही चतुर, गम्भीर और मनोरंजक बच्चा है। वह कितना आकर्षक है, काश, कभी तुम इसकी कल्पना करते ! वह अपने पिता से बहुत प्रेम करता है और बड़ी उत्सुकता से तुम्हारे आने की प्रतीक्षा करता है। वह रोज-रोज पूछता है–'कितने दिनों में पिता आयेंगे ?' जब वह अपनी माँ को नाराज देखता है, तो कहता

है–'मैं तुम्हें छोड़कर भारत चला जाऊँगा, और पिता से कहूँगा, कि तुम मेरे साथ कैसा बर्ताव करती हो।' तुम यह भी ख्याल करो कि वह अपने सारे खिलौनों को भारत ले जायगा। उसने भारत चलने के लिए शिशुशाला की डाइरेक्टर और नर्स को भी निमन्त्रण दे रखा है··· दिन-भर काम करके··· मैं बहुत थकी घर लौटती हूँ। शाम को मैं ईगर को शिशुशाला से लाती हूँ, कपड़ा निकालकर उसे नहलाती हूँ, फिर सुला देती हूँ। अतवार को ईगर अपना समय घर में बिताता है। इसे वह कहता है–'मैं अपना समय माँ के साथ बिताना और विश्राम करना चाहता हूँ।' लेकिन बहुत ही अफसोस होता है, कि अतवार को भी मैं बहुत थोड़ा समय दे सकती हूँ। मैं अपने घर के काम में व्यस्त रहती हूँ। काम है, धोना, सफाई करना आदि। नवम्बर से मेरी भतीजी (बहन की बेटी) लोला मेरे साथ रहती है, लेकिन हम एक दूसरे से ज्यादा नहीं मिलतीं, क्योंकि मैं बहुत काम में व्यस्त रहती हूँ, वह सारे दिन काम करती है। भाइयों में से सिर्फ सबसे छोटे के बारे में ही मुझे पता मिला है। उसका नाम ईगर है, और वह अपनी पत्नी के साथ ब्लादीवोस्तोक में रहता है।

"मैं तुम्हारे पत्र की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही हूँ। पहिली सितम्बर 1943 वाला तुम्हारा पत्र वो-क-स् द्वारा मिला। तुमने मुझे ताशकन्द जाने के लिए लिखा, जिसमें वहाँ हम मिल सकें, लेकिन मैं समझती हूँ यही अच्छा होगा कि तुम लेनिनग्राद आओ। लेनिनग्राद का घिरावा खतम हो गया, और प्राच्य-प्रतिष्ठान तथा विश्वविद्यालय यहाँ लौट रहे हैं। यदि सम्भव हो तो मुझे तार दो।··· चिट्ठियों के आने में आजकल बहुत देर होती है, और कभी-कभी वह गन्तव्य स्थान पर नहीं पहुँचतीं। ··· तुम मुझे बधाई दे सकते हो, क्योंकि लेनिनग्राद की रक्षा में भाग लेने के लिए मुझे तमगा मिला है। मुझे तुम्हारा दूसरा तार आज (12 मार्च) मिला। मैंने वीसा के लिए प्रार्थना-पत्र भेज दिया। बहुत-से चुम्बनों के साथ तुम्हारी

–लोला"

उसके बाद 10 सितम्बर को उसने तार भेजा–"लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के रेक्टर वोजनेसेन्स्की को विश्वविद्यालय में काम करने के लिए आने की इच्छा, और सोवियत वीसा भेजने के लिए तार दो" (Wire Leningrad University Rector Voznesensky desire come work University and necessity sending Soviet visa.)। मैंने तार भी भेज दिया।

विलायती थैलीशाह हिन्दुस्तान को अब भी अपनी कामधेनु बनाकर रखना चाहते हैं और उसके बन्धनों को ढीला नहीं करना चाहते। दुनिया की जनता इसे शान्ति नहीं, युद्ध और अशान्ति का रास्ता समझती है, और इसके लिए सब जगह से जोर पड़ रहा है। लेकिन चर्चिल-एमरी यही कह रहे हैं, कि हिन्दुस्तानी एक दूसरे के दुश्मन हैं, हमारे हटते ही वह आपस में कट मरेंगे। 9 सितम्बर से गाँधी और जिना में बातचीत हो रही है। यदि वह कांग्रेस और मुसलिम लीग में समझौता करा सके, तो हमारी आजादी के लिए एक जबर्दस्त शक्ति पैदा करेंगे, और फिर राष्ट्रीय शक्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय शुभेक्षा के सामने मुट्ठी-भर विलायती थैलीशाहों, और उनके पिट्ठुओं की कुछ न चलेगी। यदि समझौता नहीं करा सके, तो इसका मतलब होगा, चर्चिल-एमरी (विलायती थैलीशाहों) के हाथ में खेलना। देश की स्वतंत्रता की लड़ाई रुक नहीं सकती, वह तो हर हालत में जारी रहेगी। यदि पुरानी शक्तियाँ बूढ़ी और निर्बल हो जायँगी, तो नई शक्तियाँ मैदान में आएँगी। निराशाजनक खबरों के आने पर भी मैं नहीं समझता, कि देश के ये दोनों नेता कोई रास्ता निकालने की कोशिश नहीं करेंगे।

युद्ध अब जर्मनी सीमा पर और कहीं-कहीं उसके भीतर हो रहा है। हिटलर का पतन निश्चित है। बुल्गारिया, रूमानिया और फिनलैण्ड अब जर्मन-सेनाओं से लड़ रहे हैं, लाल-सेना यूनान, चेकोस्लोवाकिया और हंगरी में पहुँच गई है। बल्कान में अब अंग्रेज थैलीशाह निराश हो गए। वह समझने लगे हैं, कि भविष्य का बल्कान सोवियत का जबर्दस्त पक्षपाती होगा। इटली से भी उन्हें ज्यादा आशा नहीं है। फ्रांस में भी उनकी मुट्ठी ढीली पड़ती जा रही है। शायद अब वह पश्चिमी यूरोप के चार-पाँच छोटे-छोटे राज्यों और भविष्य के गर्भ में छिपी जर्मनी पर आशा लगाए हुए हैं।

(जीवन-यात्रा के यहाँ तक के भाग को सितम्बर 1944 के अंत तक लिख के मैं भारत से बाहर गया

था और आशा थी, कि सारी जीवन-यात्रा साल-भर के भीतर पाठकों के सामने आ जायेगी, किंतु वह नहीं हो पाया।)

14

सोवियत-भूमि के लिए प्रस्थान

प्रयाग से चलकर अक्तूबर के तीसरे सप्ताह में मैं बम्बई पहुँचनेवाला था। ईरान के रास्ते ही मुझे रूस जाने का वीसा मिला था। बम्बई में कुछ चीजें भी खरीदनी थीं, इसलिए वहाँ होते ही जाने का निश्चय करना पड़ा। मुझे ईरान में पचीस और सोवियत भूमि में केवल सौ पौंड खर्च करने के लिए मिले थे। मैं जानता था, ईरान के लिए 25 पौंड नितांत अपर्याप्त होंगे, यदि तुरंत सोवियत का वीसा मिल भी गया, तो भी (और पिछली शांतिकालीन दो यात्राओं का तजर्बा बतला रहा था, कि वैसा नहीं होनेवाला है)। मैंने चार-पाँच तोला सोना अँगूठी तथा घड़ी-जंजीर के रूप में बम्बई से ले लिया। सामान जितना हल्का रखा जा सकता था, उतना ही था, किन्तु कम करने पर भी पुस्तकें ही मन-भर हो गईं।

बम्बई में अक्तूबर (1944) के तृतीय सप्ताह के अंत में सारी तैयारी हो गई थी, इसी समय दस्त आरंभ हो गए। मुझे तो डर लगा, कहीं बीस साल की भूली पेचिश फिर तो नहीं उखड़ आई। डाक्टरों की तत्परता, साथियों की सहायता से वह दो दिनों में ही दब गई, और मैं निर्बल रहते हुए भी चलने के लिए तैयार हो गया।

लड़ाई का समय था, रेल में स्थान पाना आसान नहीं था, किन्तु मेरे लिए 27 अक्तूबर की अहमदाबाद वाली गाड़ी में दूसरे दर्जे की एक सीट सुरक्षित कर ली गई थी। बम्बई (सेंट्रल) से गाड़ी आठ बजे रात को रवाना हुई। बहुत-से साथी स्टेशन पर विदा करने आए थे। उनके लाल सलाम और तुमुल नारे को यात्री चकित दृष्टि से देख रहे थे।

28 को सबेरे ही ट्रेन अहमदाबाद पहुँची। वहाँ भी सैकड़ों साथी स्वागत-विदाई के लिए मौजूद थे। मेरा शरीर निर्बल था, पथ्य का कठोर पालन कर रहा था। अहमदाबाद में छोटी लाईन की गाड़ी पकड़नी पड़ी, जो सीधे हैदराबाद (सिंध) जानेवाली थी। बीच-बीच में ठहरने के कई स्टेशनों पर नाम से परिचित साथी मिलने आए। आबूरोड में आये एक साथी से पूछा–गुजरात की सीमा कहाँ आरंभ होती है ? उन्होंने आबू रोड से कुछ पीछे के किसी स्टेशन का नाम लिया। उस वक्त किसे पता था, कि सरदार पटेल उस सीमा को ढकेल कर और आगे बढ़ा देंगे और आबू के ठंडे पहाड़ी स्थान को गुजरात का ग्रीष्मावास बना छोड़ेंगे। किन्तु, सरदार का यह अन्यायपूर्ण कार्य कब तक चलता रहेगा ? अंत में तो वही सीमा मानी जायगी, जो वास्तविक है–जिसे भाषा-भाषी बहुमत सिद्ध करता है।

मारवाड़-जंक्शन के पास बिजली से जगमगाती एक आधुनिक बड़ी मिल देखी। मालूम हुआ, आयकर से भागती पूँजी की यह करामात है। सामंती राजस्थान में पूँजीपति अधिक कर से उन्मुक्त तथा शोषण के लिए स्वतंत्र हैं। मैंने "यत्र वैश्यश्च क्षत्रंच सम्यंचौ चरतः सह" लिखा–सामंतों की छत्रच्छाया में वैश्यवर्ग यहाँ अपने को आधुनिक शक्तियों से सुरक्षित मानता है, यद्यपि कुछ ही समय पहले सामंतों के इस गढ़ में पद-पद पर उसे अपमानित होने का भय बना रहता था।

रात-भर रेल मारवाड़ के रेगिस्तान में चलती रही। दिन में चलने पर अवश्य अधिक कष्ट होता। सबेरे हम सिंध में थे। यहाँ झाड़ियाँ भी दीख पड़ती थीं, और रेत के टीले भी। नहर भी दिखाई पड़ी, किंतु आबादी कम होने के कारण नहरों का पूरा लाभ उठाया जाता नहीं दिखाई पड़ा। हाँ, सिंधुनद के हम जितना समीप पहुँचते जाते थे, उतनी ही नई बस्तियाँ, मिश्री कपास के खेत अधिक होते जा रहे थे।

दोपहर को एक बजे बाद हमारी ट्रेन हैदराबाद पहुँची। यहाँ बड़ी लाइन की गाड़ी पकड़नी थी। द्वितीय श्रेणी के डिब्बे का कहीं पता नहीं था, किसी तरह चलती गाड़ी में ड्योढ़े दर्जे में घुस पाए। विशाल नहर, सीमेंट के पहाड़ों में डालमियाँ की मिल को आँखों के सामने से गुजरते देखा। छै बजे शाम को रोहड़ी स्टेशन आया। क्वेटा की गाड़ी तीन घंटे बाद जानेवाली थी, किंतु विश्वास नहीं होता था, कि सेकंड क्लास में स्थान सुरक्षित करने के तार से कोई लाभ होगा। क्वेटा से आगे रोज-रोज ईरान की गाड़ी नहीं जाती, इसलिए कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। एक बाबू ने कहा–तीन रुपया दे दें, हम अभी स्थान सुरक्षित करवा देते हैं। वही करना पड़ा। रात के जगमगाते चिरागों के प्रकाश में सिंधु के पुल को पार करते सिंधु के महाबंध की भी एक झलक पाई। उस समय किसको पता था, कि भारत लौटते समय तक यह भारत की सीमा से बाहर हो जायगा।

30 अक्तूबर (मंगल) के सवेरे हमारी ट्रेन नंगे पहाड़ों में दौड़ रही थी। बोलन-दर्रा भी पार हुए और स्पेजंद होते डेढ़ बजे दोपहर को क्वेटा (5500 फुट) पहुँचे। दो मन से ऊपर सामान था, किंतु बलोची भारवाहक ने सभी उठा लिया। 'स्टेशनव्यु होटल' बहुत दूर नहीं था, और खाने-रहने का सात रुपया रोज भी अधिक नहीं था। पासपोर्ट हाथ में आ जाने से समझा था, मंजिल मार ली; किंतु अभी हम ब्रिटिश सीमा के बाहर नहीं थे। कस्टम कार्यालय में गए। विदेशी व्यापार नियत्रंक (कंट्रोलर) को मुकदमा भी देखना पड़ता था। आज उससे भेंट नहीं हो सकी। कल ही सप्ताह में एक बार छूटनेवाली ट्रेन जा रही थी। कार्यालय के बाबुओं ने चीजों की सूची के साथ आवेदन-पत्र देने को कहा। फिर वही लाल फीता ! कल की गाड़ी न पा सप्ताह-भर यहीं टिकने की नौबत थी। उन्होंने यह भी बतलाया, कि ग्रामोफोन, केमरा आदि चीजों को साथ ले जाने की आज्ञा मिलनी कठिन है। अब यह भी फिक्र पड़ी, कि उन चीजों को किसके हाथ में दें। 10 साल से साथ घूमते रोलैफेक्स केमरा को छोड़ने का मन नहीं करता था। भारतीजी का नाम मालूम था, किंतु वह इस समय क्वेटा से बाहर गए हुए थे। उन्हीं के घर पर श्री चावला इंजीनियर मिले। सौ-पचास की चीजें तो बेचकर कन्या पाठशाला को दे देने के लिए समर्पित कर दीं, किंतु केमरे को अपने मित्र सरदार पृथ्वीसिंह के पास बम्बई भेजना था। केमरा फिर नहीं लौटा, न चावला महाशय ने सरदार के पत्रों का जवाब ही देना पसंद किया। केमरों का मूल्य उस समय बहुत चढ़ा हुआ था, किंतु मुझे उसका ख्याल नहीं था, ख्याल था इस बात का, कि एक छोड़ बाकी सारी तिब्बत-यात्राओं में वह मेरे साथ रहा, जापान, चीन और दो-दो बार रूस भी हो आया था।

कुछ चीजें खरीदनी थीं, किंतु जब तक जाने का दिन निश्चित न हो जाय, उन्हें खरीदकर पैसा फँसाने की क्या आवश्यकता ? 31 अक्तूबर (मंगल) को साढ़े दस बजे कंट्रोलर के पास गया। वह अंग्रेज अफसर होते भी सज्जन थे। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में प्रोफेसर होकर जाने की बात से भी प्रभावित हुए थे। केमरा, फिल्म, हैंडबेग, ग्रामोफोन रिकार्ड, फोंटेनपेन के अतिरिक्त बाकी चीजों की इजाजत मिल गई। उन चीजों को मैं चावला साहेब को सुपुर्द कर आया। रुपये अब भी कुछ पास में थे, जिनमें से थोड़े ही को मैं अपने साथ ले जाने का अधिकार रखता था, इसलिए सर्दी से रक्षा के लिए 75 रुपयों में एक पोस्तीन का कोट तथा कुछ दूसरी चीजें खरीद लीं। खा-पीकर दो बजे दिन में स्टेशन पहुँच गया। सप्ताह में यही एक ट्रेन ईरान की ओर जाती है, इसलिए भीड़ की शिकायत क्या हो सकती थी ? लेकिन अपनी द्वितीय श्रेणी की सीट रिजर्व थी। कस्टमवालों ने सबका सामान खुलवाकर देखा, किंतु मुझसे कुछ नहीं पूछा। खुफिया पुलिस और कस्टमवालों का गठबंधन है, और पुलिसचर मेरे निरंतर सहचर थे, शायद उसी का यह लाभ था। लड़ाई के कारण कपड़े, जूते आदि का दाम भारत में जितना बड़ा था, ईरान में वह उससे भी अधिक था। इसीलिए हर ट्रेन में सैकड़ों आदमी चीजों को सरहद पार कराने में लगे थे। कस्टमवाले बहुत सतर्क थे, किंतु घिरावा पार करनेवाले भी कम होशियार नही थे। बहुतेरे तो नई सिली कीमती पोशाक और बूट डाँटे हुए थे। यह जानते हुए भी, कि यह छोकरे कभी इतनी महँगी पोशाक नहीं पहन सकते, कस्टमवाले उनके शरीर पर बेढंगे पड़े उन कपड़ों को उतरवा नहीं सकते थे।

चार बजे ट्रेन नंगे पहाड़ों, सूखी उपत्यका को फाँदती आगे बढ़ने लगी। स्पेजंद से आगे बढ़ने पर सूर्य

अस्त हो गए। मैं भी अब निश्चिंत-सा था, जहाँ तक भारत से निकलने का सवाल था, वह हल हो चुका था। महीने का आरंभ था, ट्रेन पानी और रसद बाँटने के अतिरिक्त वेतन भी बाँटती जा रही थी, इसीलिए जल्दी करने की कोई जरूरत नहीं थी।

पहिली नवंबर के सबेरे अब भी दालबंदी स्टेशन पर ट्रेन खड़ी थी। ढाई बजे दोपहर को नोककुंडी आई। आजकल पास के एक गंधक की खान में काम हो रहा था। सूखे मैदान में लारियाँ गंधक लाकर ढेर कर रही थीं, जिसकी गंध अच्छी नहीं मालूम होती थी।

कस्टमवालों को कंट्रोलर की हस्ताक्षरित चिट्ठी मैंने दे दी। मेरा तो काम हो गया। किसी ने न सामान देखना चाहा, न यही पूछा, कि आपके पास कितने भारतीय सिक्के हैं। एक सहयात्री ने कहा, हजार-दो हजार रुपया ले जाने में भी कोई हर्ज नहीं। नोककुंडी अंतिम देखभाल का स्थान था, इसीलिए गाड़ी वहाँ चार घंटे खड़ी रही। कस्टम को चकमा देनेवालों की एक पूरी सेना ट्रेन को भरे हुए थी। सीमा के दोनों पार बलोची भाषा-भाषी रहते हैं, सीमा भी छोटे-छोटे नंगे पहाड़ों और सूखे बयाबानों की है, जहाँ डर आदि है, तो केवल जलहीन मरुभूमि का। फिर ऐसी जगह पासपोर्ट के नियम कैसे लागू किए जा सकते थे ? नियमोल्लंघन पर महीने-दो महीने की सजा होती, जहाँ पचास के माल का ढाई सौ बन रहा हो, वहाँ इस सजा की कौन परवाह करता ? कस्टमवाले इस डब्बे में तलाशी के लिए घुसते, तो चकमा देनेवाले दूसरे डब्बे में चले जाते। पहरे की कड़ाई होने पर उनमें से जो चढ़ने नहीं पाए, उन्होंने आगे धीमी गति से चलती गाड़ी पर अपनी जगह सँभाल ली।

सात साल पहिले की नोककुंडी की बस्ती अब बढ़ गई थी, किंतु घर अधिकतर सरकारी थे। अभी यहाँ बहुत-से सिंधी हिन्दुओं की दूकानें थीं। उस वक्त क्या मालूम था, कि चौंतीस मास बाद स्वदेश लौटने पर वह पराया देश हो जायेगा और यहाँ हिन्दुओं का दर्शन दुर्लभ हो जायेगा। रेल ठहरती, मंद गति से चलती गई और ग्यारह बजे रात को हम सीमा पार करके ईरानी स्टेशन मीरजावा पहुँच गए।

■ ■ ■

राहुल वाङ्मय

खण्ड एक

जिल्द 2

जीवन-यात्रा